ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ दशमं मण्डलम्)

(३७-१९१ सूक्तम्)

[सप्तमो भागः]

भाष्यकार :

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

अनुष्ठानकर्त्ता :

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

प्रकाशक : श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
''अभ्युदय'' भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : २०१३ ई०

मूल्य : ५५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. श्री गणेशदास-गरिमा गोयल, २७०४, प्रेममणि-निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

शब्द-संयोजक : आर्य लेज़र प्रिंट्स, हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली

अथ दशमं मण्डलम्

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ऋत के द्वारा प्रभु का पूजन

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तं स॑पर्यत।
दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शंसत॥ १॥

(१) सूर्य जिस समय दिन के साथ सम्बद्ध होता है तो 'मित्र' कहलाता है, अहरभिमानी देव 'मित्र' है। यही सूर्य रात्रि के समय 'वरुण' हो जाता है। इस समय सूर्य की ही एक किरण चन्द्रिमा को प्रकाशित करती हुई हमें प्रकाश पहुँचाती है 'अहर्वै मित्रः रात्रिर्वरुणः' (ऐ० ४।१०)। इस **मित्रस्य वरुणस्य**=दिन के अभिमानी देव मित्र के तथा रात्रि के अभिमानी देव वरुण के **चक्षसे**=प्रकाशक **महो देवाय**=उस महान् देव प्रभु के लिए नमः=नमस्कार करो, उस प्रभु के लिए नतमस्तक होवो। जब उस प्रभु के प्रति नमन करना है तद्=तो **ऋतं सपर्यत**=सत्य व यज्ञ का उपासन करो। सत्य के पालन व यज्ञ के अनुष्ठान से ही प्रभु का पूजन होता है। प्रभु सत्यस्वरूप हैं, सत्य का पालन प्रभु का उपासन है। प्रभु यज्ञरूप हैं, यज्ञानुष्ठान से प्रभु-पूजन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। (२) इस प्रभु की महिमा के दर्शन के लिये **सूर्याय शंसत**=सूर्य का शंसन करो, सूर्य का ज्ञान प्राप्त करो (शंस्=science)। हम सूर्य **दिवः पुत्राय**=प्रकाश के द्वारा हमारे शरीर को पवित्र करनेवाला तथा त्राण करनेवाला है। **केतवे**=संसार का प्रकाशक है। **देवजाताय**=उस महान् देव की महिमा को प्रकट करने के लिये जो प्रकट हुआ है। **दूरेदृशे**=सुदूर स्थान पर होता हुआ भी हम सबका ध्यान करनेवाला है (दृश् to look after)। इस सूर्य के वैज्ञानिक अध्ययन से प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' आदि वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्म का आभास सूर्य के ज्ञान से अवश्य होगा ही एवं हम सूर्य में प्रभु की महिमा का दर्शन करें।

भावार्थ—प्रभु का पूजन 'सत्य व यज्ञ' से होता है। प्रभु की महिमा का आभास सूर्य के अध्ययन से मिलता है।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सत्योक्ति

सा मा॑ स॒त्योक्तिः॒ परि॑ पातु वि॒श्वतो॒ द्यावा॑ च॒ यत्र॑ त॒तन॒न्नहा॑नि च।
विश्व॑म॒न्यन्नि वि॑शते॒ यदेज॑ति वि॒श्वाहापो॑ वि॒श्वाहोदे॑ति॒ सूर्यः॑॥ २॥

(१) **सा**=वह **सत्योक्तिः**=सत्य का कथन मा=मुझे **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=रक्षित करे। यह अध्यात्म उन्नति में तो मेरे लिये सहायक होगी ही, लौकिक दृष्टिकोण से भी सत्य मेरे लिये अभ्युदय का उत्पादक होगा। यह सत्योक्ति तो वह है **यत्र**=जहाँ **द्यावा**=प्रकाशमय लोक

च-तथा **अहानि**-प्रकाशभाव दिन आदि काल **ततनन्**-विस्तृत किये जाते हैं। वस्तुत: स्थान व समय की प्रकाशमयता इस सत्योक्ति पर ही निर्भर है। सत्य के अभाव में सर्वत्र और सर्वथा अन्धकार ही अन्धकार होता है। (२) इस स्थान और समय के **अन्यत्**-अतिरिक्त **विश्वम्**-वह सारा संसार भी **यत्**-जो **एजति**-गतिशील है, अर्थात् सारा प्राणि जगत् भी इस सत्य में ही **निविशते**-निविष्ट है। सत्य ही सबका आधार है 'सत्येनोत्तभिताभूमिः' (अथर्व० १४।१।१) सत्य से ही तो सारा जगत् थमा हुआ है। (३) **विश्वाहा**-सदा **आपः**-जल इस सत्य के आधार से ही प्रवाहित होते हैं और **विश्वाहा**-सदा **सूर्यः**-सूर्य भी इस सत्य के आधार में ही **उदेति**-उदय होता है। 'ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति' (अथर्व० १४।१।१) आदित्य ऋत के आधार में ही स्थित हैं। सत्य के अभाव में जल भी अपनी मर्यादा को छोड़ जाते हैं और सूर्य भी मर्यादातीत तपनवाला होकर तपता है और अत्युष्णता व अतिशीतता के रूप में आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं आती।

भावार्थ—सत्य ऐहिक व पारलौकिक उन्नति का कारण है। इससे सब समय व स्थान प्रकाशमय बनते हैं। यही आधिदैविक आपत्तियों से हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अद्भुत सूर्य ज्योति

न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि।
प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य॥ ३॥

(१) हे सूर्य! **यत्**-जब **पतरैः**-गमनशील **एतशेभिः**-सात रंगों से चित्रित किरणरूप अश्वों से **रथर्यसि**-तू अपने रथ को जोतने की कामना करता है तो **प्रदिवः ते**-प्रकृष्ट प्रकाशवाले तेरे उदय होने पर **अदेवः**-अप्रकाशित वस्तु **न निवासते**-नहीं रहती है। सूर्य निकला, तो अन्धेरे का क्या काम? सूर्य के किरणरूप अश्व 'एतश' हैं, चित्रविचित्र हैं। रंग-विरंगे होने से इनका नाम एतश है, इन्द्रधनुष में ये सातों रंग चित्रित होते हैं। (२) एक-एक किरण विविध प्राणशक्तियों को लिये हुए होती है। यह **प्राचीनम्**-पूर्व दिशा में उदय होनेवाले सूर्य का **अन्यत् रजः**-(रजतेर्ज्योतीरत्र उच्यते नि० ४।१९) यह विलक्षण प्रकाश **अनुवर्तते**-सबके अनुकूल होता है। सूर्य तो हिरण्यपाणि है, यह अपने किरणरूप हाथों में gold inyection को लिये हुए है। इन किरणों का अपने शरीर पर लेना सबके स्वास्थ्य के लिये हितकर है। (३) **उत**-और **सूर्य**-हे सूर्य! तू **अन्येन ज्योतिषा**-विलक्षण ज्योति के साथ ही तू **यासि**-अस्त होता है, पश्चिम दिशा में लोकान्तर में जाता है। अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में भी अद्भुत शक्ति होती है। 'उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः'-यह उदय व अस्त होता हुआ सूर्य किरणों से रोग-क्रिमियों का नाश करता है। इसकी ज्योति में यह अद्भुत शक्ति होती है। इसी का उल्लेख 'अन्यत्' शब्द से हुआ है। पूर्वा सन्ध्या व पश्चिमा सन्ध्या को सूर्याभिमुख होकर करने से हम शरीर के रोग-क्रिमियों को भी नष्ट कर रहे होते हैं।

भावार्थ—सूर्य सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देता है और अद्भुत प्रकार से रोग-क्रिमियों का नाश करके नीरोगता प्रदान करता है।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सूर्य प्रकाश के चार लाभ

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव॥ ४॥

(१) **सूर्य**-हे सूर्य! **येन ज्योतिषा**-जिस ज्योति से **तमः बाधसे**-आप अन्धकार का विनाश करते हो, **च**-और **विश्वं जगत्**-इस सम्पूर्ण जगत् को **भानुना**-प्रकाश से **उदियर्षि**-उत्कृष्टता से प्राप्त होते हो **तेन**-उस प्रकाश के द्वारा **विश्वाम्**-सब **अनिराम्**-अन्न के अभाव को तथा परिणामतः **अनाहुतिम्**-यज्ञों के अभाव को, **अमीवाम्**-रोगों को तथा **दुःष्वप्न्यम्**-बुरे स्वप्नों के कारणभूत रोगमात्र को **अपसुव**-आप हमारे से दूर करिये। (२) सूर्य वर्षा के द्वारा अन्नोत्पत्ति का कारण बनता है। सूर्य की किरणों में पत्तों का क्लोरफिल कार्बन डायोक्साईड को फाड़कर कार्बन को अपने में रख लेता है और ऑक्सीजन को वायुमण्डल में भेज देता है। इस प्रकार सूर्य वृक्षों को भोजन प्राप्ति में सहायक होता है। अन्न की खूब उत्पत्ति होने पर यज्ञ भी उत्तमता से चलते हैं। (३) यह सूर्य रोगकृमियों की नाशक शक्ति के कारण हमारी नीरोगता को सिद्ध करता है। यह किरणों के द्वारा हमारे शरीरों में स्वर्ण के इंजक्शन्स करता है, इसी से यह 'हिरण्यपाणि' कहलाता है। हमें नीरोग बनाकर यह अशुभ स्वप्नों को भी दूर करता है। अस्वस्थ मनुष्य को ही अशुभ स्वप्न आते रहते हैं।

भावार्थ—सूर्य अपनी ज्योति से अन्नाभाव, यज्ञाभाव, रोग व अशुभ स्वप्नों को दूर करता है।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सूर्य की आराधना

विश्वस्य हि प्रेषितो रक्षसि व्रतमहेळयन्नुच्चरसि स्वधा अनु।
यदुद्य त्वा सूर्योपब्रवामहै तं नो देवा अनु मंसीरत क्रतुम्॥ ५॥

(१) हे सूर्य! **प्रेषितः**-प्रभु से इस आकाश में प्रेषित हुआ-हुआ तू **विश्वस्य**-सबके **व्रतम्**-व्रत का **रक्षसि**-रक्षण करता है। तेरे प्रकाश में ही सब अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। **अहेडयन्**-किसी से भी घृणा न करता हुआ तू **स्वधा अनु**-आत्मतत्त्व के धारण का लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) **रक्षसि**-उद्गत होता है सूर्य शरीर को नीरोग बनाता है और इस प्रकार इस शरीर में आत्मतत्त्व का धारण करता है। (२) **सूर्य**-हे सूर्य! **यद्**-जो **अद्य**-आज **त्वा उपब्रवामहै**-आपकी प्रार्थना करते हैं, **देवाः**-सब देव **नः**-हमारे **तं क्रतुम्**-उस सङ्कल्प को **अनुमंसीरत**-अनुमोदित करें। 'हम सूर्य का आराधन करनेवाले बनें' हमारे इस विचार को सब देव पुष्ट करें। सूर्य का आराधन यही है कि—(क) हम सूर्य की तरह निरन्तर गतिशील हों, (ख) किसी से भी घृणा न करते हुए सबके साथ समानरूप से वर्तनेवाले हों, (ग) सूर्य जैसे शुद्ध जल का ही उपादान करता है, इसी प्रकार हम सब जगह से गुणों का ही ग्रहण करनेवाले बनें। (घ) सूर्य जल की ऊर्ध्वगति का कारण होता है। इसी प्रकार हम शरीर में वीर्यशक्ति की ऊर्ध्वगति का साधन करें। (ङ) सूर्य रोग-कृमियों व अन्धकार का विनाशक है। हम भी शरीर में नीरोग बनें और मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानान्धकार को नष्ट करें। बस यही सूर्य की पञ्चविध उपासना है।

भावार्थ—हमारे शरीरस्थ सब देव हमें सूर्य का आराधक बनाएँ। इस आराधना से हम भी सूर्य की तरह चमकेंगे।

सूचना—प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक देव का वास है। मुख में 'अग्नि' का, अक्षिओं में 'सूर्य' का, कानों में दिशाओं का, मन में चन्द्रमा का। इसी प्रकार उस-उस इन्द्रिय में स्थित सब देव हमें सूर्योपासना की प्रेरणा दें। हम सूर्य-शिष्य बनते हुए चमकें।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पूर्ण परिपक्कावस्था की प्राप्ति

तं नो॒ द्यावा॑पृथि॒वी तन्न॒ आप॒ इन्द्र॑: शृण्वन्तु म॒रुतो॒ हवं॒ वच॑: ।
मा शूने॑ भूम॒ सूर्य॑स्य सं॒दृशि॑ भ॒द्रं जीव॑न्तो जर॒णाम॑शीमहि ॥ ६ ॥

(१) **नः**=हमारे **तत्**=उस **हवं वचः**=स्तुति वचन को **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक सुनें, अर्थात् मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी, गत मन्त्र में सूर्य के लिए किये गये स्तुति-वचन को तथा व्रत सङ्कल्प को **शृण्वन्तु**=सुनें। हम इनकी अनुकूलता से सूर्य की तरह गतिशील बन रहें। (२) **नः**=हमारे **तत्**=उस सङ्कल्प को **आपः**=जल सुनें, शरीर में जल रेत:कण हैं। ये रेत:कण हमारे व्रत के सङ्कल्प को पूर्ण करने में सहायक हों। (३) **इन्द्रः मरुतः**=इन्द्र और **मरुत्**=प्राण हमारे उस वचन को सुनें। जितेन्द्रियता तथा प्राणसाधना मुझे सूर्य के व्रत का पालन करने में समर्थ करें। मैं सूर्य की तरह गतिशील व उज्ज्वल बनूँ। इन्द्र सेनापति हैं, मरुत् उसके सैनिक हैं। अध्यात्म में इन्द्र 'जीव' है, प्राण उसके सैनिक हैं, मरुत् यहाँ ये प्राण ही हैं। इन प्राणों की साधना जीव को इस योग्य बनाती है कि वह सतत क्रियाशील होकर सूर्य की तरह चमकनेवाला बने। (४) हम द्यावापृथिवी, आपः, इन्द्र व मरुतों से यही प्रार्थना करते हैं कि हम **शूने**=(प्रवृद्धाय दुःखाय) बड़ी हुई दुःखमय स्थिति के लिये **मा भूम**=मत हों। हमारे दुःख न बढ़ते जायें। अपितु **सूर्यस्य संदृशि**=सूर्य के सन्दर्शन में **भद्रं जीवन्तः**=कल्याणमय जीवन को बिताते हुए **जरणाम्**=पूर्ण परिपक्कावस्था को **अशीमहि**=प्राप्त करें। 'सूर्य के सन्दर्शन में' ये शब्द स्पष्ट कर रहे हैं कि जीवन यथासम्भव खुले में (open में) बिताना ही ठीक है। जितना सूर्य-किरणों के सम्पर्क में होंगे, उतना ही अच्छा है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी आदि की अनुकूलता से हमारे दुःख दूर हों। सूर्य संदर्शन में भद्र जीवन बिताते हुए हम पूर्ण परिपक्कावस्था को प्राप्त करें।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

नीरोग निष्पाप दीर्घ जीवन

वि॒श्वाहा॑ त्वा सु॒मन॑सः सु॒चक्ष॑सः प्र॒जाव॑न्तो अनमी॒वा अना॑गसः ।
उ॒द्यन्तं॑ त्वा मित्रमहो दि॒वेदि॑वे॒ ज्योग्जी॒वाः प्रति॑ पश्येम सूर्य ॥ ७ ॥

(१) हे **मित्रमहः**=(प्रमीते, त्रायते, महस्=light, lustre) रोगों से बचानेवाली ज्योतिवाले **सूर्य**=सवितः! हम **विश्वाहा**=सदा **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **उद्यन्तं त्वा**=उदय होते हुए तुझको **प्रतिपश्येम**=प्रतिक्षण देखनेवाले बनें। (२) हम **त्वा**=तुझे देखनेवाले इसलिए हों कि तेरे दर्शन से, तेरी किरणों के सम्पर्क में आने से हम (क) **सुमनसः**=उत्तम मनोंवाले हों। वस्तुतः तेरी किरणों से उत्पन्न नीरोगता हमारे मनों को भी अच्छा बनानेवाली हो। (ख) **सुचक्षसः**=हम उत्तम दृष्टि-शक्तिवाले हों। सूर्य ही तो वस्तुतः चक्षु बनकर आँखों में रह रहा है। सो सूर्य सम्पर्क से दृष्टि-शक्ति बढ़ेगी ही। (ग) **प्रजावन्तः**=हम उत्तम प्रजाओंवाले हों। हमारे स्वस्थ होने पर हमारी सन्तानें स्वस्थ होंगी ही। (घ) **अनमीवाः**=हम सब प्रकार से नीरोग हों। सूर्य-किरणें रोग-कृमियों का ध्वंस करके हमें अनमीव बनाती हैं। (ङ) **अनागसः**=हमारे मन भी निष्पाप हों। शरीर नीरोग तथा मन निष्पाप। (च) इस प्रकार नीरोग व निष्पाप बनकर हम **ज्योग् जीवाः**=दीर्घकाल तक जीनेवाले हों। वस्तुतः सूर्य मित्र है, हमें सब रोगों व पाप-वृत्तियों से बचानेवाला है।

भावार्थ—हम सदा सूर्य-सम्पर्क में रहते हुए शरीर में नीरोग बनें, मनों में हम निष्पाप हों और इस प्रकार हम दीर्घजीवन को सिद्ध कर सकें।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

बुद्धि, मन व आँखें

महि ज्योतिर्बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषेचक्षुषे मयः।

आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥ ८ ॥

(१) हे **विचक्षण**-सबका विशेषरूप से ध्यान करनेवाले **सूर्य**=सवितः! **वयं जीवाः**=हम जीवनधारी प्राणी **बृहतः पाजसः परि**=वृद्धि की कारणभूत शक्ति का लक्ष्य करके **आरोहन्तम्**=आकाश में आरोहण करते हुए **त्वा**=तुझे **प्रतिपश्येम**=प्रतिदिन देखनेवाले हों। उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों को नष्ट करता है और इस प्रकार हमें नीरोग बनाकर यह हमारी शक्ति का वर्धन करता है। यह 'हिरण्पाणि' है, इसकी किरणरूप हाथों में स्वर्ण होता है, यह उस स्वर्ण को हमारे शरीरों में निक्षिप्त करके हमें शक्ति सम्पन्न करता है। (२) हे सूर्य! उस तुझको हम देखें जो **माहि ज्योतिः बिभ्रतम्**=महनीय ज्योति को धारण कर रहा है। **भास्वन्तम्**=दीप्तिवाला है। **चक्षुषेचक्षुषे मयः**=आँख मात्र के लिये हितकर है, दृष्टि-शक्ति को बढ़ानेवाला है। इस सूर्य की किरणों को अपने शरीरों पर लेते हुए हम भी अपनी बुद्धि में महनीय ज्योति को धारण करते हैं, हमारे हृदय प्रकाशमय हो उठते हैं और हमारी आँखें नीरोग होकर तीव्र दृष्टि-शक्तिवाली बनती हैं।

भावार्थ—सूर्य 'बुद्धि, मन व शरीर' सभी को स्वस्थ करनेवाला है। बुद्धि को ज्योति देता है, हृदय को प्रकाश तथा आँखों को नीरोगता।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अनागास्त्व व वसुमत्तरता

यस्य ते विश्वा भुवनानि केतुना प्र चेरते नि च विशन्ते अक्तुभिः।

अनागास्त्वेन हरिकेश सूर्याह्नाह्ना नो वस्यसावस्यसोदिहि ॥ ९ ॥

(१) हे **हरिकेश**-(हरयः केशाः यस्य) दुःखों के हरनेवाली किरणोंवाले **सूर्य**=सवितः! **यस्यते**-जिस तेरे **केतुना**-प्रकाश से **विश्वा भुवनानि**-सब प्राणी **प्र ईरते**-प्रकर्षेण गति करते हैं **च**-और **अक्तुभिः**-तेरे प्रकाश की किरणों से ही **निविशन्ते**-अपने-अपने धर्म में दृढ़ता से लगते हैं (to be dwoted to), **वह तू अह्ना अह्ना**=दिनप्रतिदिन **अनागास्त्वेन**=निरपराधता से तथा **वस्यसा वस्यया**=अधिकाधिक वसुमत्ता से **नः**=हमारे लिये **उदिहि**=उदित हो। (२) सूर्य की किरणें अपने अन्दर प्राणशक्ति को लेकर उदित होती हैं 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। इस प्राणशक्ति के संचार से ये सूर्य किरणें हमारे सब रोगरूप दुःखों का हरण करती हैं, सो सूर्य 'हरिकेश' कहलाता है। (३) सूर्य के प्रकाश में ही कुछ हिंस्र प्राणियों को छोड़कर सब प्राणी गतिशील होते हैं और धर्मात्मा लोग अपने-अपने धर्म कार्य में प्रवृत्त होते हैं (ईरते, निविशन्ते) अग्निहोत्रादि सब यज्ञ सूर्योदय पर ही प्रारम्भ होते हैं। (४) सूर्य हमें नीरोग ही नहीं बनाता, सर्वत्र प्रकाश को विस्तृत करके यह हमारी अपराध प्रवणता को भी कम करता है। रात्री में राक्षसों को प्रबल होने का यही भाव है कि अन्धकार में अपराध भी अधिक होते हैं एवं सूर्य 'अनागास्त्व' (=निरपराधता) का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त दिन में विविध कार्यों को करते हुए हम धनार्जन भी करनेवाले बनते हैं एवं यह सूर्य हमें 'वसुमत्तर' बनाता है (वसु=धन)।

भावार्थ—सूर्य हमें निरपराध जीवनवाला व वसुमत्तर बनाये।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चित्रं द्रविणं=अद्भुत बल

शं नो भव चक्षसा शं नो अह्ना शं भानुना शं हिमा शं घृणेन।
यथा शमध्वञ्छमसद्दुरोणे तत्सूर्य द्रविणं धेहि चित्रम्॥ १०॥

(१) हे **सूर्य**=सवितः! तू **नः**=हमारे लिये **चक्षसा**=दृष्टि-शक्ति के वर्धन के द्वारा **शं भव**=शान्ति को देनेवाला हो, (२) **नः**=हमारे लिए **अह्ना**=दिन में **शम्**=शान्ति को देनेवाला हो। **भानुना**=अपनी दीप्ति से तू **शम्**=शान्ति को देनेवाला हो। दिन में यह सूर्य का प्रकाश हमारे रोगादि को दूर करता हुआ हमें शान्ति को प्राप्त कराये। (२) हे सूर्य! तू **हिमा**=दक्षिणायन में होनेवाले शैत्य से **शम्**=हमें शान्ति को दे तथा **घृणेन**=उत्तरायण में होनेवाली उष्णता से **शम्**=हमें तू शान्ति को देनेवाला हो। ऋतुभेद से सर्दी-गर्मी की अधिकता शरीर की पुष्टि के लिये सहायक होती है। (३) हे सूर्य! तू **तत्**=उस **चित्रम्**=अद्भुत **द्रविणम्**=(strength, power, valonr, prowess) शक्ति को **धेहि**=धारण कर **यथा**=जिससे **अध्वन्**=मार्ग में, अर्थात् घर से बाहिर यात्रा में **शम्**=शान्ति हो तथा **दुरोणे**=घर पर भी **शं असत्**=हमें शान्ति प्राप्त हो। सूर्य प्रकाश में सब व्यवहार करने से शरीर स्वस्थ बना रहता है, शरीर शक्ति सम्पन्न होता है और वह विविध परिवर्तनों को सहनेवाला होता है। शरीर में इस सहनशक्ति के न होने पर शीघ्र विकार आ जाने की सम्भावना होती है।

भावार्थ—सूर्य से दृष्टि-शक्ति में वृद्धि होती है और वह अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है जो, क्या बाहर और क्या घर, सर्वत्र हमें स्वस्थ रखती है।

ऋषिः—अभितपाः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शान्ति-निर्भयता-निष्पापता

अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।
अदत्पिबदूर्जयमानमाशितं तदस्मे शं योरंरपो दधातन॥ ११॥

(१) हे **देवाः**=सब प्राकृतिक (=भौतिक) शक्तियो! **अस्माकम्**=हमारे **उभयाय जन्मने**=दोनों प्रकार के प्राणियों के लिये, **द्विपदे**=मनुष्यों के लिये (दो पाँववालों के लिये) तथा **चतुष्पदे**=गवादि पशुओं के लिये **शर्म**=कल्याण को **यच्छत**=दीजिये। देवों की अनुकूलता ही हमें स्वस्थ बनाती है। (२) इन देवों की अनुकूलता से हमारे सब व्यक्ति **अदत् पिबत्**=खाते हुए व पीते हुए, अर्थात् अपचन आदि रोगों से पीड़ित न हुए-हुए और अतएव **ऊर्जयमानम्**=(ऊर्जस्वन्तं इव आचरन्) सबल पुरुष की तरह आचरण करते हुए **आशितम्**=तृप्त हों। इन्हें खान-पान आदि की कमी न हो। (३) **तद्**=सो हे देवो! आप **अस्मे**=हमारे लिये **शम्**=शान्ति को **योः**=भयों के यावन-दूरीकरण को तथा **अरपः**=निर्दोषता को **दधातन**=धारण करिये। आपकी कृपा से हम 'शान्त, निर्भय व निष्पाप' बनें। वस्तुतः बाह्य देवों की अन्दर के देवों से अनुकूलता न होने पर ही सब अशान्ति व भय उत्पन्न होता है। शरीर का स्वास्थ्य बिगड़कर मानस-स्वास्थ्य भी बिगड़ता है और पाप प्रवृत्ति बढ़ती है।

भावार्थ—सब देवों की अनुकूलता से हम सुखी हों हमारी पाचन-शक्ति ठीक हो, हमारे जीवन में शान्ति, निर्भयता व निष्पापता हो।

ऋषि:—अभितपा: सौर्य: ॥ देवता—सूर्य: ॥ छन्द:—जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

जिह्वाकृत व मन:कृत दोष

यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु मनसो वा प्रयुती देवहेळनम्।
अरावा यो नो अभि दुच्छुनायते तस्मिन्तदेनो वसवो नि धेतन ॥ १२ ॥

(१) हे देवा:=सब प्राकृतिक देवो! जिह्वया=जिह्वा से मनस: प्रयुती वा=अथवा मन के उन इन्द्रियों से मिल जाने से, इन्द्रियों से मिलकर विषयों में भटकने से ('इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसिं') यद्=जो व:=आपका गुरु=महान् देवहेडनम्=देवों का निरादर चकृम=कर बैठते हैं, तद् एन:=उस पाप को, हे वसव:=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! तस्मिन्=उस पुरुष में निधेतन=धारण करो य:=जो अरावा=न दान देनेवाला है, भोगवृत्तिवाला होने से स्वयं सब कुछ खा जानेवाला है और न: अभि=हमारा लक्ष्य करके दुच्छुनायते=अशुभ का आचरण करता है, अर्थात् हमें हानि पहुँचाकर भी अपने भोग-साधनों को जुटाने के लिये यत्नशील होता है। (२) शरीर का निर्माण करनेवाले देवों के विषय में अपराध यही है कि हम जिह्वा के स्वादवश अधिक व अपथ्य को खा जाएँ तथा हमारा मन भी इन इन्द्रियों से मिलकर मजा लेने लग जाए। यह मार्ग निश्चितरूप से अस्वास्थ्य का मार्ग है। (३) यह अपराध तो उसी से हो जो (क) दान देने की वृत्तिवाला न होकर (अरावा) सब कुछ स्वयं उपभोग करनेवाला हो तथा (ख) जो अपने भोग के लिये अन्याय से भी अर्थ-संचय करता हुआ औरों का अशुभ करने की वृत्तिवाला हो। जो कोई भी इस अपराध को करेगा वह इन शरीरस्थ देवों का निरादर कर रहा होगा। यह निरादर उसकी आधि-व्याधियों को जन्म देनेवाला होगा।

भावार्थ—हम जिह्वा के व मन के संयम से सब देवों के अनुकूल वृत्तिवाले हों। दान देने की वृत्तिवाले होकर किसी का अमंगल न करें।

ऋत के द्वारा प्रभु के पूजन से यह सूक्त प्रारम्भ हुआ है। (१) ऋत व सत्य ही ऐहिक व पारलौकिक उन्नति का कारण है, (२) सूर्य की ज्योति अद्भुत है, (३) सूर्य अपनी ज्योति से 'अन्नाभाव, यज्ञाभाव, रोग व अशुभ स्वप्नों' को दूर कर देता है, (४) हमारे शरीरस्थ सब देव हमें सूर्य का आराधक बनाएँ, (५) सूर्य-संदर्शन में भद्र जीवन बिताते हुए हम पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त करें, (६) हम नीरोग, निष्पाप व दीर्घजीवन प्राप्त करें, (७) सूर्य 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को स्वस्थ करे, (८) आनागास्त्व व वसुमत्तरता को हम प्राप्त करें, (९) यह सूर्य हमें अद्भुत बल देता है, (१०) शान्ति, निर्भयता व निष्पापता को प्राप्त कराता है, (११) स्वस्थ रहने के लिये हम जिह्वा व मन से देवों के विषय में कोई अपराध न करें। अपथ्य व अतिभोजन ही वह सर्वमहान् पाप है, (१२) हम देवों के विषय में अपराध नहीं करेंगे तो सुगठित शरीरवाले (मुष्कवान्) जितेन्द्रिय पुरुष बन पाएँगे (इन्द्र:)। यह 'मुष्कवान् इन्द्र' अगले सूक्त का ऋषि है।

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषि:—इन्द्रो मुष्कवान् ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—निचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

संग्राम

अस्मिन्न इन्द्र पृत्सुतौ यशस्वति शिमीवति क्रन्दसि प्राव सातये।
यत्र गोषाता धृषितेषु खादिषु विष्वक्पतन्ति दिद्यवो नृषाह्ये ॥ १ ॥

(१) हे इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन्, सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! अस्मिन्=इस

यशस्वति-उत्तम यश को देनेवाले, **शिमीवति**-उत्तम कर्मोंवाले, **क्रन्दसि**-आह्वान-प्रत्याह्वानवाले **पृत्सुतौ**-संग्राम में **नः**-हमें **सातये**-विजय की प्राप्ति के लिये **प्राव**-प्रकर्षेण रक्षित करिये। संग्राम में यशोंवाले कार्य होते ही हैं, इसमें दोनों सेनाएँ एक दूसरे को युद्ध के लिये ललकारती हैं, सो संग्राम के लिये यहाँ तीन विशेषण दिये गये हैं 'यशस्वति, शिमीवति, क्रन्दसि'। यहाँ अध्यात्म में कामादि शत्रुओं से हमारा यह संग्राम निरन्तर चलता है। इस संग्राम में प्रभु ही हमारे रक्षक होते हैं और हमें विजय प्राप्त कराते हैं। (२) ये संग्राम वे हैं **यत्र**-जिन **गोषाता**-गौ आदि पशुओं के प्राप्ति के कारणभूत **नृषाह्ये**-वीर पुरुषों से ही सहने योग्य संग्रामों में **धृषितेषु खादिषु**-उठकर मुकाबिला करनेवाले, एक दूसरे को खा जानेवाले, समाप्त करनेवाले, सैनिकों पर **विष्वक्**-सब ओर से **दिद्यवः**-अस्त्र **पतन्ति**-गिरते हैं। संग्राम में चारों ओर मार-काट हो रही होती है। उस संग्राम के दृश्य को वीर पुरुष ही सहन कर सकते हैं। कायर तो धनुष् की टंकार सुनते ही भाग खड़े होते हैं। संग्राम में विजय हमें शत्रुओं के गवादिरूप धन का स्वामी बना देती है।

भावार्थ—संग्राम हमारे यश का कारण होता है, इसमें विजय हमें धन को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**इन्द्रो मुष्कवान्**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पर्याप्त व प्रशंसनीय धन

स नः क्षुमन्तं सदने व्यूर्णुहि गोअर्णसं रयिमिन्द्र श्रवाय्यम्।
स्याम ते जयतः शक्र मेदिनो यथा वयमुश्मसि तद्वसो कृधि॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रुओं के संहार करनेवाले इन्द्र! **स**-वह आप **नः**-हमारे **सदने**-घर में **रयिम्**-धन को **व्यूर्णुहि**-विविधरूप से आच्छादित करिये। अर्थात् हमारे घर को धन से भर दीजिये। उस धन से जो—(क) **क्षुमन्तम्**-अन्नवाला है, (ख) **गो अर्णसम्**-(गावः गोदुग्धानि अर्णः उदकमिव यस्मिन्) पानी की तरह सुलभ दूधवाला है तथा (ग) **श्रवाय्यम्**-श्रवणीय-कीर्ति से युक्त है। ऐसे उत्तम धनों से हमारा घर भरपूर हो। (२) हे **शक्र**-शत्रुओं को जीतने में समर्थ प्रभो! **जयतः ते**-हमारे शत्रुओं को जीतते हुए आपके हम **मेदिनः**-स्नेहवाले (ञिमिदा स्नेहने) अथवा मेदस्वाले, अर्थात् बलवान् **स्याम**-हों। आपके सम्पर्क से हमारे में भी आपकी शक्ति का संचार हो। (३) हे **वसो**-उत्तम निवास को देनेवाले प्रभो! **यथा**-जैसे **वयम्**-हम **उश्मसि**-चाहते हैं और चमक उठते हैं, (वश् to shine) **तद् कृधि**-आप वैसा ही करने की कृपा करिये। आपकी कृपा से हमारी कामनाएँ पूर्ण हों हम चमक उठें।

भावार्थ—हमें खाने-पीने के लिये पर्याप्त अन्न व दुग्ध को प्राप्त करानेवाला प्रशंसनीय धन प्राप्त हो। हम उस विजय को प्राप्त करानेवाले प्रभु के प्रिय हों। प्रभु कृपा से हमारी कामनाएँ पूर्ण होती है, प्रभु ही हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो मुष्कवान्**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

विजय

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव इन्द्र युधये चिकेतति।
अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान्वनुयाम संगमे॥ ३॥

(१) हे **पुरुष्टुत**-खूब ही स्तुत होनेवाले **इन्द्र**-सब बल के कार्यों को करनेवाले प्रभो! **यः**-जो कोई **दासः आर्यो वा**-शूद्र अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य **अदेवः**-अदिव्य वृत्तिवाला होता हुआ **नः**-हमें **युधये चिकेतति**-युद्ध के लिये जानता है, अर्थात् हमारे साथ युद्ध के लिये

उठ खड़ा होता है, ते **शत्रवः**-वे सब शत्रु **अस्माभिः**-हमारे से **सुषहाः सन्तु**-सुगमता से अभिभव करने योग्य हों। हम अपने शत्रुओं को जीत सकें, चाहे वे शत्रु दास हों और चाहे आर्य। यदि उनमें युद्ध की यह अदिव्य वृत्ति जाग उठी है और वे हमारे पर अन्याय से आक्रमण करते हैं, तो हम अपना रक्षणात्मक युद्ध करते हुए उनको पराजित करनेवाले हों। (२) हे प्रभो! **त्वया**-आपके साथ **वयम्**-हम **तान्**-उनको **संगमे**-युद्ध की टक्कर में **वनुयाम**-जीत सकें। प्रभु की सहायता के बिना विजय सम्भव नहीं होता। प्रभु का स्मरण करना चाहिये, यह स्मरण ही हमें विजयी बनायेगा।

भावार्थ—यदि कोई हमारे पर आक्रमण करे तो रक्षणात्मक युद्ध को करते हुए हम उन शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—इन्द्रो मुष्कवान् ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सत्रि-श्रुत-नर'

यो दुभ्रेभिर्हव्यो यश्च भूरिभिर्यो अभीके वरिवोविन्नृषाह्ये।
तं विखादे सस्निमद्य श्रुतं नरमर्वाञ्चमिन्द्रमवसे करामहे ॥ ४ ॥

(१) **नृषाह्ये**-वीर पुरुषों से ही सहने योग्य, **विखादे**-कायरों को खा जानेवाले **अभीके**-संग्राम में हम **तम्**-उस **सस्निम्**-उपासकों के जीवनों को पवित्र बनानेवाले **श्रुतम्**-प्रसिद्ध **नरम्**-हमें आगे ले चलनेवाले प्रभु को **अद्य**-आज **अवसे**-रक्षण के लिये **अर्वाञ्चम्**-अपने अभिमुख **करामहे**-करते हैं, अर्थात् उसकी आराधना करते हैं, **यः**-जो **दभ्रेभिः**-अल्पसंख्यावालों से **हव्यः**-पुकारने योग्य होता है **यः च**-और जो **भूरिभिः**-बहुतों से भी पुकारा जाता है और **यः**-जो प्रभु **वरिवोवित्**-सब वरणीय धनों को प्राप्त करानेवाले हैं। (२) संग्राम में सब कोई प्रभु का आराधन करता है। प्रभु के आराधन से ही वह शक्ति प्राप्त होती है जो हमें संग्राम में विजयी बनाती है। यह संग्राम में वीरों के लिये सह्य होता है तो कायरों को तो खा ही जाता है, सो यह 'नृषाह्य व विखाद' है। प्रभु हमारे जीवनों व मनों को पवित्र करते हैं, वे 'सस्नि' हैं, यह पवित्रता ही विजय में सहायक होती है।

भावार्थ—संग्राम में हम प्रभु का स्मरण करें, वे हमें पवित्रता देकर अवश्य विजयी बनायेंगे।

ऋषिः—इन्द्रो मुष्कवान् ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

इन्द्र

स्ववृजं हि त्वामहमिन्द्र शुश्रवानानुदं वृषभ रध्रचोदनम्।
प्र मुञ्चस्व परि कुत्सादिहा गहि किमु त्वावान्मुष्कयोर्बद्ध आसते ॥ ५ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **इन्द्र**-शत्रुओं का संहार करनेवाले इन्द्र! **अहम्**-मैं **हि**-निश्चय से **त्वाम्**-तुझे **स्ववृजम्**-स्वयमेव शत्रुओं का वर्जन व छेदन करनेवाला **शुश्रवा**-सुनता हूँ। **अनानुदम्**-तुझे मैं अनपेक्षित बलानुप्रदान जानता हूँ। तुझे किसी दूसरे से शक्ति के प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं होती। (२) हे **वृषभ**-शक्तिशाली व सुखों का वर्षण करनेवाले इन्द्र! तुझे मैं **रध्रचोदनम्**-आराधक को प्रेरणा देनेवाले के रूप में सुनता हूँ (रध्र=worshi ppring) जो भी तेरी आराधना करता है उसे आप उत्तम प्रेरणा देते हो। (३) **परि कुत्सात्**-चारों ओर वर्तमान अशुभ व निन्दनीय कर्ममात्र से तू अपने को **प्रमुञ्चस्व**-छुड़ा और **इह**-यहाँ हमारे पास **आगहि**-आ। प्रभु के समीप पहुँचने का मार्ग यही है कि हम शक्तिशाली बनें, संग्राम में पराजित न हों। सब

अशुभों को छोड़नेवाले बनें। (४) प्रभु कहते हैं कि **किं उ**-और क्या **त्वावान्**-तेरे जैसा व्यक्ति **मुष्कयोः बद्धः आसते**-भोग-विलास में बद्ध हुआ-हुआ पड़ा रहता है। नहीं, इन्द्र को यह विलास शोभा नहीं देता। इन्द्र तो सब विलासों से ऊपर उठकर आसुर-वृत्तियों का संहार ही करता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है जो अपनी शक्ति से शत्रुओं का छेदन करता है और जिसे कभी विलास अपने अधीन नहीं कर लेते।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि संग्राम हमारे यश का कारण होता है, (१) हम विजय को प्राप्त करानेवाले प्रभु के प्रिय हों, (२) हम आक्रान्ता शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों, (३) संग्राम में प्रभु का स्मरण करें, (४) प्रभु कृपा से 'इन्द्र' बनें और विलास में न फँस जायें, (५) हम कामादि को युद्ध के लिये ललकारनेवाले हों और संग्राम के लिये कटिबद्ध हो जाएँ। युद्ध के लिये लकारनेवाली 'घोषा', बद्धकक्ष 'काक्षीवती' प्रस्तुत सूक्तों की ऋषिका है। वह कहती है—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'परिज्मा सुवृत् रथ'

यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता।
शश्वत्तमासस्तमु वामिदं वयं पितुर्न नाम सुहवं हवामहे॥ १॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **यः**-जो **वाम्**-आप दोनों का **परिज्मा**-सर्वतो गन्ता-विविध कार्यों में व्याप्त होनेवाला **सुवृत्**-शोभन रूप में चलनेवाला **रथः**-यह शरीर रूप रथ है, वह **दोषां उषासः**-दिन-रात, अर्थात् सदा **हविष्मता**-त्यागपूर्वक अदन करनेवाले पुरुष से **हव्यः**-पुकारने के योग्य है, प्रार्थनीय है, चाहने योग्य है। हम त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बने इससे यह शरीर रूप रथ सदा शोभन-स्थिति में रहेगा (सुवृत्) और यह विविध कार्यों के करने के क्षम बना रहेगा (परिज्मा)। (२) हे अश्विनी देवो! **वाम्**-आपके **तं अस्तु**-उस इस शरीर को **शश्वत्तमासः** (शश् प्लुतगतौ)-अत्यन्त प्लुतगतिवाले, स्फूर्तिवाले आलस्य से शून्य **वयम्**-हम **हवामहे**-पुकारते हैं, ऐसे शरीर की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार पुकारते हैं **न**-जैसे **पितुः**-उस परमपिता परमात्मा के **सुहवंनाम**-सुगमता से पुकारने योग्य नाम को। प्रभु के नाम का जप करते हुए शरीर रूप सुन्दर रथ के लिये आराधना करते हैं। हमारा यह शरीर रूप रथ निरन्तर हमें जीवनयात्रा में आगे ले चले, हम क्रियाशील हों और प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा शरीर रूप रथ परितो गन्ता व शोभन हो और हम प्रभु के नाम का सतत स्मरण करें।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्तम जीवन

चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धिय उत्पुरन्धीरीरयतं तदुश्मसि।
यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम्॥ २॥

(१) हे **अश्विना**-अश्विनी देवो, प्राणापानो! **सूनृताः चोदयतम्**-सूनृत वाणियों को हमारे में प्रेरित करिये। इन प्राणों की साधना से हमारे में अशुभ बोलने की वृत्ति न रहे, हम जब बोलें

सूनृत वाणी ही बोलें। वह वाणी सु-उत्तम हो, ऊन्-दुःखों का परिहाण करनेवाली हो तथा ऋत-सत्य हो। (२) हे अश्विनी देवो! आप **धियः**-ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों को **पिन्वतम्**-(पूरयतम्) हमारे में पूरित करिये। हम कर्मशील हों और हमारे कर्म समझदारी से किये जायें। **उत**-और इसी दृष्टिकोण से आप हमारे में **पुरन्धीः**-(बह्वीः प्रज्ञाः) पालक व पूरक बुद्धियों को **ईरयतम्**-उद्गत करिये। हमारी बुद्धि सदा पालनात्मक व पूरणात्मक दृष्टिकोण से सोचनेवाली हो। (३) **तद् उश्मसि**-सो हम यही चाहते हैं कि (क) हम सूनृत वाणी बोलें, (ख) ज्ञानपूर्वक कर्मों को करें और (ग) पालक व पूरक बुद्धियों से युक्त हों। इस सब को प्राप्त करने के लिये हे **अश्विना**-प्राणापानो! **यशसं भागम्**-यशस्वी-यश के कारणभूत, भजनीय धन को **नः**-हमारे लिये **कृणुतम्**-करिये। भजनीय धन वही है जो कि (क) सुपथ से कमाया जाए तथा (ख) यज्ञों में विनियुक्त होकर यज्ञशेष के रूप में ही सेवित हो। (४) हे प्राणापानो! आप **नः**-हमारे **मघवत्सु**-ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले पुरुषों में **सोमं न**-सोम की तरह **चारुम्**-(चारुः चरतेः नि० ८।१५) क्रियाशीलता को **कृतम्**-उत्पन्न करिये। वे सोम (=वीर्य) का रक्षण करते हुए ओजस्वी बनें और क्रियाशील हों।

भावार्थ—'सूनृत वाणी, धी, पुरन्धी, यशस्वी धन, सोम=वीर्य, व क्रियाशीलता' ये चीजें मिलकर जीवन को उत्तम बनाती हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्राणसाधना व स्वास्थ्य

अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित्।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित्॥ ३॥

(१) **अमाजुरः**-शरीर रूप गृह में (अमा) जीर्ण होनेवाले के **चिद्**-भी **युवम्**-हे प्राणापानो! आप दोनों **भगः**-ऐश्वर्य **भवथः**-होते हैं। प्राणापान की शक्ति के अभाव में मनुष्य इस शरीर में जीर्ण हो जाता है, प्राणापान ही उसे स्वास्थ्य का ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। इस वाक्य का यह अर्थ भी ठीक ही है कि आपके अभाव में शक्ति के न होने से घर पर पड़े-पड़े ही जीर्ण हो जानेवाले पुरुष को भी आप इस योग्य बनाते हो कि वह देशदेशान्तर में जाकर ऐश्वर्य का कमानेवाला बने। (२) **अनाशोः चित्**-जो खा भी नहीं सकता था उसके भी आप **अवितारा**-रक्षक होते हो। **अपमस्य चित्**-उस व्यक्ति के भी आप रक्षक होते हो जो स्वास्थ्य की बड़ी हीन (अपम) अवस्था को प्राप्त हो गया है। (३) हे **नासत्या**-नासिका प्रदेश में निवास करनेवाले (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) अथवा (न असत्यौ) सब असत्यों व बुराइयों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **युवं इत्**-आपको ही **अन्धस्य चित्**-दृष्टिशक्ति से रहित का **कृशस्य चित्**-अत्यन्त दुर्बल अवस्था को प्राप्त हुए-हुए का तथा **रुतस्य चित्**-(brokem to pieces) युद्धादि में भग्नास्थि पुरुष का भी **भिषजा**-वैद्य **आहुः**-करते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से दृष्टिशक्ति ठीक होती है, कृशता दूर होकर शरीर को उचित सौन्दर्य प्राप्त होता है और अस्थि आदि उत्पन्न भंग भी शीघ्र ठीक हो जाता है। बालक का अस्थिभंग वृद्ध के अस्थिभंग की अपेक्षा अतिशीघ्र ठीक हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है और मनुष्य ऐश्वर्य

सम्पन्न हो पाता है।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पुनर्युवा

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।
निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्या॥ ४॥

(१) हे प्राणापानो! **युवम्**-आप दोनों **सनयम्**-पुराणभूत, बूढ़े से हुए-हुए **च्यवानम्**-च्युत-क्षरितवाले पुरुष को **पुनः**-फिर **यथारथम्**-(रथस्य योग्याम्) अनुरूप (fit) शरीर रूप रथवाला **युवानम्**-नौजवान **तक्षथुः**-बना देते हो जिससे **चरथाय**-वह जीवनयात्रा में उत्तमता से चल सके। बूढ़ा-सा व्यक्ति भी प्राणापान की साधना से नौजवान हो जाता है। (२) प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। 'तुग्र्या' शब्द पानी व रेतःकणों के लिये आता है (तुग्र्या=water)। इन रेतःकणों की रक्षा करनेवाला 'तुग्र्यासु साधुः' तौग्र्य कहलाता है। इत **तौग्र्यम्**-तौग्र्य को हे प्राणापानो! **अद्भ्यः**-(आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों के द्वारा **परि-निरूहथुः**-आप सब रोगों से पार कर देते हो। (३) इस प्रकार **वाम्**-हे अश्विनी देवो! आपके **विश्वा इत्ता**-सब वे कर्म निश्चय से **सवनेषु**-जीवनयज्ञ के २४ वर्ष तक के प्रातः सवन में, ४४ वर्ष के माध्यन्दिन सवन में और ४८ वर्ष के तृतीय सवन में **प्रवाच्या**-प्रकर्षेण कथन के योग्य होते हैं। इन प्राणापानों की कृपा से वृद्धावस्था दूर होती है और शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर मनुष्य रोग समुद्र में डूबता नहीं।

भावार्थ—प्राणापान मनुष्य को पुनर्युवा बना देते हैं और रोग-समुद्र में डूबने से बचाते हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

श्रत् (=सत्य) का धारण

पुराणा वां वीर्याऽ३ प्र ब्रवा जनेऽथो हासथुर्भिषजा मयोभुवा।
ता वां नु नव्यावसे करामहेऽयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत्॥ ५॥

(१) हे **नासत्या**-नासिका में रहनेवाले अथवा असत्य से रहित प्राणापानो! **अयम्**-यह मैं **वाम्**-आप दोनों के **पुराणा**-सनातन **वीर्या**-शक्तियों को **जने**-लोगों में **प्रब्रवा**-खूब ही कहता हूँ। **अथो**-और **ह**-निश्चय से आप दोनों **मयोभुवा**-कल्याण का भावन करनेवाले **भिषजा**-वैद्य **असथुः**-हो। इन प्राणापानों की साधना से सब रोग दूर होते हैं और कल्याण की प्राप्ति होती है। (२) **ता वाम्**-उन आप दोनों को **अवसे**-रक्षण के लिये **नव्या**-स्तुति के योग्य **करामहे**-करते हैं। हम प्राणापानों का स्तवन करते हैं और वे प्राणापान हमारा रक्षण करते हैं। (३) हे प्राणापानो! आप ऐसी ही कृपा करो **यथा**-जिससे **अयं अरिः**-यह आपका उपासक **श्रत् दधत्**-सत्य का धारण करनेवाला हो। इस उपासक का शरीर रोगों से रहित होकर नीरोग हो, इसका मन द्वेषादि से रहित होकर प्रेमपूर्ण हो, इसकी बुद्धि तीव्र व सात्त्विक हो। शरीर में रोग ही असत्य है, मन में द्वेष असत्य है और बुद्धि में मन्दता असत्य है। ये रोग द्वेष व मन्दता प्राणसाधना से दूर होती है और इन प्राणों का उपासक सत्य (श्रत्) को धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणापान कल्याण करनेवाले वैद्य हैं। इनका उपासक 'नीरोगता-निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता' रूप सत्य को धारण करता है।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्राण-महत्त्व (प्राण ही सर्वस्व हैं)

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्।
अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम्॥ ६॥

(१) इन मन्त्रों की ऋषिका 'घोषा' कहती है कि **इयम्**=यह मैं **वाम्**=आप दोनों को **अह्वे**=पुकारती हूँ। मे **शृणुतम्**=मेरी प्रार्थना को आप सुनिये। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मह्यम्**=मेरे लिये उसी प्रकार **शिक्षतम्**=(धनं दत्तम् सा०) स्वास्थ्य आदि के धन को दीजिये **इव**=जैसे कि **पुत्राय**=पुत्र के लिये **पितरा**=माता-पिता धन देने की कामना करते हैं। (२) हे प्राणापानो! आपके बिना तो मैं **अनापिः**=बन्धु-शून्य हूँ। वस्तुतः हे प्राणापानो! आप ही मेरे बन्धु हो। **अज्ञा**=आप के अभाव में मैं ज्ञानशून्य हूँ। प्राणसाधना से ही ज्ञान की भी वृद्धि होती है। **असजात्या**=आपके अभाव में मेरा कोई सजात्य नहीं है। जीते के ही सब रिश्तेदार हैं, प्राणों के साथ ही बिरादरी है। प्राण गये, सब गये। **अमतिः**=आपके अभाव में मेरी मनन शक्ति भी तो समाप्त हो जाती है। प्राणसाधना से ही मति का प्रकर्ष प्राप्त होता है। (३) हे प्राणापानो! **तस्याः**=उस 'अनापित्व, अज्ञत्व, असजात्यत्व व अमतित्व' रूपी **अभिशस्तेः**=हानि (hurt, injury) से **पुरा**=पूर्व ही आप **अवस्पृतम्**=मुझे सब रोग आदि कष्टों से पार करो। रोगों से ऊपर उठकर, प्राण-सम्पन्न जीवन को बिताते हुए मैं मित्रों को भी प्राप्त करूँगी, मेरा ज्ञान उत्कृष्ट होगा, कितने ही मेरे सजात्य होंगे और मेरी मति भी खूब ठीक ही होगी।

भावार्थ—प्राणों के साथ ही मित्र हैं, ज्ञान है, रिश्तेदार हैं और मननशील मन है।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

विमद का पुरुमित्र की योषणा से परिणय

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्।
युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये॥ ७॥

(१) हे अश्विनी देवो! **युवम्**=आप दोनों **वि-मदाय**=मद व गर्वरहित पुरुष के लिये **रथेन**=इस शरीररूप रथ के द्वारा **पुरुमित्रस्य**=(सर्वमित्रस्य) प्राणिमात्र के मित्र उस प्रभु की **शुन्ध्युवम्**=शुद्ध करनेवाली, जीवन को शुद्ध बनानेवाली **योषणाम्**=(यु-मिश्रणामिश्रणयोः) अवगुणों से पृथक् करनेवाली व गुणों से युक्त करनेवाली वेदवाणि को **न्यूहथुः**=निश्चय से प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना के होने पर बुद्धि तीव्र होती है और मनुष्य अपने इस मानव जीवन में ज्ञान की वाणियों का संग्रह करता है। ये वाणियाँ उसे उत्तम प्रेरणा देती हुई उसके जीवन को शुद्ध बनाती हैं। यह प्रभु की योषणा (शं० ३।२।१।२२ योषा वा इवं वाक्) विमद को प्राप्त होती है, यही विमद का पुरुमित्र की योषणा से विवाह है। अभिमानी ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाता। (२) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **वध्रिमत्याः**=अपनी इन्द्रियों को संयमयज्ञ द्वारा बन्धन में बाँधनेवाली के **हवं अगच्छतम्**=पुकार को सुनकर उसको प्राप्त होते हो। अर्थात् प्राणापान उसी को लाभ पहुँचा पाते हैं जो कि संयमी होकर युक्ताहार-विहारवाला बने। वस्तुतः प्राणसाधना स्वयं संयम की साधना में सहायक होती है। (३) **युवम्**=आप दोनों **पुरन्धये**=पालक व पूरक बुद्धिवाली के लिये **सुषुतिम्**=उत्तम ऐश्वर्य को **चक्रथुः**=करते हो। अर्थात् प्राणसाधना से मनुष्य उत्तम बुद्धि को सम्पादन करनेवाला होता है और बुद्धिपूर्वक व्यवहार से उत्तम ऐश्वर्य को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम निरभिमान व ज्ञानवान् बनते हैं। हमारा जीवन संयमवाला होता है और बुद्धियुक्त होकर हम ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

कलि, वन्दन व विश्पला

युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः।
युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः॥ ८॥

(१) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **जरणां उपेयुषः**=वृद्धावस्था को प्राप्त हुए-हुए **विप्रस्य**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **कलेः**=(कल संख्याने=to think) विचारशील पुरुष के **पुनः**=फिर से **युवद्वयः**=यौवनावस्था को **अकृणुतम्**=करते हो, विचारशील व अपना पूरण करनेवाला पुरुष वृद्धावस्था में भी युवा ही बना रहता है। वह भोजन के संयम से शक्ति को जीर्ण नहीं होने देता और प्राणसाधना के द्वारा रोगों को अपने से दूर रखता है। परिणामतः युवा बना रहता है। (२) **युवम्**=आप दोनों **वन्दनम्**=स्तुति करनेवाले को, प्रभु के उपासक को, **ऋश्यदात्**=(ऋश्यं=killing द=देनेवाला) विनाश के कारणभूत व्यसनकूप से **उदूपथुः**=ऊपर उठाते हो। प्रभु का स्तोता प्राणसाधना के द्वारा व्यसनों का शिकार नहीं होता। प्राणसाधक स्तोता की वृत्ति सदा उत्तम बनी रहती है। (३) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **विश्पलाम्**=प्रजाओं का उत्तमता से पालन करनेवाली को **सद्यः**=शीघ्र ही **एतवे**=गति के लिये **कृथः**=करते हो। कोई भी गृहिणी जो कि सन्तानों का उत्तमता से पालन करना अपना कर्त्तव्य समझती है वह प्राणसाधना से आयसी जंघा (अनथक लोहे की टाँगें) प्राप्त करके क्रिया में लगी रहती है। प्राणापान की साधना से इसे थकावट नहीं आती और यह अनथक कार्य करती हुई सन्तानों का समुचित पालन कर पाती है और अपने 'विश्पला' नाम को सार्थक करती है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना के तीन लाभ हैं—(क) वार्धक्य का न आना, (ख) व्यसनों में न फँसना और (ग) अनथक क्रियाशीलता।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'रेभ' व 'सप्तवध्रि-अत्रि'

युवं ह रेभं वृषणा गुहा हितमुदैरयतं ममृवांसमश्विना।
युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये॥ ९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **वृषणा**=शक्ति को देनेवाले हो और सब सुखों की वर्षा करनेवाले हो आप **रेभम्**=प्रभु के स्तवन करनेवाले को, **ममृवांसम्**=अब जो आसन्न मृत्यु है, पर **गुहा हितम्**=अन्तःकरण की गुहा में केन्द्रित ध्यान वृत्तिवाला है, उसे **उदैरयतम्**=उत्कृष्ट लोकों में प्राप्त कराते हो। इन्हीं के लिये 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्राणसाधना करनेवाला उपासक मृत्युशय्या पर ध्यानावस्थित हुआ-हुआ प्रभु का ही स्मरण करता है और इस शरीर को छोड़कर ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है। (२) हे प्राणापानो! आप **सप्तवध्रये**-'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख इन सातों को संयम के बन्धन में बाँधनेवाले **अत्रये**=(अ-त्रि) 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए पुरुष के लिये **तप्तं ऋबीसम्**=इस संतप्त अग्निकुण्ड (ऋबीसम्=Abyss) रूप संसार को **ओमन्वन्तम्**=(अवनवन्तं) रक्षणवाला **चक्रथुः**=करते हो। संयमी पुरुष के लिये यह संसार

शान्त सरोवर के तुल्य है। यही संसार असंयमी के लिये नरक की अग्नि के समान तपा हुआ हो जाता है। इस संयम के लिये प्राणसाधना कारण बनती है सो मन्त्र में इस भाव को कहा गया है कि प्राणापान इस संसाररूप तप्त अग्निकुण्ड को नाशक के स्थान में रक्षक बना देते हैं। प्राणसाधना ही हमें अत्रि बनाती है। अब 'काम' हमारे शरीर का ध्वंस नहीं करता, 'क्रोध' हमारे मन को क्षुब्ध नहीं करता और 'लोभ' हमारी बुद्धि को भ्रष्ट नहीं करता। इस प्रकार प्राणसाधना हमारा रक्षण करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हम स्तोता बनकर मृत्युशय्या पर भी प्रभु-स्मरण करते हुए ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं और (ख) इस संसार में 'अत्रि' बनकर तप्त अग्निकुण्ड को शान्त सरोवर में परिवर्तित करनेवाले होते हैं। हमारे लिये यह संसार सुखमय ही रहता है।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पेदु का श्वेताश्व

युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम्।
चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम्॥ १०॥

(१) जो व्यक्ति जीवनयात्रा में प्रभु की ओर चल रहा है उसे 'पेदु' कहते हैं 'पद्यते प्रभुम्'। हे प्राणापानो! **युवम्**-आप **अश्विना**-(अश्नुवाते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होते हुए, **पेदवे**-प्रभु की ओर चलनेवाले पुरुष के लिये **श्वेतं अश्वम्**-शुद्ध, व्यसनरूप मल से रहित इन्द्रियरूप अश्व को **ददथुः**-देते हो। आपकी कृपा से पेदु 'श्वेताश्व' बनता है, शुद्ध इन्द्रिय रूप अश्वोंवाला होता है। (२) इसका यह श्वेत अश्व (क) **नवभिः नवती च**-निन्यानवे **वाजैः**-शक्तियों से **वाजिनम्**-शक्तिवाला होता है। अर्थात् ९९ वर्षपर्यन्त इसकी शक्ति में कमी नहीं आती। (ख) **चर्कृत्यम्**-यह अश्व अतिशयेन क्रियाशील है, अर्थात् यह इन्द्रियों को सदा स्वोचित कर्मों में लगाये रखता है। (ग) **द्रावयत् सखम्**-यह अश्व उसे अपने सखा प्रभु की ओर निरन्तर ले चलता है। (घ) **नृभ्यः**-उन्नतिपथ पर चलनेवालों के लिये **भगं न**-यह अश्व ऐश्वर्य के समान है। वस्तुतः आत्म-प्रवण लोगों की सभी सम्पत्ति तो यह श्वेत इन्द्रियरूप अश्व ही है, यही उन्हें सब अध्यात्म सम्पत्ति प्राप्त करने में सहायक होता है। (ङ) **हव्यम्**-यह अश्व हव्य है, पुकारने के योग्य है। इसको प्राप्त करने के लिये ही हमें प्रभु से प्रार्थना करनी है। (च) **मयोभुवम्**-यह सब कल्याणों का भावन करनेवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोषों का दहन हो जाता है। यह इन्द्रियरूप अश्व शुद्ध हो जाता है, इसे 'श्वेत अश्व' कहने लगते हैं। हम क्रियाशील बनें और इसे प्राप्त करें।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अंहः-दुरितम्-भयम्

न तं राजानावदिते कुतश्चन नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम्।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह॥ ११॥

(१) हे **अश्विनो**-प्राणापानो! आप **राजानौ**-(राज् दीप्तौ) शरीर को दीप्त बनानेवाले हो। **अदिते**-(अदीतौ सा०) इस शरीर को खण्डित न होने देनेवाले हो। **सुहवा**-उत्तमता से आराधना करने के योग्य हो और **रुद्रवर्तनी**-(रुद्र-driving away evil) सब बुराइयों को दूर करनेवाले मार्गवाले हो, आप पहुँचे और बुराई भागी। (२) हे प्राणापाणो! आप **यम्**-जिस भी व्यक्ति को

पत्न्या सह- पत्नी के साथ **पुरोरथं कृणुथः**-अग्रगामी रथवाला करते हो, अर्थात् जिसे भी आप उन्नतिपथ पर आगे ले चलते हो **तम्**-उस पुरुष को **कुतश्चन**-कहीं से भी **अंह**-पाप व कष्ट **न अश्नोति**- नहीं प्राप्त होता। **न दुरितम्**-न किसी प्रकार का दुराचरण प्राप्त होता है **नकिः भयम्**-और ना ही भय प्राप्त होता है। (३) घर में पति-पत्नी दोनों ही प्राणसाधना करनेवाले हों तो उस घर में उन्नति ही उन्नति होती है। वहाँ पाप-दुराचरण व किसी भय के लिये स्थान नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना से अंह:-दुरित-भय से सब भाग जाते हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ऋभुओं से निर्मित रथ

आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना।

यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः ॥ १२ ॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **तेन**-उस **मनसो जवीयसा**-मन से भी अधिक वेगवान रथ से **आयातम्**-प्राप्त होइये, **यम्**-जिस **वाम्**-आप दोनों के **रथम्**-शरीररूप रथ को **ऋभवः**-ऋभुओं ने **चक्रुः**-बनाया है। 'ऋभवः' तीन हैं 'ऋभु विभ्वन् और वाज'। इनमें **ऋभु**-ऋतेन भाति, उस भाति **वा**-सत्य-ज्ञान से दीप्त है। **विभ्वन्**-व्यापक व विशाल हृदय है। वाज शक्तिशाली है। एवं ऋभुओं से बनाये गये रथ का भाव यह हो जाता है कि वह शरीर जिसमें मस्तिष्क सत्य ज्ञान से पूर्ण है, मन विशाल है और अंग-प्रत्यंग शक्तिशाली हैं। (२) यह वह रथ है, **यस्य**-जिसके **योगे**-मेल के होने पर **दिवः दुहिता**-ज्ञान का पूरण करनेवाली वेदवाणी **जायते**-आविर्भूत होती है और **विवस्वतः**-सूर्य के अर्थात् सूर्य के कारण उत्पन्न हुए-हुए **उभे अहनी**-दोनों रात व दिन **सुदिने**-उत्तम होते हैं। शरीर रूप रथ के ठीक होने पर ज्ञान का प्रकाश तो होता ही है, रात और दिन दोनों बड़ी सुन्दरता से बीतते हैं।

भावार्थ—हमें सत्यज्ञान के प्रकाशवाला, विशाल हृदयवाला, सशक्त अंगोंवाला शरीर-रूप रथ प्राप्त हो। इस रथ के मिलने पर ज्ञान का हमारे में पूरण हो और हमारे दिन-रात सुन्दर बीतें।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वृक के मुख से वर्तिका-मोचन

ता वर्तिर्यातं जयुषा वि पर्वतमपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना।

वृकस्य चिद्वर्तिकामन्तरास्याद्युवं शचीभिर्ग्रसितामंमुञ्चतम् ॥ १३ ॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **ता**-वे आप दोनों गतमन्त्र में वर्णित ऋभुओं से निर्मित **जयुषा**-सदा विजय करनेवाले रथ से **वर्तिः यातम्**-मार्ग पर चलो। प्राणसाधना से मनुष्य विषयों की ओर जाता ही नहीं, एवं वह मार्गभ्रष्ट नहीं होता। प्राणसाधक सदा सन्मार्ग से ही गति करता है। (२) हे प्राणापाणो! आप **पर्वतम्**-शरीर रथ में आधाय दण्ड के रूप में स्थित मेरुदण्ड व मेरुपर्वत (-रीढ़ की हड्डी) को **अपिन्वतम्**-(to animrte) प्रीणित करो। इसके स्वास्थ्य पर शरीर के स्वास्थ्य का निर्भर है, प्राणायाम के द्वारा इसमें स्थित 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा' इन तीनों नाड़ियों का कार्य ठीक से होने लगता है। (३) हे **अश्विना**-प्राणापानो! आप **शयवे**-(शी-trengnility) शान्त-स्वभाववाले के लिये **धेनुम्**-वेदवाणी रूप गौ को **अपिन्वतम्**-प्रीणित करते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होने से यह 'शयु' इस वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध का खूब ही पान कर

पाता है। (४) युवम्-आप दोनों शचीभिः-शक्तियों से वृकस्य आस्यात् अन्तः-भेड़िये के मुख में से ग्रसितां चित् वर्तिकाम्-निगली भी गई वर्तिका को अमुञ्चतम्-छुड़ा देते हो। यहाँ 'वृक' लोभ है, लोभ ही भेड़िये के रूप में चित्रित हुआ है। 'वर्तिका' (performamce prrctice) यज्ञादि कर्मों का करना है। लोभ रूप भेड़िया यज्ञादि कर्मरूप बटेर को निगल जाता है। लोभ के होने पर ये सब उत्तम कर्म नष्ट हो जाते हैं। प्राणसाधना लोभ को नष्ट करने के द्वारा इस वर्तिका को मुक्त कर देते हैं, फिर से हमारे जीवन में यज्ञादि कर्मों का प्रणयन होने लगता है। यह इन अश्विनी देवों की ही शक्ति है जो ऐसा कर पाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम (क) मार्ग पर चलते हुए विजयी होते हैं, (ख) मेरुदण्ड को ठीक कर पाते हैं, (ग) ज्ञानदुग्ध का खूब पान करनेवाले होते हैं, (घ) लोभ को जीतकर यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मर्त्य में अमृत का धारण

एतं वां स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो न रथम्।
न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः ॥ १४ ॥

(१) हे अश्विनौ-प्राणापानो! वाम्-आप दोनों के एतं स्तोमम्-इस स्तवन को अकर्म-हम करते हैं कि भृगवः न-भृगुओं की तरह, (भ्रज् पाके) ज्ञान से अपने को परिपक्व करनेवालों के समान हम रथं अतक्षाम-इस शरीर रूप रथ का निर्माण करते हैं। भृगुओं का रथ निर्दोष होना ही चाहिये, ज्ञान से वहाँ सब दोष दग्ध हो जाते हैं। (२) योषणां न-पत्नी की तरह इस वेदवाणी रूप पत्नी को न्यमृक्षाम-पूर्ण शुद्ध करते हैं। वेदवाणी को योषणा इसलिए कहा है कि वह 'यु मिश्रण अमिश्रण' हमारे साथ गुणों का मिश्रण करती है, अवगुणों का अमिश्रण। इसका ज्ञान प्राप्त करना ही इसका शोधन है। (३) मर्ये-अपने इस मरणधर्मा शरीर में उस तनयम्-हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाले नित्यं सूनुं न-(षू प्रेरणे) उस सनातन प्रेरक के समान स्थित प्रभु को दधानाः-हम धारण करनेवाले होते हों। प्राणसाधना से हृदय निर्मल होता है अन्तःस्थित प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है, उससे दी जानेवाली प्रेरणा को हम सुनते हैं।

भावार्थ—अश्विनी देवों का सच्चा स्तवन तो यही है कि हम शरीर रूप रथ को सुन्दर बनायें। बुद्धि को तीव्र बनाकर ज्ञान प्राप्त करें। हृदय को निर्मल बनाकर प्रभु की प्रेरणा को सुनें।

सूक्त का प्रारम्भ इस रूप में हुआ है कि हमारा शरीर रूप रथ 'परिज्मा व सुवृत्' हो, (१) हमारा जीवन 'सुनृत वाणी, बुद्धि, धन, वीर्य व क्रियाशीलता' से युक्त हो, (२) प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है, (३) प्राणापान मनुष्य को पुनर्युवा बना देते हैं, (४) प्राणापान का उपासक 'नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता रूप सत्य को धारण करता है, (५) प्राणों के साथ ही सब कुछ है, (६) इनकी साधना से हम निरभिमान व ज्ञानवान् बनते हैं, (७) इनकी साधना से वार्धक्य नहीं आता, पुरुष वासनों में नहीं फँसता तथा अनथक क्रियाशील बना रहता है, (८) इनकी साधना से यह तप्त अग्निकुण्ड सम संसार 'शान्त सरोवर' बन जाता है, (९) इनकी साधना से इन्द्रियों के दोषों का दहन हो जाता है, (१०) पाप-दुरित व भय भाग जाते हैं, (११) इनकी साधना से दिन-रात सुन्दर बन जाते हैं, (१२) हम मार्ग पर चलते हुए विजयी होते हैं, (१३) प्राणों का सच्चा स्तवन यही है कि हम शरीर रूप रथ को सुन्दर बनाएँ, (१४)

इस प्रभु-रूप रथ को हम भूषित करें—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कश्चिद् धीरः अथवा प्रभुरूप रथ

रथं यान्तं कुह को ह वां नरा प्रति द्युमन्तं सुविताय भूषति।
प्रातर्यावाणं विभ्वं विशेविशे वस्तोर्वस्तोर्वहमानं धिया शमि ॥ १ ॥

(१) वेद में 'रथं न वेद्यम्'-इन शब्दों में प्रभु को रथ के समान जानने के लिये कहा है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि ऐ **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! **कुह**=कहाँ **कः**=कौन **ह**=ही, कोई विरल पुरुष ही, **सुविताय**=उत्तम आचरण के लिये, उत्तम गति के लिये **वाम्**=आपके **रथम्**=इस प्रभु रूप रथ को **प्रति भूषति**=प्रतिदिन अलंकृत करता है। यह प्रभु रूप रथ अश्विनी देवों का इसलिए है कि इनकी साधना से ही प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु रथ इसलिए हैं कि प्रभु के आलम्बन से ही जीवनयात्रा पूरी होती है। (२) यह प्रभु रूप रथ **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय है। **यान्तम्**=यह निरन्तर गतिमय है। प्रभु की क्रिया व ज्ञान स्वाभाविक ही हैं। **प्रातर्यावाणम्**=यह प्रातः प्राप्त होनेवाला है। इसी से प्रातःकाल को 'ब्रह्म-मुहूर्त' यह नाम दिया गया है। यह **विशे-विशे विभ्वम्**=प्रत्येक प्रजा में व्यापनवाला है और **वस्तो-वस्तोः**=प्रतिदिन **धिया**=ज्ञानपूर्वक **शमि**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में **वहमानम्**=हमें प्राप्त कराता है। हृदय में स्थित उस प्रभु की प्रेरणा हमें उत्तम कर्मों में प्रेरित करती है। उस प्रेरणा के अनुसार चलने पर हम सदा ज्ञानपूर्वक यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये रथ के समान हैं। यह रथ हमें ज्ञानपूर्वक यज्ञादि कर्मों में ले चलता हुआ यात्रा पूर्ति में साधन बनता है।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

जीवन यात्रा

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ २ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **दोषा**=रात्रि में **कुह स्वित्**=कहाँ **अभिपित्वं करतः**=अभिप्राप्ति को करते हो। **कुह**=कहाँ **वस्तोः**=दिन में होते हो, **कुह**=कहाँ **ऊषतु**=आपका निवास होता है। जब कि सब इन्द्रियाँ सो जाती हैं उस समय भी ये प्राणापान जागते रहकर अपने कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। वस्तुतः उस रात्रि के समय सारे शोधन के कार्य को ये करनेवाले होते हैं। (२) **कः**=कोई व्यक्ति ही **वाम्**=आप दोनों को **सधस्थे**=आत्मा और परमात्मा के सम्मिलित रूप से स्थित होने के स्थान हृदय में **आकृणुते**=अभिमुख करता है। प्राणसाधना का ध्यान विरल पुरुषों को ही होता है। इस साधना में प्राणों को हृदय में पूरित करके उन्हें इस प्रकार वेग से छोड़ा जाता है जैसे कि उनका प्रच्छर्दन (वमन) ही हो रहा है। इस 'प्रच्छर्दन व विधारण' रूप प्राणसाधन से रुधिर का शोधन होकर शरीर में सब उत्तमताओं का प्रापण होता है। (३) प्राणों को इस प्रकार अभिमुख करने का प्रयत्न करना चाहिये **इव**=जैसे कि **विधवा**=पति के चले जाने पर अपत्नीक स्त्री **देवरम्**=देवर को अभिमुख करती है और **न**=जैसे **योषा**=पत्नी **शयुत्रा**=शयन-स्थान में **मर्यम्**=पति को अभिमुख करती है। जैसे घर का कार्य केवल पत्नी नहीं चला सकती, वह पति

को अभिमुख करके ही कार्य कर पाती है, इसी प्रकार जीव प्राणों को अभिमुख करके ही घर के कार्य को चला पाता है। एक विधवा के लिये देवर की सहायता आवश्यक है, इसी प्रकार जीव के लिए प्राण का सहाय आवश्यक है।

भावार्थ—जीव प्राणों के सहाय से ही जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाता है।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दोषों को जीर्ण करनेवाले

प्रातर्जरेथे जरणेव कापया वस्तोर्वस्तोर्यजता गच्छथो गृहम्।
कस्य ध्वस्रा भवथः कस्य वा नरा राजपुत्रेव सवनाव गच्छथः ॥ ३ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **जरणा इव**=दोषों को जीर्ण करनेवालों के रूप में **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **कापया**=(कं आ पाति) सुख का समन्तात् रक्षण करनेवाली वेद-वाणी के द्वारा **जरेथे**=स्तुति किये जाते हो। (२) **वस्तोः वस्तोः**=प्रतिदिन **यजता**=यष्टव्य-उपासना के योग्य, अश्विनी देवो! आप **गृहं गच्छथः**=इस शरीर रूप घर को प्राप्त होते हो और **कस्य**=किसी एक दोषरूप अंश के **ध्वस्रा**=नाश करनेवाले **भवथः**=होते हो और **राजपुत्रा इव**=(राज्=दीप्तौ, पु=पुनाति, त्र=त्रायते) दीप्त करनेवाले, पवित्र करनेवाले तथा त्राण व रक्षण करनेवालों के समान **नरा**=आगे ले चलनेवाले आप **कस्य**=किसी एक के **सवना**=बाल्यकाल रूप प्रातः सवन, यौवनरूप माध्यन्दिन सवन तथा वार्धक्य रूप तृतीय सवन में **अवगच्छथः**=प्राप्त होते हो। इन तीनों सवनों में ये प्राणापान हमारे जीवन को दोषों के नाश के द्वारा दीप्त पवित्र व रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रातःकाल के नैत्यिक कर्त्तव्यों में प्राणसाधना का प्रमुख स्थान होना चाहिए। ये शरीर के दोषों का नाश करनेवाले हैं, और शरीर को दीप्त बनानेवाले हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मृगा-वारणा

युवां मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषा वस्तोर्हविषा नि ह्वयामहे।
युवं होत्रामृतुथा जुह्वते नरेषं जनाय वहथः शुभस्पती ॥ ४ ॥

(१) **युवम्**=आप दोनों **मृगा इव**=मृगों के समान हो 'मृग=to hurt, chese, pwrsue', दोषों का शिकार करनेवाले हो। **वारणा**=दोषों का निवारण करके शरीर को स्वस्थ बनाते हो। (२) **मृगण्यवः**='मृग अन्वेषणे'=आत्मतत्त्व का अन्वेषण करनेवाले हम **दोषा वस्तोः**=दिन-रात **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **निह्वयामहे**=आपको पुकारते हैं। प्राणापान की साधना के लिये युक्ताहारविहार होना आवश्यक है। त्यागपूर्वक अदन प्राणसाधना के लिये पथ्य के समान है। इस साधना से सब मलों का विनाश होकर प्रभु का दर्शन होता है। (३) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ऋतुथा**=समय-समय पर **होत्राम्**=दानपूर्वक यज्ञशेषरूप भोजन को **जुह्वते**=शरीर की वैश्वानर अग्नि में आहुत करते हो। हे **नरा**=नेतृत्व करनेवाले प्राणापानो! आप **जनाय**=लोगों के लिये **इषम्**=अन्न को **वहथः**=प्राप्त कराते हो। प्राणापान से युक्त होकर ही वैश्वानर अग्नि अन्न का पाचन करती है एवं अन्न को प्राप्त कराके व उसका ठीक से पाचन करके, हे प्राणापानो! आप **शुभस्पती**=सब शुभ बातों के रक्षण करनेवाले हो। प्राणापान ही शरीर को शुभ बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान शरीर को निर्दोष बनाते हैं, प्रभु का दर्शन करते हैं, अन्न का ठीक से पाचन करते हैं और शरीर में सब शुभों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

घोषा-यती-राज्ञः दुहिता

युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा।
भूतं मे अह्न उत भूतमक्तवेऽश्वावते रथिने शक्तमर्वते॥ ५॥

(१) हे **नरा**-जीवनयात्रा में हमारी उन्नति के कारणभूत **अश्विना**-अश्विनी देवो! प्राणापानो **युवाम्**-आप दोनों को **ह**-निश्चय से **राज्ञः दुहिता**-राजा की पुत्री, अर्थात् अपने जीवन को अत्यन्त दीप्त करनेवाली अथवा (राज्=to reqnlate) अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाली **यती**-क्रियाशील **घोषा**-स्तुति-वचनों का आघोष करनेवाली मैं **परि-ऊचे**-सदा कहती हूँ, आपके ही प्रशंसा-वचनों का उच्चारण करती हूँ और **वां पृच्छे**-आपसे ही यह प्रार्थना करती हूँ, पूछती हूँ कि आप **अह्ने**-दिन के लिये **मे भूतम्**-मेरे होइये **उत**-और **अक्तवे**-रात्रि के लिये भी (मे) **भूतम्**-मेरे होइये, अर्थात् आप दिन-रात मेरा कल्याण सिद्ध करनेवाले हों, वस्तुतः दिन में होनेवाले सारे कार्य इन प्राणापानों के द्वारा ही होते हों और रात को भी अन्य सब इन्द्रियों के सो जाने पर ये प्राणापान ही जागते रहते हैं और रक्षण का कार्य करते हैं। रात में ये सारे शरीर का शोधन करके नव शक्ति का सब अंगों में संचार करते हैं और उन्हें अत्यन्त दृढ़ बना देते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **अश्वावते**-उत्तम इन्द्रिय रूप अश्वोंवाले **रथिने**-शरीररूप रथवाले **अर्वते**-(अर्व हिंसायाम्) विघ्नों का हिंसन करनेवाले मेरे लिये **शक्तम्**-शक्ति को देनेवाले होइये। वस्तुतः आपकी कृपा से ही मेरे इन्द्रियाश्व शक्तिशाली बनते हैं, मेरा शरीर रथ ठीक होता है और मैं मार्ग में आनेवाले काम-क्रोधादि, उन्नति के विघ्न-भूत, दोषों को जीतनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—प्राणापान की साधना की सफलता 'घोषा, यती व राज्ञः दुहिता' बनने से होती है, इस साधना के लिये 'प्रभु-स्तवन, क्रियाशीलता व नियम परायणता' आवश्यक है। इस साधना से दिन-रात उत्तम बीतते हैं, हमारा इन्द्रियाश्व व शरीर रथ दृढ़ होता है, विघ्नों को दूर करने में हम समर्थ होते हैं।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मधु-भरण

युवं कवी ष्ठः पर्यश्विना रथं विशो न कुत्सो जरितुर्नशायथः।
युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृतं न योषणा॥ ६॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **युवम्**-आप दोनों **कवी**-क्रान्तप्रज्ञ, अत्यन्त मेधावी **स्थः**-हो। आपकी साधना से ही तीव्र बुद्धि प्राप्त होती है। (२) **अश्विना**-प्राणापानो! आप ही **रथं परिस्थः**-इस शरीर रूप रथ को सब ओर से सुरक्षित करते हो। प्राणापान ही शरीर की रोगादि के आक्रमण से रक्षा करते हैं। उसी प्रकार रक्षा करते हैं, **न**-जैसे **कुत्सः**-(कुत्सयते इति कुत्स, तस्य) बुराई की निन्दा करनेवाले **जरितुः** (जरते-to fraise)-स्तोता **विशः**-पुरुष की **परि नशायथः**-रक्षा के लिये सर्वतः प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना के साथ यह आवश्यक है कि—(क) हम अशुभ को अशुभ समझें और उसे अपने से दूर करने के लिये यत्नशील हों (कुत्स), (ख) तथा अशुभ को दूर करने के लिये ही प्रभु के स्तवन को अपनाएँ (जरिता)। (३) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **मक्षा**-मक्खी **ह**-निश्चय से **युवोः**-आप दोनों के **आसा**-मुख से **मधु**-शहद को **परि-भरत**-धारण करती है। **न**-उसी प्रकार धारण करती है जैसे कि **योषणा**-एक स्त्री

निष्कृतम्=परिशुद्ध गृह को धारण करती है। इस उपमा से दो बातें स्पष्ट की गई है कि—(क) मधु कोई उच्छिष्ट वस्तु नहीं, वह तो निष्कृत-पूर्ण शुद्ध है। (ख) यह शहद दोषों को दूर करके उत्तमताओं का आधान करनेवाला है (योषणा-यु=मिश्रणा-अमिश्रण)। यह कहने से कि 'मक्खी आपके (प्राणापान के) मुख से शहद को बनाती है' भाव यह है कि शहद प्राणापान का वर्धन करनेवाला है।

भावार्थ—प्राणापान जहाँ बुद्धि का वर्धन करते हैं, वहाँ शरीररूप रथ को सुदृढ़ बनाते हैं। शहद प्राणापान का वर्धन करनेवाला है। सम्भवत: इसीलिए यह अश्विनी देवों का भोजन कहलाता है।

ऋषि:—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्द:—जगती॥ स्वर:—निषाद:॥

भुज्यु-वश-शिञ्जार-उशमा-ररावा

युवं ह भुज्युं युवमश्विना वशं युवं शिञ्जारमुशनामुपारथुः।
युवो ररावा परि सख्यमासते युवोरहमवसा सुम्नमा चके॥ ७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **भुज्युम्**=(भुज्-यु) पालन के लिये भोजन करनेवाले को **उपारथुः**=प्राप्त होते हो। दूसरे शब्दों में शरीर-रक्षण के लिये ही भोजन करनेवाला 'प्राणयात्रिक मात्र' पुरुष प्राणापान की शक्ति को प्राप्त करता है। (२) **युवम्**=आप दोनों **वशम्**=अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाले को प्राप्त होते हो। जितेन्द्रिय पुरुष ही प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। (३) **युवम्**=आप दोनों **शिञ्जारम्**=भूषणों के शब्द की तरह मधुर शब्दों में प्रभु-उपासन करनेवाले को प्राप्त होते हो। प्रभु उपासना जितेन्द्रिय बनने में सहायक होती है, और जितेन्द्रिय पुरुष ही प्राणयात्रा के लिये ही, न कि स्वाद के लिये, भोजन करनेवाला होता है। (४) **उशनाम्**=(नि० ६।१३) सर्वहित की कामना करनेवाले को आप प्राप्त होते हो। द्वेषादि से प्राणापान की शक्ति की क्षीणता होती है। द्वेष से ऊपर उठकर हृदय में सब के भद्र का चिन्तन करने से प्राणापान की शक्ति का वर्धन होता है। सर्वहित की भावना 'शिञ्जार'=प्रभु-भक्त में ही उत्पन्न होती है। (५) **ररावा**=खूब देनेवाला, त्याग की वृत्तिवाला पुरुष, **युवो:**=आप दोनों के **सख्यम्**=मित्रता को **परि आसते**=सर्वथा प्राप्त करता है। स्वार्थ की भावना भी प्राणशक्ति का क्षय करती है। सो **अहम्**=मैं **युवो: अवसा**=आप दोनों के रक्षण से **सुम्नम्**=सुख की **आचके**=कामना करता हूँ। प्राणापान का रक्षण मिलने पर ही मनुष्य का जीवन सुखी होता है।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति 'भुज्यु-वश-शिञ्जार-उशना व ररावा' को प्राप्त होती है। 'भुज्यु' बनने के लिये, 'वश' होने की आवश्यकता है। 'वश' बनने के लिये 'शिञ्जार' बनना सहायक होता है। 'शिञ्जार' अवश्य 'उशना' बनता है और वह 'ररावा' होता है। एवं 'शिञ्जार' केन्द्रीभूत शब्द है। एक ओर वह हमें 'भुज्यु व वश' बनाता है, तो दूसरी ओर हम उससे 'उशना व ररावा' बनते हैं। एवं प्रभु-स्तवन का महत्त्व सुव्यक्त है।

ऋषि:—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्द:—पादनिचृज्जगती॥ स्वर:—निषाद:॥

ससास्य व्रज का अपवारण

युवं ह कृशं युवमश्विना शयुं युवं विधन्तं विधवामुरुष्यथः।
युवं सनिभ्यः स्तनयन्तमश्विनाप व्रजमूर्णुथः सप्तास्यम्॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवं ह**=आप ही **कृशम्**=दुर्बल को, दुर्बल को ही क्या! **युवम्**=आप तो **शयुम्**=जो रोगाकान्त होकर लेट ही गया है उस पुरुष को भी **उरुष्यथः**=रक्षित करते हो। प्राणापान की शक्ति के वर्धन से कृश फिर से मांसल (=बलवान्) हो जाता है और खाट पर पड़ा हुआ भी उठ बैठता है। (२) यह 'कृश' और 'शयु' आपसे रक्षित तभी होते हैं जब ये **विधन्तम्**=प्रभु का उपासन करनेवाले होते हैं। प्रभु की उपासना से इनका मन सबल बना रहता है और मन के सबल होने पर प्राणापानों के लिये शरीर के दोष दूर करने का उत्तम अवसर बना रहता है। प्रभु के उपासन से दूर होकर यदि मन विकल्पों से भर जाए तो फिर उस विकल्पग्रस्त पुरुष के लिये प्राणापान सहायक नहीं हो पाते। (३) **युवम्**=आप दोनों **सनिभ्यः**=संविभागपूर्वक खानेवालों के लिये और इस प्रकार हव्यवृत्ति से प्रभु का उपासन करनेवालों के लिये **स्तनयन्तम्**=गर्जना करते हुए, अर्थात् प्रबल होते हुए **सप्तास्यम्**=सात मुखोंवाले **व्रजम्**=व्यसन समूह को आप **ऊर्णुथः**=दूर ही रोक देते हो (उर्णुः अपवारणे) 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्र भाग में 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सात ऋषि कहे गये हैं। क्योंकि ये ज्ञान प्राप्ति के साधनभूत हैं। परन्तु जब ये ज्ञान प्राप्ति के स्थान में विषयास्वाद में प्रसित हो जाते हैं तो ये ही 'सप्तास्य' बन जाते हैं। हमारा यह इन्द्रिय-समूह विषयों के भोगने में ही लग जाता है। यह 'सप्तास्य व्रज' प्रबल है, इसे जीत लेना सुगम नहीं। यही भाव 'स्तनयन्तं' शब्द से संकेतित हो रहा है। पर प्राणसाधना करने पर यह सप्तास्य व्रज हमारे से दूर रहता है और हम 'सप्तर्षियों' वाले ही बने रहते हैं।

भावार्थ—प्राणापान 'कृश व शयु' को भी प्राणशक्ति सम्पन्न बना देते हैं। ये हमारी इन्द्रियों को विषय-भोग-प्रवण नहीं होने देते।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पति, नकि दास

जनि॑ष्ट॒ योषा॑ प॒तय॑त्कनीन॒को वि चारु॑ह॒न्वी॒रुधो॑ दं॒सना॒ अनु॑।

आस्मै॑ रीयन्ते निव॒नेव॒ सिन्ध॑वो॒ऽस्मा अह्ने॑ भवति॒ तत्प॑ति॒त्व॒नम्॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के होने पर एक घर में पत्नी **योषा**=गुणों का अपने साथ मिश्रण करनेवाली व अवगुणों को अपने से दूर करनेवाली **जनिष्ट**=हो जाती है। और **पतयत्**=पति की तरह आचरण करनेवाला पुरुष (पतिरिवाचरति, आत्मानं पतिं करोति, णिच् प्रत्यये) **कनीनकः** (कन दीप्तौ)=दीप्त जीवनवाला होता है। **च**=और इन पति-पत्नी के **दंसना अनु**=कर्मों के अनुपात में ही **वीरुधः वि अरुहन्**=ओषधियाँ विशिष्ट रूप से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् प्राणशक्ति सम्पन्न होकर ये पति-पत्नी क्रियाशील होते हैं और अन्नादि के उत्पादन की तरह विविध निर्माण के कार्यों को करनेवाले होते हैं। (२) सब सांसारिक **वसु**=ऐश्वर्य **अस्मै**=इस व्यक्ति के लिये **आरीयन्ते**=चारों ओर से प्राप्त होते हैं, **इव**=जैसे **निवना**=निम्न मार्ग से **सिन्धवः**=नदियाँ **रीयन्ते**=बहती हैं। प्राणसाधना से उत्पन्न क्रियाशीलता इसे सब वसुओं का आधार बनाती है। (३) **तत्**=तब **अस्मा**=इस **अह्ने**=एक-एक क्षण को न हिंसित करनेवाले सतत क्रियाशील पुरुष के लिये **पतित्वनम्**=स्वामित्व **भवति**=होता है। यह अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि का पति बनता है, न कि दास। यही जीव की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अवगुण दूर होकर गुणों की प्राप्ति होती है। प्राणसाधक चमकता है, यह वसुओं का आधार बनता है और अपनी इन्द्रियादि का पति बनता है न कि दास।

ऋषि:—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्द:—जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

प्रभु-स्मरण और यज्ञाभिनिवेश

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना से अपना पति बननेवाले लोग **जीवं रुदन्ति**=जब तक जीते हैं प्रभु का आह्वान करते हैं (रुद्-शब्द=cry aloud), ऊँचे-ऊँचे प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हैं और **अध्वरे**=यज्ञों में **विमयन्ते**=विशेषरूप से जाते हैं, अर्थात् यज्ञशील जीवन बिताते हैं। संक्षेप में, प्रभु का स्मरण करते हैं और यज्ञों=श्रेष्ठ कर्मों में लगे रहते हैं। (२) इस प्रकार के **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **दीर्घां प्रसितिम्**=महती व (दृ विदारणे) रजस्तमोगुण का विदारण करनेवाली व्रतों की असिति को, व्रत बन्धन को **अनु दीधियुः**=(अनु दधाति) धारण करते हैं। ये व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधते हैं और यह व्रतों का बन्धन इनके राजस-तामसभावों का विदारण करके इन्हें 'नित्य स्वस्थ' बनाता है। (३) उन **पितृभ्यः**=पितरों व रक्षकों के लिये **वामम्**=सब कुछ सुन्दर ही सुन्दर होता है **ये**=जो **इदम्**=इस उल्लिखित जीवन के कार्यक्रम को **समेरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं। जीवन का कार्यक्रम यही है—(क) प्रभु का स्मरण करना, (ख) उत्तम कर्मों में लगे रहना, (ग) और व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना। (४) इस जीवन के कार्यक्रम की स्थिति में जब **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिये **परिष्वजे**=आलिंगन के लिये होती हैं तो **मयः**=कल्याण ही कल्याम के लिये होती हैं, अर्थात् इनके सन्तान भी उत्तम होते हैं और ये पति-पत्नी स्वयं भी नीरोग बने रहते हैं।

भावार्थ—जीवन का कार्यक्रम यही ठीक है—(क) प्रभु स्मरण, (ख) यज्ञाभिनिवेश, (ग) व्रतबन्धन। ऐसा होने पर सब सुन्दर ही सुन्दर होता है। इस जीवन में पत्नी का पति के साथ सम्पर्क भी उत्तम सन्तान व नीरोगता का ही साधक होता है।

ऋषि:—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्द:—निचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

गृहिणी गृहमुच्यते—पति की योग्यताएँ

न तस्य विद्म तदु षु प्र वोचत युवा ह यद्युवत्याः क्षेति योनिषु।
प्रियोस्त्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र की अन्तिम पंक्ति से गृहस्थाश्रम का संकेत हुआ है। उसी का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **यद्**=जब **युवा**=एक नौजवान 'अवगुणों को अपने से पृथक् करके गुणों को अपने साथ जोड़नेवाला पुरुष' **ह**=निश्चय से **युवत्याः**=एक युवति के **योनिसु**=गृहों में **क्षेति**=निवास करता है, तो **तस्य न विद्म**=उस गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य को हम पूरा-पूरा नहीं जानते, **तद्**=उस कर्त्तव्य को **उ**=निश्चय से **सु प्रवोचत**=उत्तमता से हमारे लिये बतलाओ। यहाँ वर्णनशैली से यह स्पष्ट है कि '**गृहिणी गृहमुच्यते**'=पत्नी ही घर है। घर पत्नी ने बनाना है, उस घर में पति उत्तम निवासवाला होता है। (२) घर पत्नी का होता है, परन्तु प्रारम्भ में कन्या ही तो पितृगृह को छोड़कर पतिगृह में पहुँचती है। उस समय वह अश्विनी देवों से आराधना करती है कि **अश्विना**=हे प्राणापानो! **तद् उश्मसि**=हम यह चाहते हैं कि हम **गृहं गमेम**=उस पति के घर को प्राप्त हों जो कि **प्रियोस्त्रियस्य**=(प्रियाः उस्त्रियाः यस्मैः उस्त्रिया=गौ, रश्मि) गौवों का प्रिय हो, घर में गौ रखने का चाव रखता हो। अथवा जिसे ज्ञान की रश्मियाँ प्रिय हैं, जो अनपढ़ व गंवार नहीं

है, ज्ञान की रुचिवाला है। **वृषभस्य**=शक्तिशाली व गृहस्थ की गाड़ी को खेंचने में समर्थ है। **रेतिनः**=रेतस्‌वाला है, नपुंसक नहीं। वस्तुतः ऐसा व्यक्ति ही गृहस्थ में जाने का अधिकारी है। इससे भिन्न को गृहस्थ में जाने का अधिकार न होना चाहिए।

भावार्थ—घर का निर्माण पत्नी ने करना है। पति वही ठीक है जो कि अनपढ़ व कमजोर नहीं। अनपढ़ व कमजोर पति गृहस्थ को स्वर्ग नहीं बना सकता।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

काम-नियमन—न कामातुर न कृपण

आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अयंसत।

अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार पति-पत्नी घर को बनाकर अश्विनी देवों से प्रार्थना करते हैं कि हे **वाजिनीवसू**=अन्नरूप धनवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों की **सुमतिः**=कल्याणीमति **आ अगन्**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। प्राणापान को अन्न-धनवाले इसलिए कहा है कि इन्हीं से अन्न का पाचन होता है। वैश्वानर अग्नि (=जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर सब अन्नों का पाचन करती है। अन्न का ठीक पाचन होकर इस सात्त्विक अन्न से सात्त्विक ही बुद्धि भी प्राप्त होती है। (२) हे (अश्विना=) प्राणापानो! आपकी कृपा से **कामाः**=वासनाएँ **हृत्सु**=हृदयों में **नि अयंसत**=पूर्णरूपेण नियमित हों। कामवासना का नियमन ही गृहस्थ का सर्वमहान् कर्त्तव्य है। इसके नियमित होने पर सन्तान भी उत्तम होते हैं और पति-पत्नी की शक्ति भी स्थिर रहती है। इससे नीरोगता व दीर्घजीवन सिद्ध होते हैं। (३) हे प्राणापानो! आप **गोपा अभूतम्**=हमारी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले होइये। आप **मिथुना**=द्वन्द्व रूप में **शुभस्पती**=सब शुभों के पति हो। प्राणापान की साधना के होने पर जहाँ इन्द्रियों के दोष दग्ध होते हैं, वहाँ शरीर में सब शुभों का रक्षण होता है। (४) इस मन्त्र की समाप्ति पर पत्नी बननेवाली युवति कामना करती है कि **प्रियाः**=पति की प्रिय होती हुई हम प्रियरूपवाली होती हुई हम **अर्यम्णः**=(अदीन् यच्छति) कामादि को वश करनेवाले, नियमित वासनावाले तथा (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति), अकृपण पति के **दुर्यान्**=घरों को **अशीमहि**=हम प्राप्त करें। हमें ऐसा पति प्राप्त हो जो न तो कामातुर हो और नांही कृपण।

भावार्थ—गृहस्थ का मूल मन्त्र यही है कि वासना का नियन्त्रण हो पति न कामातुर हो, नांही कृपण।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

घर तीर्थ बन जाए

ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे।

कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम्॥ १३॥

(१) **ता**=वे **मन्दसाना**=हर्ष को पैदा करते हुए प्राणापानो! **मनुषः**=विचारपूर्वक कर्म करनेवाले के **सहवीरम्**=वीर पुत्रों से युक्त **रयिम्**=धन को **आधत्तम्**=सर्वथा धारण करो। मैं आपकी कृपा से धन को प्राप्त करूँ और उत्तम सन्तान को प्राप्त करूँ। (२) **शुभस्पती**=सब शुभों के रक्षण करनेवाले आप मेरे घर को **तीर्थं कृतम्**=तीर्थ बना दो। यह हमें 'तारयति'-तैरानेवाला हो, नकि डुबानेवाला हम पति-पत्नी एक दूसरे का हाथ पकड़कर पर्वतीय जलधाराओं की तरह सब अप्रिय वासनाओं को पारकर जाएँ। **सुप्रपाणं कृतम्**=इस घर को आप उत्तम प्रकृष्ट प्याऊ

बना दो। हम जल व दुग्ध आदि उत्तम पेयों का ही यहाँ प्रयोग करें। (३) आप इस घर में **स्थाणुम्**-परमात्मा को, जो सदा स्थिर है, सर्वव्यापकता के नाते जिसके हिलने का सम्भव नहीं, उस परमात्मा को इस घर में करो। इस घर में प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान अवश्य हो। **पथेष्ठाम्**-ये प्रभु ही हमें मार्ग पर स्थित करनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देता। हे प्राणापानो! आप **दुर्मतिम्**-दुर्मति को **अपहतम्**-हमारे से सदा दूर रखो। हम दुर्मति का शिकार न हों। प्राणसाधना से बुद्धि के दोष भी दूर होते हैं।

भावार्थ—हमारा घर पवित्र, अपेय पदार्थों से रहित और प्रभु-स्मरणवाला हो। हमें वीर सन्तान व धन प्राप्त हो।

ऋषिः—घोषा काक्षीवती ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उल्लास-पूरणता व यज्ञशीलता

क्व स्विदद्य कतमास्वश्विना विक्षु दस्रा मादयेते शुभस्पती।
क ईं नि येमे कतमस्य जग्मतुर्विप्रस्य वा यजमानस्य वा गृहम्॥ १४॥

(१) प्राणापान का आराधक प्राणसिद्धि को न देखकर आतुरता से कहता है कि हे **दस्रा**-सब दोषों का उपक्षय करनेवाले (दस्-उपक्षये) उपक्षय करनेवाले **शुभस्पती**-सब शुभों के रक्षक **अश्विना**-अश्विनी देवो-प्राणापानो! **अद्य**-आज आप **क्व स्वित्**-कहाँ हो! मैं तो आपको प्राप्त नहीं कर रहा। **कतमासु विक्षु**-किन प्रजाओं में **मादयेते**-आप आनन्द का अनुभव कर रहे हो। कौन प्रजाएँ आपकी साधना से आनन्द व तृप्ति का अनुभव कर रही हैं? **कः**-कौन **ईम्**-सचमुच **नियेमे**-आपका नियमन करता है। आपका नियमन करनेवाला वस्तुतः सुखी (कः) होता है। (२) आप **कतमस्य**-अत्यन्त आनन्दमय मनोवृत्तिवाले **विप्रस्य**- अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **वा**-तथा **यजमानस्य**-यज्ञशील पुरुष के **गृहम्**-घर **जग्मतुः**-जाते हैं। अर्थात् प्राणापान की साधना वही कर पाता है जो कि (क) मन में आनन्द व उल्लास को रखे, (ख) अपनी कमियों को दूर करने की भावनावाला हो तथा (ग) यज्ञशील होता है। इसी प्रकार प्राणसाधना से 'उल्लास, पूरणता व यज्ञशीलता' प्राप्त होती है।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना के लिये आतुर बनूँ। प्राणसाधना करके जीवन को उल्लासमय बनाऊँ, कमियों को दूर कर पाऊँ तथा यज्ञियवृत्तिवाला होऊँ।

सूक्त का प्रारम्भ प्रभु रूप रथ के वर्णन से होता है, (१) प्राणों के सहाय से ही यह जीवनयात्रा पूर्ण होती है, (२) प्राणापान शरीर के दोषों को जीर्ण करनेवाले हैं, (३) ये शरीर में सब शुभों का रक्षण करते हैं, (४) प्राणसाधना के लिये प्रभु-स्तवन, क्रियाशीलता व नियमपरायणता आवश्यक है, (५) ये शरीर रूप रथ को सुदृढ़ बनाते हैं, (६) प्राणापान की शक्ति 'भुज्यु, वश, शिञ्जार व उशना' को प्राप्त होती है, (७) ये हमारी इन्द्रियों को विषय-भोग-प्रवण नहीं होने देते, (८) हमें अपनी इन्द्रियों का पति बनना है नकि दास, (९) हम 'प्रभु-स्मरण, यज्ञरुचिता व व्रतबन्धन' को अपनाने का प्रयत्न करें, (१०) घर में पति वही ठीक है जो कि अनपढ़ नहीं और कमजोर नहीं, (११) पति न कामातुर हो न कृपण, (१२) हमारा घर तीर्थ बन जाये, (१३) हम उल्लास-पूरणता की प्रवृत्ति, तथा यज्ञशीलता को धारण करें, (१४) प्रातः प्रभु का स्मरण करें—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—सुहस्त्यो घौषेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्तम शरीर-रथ

समानमु त्यं पुरुहूतमुक्थ्यं१ रथं त्रिचक्रं सवना गनिग्मतम्।
परिज्मानं विदथ्यं सुवृक्तिभिर्वयं व्युष्टा उषसो हवामहे ॥ १ ॥

(१) गत सूक्तों की ऋषिका 'घोषा काक्षीवती' थी, प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाली तथा शत्रुसंहार के लिये कटिबद्ध। इस घोषा का पुत्र 'घौषेय' है। खूब ही प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाला। यह 'सुहस्त्य' है, उत्तम हाथोंवाला है, कार्यकुशल है : 'प्रभु-स्मरण करनेवाला कार्यकुशल' व्यक्ति उत्तम शरीर-रथ की कामना करता है। कहता है कि **वयम्**=हम **उषसो व्युष्टौ**=प्रातःकाल के होते ही **त्यं उ**-उस ही **रथम्**-रथ को **हवामहे**-पुकारते हैं, उस शरीररथ के लिये प्रार्थना करते हैं जो कि (क) **समानम्**=सार आनयति=हमें सम्यक् उत्साहयुक्त करता है, जीवन वही ठीक है जो कि उत्साह-सम्पन्न हो। (ख) **पुरुहूतम्**-जो बहुतों से पुकारा जाता है अथवा जिसका पुकारना, पालन व पूरण करनेवाला है। जिस शरीर को प्राप्त करके हम अपनी न्यूनताओं को दूर करके उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सकें। (ग) **उक्थ्यम्**-जो रथ उक्थों में उत्तम है, स्तोत्रों में उत्तम है। जीवन वही उत्तम है कि जो प्रभु-स्तवन से युक्त हो। (घ) **त्रिचक्रम्**=जो रथ त्रिचक्र है, ज्ञान, कर्म व उपासना ही इस रथ के तीन चक्र हैं। अथवा 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप तीन चक्रोंवाला यह रथ है। (ङ) **सवना गनिग्मतम्**-जो रथ तीनों सवनों तक चलनेवाला है। प्रातः सवन २४ वर्ष तक है, माध्यन्दिन सवन अगले ४४ वर्षों का है और तृतीय सवन अन्तिम ४८ वर्षों का है। इस प्रकार यह रथ ११६ वर्षों तक चलनेवाला हो। (च) **परिज्मानम्**-उस रथ को हम पुकारते हैं जो कि 'परितोगन्तारम्', अपने दैनिक कर्त्तव्यों को उत्तमता से निभानेवाला है। (छ) **विदथ्यम्**=(विदथः यज्ञ नाम नि० ३।१७, विदथानि वेदनानि नि० ६।७) यह रथ यज्ञों में उत्तम हो। हम जीवन में यज्ञों को करनेवाले हों। अथवा हम जीवन के लिये आवश्यक धनों को कमानेवाले हों। (२) 'ऐसे रथ को हम प्राप्त कैसे होंगे?' इसका उत्तर 'सुवृक्तिभिः' शब्द से दिया गया है। सुष्ठु दोषवर्जन से हम ऐसे रथ को प्राप्त करेंगे। दोषों को दूर करते जाना ही अपने जीवन को उत्तम बनाने का मार्ग है।

भावार्थ—हमारा यह शरीररूप रथ दोषवर्जन के द्वारा उत्तम बने।

ऋषिः—सुहस्त्यो घौषेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'प्रातर्युज्-प्रातर्यावन्-मधुवाहन' रथ

प्रातर्युजं नासत्याधि तिष्ठथः प्रातर्यावाणं मधुवाहनं रथम्।
विशो येन गच्छथो यज्वरीर्नरा कीरेश्चिद्यज्ञं होतृमन्तमश्विना ॥ २ ॥

(१) हे **नासत्या**=नासा में निवास करनेवाले अथवा सब असत्यों से दूर रहनेवाले **अश्विना**= प्राणापानो! आप उस **रथम्**=रथ पर **अधितिष्ठथः**=आरूढ होते हो, जो (क) **प्रातर्युजम्**=प्रातः-प्रातः ही उस प्रभु से मेल करनेवाला है, योग का अभ्यास करनेवाला है। हमें चाहिये यही कि प्रातः प्रबुद्ध होकर योगाभ्यास अवश्य करें। (ख) **प्रातर्यावाणम्**-हमारा यह रथ प्रातः से ही गतिशील हो, हम सारा दिन अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहें। (ग) यह रथ **मधुवाहनम्**-मधु का वाहन बने। शरीर में उत्पन्न होनेवाली सोम शक्ति ही मधु है। यह शरीर रूप रथ उस सोम

का वाहन बने। उत्पन्न हुआ-हुआ सोम इस शरीर में ही व्याप्त हो। (२) यह रथ वह है येन-जिस से यज्वरीः विशः-यज्ञशील प्रजाओं को गच्छथः-आप प्राप्त होते हो। यह उत्तम रथ यज्ञशील प्रजाओं को प्राप्त होता है, यज्ञिय वृत्तिवाले लोग इस प्रकार के उत्तम शरीर को प्राप्त करते हैं। हे नरा-हमें आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! इस रथ से आप कीरेः चित्-स्तोता के भी होतृमन्तम्-होतावाले, दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले, यज्ञम्-यज्ञ को जाते हो। अर्थात् यह उत्तम शरीर रूप रथ स्तवन करनेवाले, यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को प्राप्त होता है। शरीर को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक है कि हम यज्ञशील व स्तोता बनें।

भावार्थ—हमारा यह शरीर 'प्रातर्युज्, प्रातर्यावन् व मधुवाहन' हो। हम प्रातः योगाभ्यास करें। प्रातः से ही क्रियाशील जीवनवाले हों और सोम का धारण करें।

ऋषिः—सुहस्त्यो घौषेयः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

विप्र के सवनों में अश्विनी देवों की प्राप्ति

अ॒ध्व॒र्युं वा॒ मधु॑पाणिं सु॒हस्त्य॑म॒ग्निधं॑ वा धृ॒तद॑क्षं॒ दमू॑नसम्।
विप्र॑स्य वा॒ यत्सव॑नानि॒ गच्छ॒थोऽत॒ आ या॑तं मधु॒पेय॑मश्विना॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! आप **वा**-निश्चय से **अध्वर्युम्**-(अ ध्वर) अहिंसात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाले यज्ञशील पुरुष को **गच्छथः**-प्राप्त होते हो। **मधुपाणिम्**-जिसके हाथ में मधु (=माधुर्य) है उस माधुर्य-युक्त क्रियाओंवाले को प्राप्त होते हो। **सुहस्त्यम्**-उत्तम हाथोंवाले, अर्थात् कार्यकुशल पुरुष को प्राप्त होते हो। (२) **अग्निधं वा**-अथवा आप उस पुरुष को प्राप्त होते हो जो अग्नि का आधान करनेवाला है, अग्निहोत्र करनेवाला है। अथवा जो अपने अन्दर वैश्वानर अग्नि (=जाठराग्नि) को आहित करता है, और परिणामतः **धृतदक्षम्**-बल को धारण करनेवाला है। (दक्ष-बल) तथा **दमूनसम्**-(दमयना वा दानमना वा दान्तमना वा नि० ४।४) दान्त मनवाला है, अथवा दान की वृत्तिवाला है। यहाँ 'धृतदक्षम्' शब्द 'अग्निधं व दमूनसम्' के बीच में रखा गया है बल की प्राप्ति के लिये दो ही मुख्य साधन हैं (क) जाठराग्नि का ठीक होना तथा (ख) मन का दमन। जाठराग्नि के ठीक होने से शक्ति की उत्पत्ति होती है और मन के दमन से उस उत्पन्न शक्ति का रक्षण होता है। वेदों में शब्द-विन्यास का यही सौन्दर्य है। (३) हे प्राणापानो! आप **विप्रस्य वा**-निश्चय से अपना विशिष्ट पूरण करनेवाले व्यक्ति के **यत्**-क्योंकि **सवनानि**-सवनों को **गच्छथः**-प्राप्त होते हो, **अतः**-इसलिए आप **मधुपेयम्**-सोम है पेय जिसका उस मुझ को **आयातम्**-प्राप्त होइये। मैं **सोम**-वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करके शरीर में आ जानेवाली कमियों को दूर करता हूँ। इस प्रकार 'वि-प्र' बननेवाले मुझे आप प्राप्त होइये। वस्तुतः इस मधु को भी तो मैंने आपके द्वारा ही पीना है, इस मधु को शरीर में व्याप्त करने के लिये प्राणसाधना आवश्यक है।

भावार्थ—हम 'अध्वर्यु, मधुपाणि, सुहस्त्य, धृतदक्ष व दमूनस् व विप्र' बनें। इसी उद्देश्य से प्राणसाधना करें। प्राणसाधना के द्वारा विप्र बनकर २४ वर्ष के प्रातः सवन ४४ वर्ष के मध्यन्दिन सवन ४८ वर्ष के तृतीय सवन को हम पूर्ण करनेवाले हों।

सूक्त का प्रारम्भ उत्तम शरीर रूप रथ की प्राप्ति के लिये प्रार्थना से हुआ है, (१) इस शरीर रथ को प्राप्त करके हम प्रातः-प्रातः योगाभ्यास करें, सतत क्रियाशील बनें और सोम को धारण करनेवाले बनें, (२) मधुपेय के द्वारा अपना विशेषरूप से पूरण करते हुए जीवन के तीनों सवनों को करते हुए पूरे ११६ वर्ष तक चलनेवाले हों। (३) इस प्रकार इस सूक्त का ऋषि 'सुहस्त्य'

सोमपान के द्वारा अपने में सब दैवी सम्पत्ति को आकृष्ट करनेवाला 'कृष्ण' बनता है, यह स्वभावतः 'आंगिरस'=शक्तिशाली होता है और सदा प्रभु का स्तवन करता है—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

व्यसन-द्वयी

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्॥ १॥

(१) **अस्ता इव**=शत्रुओं पर अस्त्र फेंकनेवाले पुरुष की तरह (असु क्षेपणे) **सुप्रतरम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **लायम्**=लय-विनाश के कारणभूत अस्त्र को **अस्यन्**=फेंकता हुआ और इस प्रकार **भूषन् इव**=अपने को सद्गुणों से अलंकृत करता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु के लिये **स्तोमम्**=स्तुति को **प्रभरा**=भरण करनेवाला तू बन। अध्यात्म में काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हमने विनाश करना है, उसके लिये प्रभु-स्मरण ही एक अनुपम अस्त्र है। जहाँ प्रभु का नाम उच्चरित होता है वहाँ कामादि वासनाएँ आती ही नहीं। (२) हे **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले लोगो! **वाचा**=प्रभु की दी हुई ज्ञान की वाणियों से **तरत**=तुम उन्नति के विघ्नभूत कामादि शत्रुओं को तैर जाओ। ज्ञान कामादि का विध्वंस करनेवाला है। (३) **अर्यः**=(ऋ गतौ) सर्वव्यापक प्रभु-सर्वत्र गतिवाले प्रभु की **वाचम्**=वाणी को **निरामय**=अपने अन्दर रमा लो। इन ज्ञान की वाणियों का तुम्हें व्यसन लग जाये और हे **जरितः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले **सोम**=सौम्य-स्वभाव जीव तू **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को भी अपने में रमा ले। प्रभु के उपासन का भी तू व्यसनी बन जाए। यह तेरा स्वभाव बन जाए कि तू अवकाश के क्षण को स्वाध्याय में बिताये तथा स्वाध्याय से थकने पर प्रभु-स्मरण में तू तत्पर हो जाए। विद्याभ्यसन व प्रभु-स्मरण रूप व्यसन तुझे अन्य व्यसनों से बचानेवाले हों।

भावार्थ—शत्रुओं को शीर्ण करने का सर्वोत्तम प्रकार यही है कि हम जीवन में विद्याभ्यसन व प्रभु-स्मरण रूप व्यसनों को अपनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गोदोहन व इन्द्रप्रबोधन

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम्।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम्॥ २॥

(१) गत मन्त्र की भावना को अन्य शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि **गां दोहेन**=वेदवाणी रूप गौ को दोहन से, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के द्वारा तू **सखायम्**=उस सनातन मित्र प्रभु को **उपशिक्षा**=समीपता से जाननेवाला हो, ज्ञानी भक्त बनकर तू प्रभु की आत्मा ही बन जा 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। (२) इस ज्ञान के द्वारा **जरितः**=स्तवन करनेवाले जीव! तू **जारम्**=विषयवासनाओं के जीर्ण करनेवाले **इन्द्रम्**=उस असुरों के संहारक प्रभु को **प्रबोधय**=अपने हृदय में जागरित कर। इस प्रभुरूप के सूर्य उदय के साथ सब वासनान्धकार विलीन हो जाएगा। (३) ये प्रभु **कोशं न पूर्णम्**=एक पूर्ण कोश के समान हैं, प्रभु की प्राप्ति से तेरी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी। **वसुना**=निवास के लिये आवश्यक सब धनों से **न्यृष्टम्**=वे प्रभु निश्चय से युक्त हैं। सम्पूर्ण वसु उस प्रभु की ओर ही प्रवाहवाले हैं (ऋष् to flow)। प्रभु को प्राप्त कर लेने पर इनकी प्राप्ति तो

हो ही जाती है। इसलिए तू शूरम्-सब धनों के विजेता तथा सब बुराइयों के शीर्ण करनेवाले उस प्रभु को मघदेयाय-ऐश्वर्यों के देने के लिये आच्यावय-अपने अभिमुख कर। प्रभु की प्राप्ति में ही सब धनों की प्राप्ति है।

भावार्थ—हम ज्ञानधेनु का दोहन करें, प्रभु के प्रकाश को हृदय में प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'शिशयं', नकि 'भोज'

किमङ्ग त्वा मघवन्भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ ३ ॥

(१) हे मघवन्-ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! अंग-सर्वव्यापक प्रभो! सर्वत्र गतिशील प्रभो! त्वा-आपको किम्-क्यों भोजम्-सब भोजनों को प्राप्त कराके पालन करनेवाला आहुः-कहते हैं? मैं तो भोजनों की प्रार्थना न करके यही चाहता हूँ कि आप मा-मुझे शिशीहि-तीक्ष्ण बुद्धिवाला कर दें। मैं त्वा-आपको शिशयम्-बुद्धि के तीव्र करनेवाले के रूप में शृणोमि-सुनता हूँ। (२) साथ ही हे शक्र-सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपकी कृपा से मम धीः-मेरी यह बुद्धि अप्नस्वती-कर्मोंवाली अस्तु-हो। और हे इन्द्र-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप नः-हमारे लिये वसुविदम्-सब निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करानेवाले भगम्-भजनीय धन को आभरः-सर्वथा प्राप्त कराइये। वस्तुतः प्रभु बुद्धि देकर मुझे इस योग्य बना दें कि मैं निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को जुटाने में समर्थ हो जाऊँ। मैं बुद्धिवाला होऊँ और मेरी बुद्धि कर्म से युक्त हो।

भावार्थ—भोजन की प्रार्थना के स्थान में क्रियायुक्त बुद्धि की प्रार्थना उत्तम है। हम प्रभु को शिशय के रूप में स्मरण करें, नकि भोज के रूप में।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

हविष्मान् का मित्र 'प्रभु'

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥ ४ ॥

(१) हे इन्द्र-शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! समीके-संग्राम में सन्तस्थानाः-सम्यक् स्थित हुए-हुए जनाः-लोग मम सत्येषु-'मेरा पक्ष सत्य है, मेरा पक्ष सत्य है' इस प्रकार के विचारवाले संग्रामों में त्वाम्-आपको विह्वयन्ते-पुकारते हैं। दोनों ही पक्ष अपने को सत्य पर आरूढ़ समझ रहे होते हैं। दोनों में कोई भी अपने को गलती में नहीं समझता। (२) अत्रा-इस प्रकार के विचारवाले इन संग्रामों के उपस्थित होने पर यः हविष्मान्-जो हविवाला होता है, त्याग की वृत्तिवाला होता है, वही उस प्रभु को युजं कृणुते-अपना साथी बना पाता है। असुन्वता-अयज्ञशील पुरुष के साथ शूरः-सब शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले वे प्रभु सख्यम्-मित्रता को न वष्टि-नहीं चाहते हैं। त्याग की वृत्ति ही वस्तुतः मनुष्य को असत्य से ऊपर उठाकर सत्यपक्ष में स्थापित करती है और प्रभु इस सत्यपक्षवाले को ही विजयी बनाते हैं। संग्रामों में विजय उन्हीं की होती है जो हविष्मान् बनते हैं, जिस जाति में त्याग की भावना नहीं वह अवश्य पराजित हो जाती है।

भावार्थ—हम हविष्मान् बनें, प्रभु हमें विजयी बनायेंगे।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रयस्वान्

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान्।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान्प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान्युवति हन्ति वृत्रम्॥ ५॥

(१) **यः**=जो भी पुरुष **प्रयस्वान्**=(प्रयस्=हवि=sacrifice) त्याग की वृत्तिवाला बनकर **अस्मै**=इस प्रभु के लिये, प्रभु की प्राप्ति के लिये **धनम्**=धन को जो **स्पन्द्रं न**=चञ्चल-सा है, अस्थिर है तथा **बहुलम्**=जीवन के लिये कृष्णपक्ष के समान है, जीवन को अन्धकारमय बना देता है, उस धन को **आसुनोति**=(to perform a shcrifice) यज्ञ के लिये विनियुक्त करता है। और जो **प्रयस्वान्**=(प्रयः=food) प्रशस्त (=सात्त्विक) भोजनवाला बनकर **तीव्रान्**=शक्तिशाली, रोगकृमियों व मन की मैल का संहार करनेवाले **सोमान्**=सोमकणों को **आसुनोति**=शरीर में उत्पन्न करता है। **तस्मै**=उस पुरुष के लिये वे प्रभु **अह्नः प्रातः**=दिन के प्रारम्भ होते ही **शत्रून्**=कामादि शत्रुओं को **सुतुकान्**=(सुप्रेरणान् सा०) पूरी तरह से भाग जानेवालों को करते हैं और **स्वष्ट्रान्**=(उत्तमायुधान्, अष्ट्रा good) उत्तम शस्त्रोंवाले इन शत्रुओं को **नि न्युवति**=निश्चय से इनसे पृथक् कर देता है और **वृत्रं हन्ति**=वासना को नष्ट कर देता है। (२) (क) त्यागवाले बनकर हम धन को यज्ञों में विनियुक्त करें। ये धन अस्थिर हैं, इनसे ममता क्या करनी! और ये धन हमारी अवनति का कारण बनते हैं, ये जीवन के कृष्णपक्ष के समान हैं। (ख) धन के त्याग के साथ हमारा दूसरा कर्त्तव्य यह है कि उत्तम अन्नों के सेवन से शरीर में सोम का उत्पादन करें। यह सोम हमारे शरीरों को नीरोग बनायेगा, मनों को निर्मल करेगा। (ग) ऐसा होने पर हमारे काम-क्रोधादि शत्रु भाग खड़े होंगे (take to one is heels)। कामादि के अस्त्र हमारे लिये कुण्ठित हो जायेंगे। हमारी वासनाओं का विनाश हो जाएगा।

भावार्थ—हम धन को यज्ञों में लगाएँ, सोम (=वीर्य) का उत्पादन करें, इसी से शत्रुओं का नाश होगा।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जन्य द्युम्न

यस्मिन्वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे।
आराच्चित्सन्भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम्॥ ६॥

(१) **यस्मिन् इन्द्रे**=जिस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **वयम्**=हम **शंसं दधिम**=स्तुति को धारण करते हैं और **यः मघवा**=जो ऐश्वर्यशाली प्रभु **अस्मे**=हमारे में **कामम्**=काम को **शिश्राय**=(श्रयति=to use, employ) हमारी उन्नति के लिये विनियुक्त करते हैं 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः'=इस काम के द्वारा ही तो हमने वेद का स्वाध्याय करना है और इसी के द्वारा सारा वेद प्रतिपादित कर्मयोग क्रियान्वित होना है, सो **अस्य शत्रुः**=इस पुरुष का नाश करनेवाला यह काम **आराच्चित्**=दूर **चित्**=भी **सन्**=होता हुआ **भयताम्**=डरता ही रहे। इसके पास फटकने का तो इसे स्वप्न भी न हो और अब **अस्मै**=इस प्रभु के स्तोता के लिये **जन्या**=मनुष्य का हित साधनेवाले **द्युम्ना**=(द्युम्न=धन नि० २।१०) धन **नि नमन्ताम्**=निश्चय से प्रह्वीभूत हों। इसे इन जन्य धनों की प्राप्ति हो। (२) (क) जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं तो इसका सर्वमहान् लाभ यह होता है कि हमारे जीवनों में काम शत्रु न बनकर मित्र की तरह कार्य करता है, प्रभु इस काम को हमारी

उन्नति के लिये विनियुक्त करते हैं। (ख) ऐसा होने पर शत्रुभूत काम हमारे पास भी नहीं फटकता, (ग) हम पुरुषार्थ करते हुए उन धनों को प्राप्त करते हैं जो जनहित के साधक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन से काम हमारा शत्रु न रहकर मित्र हो जाए। हम लोकहित साधक धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रमणीय शक्ति व बुद्धि

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन।
अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥ ७ ॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **यः**=जो आपका **उग्रः**=तीव्र **शम्बः**=वज्र है **तेन**=उस शत्रुओं को शान्त (=समाप्त) करनेवाले वज्र से **आरात् शत्रुम्**=इस समीप आनेवाले शत्रु को **दूरं अपबाधस्व**=सुदूर विनष्ट करनेवाले होइये। प्रभु ने हमें क्रियाशीलता रूप वज्र दिया हुआ है, इसी से हमने वासना को विनष्ट करना है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिये आप **यवमत्**=जौवाले व **गोमत्**=गौवोंवाले, गोदुग्ध से युक्त अन्न को **धेहि**=धारण करिये। जौ इत्यादि अन्नों से हमारे में प्राणशक्ति का वर्धन होगा और गोदुग्ध से हमें सात्त्विक बुद्धि प्राप्त होगी। (३) हे प्रभो! **जरित्रे**=स्तोता के लिये **वाजरत्नाम्**=रमणीय शक्तियोंवाली **धियम्**=बुद्धि को **कृधी**=करिये आपका स्तोता जहाँ बुद्धि को प्राप्त करे वहाँ उसे रमणीय शक्तियाँ भी प्राप्त हों। शक्तियों की रमणीयता इसी में है कि वह रक्षा के कार्य में विनियुक्त होती है, ध्वंस के कार्य में नहीं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा वासना को नष्ट करें। जौ व गोदुग्ध का प्रयोग करते हुए रमणीय शक्ति व बुद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बहुलान्त सोम

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन्तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम्।
नाह दामानं मघवा नि यंसन्नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥ ८ ॥

(१) **यं इन्द्रम्**=जिस जितेन्द्रिय पुरुष को **तीव्राः**=रोगकृमिरूप शत्रुओं के लिये उग्र, **बहुलान्तासः**=मानव जीवन में कृष्णपक्ष का अन्त करनेवाले व उस जीवन में शुक्लपक्ष को लानेवाले **वृषसवासः**=शक्तिशाली पुरुष को जन्म देनेवाले **सोमाः**=सोमकण (=वीर्यकण) **अन्तः अग्मन्**=अन्दर प्राप्त होते हैं, अर्थात् ये सोमकण जिस जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में व्याप्त होते हैं, उस **दामानम्**=(दामन्=girdle) कटिबन्धनवाले, नियन्त्रित जीवनवाले पुरुष को **अह**=निश्चय से **मघवा**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **न नियंसत्**=कैद में नहीं डालते। अर्थात् यह पुरुष बारम्बार बन्धन में नहीं पड़ता। यह सोमरक्षण जहाँ उसे शक्तिशाली व नीरोग बनाता है, वहाँ उसे उज्ज्वल जीवनवाला भी बनाता है। शुक्लमार्ग से चलता हुआ यह व्यक्ति उस लोक को प्राप्त करता है जहाँ से कि इसे इस मानव आवर्त में फिर बन्धन में नहीं आना पड़ता। (२) **सुन्वते**=इस सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिये वे प्रभु **भूरि**=पालन-पोषण के लिये पर्याप्त **वामम्**=सुन्दर धन **निवहति**=निश्चय से प्राप्त कराते हैं। सोमरक्षण से इस लोक का अभ्युदय भी प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण 'अभ्युदय और निःश्रेयस' दोनों का साधक है।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवकाम पुरुष

उत प्रहामतिदीव्या जयाति कृतं यच्छ्वघ्नी विचिनोति काले।
यो देवकामो न धना रुणद्धि समित्तं राया सृजति स्वधावान्॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के सोमरक्षण के प्रसंग को उपस्थित करते हुए कहते हैं कि यह सोमरक्षक पुरुष **अतिदीव्य**=प्रभु की अतिशयेन स्तुति करता हुआ **प्रहाम्**=(प्रहन्तारं) प्रकर्षेण विनाश करनेवाली 'मार' नामवाली इस कामवासना को **जयाति**=जीत लेता है। प्रभु का स्तवन काम का संहार करनेवाला होता है। काम के संहार से यह क्रोध-लोभ आदि अन्य शत्रुओं से भी ऊपर उठ जाता है, (२) **उत**=और **यत्**=जैसे **श्वघ्नी**=कल की फिक्र न करनेवाला **कितव**=जुआरी पुरुष **काले**=मौके पर **कृतम्**=ऋतोपार्जित सम्पूर्ण धन को **विचिनोति**=बखेर देता है इसी प्रकार **यः**=जो **देवकामः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाला अथवा देवयज्ञादि को करने की कामनावाला **धना**=धनों को न **रुणद्धि**=रोकता नहीं है। उदारतापूर्वक इन धनों का यज्ञों में विनियोग करता है। (२३) **तम्**=उस देवकाम पुरुष को **स्वधावान्**=सम्पूर्ण 'स्व-' धनों का धारण करनेवाला प्रभु **राया**=धन से **इत्**=निश्चियपूर्वक **सं सृजति**=संसृष्ट करता है। देवकाम पुरुष को यज्ञादि की पूर्ति के लिये धनों की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—हम स्तवन द्वारा काम को पराजित करें। उदारता से धनों का यज्ञों में विनियोग करें। प्रभु हमें सब आवश्यक धन प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गोदुध व यव

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'हम 'देवकाम' बने रहें' इसके लिये आवश्यक है कि **गोभिः**=गोदुग्ध के प्रयोग से **दुरेवाम्**=दुष्ट आचारणवाली **अमतिम्**=कुत्सितमति को हम **तरेम**=जीत लें। गोदुग्ध के प्रयोग से बुद्धि सात्त्विक बनती है और हम सब दुरितों से दूर होते हैं। (२) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जाने योग्य प्रभो! हम **विश्वाम्**=इस शरीर में प्रवेश करनेवाली **क्षुधम्**=भूख को **यवेन**=जौ इत्यादि सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से तैरें। भूख लगने पर जौ इत्यादि सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करें। (३) **अस्माकेन**=हमारे **वृजनेन**=पापवर्जन व पवित्रता के बल से **राजनिः**=राजाओं से **प्रथमा धनानि**=उत्कृष्ट धनों को **जयेम**=जीतनेवाले बनें। राजाओं के द्वारा पवित्रता के लिये पुरस्कार रूप में रखे गये मुख्य धनों को हम प्राप्त करनेवाले हों। (४) यहाँ पर संकेत स्पष्ट है कि राजाओं का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में पवित्र जीवन को प्रोत्साहित करने के लिये विविध पुरस्कारों की उद्घोषणा करें। उन पुरस्कारों को प्राप्त करने के लिये हमारा उद्योग हो। जैसे जनक आदि राजा शास्त्रज्ञान के उत्कर्ष के लिये शतशः गौवों के पुरस्कार को देते थे, इसी प्रकार पवित्र जीवन के लिये पुरस्कार रखें जाएँ और राष्ट्र जीवन में पवित्रता के महत्त्व को प्रसारित किया जाए।

भावार्थ—गोदुग्ध व जौ के प्रयोग से हमारी बुद्धि सात्त्विक हो और हम पवित्रता के द्वारा उत्कृष्ट धनों के विजेता हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु विश्वास

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।

इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार पवित्र जीवन बितानेवाले व्यक्ति ने प्रभु पर पूर्ण विश्वास के साथ चलना है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **बृहस्पतिः**=आकाशादि विस्तृत लोकों का पति वह प्रभु (बृहतां पतिः) **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **पुरस्तात्**=सामने से (पूर्व व पश्चिम से) **परिपातु**=पूर्णरूप से रक्षित करे। **इन्द्रः**=वह सब शत्रुओं का संहार करनेवाला प्रभु **उत्तरस्मात्**=उत्तर से तथा **अधरात्**=दक्षिण से **अघायोः**=अघ व पाप की कामनावाले पुरुष से **नः**=हमें **परिपातु**=रक्षित करे। **उत**=और **मध्यतः**=मध्य में से भी वे प्रभु हमारा रक्षण करें। प्रभु के रक्षण में मैं निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाला बनूँ। (२) **सखा**=हम सबका वह सर्वमहान् मित्र **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिये **वरिवः**=धन को **कृणोतु**=करे। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन को वे प्रभु प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु ही हमें पापों से व निर्धनता से बचाते हैं।

इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम विद्या व प्रभु-स्मरण को अपना व्यसन बना लें तो अन्य व्यसनों से बचे रहेंगे, (१) हम ज्ञानधेनु का दोहन करें और प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करने का यत्न करें, (२) हम भोजन की प्रार्थनाएँ न करते रहकर उत्तम बुद्धि की प्रार्थना करें, (३) वे प्रभु हविष्मान्=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले के मित्र हैं, (४) हम 'धनों को यज्ञों में लगायें, शक्ति का उत्पादन करें' इसी से हम शत्रुओं का नाश कर सकेंगे, (५) हम लोकहित साधक धनों को ही प्राप्त करें, (६) गोदुग्ध व जौ के प्रयोग से रमणीय शक्ति व बुद्धि को प्राप्त करें, (७) सोमरक्षण हमारे जीवन के कृष्णपक्ष का अन्त करनेवाला हो, (८) हम देवकाम हों, (९) पवित्र जीवन से धनों को अपनी ओर आकृष्ट करें, (१०) प्रभु में पूर्ण विश्वास के साथ चलें, (११) हमारी बुद्धियाँ प्रभु-प्रवण हों—

चतुर्थोऽनुवाकः

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु का आलिंगन

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।

परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ १ ॥

(१) गत सूक्त का ऋषि कृष्ण आंगिरस ही प्रार्थना करता है कि **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **अच्छा**=ओर **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाली **मे**=मेरी **मतयः**=बुद्धियाँ प्रवृत्त हों। **सध्रीचीः**=उस प्रभु के साथ गति करनेवाली **विश्वाः**=प्रभु-स्तवन को ही व्याप्त करनेवाली **उशतीः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाली ये मेरी बुद्धियाँ प्रभु को ही **अनूषत**=स्तुत करनेवाली हों। प्रभु-स्तवन में ही प्रकाश है। प्रभु से हम दूर होते हैं और अन्धकार में पहुँच जाते हैं। (२) **यथा न**=और जैसे (न-च) **जनयः**=पत्नियाँ **शुन्ध्युं मर्यं पतिम्**=शुद्ध जीवनवाले मनुष्य पति को **परिष्वजन्ते**=आलिंगन करती हैं उसी प्रकार मेरी बुद्धियाँ उस **मघवानम्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के

स्वामी प्रभु का ऊतये=रक्षण के लिये आलिंगन करनेवाली हों। अर्थात् मैं सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँ, प्रभु-स्मरणपूर्वक ही इस जीवन-संग्राम में चलने का यत्न करूँ। मेरी बुद्धियाँ सदा प्रभु के साथ हों (सध्रीचीः), उसीके स्तवन का व्यापन करनेवाली हों (विश्वाः) प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाली हों (उशतीः)।

भावार्थ—मेरा ध्यान प्रभु की ओर हो। सांसारिक क्रियाओं को करता हुआ मैं प्रभु को भूल न जाऊँ।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु-प्रवण-मन

न घां त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते॥ २॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **त्वद्रिग्**=(त्याग् अञ्चति) आपकी ओर जानेवाला **मे मनः**=मेरा मन **घा**=निश्चय से **न अपवेति**=दूर नहीं जाता है। एक बार मन प्रभु की ओर गया तो वह वहाँ उलझ ही जाता है, न उस प्रभु के ओर-छोर को वह मन देख पाता है और न वहाँ से हटता है। **ते इत्**=आप में ही **कामम्**=अपनी अभिलाषा को **शिश्रय**=मैं स्थापित करता हूँ। मुझे आपकी प्राप्ति की ही प्रबल कामना है। (२) **दस्म**=हे सब दुःखों के विनाशक प्रभो! आप **बर्हिषि**=मेरे वासनाशून्य हृदय में **राजा इव**=राजा की तरह **अधिनिषदः**=निषण्ण होइये। आपकी प्रेरणा के अनुसार ही मेरा जीवन चले, आप मेरे जीवन को शासित करनेवाले हों। आपके द्वारा ही मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया व्यवस्थित हो (राज् to regulete)। आप ही हृदय में स्थित होकर उसे प्रकाश से दीप्त करनेवाले हों (राजृ दीप्तौ)। आपके प्रकाश में मैं अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ भटकूँ नहीं। (३) हे प्रभो! **अस्मिन्**=इस **सोमे**=शरीर में उत्पन्न सोम शक्ति के विषय में **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **अवपानं अस्तु**=पुनः शरीर में ही पी लेना, रुधिर में उसका फिर से व्याप्त कर देना हो। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त कर देनेवाले बनें। शरीर में इसकी उत्पत्ति हुई है, यह फिर से वहीं व्याप्त हो जाए। इस प्रकार इसके व्यापन से ही मेरा शरीर स्वस्थ होगा, मन निर्मल होगा और बुद्धि तीव्र होकर आपके दर्शन योग्य बनेगी। आपकी प्राप्ति के लिये इस सोम का रक्षण आवश्यक है।

भावार्थ—मेरा मन प्रभु में लीन हो जाए, हृदयस्थ प्रभु मेरे राजा हों, सोमरक्षण के द्वारा सूक्ष्म बनी हुई-हुई बुद्धि प्रभु दर्शन का साधन बने।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सुमति, नकि अमति

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इन्द्रायो मघवा वस्व ईशते।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः॥ ३॥

(१) वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अमतेः**=निन्दित बुद्धि का **विषूवृत्**=(विश्वग् वर्तकः) इधर उधर फेंक देनेवाला हो, हमारे से अमति को दूर करनेवाला हो। अमति नष्ट होकर, सुमति हमें प्राप्त हो। **उत**=और प्रभु हमारी **क्षुधः**=भूख के भी विषूवृत् हों, हमारी भूख का भी प्रतीकार करनेवाले हों। **स मघवा इत्**=वे सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले प्रभु ही **वस्व रायः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले धन का **ईशते**=स्वामित्व करते हैं, प्रभु

ही सब धनों के मालिक हैं। इन धनों को देकर प्रभु ने ही हमारी क्षुधा का प्रतीकार करना है। (२) क्षुधा के प्रतीकार के लिये साधनभूत अन्नों का उत्पादन भी उस प्रभु की व्यवस्था से होता है। **वृषभस्य**-सब सुखों का वर्षण करनेवाले **शुष्मिणः**-शक्तिशाली **तस्य**-उस प्रभु के ही **प्रवणे**-(srefnission) प्रशासन में **इमे**-ये **सप्त**-सर्पणशील (सप्त-सृप्त) अथवा प्रभु के प्रशासन को माननेवाली (सप् to obey) **सिन्धवः**-नदियाँ **वयः**-अन्न को **वर्धन्ति**-बढ़ाती हैं। प्रभु ने सूर्य किरणों द्वारा जल के वाष्पी भवन, व ऊपर आकर शीत प्रदेश में घनी भवन की व्यवस्था से वृष्टि का प्रबन्ध किया है। उसी से नदियों का प्रवाह होता है। पूर्व से पश्चिम में व उत्तर से दक्षिण में, सब दिशाओं में ये नदियाँ प्रभु के प्रशासन में ही बह रही हैं और विविध भूभागों को खींचती हुई ये अन्न के उत्पादन का कारण बनती हैं। एवं प्रभु ने अन्नोत्पादन द्वारा हमारी क्षुधा का प्रतीकार किया है।

भावार्थ—प्रभु हमारी कुमति को दूर करते हैं, क्षुधा के प्रतीकार के लिये अन्नोत्पादन की व्यवस्था करते हैं।

सूचना—यहाँ 'सप्त' का अर्थ 'सात' समझकर पंजाब की भौगोलिक स्थिति का संकेत लेना ठीक नहीं। इसी से पाश्चात्त्यों को ऋग्वेद के पञ्जाब में ही बनाये जाने का भ्रम हो गया। 'सप्त' का वस्तुतः यहाँ अर्थ 'सर्पणशील' व 'प्रभु-प्रशासन को माननेवाली' ही है।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

आर्यं ज्योतिः

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदुन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत्स्व१र्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥ ४ ॥

(१) **न**-जैसे **वयः**-पक्षी **सुपलाशम्**-उत्तम पत्तोंवाले **वृक्षम्**-वृक्ष पर **आसदन्**-बैठते हैं, उसी प्रकार **मन्दिनः**-तृप्ति व हर्ष को करनेवाले **चमूषदः**-शरीररूप पात्र में स्थित होनेवाले ('अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्वमूलः'-यहाँ शरीर को पात्र ही कहा गया है जो ऊपर मूल व नीचे मुखवाला है) **सोमासः**-सोमकण **इन्द्रम्**-जितेन्द्रिय पुरुष में स्थित होते हैं। 'सुपलाश वृक्ष' का संकेत यह है कि शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर यह शरीर वृक्ष भी 'सुपलाश' बनता है। इस शरीर का अंग-प्रत्यंग सुन्दर होकर शरीर शोभान्वित होता है। (२) **एषाम्**-इन सोमकणों का **अनीकम्**-(splendons brilhimce) तेज **शवसा**-गति के द्वारा **प्रदविद्युतद्**-खूब ही चमकता है। सोमकणों के रक्षण से मनुष्य तेजस्वी बनता है और वह क्रियाशील होता है। (३) यह सोम **मनवे**-विचारशील पुरुष के लिये **स्वः**-(nediamce) प्रकाश को अथवा स्वर्ग को, सुख को तथा **आर्यं ज्योतिः**-प्राप्त करने योग्य श्रेष्ठ ज्ञान की ज्योति को **विदत्**-प्राप्त कराता है। सोम रक्षण से बुद्धि तीव्र होती है और ज्ञान की ज्योति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'बल क्रियाशीलता, स्वर्गसुख व उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सूर्यलोक-विजय

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्।
न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः ॥ ५ ॥

(१) न=जैसे **श्वघ्नी**=कल की परवाह न करनेवाला जुवारी **देवने**=जुए की क्रीड़ा में **कृतम्**=उत्पन्न किये हुए धन को **विचिनोति**=बखेर देता है इसी प्रकार **यत्**=जब **मघवा**=ऐश्वर्य-सम्पन्न पुरुष **संवर्गम्**=(सम्यग् वर्जयित्वा) धनों का यज्ञों में सम्यक् विनियोग करके **सूर्य जयत्**=सूर्यलोक को जीतता है, अर्थात् 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा' इस वाक्य के अनुसार सूर्य-द्वार से ब्रह्मलोक में पहुँचता है, तो **ते**=तेरे **तत्वीर्यम्**=उस पराक्रम के कार्य को **अन्यः**=कोई दूसरा न **अनुशकत्**=करने में समर्थ नहीं होता। हे **मघवन्**=(मघ=ऐश्वर्य, मघ=मख) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले पुरुष **न पुराणः न उत नूतनः**=न तो आजतक कोई पुराण व्यक्ति इस पराक्रम को कर सका नांही कोई भविष्य में नूतन पुरुष कर सकेगा। यह तेरा ब्रह्मलोक विजयरूपी कार्य अद्वितीय है। (२) यहाँ श्वघ्नी की उपमा हीनोपमा है, वह केवल उदारतापूर्वक धनों का यज्ञों में विनियोग करने का संकेत कर रही है। 'संवर्ग' शब्द धनों के यज्ञों में सम्यग् विनियोग का प्रतिपादन करता है। विलास में धन का व्यय 'संवर्ग' नहीं है। यह यज्ञ की क्रिया पुरुष को सूर्य-द्वार से ब्रह्मलोक में ले जानेवाली होती है। यह इस मघवा मनुष्य की अनुपम विजय होती है इसी बात को इस वाक्य-विन्यास से प्रकट करते हैं कि ऐसी विजय न तो किसी ने की और नांही कोई करेगा। यह ब्रह्मलोक की विजय अनुपम है।

भावार्थ—धनों का यज्ञों में विनियोग करते हुए हम सूर्यलोक का विजय करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शत्रु-मर्षण

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा।

यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥ ६ ॥

(१) **मघवा**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **विशं विशम्**=प्रत्येक प्रजा में **पर्यशायत**=निवास करता है। प्रभु में ही सारी प्रजाओं का निवास है और वे प्रभु ही सब प्रजाओं में वस रहे हैं। (२) **वृषा**=वे सब सुखों के वर्षण करनेवाले प्रभु **जनानाम्**=लोगों के साथ सम्बद्ध **धेनाः**=ज्ञान की वाणियों को **अवचाकशत्**=हृदयस्थ-रूपेण उपदिष्ट करते हैं। (कश गतिशासनयोः)। इन वाणियों के अनुसार कार्यों को व्यवस्थित करने पर ही हमारे कल्याण का निर्भर है। (३) **अह**=अब **शक्रः**=इन्द्र-सर्वशक्तिमान् प्रभु **यस्य**=जिस व्यक्ति के **सवनेषु**=यज्ञों में **रण्यति**=आनन्द का अनुभव करते हैं **स**=वह **तीव्रैः**=प्रबल **सोमैः**=सोमकणों के द्वारा **पृतन्यतः**=आधि-व्याधियों के रूप में आक्रमण करनेवाली वासनाओं को **सहते**=पराभूत करता है, कुचल देता है। वासनाओं को जीतकर वह शरीर और मन में स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—प्रभु सब के हृदयों में निवास करते हैं, ज्ञान की वाणियों का उपदेश करते हैं। उनके अनुसार यज्ञशील होने पर हम सोम का रक्षण कर पाते हैं। इन तीव्र सोमकणों से हम रोगादि को जीत पाते हैं। शरीर व्याधिशून्य होता है तो मन आधियों से शून्य।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तेजस्विता-संवर्धन

आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्याइव ह्रदम्।

वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

(१) **यत्**=जब **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के पास **सोमासः**=सोमकण उसी प्रकार पहुँचते हैं

न-जैसे कि **आपः**-जल **सिन्धुं अभि**-समुद्र की ओर **समक्षरन्**-संचालित होते हैं और **इव**-जैसे **कुल्याः**-जलधाराएँ **ह्रदम्**-एक सरोवर के समीप पहुँचती हैं, तो **अस्य**-इस सोम के **सादने**-शरीर में स्थापित करने पर **विप्राः**-अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले लोग **महः**-अपनी तेजस्विता को **वर्धन्ति**-बढ़ाते हैं। उसी प्रकार बढ़ाते हैं **न**-जैसे कि **वृष्टिः**-वर्षा **दिव्येन दानुना**-इस दिव्य, अन्तरिक्ष से होनेवाले जल के दान से **यवम्**-जौ को बढ़ाती है। वर्षा दिव्य जल से जौ को बढ़ाती है और विप्र लोग सोम के धारण से तेजस्विता को बढ़ाते हैं। (२) समुद्र जलों का आधार है इसी प्रकार हम इन्द्र बनकर सोम के आधार बनें। इस सोम के रक्षण से ही हम तेजस्वी बनेंगे। इस तेजस्विता से ही सब कमियों को दूर करके हम विप्र होंगे।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में प्रतिष्ठित करके तेजस्वी बनें और सब न्यूनताओं को दूर करके विप्र हों, अपना पूरण करनेवाले हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सुन्वत्-जीरदानु-मनु-हविष्मान्'

वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः।

स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

(१) **यः**-जो भी पुरुष **इमाः अपः**-इन सोमकणों का **अर्य-पत्नीः अकृणोत्**-जितेन्द्रिय-स्वामी-पुरुष की पत्नी के रूप में बनाता है, वह **क्रुद्धः वृषा न**-एक क्रुद्ध शक्तिशाली वृषभ की तरह **रजःसु**-इन लोकों में, अथवा हृदयान्तरिक्ष में **आपतयत्**-समन्तात् शत्रुओं का नाश करता है। 'आपः रेतो भूत्वा' इस वाक्य के अनुसार 'आपः' यहाँ रेतःकणों का वाचक है। ये रेतःकण जितेन्द्रिय पुरुष में सुरक्षित होते हैं और उसका पालन करते हैं। पत्नी जैसे पति की पूरक होती है, उसी प्रकार ये रेतःकण पुरुष के पूरक होते हैं, उसकी न्यूनताओं को दूर करते हैं। इन सोमकणों से शक्तिशाली बनकर यह वासनाओं को इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे क्रुद्ध वृषा विरोधी को नष्ट करनेवाला होता है। (२) ऐसा होने पर **स मघवा**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुन्वते**-इस सोम सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिये, **जीरदानवे**-(जीरं-क्षिप्रं, दाप् लवने) शीघ्रता से शत्रुओं का लवना करनेवाले के लिये, **मनवे**-विचारशील व **हविष्मते**-हविवाले के लिये, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले के लिये **ज्योतिः अविन्दत्**-प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। 'सुन्वन्-जीरदानु-मनु व हविष्मान्' को ही ज्योति प्राप्त होती है। इन सब बातों का मूल यही है कि हम जितेन्द्रिय बनकर सोमकणों को अपना पूरक बनाएँ। इन सोमकणों के रक्षण से शरीर के रोगों व मन की मलिनताओं को दूर करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, सोमरक्षण के द्वारा न्यूनताओं को दूर करें, सोम का सम्पादन व वासनाओं का विलयन करते हुए ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

(कैसा बनें?)-सत्पतिः

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्।

वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करके यह पुरुष **ज्योतिषा सह**-ज्ञान की ज्योति के साथ **परशुः**-वासना वृक्ष के लिये कुठर के समान **उज्जायताम्**-हो जाए। इस पुरुष में ज्योति

हो और वासना को नष्ट करके यह शक्तिशाली हो। (२) यह प्रराणवत्-अपने कुल में पूर्व पुरुषों की तरह ऋतस्य-ऋत का सुदुघा-उत्तम दोहन करनेवाला भूयाः-हो। 'ऋत' वेदवाणी है, जो सत्यज्ञान की प्रकाशिका है, उस ऋत का यह अपने में पूरण करनेवाला बने (दुह् प्रपूरणे)। यह बात कुलधर्म के रूप में इसके कुल में चलती चले। (३) इस प्रकार इस सत्य ज्ञान की वाणी का दोहन करते हुए यह विरोचताम्-विशेषरूप से चमके। अ-रुषः-क्रोध से तमतमानेवाला न हो। भानुना शुचिः-ज्ञान की दीप्ति के द्वारा यह पवित्र हो। स्वः न-उस देदीप्यमान सूर्य की तरह शुक्रम्-दीप्ति से शुशुचीत्-चमके और यह सत्पतिः-उत्तम कर्मों को उत्तम भावनाओं से और उत्तम प्रकार से करनेवाला हो कर्म भी उत्तम हो, भावना भी उत्तम हो और उस कर्म को करने का तरीका भी उत्तम हो। इस प्रकार इन तीनों के सत् होने पर यह 'सत्पति' कहाता है।

भावार्थ—वासनाओं को विनष्ट करने की शक्ति व ज्ञान को हम अपनाएँ, वेदज्ञान का दोहन करें, ज्ञान से दीप्त हों और सत्कर्मों को करनेवाले हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गोदुग्ध व यव

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ १०॥

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु विश्वास

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ११॥

प्रस्तुत दोनों मन्त्र ४२.१० तथा ४२.११ पर व्याख्यात हो चुके हैं। 'सत्पति' बनने के लिये गोदुग्ध व जौ का प्रयोग आवश्यक है और उस बृहस्पति प्रभु में विश्वास आवश्यक है।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हमारी मतियाँ प्रभु का आलिंगन करनेवाली बनें, (१) हमारा मन प्रभु प्रवण हो, (२) हमारी सुमति हो, न कि कुमति, (३) हमें आर्य-ज्योति प्राप्त हो, (४) सूर्यलोक का विजय करके हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करें, (५) इस लोक में सोमरक्षण के द्वारा शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हों, (६) इस सोमरक्षण से तेजस्विता का संवर्धन करें, (७) 'सुन्वन्, जीरदानु, मनु व हविष्मान्' बनकर ज्योति को प्राप्त करें, (८) सत्पति बनें, (९) सत्पति बनने के लिये आवश्यक है कि हम 'स्वपति' हों—

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्व-पति

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि इन्द्रः-यह जितेन्द्रिय पुरुष आयातु-मेरे समीप आये। जैसे एक बच्चा पिता की गोद में बैठता है, उसी प्रकार यह जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की गोद में बैठनेवाला हो। जो इन्द्र 'स्व-पति'-अपना स्वामी है, यह इन्द्रियों, मन व बुद्धि का दास न होकर इनका अधिष्ठाता

है। **मदाय**-यह स्वपति सदा हर्ष के लिये होता है, इसका जीवन उल्लासमय होता है। (२) मेरे समीप वह इन्द्र आये **यः**-जो **धर्मणा**-लोकधारण के हेतु से **तूतुजानः**-(त्वरमाणः नि० ६।२०) शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। इसका जीवन क्रियामय होता है और इसकी प्रत्येक क्रिया लोकधारण के उद्देश्य से होती है। (३) यह **तुविष्मान्**-(groweh streingth intellect) उन्नति, शक्ति व बुद्धिवाला होता है। सदा उन्नतिपथ पर चलता है, शक्ति को स्थिर रखता है और अपनी बुद्धि का परिमार्जन करने का प्रयत्न करता है। (४) **अपारेण महता**-बहुत अधिक **वृष्ण्येन**-बल के द्वारा **विश्वा सहांसि**-सब सहनशक्तियों को अति **प्रत्वक्षाणः**-बहुत ही सूक्ष्म करनेवाला होता है। यह अपने में सहनशक्ति को बढ़ाता है। सबल व्यक्ति ही सहनशील होता है। निर्बल कुछ चिड़चिड़ा-सा हो जाता है। यह चिड़चिड़े स्वभाववाला व्यक्ति प्रभु को पाने का अधिकारी नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम 'इन्द्र-स्वपति-धारणात्मक कर्मों को करनेवाले, उन्नतिशील तथा सबल बनकर सहनशील' बनें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुसुष्ठामा रथः

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ।
शीभं राजन्त्सुपथा याह्यर्वाङ्वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि॥ २॥

(१) गत मन्त्र के 'स्वपति' से ही कहते हैं कि तेरा **रथः**-शरीररूप रथ **सुष्ठामा**-शोभनावस्थान हो, इसका एक-एक अंग सुबद्ध हो, अर्थात् यह शरीररूप रथ सुगठित हो। **ते**-तेरे **हरी**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय सब अश्व **सुयमा**-उत्तमता से नियमित हों, वश में हों। हे **नृपते**-आगे बढ़नेवालों के स्वामिन्-मुखिया **ते गभस्तौ**-तेरी बाहु में **वज्रः**-क्रियाशीलता रूप वज्र **मिम्यक्ष**-संहत हो। अर्थात् तू दृढ़तापूर्वक क्रियाशील बने, अकर्मण्य न हो। (२) हे **राजन्**-अपने जीवन को resnleted व्यवस्थित करनेवाले और अतएव अपने जीवन को दीप्त बनानेवाले जीव! तू **सुपथा**-उत्तम मार्ग से **शीभम्**-शीघ्र **अर्वाङ्**-हमारे सामने अथवा अन्दर हृदय के प्रदेश में **आयाहि**-आनेवाला हो। जीवन को व्यवस्थित बनाना ही प्रभु की ओर चलना है। (३) प्रभु कहते हैं कि **पपुषः**-सोम का पान करनेवाले **ते**-तेरे **वृष्ण्यानि**-बलों को **वर्धाम**-हम बढ़ाते हैं। सोमपान से ही शक्ति का वर्धन होता है। सशक्त होकर ही हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीरूप रथ सुदृढ़ हो, इन्द्रियाश्व संयत हों, हाथों में क्रियाशीलता हो, सुपथ से प्रभु की ओर चलें और सोम के रक्षण के द्वारा शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्यशुष्म

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम्।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु॥ ३॥

(१) प्राण जीवात्मा के साथ रहते हैं, उपनिषद् के शब्दों में उसी प्रकार जैसे कि पुरुष के साथ छाया। छाया पुरुष का साथ नहीं छोड़ती, प्राण आत्मा का साथ नहीं छोड़ते। इसीलिए प्राणों को यहाँ 'सधमादः'-'जीव के साथ आनन्दित होनेवाले' कहा गया है। ये प्राण जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के प्रति ले चलनेवाले हैं, सो 'इन्द्रवाहः' हैं। शक्तिशाली होने से 'उग्रासः' हैं और अत्यन्त

बढ़े हुए होने से, सब उन्नतियों का कारण होने से 'तविषास:' कहे जाते हैं। (२) इन प्राणों से कहते हैं कि **सधमादः**-जीव के साथ आनन्द को अनुभव करनेवाले, **इन्द्रवाहः**-जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले, **उग्रासः**-तेजस्वी **तविषासः**-प्रवृद्ध व बल-सम्पन्न प्राणो! आप **एनम्**-इस जीव को **ईम्**-निश्चय से **अस्मत्रा**-हमारे समीप **आवहन्तु**-ले आओ। उस जीव को जो (क) **नृपतिम्**-उन्नतिशील पुरुषों का प्रमुख है, (ख) **वज्रबाहुम्**-बाहु में क्रियाशीलता रूप वज्र को लिये हुए है, सदा क्रियाशील है, (ग) **उग्रम्**-जो तेजस्वी है, (घ) **प्रत्वक्षसम्**-अपने बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनानेवाला है, (ङ) **वृषभम्**-शक्तिशाली होता हुआ सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला है, (च) **सत्यशुष्मम्**-सत्य के बलवाला है। वस्तुत: प्राणसाधना से मनुष्य के जीवन में ये सब गुण उत्पन्न होते हैं और इन गुणों को उत्पन्न करके प्राण इसे प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीव शक्तिशाली व सत्य के बलवाला और सूक्ष्म बुद्धि से युक्त होता है। इन तीनों बातों का सम्पादन करके यह प्रभु के समीप पहुँचता है।

ऋषि:—कृष्ण: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—विराड्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

सोम-महिमा

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्जः स्कम्भं धरुण आ वृषायसे।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे ॥ ४ ॥

(१) हे **धरुण**-हमारा धारण करनेवाले प्रभो! **एवा**-(इ गतौ) गतिशीलता के द्वारा आप **आवृषायसे**-हमारे में उस सोम का वर्षण व सेचन करते हैं जो कि **पतिम्**-पालक है, रोगों से हमें बचानेवाला है, **द्रोणसाचम्**-इस शरीररूपी द्रोण (=सोमपात्र) में समवेत (=सम्बद्ध) होनेवाला है, **सचेतसम्**-जो चेतना से युक्त है, चेतना व ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है और **ऊर्जः स्कम्भम्**-बल व प्राणशक्ति का धारक है। (२) हे प्रभो! इस सोम के सेचन से **ओजः कृष्व**-आप हमारे में ओजस्विता का सम्पादन करिये और **त्वे अपि संगृभाय**-हमें अपने में ग्रहण करने की कृपा करिये। हम आपकी गोद में उसी प्रकार आ सकें जैसे कि पुत्र पिता की गोद में आता है। (३) आप हमारे लिये उसी प्रकार होइये **यथा**-जैसे कि **इनः**-स्वामी होते हुए आप **केनिपानाम्**-मेधावियों के **वृधे**-वर्धन के लिये होते हैं। हम भी इस सोम के रक्षण के द्वारा मेधावी हों और आपके प्रिय होकर निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—सोम (=वीर्य) हमारा रोगों से रक्षण करता है, हमें चेतना-सम्पन्न व शक्तिशाली बनाता है। इसके द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। मेधावी बनकर वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषि:—कृष्ण: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—पादनिचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

अना धृष्य-पात्र

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! गत मन्त्र के अनुसार जब मैं अपने इस शरीर को सोम का पात्र बनाता हूँ, शरीर में सोम का रक्षण करता हूँ तो **हि**-निश्चय से **अस्मे**-हमारे में **वसूनि**-जीवन को उत्तम बनानेवाले सब वासक तत्त्व **आगमन्**-प्राप्त होते हैं। और मैं **शंसिषम्**-आपका शंसन व स्तवन

करनेवाला बनता हूँ। मेरी मनोवृत्ति भोग-प्रवण न होकर प्रभु-प्रवण होती है। आप मुझ **सोमिनः**-सोम का रक्षण करनेवाले के **स्वाशिषम्**-उत्तम इच्छाओंवाले **भरम्**-भरणात्मक यज्ञ को **आयाहि**-आइये। वस्तुतः **त्वं ईशिषे**-आप ही तो इन सब यज्ञों के ईश हैं आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। (२) **स**-वे आप **अस्मिन्**-इस हमारे **बर्हिषि**-वासनाओं को जिसमें से उखाड़ दिया गया है और जिसमें यज्ञ की भावना को स्थापित किया गया है उस हृदय में **आसत्सि**-आकर विराजमान होते हैं। उन हृदयस्थ आपकी प्रेरणा व शक्ति से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। (३) हे प्रभो! **तव**-आपकी **धर्मणा**-धारकशक्ति से ही **पात्राणि**-ये सोम के रक्षण के पात्रभूत हमारे शरीर **अनाधृष्या**-आधि-व्याधियों से धर्षण के योग्य नहीं होते। आपके हृदय में स्थित होने पर वहाँ 'काम' का प्रवेश नहीं होता। इसका प्रवेश न होने पर शरीर में सोम का रक्षण होता है। इस सोम के रक्षण के होने पर शरीर का धर्षण रोगों से नहीं किया जाता और वासनाएँ मन का धर्षण नहीं कर पातीं। शरीर व मन दोनों ही बड़े स्वस्थ बनते हैं। यह स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाला पुरुष 'आदर्श-पुरुष' होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण होने पर हमारे हृदयों में प्रभु का वास होगा। उस समय हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न होंगे, मन वासनाओं से मलिन न होंगे।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

यज्ञिय नाव

पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥६॥

(१) **प्रथमाः**-(प्रथ विस्तारे) अपना विस्तार करनेवाले व अपने हृदयों को विशाल बनानेवाले, **देवहूतयः**-देव को पुकारनेवाले प्रभु की प्रार्थना करनेवाले, अपने में दिव्यगुणों को स्थापित करने के लिये यत्न करनेवाले, गत मन्त्र के सोमी (=सोम रक्षक) पुरुष **पृथक्**-अनासक्त (detached) होकर, अलग रहते हुए, न फँसते हुए **प्रायन्**-प्रकृष्ट गति करनेवाले होते हैं। ये संसार में चलते हैं, सब कार्य करते हैं। पर उनमें फँसते नहीं 'कुर्याद् विद्वाँस्तथासक्तः'-ये असक्त होकर ही कार्यों को करते हैं। (२) आसक्ति कार्यों के सौन्दर्य को समाप्त कर देती है, तो अनासक्ति हमारे कार्यों की शोभा को बढ़ानेवाली होती है। अनासक्त भाव से कार्यों को करते हुए ये सोमी पुरुष **श्रवस्यानि**-उन श्रवणीय यशों को **अकृण्वत**-करनेवाले होते हैं जो यश **दुष्टरा**-दूसरों से दुस्तर होते हैं। इनके यश का अन्य लोग उल्लंघन नहीं कर पाते। (३) इनके विपरीत वे व्यक्ति **ये**-जो **यज्ञियां नावम्**-यज्ञमयी नाव पर **आरुहम्**-आरोहण करने के लिये **न शेकुः**-समर्थ नहीं होते, अर्थात् जो जीवन को शक्ति से ऊपर उठकर यज्ञिय कार्यों में नहीं लगा पाते **ते**-वे **केपयः**-कुत्सित कर्मा लोग **ईर्म एव**-(ऋ णेनैव) अपने पर चढ़े हुए 'ऋण' से ही **न्यविशन्त**-नीचे और नीचे प्रवेश करते हैं, इनको अधोगति प्राप्त होती है। यज्ञ ही वह नाव है जो कि भवसागर से तराकर हमें उत्तर शिव वाजों (शक्तियों व धनों) को प्राप्त कराती है। (४) हमारे पर 'पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण व भव ऋण' इस प्रकार चार ऋण हैं। इन ऋणों को हम विविध यज्ञिय कर्मों द्वारा अदा किये करते हैं। यदि उन यज्ञों को हम नहीं करते ऋणभार से दबे हुए हम अधोगति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम संसार में फल की आसक्ति को छोड़कर कर्त्तव्य कर्मों को करें, यही यज्ञिय नाव है जो हमें भवसागर से तराती है और अधोगति से बचाती है।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्राग् नकि प्रपाग्

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥ ७ ॥

(१) **येषाम्**-जिन यज्ञ न करनेवालों के **दुर्युजः**-दुष्ट योजनावाले, अर्थात् अशुभ मार्ग की ओर जानेवाले **अश्वाः**-इन्द्रियरूप अश्व **आयुयुज्रे**-इस शरीर-रथ में जुतते हैं वे **दूढ्यः**-(दुर्धियः) दुष्ट बुद्धिवाले पुरुष **अपरे**-इस अपरा प्रकृति में फँसे हुए पुरुष **एवा**-अपनी गतियों (-क्रियाओं) के कारण ही **अपाग्**-अधोगतिवाले (अप अञ्च्) **सन्तु**-हों। भोग प्रवण मनोवृत्तिवाले पुरुष ही बुद्धियाँ सदा कुकामनाएँ करती हैं, 'अन्यायेन अर्थसंचयः' का विचार करती रहती हैं। इनकी अन्ततः अवनति ही होती है। (२) **उ**-और जो **परे**-दूसरे, परा प्रकृति (-आत्मस्वरूप) की ओर चलनेवाले होते हैं और **इत्था**-सचमुच **दावने सन्ति**-देने के कार्य में ही लगे रहते हैं, **प्राग् सन्ति**-(प्र अञ्च्) आगे बढ़नेवाले होते हैं। वे वहाँ पहुँचते हैं **यत्र**-जहाँ कि **पुरूणि**-पालन व पूरण करनेवाले अथवा पर्याप्त **वयुनानि**-ज्ञानयुक्त व कान्त (-चमकते हुए) **भोजना**-(पालन करनेवाले) धन हैं। इन भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए यज्ञशील पुरुषों पालन के लिये आवश्यक सब धन प्राप्त होते हैं, ये धन उन्हें मूढ बनानेवाले नहीं होते, प्रत्युत उनके ज्ञान को बढ़ाते हुए उन्हें आगे ले चलते हैं।

भावार्थ—भोग-प्रवण बनकर हम अधोगति को प्राप्त करनेवाले न बनें। यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए आगे बढ़ें और ज्ञानयुक्त धनोंवाले हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

समीचीने धिषणे

गिरीँरज्रान्रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददुन्तरिक्षाणि कोपयत्।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥ ८ ॥

(१) **वृष्णः**-शक्ति के देनेवाले सोम का **पीत्वा**-पान करके, सोम को शरीर में ही व्याप्त (imbife) करके **मदे**-उल्लास में **उक्थानि**-प्रभु के स्तोत्रों का **शंसति**-शंसन करता है। जिस समय मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (-प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष) सोम का विनाश न करके उसे शरीर में ही सुरक्षित करता है उस समय नीरोगता व निर्मलता के कारण उसे एक अनुपम उल्लास का अनुभव होता है। उस उल्लास में वह प्रभु की महिमा का गायन करता है। प्रभु की बनाई हुई उस सोमशक्ति में वह प्रभु की महिमा को देखता है। (२) इस सोम के रक्षण के द्वारा वह **समीचीने**-(सम् अञ्च्) उत्तम गतिवाले **धिषणे**-द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **विष्कभायति**-विशेषरूप से थमता है। मस्तिष्क व शरीर की शक्ति को क्षीण न होने देकर इनको वह बढ़ानेवाला होता है। सोम का रक्षण उसकी ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता है और शरीर में आ जानेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाना व शरीर को नीरोग बनाना ही द्यावापृथिवी का धारण है। इस सोम रक्षक पुरुष के मस्तिष्क व शरीर दोनों समीचीन होते हैं। मस्तिष्क ज्ञान का ग्रहण करनेवाला होता है तो शरीर रोगशून्य होता है। (३) यह **अज्रान्**-अपनी गति के द्वारा विक्षिप्त करनेवाले **रेजमानान्**-अत्यन्त कम्पित करते हुए **गिरीन्**-अविद्या पर्वतों को **अधारयत्**-थामता है अविद्या पर्वतों के आक्रमण से अपने को बचाता है। इसका **द्यौः**-मस्तिष्करूप द्युलोक **अक्रन्दत्**-प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपने ज्ञान के प्रकाश से प्रभु को देखता है और उसे

अपने रक्षण के लिये पुकारता है। यह अन्तरिक्षाणि-अपने हृदयान्तरिक्षों को कोपयत्-(कोपयति to shine) दीप्त करता है। प्रभु के प्रकाश से हृदय का दीप्त होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से हमारे मस्तिष्क व शरीर उत्तम हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

यज्ञमय जीवन

इ॒मं बि॑भर्मि॒ सुकृ॑तं ते अङ्कु॒शं येना॑रु॒जासि॑ मघवञ्छफा॒रुजः॑।

अ॒स्मिन्त्सु ते॒ सव॑ने अस्त्वो॒क्यं सु॒त इ॒ष्टौ म॑घवन्बो॒ध्याभ॑गः ॥ ९ ॥

(१) हे प्रभो! **इमम्**-इस **ते**-आपके **सुकृतम्**-पुण्य के कारणभूत **अंकुशम्**-स्तवन को **बिभर्मि**-मैं धारण करता हूँ। यहाँ स्तुति को 'अंकुश' इसलिए कहा है कि यह हमें मार्ग पर चलने के लिये प्रेरक होती है। अंकुश हाथी को मार्गभ्रष्ट नहीं होने देता इसी प्रकार स्तुति मनुष्य को मार्गभ्रष्ट होने से बचाती है। हे **मघवन्**-सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! यह स्तुतिरूप अंकुश वह है **येन**-जिससे **शफारुजः**-(शफ=root of a tree) शरीर रूप वृक्ष के मूल पर आघात करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' को **आरुजासि**-आप छिन्न-भिन्न कर देते हो। 'काम' शरीर को क्षीण करके विलास का शिकार बना देता है, 'क्रोध' मन को अशान्त कर देता है और लोभ बुद्धि का विनाशक है। इन तीनों 'शफारुजों' को हम प्रभु-स्तवन के द्वारा विनष्ट करनेवाले बनते हैं। (२) इनको विनष्ट करके हम शरीर में सोम का (=वीर्यशक्ति का) सम्पादन करते हैं और चाहते हैं कि **अस्मिन् सवने सुते**-जीवन यज्ञ में सोम का (=वीर्यशक्ति का) सम्पादन पर **ओक्यं अस्तु**-प्रभु का यहाँ निवास हो। (३) हे **आभगः**-आभजनीय-सर्वदा स्तवन के योग्य प्रभो! **इष्टौ सुते**-इस जीवन को यज्ञरूप में चलाने पर **बोधि**-आप हमारा ध्यान करिये। आप से रक्षित होकर ही तो हम इस जीवन को यज्ञ का रूप दे सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमारे जीवनरूप हाथी को लिये अंकुश के समान हो। हम जीवन को यज्ञमय बना पायें, उस यज्ञमय जीवन में प्रभु का निवास हो।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गोदुग्ध यव

गोभि॑ष्टरे॒माम॑तिं दु॒रेवां॒ यवे॑न॒ क्षुधं॑ पुरुहूत॒ विश्वा॑म्।

व॒यं राज॑भिः प्रथ॒मा धना॑न्य॒स्माके॑न वृ॒जने॑ना जयेम ॥ १० ॥

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु विश्वास

बृह॒स्पति॑र्नः॒ परि॑ पातु प॒श्चादु॒तोत्त॑रस्मा॒दध॑रादघा॒योः।

इन्द्रः॑ पु॒रस्ता॑दु॒त म॑ध्य॒तो नः॒ सखा॒ सखि॑भ्यो॒ वरि॑वः कृणोतु ॥ ११ ॥

इन दोनों मन्त्रों का व्याख्यान ४२.१० तथा ४२.११ पर द्रष्टव्य है। जीवन की यज्ञमयता के लिये जौ व गोदुध का आहार अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ यह बात भी प्रसंगवश ध्यान देने योग्य है कि ४२,४३ तथा ४४ तीनों सूक्त 'कृष्ण आंगिरस' ऋषि के हैं। तीनों ही सूक्त इन्हीं दो मन्त्रों पर समाप्त होते हैं। कृष्ण भगवान् के जीवन के साथ भी गौवों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। वस्तुतः अपनी ओर गुणों को आकृष्ट करने के लिये (कृष्) तथा अंग-प्रत्यंग में रसमय व शक्तिशाली

बनने के लिये 'गोदुग्ध व जौ' का प्रयोग आवश्यक हो है। इस ४४ सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हम 'स्व-पति' बनें, हमारा शरीररूप-रथ 'उत्तम स्थान व दृढ़ता' वाला हो, (२) हम सत्यशुष्म बनें, (३) सोम (=वीर्य) की महिमा को समझें (४) हमारा यह शरीररूप पात्र मलिनताओं से अनाधृष्य हो, (५) हम यज्ञिय नाव पर आरोहण करें, (६) हम पीछे न हटकर आगे ही आगे बढ़ें, (७) हमारे शरीर व मस्तिष्क समीचीन हों, (८) जीवन हमारा यज्ञमय हो, (९) गोदुग्ध व जौ के प्रयोग से हमारी वृत्ति सात्त्विक बने, (१०) प्रभु सर्वत: हमारे रक्षक हों, (११) हम अपने जीवनों में तीनों अग्नियों को प्रज्वलित करके प्रभु के प्रिय बनें। यह प्रभु का प्रिय बननेवाला 'वदति' प्रभु के गुणों का उच्चारण करता है और अपने कर्मों से 'प्रीणाति' प्रभु को प्रीणित करता है। यह अपने जीवन में 'भलं=वर्णनीयं दनं=दानं यस्य' स्तुत्य दानवाला होता है। इस प्रकार यह 'वत्सप्री-भालन्दन' बनता है—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषि:—वत्सप्रि: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

तीन अग्नियाँ

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञे अ॒ग्निर॒स्मद् द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः।
तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ अज॑स्र॒मिन्धा॑न एनं जरते स्वा॒धीः ॥ १ ॥

(१) **प्रथमम्**=सबसे पहले **दिव:**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से **अग्नि:**=ज्ञानाग्नि **परिजज्ञे**=प्रादुर्भूत होती है। यह ज्ञानाग्नि मस्तिष्क को उसी प्रकार उज्ज्वल करती है जैसे कि सूर्य द्युलोक को। इस अग्नि से हमारे जीवन में प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है, वहाँ अन्धकार का विनाश होकर, जीवन का मार्ग अत्यन्त स्पष्टतया दिखने लगता है। परिणामत: हम मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते और हमारे कर्म बड़े पवित्र होते हैं। ज्ञानाग्नि कर्मों के मल को उसी प्रकार दग्ध कर देती है जैसे कि स्वर्ण के मल को यह भौतिक अग्नि। इस प्रकार ज्ञानाग्नि कर्मों को पवित्र करती है। (२) **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में **अस्मत्**=हमारे हेतु से **जातवेदा:**=(जाते-जाते विद्यते) प्रत्येक उत्पन्न प्राणी में होनेवाली जाठराग्नि **परि (जज्ञे)**=उत्पन्न होती है। (३) **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **'नृमणा:'** (नृषु मनो यस्य)=मनुष्यों में सत्यचित्तवाली लोकानुग्रह तत्पर 'नृमणा' नामवाली अग्नि है, जो **अप्सु**=हृदयान्तरिक्ष में निवास करता है। **स्वाधी:**=उत्तम बुद्धि व ध्यानवाला ज्ञानी पुरुष **एनम्**=इस तृतीय **'नृमणा'** अग्नि को **अजस्रम्**=सतत (लगातार) **इन्धान:**=दीप्त करता हुआ और लोकानुग्रह में तत्पर हुआ-हुआ **जरते**=प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है। प्रभु का सच्चा स्तवन 'सर्वभूतहितेरत' बनने से ही होता है। इस तृतीय अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये पहली दो अग्नियों का प्रज्वलन भी आवश्यक है। बिना ज्ञान के व बिना स्वास्थ्य के लोकहित के करने का सम्भव नहीं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करें, उदर में जाठराग्नि को और हृदय में लोकहित की भावनारूप अग्नि को। सच्ची प्रभु-भक्ति इसी में है।

ऋषि:—वत्सप्रि: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

तीनों अग्नियों का स्रोत

वि॒द्मा ते॑ अग्ने त्रे॒धा त्र॒याणि॑ वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पुरु॒त्रा।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद्वि॒द्मा तमुत्सं॒ यत॑ आज॒गन्थ॑ ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**-त्रिलोकी में भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित होनेवाली अग्नि! **ते**-तेरे **त्रेधा**-तीन प्रकार

के त्रयाणि-तीनों रूपों को विद्म-हम जानते हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक में तू ज्ञानाग्नि के रूप से है, शरीर में जाठराग्नि के रूप से तथा हृदय में लोकानुग्रहात्मक अग्नि के रूप में। पुरुत्रा-बहुत प्रकार से विभृता-धारण किये गये ते धाम-(धामानि) तेरे तेजों को विद्म-हम जानते हैं। ज्ञानाग्नि के रूप में तेरा तेज कर्मदोष को दूर करता है, जाठराग्नि के रूप में यह रोग-दोष का दूर करनेवाला है और 'नृमणा' अग्नि के रूप में यह स्वार्थ-दोष को भस्म करता है। (२) हम ते परमं नाम-तेरे उत्कृष्ट यश को यत्-जो गुहा-सामान्य लोगों से छिपा हुआ है, उनकी अनुभूति का विषय नहीं है, उसे विद्म-जानते हैं। इन अग्नियों को धारण करने के कारण इनका लाभ जीवन में अनुभव होता है, उसी समय इनका यश हमारे सामने प्रकट होता है। (३) हम तम्-उस उत्सम्-स्रोत को भी विद्म-जानते हैं यतः-जहाँ से कि आजगन्थ-तुम प्रकट होते हो। वस्तुतः इन सब अग्नियों के प्रादुर्भाव का स्रोत वह प्रभु रूप महान् अग्नि ही है। सम्पूर्ण ज्ञान को सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ही देते हैं, जाठराग्नि की स्थापना करनेवाले वे ही हैं, हृदय में 'नृमणा' अग्नि का उदय प्रभु की कृपा से ही होता है। प्रभु का उपासन ही हमें स्वार्थ से ऊपर उठाता है।

भावार्थ—ज्ञानाग्नि, जाठराग्नि व हृदयस्थ 'नृमणा' अग्नि प्रभु कृपा से ही प्रज्वलित होती हैं।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'नृमणाः, नृचक्षाः, महिषः'

स॒मु॒द्रे त्वा॑ नृ॒मणा॑ अ॒प्स्व१॒॑न्तर्नृ॒चक्षा॑ ईधे दि॒वो अ॑ग्न॒ ऊध॑न्।

तृ॒तीये॑ त्वा॒ रज॑सि तस्थि॒वांस॑म॒पामु॒पस्थे॑ महि॒षा अ॑वर्धन् ॥ ३ ॥

(१) हे अग्ने-अग्नि! त्वा-तुझे समुद्रे-(स मुद) आनन्द की वृत्ति से युक्त अप्सु अन्तः-हृदयान्तरिक्ष के अन्दर नृमणाः-मनुष्यों के प्रति अनुग्रह युक्त मनवाला व्यक्ति ईधे-दीप्त करता है। लोकहित की वृत्तिवाला पुरुष 'नृमणाः' है, यह अपने हृदय में एक अद्भुत उत्साह की अग्नि को जगाता है, वह अग्नि भी 'नृमणाः' नामवाली से कही जाती है। (२) नृचक्षाः-मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाला व्यक्ति दिवः ऊधन्-द्युलोक की छाती में, अर्थात् मस्तिष्क में ईधे-ज्ञानाग्नि को समिद्ध करता है। इसे समिद्ध करके ही तो वह औरों को प्रकाश देनेवाला होता है। (३) तृतीये रजसि-कर्मों की गोद में, अर्थात् क्रियामय जीवन बिताते हुए महिषाः-प्रभु के उपासक अवर्धन्-बढ़ाते हैं। जाठराग्नि को ठीक रखने के लिये दोनों ही बातें आवश्यक हैं। क्रियाशीलता भी आवश्यक है, इससे शरीर के रुधिराभिसरण में न्यूनता नहीं आती। उपासना भी आवश्यक है, इससे वृत्ति-वैषयिक नहीं बनती और हम अतिभोजनादि में पड़कर जाठराग्नि को बुझा नहीं लेते।

भावार्थ—हम 'नृमणा' बनकर हृदय की अग्नि को प्रज्वलित करें, 'नृचक्षा' बनकर ज्ञानाग्नि को तथा 'महिष' उपासक बनकर जाठराग्नि को।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकाशमय जीवन

अक्र॑न्दद॒ग्निः स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑ह॒द्वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।

स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धो अख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम त्रिलोकी की इन अग्नियों को अपने में प्रज्वलित करते हैं तो वे महान् अग्निः-अग्रेणी प्रभु अक्रन्दत्-हमारे हृदयों में हमारे कर्मों की प्रतिपादिका वाणियों का उच्चारण करते हैं। हमारे कर्त्तव्य का ज्ञान देते हैं, स्वं प्रभु स्तनयन् इव द्यौः-गर्जना करते

हुए द्युलोक के समान होते हैं। वे प्रभु **क्षामा**-हमारे इस पृथिवीरूप शरीर को **रेरिहत्**-आस्वादयुक्त बना देते हैं। प्रभु कृपा से 'भूयासं मधु सन्दृशः' इस मन्त्र भाग को हम अपने जीवन में घटा हुआ देखते हैं। हमारे इस शरीर के द्वारा होनेवाली सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए होती हैं। (२) वे प्रभु **वीरुधः**-(वि-रुह) विशिष्ट रोहणों, उत्थानों व उन्नतियों को **समञ्जन्**-हमारे जीवन में व्यक्त करते हैं। **सद्यः**-शीघ्र ही **जज्ञानः**-प्रादुर्भूत होते हुए वे प्रभु **हि**-निश्चय से **इद्धः**-दीप्त हुए-हुए **वि अख्यद्**-हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनाते हैं। **अन्तः**-अन्तःस्थित हुए-हुए वे प्रभु **रोदसी**-द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **भानुना**-दीप्ति से **आभाति**-समन्तात् प्रकाशित करते हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से चमकने लगता है, तो यह शरीर स्वास्थ्य के तेज से दीप्त हो जाता है।

भावार्थ—अग्निरूप प्रभु की प्रेरणा को सुनने पर हमारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'प्रभु प्रिय' का जीवन

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा वि भात्यग्रं उषसामिधानः ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की दीप्ति से जीवन के दीप्त होने पर यह 'वत्सप्री' (मन्त्र का ऋषि) **श्रीणां उदारः**-धनों के विषय में उदारतावाला होता है। धन के विषय में कृपण नहीं होता। लोकहित के लिये उदारतापूर्वक दान देनेवाला होता है। वस्तुतः इस दानवृत्ति के कारण यह **रयीणां धरुणः**-धनों का धारक बनता है। 'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'-दान से उसका यह धन सप्तगुणित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। (२) यह **मनीषाणां प्रार्पणः**-बुद्धियों का यह प्राप्त करानेवाला होता है। स्वयं अपनी बुद्धि को ठीक रखता हुआ यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनता है। धन के विषय में उदारता के कारण, लोभवृत्ति से ऊपर उठने के कारण इसकी बुद्धि अविकृत रहती है और यह ज्ञान का प्रसार करनेवाला बनता है। (३) इस बुद्धि की अविकृतता के लिये यह **सोमगोपाः**-सोम का रक्षक बनता है। यह रक्षित सोम ही इसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इस सोम के रक्षण से इसका स्वास्थ्य बिलकुल ठीक रहता है, यह **वसुः**-उत्तम निवासवाला होता है। **सहसः सूनुः**-बल का पुत्र (पुञ्ज) बनता है। यह शरीरधारी 'बल' ही हो जाता है। (४) सोम के रक्षण के परिणामरूप ही यह **अप्सु राजा**-कर्मों के विषय में बड़ा व्यवस्थित (regirlated) होता है। व्यवस्थित कर्मों के कारण यह चमक उठता है। **विभाति**-शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य की दीप्ति से यह विशेषरूप से दीप्त होता ही है। यह **उषसां अग्रे**-(early in the morning) बहुत ही सवेरे-सवेरे **इधानः**-उस प्रभु को अपने में दीप्त करनेवाला होता है। प्रभु-स्मरण के द्वारा प्रभु की भावना को अपने में जगाता है, प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—प्रभु प्रिय व्यक्ति धन-सम्पन्न होता हुआ उदार बनता है। सोम की रक्षा के द्वारा अपने जीवन को सुन्दर व सशक्त बनाता है।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सबका चिकित्सक

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीळुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र का 'वत्सप्री' **विश्वस्य केतुः**=सबको ज्ञान देनेवाला होता है। 'कित निवासे रोगापनयने च'=सबको निवास देनेवाला बनता है और सबके रोगों को दूर करने के लिये यत्नशील होता है। ज्ञान देने के द्वारा निवास भी उत्तम होता है, रोग भी दूर होते हैं। **भुवनस्य गर्भः**=यह सारे भुवन का गर्भ बनता है, सबको अपने में धारण करनेवाला होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारी वसुधा इसका परिवार बन जाती है। (२) **जायमानः**=अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ यह **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आ अपृणात्**=सब प्रकार से पालित व पूरित करता है, यह उनमें न्यूनता को नहीं आने देता। **परा यन्**=विषय-वासनाओं से दूर होता हुआ यह **वीडुं चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **अभिनत्**=विदीर्ण करनेवाला होता है। विषय-वासनाएँ ही ज्ञान पर आवरण के रूप में होती हैं। उनसे दूर होकर यह अज्ञान को नष्ट कर डालता है। **यद्**=जब ऐसा होता है उस समय **अग्निम्**=इस प्रगतिशील जीव को **पञ्चजनाः**=पाँचों विकास, पाँचों कोशों की उन्नति से, **अयजन्त**=संगत होती हैं, प्राप्त होती हैं। इसके पाँचों ही कोश अपने-अपने विकसित गुणोंवाले होते हैं। इसका अन्नमयकोश तेज से, प्राणमयकोश वीर्य से, मनोमयकोश ओज व बल से, विज्ञानमयकोश मन्यु से तथा आनन्दमयकोश सहस् से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हम वसुधा को ही अपना परिवार समझनेवाले, अज्ञान को दूर करके सब कोशों की शक्तियों को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

हितचिन्तक व पावक

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।
इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्॥ ७॥

(१) **उशिक्**=(वष्टेः कान्तिकर्मणः) यह सबके भले की कामनावाला होता है, **पावकः**=अपने जीवन को पवित्र बनाकर औरों को भी पवित्र जीवनवाला बनाने का यत्न करता है। **अरतिः**=विषयों में रति व आसक्तिवाला नहीं होता। **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला व (मेध-यज्ञ) उत्तम यज्ञोंवाला होता है। (२) यह **अग्निः**=प्रगतिशील जीवनवाला **अमृतः**=विषयों के पीछे न मरनेवाला व्यक्ति **मर्तेषु**=विषयों के पीछे मरनेवाले, आसक्तिवाले पुरुषों में, **निधायि**=प्रभु के द्वारा ही स्थापित किया जाता है। यह उनमें रहता हुआ अपने क्रियात्मक जीवन से व ज्ञान-ज्योति से उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करता है। **इयर्ति**=इसी उद्देश्य से यह गतिवाला होता है, बड़ा क्रियाशील होता है। **धूमम्**=विषय-वासनाओं का कम्पित करके दूर करनेवाले **अरुषम्**=आरोचमान, समन्तात् दीप्त, ज्ञान को **भरिभ्रत्**=यह धारण करता है और **उत्**=विषयासक्ति से ऊपर उठकर **शुक्रेण शोचिषा**=दीप्त (शुच्) व क्रियामय (शुक् गतौ) ज्ञानदीप्ति से यह **द्यां इनक्षन्**=सारे द्युलोक को व्याप्त कर देता है। यह सर्वत्र इस ज्ञान को फैलानेवाला बनता है।

भावार्थ—हम स्वयं उच्च व दीप्त जीवनवाले बनकर ज्ञान-प्रसार द्वारा सबका हित करने की कामनावाले हों।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तत्त्वद्रष्टा का श्रीसम्पन्न जीवन

दृशानो रुक्म उर्विया व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौर्जनयत्सुरेताः॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार अपने जीवन को ज्ञानदीप्ति से दीप्त करने के कारण यह **दृशानः**=प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखनेवाला बनता है। वस्तुओं की आपात-रमणीयता से उनमें उलझ नहीं जाता। न उलझने के कारण यह **रुक्मः**=स्वर्ण के समान चमकनेवाला होता है, स्वास्थ्य की दीप्ति से दीप्त होता है। शारीरिक स्वास्थ्य के साथ **उर्विया**=हृदय की विशालता से यह **व्यद्यौत्**=चमकता है। इसका हृदय संकुचित नहीं होता, हृदय को विशाल बनाकर यह समाज में शोभा ही पाता है। **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=शत्रुओं से मर्षण के योग्य नहीं होता, यह शत्रुओं के लिये दुराधर्ष होता है। काम-क्रोधादि के आक्रमण से यह आक्रान्त नहीं होता। **श्रिये रुचानः**=श्री के लिये यह रुचिवाला होता है, किसी भी कार्य को यह अशोभा से नहीं करना चाहता। इस श्री के लिये यह 'सत्य' को अपनाता है, सत्कार्यों से इसका 'यश' होता है, यह यश इसे श्री-सम्पन्न जीवनवाला करता है। (२) **अग्निः**=यह जीवनपथ में निरन्तर आगे बढ़ता है। **वयोभिः**=आयुष्य के स्थापक सात्त्विक अन्नों से यह **अमृतः**=रोगों से अनाक्रान्त स्वस्थ दीर्घ-जीवनवाला **अभवत्**=होता है। (३) यह इस प्रकार बन इसलिए पाता है **यत्**=क्योंकि **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला, ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला **द्यौः**=ज्ञान-ज्योति से प्रकाशमय जीवनवाला आचार्य **एनम्**=इसको **जनयत्**=विकसित शक्तिवाला करता है। संयमी ज्ञानी आचार्य के नियन्त्रण में रहकर इसकी भी शक्तियों व ज्ञान का विकास समुचित रूप में हो जाता है और इसका जीवन सचमुच श्री-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—संयमी ज्ञानी आचार्यों की कृपा से हमारा जीवन श्री-सम्पन्न बने। हम तत्त्वद्रष्टा बनकर संसार में उलझे नहीं।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

घृतवाला अपूप

यस्ते॑ अ॒द्य कृ॒णव॑द्भद्रशोचेऽपू॒पं दे॑व घृ॒तव॑न्तमग्ने।
प्र तं न॑य प्रत॒रं वस्यो॒ अच्छा॒भि सु॒म्नं दे॒वभ॑क्तं यविष्ठ॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र में 'आचार्य ने विद्यार्थी को बनाना है' इस बात का संकेत था। उसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हे **भद्रशोचे**=कल्याणकर ज्ञान दीप्तिवाले, **देव**=दिव्यगुणों को अपनानेवाले **अग्ने**=आगे और आगे बढ़नेवाले ब्रह्मचारिन्! **यः**=जो आचार्य **ते**=तेरे लिये **घृतवन्तम्**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति के कारणभूत (घृ=क्षरण-दीप्त्योः) **अपूपम्**=(न पूयते) न अपवित्र होनेवाले, अपितु पवित्रता के साधनभूत इस ज्ञान के ओदन को (=भोजन को) **कृणवत्**=करता है, **तं अच्छ**=उसकी ओर **प्रतरम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **वस्यः**=निवास के लिये उपयोगी **वसु**=धन को **प्रणय**=प्राप्त करा। ज्ञान देनेवाले आचार्य को उत्तम से उत्तम गुरु दक्षिणा देनी ही चाहिए। वह आचार्य विद्यार्थी के लिये ज्ञानरूप भोजन को पकाता है। अथर्व० ९।२।३७ में 'पचत पञ्च औदनान्' इन शब्दों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के लिए पाँच ओदनों के, ज्ञान भोजनों के पचन का संकेत है। (२) इस प्रकार आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करके हे **यविष्ठ**=बुराइयों को अपने से दूर करनेवाले और अच्छाइयों को अपने से संगत करनेवाले विद्यार्थिन्! तू **देवभक्तम्**=देवों से सेवित, देववृत्तिवाले पुरुषों से जीवन में लाये गये **सुम्नम्**=(hymen) प्रभु के स्तोत्रों की **अभि**=ओर **प्रणय**=अपने को ले चल। तेरा यह जीवन प्रभु के सम्पर्क में चले। प्रभु सम्पर्क ही जीवन को सशक्त व सुन्दर बनाये रखता है।

भावार्थ—हम आचार्यों से उस ज्ञान को, भोजन को प्राप्त करें जो कि सब प्रकार के मलों

को दूर करके हमें पवित्र जीवनवाला बनाता है। आचार्यों को गुरुदक्षिणा प्राप्त कराके हम उपासक बनकर संसार में चलें।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सौश्रवस-उक्थ

आ तं भंज सौश्रवसेष्वंग्न उक्थउक्थ आ भंज शस्यमाने।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भंवात्युज्जातेनं भिनददुज्जनित्वैः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**-आचार्यों से ज्ञान ज्योति को प्राप्त करनेवाले अग्नि! अब गृहस्थ में प्रवेश करने पर तू **तम्**-उस प्रभु को **सौश्रवसेषु**-उन उत्तम कर्मों में जो यश का कारण बनते हैं **आ-भज**-उपासित करनेवाला बन। इन यशस्वी कर्मों से ही (सु-श्रवस्) प्रभु की सच्ची आराधना होती है। (२) इसी प्रकार **शस्यमाने**-उच्चारण किये जाते हुए **उक्थे उक्थे**-प्रत्येक स्तोत्र में तू **आभज**-उस प्रभु का भजन कर। संक्षेप में, प्रभु को स्मरण कर और उन उत्तम कर्मों को अपनानेवाला बन जो तेरे यश का कारण होते हैं। (२) इस प्रकार जीवन को बनानेवाला गृहस्थ **सूर्ये**-मस्तिष्क रूप द्युलोक में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान सूर्य के विषय में **प्रियः**-प्रिय होता है तथा **अग्नौ**-उदर में निवास करनेवाली वैश्वानर अग्नि के विषय में भी **प्रियः भवाति**-प्रिय होता है। इसकी ज्ञानाग्नि भी टीक होती है तथा जाठराग्नि भी ठीक होती है। एक इसको ज्ञानोज्ज्वल बनाती है, तो दूसरी इसको स्वस्थ बनाकर सबल बनाती है। (३) यह **जातेन**-अपने हृदय के विकास से **उत् सभिनत्**-कामादि शत्रुओं का विदारण करनेवाला होता है और **जनित्वैः**-निर्माण के कार्यों से, उत्पादन से यह **उदभिनत्**-दास्यव वृत्ति को ध्वंस की वृत्ति को नष्ट करता है। इसका हृदय कभी किसी के बुरे की कामना नहीं करता। इसका हृदय 'नृमणा' अग्निवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम कर्मों व स्तोत्रों के द्वारा प्रभु का स्तवन होता है। इस प्रभु भक्त में ज्ञानाग्नि, जाठराग्नि व नृमणा अग्नियों का समावेश होता है।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के साथ धन (विष्णु-लक्ष्मी)

त्वामंग्ने यजंमाना अनु द्यून्विश्वा वसुं दधिरे वार्याणि।
त्वया सह द्रविंणमिच्छमाना व्रजं गोमंन्तमुशिजो वि वंव्रुः ॥ ११ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **त्वाम्**-आपको **यजमानाः**-उपासित करते हुए व्यक्ति **अनुद्यून्**-प्रतिदिन **विश्वा**-सब **वार्याणि**-वरणीय, चाहने योग्य **वसु**-धनों को **दधिरे**-धारण करते हैं। प्रभु का उपासक गत मन्त्र के अनुसार **सौश्रवसो**-उत्तम यशस्वी कर्मोंवाला होता है। इस प्रशस्त कर्मोंवाले पुरुष को वसुओं की कमी नहीं रहती। (२) हे प्रभो! **त्वया सह**-तेरे साथ **द्रविणम्**-धन को **इच्छमानाः**-चाहते हुए ये उपासक **शिजः**-आपकी कामना करनेवाले मेधावी पुरुष **गोमन्तं व्रजम्**-इस प्रशस्त इन्द्रियोंवाले शरीरूप बाड़े को **विवव्रुः**-(unfold) विशेषरूप से विकसित करते हैं। बिना प्रभु के धन मनुष्य को मद्य-मांसादि की ओर तथा नृत्य-गीत-वाद्य की ओर ले जाकर नष्ट कर देता है। प्रभु के साथ धन उसको सब साधनों की प्राप्ति में सहायक होकर धन्य बनानेवाला होता है। इस प्रकार प्रभु के साथ ही धन कल्याणकर है। विष्णु व लक्ष्मी का इकट्ठा आना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु की भावना के साथ धन को प्राप्त करके हम इन्द्रियों व शरीर की शक्ति का विकास करने में समर्थ हों।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण व निर्द्वेषता

अस्ताव्यग्निर्नरां सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ १२ ॥

(१) **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा लोगों से मन्त्रों द्वारा (ऋषि=द्रष्टा, मन्त्र) **अस्तावि**=स्तवन किये जाते हैं। ये प्रभु **नराम्**=(नृ नये) अपने को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले पुरुषों का **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाले हैं। **वैश्वानरः**=सभी मनुष्यों में इन प्रभु का वास है 'विश्वेषु नरेषु भवः'। **सोमगोपाः**=सोम का ये रक्षण करनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण से वृत्ति सुन्दर बनती है, विलास से मनुष्य ऊपर उठता है और वीर्य को नष्ट होने से बचा पाता है। (२) इस प्रकार वीर्यरक्षण से शक्तिशाली बनकर हम **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सारे संसार को **अद्वेषे**=अद्वेष में **हुवेम**=पुकारते हैं। किसी के भी प्रति द्वेष की भावनावाले नहीं होते। (३) **देवाः**=हे देवो! इस प्रकार हमारे जीवनों को द्वेषशून्य बनाकर आप **अस्मे**=हमारे लिये **सुवीरं रयिम्**=उत्तम वीरतावाले धन को **धत्त**=धारण करो। हमें धन प्राप्त हो, धन के साथ वीरता प्राप्त हो। धन से विषयों की ओर जाकर हम अवीर न बन जायें।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण मनुष्य को वासनाओं से बचाकर सुरक्षित सोमवाला बनाता है, यह सोमी (वीर्यवान्) पुरुष निर्द्वेष होता है, वीरतायुक्त धन को प्राप्त करता है।

यह सूक्त 'ज्ञानाग्नि, जाठराग्नि व नृमणा' अग्नियों के वर्णन से प्रारम्भ होता है, (१) इन तीन अग्नियों का स्रोत प्रभुरूप महान् अग्नि हैं, (२) इन तीनों अग्नियों का हमें वर्धन करना चाहिए, (३) अग्नि रूप प्रभु की प्रेरणा के सुनने पर हमारा जीवन प्रकाशमय होगा, (४) प्रभु प्रिय व्यक्ति धन-सम्पन्न होता हुआ उदार होता है, (५) यह वसुधा को अपना परिवार समझता है, (६) सर्वहितचिन्तक व पावक होता है, (७) श्री-सम्पन्न बनकर यह तत्त्वद्रष्टा होने से उसमें आसक्त नहीं होता, (८) हम आचार्यों से ज्ञान का भोजन को प्राप्त करें, (९) उत्तम यशस्वी कर्मों व स्तोत्रों से प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें, (१०) हमारे जीवन में विष्णु व लक्ष्मी दोनों का स्थान हो, (११) प्रभु-स्तवन से सोम का रक्षण करते हुए निर्द्वेष जीवनवाले हों, (१२) प्रभु का पूजन वही करता है जो **वदति**=मुख से प्रभु के नामों का उच्चारण करता है और **प्रीणाति**=अपने उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणित करता है। प्रभु-पूजन करता हुआ यह कहता है कि—

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वमहान् होता

प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्वा सीददपामुपस्थे ।
दधिर्यो धायि स ते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः ॥ १ ॥

(१) वे प्रभु **महान् होता**=सर्वमहान् होता **प्रजातः**=हो गये हैं। प्रभु ने जीव के हित के लिये सब कुछ दे दिया है। संसार के व्यक्ति कुछ न कुछ अपनी आवश्यकताएँ भी रखते हैं, सो उनके लिये शत प्रतिशत होता बनना कठिन होता है। प्रभु ही पूर्णरूप से होता बनते हैं। वे प्रभु **नभोवित्**=इस सम्पूर्ण आकाश को जाननेवाले प्राप्त करनेवाले हैं, सर्वव्यापक हैं, आकाश ही हैं। **नृषद्वा**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों के अन्दर वे आसीन होते हैं। **अपां उपस्थे**=कर्मों की गोद

में प्रभु **सीदत्**-बैठते हैं। अर्थात् कर्मशील व्यक्ति को ही प्रभु का दर्शन होता है, अकर्मण्य को नहीं। (२) **दधिः**-वे सबका धारण करनेवाले हैं, वे प्रभु **यः**-जो 'वत्सप्री' लोगों के द्वारा **धायि**-अपने हृदयों में धारण किये जाते हैं। (३) **स**-वे प्रभु ही **ते विधते**-तुझ उपासक के लिये **वयांसि**-आयुष्य वर्धक सात्त्विक अन्नों को तथा **वसूनि**-वसुओं को **यन्ता**-प्राप्त कराते हैं। निवास के लिये आवश्यक सब धनों को वे देनेवाले हैं। **तनूपाः**-हमारे शरीरों की रक्षा करनेवाले हैं। शरीर रक्षण के लिये आवश्यक सब वसु उस प्रभु से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वमहान् होता हैं, वे कर्मशील पुरुषों में वास करते हैं। हमारे रक्षण के लिये अन्नों व धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का अन्वेषण

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनु ग्मन्।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्॥ २॥

(१) हृदय में जीवात्मा परमात्मा के साथ एक स्थान पर स्थित होता है एवं यह हृदय **अपाम्**-प्रजाओं का **सधस्थ**-प्रभु के साथ मिलकर बैठने का स्थान है इस **सधस्थे**-प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थान में **इमम्**-इस प्रभु को **विधन्तः**-पूजते हुए 'वत्सप्री' लोग **पदैः**-वेद के शब्दों से, ज्ञान की वाणियों से अथवा 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' (सबके हितकारी, तेजस्वी व बुद्धिमान्) बनने रूप तीन कदमों से **अनुग्मन्**-प्रभु को अनुक्रमेण प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार प्राप्त करते हैं **न**-जैसे कि **नष्टं पशुम्**-नष्ट हुए-हुए पशु को **पदैः**-चरणचिह्नों से **अनुग्मन्**-पीछा करते हुए प्राप्त करते हैं। (२) **गुहा चतन्त**-(चत्=to go) बुद्धि रूप गुहा में गये हुए उस प्रभु को **उशिजः**-प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले मेधावी लोग, **नमोभिः**-नमस्कारों द्वारा व नम्रता के द्वारा **इच्छन्तः**-चाहते हुए **धीराः**-ज्ञान में रमण करनेवाले **भृगवः**-तप की अग्नि में अपने को परिपक्व बनानेवाले व्यक्ति **अविन्दन्**-प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का पूजन हृदय में होता है। यह पूजन 'उशिक्, नम्र, धीर व भृगु' बननेवाले ही करते हैं।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रित का प्रभु-दर्शन

इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन्वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य॥ ३॥

(१) **इमम्**-इस परमात्मा को **त्रितः**-(त्रीन् तनाति) ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों का विस्तार करनेवाला **भूरि**-खूब **अविन्दत्**-प्राप्त करता है अथवा (भृ-पोषण) पोषण करनेवाले के रूप में प्राप्त करता है। **इच्छन्**-प्राप्त तभी करता है जब कि वह प्रभु प्राप्ति की प्रबल इच्छावाला होता है। **वैभूवसः**-प्राप्त करनेवाला वही है जो वैभूवस है, विभूवस् का पुत्र है, अर्थात् (विभौ वसति) उस व्यापक प्रभु में वासवाला है। (२) यह उस प्रभु को **अघ्न्यायाः**-अहन्तव्य वेदवाणी के **मूर्धनि**-शिखर पर प्राप्त करता है। ऋग्वेद के द्वारा विज्ञान का अध्ययन करता हुआ यह इस सृष्टि में उस प्रभु की विभूति को देखता है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञमय जीवन बनाता हुआ अपने को पवित्र करने के लिये यत्नशील होता है और पवित्र बनकर साथ में प्रभु का उपासन करनेवाला बनता है

और अब अथर्व० में पहुँचकर अथ अर्वाङ्। अन्तः निरीक्षण करता है और (अ-थर्व) स्थितप्रज्ञ बनकर प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है, यह अथर्व ही वेदवाणी का मूर्धा है। यहाँ यह वैभूवस प्रभु को पानेवाला होता है। (३) प्रभु का दर्शन करता हुआ यह देखता है कि **स**=वे प्रभु **शेवृधः**=सुख के वर्धयिता हैं। **हर्म्येषु**=इन शरीर रूप गृहों में **आजातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **युवा**=सब बुराइयों के दूर करनेवाले और अच्छाइयों को इसके साथ जोड़नेवाले होते हैं और ये प्रभु **रोचनस्य**=देदीप्यमान ज्ञान ज्योति के **नाभिः**=(नह बन्धने) बाँधनेवाले **भवति**=हैं। प्रभु प्राप्ति का परिणाम 'सुख, भद्रता व ज्ञान' की प्राप्ति है।

भावार्थ—त्रित वैभूवस प्रभु का दर्शन करता है और सुख, भद्रता व ज्ञान का भागी होता है।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का प्रसादन

मन्द्रं होतारमुशिजो नमोभिः प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम्।
विशामकृण्वन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु ॥ ४ ॥

(१) **उशिजः**=मेधावी, प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले लोग, **नमोभिः**=नमस्कार व नम्रता के द्वारा **अकृण्वन्**=प्रभु को प्रसन्न करते हैं अथवा प्रभु को अपना बनाते हैं। ये मेधावी लोग प्रभु को तभी अपना पाते हैं जब ये **मानुषेषु दधतः**=मनुष्यों में अपने को स्थापित करते हैं। मानवहित के लिये अपने को अर्पित करनेवाले लोग ही प्रभु के सच्चे भक्त होते हैं और प्रभु प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। (२) उस प्रभु को पाते हैं जो कि **मन्द्रम्**=आनन्दस्वरूप हैं तथा भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं। **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं। सब आवश्यक वस्तुएं प्राप्त कराके ही तो वे हमारे जीवनों को आनन्दित करते हैं। **प्राञ्चम्**=(प्र अञ्च्) सब आवश्यक साधन प्राप्त कराके वे हमें आगे ले चलनेवाले हैं। **यज्ञम्**=पूजनीय हैं, संगतिकरण योग्य हैं तथा अर्पणीय हैं, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके ही मनुष्य अपने कल्याण को सिद्ध करता है। **विशां अध्वराणां नेतारम्**=प्रजाओं के सब हिंसारहित यज्ञात्मक श्रेष्ठ कर्मों का वे प्रणयन करनेवाले हैं, प्रभु कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। **अरतिम्**=वे कहीं भी रति व रागवाले नहीं हैं। **पावकम्**=अपने भक्तों के जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं। **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों के वे प्राप्त करानेवाले हैं। हमें कर्मानुसार सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले हैं। इस प्रभु को मेधावी पुरुष मानवहित में लगकर नम्रतापूर्वक चलते हुए धारण करते हैं। प्रभु-भक्त बनने के लिये 'सर्वभूतहितेरत' होना आवश्यक है।

भावार्थ—हम 'उशिक्' बनकर, मानवहित के कर्मों में अपने को स्थापित करते हुए, प्रभु को प्रसन्न करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वना'-धी (उपासनायुक्त बुद्धि व कर्म)

प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम्।
नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम् ॥ ५ ॥

(१) तृतीय मन्त्र में कहा था कि उस प्रभु को 'त्रित'=शरीर, मन व बुद्धि तीनों की शक्तियों का विकास करनेवाला व्यक्ति प्राप्त करता है प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि त्रित ही नहीं अपितु **मूराः**=अल्पज्ञ मूढ़ जीव भी, संसार में विविध अनुभवों को लेने के उपरान्त, **गर्भं नयन्तः**=अपने

हृदयदेश में प्रभु को प्राप्त कराने के हेतु से **वनां धियम्**-समजनवाली बुद्धि व कर्म को **धुः**-धारण करते हैं (वन संभक्तौ, धी-बुद्धि व कर्म) उपासना को अपनाते हैं, ज्ञानपूर्वक कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं। (२) इस उपासनामयी बुद्धि व कर्म के द्वारा वे उस प्रभु को प्राप्त करते हैं जो कि **भूः प्रजयन्तम्**-इस पृथ्वीलोक का प्रकृष्ट विजय करनेवाले हैं। यहाँ हमें जो भी विजय प्राप्त होती है वह मूल में उस प्रभु की ही विजय होती है। **महाम्**-(मह पूजायाम्) वे प्रभु ही वस्तुतः पूजा के योग्य हैं **विपोधाम्**-मेधावियों का वे धारण करनेवाले हैं। प्रभु धारण तो करते हैं, धारण के लिये ही उन्होंने 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' दी हैं। पर इनका समझदारी से प्रयोग करना ही मेधाविता है। हम नासमझी से चलेंगे तो ये ही साधन हमारे विनाश का भी कारण बन सकते हैं। **अमूरम्**-वे प्रभु अ-मूढ़ हैं, वे इस संसार में रतिवाले नहीं हो जाते। **पुरां दर्माणम्**-वे प्रभु उपासकों के इन शरीर रूप पुरों का विदारण करनेवाले हैं। 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीर ही तीन पुर हैं। इनके बन्धन से मुक्त होकर हम मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यह मोक्ष प्रभु की उपासना से ही मिलता है। वे प्रभु **हिरिश्मश्रुम्**-(श्म-शरीर) शरीर में आश्रय करनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि रूप साधनों से हमारे कष्टों का हरण करनेवाले हैं। इनका ठीक उपयोग हमें उन्नत करता हुआ दुःखों से तरानेवाला होता है। **न अर्वाणम्**-वे प्रभु किसी भी प्रकार हमारी हिंसा नहीं करते, प्रभु से दिये गये दण्ड भी हमारे कल्याण के लिये ही होते हैं। **धनर्चम्**-(धनति ऋचः, धन् to sound) वे प्रभु ऋचाओं का, विज्ञान वाणियों का उच्चारण करनेवाले हैं अथवा (धन अर्च्) जीवन के लिये आवश्यक धनों को प्राप्त कराने से भक्त का अर्चन करनेवाले हैं। ज्ञान को प्राप्त करके हम इन धनों का सदुपयोग करते हुए कभी हिंसित नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु की रक्षा के पात्र हम तभी होते हैं जबकि मेधावी-समझदार बनें। उस प्रभु की प्राप्ति के लिये 'वना धी' का धारण आवश्यक है। यह 'वना धी' उपासनायुक्त बुद्धि व कर्म है। हमारे हृदय में उपासना की वृत्ति हो, मस्तिष्क में ज्ञान व हाथों में कर्म। तभी हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रित व त्रिदण्डी

नि पुस्त्यासु त्रितः स्तभूयन्परिवीतो योनौ सीददुन्तः।
अतः संगृभ्या विशां दमूना विधर्मणायुन्त्रैरीयते नॄन्॥ ६॥

(१) **त्रितः**-'त्रीन् तरति या त्रीन् तनोति' काम-क्रोध-लोभ को जो तैर जाता है अथवा ज्ञान, कर्म व उपासना का जो विस्तार करता है अथवा शरीर, मन व बुद्धि का जो विकास करता है, **स्तभूयन्**-जो उत्पन्न सोमरूप शक्ति को शरीर में ही रोकने के लिये इच्छा करता है, **योनौ**-सब के मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **परिवीतः**-चारों ओर से व्याप्त हुआ है, प्रभु के गोद में ही मानो बैठा हुआ है, यह त्रित **पस्त्यासु अन्तः**-प्रजाओं के अन्दर **नि सीदत्**-निषपक्ष होता है। प्रजाओं के हित के लिये उन्हीं में विचरण करनेवाला होता है। (२) **अतः**-इस प्रभु से **संगृभ्या**-ज्ञान को ग्रहण करके, यह **दमूना**-दान्त मनवाला अथवा दान के मनवाला त्रित **विशाम्**-प्रजाओं के **विधर्मणा**-विशेषरूप से धारण के हेतु से **यन्त्रैः**-नियमनों के साथ, शरीर, वाणी व मन के दमन के साथ, अर्थात् इन तीनों का नियमन करता हुआ **नॄन्**-मनुष्यों को **ईयते**-प्राप्त होता है। उसका नियमित जीवन लोगों के लिये उत्तम उदाहरण को उपस्थित करता है। (३) यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिसने लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होना हो उसे (क) 'त्रित' होना चाहिए,

काम-क्रोध-लोभ से ऊपर तथा ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों को अपनानेवाला, (ख) यह स्तभूयन् हो, शक्ति का शरीर में ही स्तम्भन करे। अशक्त शक्ति ने क्या लोकहित करना, (ग) योनौ परिवीतः-यह प्रभु के आश्रय से रहनेवाला हो। यह प्रभु का सान्निध्य उसे निर्भीक बनाता है। (घ) दमूनाः-यह दान्त मनवाला व दान की वृत्तिवाला हो। लोभ लोकहित का विरोधी है। (ङ) यन्त्रैः-यह शरीर, वाणी व मन तीनों का नियमन करे, त्रिदण्डी हो।

भावार्थ—हम हित बनकर लोकहित के कार्यों में व्याप्त हों।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गुणों का दशक

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः ॥ ७ ॥

(१) **अस्य**-इस प्रभु के व्यक्ति, अर्थात् जो प्रभु-प्रवण बने रहते हैं, प्रकृति में उलझते नहीं, वे **अजरासः**-अजीर्ण शक्तिवाले होते हैं ये 'वृद्ध' बनते हैं नकि 'जरन्'। इनकी शक्ति बढ़ती है, जीर्ण नहीं होती। (२) **दमाम्**-दमन करनेवाली वासनाओं के **अरि-त्राः**-प्रति ये 'ऋ गतौ' जानेवाले उनपर आक्रमण करनेवाले और अपना त्राण करनेवाले होते हैं। (३) **अर्चद्धूमासः**-ये प्रभु का अर्चन करते हैं और वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। प्रभु का अर्चन इनकी वासनाओं को दूर करता है। (४) वासनाओं को दूर करके ये **अग्नयः**-प्रगतिशील होते हैं और **पावकाः**-अपने जीवन को पवित्र करनेवाले होते हैं। (५) **श्वितीचयः**-'श्वितिं चिन्वन्ति' शुद्ध कर्मों का ही ये सञ्चय करते हैं 'श्विति-अञ्च्' शुक्ल मार्ग से जानेवाले होते हैं। (६) **श्वात्रासः**-(श्वात्राः शिवाः श० ३।९-४।१६) ये शिव व कल्याण ही करनेवाले होते हैं। ('श्वात्रं धनम्' नि० २।१०) ये ज्ञानधनवाले होते हैं। (७) **भुरण्यवः**-ये सबका भरण करनेवाले होते हैं। (८) **वनर्षदः**-(वन-उपासना, सद्-बैठना) ये सदा उपासना में आसीन होनेवाले हैं, प्रभु का स्मरण करते हुए ही ये विविध कार्यों में व्यापृत रहते हैं। (९) **वायवः न**-ये वायुओं की तरह होते हैं, सतत क्रियाशील होते हैं, ये कभी अकर्मण्य नहीं होते। (१०) सदा उत्तम कर्मों में लगे हुए ये लोगों से आदर को प्राप्त करते हैं, परन्तु **सोमाः**-अत्यन्त सौम्य स्वभाववाले होते हैं, शान्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्रवण लोगों का जीवन अजीर्ण शक्तियोंवाला व अत्यन्त शान्त व सौम्य होता है।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेप व अग्नि

प्र जिह्वया भरते वेपो अग्निः प्र वयुनानि चेतसा पृथिव्याः।
तमायवः शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होतारं दधिरे यजिष्ठम् ॥ ८ ॥

(१) 'धूञ् कम्पने' धातु से 'धूम' शब्द बनता है, शत्रुओं को कम्पित करनेवाला। उसी का पर्यायवाची 'वेप' शब्द है, यह 'वेप् कम्पने' से बना है। यह **वेपः**-कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला **अग्निः**-अग्रणी, प्रगतिशील पुरुष **जिह्वया**-अपनी जिह्वा से **प्रभरते**-प्रभु के नामों को धारण करता है। वस्तुतः प्रभु-स्तवन करता हुआ ही यह कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगाता है। (२) यह वेप **चेतसा**-चित्त से **वयुनानि** (वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा

नि० ५।१५) प्रज्ञानों को तथा **पृथिव्याः**-(पृथिवी शरीरम्) शरीर से स्वास्थ्यजनित कान्ति को **प्र** (भरते)-धारण करता है। कामादि शत्रुओं के दूर होने पर ज्ञान का आवरण नष्ट होता है और ज्ञान की दीप्ति तो चमक ही उठती है, शरीर के स्वास्थ्य की उन्नति से शरीर भी कान्तिमय हो जाता है। (३) **आयवः**-ये (इ-गतौ) प्रगतिशील पुरुष **तम्**-उस प्रभु को **दधिरे**-धारण करते हैं, जो प्रभु **शुचयन्तम्**-(शुच् दीप्तौ) अपने भक्तों को ज्ञान से दीप्त करते हैं, **पावकम्**-पवित्र करनेवाले हैं, **मन्द्रम्**-आनन्दस्वरूप व आनन्द को देनेवाले हैं, **होतारम्**-सब कुछ प्राप्त कराते हैं, (सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं) तथा **यजिष्ठम्**-अत्यन्त पूज्य हैं (यज्-पूजा)। यह प्रभु का पूजन ही वस्तुतः भक्त को 'वेप व अग्नि' बनने की क्षमता प्रदान करता है।

भावार्थ—हम प्रभु-भजन करते हुए, काम को कम्पित करके, उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्वष्टा व भृगु

द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्ठामापस्त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः।
ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम् ॥ ९ ॥

(१) **यम्**-जिस **अग्निम्**-अग्रणी प्रभु को **द्यावापृथिवी**-द्युलोक व पृथिवीलोक **जनिष्टाम्**-प्रादुर्भूत करते हैं, व्यक्त करते हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक में क्रमशः सूर्य, चन्द्र, तारे व सागर उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ये प्रभु की विभूतियाँ हैं। **आपः**-ये जल भी उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। जल 'अम्लजन', जो ज्वलन की पोषक वायु है, 'उद्रजन', जो ज्वलनशील है, इन वायुओं में विद्युत् के प्रवेश से उत्पन्न होता है। इस प्रकार उष्ण अग्नि से यह अत्यन्त शान्त जल उत्पन्न हो जाता है। इसका विचार करते ही प्रभु की महिमा का स्मरण होने लगता है, इन जलों में वह प्रभु दिखने लगता है। (२) प्रभु वे हैं **यम्**-जिनको **त्वष्टा**-'तूर्णमश्नुते नि० ८।१४' शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला व्यक्ति, 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' नि० ८।१४ सर्वतः विद्या से दीप्त पुरुष (द० ५।३१।४) 'त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः ८।१४ नि०' अपनी बुद्धि को सूक्ष्म करनेवाला पुरुष तथा **भृगवः**-(भ्रस्ज पाके) तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले पुरुष **सहोभिः**-अपने में **सहस्**-सहनशक्ति के रूप में प्रकट होनेवाले बल के द्वारा प्रकट करते हैं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' निर्बलों के द्वारा वे प्रभु प्राप्य नहीं। (३) इस **ईडेन्यम्**-स्तुति के योग्य **प्रथमम्**-'प्रथविस्तारे' सर्वव्यापक **यजत्रम्**-पूजनीय प्रभु को **मातरिश्वा**-वायु तथा **देवाः**-अन्य देव **मनवे**-ज्ञानशील पुरुष के लिये **ततक्षुः**-प्रकट करते हैं। मननशील विचारक लोग ही प्रभु का दर्शन करते हैं। इस दर्शन में वायु उनका सहायक होता है। यह वायु शरीर में 'प्राण' है। प्राणसाधना प्रभु-दर्शन का प्रमुख साधन है। यह चित्तवृत्ति का निरोध करके हमारी वृत्ति को पवित्र बनाती है। वस्तुतः सब दिव्यगुणों का विकास भी इस प्राणसाधना से ही होता है। ये दिव्यगुण ही देव हैं। देव हमें परमात्मा के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक व जलों में ज्ञानी तपस्वी लोग प्रभु-महिमा का दर्शन करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा उत्पन्न दिव्यगुण इन्हें परमात्मा के समीप ले जाते हैं।

ऋषिः—वत्सप्रिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देव पुरुस्पृह व मानुष

यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम्।
स यामन्नग्ने स्तुवते वयो धाः प्र देवयन्यशसः सं हि पूर्वीः ॥ १० ॥

(१) यम्-जिस हव्यवाहम्-हव्य (अचुमई (द०) ६।१।१० ऋ) पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, शरीरधारणरूप यज्ञ में आहुति देने योग्य पदार्थों को देनेवाले, यजत्रम्-पूजनीय त्वा-आपको देवाः-दिव्यगुणों की वृत्तिवाले, पुरुस्पृहः-प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले, मानुषासः-मननशील दयालु पुरुष दधिरे-धारण करनेवाले होते हैं। (२) स-वे अग्ने-हे अग्रणी प्रभो! आप यामन्-इस जीवनयात्रा में स्तुवते-स्तुति करनेवाले के लिये वयः-उत्कृष्ट अन्न व जीवन को धाः-धारण करते हैं। आप अपने भक्त को उत्तम अन्न देते हैं, उस उत्तम अन्न से उसका जीवन उत्तम बनता है। (३) हे प्रभो! प्रदेवयन्-प्रकृष्ट दिव्यगुणों व दिव्यगुणों के पुञ्ज आपकी कामनावाला व्यक्ति हि-निश्चय से पूर्वीः यशसः-बहुत ही यशों को सं (दधे)-धारण करता है, यशस्वी जीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु को 'देव, पुरुस्पृह व मानुष' धारण करते हैं। ये उत्तम जीवन व यशोंवाले होते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रभु सर्वमहान् होता है, (१) इस प्रभु का पूजन हृदय में होता है, (२) त्रित—ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाला इस प्रभु का दर्शन करता है, (३) मानवहित में तत्पर त्रैधानी पुरुष प्रभु का प्रसादन करता है, (४) प्रभु की प्राप्ति के लिये उपासनायुक्त बुद्धि का धारण आवश्यक है, (५) हम त्रित बनकर लोकहित के कार्यों में व्यापृत हों, (६) प्रभु प्रवण लोगों का जीवन अजीर्ण शक्तिवाला होता है, (७) ये प्रभु भजन करते हुए, काम को कम्पित करके, उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हैं, (८) प्राणसाधना से उत्पन्न दिव्यगुण इन्हें परमात्मा के समीप ले जाते हैं, (९) इस प्रकार ये उत्तम व यशस्वी जीवनवाले होते हैं, (१०) इनकी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में उत्तमता से व्यापृत होती हैं। सो ये 'सप्तगु'-स्वर्णशील इन्द्रियोंवाले कहाते हैं और अजीर्ण शक्तिवाले होने से ये 'आंगिरस' हैं। यह 'सप्तगु आंगिरस' अग्रिम सूक्त का ऋषि है और प्रार्थना करता है कि—

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वसुपति-गोपति

जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ १ ॥

(१) हे वसूनां-वसुओं के वसुपते-उत्तम धनों के स्वामिन्! इन्द्र-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! वसूयवः-वसुओं की कामनावाले हम ते-आपके दक्षिणं हस्तम्-दाहिने हाथ को जगृभ्मा-ग्रहण करते हैं। आपका ही आश्रय करते हैं, आपका आश्रय ही हमें सब वसुओं का देनेवाला होगा। ये वसु हमारे इस जीवन के निवास को उत्तम बनायेंगे। (२) हे शूर-सब हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! हम त्वा-आपको हि-निश्चय से गोनां गोपतिम्-उत्तम गौवों के पति के रूप में विद्मा-जानते हैं। इन उत्तम गौवों को तो आप हमें प्राप्त कराते ही हैं। अध्यात्म में ये गौवें 'इन्द्रियाँ' हैं। आपकी कृपा से हमें निर्दोष इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। (३) इन निर्दोष इन्द्रियों को प्राप्त कराके आप अस्मभ्यम्-हमारे लिये रयिं दाः-उस धन को दीजिये जो चित्रम्-(चित् र) हमें ज्ञान को देनेवाला है और वृषणम्-हमें शक्तिशाली बनानेवाला है। धन हमारे ज्ञान व बल का वर्धन करनेवाला हो। ज्ञान व शक्ति के प्रतिकूल न हो। धन जब हमारी वैषयिक वृत्ति के बढ़ने में सहायक होता है तो यह हमारे ज्ञान व बल का ह्रास करनेवाला हो जाता है। यह हमें निधन

की ओर ले जा रहा होता है। ऐसा धन त्याज्य है, अर्थ न होकर अनर्थ है। ज्ञान व शक्ति का वर्धक धन हमारे जीवन को धन्य बना देता है। यही धन यह 'सप्तगु आंगिरस' चाहता है, वस्तुतः इस धन से ही वह 'सप्तगु आंगिरस'-ज्ञानी व सशक्त बनता है।

भावार्थ—वसुपति प्रभु हमें वह वसु दें जिससे कि हम ज्ञान व शक्ति का वर्धन करके 'सप्तगु आंगिरस' बन पायें।

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कैसी सन्तान?

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**-हमारे लिये **रयिम्**-(पुत्राख्यं रयिं) पुत्ररूप धन को **दाः**-दीजिये। जो पुत्र (क) **स्वायुधम्**-उत्तम आयुधोंवाला है। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आयुध हैं, ये तीनों जिनके उत्तम हैं वे 'स्वायुध' हैं। (ख) **स्ववसं** (सु अवसम्)-जो उत्तमता से अपना रक्षण करता है। वस्तुतः रोगों व वासनाओं से अपने को न आक्रान्त होने देने के द्वारा ही वे 'स्वायुध' बने हैं। (ग) **सुनीथम्**-उत्तम मार्ग से चलनेवाले पुत्र को (घ) **चतुः समुद्रम्**-वेदज्ञान के समुद्र हैं (रायः समुद्रांश्चतुरः) जो चारों ज्ञान-समुद्रोंवाला है (चत्वारः समुद्राः यस्य) जो ऋग्वेद के द्वारा प्रकृति के ज्ञान को, यजु के द्वारा जीवन के कर्त्तव्यों के ज्ञान को तथा साम द्वारा प्रभु की उपासना के ज्ञान को प्राप्त करके अथर्व से आयुर्वेद व युद्धविद्या का भी ज्ञान प्राप्त करता है। (ङ) **रयीणां धरुणम्**-हमें उस सन्तान को दीजिये जो कि धनों का धारण करनेवाला है, जो संसार व्यवहार को चलाने के लिये धनार्जन की क्षमता रखता है। (च) **चर्कृत्यम्**-(कर्तव्येषु कार्येषु साधुम् द० १।६४।१४) जो कर्त्तव्य कर्मों को उत्तमता से करता है, (छ) **शंस्यम्**-जो प्रभु के शंसन व स्तवन में उत्तम है, (ज) **भूरिवारम्**-जो बहुतों से चाहने योग्य है, अर्थात् जो अपने स्वार्थ में ही फँसा न रहकर बहुतों का हित करता है और अतएव बहुतों से चाहने योग्य होता है। (झ) **चित्रम्**-ज्ञान का देनेवाला है और (ञ) **वृषणम्**-शक्तिशाली है।

भावार्थ—हमें मन्त्रोक्त दश गुणों से सम्पन्न सन्तान प्राप्त हों।

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

निरभिमान

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मभ्यम्**-हमारे लिये **रयिं दाः**-पुत्र नामक धन को दीजिये। उस पुत्र को जो (क) **सुब्रह्माणम्**-उत्कृष्ट स्तोत्रोंवाला है उत्तम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु का स्तवन करनेवाला है। (ख) **देववन्तम्**-उत्तम दिव्यगुणोंवाला है, (ग) **बृहन्तम्**-बढ़ी हुई शक्तियोंवाला है, (घ) **उरुम्**-विशाल हृदय है, (ङ) **गभीरम्**-गम्भीर प्रकृति का है, (च) **पृथुबुध्नम्**-जो विस्तीर्ण मूलवाला है। धर्मार्थ काम मोक्षों का आरोग्य ही उत्तम मूल है, यह आरोग्य जिसका खूब विस्तृत है, अर्थात् जिसके सब अंग-प्रत्यंग स्वस्थ हैं। (छ) **श्रुतऋषिम्**-जो वेद मन्त्रों का श्रवण करनेवाला है (ऋषिः वेदः) ज्ञान की रुचिवाला है। (ज) **उग्रम्**-तेजस्वी है, (झ) **अभिमातिषाहम्**-अभिमान रूप शत्रु का पराभव करनेवाला है, निरभिमान है। (ञ) **चित्रम्**-ज्ञान

देनेवाला है और **वृषणम्**-शक्तिशाली है व औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाला है।

भावार्थ—हमारे सन्तान मन्त्र वर्णित ग्यारह विशेषणों से विशिष्ट हों।

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्तिशाली व ज्ञानी

सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मभ्यम्**-हमारे लिये **रयिं दाः**-पुत्ररूप धन को दीजिये। उस पुत्र रूप धन को जो कि (क) **सनद्वाजम्**-शक्ति को प्राप्त करनेवाला है (वाज-शक्ति सन्-संभजन), (ख) **विप्रवीरम्**-विप्रों में वीर है, अत्यन्त मेधावी है, (ग) **तरुत्रम्**-विघ्नों को तैर जानेवाला है, (घ) **धनस्पृतम्**-धनों का पूरक व धनों का स्रष्टा है, (ङ) **शूशुवांसम्**-सदा वर्धमान है, अपनी शक्तियों का वर्धन करनेवाला है, (च) **सुदक्षम्**-उत्तम दक्षतावाला है, कार्यों को कुशलता से करनेवाला है अथवा उत्तम बलवाला है, (छ) **दस्युहनम्**-दस्युओं का नाश करनेवाला है, (ज) **पूर्भिदम्**-शरीररूपी नगरियों का विदारण करनेवाला है, मोक्ष के लिये प्रयत्नशील है, (झ) **सत्यम्**-सत्कर्मों में व्यापृत होनेवाला है अथवा सत्य का पालन करनेवाला है, (ञ) **चित्रम्**-ज्ञान का देनेवाला है तथा (२) **वृषणम्**-शक्तिशाली व दूसरों पर सुखों का वर्षण करनेवाला है।

भावार्थ—हमें शक्तिशाली व मेधावी पुत्र की प्राप्ति हो।

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम शरीर व इन्द्रियोंवाला

अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मभ्यम्**-हमारे लिये **रयिं दाः**-पुत्ररूप धन दीजिए। जो पुत्र (क) **अश्वावन्तम्**-इन्द्रियरूप उत्तम अश्वोंवाला है। (ख) **रथिनम्**-जिस का शरीर रूप रथ प्रशस्त है, (ग) **वीरवन्तम्**-जो प्रशस्त वीरतावाला है, (घ) **सहस्रिणम्**-(स-हस्) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला अथवा smiliny face वाला है, हँसते हुए चेहरेवाला है (ईषत् हास्य युक्त है), (ङ) **शतिनम्**-सौ वर्ष तक के जीवन को प्राप्त करनेवाला है, (च) **वाजम्**-शक्ति का पुञ्ज है, (छ) **भद्रव्रातम्**-जिसके सभी गण भद्र हैं, शरीर के पञ्चभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा अन्तःकरण पंचक ये सभी उत्तम हैं। (ज) **विश्ववीरम्**-विप्रों में वीर है, (झ) **स्वर्षाम्**-प्रकाश का सेवन करनेवाला है अथवा सब के साथ बाँटकर खानेवाला है। (ञ) **चित्रम्**-ज्ञान का देनेवाला है और (ट) **वृषणम्**-शक्तिशाली है व सुखों का वर्षण करनेवाला है।

भावार्थ—हमारे सन्तान उत्तम शरीर व इन्द्रियोंवाले हों।

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमेध व विनीत

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ६ ॥

(१) **मतिः**=मेरी बुद्धि या विचार **अच्छा**=उस सन्तान की ओर **प्रजिगाति**=जाता है जो कि (क) **सप्तगुम्**=(सर्प=सर्पणशील) सर्पणशील इन्द्रियोंवाला है, जिसकी इन्द्रियाँ ठीक कार्य करती हैं, जीर्ण नहीं हो जाती। (ख) **ऋतधीतिम्**=(सत्यकर्माणम्) जिसके कर्म सत्य व उत्तम हैं। (ग) **सुमेधाम्**=जो उत्तम बुद्धिवाला है, (घ) **बृहस्पतिम्**=जो विशाल हृदय का पति है, संकुचित हृदय नहीं है। (ङ) **यः आंगिरसः**=जो अंग-अंग में रसवाला है, जिसका शरीर शीर्ण-शक्ति होकर सूखे काठ की तरह नहीं हो गया, (च) **नमसा उपसद्यः**=जो नम्रता के साथ बड़ों के समीप प्राप्त होनेवाला है। (२) हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **चित्रम्**=ज्ञान के देनेवाले, ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञान का प्रसार करनेवाले **वृषणम्**=शक्तिशाली व सुखों का वर्षण करनेवाले **रयिम्**=पुत्र नामक धन को **दाः**=दीजिये।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें सुमेध बुद्धि व विनीत सन्तान प्राप्त हो।

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तवन का सन्तान पर प्रभाव

वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ७ ॥

(१) **मम स्तोमाः**=मेरे स्तवन **इन्द्रं चरन्ति**=प्रभु को प्राप्त होते हैं। वे स्तवन जो कि (क) **वनीवानः**=सम्भजनवाले हैं, प्रभु का उपासन करनेवाले हैं, (ख) **दूतासः**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करनेवाले हैं अथवा प्रभु के सन्देश को मेरे तक पहुँचानेवाले हैं तथा (ग) **सुमतीः**=कल्याणी मतियों को **इयानाः**=प्राप्त करानेवाले हैं। (घ) **हृदिस्पृशः**=हृदय स्पर्शी हैं, हृदय को प्रभावित करनेवाले हैं। (ङ) **मनसा वच्यमानाः**=मन से बोलने जा रहे हैं। ये स्तोत्र 'यान्त्रिक रूप में वाणी से उच्चारित होते जाते हों' ऐसी बात नहीं, अर्थ चिन्तन के साथ ये मन से बोले जा रहे हैं। ऐसा होने पर ही ये हृदय को प्रभावित करते हैं। (२) ऐसे स्तवनों के होने पर ही उत्तम सन्तान प्राप्त होती है और तभी हम इस प्रार्थना के अधिकारी होते हैं कि **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं दाः**=उस पुत्राख्य धन को दीजिये जो कि **चित्रम्**=ज्ञानी बनकर ज्ञान का देनेवाला हो और **वृषणम्**=शक्तिशाली हो।

भावार्थ—जिस घर में प्रभु का स्तवन चलता है, वहाँ अवश्य सन्तान उत्तम होती है।

ऋषिः—सप्तगुः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विशाल-हृदयता

यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **त्वा यामि**=(याचामि) आप से हम प्रार्थना करते हैं **नः**=हमें **तत्**=वह **दद्धि**=दीजिये। हम चाहते हैं कि आप हमें **बृहन्तं क्षयम्**=एक विशाल निवास-स्थान दें, **जनानां असमम्**=ऐसा विशाल जिसके कि समान औरों का है ही नहीं, यहाँ भौतिक दृष्टिकोण से घर की विशालता का संकेत तो लगता ही है, पर वैदिक साहित्य में इस बाह्य दृष्टि से विशाल घर का इतना महत्त्व नहीं है जितना कि घर में रहनेवाले व्यक्तियों के हृदयों की विशालता का। छठे मन्त्र में 'बृहस्पतिम्' शब्द द्वारा उसका आभास दिया जा चुका है। जिस घर में उदार हृदय पुरुषों का वास है वह घर विशाल ही है। (२) इस प्रकार यह घर उदार हृदयवाले

व्यक्तियों से युक्त हो कि तद्-उसे **द्यावापृथिवी**-द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी व्यक्ति **अभिगृणीताम्**-स्तुत करें, सभी उस घर की प्रशंसा करें। (३) इस प्रकार विशाल हृदयता को अपनानेवाले **अस्मभ्यम्**-हमारे लिये रयिं दाः-उस पुत्राख्य धन को दीजिये जो कि **चित्रम्**-खूब ही ज्ञानी बनकर ज्ञान का देनेवाला बने तथा **वृषणम्**-शक्तिशाली हो।

भावार्थ—हमारे घर विशाल हृदयवाले पुरुषों से युक्त हों जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम हों।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि वे प्रभु वसुपति व गोपति हैं, (१) वे हमें क्रियाशील-प्रभु-पूजक सन्तान दें, (२) वह सन्तान जो कि निरभिमान हो, (३) शक्तिशाली व ज्ञानी हो, (४) उत्तम शरीर व इन्द्रियोंवाला हो, (५) सुमेध व विनीत हो, (६) ऐसे सन्तानों की प्राप्ति के लिये हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें, (७) और विशाल हृदय हों, (८) ऐसा होने पर लोग बुद्धि के दृष्टिकोण से 'वैकुण्ठ' कुण्ठात्व शून्य बुद्धिवाले होंगे (विगता कुण्ठा यस्य) तीव्र बुद्धि होने के साथ वे इन्द्र-शक्तिशाली होंगे। यह 'वैकुण्ठ इन्द्र' ही अग्रिम सूक्त का ऋषि है तथा सर्वमहान् ''वैकुण्ठ इन्द्र'' प्रभु ही सूक्त के देवता हैं—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

लक्ष्मी-पति 'विष्णु'

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥ १ ॥

(१) प्रभु अपने पुत्र 'वैकुण्ठ इन्द्र' से कहते हैं कि **अहम्**-मैं **वसुनः**-सम्पूर्ण धन का **पूर्व्यः पतिः**-मुख्य स्वामी **भुवम्**-हूँ। जीव अल्पज्ञता के कारण अपने को धनों का स्वामी मान बैठता है। प्रभु कहते हैं कि मैं ही **शश्वतः**-सनातन काल से **धनानि**-इन धनों का **संजयामि**-विजय करता हूँ। जीव को हम धनों के विजय का गर्व व्यर्थ ही में हो जाता है। विजेता प्रभु हैं। (२) प्रभु को लोग सामान्यतः उसी प्रकार भूले रहते हैं जैसे कि बच्चा माता-पिता को, खेल में मस्त होने के कारण भूला रहता है। पर भूख लगने पर उसे माँ का स्मरण होता है, वह माता की ओर दौड़ता है। इसी प्रकार **जन्तवः**-प्राणी **मां हवन्ते**-कष्ट आने पर मुझे पुकारते हैं **पितरं न**-जैसे पुत्र पिता को पुकारते हैं। इस प्रकार पुकारा गया **अहम्**-मैं ही **दाशुषे**-अपना मेरे प्रति अर्पण करनेवाले के लिये **भोजनम्**-भोजन को **विभजामि**-विभाग पूर्वक प्राप्त कराता हूँ। उसके लिये आवश्यक भोजन को उसे देता हूँ।

भावार्थ—धनों के स्वामी व विजेता प्रभु हैं। हम पुत्रों को प्रभु आवश्यक भोजन प्राप्त कराते ही हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु रोध हैं-वक्ष हैं

अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन्दधीचे मातरिश्वने॥ २ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **अहम्**-मैं **इन्द्रः**-सब असुरों का संहार करनेवाला हूँ। प्रभु हमारे हृदय में आसीन होते हैं, तो वहाँ आसुर वृत्तियों का उदय नहीं होता। परमात्मा कामदेव आसुर वृत्तियों (२) इस प्रकार को भस्म करके ये प्रभु **रोधः**-हमारे शरीर में सोम (वीर्य) शक्ति का

निरोध करनेवाले हैं। वासना ही तो सोम की नाशक थी। (२) मैं **अथर्वणः**=(अ-थर्व) स्थिर बुद्धिवाले पुरुष या जिसकी बुद्धि वासनाओं से आन्दोलित नहीं होती उस (अथ अर्वाङ्) आत्मालोचन करनेवाले पुरुष की **वक्षः**=(wax) उन्नति करनेवाला हूँ, बढ़ानेवाला हूँ। (३) मैं ही **त्रताय**=काम-क्रोध-लोभ से तैरनेवाले अथवा 'धर्मार्थ काम' तीन पुरुषार्थों का समान रूप से विस्तार करनेवाले पुरुष के लिये **अहेः**=(आहन्ति) इन्द्रियों पर आक्रमण करनेवाले वृत्र से छुड़ाकर **गाः**=इन्द्रियों को **अधि अजनयम्**=आधिक्येन विकसित शक्तिवाला करता हूँ। वासना ने ही इन्द्रियों को जीर्ण-शक्ति किया हुआ था। यह वासना ही यहाँ 'अहि' कही गयी है। इससे मुक्त करके प्रभु हमारी इन्द्रियों को अजीर्ण शक्तिवाला करते हैं। (४) संसार में जो लोग वासना के वशीभूत होकर औरों को विनष्ट करके धनार्जन करते हैं, उन **दस्युभ्यः**=दस्युओं से **अहम्**=मैं (प्रभु) **नृम्णम्**=धन को **परि आददे**=छीन लेता हूँ। थोड़ी देर तक फल-फूलकर ये दस्यु लोग समूल विनष्ट हो जाते हैं। (५) प्रभु कहते हैं कि मैं ही **गोत्राः**=ज्ञान की वाणियों को **शिक्षन्**=सिखाता हूँ। उसे सिखाता हूँ जो कि **दधीचे**=(ध्यानं प्रत्यक्तः) ध्यानशील है तथा **मातरिश्वने**=(मातरिश्वा-वायु=प्राण) प्राणसाधना करनेवाला है अथवा (मातरि, श्वि) वेदमाता में गति व वृद्धिवाला है। ज्ञान-रुचि ध्यानी पुरुष को प्रभु ही ज्ञान की वाणियों का शिक्षण करते हैं। इनके शिक्षण से दास्यव वृत्ति का समूलोन्मूलन हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं को नष्ट करके हमें अजीर्ण शक्तिवाला करते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ **देवता**—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ **छन्दः**—पादनिचृज्जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

कर्म द्वारा प्रभु प्राप्ति

मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **मह्यम्**=मेरे लिये, अर्थात् मेरी प्राप्ति के लिये **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः नि०) ज्ञान से अपने को दीप्त करनेवाला भक्त **आयसं वज्रम्**=लोहे के बने हुए वज्र को **अतक्षत्**=बनाता है। 'वज्र' का अर्थ है क्रियाशीलता (वज गतौ) 'आयस' का अभिप्राय है अनथक क्रियाशीलता। 'इसकी टांगें तो मानो लोहे की बनी हुई हैं' इस वाक्य प्रयोग में यह भाव स्पष्ट है। प्रभु की प्राप्ति के लिये जहाँ ज्ञान आवश्यक है, वहाँ क्रियाशीलता नितान्त आवश्यक है। अकर्मण्य जीवनवाला प्रभु को कभी नहीं प्राप्त होता। (२) **मयि**=मेरे में **देवासः**=देववृत्ति के लोग **क्रतुम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को **अवृजन्**=छोड़ते हैं। अर्थात् वे कर्म करते हैं और उन कर्मों को मेरे अर्पण करते चलते हैं, (३) **मम**=मेरा **अनीकम्**=तेज **सूर्यस्य इव**=सूर्य के तेज की तरह **दुष्टरम्**=दुस्तर है। जैसे सूर्य के तेज का रोग-कृमियों से पराभव नहीं होता, इसी प्रकार प्रभु के तेज को वासनाएँ आक्रान्त नहीं कर पातीं। जिस हृदय में प्रभु का वास है, वहाँ वासना का प्रवेश नहीं। प्रभु के तेज में वासनाएँ विदग्ध हो जाती हैं। (४) **माम्**=मुझे ये ज्ञानी भक्त **आर्यन्ति**=प्राप्त होते हैं, **कृतेन**=अब तक किये हुए कर्मों से **च**=और **कर्त्वेन**=आगे किये जानेवाले कर्मों से। कर्म से ही प्रभु का पूजन होता है। यह कर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन ही हमें मोक्ष को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु का पूजन कर्मों से ही होता है। यही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है, 'कर्म करना, पर उसका गर्व न करना'।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सोमासः उक्थिनः (सौम्य स्तोता)

अहमेतं गव्ययमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सायकेना हिरण्ययम्।
पुरू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः ॥ ४ ॥

(१) अहम्-मैं एतम्-इस पशुम्-प्राणी को, जो प्रारम्भ में पशुओं के समान ही है, इस पशु-तुल्य मनुष्य को सायकेन-(षोऽन्तकर्मणि) वासनाओं का अन्त करने के द्वारा गव्यम्-उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला (गौः=ज्ञानेन्द्रिय), अश्वयम्-उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला, पुरीषिणम्-रेतस् के रूप से शरीर में रहनेवाले जलवाला, हिरण्यम्-ज्योतिर्मय-ज्ञान की ज्योतिवाला करता हूँ। प्रभु के उपासन से पूर्व पुरुष एक पशु की तरह ही होता है। उपासना उसकी (क) ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाती है, (ख) कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है, (ग) उसको शरीर में रेतस् की ऊर्ध्वगति के लिये समर्थ करती है और (घ) उसकी ज्ञान-ज्योति को बढ़ाती है। इस प्रकार यह पशु-स्थिति से ऊपर उठकर उत्तम मनुष्य बनता हुआ देव कोटि में प्रवेश करता है। (२) यह देव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, इसी से यह 'दाश्वान्' कहलाता है। इस दाशुषे-प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये पुरु सहस्रा-शरीर का पालन व पूरण करनेवाले (पुरु-पृ) शतशः अवयवों को निशिशामि-तीव्र शक्तिवाला करता हूँ। इस प्रभु भक्त के सब अंग अपना-अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ होते हैं, इसका शरीर विकारों से रहित होता है। प्रत्येक अंग सुसंस्कृत होता है। (३) यह सब होना तभी है यत्-जब कि सोमासः-सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले उक्थिनः-स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले लोग मा-मुझे अमन्दिषुः-प्रसन्न करते हैं। वस्तुतः जैसे पुत्र वही है जो अपने सुचरितों से पिता को प्रीणित करे, इसी प्रकार प्रभु का प्रिय वही है जो (क) सोम शक्ति का रक्षण करके सौम्य स्वभाववाला बनता है तथा वाणी से प्रभु के स्तोत्रों का ही उच्चारण करता है। उसकी वाणी व्यर्थ के शब्दों का उच्चारण नहीं करती।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें पशु से देव बना देती है। इससे हमारा एक-एक अंग निर्विकार हो जाता है।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु मित्र, नकि धन मित्र

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥ ५ ॥

(१) अहम्-मैं इन्द्रः-परमैश्वर्यशाली हूँ। इत्-निश्चय से धनम्-अपने ऐश्वर्य को न पराजिग्ये-मैं पराभूत नहीं करवाता। मेरे ऐश्वर्य का कोई पराभव नहीं कर सकता। मैं कदाचन-कभी भी मृत्यवे-मृत्यु के लिये न अवतस्थे-स्थित नहीं होता। सामान्यतः ऐश्वर्य मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है और उसके विनाश का कारण बनता है। परन्तु यह ऐश्वर्य प्रभु के विनाश का कारण नहीं बनता। प्रभु-भक्त भी इस धन से निधन की ओर नहीं जाता। (२) हे पूरवः-मनुष्यो! इत्-निश्चय से सोमं सुन्वन्तः-अपने शरीर में सोम का सम्पादन करते हुए मा-मेरे से वसु-निवास के लिये आवश्यक धन की याचता-याचना करो। निवास के लिये आवश्यक धन ही 'धन' है। बाकी सब तो 'निधन' का कारण बनता है। धन का मित्र बनने की अपेक्षा हम प्रभु के मित्र बनें। हे पूरवः-मनुष्यो! मे सख्ये-मेरी मित्रता में न रिषाथन-तुम्हारी हिंसा नहीं होती। प्रभु-भक्त

वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—धन के पति प्रभु हैं, हम प्रभु से ही जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त धन की याचना करें। हम धन-मित्र न बनकर प्रभु मित्र बनें।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

कामादि शत्रुओं का हनन

अहमेताञ्छाश्वसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः॥६॥

(१) हमारे जीवन के महान् शत्रु 'काम-क्रोध, लोभ-मोह व मद-मत्सर' हैं। काम से क्रोध उत्पन्न होता है और इस प्रकार ये इकट्ठे चलते हैं। लोभ से मोह व वैचित्य (ज्ञान का नाश) होता है और ये दोनों मिलकर रहते हैं। मद व अभिमान के आने पर ही मात्सर्य (=ईर्ष्या) होने लगती है, यह इनका द्वन्द्व है। ये खूब फुंकार मारते हुए, बड़ी प्रबलता से हमारे पर आक्रमण करते हैं। उस समय प्रभु ही इनका नाश करनेवाले होते हैं। यही प्रभु-मित्रता का लाभ है। प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **एतान्**=इन **शाश्वसतः**=आक्रमण के समय प्रबल श्वास लेते हुए अथवा अत्यन्त प्रबल **द्वा द्वा**=दो-दो में चलानेवाले काम-क्रोध आदि को **अवाहनम्**=सुदूर विनष्ट कर देता हूँ। वस्तुतः हम इन कामादि को पराजित नहीं कर पाते, प्रभु ही इनका संहार करते हैं। कामदेव वेदज्ञान से ही भस्म किया जाता है। (२) ये शत्रु वे हैं **ये**=जो **वज्रम्**=(वज गतौ) गतिशीलता रूप वज्र को हाथ में लिये हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र (आत्मा) को भी **युधये अकृण्वत्**=युद्ध के लिये करते हैं। उसके साथ भी युद्ध करना चाहते हैं। **आह्वयमानान्**=ये इन्द्र को युद्ध के लिये आह्वान देते लगते हैं। **दृळ्हा**=ये अत्यन्त प्रबल हैं। (३) परन्तु कितने भी ये प्रबल हों, जीव के लिये ही इनकी प्रबलता है, परमात्मा के सामने इनकी क्या शक्ति? प्रभु कहते हैं कि **अनमस्युः**=इनके सामने न झुकनेवाला मैं **नमस्विनः**=मेरे तेज के सामने नतमस्तक इन कामादि को **हन्मना**=हनन के साधनभूत वज्र से नष्ट कर देता हूँ। कैसा मैं? **वदन्**=जीवात्मा के लिये ज्ञान का उपदेश देता हुआ। वस्तुतः प्रभु इन शत्रुओं का संहार इसी प्रकार करते हैं कि हृदय के अन्दर स्थित हुए-हुए प्रभु जीव को ज्ञान देते हैं, इस ज्ञानाग्नि में सब शत्रु भस्म हो जाते हैं। प्रभु-स्मरण सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला है।

भावार्थ—कामादि शत्रु प्रबल हैं। पर प्रभु-स्मरण के सामने ये निर्बल हो जाते हैं। प्रभु अपने भक्त को ज्ञान देकर उस ज्ञानाग्नि में इन शत्रुओं का दहन कर देते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

काम-क्रोध व लोभ

अभीर्दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर के इन्द्र-जीवात्मा कहता है कि **एकम्**=इस शत्रुओं के मुखिया अकेले काम को तो **इत्**=निश्चय से **एकः**=अकेला ही मैं **अभि अस्मि**=(भवामि) अभिभूत कर लेता हूँ। **निष्षाट्**=मैं इसका पूर्णरूप से पराभव करनेवाला हूँ। (२) इस काम के साथ यदि क्रोध आ जाता है तो **द्वा**=इन दोनों को भी **अभी**=मैं अभिभूत

करता हूँ। उ-और ठीक बात तो यह है कि इन दो के साथ लोभ भी आ जाता है तो **त्रयः**-ये तीन भी **किं करन्ति**-मेरा क्या बिगाड़ पाते हैं। मैं इन तीनों का भी समाप्त करनेवाला होता हूँ। और **भूरि प्रति हन्मि**-एक-एक को खूब ही मार डालता हूँ। उसी प्रकार इन्हें पीस डालता हूँ **न**-जैसे कि **खले**-अन्न को भूसे से पृथक् करनेवाले फर्श पर **पर्षान्**-अन्न को पूलियों को (पार्सल्स को)। उस फर्श पर अन्न की पूलियों को डालकर बैलों से उनका गाहना होता है। उन बैलों के पाँव तले वे सब पिस-पिसा जाती हैं, अन्न व भूसा अलग-अलग हो जाता है। इसी प्रकार इन काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को भी मैं पीस डालता हूँ। (३) ये **अनिन्द्राः**-(इन्द् to be fowerful) अशक्त **शत्रवः**-कामादि शत्रु **किं मां विन्दन्ति**-क्या मेरी निन्दा कर सकते हैं? प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बने हुए मुझे ये पराभूत नहीं कर सकते। इन नरक के द्वारभूत 'काम-क्रोध-लोभ' को समाप्त करके मैं अपने जीवन को स्वर्गोपम बना पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर मैं कामादि का विनाश करनेवाला होता हूँ।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

गुंगु द्वारा पर्णय करञ्ज व वृत्र का नाश

अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्करमिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयम्।
यत्पर्णयघ्न उत वा करञ्जहे प्राहं महे वृत्रहत्ये अशुश्रवि॥ ८॥

(१) **अहम्**-मैं **गुङ्गुभ्यः**-(गम् धातु से गंगा की तरह यह गुंगु शब्द बना है) निरन्तर गतिशील पुरुषों के लिये **अतिथिग्वम्**-(अतिथि गच्छति) उस महान् अतिथि प्रभु की ओर चलनेवाले, अर्थात् प्रभु के सतत उपासक, **इष्करम्**-प्रेरणा को देनेवाले **वृत्रतुरम्**-कामवासना को नष्ट करनेवाले पुरुष को **धारयम्**-धारण करता हूँ, प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार प्राप्त करता हूँ **न**-जैसे **विक्षु**-प्रजाओं में **इषम्**-अन्न को। अन्न प्रजाओं के पोषण के लिये होता है, इसी प्रकार इस व्यक्ति की प्रेरणा उन क्रियाशील पुरुषों को अध्यात्म भोजन प्राप्त कराती है। इससे प्रेरणा को प्राप्त करके वे भी प्रभु की ओर चलनेवाले व वासना को नष्ट करके ऊपर उठनेवाले होते हैं। (२) 'पर्णय' एक आसुरी वृत्ति है जो 'पर्णं याति' पंख को प्राप्त करती है, सदा उड़ती है और 'इतना तो है, इतना और हो जाएगा', इस प्रकार सोचनेवाली होती है, यही 'लोभ' है। 'क-रञ्ज'-(कं शिरः रञ्जयति reddens) 'क्रोध' है, यह शिरोभाग को, मुख को लाल-लाल कर देता है। 'वृत्र'-ज्ञान पर आवरण को डालता हुआ 'काम' है। **यत्**-जब गुंगु पुरुष अतिथिग्व की प्रेरणा को सुनकर इन पर्णय आदि का नाश करते हैं तब **पर्णयघ्ने**-लोभ के विनाशक संग्राम में **उत वा**-और **करञ्जहे**-क्रोध के हनन में और **महे वृत्रहत्ये**-इस महान् काम-विनाश रूप कार्य में **अहम्**-मैं **प्र अशुश्रवि**-खूब ही सुना जाता हूँ। प्रभु का स्मरण व नामोच्चारण करते हुए ही वे गुंगु इन नरक के द्वारभूत 'काम-क्रोध-लोभ' को समाप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशील पुरुषों को प्रभु के उपासक पुरुषों की प्रेरणा प्राप्त हो। उनसे प्रेरणा को प्राप्त करके हम प्रभु का स्मरण करते हुए 'काम, क्रोध व लोभ' का विनाश करनेवाले बनें।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

नमी-साप्य

प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद्गवामेषे सख्या कृणुत द्विता।
दिद्युं यदस्य समिथेषु मंहयमादिदेनं शंस्यमुक्थ्यं करम्॥ ९॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **नमी**=नमन व उपासन की वृत्तिवाला **साप्यः**=(सप्=to worship) प्रभु का आश्रय व सेवन करनेवाला **मे**=मेरे द्वारा **इषे**=प्रेरणा देने के लिये तथा **भुजे**=पालन के लिये **प्र भूत्**=प्रकर्षेण होता है। जो भी प्रभु का उपासन व आश्रय करता है प्रभु उसे प्रेरणा तो प्राप्त कराते ही हैं, उसके योगक्षेम का भी ध्यान करते हैं। उस प्रेरणा से उस उपासक की अध्यात्म उन्नति होती है और भोजन से भौतिक उन्नति। इस प्रकार यह उपासक अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला होता है। (२) **गवाम्**=इन्द्रियों के **एषे**=समन्तात् प्रेरण में, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को विविध ज्ञानों की प्राप्ति में तथा कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि कर्मों में व्यापृत करने पर यह उपासक **सख्या**=उस मित्र प्रभु के साथ **द्विता कृणुत**=दोनों प्रकार से उन्नति करता है। अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को यह प्राप्त करनेवाला होता है। अकर्मण्य मनुष्य को प्रभु की सहायता नहीं प्राप्त होती। (३) प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जब **अस्य**=इस पुरुष को **समिथेषु**=संग्रामों में **दिद्युम्**=ज्ञान-ज्योति रूप वज्र को **मंहयम्**=प्राप्त कराता हूँ (मंहतेर्दानकर्मणः) **आत् इत् एनम्**=तो इसे शीघ्र ही **शंस्यम्**=प्रशंसनीय जीवनवाला तथा **उक्थ्यम्**=स्तुति करनेवालों में उत्तम **करम्**=बनाता हूँ। प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करके उपासक प्रभु का स्मरण करता है और प्रभु-स्मरणपूर्वक उत्तम कर्मों को करनेवाला बनकर प्रशंसनीय होता है।

भावार्थ—हम नमन व प्रभु का आश्रयण करनेवाले बनें। प्रभु हमें उत्तम प्रेरणा देंगे, हमारे योगक्षेम को सिद्ध करेंगे। प्रभु से ज्ञान वज्र को प्राप्त करके हम प्रशंसनीय जीवनवाले स्तोता बनें।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जिनमें प्रभु हैं और जिनमें नहीं

प्र नेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति।

स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन्द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः॥ १०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो 'नमी साप्य' बनकर अपने जीवन को उत्तम बना पाते हैं उन **नेमस्मिन् अन्तः**=कुछ पुरुषों के अन्दर **सोमः**=वह सोम प्रभु **प्रददृशे**=देखे जाते हैं। इन इने-गिने व्यक्तियों में प्रभु का दर्शन होता है। **गोपाः**=इनकी इन्द्रियों का रक्षक वह प्रभु **नेम**=इन कुछ लोगों को **अस्था**=(असु क्षेपणे) वासनाओं के दूर फेंकने के द्वारा **आविः कृणोति**=आविर्भूत शक्तिवाला करता है। इन की शक्तियों का विकास उस प्रभु के द्वारा होता है। (२) इसके विपरीत जिस व्यक्ति के जीवन में प्रभु नहीं दिखता **स द्रुहः**=वह प्रभु द्रोग्धा और परिणामतः राक्षसी वृत्तिवाला होने से अन्यों की हिंसा करनेवाला व्यक्ति **तिग्मशृङ्गम्**=तेज ज्ञानरूप सींगोंवाले **वृषभम्**=शक्तिशाली पुरुष को साथ **युयुत्सन्**=युद्ध करने की इच्छावाला होता हुआ **बहुले अन्तः**=अन्धकार में **बद्धः तस्थौ**=बन्धा हुआ ठहरता है। प्रभु-भक्त **तिग्मशृंग**=तीव्र ज्ञान रूप सींगोंवाला होता है, इन शृंगों से ही वह वासना रूप शत्रुओं का नाश करता है। यह 'वृषभ'=शक्तिशाली होता है। इसका विरोध करनेवाला व्यक्ति अज्ञानान्धकार में ही पड़ा रहता है।

भावार्थ—जिनमें प्रभु स्थित होता है वे आविर्भूत शक्तिवाले, तीव्र ज्ञानवाले सबल होते हैं। इनके विरोधी अन्धकार में बन्धे पड़े रहते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अपराजित-अहिंसित-अनाभिभूत

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।

ते मां भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम्॥ ११॥

(१) **देवानां देवः**-देवों का देव, देवाधिदेव प्रभु **आदित्यानाम्**-सब वेदों के विद्वान् आदित्य ब्रह्मचारियों के **वसूनाम्**-विज्ञानवेद के अध्ययन से उत्तम निवासवाले ब्रह्मचारियों के तथा **रुद्रियाणाम्**-ज्ञान प्राप्ति के द्वारा कामादि शत्रुओं के लिये भयंकर रुद्र ब्रह्मचारियों के **धाम**-तेज को **न मिनाति**-नष्ट नहीं करता। (२) प्रभु कहते हैं कि **ते**-वे 'आदित्य, वसु व रुद्र' **मा**-मुझे **भद्राय शवसे**-कल्याणकर शक्ति के लिये **ततक्षुः**-अपने अन्दर निर्मित करते हैं। जो मैं **अपराजितम्**-अपराजित हूँ **अस्तृतम्**-अहिंसित हूँ तथा **अषाळ्हम्**-कामादि से अनभिभूत हूँ। अपने हृदयों में मेरा निर्माण करते हुए, अर्थात् मुझे स्थापित करते हुए ये लोग 'भद्र शवस्' को प्राप्त करते हैं, ये शक्तिशाली होते हैं (शवस्) परन्तु शक्ति का प्रयोग ये सदा दूसरों के कल्याण के लिये ही करते हैं। ये भी मेरी तरह 'अपराजित, अस्तृत व अषाढ' बनते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु को स्थापित करें, जिससे हम 'अपराजित अहिंसित व वासनाओं से न दबे हुए' हो पायें।

सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि प्रभु ही धनपति हैं, (१) प्रभु ही हमें, वासनाओं को नष्ट करके, अजीर्ण शक्तिवाला बनाते हैं, (२) प्रभु का पूजन कर्मों से ही होता है, (३) प्रभु-पूजन हमें पशु से देव बना देता है, (४) हम प्रभु मित्र बनें, नकि धन मित्र, (५) प्रभु-स्मरण से कामादि शत्रुओं की प्रबलता समाप्त हो जाती है, (६) प्रभु-भक्त बनकर मैं कामादि को जीत लेता हूँ, (७) हम क्रियाशील हों और प्रभु उपासकों के संग में रहें, (८) हम प्रभु के प्रति नमन व प्रभु का आश्रयण करनेवाले हों, (९) जिनमें प्रभु स्थित होते हैं, वे आविर्भूत शक्तिवाले होते हैं, (१०) हम भी प्रभु की तरह 'अपराजित, अहिंसित व वासनाओं से अनभिभूत' होंगे, (११) प्रभु ही भक्तों को धन देते हैं—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्कृष्ट वसु की प्राप्ति

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**-मैं ही **गृणते**-स्तवन करनेवाले के लिए **पूर्व्यं वसु**-उत्कृष्ट धन को अथवा पालन व पूरण करनेवाले धन को **दाम्**-देता हूँ। प्रभु भक्त सदा क्रियाशील होता है। उसकी क्रिया केवल अपने हित के लिये न होकर लोकहित के दृष्टिकोण से होती है। इसे आवश्यक साधनों की प्रभु कमी नहीं होने देते। (२) मैं इस स्तोता के लिये **ब्रह्म**-उस ज्ञान को भी **कृणवम्**-करता हूँ, जो ज्ञान की **मह्यम्**-मेरे लिये ही **वर्धनम्**-वर्धन का कारण होता है। ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य प्रभु-भक्त बनता है और प्रभु का स्तवन करता हुआ प्रभु की महिमा को सर्वत्र फैलाता है। (३) **अहम्**-मैं ही **यजमानस्य**-यज्ञशील पुरुषों का **चोदिता भुवम्**-प्रेरक होता हूँ। इन्हें उत्तम कर्मों की प्रेरणा मेरे से ही प्राप्त होती है। इसी यज्ञशीलता की वृद्धि के लिये **विश्वस्मिन् भरे**-सम्पूर्ण संग्रामों में **अयज्वनः**-अयज्ञशील पुरुषों को **साक्षि**-मैं अभिभूत करता हूँ। अयज्ञशील पुरुष के उभयलोक विनष्ट होते हैं। यज्ञ से ही मनुष्य फलता-फूलता है। इस यज्ञ से ही सच्चा प्रभु-पूजन होता है।

भावार्थ—प्रभु भक्तों को उत्कृष्ट वसु प्राप्त कराते हैं व यज्ञ की प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का धारण

मां धुरिन्द्रं नाम॑ देवता॑ दिवश्च ग्मश्चापां च॑ जन्तवः॑।
अहं हरी॒ वृष॑णा॒ विव्र॑ता र॒घू अहं वज्रं॒ शव॑से धृ॒ष्ण्वा द॑दे ॥ २ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—इन्द्रं नाम=परमैश्वर्यवाला व परम शक्तिमान् (इदि परमैश्वर्ये, इन्द्र to be powerful) होने से 'इन्द्र' नामवाले माम्=मुझको देवताः धुः=देवलोग धारण करते हैं। वस्तुतः मुझे धारण करने के कारण ही वे देव बनते हैं। देव तो प्रभु का सदा स्मरण करते ही हैं, देवों के अतिरिक्त दिवः च=द्युलोक के भी, ग्मः च=इस पृथ्वीलोक के भी च=तथा अपाम्=अन्तरिक्षलोक के जन्तवः=प्राणी भी मुझे धारण करते हैं। कष्ट आने पर सभी प्रभु का स्मरण करते हैं। (२) अहम्=मैं ही हरी=ज्ञान व कर्म के द्वारा दुःखों को दूर करने के कारणभूत (हरणात् हरेः) इन्द्रियाश्वों को, जो वृषणा=शक्तिशाली हैं, विव्रता=विविध व्रतोंवाले हैं, प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अलग-अलग कार्य है, रघू=जो लघुगतिवाले हैं, तीव्रगति से अपना-अपना कार्य करनेवाले हैं, इस प्रकार के इन्द्रियाश्वों को आददे=स्वीकार करता हूँ। प्रभु ही हमें इस प्रकार के इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं। (३) प्रभु कहते हैं कि अहम्=मैं ही धृष्णु=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले वज्रम्=क्रियाशीलता रूप वज्र को शवसे=शक्ति के लिये आददे=स्वीकार करता हूँ। प्रभु हमें यह क्रियाशीलता रूप वज्र प्राप्त कराते हैं, इससे हम जहाँ शत्रुओं का धर्षण करने में समर्थ होते हैं वहाँ अपनी शक्ति का वर्धन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का धारण करके ही देव देव बने हैं। दुःख में सभी प्रभु का धारण करनेवाले बनते हैं। प्रभु ही हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। और क्रियाशीलता के द्वारा वे हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं और हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम कामादि शत्रुओं को कुचल सकें।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अत्क व शुष्ण का संहार

अ॒हमत्कं॑ क॒वये॑ शिश्नथं॒ हथै॑र॒हं कुत्स॑मावमा॒भिरू॒तिभिः॑।
अ॒हं शुष्ण॑स्य॒ श्नथि॑ता॒ वध॑र्यमं॒ न यो र॒र आर्यं॒ नाम॒ दस्य॑वे ॥ ३ ॥

(१) 'अत्क' शब्द का अर्थ 'आच्छादक' है। आच्छादकता के कारण ही 'वस्त्र व कवच' अत्क कहलाता है। 'लोभ' भी मनुष्य को ढक लेता है सो यह भी 'अत्क' है। जब यह मनुष्य को ढक लेता है तो बुद्धि पर परदा-सा पड़ जाता है और मनुष्य चीज को ठीक रूप में नहीं देखता। प्रभु कवये=कहते हैं कि अहम्=मैं अत्कम्=इस बुद्धि के आच्छादक लोभ को हथैः=हनन-साधनों से, हनन की साधनभूत क्रियाओं से शिश्नथम्=हिंसित करता हूँ। इसके हिंसित होने पर ही मनुष्य वस्तु को ठीक रूप में देखनेवाला होता है, यह ठीक रूप में देखनेवाला ही 'कवि' है। प्रभु कहते हैं कि मैं कवये=इस क्रान्तदर्शी पुरुष के लिये ही इस अत्कम्=आच्छादक लोभ को नष्ट करता हूँ। (२) और आभिः ऊतिभिः=इन लोभादि की विनाश रूप रक्षणात्मक क्रियाओं से कुत्सम्=(कुत्सयते=one who condemns) बुराइयों की निन्दा करनेवाले पुरुष को आवम्=सुरक्षित करता हूँ। बुराइयों की निन्दा करने के कारण यह उनके प्रति झुकाववाला नहीं होता। (३) अहम्=मैं ही शुष्णस्य=हृदय का शोषण करनेवाले कामासुर का श्नथिता=हिंसन करनेवाला होता हूँ और वधः=इसके नाश के साधनभूत वज्र को यमम्=(नियमितवान् अस्मि सा०) हाथ

में ग्रहण करता हूँ और इस प्रकार यः=जो भी आर्यं नाम=आर्य पुरुष है, उसको दस्यवे=दस्यु के लिये न ररे=नहीं दे देता। 'अत्क-शुष्ण' आदि असुर हैं। इनके वध के द्वारा प्रभु आर्य पुरुष का रक्षण करते हैं। राजा ने भी राष्ट्र में यही करना होता है कि वह दस्युओं के नाश के द्वारा आर्यों का रक्षण करे।

भावार्थ—प्रभु हमारे लोभ को नष्ट करके हमें कवि व ज्ञानी बनाते हैं। काम को नष्ट करके वे हमें आर्य बनाते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

सन्तोष-शान्ति व प्रेम

अहं पितेव वेतसूँरभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम्।
अहं भुवं यजमानस्य राजनि प्र यद्भरे तुजये न प्रियाधृषे॥ ४॥

(१) अहम्=मैं पिता इव=जैसे पिता पुत्र की इष्ट प्राप्ति के लिये यत्न करता है इसी प्रकार कुत्साय=वासनाओं का संहार करनेवाले के लिये अभिष्टये=इष्ट प्रापण के लिये वेतसून् तुग्रं स्मदिभं च=वेतसुओं को, तुग्र को तथा स्मदिभ को रन्धयम्=नष्ट करता हूँ, इनको वशीभूत करता हूँ। 'वेद-सू' शब्द का अर्थ है, 'कामना को जन्म देनेवाला' (वी=to dlsire वेत=wish सू=जन्म देना) हमारे में एक इच्छा उत्पन्न होती है, वह पूर्ण होती है तो नयी इच्छा उत्पन्न हो जाती है, यही लोभ है। लोभ में इच्छाओं का अन्त नहीं होता। 'तुग्रम्' शब्द 'तुज हिंसायाम्' से बनकर हिंसक वृत्ति व क्रोध को संकेत करता है। 'स्मदिभ' शब्द 'स्मत्=श्रेष्ठ के लिये इभ=हाथी के समान' इस अर्थ को कहता हुआ उस 'काम-वासना' का सूचक है, जो कि अच्छी से अच्छी वस्तु को खराब कर देती है। हाथी कदली-स्तम्भ को उखाड़ फेंकता है, इसी प्रकार 'काम' श्रेष्ठता को उखाड़नेवाला है। प्रभु इन 'वेतसु, तुग्र व स्मदिभ' को, लोभ, क्रोध व काम को नष्ट करके कुत्स के जीवन को इष्ट की प्राप्तिवाला व सुन्दर बनाते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि अहम्=मैं यजमानस्य=यज्ञशील पुरुष के राजनि=(राजनार्थम्) दीपन के निमित्त भुवम्=होता हूँ यत्=जब कि तुजये न=पुत्र के लिये पिता की तरह धृषे=शत्रुओं के धर्षण के लिये प्रिया=प्रिय वस्तुओं को लोभ के विपरीत 'सन्तोष' को, क्रोध के विपरीत 'शान्ति' को और काम के विपरीत 'प्रेम' को प्रभरे=उसे यजमान में भरता हूँ इस यजमान के जीवन को 'सन्तोष, शान्ति व प्रेम' सुन्दर बनानेवाले होते हैं। इन प्रिय गुणों से उस यजमान का जीवन दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे जीवन में लोभ का स्थान 'सन्तोष' ग्रहण करे, क्रोध के स्थान में 'शान्ति' हो और काम का स्थान 'प्रेम' ले ले।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

मृगय-वेश व पड्गृभि का विनाश

अहं रन्धयं मृगयं श्रुतर्वणे यन्माजिहीत वयुना चनानुषक्।
अहं वेशं नम्रमायवेऽकरमहं सव्याय पड्गृभिमरन्धयम्॥ ५॥

(१) 'श्रुतर्वन्' उस व्यक्ति का नाम है जो कि श्रुत=ज्ञान के द्वारा मलिनताओं का अर्वन्=हिंसक बनता है। ज्ञान के द्वारा जीवन को पवित्र करनेवाला 'श्रुतर्वा' है। 'मृग अन्वेषणे' धातु से बना मृगय शब्द औरों के दोषों को खोजते रहनेवाला का वाचक है प्रभु कहते हैं कि अहम्=मैं श्रुतर्वणे=इस श्रुतर्वा के लिये मृगयम्=परदोषान्वेषण की वृत्ति को रन्धयम्=नष्ट करता हूँ। ज्ञान मनुष्य की वृत्ति

को इस प्रकार पवित्र बनाता है कि वह औरों के दोषों को न देखते रहकर अपनी ही न्यूनताओं को देखता है और उन्हें दूर करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर व निर्दोष बनाता है। प्रभु कहते हैं कि श्रुतर्वा इसलिए परदोष निरीक्षण से ऊपर उठता है **यत्**-क्योंकि यह **वयुना**-प्रज्ञान के हेतु से **आनुषक्** **चन**-निरन्तर ही **मा**-मुझे **अजिहीत**-प्राप्त होता है। यह सदा मेरी ओर गतिवाला होता है और प्रभु की ओर जानेवाला होने से यह औरों के दोषों को नहीं देखता रहता। (२) विश धातु से बना 'वेश' शब्द न चाहते हुए भी प्रत्येक में प्रविष्ट हो जानेवाले 'अहंकार' का सूचक है, यह उद्धतता-युक्त मद का प्रतीक है। प्रभु कहते हैं कि मैं **आयवे**-(एति इति आयुः) क्रियाशील पुरुष के लिये **वेशम्**-इस अभिमान को **नम्रम्**-नम्र **अकरम्**-कर देता हूँ। क्रियाशील पुरुष के जीवन में अभिमान का स्थान 'नम्रता' ले लेती है। (३) प्रभु ही कह रहे हैं कि मैं **सव्याय**-सव्य के लिये **पड्गृभिम्**-पड्गृभि को **अरन्धयम्**-नष्ट कर देता हूँ। सब में उत्तम 'सव्य' है 'सव' शब्द का अर्थ यज्ञ व प्रेरणा (षू प्रेरणे) है। सव्य वह व्यक्ति है जो प्रभु प्रेरणा को सुनता है और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है। 'पड्गृभि' पाँवों में पकड़ लेनेवाला, उन्नति को समाप्त कर देनेवाला 'मोह' है। यह मोह, वैचित्त्य व अज्ञान ही सम्पूर्ण उन्नतियों का विघातक होता है। हम प्रभु प्रेरणा को सुनते हैं और हमारा अज्ञान नष्ट होता है। अब हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से 'परदोषान्वेषण की वृत्ति, उद्धततायुक्तमद व मोह' नष्ट हो जाते हैं और हम उन्नत जीवनवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

नववास्त्व बृहद्रथ दास का हनन

अ॒हं स यो नव॑वास्त्वं बृ॒हद्र॑थं॒ सं वृ॒त्रेव॒ दासं॑ वृत्र॒हारु॑जम्।
यद्व॒र्धय॑न्तं प्र॒थय॑न्तमानु॒षग्दू॒रे पा॒रे रज॑सो रोच॒नाक॑रम्॥ ६॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**-मैं **सः**-वह हूँ **यः**-जो **वृत्रहा**-वृत्र का नाश करनेवाला होता हुआ **वृत्रेव**-वृत्र की तरह ही **नववास्त्वम्**-नौ महलोंवाले (वास्तु=polace) **बृहद्रथम्**-बड़ी-बड़ी कारोंवाले **दासम्**-औरों का उपक्षय करनेवाले को **सं अरुजम्**-पूर्णतया नष्ट करता हूँ। आसुर वृत्तिवाले लोग अन्याय से अर्थ का संचय करके अपने आराम के लिये बड़ी-बड़ी कोठियाँ बना लेते हैं, बड़ी-बड़ी कारें रख लेते हैं, ये अपने सुख भोग के लिए औरों का क्षय करते हैं। इन दस्यु वृत्तिवाले लोगों को प्रभु नष्ट करते हैं। (२) **यद्**-जब यह दस्यु वृत्तिवाला व्यक्ति **आनुषक्**-निरन्तर **वर्धयन्तम्**-अपने धनों व सुख-साधनों को बढ़ाता चलता है, **प्रथयन्तम्**-अपने को फैलाता चलता है, तो मैं उसे **रोचना रजसः**-(रोचनस्य रजसः) चमकते हुए लोक के **दूरे पारे** **अकरम्**-दूर पार कर देता हूँ। देदीप्यमान लोकों से दूर करके इसे मैं 'असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः'=अन्धतमस से आवृत असुर्यलोकों को प्राप्त करानेवाला होता हूँ। (३) मनुष्य अन्धाधुन्ध धन तो अन्याय से ही कमा पाता है। यह अन्याय्य धन थोड़ी देर के लिये उसके जीवन में चहल-पहल को पैदा कर देता है। फिर प्रभु इसे समाप्त कर देते हैं और अन्धकारमय लोकों में जन्म देते हैं।

भावार्थ—न तो हम अन्याय से धन कमाएँ और नांही उस धन को विलास में व्ययित करें।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

(प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं) संसार वहन

अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्कृषे दासं कृत्व्यं हथैः ॥ ७ ॥

(१) अहम्-मैं ही ओजसा-ओजस्विता के द्वारा वहमानः-सम्पूर्ण संसार का धारण करता हुआ सूर्यस्य-सूर्य की आशुभिः-शीघ्रता से सर्वत्र व्याप्त होनेवाली एतशेभिः-रंग-बिरंगे अश्व रूप किरणों से प्र-प्रकर्षेण परियामि-ब्रह्माण्ड में सर्वत्र गति करता हूँ। सूर्य की किरणें सात रंगों की हैं, ये ही सूर्य के सात अश्व कहलाते हैं। रंग-बिरंगे रंगों में शयन करने से ये एतश कहलाते हैं (एत-श) इनमें सब प्रकार के प्राणों का निवास है। इन प्राणशक्तियों के द्वारा सूर्य-किरणें सब रोगों का संहार करती हैं। सूर्यकिरणों के द्वारा यह कार्य प्रभु ही करते हैं, प्रभु का तेज ही सूर्य को तेजोमय करता है। सूर्य को ही नहीं, प्रत्येक तेजसी पदार्थ को प्रभु ही तेजस्वी बना रहे हैं। प्रभु के तेज से प्रत्येक देव देवत्व को प्राप्त करता है। (२) मानव जीवन में भी देवत्व को प्रभु ही उत्पन्न करते हैं, प्रभु कहते हैं कि मैं ही कृत्व्यम्-(कृती छेदने) छेदन के योग्य दासम्-औरों के ध्वंस की वृत्तिवाले पुरुष को हथैः-हनन साधनों से ऋधक् कृषे-पृथक् कर देता हूँ। यह मैं करता तभी हूँ यत्-जब कि मा-मुझे मनुषः-विचारशील पुरुष का सावः-यज्ञ निर्णिजे-इस शोधन के लिये आह-कहता है। अर्थात् जब हम यज्ञ की वृत्तिवाले बनते हैं और यदि उस समय एक दास वृत्ति का पुरुष हमारा ध्वंस करता है, तो प्रभु उसके हनन के द्वारा सामाजिक वातावरण को शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार यज्ञशील पुरुषों के लिये प्रभु सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु सूर्यादि देवों की दीप्ति के स्रोत हैं और दास के हनन के द्वारा यज्ञशील पुरुषों के सहायक होते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तुर्वश-यदु का सहस्वाला जीवन

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम्।
अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम् ॥ ८ ॥

(१) अहम्-मैं सप्त-हा-सात असुरों का संहार करनेवाला हूँ। (क) इन्द्रियाँ सामान्यतः दस हैं। इनमें त्वचा को हाथों में समाविष्ट करके, क्योंकि हाथों से ही प्रायः स्पर्श किया जाता है, वाणी और जिह्वा को एक मानकर तथा मल-शोधक पायु-उपस्थ को एक में मिला देने से ये सात रह जाती हैं। इनको ठीक मार्ग पर ले चलनेवाले तो देव कहलाते हैं और इनको विपरीत मार्ग पर ले जानेवाले असुर होते हैं। इन सात असुरों को प्रभु उचित दण्ड के द्वारा आहत करते हैं। (ख) 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' इस मन्त्र में सात मर्यादाओं का उल्लेख है, इन मर्यादाओं का उल्लंघन करनेवाले सात असुर हैं। इनका पालन करनेवाले सप्तर्षि हैं। (ग) सात मर्यादाओं का पालन करनेवाले सात उत्तम लोकों को प्राप्त करनेवाले होते हैं, और इनके उल्लंघन करनेवाले सात असुर्य लोकों में जन्म लेते हैं 'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः'। प्रभु इन सात आसुर वृत्तिवाले लोगों को नष्ट करते हैं। नहुषः नहुष्टरः (णह बन्धने)-प्रभु इन्हें दृढ़ता से बन्धन में डालनेवाले हैं। इनको इन बन्धनों में रखकर वे इनकी अशुभवृत्तियों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। (२) जो व्यक्ति तुर्वशम्-त्वरा से (=शीघ्रता से) इन इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाला होता है और

यदुम्=यत्नशील होता है, कभी अकर्मण्य नहीं होता उसे मैं **शवसा**=बल के दृष्टिकोण से **प्राश्रावयम्**=प्रकृष्ट यशवाला करता हूँ **अहम्**=मैं **कन्यम्**=असुरों से भिन्न इस दैवी वृत्तिवाले पुरुष को **सहसा**=सहनशक्ति के रूप में प्रकट होनेवाले बल से **सहः**=सहस् का पुञ्ज ही **निकरम्**=निश्चय से बना देता हूँ और **व्राधतः**=वृद्धि को प्राप्त होनेवाले (व्राध=broad) फैलते जानेवाले, **नव नवतिं च**=निन्यानवे, अर्थात् अनेक आसुरभावों को **वक्षयम्** (अन्तशयम् सा०)=नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—आसुर वृत्तिवालों को प्रभु बन्धन में डालते हैं। दैवी वृत्तिवाले 'जितेन्द्रिय-यत्नशील' पुरुषों को वे सहस् का, बल का पुञ्ज बनाते हैं। इन पर आक्रमण करनेवाली अशुभ वृत्तियों को वे विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सप्त नाड़ी चक्र का स्वास्थ्य) शरीर व मानस स्वास्थ्य

अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार शक्ति को प्राप्त कराके प्रभु ही हमें स्वस्थ बनाते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में उस स्वास्थ्य का कुछ विस्तार से उल्लेख करते हैं। शरीर में नाड़ियों के अन्दर रुधिर-प्रवाह के ठीक से होने पर ही स्वास्थ्य का निर्भर है। वह शरीर में इन रुधिर-वाहिनी नाड़ियों का जाल-सा बिछा हुआ है। उन में सात नाड़ियाँ प्रमुख हैं। वे ही अन्यत्र 'गंगा-यमुना-सरस्वती' आदि नदियों के रूप में चित्रित हुई हैं। इन नाड़ियों के इन वैदिक नामों को ही देखकर बाह्य नदियों को भी प्रारम्भिक आर्यों ने ये नाम दे दिये। वेद में वस्तुतः इन बाह्य नदियों का वर्णन हो, सो बात नहीं है। प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं ही **वृषा**=सब प्रकार के सुखों का वर्षण करनेवाला **सप्त**=इन सात **स्रवतः**=रुधिर के बहाववाली **द्रवित्न्वः**=निरन्तर द्रवण करती हुई, **पृथिव्याम्**=इस शरीर रूप पृथिवी में **सीराः**=सरणशील इन नाड़ीरूप नदियों को **अधि-धारयम्**=अधिष्ठातृरूपेण धारण करता हूँ और **अहम्**=मैं ही **सुक्रतुः**=उत्तम क्रतुओंवाला, उत्तम क्रियाओंवाला होता हुआ इन नाड़ियों में **अर्णांसि**=रुधिररूप जलों को **वितिरामि**=देता हूँ। हृदय देश से इस रुधिर रूप जल का प्रसार होता है। शरीर में सर्वत्र विचरण करके यह फिर उसी हृदयदेश में पहुँचता है। उसी प्रकार, जैसे कि नदियों का जल समुद्र में जाकर, फिर से वाष्पीभूत होकर बादलों के रूप में आता है और पर्वतों पर वृष्टि होकर फिर से नदियों में प्रवाहित होने लगता है। प्रभु का यह अर्थ कितना महान् व अद्भुत है। इसी प्रकार नाड़ियों में रुधिर प्रवाह की बात है। इस रुधिर के ठीक अभिसरण से शरीर का स्वास्थ्य ठीक रहता है। (२) शरीर के स्वास्थ्य के साथ, मानस-स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये, प्रभु कहते हैं कि मैं ही **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **इष्टये**=इष्ट व लक्ष्यभूत स्थान की प्राप्ति के लिये **युधा**=काम-क्रोधादि वासनाओं से युद्ध के द्वारा **गातुम्**=मार्ग को **विदम्**=प्राप्त कराता हूँ। काम-क्रोधादि ही तो हमें मार्ग-भ्रष्ट करके लक्ष्य प्राप्ति से वञ्चित कर देते हैं। इनके साथ युद्ध में प्रभु हमारे सारथि होते हैं। उस प्रभु के साहाय्य से ही हम इन्हें पराजित कर पाते हैं। इनके पराजित होने पर, मार्ग से विचलित न होते हुए हम लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु, नाड़ियों में रुधिर के ठीक प्रकार से अभिसरण की व्यवस्था करके हमें शारीरिक स्वास्थ्य देते हैं और काम-क्रोधादि को पराजित करके हमें मानस-स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाले बनकर हम मार्ग पर आगे बढ़ते हैं और लक्ष्य पर पहुँचनेवाले होते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

गौवों में दूध, नदियों में जल

अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत्।
स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम्॥ १० ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**-मैं **आसु गवां ऊधःसु**-इन गौवों के ऊधस में **तद्**-उस **रुशत्**-आरोचमान-चमकते हुए **स्पार्हम्**-स्पृहणीय, चाहने योग्य दूध को **धारयम्**-धारण करता हूँ **यत्**-जिसे **आसु**-इनमें **त्वष्टा**-यह चमकनेवाला **देवः चन**-सूर्य-देव भी न **अधारयत्**-नहीं धारण कर पाता। मनुष्य जब तक विज्ञान के क्षेत्र में नहीं चलता, तब तक वह श्रद्धा से यही धारण रखता है कि प्रभु इस संसार को चला रहे हैं, वही वर्षा करते हैं, वही गौवों में दूध को धारण करते हैं। परन्तु जब कुछ वैज्ञानिक उन्नति प्रारम्भ होती है, तो वह वैज्ञानिक देखता है कि सूर्य की किरणों से समुद्रजल वाष्पीभूत होता है, ऊपर जाकर ये वाष्प ठण्ड के कारण घनीभूत होते हैं, और बादल बनकर बरसते हैं एवं सूर्य ही तो इस वृष्टि को करता है। इस वृष्टि से उत्पन्न घास को खाकर और पानी को पीकर गौवें दूध देती हैं, सो इस दूध को भी तो उनमें सूर्य ही धारण कर रहा है। परन्तु अधिक अध्ययन के होने पर वह 'बेकन' के शब्दों में यह अनुभव करने लगता है कि इस कार्यकारणभाव की भी तो अन्तिम कड़ी उस Jnpiter (द्युपितर)-परमात्मा के सिंहासन से ही जुड़ी हुई है। प्रभु ही सूर्यादि देवों में उस-उस शक्ति को धारण करते हैं। सूर्यादि देवों के द्वारा यह सम्पूर्ण कार्य प्रभु ही कर रहे होते हैं। (२) प्रभु गौवों के ऊधस् में आरोचमान स्पृहणीय दूध को तो धारण करते ही हैं। वे प्रभु **वक्षणासु**-इन नदियों में **आमधोः**-चैत्र मास की समाप्ति तक **मधु**-माधुर्यवाले, शहद की तरह गुणवाले, **श्वात्र्यम्**-गतिशील व वृद्धि के कारणभूत **सोमम्**-शान्ति को देनेवाले व सोम शक्ति को पैदा करनेवाले, **आशिरम्**-शरीर में समन्तात् दोषों को शीर्ण करनेवाले जल को **अधारयत्**-धारण करते हैं। वर्षा में बरसा हुआ जल नदियों को भर देता है शरद् में कुछ मर्यादित होकर हेमन्त-शिशिर में यह कम हो जाता है, ग्रीष्म में कुछ सूखता है तो इनको फिर से भरने के लिये वर्षा ऋतु आ जाती है। यहाँ यह सारी बात 'आमधोः शब्द से संकेतित हो रही है। (३) प्रभु ने गौवों के ऊधस् में दूध को रखा है और नदियों में जल को। दूध पुष्टि देता है, जल नीरोगता। इस प्रकार इन दोनों पेय-पदार्थों से हमारा जीवन सुन्दर बनता है।

भावार्थ—प्रभु के द्वारा गौवें के ऊधस् में स्थापित दूध से हमारा मन स्वस्थ बनता है, नदियों के जल से हमारा शरीर नीरोग बनता है। इस दूध व जल को सूर्यादि देवों के द्वारा प्रभु ही स्थापित करनेवाले हैं। इनके प्रयोग से हमारी वृत्ति भी दैवी बनती है।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

च्यावक बल

एवा देवाँ इन्द्रो विव्ये नॄन्प्र च्यौत्नेन मघवा सत्यराधाः।
विश्वेत्ता ते हरिवः शचीवोऽभि तुरासः स्वयशो गृणन्ति॥ ११ ॥

(१) **एवा**-गत मन्त्र में वर्णित दूध व जल के उत्पादन के द्वारा **इन्द्रः**-वह सर्वशक्तिमान् **मघवा**-ऐश्वर्यशाली **सत्यराधाः**-सदा सत्य को सफल बनानेवाले प्रभु **देवान् नॄन्**-देववृत्तिवाले मनुष्यों को **च्यौत्नेन**-शत्रुओं को स्वस्थान से च्युत करनेवाले बल से **प्र विव्ये**-प्रकर्षेण कान्तिमय करते हैं अथवा प्राप्त होते हैं (वी-गति-कान्ति)। प्रभु के बनाये हुए इन दूध व जल के प्रयोग

से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि हम आन्तर शत्रु कामादि का तो पराजय करते ही हैं, बाह्य शत्रुओं को भी हम जीत पाते हैं। 'दूध व जल' सोम हैं, ये हमें सौम्य स्वभाव का बनाते हैं। हम उत्तेजना से दूर होकर वासना से ऊपर उठते हैं। (२) हे **हरिवः**-दुःखों के हरण करनेवाले ज्ञान से युक्त प्रभो! **शचीवः**-शक्ति-सम्पन्न प्रभो! **ते**-आपके **त्वा विश्वा**-उन सब कर्मों को तथा **स्वयशः**-आपके यश को **तुरासः**-कर्मों में त्वरा से प्रवृत्त होनेवाले लोग (त्वर संभ्रमे) अथवा काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले लोग (तुर्वी हिंसायाम्) **अभिगृणन्ति**-दोनों ओर, अर्थात् दिन के प्रारम्भ में भी तथा दिन की समाप्ति पर भी स्तुत करते हैं। आपकी सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता का तो वे गायन करते ही हैं, आपके यशस्वी कार्यों का भी स्तवन करते हुए वे वासनाओं से ऊपर उठते हैं।

भावार्थ—दूध व जल के प्रयोग से हमें वह च्यौत्न बल प्राप्त होता है जो कि हमें शत्रुओं के संहार के लिये समर्थ करता है।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु उत्कृष्ट वसुओं को प्राप्त कराते हैं, (१) देव प्रभु का धारण करते हैं और इसी से देव बनते हैं, (२) प्रभु हमारे लोभ व काम को नष्ट करते हैं, (३) सन्तोष, शान्ति व प्रेम को देते हैं, (४) हमारी परदोषान्वेषण की वृत्ति को तथा मद-मोह को नष्ट कर देते हैं, (५) प्रभु-भक्त न अन्याय से धन कमाता है और न उसका विलास में व्यय करता है। (६) प्रभु ही सूर्यादि देवों की दीप्ति के स्रोत हैं, (७) प्रभु-भक्त इन्द्रियों को त्वरा से वश करता है, यत्नशील होता है और अतएव सहस्वाला बनता है, (८) प्रभु ही हमें नाड़ीचक्र में रुधिर के ठीक अभिसरण से शरीर व मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं, (९) जीव की उन्नति के लिये प्रभु ने गौवों के ऊधस् में स्पृहणीय दूध को धारण किया है और नदियों में जल को स्थापित किया है, (१०) इनके प्रयोग से हमें वह बल प्राप्त होता है जिससे कि हम अन्तः व बाह्य शत्रुओं को समाप्त कर पाते हैं, (११) इस बल की प्राप्ति के लिये हम इन्द्र का ही स्तवन करें—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

बल, ज्ञान व ऐश्वर्य

प्र वो म॒हे मन्द॑माना॒याऽन्ध॑सो॒ऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑खं॒ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑ ॥ १ ॥

(१) **वः**-तुम्हारे **महे**-(मह पूजायाम्) पूजनीय, **अन्धसः**-सोम के द्वारा **मन्दमानाय**-आनन्दित करनेवाले के लिये, **विश्वानराय**-सबको उन्नतिपथ पर चलने के लिये प्रेरित करनेवाले के लिये और **विश्वाभुवे**-सर्वत्र चारों ओर वर्तमान उस प्रभु के लिये **प्र अर्चा**-प्रकर्षेण अर्चन व पूजन कर। उस प्रभु ने हमारे शरीरों में सोमशक्ति की स्थापना की है। यह सोमशक्ति सुरक्षित होकर हमें जीवनों में स्वर्गतुल्य सुख प्राप्त कराती है और अन्त में हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। इस सोम के रक्षण से ही उस सोम प्रभु का दर्शन होता है। वे प्रभु हम सबके हृदयों में वर्तमान हैं (विश्वाभू) अन्तःस्थिररूपेण प्रेरणा देते हुए हमें आगे ले चल रहे हैं (विश्वानराय)। (२) हम उस प्रभु का अर्चन करनेवाले बनें **यस्य**-जिस **इन्द्रस्य**-सर्वशक्तिमान् व परमैश्वर्यशाली के **सुमखम्**-इस उत्तम सृष्टियज्ञ का **सहः**-बल का **महि श्रवः**-महान् यश व ज्ञान का **च**-और **नृम्णम्**-धन व ऐश्वर्य का **रोदसी**-ये द्यावापृथिवी, सारे लोकों में स्थित प्राणी, **सपर्यतः**-पूजन करते हैं। प्रभु ने इस सृष्टि को जीव के हित के लिये बनाया है, सो यह उसका महान् यज्ञ है। बल के व ज्ञान

के व ऐश्वर्य के दृष्टिकोण से वे इनकी अन्तिम सीमा हैं, उनमें ये सब निरतिशयरूप से वर्तमान हैं। प्रभु का बल ज्ञान व ऐश्वर्य अनन्त है। इस प्रभु का पूजन करते हुए हम भी 'बल-ज्ञान व ऐश्वर्य' को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें। वे हमें बल, ज्ञान व ऐश्वर्य प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

नर्य प्रभु का स्तवन

सो चिन्नु सख्या नर्य॑ इनः स्तुतश्चर्कृत्य इन्द्रो माव॑ते नरे॑।
विश्वा॑सु धूर्षु वा॑जकृत्ये॑षु सत्पते वृत्रे वाप्स्व१॑भि शूर मन्दसे ॥ २ ॥

(१) **स उ चित् नु**-वे प्रभु ही निश्चय से **सख्या**-सखित्व के कारण **नर्यः**-नरों का हित करनेवाले हैं। नर वह है जो कि उन्नतिपथ पर अपने को ले चलने के लिये यत्न करता है, प्रभु इन नरों का सदा हित करते हैं। प्रभु भी इनकी उन्नति में सहायक होते हैं। **इनः**-प्रभु ही तो स्वामी हैं। वे प्रभु ही **स्तुतः**-सदा स्तुति किये जाते हैं और **चर्कृत्यः**-(कर्तव्यैः पुनः-पुनः परिचरणीयः सा०) वे कर्तव्यपालन के द्वारा सदा पूजा के योग्य हैं। प्रभु का पूजन यही है कि हम अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रमाद न करें। (२) वे प्रभु **मा-वते नरे**-लक्ष्मीवाले मनुष्य के लिये **इन्द्रः**-परमैश्वर्यशाली हैं। अर्थात् वस्तुतः लक्ष्मी के देनेवाले प्रभु ही हैं। लक्ष्मी का विजय करनेवाले प्रभु ही हैं। जैसे बुद्धिमानों की बुद्धि प्रभु हैं, बलवानों के बल व तेजस्वियों के तेज प्रभु हैं उसी प्रकार लक्ष्मीवानों की लक्ष्मी भी प्रभु ही हैं। (३) हे **शूर**-सब विघ्नों व शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **सत्पते**-सज्जनों के रक्षक प्रभो! आप **विश्वासु धूर्षु**-सब कार्यभारों में, **वाजकृत्येषु**-शक्तिशाली कर्मों में **वृत्रे**-ज्ञान को आवृत करनेवाले सर्वमहान् शत्रु काम के आक्रमण में **वा**-तथा **अप्सु**-रेतःकणों के रक्षण के प्रसंग में **अभिप्रमन्दसे**-(अभिष्टूयसे) स्तुति किये जाते हो। आपका स्तवन करते हुए हम आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर उसे-उस कार्यभार को उठा पाते हैं, शक्ति की अपेक्षा करनेवाले कार्यों में घबराते नहीं, वासना के आक्रमण को विफल कर पाते हैं और रेतःकणों के रक्षण में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के हम मित्र बनें, प्रभु हमारा कल्याण करेंगे। वे प्रभु कर्मों से स्तुत होते हैं। वे ही हमारे लिये लक्ष्मी का विजय करते हैं। उनका स्मरण ही हमें सब कार्यों की पूर्ति में, वासना के विध्वंस में तथा रेतःकणों के रक्षण में समर्थ करता है।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आनन्द में कौन?

के ते नर॑ इन्द्र ये त॑ इषे ये ते सुम्नं स॑धन्य१॑मियक्षान्।
के ते वाजा॑यासुर्या॑य हिन्विरे के अप्सु स्वासूर्वरा॑सु पौंस्ये॑ ॥ ३ ॥

(१) **ते नरः**-वे मनुष्य **के**-आनन्द में विचरनेवाले हैं **ये**-जो हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते इषे**-आपकी प्रेरणा में चलते हैं। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनकर कार्य करनेवाले लोग आनन्द में विचरण करते हैं। (२) आनन्द में वे हैं **ये**-जो हे प्रभो! **ते**-आपके **सुम्नम्**-स्तवन को (hymn), जो **सधन्यम्**-मनुष्य को प्रशस्त बनानेवाले धन से युक्त है, **इयक्षान्**-अपने साथ संगत करते हैं। प्रभु का स्तवन करनेवाले धन-सम्पन्न व्यक्ति आनन्दमय जीवनवाले होते हैं। प्रभु-

स्तवन से रहित धन ही निधन का कारण बनता है। (३) ते=वे के=आनन्द में हैं जो **असुर्याय**=असुरों के संहार के लिये साधनभूत **वाजाय**=शक्ति के लिये **हिन्वरे**=प्रेरित होते हैं। आसुरवृत्तियों को नष्ट करनेवाले बल से युक्त पुरुष ही आनन्दमय जीवनवाले होते हैं। (४) आनन्द में वे हैं जो **स्वासु उर्वरासु**=अपनी उपजाऊ भूमियों पर **पौंस्ये**=पुरुषार्थ में निवास करते हैं और **अप्सु**=सदा कर्मों में लगे रहते हैं। अर्थात् कृषि-प्रधान पौरुष-सम्पन्न क्रियाशील जीवन ही मनुष्य को आनन्दित करनेवाला होता है।

भावार्थ—आनन्द प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) हम प्रभु-प्रेरणा को सुनें, (ख) प्रभु का स्तवन करते हुए धनसम्पन्न हों, (ग) आसुरवृत्तियों की नाशक शक्ति से युक्त हों, (घ) कृषि-प्रधान श्रममय जीवन बिताएँ।

ऋषि:—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का स्तवन

भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः।

भुवो नॄँश्च्यौत्नो विश्वस्मिन्भरे ज्येष्ठश्च मन्त्रो विश्वचर्षणे ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=ज्ञान रूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **ब्रह्मणा**=ज्ञान के दृष्टिकोण से **महान्**=सबसे बड़े **भुवः**=हैं, आपका ज्ञान निरतिशय है, ज्ञान की आप चरमसीमा ही हैं। (२) **विश्वेषु सवनेषु**=सब यज्ञों के अन्दर आप ही **यज्ञियः**=पूजनीय होते हैं। आपकी कृपा से ही यज्ञ परिपूर्ण होते हैं। वस्तुतः आप ही सब यज्ञों के होता हैं। (३) **विश्वस्मिन् भरे**=सब संग्रामों में **नॄन्**=शत्रुओं के नेतृ पुरुषों को आप ही **च्यौत्नः**=स्वस्थन से विचलित करनेवाले बल से युक्त हैं। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम शत्रुओं का पराजय कर पाया करते हैं। (४) हे **विश्वचर्षणे**=सर्वद्रष्टः=सबका ध्यान करनेवाले प्रभो! **च**=और आप ही **ज्येष्ठ मन्त्रः**=सर्वश्रेष्ठ मन्त्र हैं। (क) कार्यों की सिद्धि के लिये अन्य मन्त्र तो पता नहीं कि सफलता प्राप्त कराते हैं या नहीं, यह प्रभु का स्मरण मनुष्य को अवश्य सफल बनाता है। (ख) अथवा आप ही सर्वश्रेष्ठ मननीय वस्तु हो। प्रकृति व जीव का ज्ञान भी आवश्यक है, परन्तु आपका मनन सर्वोपरि है। प्रकृति व जीव का ज्ञान हमें धन प्राप्त कराता है, तो आपका मनन हमें उस धन से धन्य बनाता है, अन्यथा यही धन हमारे निधन का कारण हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वज्ञ हैं, सब यज्ञों के होता हैं, संग्रामों में विजय प्राप्त करानेवाले हैं, सब सफलताओं के मन्त्र हैं। अथवा वे प्रभु सर्वोपरि मन्तव्य सत्ता हैं।

ऋषि:—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वरक्षक प्रभु

अवा नु कं ज्यायान्यज्ञवनसो महीं त ओमात्रां कृष्टयो विदुः।

असो नु कमजरो वर्धाश्च विश्वेदेता सवना तूतुमा कृषे ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! **नु**=अब **कम्**=सुखस्वरूप आप **ज्यायान्**=सर्वमहान् हैं और **यज्ञवनसः**=यज्ञों का सेवन करनेवालों को **अवा**=रक्षित करते हैं। यज्ञशील पुरुषों का रक्षण प्रभु ही करते हैं, वस्तुतः प्रभु से रक्षित होकर ही वे अपने यज्ञों का रक्षण कर पाते हैं। (२) **कृष्टयः**=कृष्टि करनेवाले श्रमशील व्यक्ति ही **ते**=आपकी **महीम्**=महनीय-आदरणीय व शक्ति-सम्पन्न **ओमात्राम्**=रक्षा को **विदुः**=प्राप्त करते हैं। श्रमशील पुरुषों का ही आप रक्षण करते हैं। (३) **नु**=अब **कम्**=आनन्दस्वरूप

आप अजरः असः=कभी जीर्ण न होनेवाले हैं च=और वर्धाः=(वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त हो, सदा वृद्ध हो। प्रभु कभी जीर्ण नहीं होते हैं और सदा बढ़े हुए रहते हैं। (४) हे प्रभो! आप ही इत्=सचमुच विश्वा एता सवना=इन सब यज्ञों को तूतुमा=(तूर्णानि) शीघ्रता से होनेवाला कृषे=करते हैं। आपकी कृपा से यज्ञ शीघ्रता से पूर्ण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों व यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शरीर व मन के स्वास्थ्य के द्वारा प्रभु का वरण

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः ॥ ६ ॥

(१) एता विश्वा सवना=इन सब यज्ञों को तूतुमा=शीघ्रता से पूर्ण होनेवाला कृषे=आप करते हैं। प्रभु कृपा से ही यज्ञ पूर्ण होते हैं। (२) हे सहसः सूनो=शक्ति के पुत्र=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! ये यज्ञ वे हैं यानि=जिनको स्वयम्=आप स्वयं दधिषे=धारण करते हैं, प्रभु यज्ञों का धारण करनेवाले हैं, वे ही इन्हें शीघ्रता से पूर्ण करते हैं। (३) हे प्रभो! ते वराय=आपके वरण के लिये पात्रम्=रक्षण है। अर्थात् आपका वरण वही व्यक्ति कर पाता है जो अपना रक्षण करता है। जो शरीर को रोगों से बचाता है और मन को ईर्ष्या-द्वेष आदि से आक्रान्त नहीं होने देता। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाते हैं। (४) धर्मणे=धारण के लिये तना=धन है, यज्ञः=यज्ञ है, मन्त्रः=मन्त्र है और ब्रह्मोद्यतं=ब्रह्म से दिया हुआ (उद्यम्=to offer, give) वचः=वचन है। संसार में जीवनयात्रा को ठीक से चलाने के लिये तथा शरीर व मन के स्वास्थ्य के लिये धन की आवश्यकता तो होती ही है (तना), उन धनों का यज्ञों में विनियोग और यज्ञशेष का सेवन ही अमृतत्व का साधक है (यज्ञः)। यज्ञमय जीवन बनाने के लिये विचार व मनन आवश्यक है (मंत्रः) इस विचार व मनन के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दी गई वेदवाणी आधार बनती है (ब्रह्मोद्यतं वचः)। एवं ये 'धन, यज्ञ, मन्त्र व ब्रह्मोद्यत वाणी' सब हमारे धारण के साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमारे यज्ञों का रक्षण करेंगे। प्रभु के वरण के लिये शरीर व मन का स्वस्थ बनाना आवश्यक है। इनके धारण के लिये धन तो आवश्यक है ही, पर उस धन का यज्ञों में विनियोग नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु-भक्त के लक्षण

ये ते विप्र ब्रह्मकृतः सुते सचा वसूनां च वसुनश्च दावने।
प्र ते सुम्नस्य मनसा पथा भुवन्मदे सुतस्य सोम्यस्यान्धसः ॥ ७ ॥

(१) हे विप्र=((वि-प्रा पूरणे) विशेषरूप से सबका पूरण करनेवाले प्रभो! ये जो व्यक्ति ते=आपके हैं वे सुते=सोमयज्ञों के होने पर सचा=मिलकर ब्रह्मकृतः=मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले व ज्ञान का सम्पादन करनेवाले होते हैं। (२) इसके अतिरिक्त वे वसूनां च=सांसारिक धनों के, निवास के लिये आवश्यक अन्न-वस्त्र आदि वस्तुओं के च=और वसुनः=निवास को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक ज्ञानरूप धन के दावने=(दानाय) दान के लिये होते हैं। प्रभु के भक्त जहाँ यज्ञमय जीवन बिताते हुए ज्ञान का साधन करते हैं, वहाँ वे भौतिक धनों के व ज्ञान

धन के देनेवाले होते हैं। (३) ते=आपके व्यक्ति सुम्नस्य=स्तोत्रों के पथा=मार्ग से मनसा=मनन के साथ प्र भुवन्=प्रकर्षेण होते हैं। प्रभु-प्रवण व्यक्ति सदा विचारपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं, ये प्रभु के नाम का जप करते हैं और उसके अर्थ का चिन्तन करते हैं। (४) ये प्रभु-भक्त लोग सोम्यस्य अन्धसः=सोम्य अन्न के तथा सुतस्य=उस अन्न से उत्पन्न सोम के (semen=वीर्य के) मदे=हर्ष में निवास करते हैं। ये लोग आग्नेय भोजनों को न करके सोम्य भोजनों को करनेवाले बनते हैं और उन भोजनों से उत्पन्न सोम शक्ति के रक्षण से उल्लासमय जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के व्यक्ति वे हैं जो—(क मिलकर यज्ञों में मन्त्रोच्चारण करते हैं, (ख) भौतिक धनों व ज्ञानधन के देनेवाले होते हैं, (ग) मनन के साथ प्रभु के नाम का जप करते हैं, (घ) सोम्य भोजनों से उत्पन्न शक्ति के रक्षण से उल्लासमय जीवनवाले होते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु हमें 'ज्ञान, बल व ऐश्वर्य' प्राप्त कराते हैं, (१) वे हमारा सब प्रकार से हित करते हैं, (२) आनन्द में वे ही हैं जो प्रभु प्रेरणा को सुनते हैं, (३) प्रभु ही सर्वमहान् मन्त्र हैं, (४) वे ही सर्वरक्षक हैं, (५) प्रभु का वरण शरीर व मन के स्वास्थ्य के द्वारा होता है, (६) प्रभु-भक्त सोम्य भोजन ही करते हैं, (७) सोम्य भोजन से देववृत्ति का बनकर ही व्यक्ति प्रभु का दर्शन करता है—

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीक ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'योगमाया-समावृतः' (नाहं प्रकाशः सर्वस्य)

म॒हत्तदुल्बं॑ स्थवि॑रं॒ तदा॑सी॒द्येनावि॑ष्टितः प्रवि॒वेशि॑था॒पः।
विश्वा॑ अपश्यद्बहु॒धा ते॑ अग्ने॒ जात॑वेदस्त॒न्वो॑ दे॒व एकः॑ ॥ १ ॥

(१) प्रभु संसार में सर्वत्र हैं, सब पदार्थों में व्याप्त हैं। परन्तु इस गुणमयी योगमाया (प्रकृति) से आवृत होने के कारण सामान्य मनुष्य के दर्शन का वे विषय नहीं बनते। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इस मन्त्र भाग में यही बात इस रूप में कही गई है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का स्वरूप छिपा हुआ है। यह ठीक है कि विज्ञान प्रधान जीवन होने पर एक व्यक्ति को प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। वे प्रभु प्रत्येक पदार्थ से सूचित हो रहे हैं, इसलिए प्रभु को यहाँ 'सौचीको अग्निः' कहा है। प्रभु का दर्शन करनेवाले 'देवाः' हैं। इनके संवाद के रूप में प्रस्तुत सूक्तों में विषय का प्रतिपादन एक सुन्दर काव्यमय भाषा में हुआ है। देव कहते हैं कि हे अग्ने=प्रकाशमय! जातवेदः=(जाते जाते विद्यते) सर्वव्यापक प्रभो! तत्=वह उल्बम्=आवेष्टन (coher) महत्=महान् तत् स्थविरम्=वह बड़ा दृढ़ आसीत्=है, येन=जिससे आविष्टितः=संवृत हुए-हुए आप अपः=प्रजाओं में प्रविवेशिथ=प्रविष्ट हो रहे हैं। प्रभु सब पदार्थों में हैं, परन्तु इस माया रूप महान् स्थविर उल्ब (जरायु=आवेष्टन) से आवृत होने के कारण उनका हमें दर्शन नहीं हो पाता। (२) जो कोई विरल व्यक्ति इस माया की चमक से न चुंधयाई हुई आँखोंवाला होकर इस माया को तैर जाता है वह एकः देवः=एक आध विरल देव पुरुष ही हे जातवेदः अग्ने=सर्वव्यापक प्रकाशमय प्रभो! ते=आपके बहुधा=बहुत प्रकार के इन विश्वाः=सब तन्वः=शरीरों को अपश्यत्=देखता है। 'भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि व अहंकार' ये आठ आपके शरीर ही तो हैं। इनमें आपकी ही शक्ति काम करती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकृति का अध्ययन करनेवाले देव पुरुष को प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की सत्ता दृष्टिगोचर

होती है। उसको इन पृथिवी, जल इत्यादि पदार्थों में उस महान् प्रभु की शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है, मानो ये शरीर हों और प्रभु इनकी अन्तरात्मा हो। इस प्रकार इन सबको वह प्रभु के शरीरों के रूप में ही देखता है।

भावार्थ—योगमाया से आवृत उस पुरुष की महिमा को कोई विरल देव ही सब पदार्थों में देखता है।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः॥ देवता—देवाः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणापान की साधना

को मा ददर्श कत॒मः स दे॒वो यो मे॑ त॒न्वो॑ बहु॒धा प॒र्यप॑श्यत्।
क्वाह॑ मित्रावरुणा क्षियन्त्य॒ग्नेर्विश्वाः॑ स॒मिधो॑ देव॒यानीः॑॥ २॥

(१) प्रभु देवों से कहते हैं कि **मा**=मुझे **ददर्श**=जो देखता है **स**=वह **कः**=आनन्दमय होता है, वस्तुतः वह **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला, दैवीवृत्ति का पुरुष **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय होता है, **यः**=जो **मे तन्वः**=मेरे इन शरीरों को **बहुधा**=नाना प्रकार से **पर्यपश्यत्**=देखता है। 'पृथिवी, जल, तेज' आदि ये सब पदार्थ ही प्रभु के शरीर हैं, इनमें प्रभु की शक्ति ही कार्य कर रही है। (२) **क्व**=कहाँ, किस पुरुष में **अह**=निश्चय से **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **क्षियन्ति**=निवास करते हैं। वस्तुतः जिनमें मित्र और वरुण का निवास है, वे ही प्रभु का दर्शन करते हैं। मित्रावरुण प्राणापान हैं। प्राणापान ही साधना अशुद्धिक्षय के द्वारा ज्ञान को दीप्त करती है और हमें आत्मतत्त्व के दर्शन के योग्य बनाती हैं। ये 'मित्रावरुण' स्नेह व निर्द्वेषता की भी सूचना देते हैं, वही व्यक्ति प्रभु को देखता है जो सब के प्रति स्नेहवाला होता है और द्वेष से ऊपर उठता है। (३) **अग्नेः**=उस प्रकाशमय प्रभु की **विश्वाः समिधः**=सब दीप्तियाँ **देवयानीः**=देवयान की साधनभूत हैं। अर्थात् प्रभु का प्रकाश मनुष्य को देवयान का पथिक बनाता है। मनुष्य के अन्दर दैवी-सम्पत्ति अधिकाधिक बढ़ती है और वह मनुष्य से देव बन जाता है।

भावार्थ—आत्मदर्शन से जीवन आनन्दमय बनता है। प्राणापान की साधना मनुष्य को आत्मदर्शन के योग्य बनाती है। प्रभु का प्रकाश मनुष्य को देवयान का पथिक बनाता है।

ऋषिः—देवाः॥ देवता—अग्निः सौचीक॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संयमी का प्रभु-दर्शन

ऐच्छा॑म त्वा बहु॒धा जा॑तवेदः॒ प्रवि॑ष्टमग्ने अ॒प्स्वोष॑धीषु।
तं त्वा॑ य॒मो अ॑चिकेच्चि॒त्रभानो दशान्तरु॒ष्याद॑ति॒रोच॑मानम्॥ ३॥

(१) देव कहते हैं कि—हे **जातवेदः**=सर्वत्र विद्यमान **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **अप्सु**=जलों में व **ओषधीषु**=ओषधियों में **प्रविष्टम्**=प्रविष्ट हुए-हुए **त्वा**=आपको **बहुधा**=नाना प्रकार से **ऐच्छाम**=हमने प्राप्त करने की इच्छा की है। जलों व ओषधियों में आपकी महिमा को देखने का प्रयत्न किया है। जलों में रस रूप से आप ही तो निवास कर रहे हैं। ओषधियों में दोषदहन शक्ति को आप ही तो धारण करते हैं। (२) **तम्**=उन **त्वा**=आपको **यमः**=संयमी पुरुष ही **अचिकेत्**=जान पाता है। हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले प्रभो! संयमी बनकर ही तो एक देव पुरुष आपका दर्शन करता है। उन आपका दर्शन करता है, जो आप **दश**=दस संख्यावाले **अन्तरुष्यात्**=गूढ़ निवास-स्थान से **अतिरोचमानम्**=लाँघकर चमक रहे हैं। अग्नि नामक प्रभु के दस निवास-स्थान हैं—'पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक' 'अग्नि, वायु, आदित्य' 'जल, ओषधि, वनस्पति' तथा 'प्राणिशरीर'।

इन सब में रहते हुए प्रभु ही इन्हें उस-उस दीप्ति को प्राप्त करा रहे हैं। अद्भुत दीप्तिवाले वे प्रभु हैं। एक देव पुरुष को पृथिवी आदि दसों निवास-स्थानों में प्रभु की दीप्ति ही दिखती है। वह उपनिषद् के इस वाक्य का कि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'-'उस प्रभु की दीप्ति से ही सब दीप्त हो रहा है', साक्षात् अनुभव करता है।

भावार्थ—संयमी पुरुष सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। वह आदित्य आदि में प्रभु की दीप्ति को ही देखता है।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अकाम उपासकों का प्रभु-दर्शन

होत्रादुहं वरुण बिभ्यदायं नेदेव मां युनजन्नत्र देवाः।
तस्यं मे तुन्वों बहुधा निविष्टा एतमर्थं न चिकेताहमुग्निः ॥ ४ ॥

(१) अग्नि अपने छिपने के कारण पर प्रकाश डालता हुआ काव्यमय भाषा में कहता है कि हे **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले पुरुष! **अहम्**=मैं **होत्राद्**=हवि को प्राप्त कराने रूप कर्म से, प्रतिक्षण देने के कर्म से **बिभ्यत्**=डरता हुआ **आयम्**=यह छिपने के स्थान पर आ गया हूँ। मैंने योगमाया से अपने को आवृत कर लिया है। जैसे एक ४-५ साल का बालक पिताजी को देखता है और पैसे माँगता है, इसी प्रकार हम भी उस प्रभु का उपासन करते हैं और 'प्रजा-पशु-अन्नाद्य' आदि की याचना करने लग जाते हैं। प्रभु कहते हैं कि इस हर समय याचन की प्रथा से तो मैं भी तंग आ गया और मैंने अपने को छिपा लिया, जिससे **देवाः**=देव **मा**=मुझे **अत्र**=इस देने के काम में **न इत् एव**=नांही **युनजन्**=युक्त कर दें। इस सारे वर्णन का भाव इतना ही है कि उत्तम उपासना वही है जो अकाम होकर की जाए। (२) प्रभु कहते हैं कि **एतं अर्थम्**=इस बात को तो **अहं अग्निः**=मैं अग्नि **न चिकेत**=भूल ही गया कि **तस्य मे**=उस छिपने की कोशिष करनेवाले मेरे **तन्वः**=शरीर **बहुधा**=नाना प्रकार से **निविष्टाः**=निविष्ट हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि सभी तो मेरे शरीर हैं, सो मेरे छिपने का सम्भव ही कैसे है? देववृत्ति के लोग तो एक-एक कण में मेरी महिमा को देखते हैं, सो ना तो मैं उन से छिप सकता हूँ और नांही उनकी याचनाओं को ठुकरा सकता हूँ?

भावार्थ—प्रभु अज्ञानियों से ही ओझल हैं, ज्ञानियों के लिये तो कण-कण में प्रत्यक्ष हो रहे हैं।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीक ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'मनु-देवयु-यज्ञकाम'

एहि मनुर्देवयुर्यज्ञकामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्यग्ने।
सुगान्पथः कृणुहि देवयानान्वह हुव्यानि सुमनस्यमानः ॥ ५ ॥

(१) देव अग्नि से कहते हैं कि **एहि**=आइये, आप हमें प्राप्त होइये। **मनुः**=आप ही ज्ञानी हैं, हमारे मस्तिष्क को ज्ञान के प्रकाश से द्योतित करते हैं। **देवयुः**=आप दिव्यगुणों का हमारे से (यु मिश्रणे) मिश्रण करते हैं, हमारे मनों को दिव्य भावनाओं से पूरित करते हैं। **यज्ञकामः**=आप यज्ञ-प्रिय हैं, हम पुत्रों को भी यज्ञों में प्रेरित करते हैं, आपकी कृपा से ही हमारे हाथ यज्ञात्मक पवित्र कर्मों में व्यापृत रहते हैं। (२) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप ही **तमसि**=अन्धकार में, जब जीवन की उलझनों में पड़कर हमें अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है उस समय

अरंकृत्य-हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से, हृदय को दिव्य भावनाओं से और हाथों को यज्ञों से अलंकृत करके **आक्षेषि**-(क्षि नि सगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाला करते हैं। (३) आप हमारे लिये **देवयानान् पथः**-देवयान मार्गों को **सुगान्**-सुगमता से चलने योग्य **कृणुहि**-करिये। यद्यपि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' यह धर्म का मार्ग छुरे की धार के समान बड़ा तीक्ष्ण है और इस पर चलना आसान नहीं है, तो भी हम आपकी कृपा से इस पर सुगमता से आक्रमण कर सकें। (२) और हे अग्ने! आप **सुमनस्यमानः**-हमारे कर्मों से प्रीणित होते हुए **हव्यानि वह**-हमें हव्य पदार्थों को प्राप्त कराइये। इन पवित्र पदार्थों को प्राप्त करके हम अपनी जीवनयात्रा को सुन्दरता से पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—'मनु देवयु व यज्ञकाम' प्रभु ही हमें अन्धकार में प्रकाश को प्राप्त कराके उत्तम निवास व गतिवाला करते हैं। प्रभु कृपा से हम देवयान मार्ग पर सुगमता से आक्रमण करनेवाले हों और हव्य पदार्थों को प्राप्त करके जीवनयात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करें।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पूर्वे भ्रातरः

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः।
तस्माद्भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः॥ ६॥

(१) अग्नि देवों से कहता है कि हे देवो! तुम **अग्नेः**-मुझ अग्नि नामक प्रभु के **पूर्वे भ्रातरः**-(भृ-भरणे) पहले भरण करनेवाले होते हो। ये देव भी पहले प्रभु की प्राप्ति की भावना का ही हृदय में भरण करते हैं। परन्तु प्रभु ने दर्शन दिये, तो फिर **एतं अर्थम्**-इस धन का ही **अन्वावरीवुः**-वे वरण करते हैं, प्रभु से धन की ही याचना करते हैं। उसी प्रकार याचना करते हैं **इव**-जैसे कि **रथी**-एक रथ-स्वामी **अध्वानम्**-मार्ग का वरण करता है, जैसे वह यही कामना करता है कि मैं मार्ग का अतिक्रमण कर पाऊँ, इसी प्रकार ये देव भी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये आवश्यक समझकर इस धन की याचना करते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **वरुण**-प्राणापान की साधना करनेवाले (मित्रा वरुण-द्वुण 'पूर्वपद लोप) अथवा द्वेष का निवारण करनेवाले जीव? मैं **तस्माद् भिया**-इसी कारण इस भय से कि तू माँगेगा, **दूरं आयम्**-मैं यहाँ तेरे से दूर छिप गया हूँ, मैंने माया से अपने को आवृत कर लिया है। मैं तो **अविजे**-तेरे इस माँगने के भय से ऐसे डरता हूँ कि **न**-जैसे **क्षेप्नोः**-तीरों को फैंकनेवाले व्याधे की **ज्यायाः**-धनुष की डोरी से **गौरः**-गौर मृग डरता है। धन को जीव माँगता है और धन के मिल जाने पर उसी प्रभु को भूल जाता है, प्रभु का भय यही है कि कहीं यह जीव धन में ही आसक्त न हो जाए!

भावार्थ—मानव स्वभाव यह है कि प्रभु की आराधना करता है, प्रभु से धन माँगता है। धन मिल जाने पर प्रभु को भूल जाता है।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीक ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के इस जीवन को अजर बनाना

कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो रिष्याः।
अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात॥ ७॥

(१) प्रभु की बात को सुनकर देव उत्तर देते हैं कि हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **यत् ते आयुः**-आपका जो यह जीवन है उसे **अजरम्**-न जीर्ण होनेवाला **कुर्मः**-करते हैं। अर्थात् धन

को प्राप्त करके हम भोग-विलास में फँसकर आयु को क्षीण न करेंगे, इस जीवन को तो हम आपका ही जीवन समझेंगे। हम अपना जीवन ऐसा बनायेंगे कि **यथा**-जिससे **युक्तः**-हमारे साथ युक्त हुए-हुए हे **जातवेदः**-सम्पूर्ण धनों के देनेवाले प्रभो (जातं वेदो धनं यस्मात्) आप **न रिष्याः**-हिंसित न हों। अर्थात् हम आपको कभी भूल न जाएँ। (२) **अथ**-अब तो आप **सुमनस्यमानः**-हमारे इस दृढ़ संकल्प से प्रीणित हुए-हुए **देवेभ्यः**-हम देवों के लिये **हविषः भागम्**-हविर्द्रव्यों के सेवनीय अंश को **आवहासि**-सर्वथा प्राप्त कराते हैं। **सुजात**-हे प्रभो! आप ही तो हमारे सब उत्तम विकासों के कारणभूत हो (शोभनं जातं यस्मात्)। उस-उस आवश्यक सामग्री को प्राप्त कराके आप हमें शक्तियों के विकास के लिये समर्थ करते हो। वस्तुतः आपकी कृपा से ही हम उन साधनों का भी सदुपयोग कर पाते हैं। अन्यथा धन 'निधन' का भी तो कारण बन सकता है!

भावार्थ—प्रभु से धन को प्राप्त करके हम प्रभु को भूल न जाएँ जिससे धन का दुरुपयोग न कर बैठें।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अग्नि का दीर्घ जीवन

प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥ ८ ॥

(१) देवों के धनासक्त न होने के संकल्प को ही दृढ़ करने के लिये प्रभु कहते हैं कि गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार मैं तुम्हें धन तो प्राप्त कराऊँगा, पर तुम उन धनों का यज्ञमय विनियोग करते हुए **प्रयाजान् मे**-प्रयाजों को मेरे लिये प्राप्त कराना **च**-तथा **अनुयाजान् केवलान्**-(मे) अनुयाजों को भी शुद्ध मेरे लिये ही रखना। यज्ञ के प्रारम्भ में दी जानेवाली आहुतियाँ प्रयाज हैं और मुख्य यज्ञ के हो जाने पर पीछे दी जानेवाली आहुतियाँ अनुयाज हैं। यहाँ जीवनयज्ञ में हमें वेतनादि के रूप में धन मिला तो हम प्रारम्भ में इस धन की यज्ञ में आहुतियाँ देकर बचे हुए धन को ही अपने लिये व्ययित करें। कुछ बच गया तो उससे कोई अन्य सुख-साधन जुटाने की अपेक्षा उसे भी लोकहित के रूप में दे डालें। पहले दिया गया धन प्रयाजरूप है, पीछे दिया गया अनुयाजरूप प्रभु कहते हैं कि तुम प्राप्त हुई-हुई **हविषः**-इस हवि के **ऊर्जस्वन्तं भागम्**-उत्कृष्ट भाग को मेरे लिये **दत्त**-दे डालो। लोकहित में इसका विनियोग ही मेरे लिये देना है। (२) **च**-और **अपां घृतम्**-जलों के सारभूत अथवा जलों से उत्पन्न इस घृत को **च**-और **ओषधीनाम्**-ओषधियों से उत्पन्न अन्नजनित वीर्य से बने इस पुरुष शरीर को भी मेरे लिये (दत्त) देनेवाले बनो। यहाँ प्रसंगवश प्रभु की महिमा का भी स्मरण करा दिया गया है, (क) किस प्रकार गौवें जल पीती हैं, वह अन्दर शरीर में जाकर, दुग्ध रूप में परिवर्तित होकर, घृत को देनेवाला बनता है, (ख) ओषधि जनित वीर्यकण से किस प्रकार यह अद्भुत शरीर बन जाता है। (३) हे **देवाः**-देवो! तुम्हारे जीवन में **अग्नेः**-इस यज्ञाग्नि का **आयुः च**-आयु भी **दीर्घं अस्तु**-दीर्घ हो। यह यज्ञाग्नि तुम्हारे जीवनों में विलुप्त न हो जाए। यदि यज्ञिय भावना बनी रही तो धन के कारण किसी प्रकार की हानि न होगी।

भावार्थ—हम धन को प्राप्त करके उसका यज्ञों में विनियोग करें। यज्ञशेष का ही सेवन करें।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

तव॑ प्रया॒जा अ॑नुया॒जाश्च॒ केव॑ल॒ ऊर्ज॑स्वन्तो ह॒विषः॑ सन्तु भा॒गाः।
तवा॑ग्ने य॒ज्ञो॒३॑ऽयम॑स्तु॒ सर्व॒स्तुभ्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ९ ॥

(१) देव कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप से हम हव्य पदार्थों को प्राप्त करेंगे तो हम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि **तव**=आपके ही **प्रयाजाः**=प्रयाज होंगे। प्रथम हम आपके निमित्त ही आहुतियाँ देंगे। बचे हुए को ही जीवन के लिये व्ययित करेंगे। और हव्य द्रव्य के बच जाने पर **अनुयाजाः च केवले**=अनुयाज भी मुख्य रूप से आपके ही होंगे। बचे हुए धन को भी हम लोकहित में ही विनियुक्त करते हुए आपको ही दे डालेंगे। **हविषः**=उस हविर्द्रव्य के **ऊर्जस्वन्तः भागाः**=शक्तिशाली उत्कृष्ट भाग **सन्तु**=आपके ही होंगे। हम यज्ञशेष का ही जीवनयात्रा के लिये विनियोग करेंगे। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! **अयं सर्वः यज्ञः तव अस्तु**=यह सारा जीवन ही यज्ञ होकर आपका हो जाए। हम इस पुरुष को परम पुरुष आपके लिये अर्पित कर दें। **चतस्त्रः प्रदिशः**=ये चारों विशाल दिशाएँ **तुभ्यं नमन्ताम्**=आपके लिए नमस्कार करें। सब कोई आपके प्रति नतमस्तक हो और इस प्रकार धन को प्राप्त करके भी धन का दुरुपयोग करनेवाला न हो। यही जीवन का सौन्दर्य है कि हम श्री सम्पन्न हैं पर उस श्री के दास नहीं। यह प्रभु नमन से ही सम्भव है।

भावार्थ—जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि योगमाया से आवृत वे प्रभु सब किसी को दिखते नहीं, (१) प्राणापान की साधना मनुष्य को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है, (२) संयमी पुरुष ही उसे देख पाता है, (३) ज्ञानियों के लिये प्रभु की महिमा कण-कण में दृष्टिगोचर होती है, (४) वे प्रभु ही हमें जीवन के अन्धकार में प्रकाश को प्राप्त कराते हैं, (५) सामान्यतः मनुष्य भौतिक वस्तुओं की ही आराधना करता है, (६) हमारा कर्त्तव्य है कि धन को प्राप्त करके भी प्रभु को न भूलें, (७) धन का यज्ञों में विनियोग करें यज्ञशेष का ही सेवन करें, (८) जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु के प्रति अर्पण कर दें, (९) इन यज्ञात्मक जीवनवाले देवों से प्रभु कहते हैं—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का होतृरूपेण वरण

विश्वे॑ देवाः शा॒स्तन॑ मा॒ यथे॒ह होता॑ वृ॒तो म॒नवै॒ यन्नि॒षद्य॑।
प्र मे॑ ब्रूत भाग॒धेयं॒ यथा॑ वो॒ येन॑ प॒था ह॒व्यमा वो॒ वहा॑नि ॥ १ ॥

(१) गत मन्त्र में देवताओं ने यह निश्चय किया कि 'हम सारे जीवन को ही यज्ञ बनाकर प्रभु के प्रति अर्पण कर दें', तो उनके इस निश्चय को जानकर प्रभु कहते हैं कि हे **विश्वेदेवाः**=सब देवो! **मा शास्तन**=मुझे कहो (पुकारा करो) **यथा**=जिससे **इह**=यहाँ **होता**=देने के वाले के रूप में **वृतः**=वरण किया हुआ मैं **निषद्य**=तुम्हारे हृदयों में आसीन होकर **यत्**=जो **मनवै**=तुम्हारे लिये देने का विचार करूँ। (२) **मे ब्रूत**=मुझे अच्छी तरह बतलाओ **यथा वः**=जिस प्रकार तुम्हारा **भागधेयम्**=भाग व हिस्सा है। **येन पथा**=जिस मार्ग से **वः**=तुम्हारे लिये **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को **आवहानि**=प्राप्त कराऊँ। (३) जिस प्रकार पिता सन्तानों से प्रसन्न होकर कहता है कि 'अच्छा,

फिर कहो ना, किसे क्या-क्या चाहिये? तुम्हें क्या-क्या दूँ?' इसी प्रकार यहाँ प्रभु प्रसन्न होकर देवों से कहते हैं कि 'कहो, तुम्हें क्या-क्या चाहिए? तुम्हें किस-किस हव्यपदार्थ को किस-किस तरह मैं दूँ, किस रूप में तुम्हें वह धन चाहिए?'

भावार्थ—देव प्रभु का होतृरूपेण वरण करते हैं। प्रभु उन्हें उस-उस हव्य पदार्थ को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अश्विनी देवों का आध्वर्यव

अहं होता न्यसीदुं यजीयान्विश्वे देवा मरुतो मा जुनन्ति।
अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुतिर्वाम् ॥ २ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**-मैं **होता**-देनेवाला हूँ। **न्यसीदम्**-यहाँ सब के हृदय-देश में ही बैठा हूँ। **यजीयान्**-अधिक से अधिक संगतिकरण योग्य व देनेवाला हूँ। (२) **विश्वदेवाः**-सब देव तथा **मरुतः**-प्राण-प्राणसाधक पुरुष **मा**-मुझे **जुनन्ति**-प्रेरित करते हैं। अर्थात् देववृत्ति के प्राणसाधक पुरुषों को देने के लिये मेरी कामना होती है। 'इनको दिया गया धन ठीक ही विनियुक्त होगा' इस विचार से इन्हें धन देने की मैं इच्छा करता हूँ। (३) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **वाम्**-आप दोनों का ही **अहरहः**-यह प्रतिदिन का **आध्वर्यवम्**-यज्ञकार्य का प्रचलन होता है। अर्थात् जब मनुष्य प्राणसाधना करता है तब उसके मलों का नाश होकर चित्तवृत्ति का प्रसादन व नैर्मल्य सिद्ध होता है। चित्तवृत्ति के निर्मल होने पर मनुष्य भोग-प्रवण न होकर यज्ञात्मक वृत्तिवाला बनता है। इस प्रकार यह यज्ञ का प्रचलन प्राणापान की साधना पर ही निर्भर करता है। (४) इस प्राणसाधना से अन्त में विवेकख्याति होती है, आत्मदर्शन होता है। **ब्रह्मा**-चारों वेदों का ज्ञान देनेवाला प्रभु **समिद् भवति**-हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाला होता है (सं इन्ध्)। **सा आहुतिः**-यह देना भी **वाम्**-हे प्राणापानो! आपकी ही है। प्रभु-दर्शन के होने पर सांसारिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं, मनुष्य इन भोगों में न उलझकर यज्ञात्मक जीवन बितानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु देवों व प्राणसाधकों को अपना प्रिय भक्त समझते हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'हव्यवाह' प्रभु

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासिमास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥ ३ ॥

(१) **अयम्**-यह **यः**-जो **होता**-सब पदार्थों को देनेवाला प्रभु है **स**-वह **उ**-निश्चय से **यमस्य**-संयमी पुरुष का ही **किः**-(कृ-to fill with) धनों से भरनेवाला है। **यत्**-जब **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **समञ्जन्ति**-अपने जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं तो ये होता प्रभु ही **कम्**-आनन्द को **अपि**-भी **ऊहे**-प्राप्त कराते हैं। देवों को, देववृत्तिवाले पुरुषों को, प्रभु कृपा से आनन्द की प्राप्ति होती है। (२) वह प्रभु **अहरहः**-प्रतिदिन **जायते**-प्रकट होते हैं, प्रतिदिन प्रादुर्भूत होनेवाले सूर्य में प्रभु की महिमा दिखती है। और **मासि मासि**-प्रत्येक मास में अथवा (मास् moon) चन्द्रमा में वे प्रभु प्रकट होते हैं। दिन का देवता सूर्य है, दिन का निर्माण इस सूर्य पर ही निर्भर करता है, इस सूर्य में तो वे प्रभु दिखते ही हैं। महीनों को बनानेवाले इस चन्द्रमा में भी वे प्रभु प्रकट होते हैं। **अथ**-इस प्रकार पूर्णरूप से **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **हव्यवाहम्**-हव्यों

को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **दधिरे**=धारण करते हैं। प्रभु का हृदय में ध्यान करते हैं, दिन में सूर्य-दर्शन उन्हें प्रभु का स्मरण कराता है तो रात्रि में चन्द्रमा उन्हें प्रभु-प्रवण करनेवाला होता है। वे देव यही अनुभव करते हैं कि जो प्रभु सूर्य को दीप्ति देते हैं, जो चन्द्रमा को ज्योत्स्ना प्राप्त कराते हैं, वे ही प्रभु हमें भी सब हव्य पदार्थों व आनन्द को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु संयमी पुरुष को सब आवश्यक धन प्राप्त कराके उसके जीवन को आनन्दमय करते हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-स्मरण व यज्ञ-साधन

मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम्।
अग्निर्विद्वान्यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् ॥ ४ ॥

(१) अग्नि प्रभु कहते हैं कि **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **हव्यावाहम्**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले **माम्**=मुझे **दधिरे**=धारण करते हैं। उस मुझे जो कि **अपम्लुक्तम्**=(अपक्रम्य आगतम्) प्रतिक्षण इस देने के काम से भयभीत होकर दूर आ गया हूँ 'होत्रादहं वरुण विभ्यदाय', अथवा अज्ञानियों की दृष्टि से ओझल हूँ। परन्तु फिर भी **कृच्छ्रा**=कष्टों में **बहु चरन्तम्**=खूब विचरण करता हूँ। लोग मुझे भूले रहते हैं, परन्तु कष्टों के आने पर मेरा खूब ही स्मरण करते हैं। feast (फ़ीस्ट) में मैं उन्हें भूला रहता हूँ पर fast (फ़ास्ट) में तो वे मेरा भरपूर स्मरण करते ही हैं। इस मुझको देव सदा स्मरण करते हैं। (२) मेरा स्मरण करता हुआ **अग्निः**=प्रगतिशील **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **नः**=हमारे, मेरे द्वारा वेदवाणी में प्रतिपादित **यज्ञम्**=यज्ञ को **कल्पयाति**=सिद्ध करता है। उस यज्ञ को सिद्ध करता है जो **पञ्चयामम्**=पाँच मार्गोंवाला है, 'ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ' इन पाँच रूपों में चलता है **त्रिवृतम्**=(त्रिषु वर्तते) २४ वर्ष के प्रातःसवन में, ४४ वर्ष के माध्यन्दिन सवन में तथा ४८ वर्ष के तृतीय सवन में सदा रहता है इसीलिए 'जरामर्य' कहलाता है 'जरया ह्येवैतस्मान्मुच्यते मृत्युनावा'-इस यज्ञ से तो तभी छुटकारा होता है यदि अत्यन्त जीर्णत, आजाय या मृत्यु ही हो जाए। **सप्ततन्तुम्**=यह यज्ञ वेद के सात छन्दों में विभक्त मन्त्रों से विस्तृत किया जाता है। यज्ञों में बोले जानेवाले मन्त्र सात छन्दों में हैं, सो वह यज्ञ भी 'सप्त तन्तु' है।

भावार्थ—देव हव्यवाह प्रभु का धारण करते हैं। अज्ञानियों से प्रभु दूर हैं, वे तो कष्ट पड़ने पर ही प्रभु का स्मरण करते हैं। ज्ञानी देव तो सदा प्रभु-प्रतिपादित यज्ञों को अपनाते हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अमृतत्व-सुवीर-धन'

आ वो यक्ष्यमृतत्वं सुवीरं यथा वो देवा वरिवः कराणि।
आ बाह्वोर्वज्रमिन्द्रस्य धेयामथेमा विश्वाः पृतना जयाति ॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **देवाः**=हे देवो! मैं **वः**=आपके साथ **अमृतत्वम्**=अमरता व नीरोगता का **आयक्षि**=सम्पर्क करता हूँ। **सुवीरम्**=उत्तम सन्तानों को संगत करता हूँ। उसी प्रकार नीरोगता व उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराता हूँ **यथा**=जैसे **वः**=तुम्हें **वरिवः कराणि**=धन देता हूँ। गत मन्त्र के अनुसार ज्ञानी प्रभु से निर्दिष्ट यज्ञों को करनेवाले बनते हैं और प्रभु इन्हें नीरोगता, उत्तम सन्तान व धन प्राप्त कराते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि मैं **इन्द्रस्य**=देवों के सम्राट् इस जितेन्द्रिय पुरुष की **बाह्वोः**=भुजाओं में **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **आधेयाम्**=स्थापित करता हूँ।

इस जितेन्द्रिय पुरुष के जीवन को मैं खूब ही क्रियाशील बनाता हूँ। **अध**-अब इस क्रियाशीलता से यह इन्द्र **इमाः**-इन **विश्वाः**-सब **पृतनाः**-संग्रामों को **जयाति**-जीतता है। क्रियाशीलता के होने पर काम-क्रोधादि का आक्रमण होता ही नहीं। यही इनको क्रियाशीलता के द्वारा पराजित करता है।

भावार्थ—देव प्रभु प्रतिपादित यज्ञों को करते हैं। प्रभु इन्हें नीरोगता, उत्तम सन्तान व धन प्राप्त कराते हैं तथा इन्हें वह क्रियाशीलता प्राप्त कराते हैं जिससे कि ये काम-क्रोधाधि को संग्राम में पराजित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों द्वारा प्रभु-पूजन

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ६ ॥

(१) **त्रीणि शता**-तीन सौ **त्री सहस्राणि**-तीन हजार **त्रिंशत् च**-और तीस **नव च**-और नौ, अर्थात् ३३३९ **देवाः**-देव **अग्निम्**-उस अग्रणी प्रभु को **असपर्यन्**-पूजते हैं। ब्रह्माण्ड में जितने देव हैं वे सब के सब शरीर में भी छोटे रूप में रहते हैं 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। सब देवों के निवास के कारण पुरुष 'देव' ही बन जाता है। इन देवों के अन्दर स्थित सब देव उस प्रभु का पूजन करनेवाले होते हैं। इनकी आँखें (=सूर्य) प्रकृति में प्रभु की महिमा को देखती हैं। कान (=दिशाएँ) पक्षियों के कलरवों में प्रभु की महिमा के गायन को सुनते हैं। वाणी (=अग्नि) प्रभु के गुणों का गान करती है। शरीर के अंग-प्रत्यंगों में स्थित सब देव प्रभु का पूजन करते हैं। (२) **घृतैः**-मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति से वे देव **औक्षन्**-अपने को सिक्त करते हैं। **अस्मा**-इस प्रभु के लिये **बर्हिः**-वासनाओं का जिसमें से उद्बर्हण कर दिया गया है ऐसे हृदय के आसन को **अस्तृणन्**-बिछाते हैं और **आत् इत्**-इसके ठीक बाद **होतारम्**-सब हव्य पदार्थों के देनेवाले प्रभु को **न्यसादयन्त**-इस हृदय के आसन पर बिठाते हैं। प्रभु-पूजन के लिये आवश्यक है कि—(क) शरीर को निर्मल व नीरोग बनाया जाए (क्षरण), (ख) मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त किया जाए (दीप्ति), (ग) हृदय को वासना शून्य निर्मल किया जाए (बर्हिः) स्वस्थ शरीर कर्मकाण्ड को ठीक से करेगा, दीप्त मस्तिष्क ज्ञानकाण्ड का धारण करेगा व निर्मल हृदय उपासनामय होगा।

भावार्थ—प्रभु-पूजन के लिये शरीर मस्तिष्क व मन तीनों को ठीक करना होता है। वस्तुतः इस त्रिलोकी में स्थित सभी देव प्रभु का पूजन करते हैं (शरीर=पृथिवीलोक, हृदय=अन्तरिक्षलोक, मस्तिष्क=द्युलोक)। इन देवों से प्रभु-पूजन होने पर ही हम सच्चे देव बनते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि देव प्रभु का होतृरूपेण वरण करते हैं, (१) समाप्ति पर भी यही कहते हैं कि देव इस होता प्रभु को हृदय में आसीन करते हैं, (२) देव प्रभु को देखते हुए कहते हैं कि—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु दर्शन

यमैच्छाम मनसा सोऽ३यमागाद्यज्ञस्य विद्वान्परुषश्चिकित्वान्।
स नो यक्षद्देवताता यजीयान्नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत् ॥ १ ॥

(१) यम्-जिस अग्नि नामक प्रभु को हम मनसा-मन से अथवा मनन के द्वारा ऐच्छाम-प्राप्त करना चाहते थे सः अयम्-वह यह अग्नि आगाद्-आ गया है। प्रभु का हमें साक्षात्कार हुआ है। यज्ञस्य विद्वान्-वे प्रभु सब यज्ञों को जाननेवाले हैं। हृदय में स्थित हुए-हुए वे प्रभु हमें इन यज्ञों की प्रेरणा देते रहते हैं। परुषः चिकित्वान्-वे हमारे प्रत्येक पर्व को जानते हैं। सामान्य भाषा में कहें तो वे प्रभु हमारी रग-रग से वाकिफ़ हैं। हमें पूर्ण तरह से जानते हुए वे प्रभु हमें यथोचित प्रेरणा व शक्ति प्राप्त कराते रहते हैं। (२) स-वे प्रभु नः-हमें देवताता-यज्ञों में यक्षत्-प्राप्त होते हैं (यज संगतिकरणे)। जब हम यज्ञशील बनते हैं तो हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। यज्ञों से ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है। यजीयान्-वे प्रभु सर्वाधिक पूजनीय हैं। (२) वे प्रभु तो हि-निश्चय से निषत्-हमारे अन्दर आसीन हैं, सद् अन्तरः-सत्यस्वरूप हैं और सबके अन्दर निवास करनेवाले हैं। वे अस्मत् पूर्वः-हम सब से पहले हैं। 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'-काल से अनवच्छिन्न होने के कारण प्राचीन गुरुओं के भी गुरु हैं, हम सबसे पहले होते हुए वे सर्वप्रथम वेदज्ञान देनेवाले हैं।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व होते हुए वे प्रभु हम सब के अन्दर विद्यमान हैं, हमें उत्तम कर्मों का ज्ञान देते हैं। इन यज्ञात्मक कर्मों से ही वे उपासनीय हैं।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आराधन

अराधि होता निषदा यजीयानभि प्रयांसि सुधितानि हि ख्यत्।
यजामहै यज्ञियान्हन्त देवाँ ईळामहा ईड्याँ आज्येन ॥ २ ॥

(१) वह होता-सब पदार्थों का देनेवाला प्रभु अराधि-हमारे से आराधना किया गया है। यजीयान्-सर्वाधिक पूजनीय वे प्रभु निषदा-हमारे अन्दर निषण्ण हैं। वे प्रभु सुधितानि-उत्तमता से धारण किये गये, स्थापित किये गये प्रयांसि-यज्ञों को (srerifice) हि-निश्चय से अभिख्यत्-(अभिचष्टे)देखते हैं। हमारे से किये जानेवाले यज्ञों का वे रक्षण करते हैं। 'प्रयस्' शब्द भोजन का भी वाचक है। वे प्रभु सुधित-उत्तमता से धारण किये गये भोजनों को देखते हैं, अर्थात् हमें प्रातः-सायं उत्तम भोजनों को प्राप्त कराते हैं, (२) प्रभु हमारा रक्षण करते हैं और हम हन्त-शीघ्र यज्ञियान् देवान्-संगतिकरण योग्य देवों का यजामहै-संग करते हैं। और ईड्यान्-स्तुति के योग्य देवों का आज्येन-घृत आदि पदार्थों से ईडामहा-स्तवन करते हैं। विद्वानों के सम्पर्क में आकर ज्ञान का व दिव्यगुणों का अपने में वर्धन करते हैं और अग्निहोत्र में घृतादि की आहुति के द्वारा स्तुति के योग्य वायु आदि देवों का स्तवन करते हैं। ये वायु आदि देव इस प्रकार यज्ञों से आराधित हुए-हुए हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करते हैं। (३) प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्ध में हृदयस्थ सर्वाधिक-पूज्य प्रभु का आराधन है। तीसरे चरण में विद्वानों के संग का संकेत है और चतुर्थ चरण में वायु आदि देवों का यज्ञों में घृताहुति से उपासन है। प्रभु की आराधना से उत्तम प्रेरणा व ज्ञान प्राप्त होता है, विद्वानों के सम्पर्क से दिव्य गुणों का वर्धन होता है, वायु आदि का उपासन स्वास्थ्य का साधन बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का, विद्वानों का व वायु आदि देवों का आराधन, संग व उपासन करते हैं।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देववीति-देवहूति (दिव्यगुणों की प्राप्ति व यज्ञ)

साध्वीमकर्देववीतिं नो अद्य यज्ञस्य जिह्वामविदाम गुह्याम्।
स आयुरागात्सुरभिर्वसानो भद्रामकर्देवहूतिं नो अद्य॥ ३॥

(१) **अद्य**=आज इस प्रभु ने **नः**=हमारे लिये **साध्वीम्**=अत्यन्त उत्तम **देववीतिम्**=दिव्यगुणों की प्राप्ति को **अकः**=किया है। प्रभु की कृपा से हम दिव्यगुणों को प्राप्त कर पाये हैं। प्रभु ने हमें **यज्ञस्य जिह्वाम्**=उस उपासनीय यज्ञरूप प्रभु की वाणी को प्राप्त कराया है, अर्थात् हमें उस जिह्वा को प्राप्त कराया है जो प्रभु के ही नामों का उच्चारण करती है। हमने **गुह्याम्**=अत्यन्त रहस्यमय इस वेदवाणी को **अविदाम**=जाना है। 'गुहा' शब्द हृदयदेश के लिये भी प्रयुक्त होता है। हमने इस हृदय में जिसका प्रभु से ज्ञान दिया जाता है उस 'गुह्या' वेदवाणी को प्राप्त किया है। (२) वे प्रभु **अद्य**=आज **नः**=हमारी **भद्राम्**=कल्याणकारिणी **देवहूतिम्**=यज्ञक्रिया को (देवाः हूयन्ते यस्याम्) **अकः**=करते हैं, अर्थात् हमारे जीवन को वे प्रभु यज्ञमय बनाते हैं और **सुरभिः**=सुगन्धमय वे प्रभु **आयुः वसानः**=हमारे जीवनों को आच्छादित करते हुए **आगात्**=आते हैं, प्राप्त होते हैं। वस्तुतः यज्ञों की प्रेरणा देकर, हमारे से यज्ञों को कराते हुए वे प्रभु सारे वातावरण को सुगन्धमय बना देते हैं। इस से हमारा जीवन सुरक्षित होता है और हम रोगादि से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु हमें दिव्यगुणों को प्राप्त कराएँ। हमारी वाणी यज्ञरूप प्रभु का स्तवन करें। हम वेदज्ञान को प्राप्त करें। यज्ञमय जीवनवाले बनकर नीरोग व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान व असुर-पराभव

तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र में देवों की प्रार्थना को कि 'अविदाम गुह्याम्' 'साध्वीमकर्देववीतिं नो अद्य' 'भद्रामकर्देवहूतिं नो अद्य' सुनकर प्रभु कहते हैं कि **अद्य**=आज **तद् वाचः प्रथमम्**=उस वाणी के सर्वप्रथम वेदज्ञान को **मसीय**=हृदयस्थरूपेण उच्चारण करता हूँ। यह वेदज्ञान वह है **येन**=जिससे कि मैं **देवाः**=और देव **असुरान्**=आसुरवृत्तियों का **अभि असाम**=अभिभव करते हैं। ज्ञान ही जीवन को पवित्र बनाता है। इस प्रकार वेद ज्ञान से आसुर वृत्तियों का संहार होकर दैवी वृत्तियों का विकास होता है। (२) प्रभु कहते हैं कि **ऊर्जादः**=पौष्टिक ही अन्नों का सेवन करनेवाले **उत**=और **यज्ञियासः**=यज्ञशील **पञ्चजनाः**=लोगो! **मम होत्रम्**=मेरे द्वारा वेदों में प्रतिपादित इन यज्ञों का **जुषध्वम्**=तुम प्रीतिपूर्वक सेवन करो। यहाँ 'ऊर्जम्' शब्द 'पौष्टिक अन्न के सेवन' को कर्त्तव्य रूप से तो कह ही रहा है, पर साथ ही 'यज्ञियासः' शब्द इस बात का भी संकेत करता है कि यज्ञों के द्वारा ही शक्तिशाली अन्नों का उत्पादन हुआ करता है 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः'। यज्ञों से वृष्टि के द्वारा उत्पन्न होनेवाले अन्न-कणों के केन्द्र में घृतकण होते हैं। यही अन्न पौष्टिक होता है।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान दिया है, उन वेदों में यज्ञों का प्रतिपादन किया है। इन यज्ञों को करते हुए हम आसुरवृत्तियों का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदज्ञान व यज्ञ

पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ ५ ॥

(१) **ये**-जो **गोजाताः**=(गवि जाताः) इस वेदवाणी में निपुण बने हैं **उत**=और **ये**=जो **यज्ञियासः**-यज्ञ की वृत्तिवाले हैं वे **पञ्च जनाः**-लोग **मम होत्रम्**-मेरे इस यज्ञ को, वेदवाणी में मेरे द्वारा उपदिष्ट यज्ञ को **जुषन्ताम्**-प्रीतिपूर्वक सेवन करें। इसलिए वे यज्ञ का सेवन करें कि **पृथिवी**=यह भूमिमाता **पार्थिवात्**-पृथिवी सम्बन्धी **अंहसः**-कष्ट से **नः पातु**-हमें बचाए। पृथिवी सम्बन्धी कष्ट यही तो है कि अन्न का उत्पादन खूब हो और किसी प्रकार के अन्न की कमी न रहे तथा इसलिए भी यज्ञ करना कि **अन्तरिक्षम्**-अन्तरिक्ष **अस्मान्**-हमें **दिव्यात् अंहसः पातु**-अन्तरिक्षलोक से होनेवाले कष्ट से बचाये। अन्तरिक्षलोक का कष्ट यह है कि वायु दुर्गन्धित होकर रोगों का कारण बन जाती है। यज्ञों से रोगकृमियों का संहार होता है, वायु के दुर्गन्ध का नाश होता है। इस प्रकार रोगों का भय नहीं रहता। यज्ञों से सारा वायुमण्डल पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान में निपुण बनें और वेद प्रतिपादित यज्ञों का सेवन करते हुए अन्नाभाव व रोगों के कष्टों से ऊपर उठें।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कर्म-सूत्र

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥ ६ ॥

(१) प्रभु के आदेश को सुनकर देव एक दूसरे को सन्देश देते हुए कहते हैं कि—**तन्तुं तन्वन्**=कर्मतन्तु का विस्तार करता हुआ तू **रजसः**-हृदयान्तरिक्ष के **भानुम्**-प्रकाशक उस प्रभु के **अनु इहि**-प्रेरणा के अनुसार चल। गत मन्त्रों में प्रभु ने 'पंचजनाः' शब्द से सम्बोधन करते हुए यही प्रेरणा दी है कि (क) तुम 'पृथिवी, जल, तेज , वायु व आकाश' इन पाँच भूतों का ठीक से विकास करनेवाले होवो। (ख) पाँचों कर्मेन्द्रियों की शक्ति का विकास ठीक प्रकार हो, (ग) पाँचों ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान का विकास करें, (घ) पाँचों प्राण तुम्हारे में विकसित शक्तिवाले हों, (ङ) 'हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' रूप अन्तःकरण पञ्चक की शक्ति का भी विकास करो। प्रभु इस प्रकार की प्रेरणाएँ हृदयस्थरूपेण सदा दे रहे हैं। हमें उस प्रेरणा को सुनना चाहिए और उसके अनुसार जीवन को बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रभु की प्रेरणा को सुनना ही उस प्रकाशक प्रभु के अनुकूल चलता है। (२) इस प्रकार प्रभु की प्रेरणा को सुनने के द्वारा **ज्योतिष्मतः पथः रक्ष**-ज्योतिर्मय मार्गों का, देवयान का रक्षण कर। इन प्रकाशमय मार्गों पर चलने से कभी कष्ट नहीं होता। ये प्रकाशमय मार्ग **धियाकृतान्**-बुद्धिपूर्वक कर्मों से सम्पादित होते हैं। इन मार्गों में ज्ञान व कर्म का समन्वय होता है। (३) **जोगुवां अपः**-स्तोताओं के कर्मों को **अनुल्बणम्**-(उल्बण=much lxessine) अति के बिना **वयत**-करो। प्रभु के स्तोता किसी भी कर्म में अति नहीं करते। ये आहार-विहार में, सब कर्मों में सोने व जागने में सदया नपी-तुली क्रियाओंवाले होते हैं। प्रभु का स्तोता सदा मध्यमार्ग पर चलता है, किसी भी पक्ष में (side) न झुकता हुआ

पक्षपातरहित न्याय्य क्रियाओंवाला होता है। (४) मनुः भव-तू सदा विचारशील हो। बिना विचारे क्रियाओं का करनेवाला न हो। अविवेक ही तो सब आपत्तियों का कारण होता है। इस प्रकार विचारपूर्वक कर्म करने के द्वारा तू दैव्यं जनम्-उस देव की ओर चलनेवाले व्यक्ति को जनय-उत्पन्न कर। तू अपने को देव के रूप में विकसित करनेवाला हो। मनुष्य से तू देव बन जाए। अविवेक से चलता हुआ तू पशु न बन जाये।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा के अनुसार कर्म को कर। देवयान मार्ग पर चल। स्तोताओं की तरह सदा अति से दूर रहते हुए कर्म को कर। विचारपूर्वक कर्म करने से देव बन।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उस प्रिय की ओर

अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत।
अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्नभि प्रियम् ॥ ७ ॥

(१) सब देव परस्पर प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि '**अक्षानहः**' (अक्षेषु नह्यान्)-शरीर रूप रथ के अक्षों में बाँधने व जोतने के योग्य इन इन्द्रियाश्वों को **नह्यतन**-बाँधो व जोतो। **उत**-और **सोम्याः**-सौम्य 'शान्त' मन से बनी हुई **रशनाः**-लगामों को **इष्कृणुध्वम्**-सुसंस्कृत करो। **उत**-और **आपिंशत**-बुद्धि रूप सारथि को ज्ञान के नक्षत्रों से अलंकृत करो। इन्द्रियाँ शरीर रूप रथ के वहन में लगी हुई हों, अर्थात् सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य उत्तमता से कर रही हों। मनरूपी लगाम सुसंस्कृत हो। मन का परिष्कृत होना ही लगाम की उत्तमता है। बुद्धि रूप सारथि का ज्ञान से भूषित होना आवश्यक है। (२) **अष्टाबन्धुरम्**-(बन्धुर=seat) 'भूमि-आपः-अनल, वायु-ख (आकाश) मन, बुद्धि व अहंकार' ये आठ ही इस शरीर रथ में बैठने के स्थान हैं अथवा यह शरीर-रथ इन आठ के बन्धनवाला है। इस **अष्टाबन्धुर रथम्**-रथ को **अभितः**-सांसारिक अभ्युदय की ओर तथा अध्यात्म निःश्रेयस की ओर इस प्रकार दोनों ओर **वहत**-ले चलो। इस प्रकार इस रथ का दोनों ओर ले चलना वह उपाय है **येन**-जिससे **देवासः**-देववृत्ति के लोग **प्रियं अभि**-उस प्रिय प्रभु की ओर **अनयन्**-अपने को ले जाते हैं व प्राप्त कराते हैं। प्रभु की आराधना इसी में है कि हम प्रभु से दिये गये इस रथ को ऐहिक व पारलौकिक कल्याण के लिये साधनरूप समझते हुए अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करें। धन व कर्म दोनों की ओर हमारा शरीर अग्रसर हो।

भावार्थ—हम इस शरीर रथ को धन व धर्म दोनों की ओर ले चलते हुए प्रिय प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संसार नदी (अश्मन्वती)

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ८ ॥

(१) यह संसार-नदी **अश्मन्वती**-पत्थरोंवाली है, इसमें तैरना सुगम नहीं। विविध प्रलोभन ही इसमें पत्थरों के समान हैं उनसे प्रतिक्षण टकराने का यहाँ भय है। **मह रीयते**-निरन्तर चल रही है। संसार में रुकने का काम नहीं, गति ही संसार है, यह संसार-नदी निरन्तर प्रवाह में है। (२) देव लोक परस्पर प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **संरभध्वम्**-परस्पर मिलकर तैयार हो जाओ

उत्तिष्ठत-उठ खड़े होवो, **सखायः**-मित्र बनकर, एक दूसरे का हाथ पकड़कर, **प्रतरता**-इसे तैर जाओ। इस संसार में अकेले में पतन का भय है, एक साथी को चुनकर हम इस नदी में फिसलने से सम्भल जाते हैं। (३) ये **अशेवाः असन्**-जो भी चीजें **अशेव**-असुखकर हैं उन्हें हम **अत्रा**-इसी किनारे **जहाम**-छोड़ दें, उनसे बोझल होकर तो हम इस नदी में डूब ही जाएँगे। **वयम्**-हम, इस प्रकार अशेष वस्तुओं के छोड़ने से हलके होकर **शिवान् वाजान् अभि**-कल्याणकर (धनों) की ओर **वाज**=wealth) **उत्तरेम**-तैरकर पहुँच जाएँ। यदि इस संसार-नदी को हम तैर गये तो फिर कल्याण ही कल्याण है। सारा अशिव इस पार ही है, परले पार तो शिव ही शिव है। नदी में डूबें नहीं। विषयों का बोझ लेकर तो इसे तैरने का सम्भव नहीं।

भावार्थ—यह संसार-नदी विषयरूप पाषाणों से पूर्ण है. दृढ़ निश्चय करके यदि हम इसे तैर गये तो फिर कल्याण ही कल्याण है।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

स्वायस परशु

त्वष्टा माया वेदुपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शन्तमा।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः ॥ ९ ॥

(१) **त्वष्टा**-वह संसार का निर्माता प्रभु **मायाः**=(wisdom=ज्ञान) सब ज्ञानों को **वेद**-जानता है और **अपसां अपस्तमः**-सर्वाधिक क्रियाशील है। प्रभु के सब कर्म ज्ञानमूलक होने से निर्दोष हैं, प्रभु की सब कृतियाँ पूर्ण हैं। (२) वे प्रभु ही **पात्रा**-इन शरीर रूप पात्रों को **बिभ्रत्**-धारण करते हैं, जो पात्र **देवपानानि**-देवों के लिये सोमपान के साधन होते हैं। 'सोम' शरीर में उत्पन्न होनेवाली वीर्यशक्ति है, देव इस शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। इस सोम के रक्षण से ही **शन्तमा**-ये शरीर रूप पात्र अत्यन्त शान्ति को लिये हुए होते हैं। इनमें आधि-व्याधियों की अशान्ति नहीं होती। (३) वे प्रभु ही **नूनम्**-निश्चय से **स्वायसम्**-उत्तम लोहे के बने हुए **परशुम्**-शत्रुओं को क्षीण करनेवाले (परान् श्यति) मन रूप कुल्हाड़े को **शिशीते**-तीव्र बनाते हैं। दृढ़ संकल्पयुक्त होना ही मन का लोहे से बना हुआ होना है। ऐसा व्यक्ति ही 'लोह-पुरुष' कहलाता है। यह दृढ़ संकल्पवाला मन सब वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला बनता है। (४) यह 'स्वायस परशु' वह है **येन**-जिससे **एतशः**-(एते शेते, एत-चित्र) विविध विज्ञानों में निवास करनेवाला **ब्रह्मणस्पतिः**-ज्ञानी पुरुष **वृश्चात्**-सब बुराइयों को छिन्न करता है। बुराइयों को छिन्न करके वह संसारवृक्ष को भी छिन्न करनेवाला बनता है और मोक्ष का लाभ प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानी व सर्वोत्तम क्रियाशील हैं। प्रभु ने हमें यह सुन्दर शरीर रूप पात्र दिया है, इसमें दृढ़ संकल्पवाला मन ही वह परशु है जिससे कि हम वासना को छिन्न करके मुक्त हो पाते हैं।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वेदज्ञान से अमृतत्व

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥ १० ॥

(१) हे **कवयः**-क्रान्तदर्शी, तत्त्व तक पहुँचनेवाले पुरुषो! **नूनम्**-निश्चय से **सतः**-सत्य का ज्ञान देनेवाले वेद के उपदेशों को **संशिशीत**-अपने में तीव्र करो। इन उपदेशों को अपने में

मननपूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न करो। ये वेद की वाणियाँ वे हैं **याभिः**=जिन **वाशीभिः**=वेदवाणियों से (वाशी=वाङ्नाम voice) तुम अपने को **अमृताय**=अमृतत्व के लिये **तक्षथ**=सम्पादित करते हो। इन वाणियों से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। (२) हे **विद्वांसः**=इन वाणियों का ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्वानो! **पदा**=इन प्रभु की प्राप्ति करानेवाले वेद शब्दों को **गुह्यानि**=हृदय रूप गुहा में स्थापित होनेवाला **कर्तन**=करो। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ने अग्नि आदि ऋषियों की हृदय रूप गुहा में इनका स्थापन किया। इन पदों को हम भी हृदयस्थ करने का प्रयत्न करें। यह वह प्रयत्न है **येन**=जिससे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अमृतत्वम्**=अमरता को **आनशुः**=प्राप्त होते हैं। वस्तुतः वेदज्ञान को हृदय में धारण करके उसके अनुसार जीवन को बिताते हुए हम 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' को प्राप्त करते ही हैं और इन चीज़ों की कामना से ऊपर उठने पर यह वेदज्ञान हमें ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कराता है। यही अमृतत्व की प्राप्ति है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके, उसे हम हृदयस्थ करें और तदनुसार जीवन को बिताते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'प्रणवो धनुः०'

गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।
स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर्वनते कार इज्जितिम्॥ ११॥

(१) गत मन्त्र के कवि-तत्त्वद्रष्टा लोग **गर्भे**=अपने हृदय देश में **योषाम्**=इन बुराइयों को दूर करनेवाली व अच्छाइयों से मेल करनेवाली वेदवाणी रूप योषा को **अदधुः**=स्थापित करते हैं। पिछले मन्त्र में यही भाव 'विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन' इन शब्दों से कहा गया था। (२) **वत्सम्**=इस वेदवाणी से प्रतिपादित होने के कारण इसके वत्स तुल्य 'अग्नि ई वै ब्रह्मणो वत्सः' (जै० उ० २।१३।१) उस अग्नि नामक प्रभु को **आसन्**=मुख में धारण करते हैं, अर्थात् मुख से उस प्रभु के ही नाम-स्मरण को करते हैं। 'वदति इति वत्सः' इस व्युत्पत्ति से वेदवाणी का सृष्टि प्रारम्भ में उच्चारण करनेवाले प्रभु ही वत्स हैं, उन प्रभु को ये लोग सदा स्मरण करते हैं। **अपीच्येन मनसा**=अन्तर्हित मन से, विषयों की ओर जाने से रोककर मन को हृदय में ही प्रतिष्ठित करने के द्वारा इस प्रभु का साक्षात्कार होता है, इसी अन्तर्निरुद्ध मन से ही प्रभु के नाम का मनन होता है। **उत**=और **जिह्वया**=जिह्वा से। ये लोग जिह्वा से प्रभु के नाम का जप करते हैं (तज्जपः) और निरुद्ध मन से उस नाम के अर्थ का चिन्तन करते हैं (तदर्थ भावनम्)। (३) **स**=इस प्रकार जप व भावन करने वाला वह व्यक्ति **विश्वाहा**=सदा **सुमनाः**=उत्तम मनवाला होता है प्रभु के स्मरण से सौमनस्य क्यों न प्राप्त होगा? यह **सिषासनिः**=प्रभु का सम्भजन करनेवाला व्यक्ति **योग्याः अभिवनते**=(योग्या-Ixercise लक्ष्यवेध की काया में) लक्ष्यवेध के अभ्यासों में विजय को प्राप्त करता है (वन् win)। क्षत्रिय लोग जैसे शराभ्यास करते हुए लक्ष्यवेध का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार यह उपासक प्रणव को धनुष बनाकर तथा आत्मा को ही शर बनाकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करने का प्रयत्न करता है। अभ्यास के द्वारा इसमें विजयी बनता है और **इत्**=निश्चय से **जितिं कार**=विजय को करनेवाला होता है। इस लक्ष्यवेध में विजेता बनकर यह होता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदवाणी को हम हृदय में धारण करें। प्रभु के नाम का जप व उसके अर्थ का भावन करें। ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करें, विजयी बनें।

सूक्त के प्रारम्भ में यही कहा था कि 'यमैच्छाम मनसा सोऽयमागात्'-जिस प्रभु की हमने कामना की थी वे प्रभु आये हैं। (१) यहाँ समाप्ति पर उस प्रभु में ही मिल जाने का उल्लेख है, (२) एवं यह सूक्त प्रभु के उत्कृष्ट उपासन का प्रतिपादन कर रहा है। अब प्रभु को प्राप्त करनेवाला खूब ही उस प्रभु का स्तवन करता है सो 'बृहदुक्थ:' कहलाता है और सुन्दर दिव्यगुणोंवाला होने से 'वामदेव्य' बनता है। यह 'बृहदुक्थ वामदेव्य' प्रार्थना करता है कि—

[५४] चतुःपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिव्यता का प्रादुर्भाव

तां सु ते कीर्तिं मघवन्महित्वा यत्त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम्।
प्रावो देवाँ आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र ॥ १ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! ते=आपकी **तां सुकीर्तिम्**=उस उत्तम कीर्ति को मैं करता हूँ **यत्**=कि **महित्वा**=आपकी महिमा के कारण **भीते रोदसी**=भयभीत हुए-हुए द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा अह्वयेताम्**=आपको पुकारते हैं। 'रोदसी' शब्द संसार के सब व्यक्तियों का यहाँ वाचक है। सब व्यक्ति प्रभु को चाहे भूले रहें, पर कष्ट आने पर विवशता में प्रभु का ही स्मरण करते हैं, सुख में सभी साथी होते हैं, पर दुःख में आपके अतिरिक्त और कोई साथी नहीं होता। (२) जब लोग आपकी ओर झुकते हैं तो आप **देवान् प्रावः**=दिव्यगुणों का रक्षण करते हैं। **दासम्**=दस्युपन को, दास्यव वृत्ति को, आसुरी-भावनाओं को **आतिरः**=पराभूत करते हैं। (३) हे **इन्द्र**=सब आसुर भावनाओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **यत्**=जब **त्वस्यै**=किसी एक धीर **प्रजायै**=विकास की प्रवृत्तिवाले पुरुष के लिये **ओजः**=ओजस्विता व शक्ति को **अशिक्षः**=(प्रायच्छः सा०) देते हैं तो उसे दिव्यगुणों के वर्धन व आसुर-भावों के क्षयवाला बनाते हैं। बस, बात यह है कि विषयों की आपात रमणीयता मनुष्य को उलझाये रखती है, मनुष्य इन सांसारिक चहल-पहलों में प्रभु को भूले रहता है। इस स्थिति में उसमें दिव्यगुणों का ह्रास व आसुर वृत्तियों का प्राबल्य हो जाता है। एक समय वह आता है जब कि वह अपने को कष्टों में उलझा हुआ पाता है। अब वह प्रभु की ओर झुकता है। प्रभु इसमें दिव्यगुणों का विकास करते हैं, उसकी आसुर भावनाओं का क्षय करते हैं। उसे ओजस्वी बनाते हैं कि वह उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सके।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में (क) दिव्यगुणों का वर्धन होता है, (ख) आसुर भावनाओं का क्षय होता है, (ग) और ओजस्विता प्राप्त होती है।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का युद्ध-वर्णन माया-मात्र है

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **तन्वा**=शरीर से **वावृधानः**=सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हुए आप **अचरः**=गति करते हो। और **जनेषु**=लोगों में **बलानि**=शक्तियों को **प्रब्रुवाणः**=उपदिष्ट करते हुए चलते हैं। **सा**=वह सब **ते**=आपकी **इत्**=ही **माया**=माया है। माया=दया है (fity comprssion)। प्रभु ने हमें शरीर देकर तथा शक्तियों का उपदेश देकर हमारे पर सचमुच दया की है। (२) लोग जो नासमझी के कारण **ते**=आपके **यानि युद्धानि**=जिन

दस्युओं (satan) से होनेवाले युद्धों का आहुः=कहते हैं सा=वह इत्=भी माया=आपकी माया ही है, प्रतीति मात्र है, आपके साथ युद्ध किसने करना? आप न अद्य=न तो आज और न नु पुरा=नांही पहले भी निश्चय से शत्रुम्=शत्रु को विवित्से=प्राप्त करते हैं। आपका शत्रु बन ही कौन सकता है? आपकी कोई विरोधी शक्ति नहीं है। संसार में आपकी व्यवस्था से ही सब कार्य हो रहे हैं। शक्ति व बुद्धि को देकर जीव को स्वयं चलने की जो आपने स्वतन्त्रता दी है उसी के कारण वह गिरता है तो कष्ट भी उठाता है। स्वतन्त्रता देनी भी आवश्यक है, उसके अभाव में तो वह किसी भी प्रकार से उन्नति न कर पाता। संसार के दु:ख ईश-विरोधी शक्ति शैतान के कारण नहीं है। नांही प्रभु के इन विरोधियों के साथ कोई युद्ध ही होते हैं?

भावार्थ—प्रभु हमें उन्नति के साधन प्राप्त कराते हैं। उन साधनों का स्वतन्त्रता से प्रयोग करते हुए हमें गलतियों के कारण कष्ट भी होते हैं। ईश के विरोधी के कारण ये कष्ट नहीं हैं।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

महिमा का आनन्त्य

क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत्पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! ते=आपकी समस्य=सम्पूर्ण महिमनः=महिमा के अन्तम्=अन्त को नु=अब अस्मात्=हमारे में से के=कौन पूर्वे=अपने जीवन में पूर्ति को लाने का प्रयत्न करनेवाले ऋषयः=तत्त्वद्रष्टा लोग उ=निश्चय से आपुः=प्राप्त कर पाते हैं। अर्थात् बड़े-से-बड़े तत्त्वज्ञानी भी आपकी महिमा को पूर्णतया माप नहीं सकते। आपकी अनन्त महिमा के अन्त पाने का सम्भव हो ही कैसे सकता है? (२) यत्=जो आप स्वायाः तन्वः=अपने इस प्रकृति-रूप शरीर से मातरं च पितरं च=पृथिवी रूप माता को और द्युलोक रूप पिता को साकम्=साथ-साथ अजनयथाः=उत्पन्न करते हैं। मनु के शब्दों में प्रभु ने एक सूर्य के समान देदीप्यमान हैम अड को पैदा किया और 'स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद् द्विधा। ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे' (१।१८) ध्यान के द्वारा उस अण्ड को दो भागों में बाँटकर द्युलोक व पृथ्वीलोक को बना दिया। प्रकृति उपादान है, तो प्रभु इस ब्रह्माण्ड जाल के निमित्तकारण हैं। इस ब्रह्माण्ड का एक-एक लोक प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करता है। पृथ्वी से किस प्रकार विविध गन्धों रूपों व रसों को लिये हुए फल-फूल उत्पन्न होते हैं? द्युलोक को किस प्रकार देदीप्यमान नक्षत्र शोभा से युक्त कर रहे हैं? इन सब में प्रभु की महिमा का स्मरण होता है।

भावार्थ—उस प्रभु की महिमा अनन्त है। प्रभु इस प्रकृति से भूमि व द्युलोक का अद्भुत निर्माण करते हैं।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥ ४ ॥

(१) हे मघवन्=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! महिषस्य=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य ते=आपके चत्वारि=(चत्-नाशने terrify) आसुरवृत्तियों को नष्ट करनेवाले, असुर्याणि=आसुरवृत्तियों के दूर करने के लिये साधनभूत अदाभ्यानि=न हिंसित होनेवाले नाम=शत्रुओं को झुका देनेवाले बल

सन्ति-हैं। हे अंग-सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! त्वम्-आप ही तानि विश्वानि-उन सब बलों को वित्से-जानते हैं। ये वे बल हैं येभिः-जिनसे कर्माणि-सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय व कर्मानुसार विविध योनियों में प्राणियों को जन्म देने रूप कर्मों को आप चकर्थ-करते हैं। (२) प्रभु की शक्तियाँ आसुर वृत्तियों को नष्ट करनेवाली हैं। मनुष्य स्वयं आसुर-भावनाओं को जीतने में समर्थ नहीं होता। प्रभु की शक्ति को धारण करने पर ही इनको हम नष्ट कर पाते हैं। इन शक्तियों के द्वारा ही हमने उत्तम कर्मों को करना है, इनके द्वारा ही लोक धारण में प्रवृत्त होना है। ये शक्तियाँ ही हमें आसुरभावों को नष्ट करने के योग्य बनायेंगी और इन्हीं से हम न्याय्य मार्ग पर चलते हुए किसी को उसके अधिकार से वञ्चित न करना चाहेंगे।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति हिंसित नहीं हो सकती। इन शक्तियों से अपने को शक्ति-सम्पन्न बनाकर हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वसु (धन)

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि।
काममिन्मे मघवन्मा वि तारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ॥ ५ ॥

(१) हे मघवन्-सर्वैश्वर्यशालिन् प्रभो! त्वम्-आप विश्वा-सम्पूर्ण केवलानि-जिनके कारण आनन्द में विचरण होता है (के वलते) अथवा जो असाधारण हैं, यानि आविः-जो प्रकट हैं या च गुहा-और जो गुहा निहित हैं, अप्रकट हैं, उन सब वसूनि-निवास के लिये उपयोगी ऐश्वर्यों व पदार्थों को दधिषे-धारण करते हैं। सम्पूर्णों ऐश्वर्यों के निधान प्रभु हैं। चाहे वे ऐश्वर्य इस वसुन्धरा से उत्पन्न होकर प्रकट हो रहे हैं और चाहे इसके गर्भ में अप्रकट रूप से रखे हुए हैं। अन्न इत्यादि के रूप में प्रकट वसु हैं तथा आकरों में निहित स्वर्ण-रजत आदि अप्रकट वसु हैं। (२) हे मघवन्! आप मे-मेरी कामम्-अभिलाषा को मा वितारीः-मत हिंसित करिये, अर्थात् उसे अवश्य पूर्ण करिये। आपकी कृपा से मैं सब आवश्यक वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनूँ। हे प्रभो! त्वं आज्ञाता-आप ही आज्ञा देनेवाला हैं, आपके निर्देश में ही सारा ब्रह्माण्ड गति करता है। हे इन्द्र-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! त्वम्-आप ही दाता असि-सब धनों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब वसुओं के निधान हैं। वे ही सब वसुओं के आज्ञाता व दाता हैं। वे ही हमारी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्योति व माधुर्य

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि।
अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि ॥ ६ ॥

(१) यः-जो इन्द्र-परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं वे ज्योतिषि अन्तः-ज्योतिर्मय आदित्य आदि देवों में ज्योतिः-प्रकाश को अदधात्-स्थापित करते हैं। सूर्यादि देव अपनी ज्योति से दीप्त नहीं हो रहे, इनमें प्रभु ही ज्योति को स्थापित करनेवाले हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। प्रभु से दीप्ति को पाकर ही ये देव देवत्व को प्राप्त होते हैं 'तेन देवाः देवतामग्र आयन्'। बुद्धिमानों को बुद्धि रूप ज्योति भी प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। (२) प्रभु वे हैं यः-जो मधूनि-जलों को मधुना-मधुर रस से समसृजत्-संसृष्ट करते हैं। जलों में रस प्रभु ही हैं। मानव स्वभाव को भी प्रभु-कृपा से

ही माधुर्य प्राप्त होता है। वे प्रभु ही हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं और हमारी वाणी को स्वादवाला, रसीला करते हैं। 'केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु'। (३) **अथ**-अब इसी उद्देश्य से **ब्रह्मकृतः**-ज्ञान का सम्पादन करनेवाले **बृहदुक्थात्**-वृद्धि के कारणभूत स्तोत्रोंवाले व खूब स्तवन करनेवाले व्यक्ति से **इन्द्राय**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **प्रियम्**-प्रीति को देनेवाला **शूषम्**-बल वृद्धि का कारणभूत **मन्म**-स्तोत्र **अवाचि**-उच्चारित होता है। ज्ञानी स्तोता (ब्रह्मकृत् बृहदुक्थ) खूब ही प्रभु का स्तवन करता है इस स्तवन में वह प्रीति का अनुभव करता है और अपने में शक्ति के संचार को होता हुआ पाता है। प्रभु-भक्त का जीवन अन्दर ज्योतिर्मय होता है और बाहिर शान्त जल के प्रवाह की तरह रसीली वाणीवाला होता है। 'मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति तथा वाणी में रसमय जल की तरह शान्त शब्द' प्रभु-भक्त के जीवन को आदर्श बना देते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र ज्योति व माधुर्य को धारण करनेवाले हैं। हम उनका स्तवन करें, इससे आनन्द व शक्ति मिलेगी।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु के उपासन से दिव्यता का वर्धन होता है। (१) साधनों का ठीक प्रयोग न होने पर कष्ट भी आते ही हैं, (२) उस प्रभु की महिमा अनन्त है, (३) उसकी शक्ति अहिंसित है, (४) सब वसुओं के वे निधान हैं, (५) ज्योति व माधुर्य के धारण करनेवाले हैं, (६) वे प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अपनी शक्ति को पहचानो

दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैर्यत्त्वा भीते अह्वयेतां वयोधै।
उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान्मघवन्तित्विषाणः ॥ १ ॥

(१) हे **मघवन्**-सर्वैश्वर्यवन् प्रभो! आपका **गुह्यम्**-प्रत्येक व्यक्ति की हृदय रूप गुहा में निवास करनेवाला **तत् नाम**-वह प्रसिद्ध शत्रुओं को झुका देनेवाला बल **पराचैः**-(परा अञ्च्) बहिर्मुखी वृत्तिवाले पुरुषों से **दूरे**-दूर है। बहिर्मुखी वृत्तिवाले पुरुष आपको भूले रहते हैं और आपको भूल जाने से हृदयस्थ आपकी शक्ति का वे अनुभव नहीं कर पाते। परिणामतः काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से वे सदा पीड़ित रहते हैं। (२) **यत्**-जो **भीते**-भयभीत हुए-हुए ये द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् सब प्राणी **त्वा**-आपको **अह्वयेताम्**-पुकारते हैं, तो वे **वयोधै**-अन्न के धारण के लिये ही। इन आर्तभक्तों की प्रार्थना आर्ति व पीड़ा को दूर करने के लिये ही होती है, वे सांसारिक चीजों की प्राप्ति की ही कामना व याचना करते हैं। (३) हे प्रभो! आप तो **पृथिवीं द्याम्**-पृथ्वीलोक और द्युलोक को **उद् अस्तभ्नाः**-बड़े उत्कृष्ट रूप में थामे हुए हैं। ये पृथ्वीलोक व द्युलोक आपकी व्यवस्था के अनुसार **अभीके**-(अभि-अञ्च्) एक दूसरे की ओर गतिवाले हैं, पृथ्वी का जल वाष्पीभूत होकर ऊपर जाता है और द्युलोकस्थ सूर्य की किरणें निरन्तर इस पृथ्वीलोक में प्रकाश व प्राण शक्ति का संचार कर रही हैं। इस प्रकार ये पृथ्वी व द्युलोक हमारे माता-पिता के समान होकर हमारा पालन करते हैं। माता व पिता जिस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं उसी प्रकार पृथ्वी व द्युलोक भी एक दूसरे के पूरक हैं। (४) हे मघवन्! आप **भ्रातुः**-('भ्रातान्तरिक्षम्' अथर्व०) इस अन्तरिक्ष के **पुत्रान्**-(पुनाति त्रायते) पवित्र करनेवाले व रक्षण करनेवाले वायुओं को व विद्युतों को **तित्विषाणः**-दीप्त करनेवाले हैं। वायु तो अच्छिद्र-पवित्र है ही, विद्युत् भी दोषों को दग्ध करके हमारा त्राण करनेवाली है, विद्युत् चिकित्सा में विद्युत् के इसी गुण का लाभ

लिया गया है। ये वायु व विद्युत् अन्तरिक्ष रूप भ्राता के मानों पुत्र ही हैं। (५) सब अन्नों व ओषधियों को देनेवाली पृथ्वी 'माता' हैं। सूर्य के प्रकाश व प्राणशक्ति के द्वारा रक्षण करनेवाला द्युलोक 'पिता' है, वायुओं व विद्युत् के द्वारा हमारा भरण करनेवाला अन्तरिक्ष 'भ्राता' है। इन सब में प्रभु की शक्ति को देखनेवाला 'बृहदुक्थ'-खूब स्तवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—पराङ्मुखी वृत्तिवाला मनुष्य हृदयस्थ प्रभु के बल का अनुभव नहीं कर पाता।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पञ्च प्रियों का प्रभु में प्रवेश

महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग्येन भूतं जनयो येन भव्यम्।
प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च॥ २॥

(१) हे प्रभो! **तत्**-वह प्रसि **नाम**-काम-क्रोध आदि शत्रुओं को झुका देनेवाला आपका बल **गुह्यम्**-प्रत्येक व्यक्ति के हृदय रूप गुहा विद्यमान है, **महत्**-यह बल महनीय है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केवल यही बल है जो कि कामदेव को भस्म कर देता है। **पुरुस्पृः**-यह बल ऐसा कि (पुरु पथा स्यात् तथा स्पृशति) स्पर्श करता हुआ पालन व पूरण करता है। जिसके साथ इस बल का सम्पर्क होता है, वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता (पालन) उसके मन में लोभादि के कारण न्यूनताएँ नहीं आ जाती (पूरण)। (२) यही वह बल है **येन**-जिससे **तम्**-भूतकाल में सृष्टियों का आपने **जनयः**-निर्माण किया, **येन**-जिससे **भव्यम्**-भविष्य की सृष्टियों का भी आप निर्माण करेंगे। आपका भक्त भी इस बल से बलवाला होकर अपने भूत व भविष्य को उज्ज्वल बनानेवाला होता है। इस भक्त के हृदय में **यत्**-जो **अस्य**-इस प्रभु की **प्रत्नं ज्योतिः**-सनातन ज्योति वेदरूप है वह **जातम्**-प्रादुर्भूत होती है। (३) इस ज्योति के अनुसार कार्य करते हुए **पञ्च प्रियाः**-'पची विस्तारे' अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले और अतएव प्रभु के प्रिय लोग **प्रियम्**-अपने प्रिय उस प्रभु में **समविशन्त**-प्रवेश करते हैं अथवा 'पञ्च प्रियाः'=पाँच शरीर के कारणरूप भूतों को, पाँचों प्राणों को, पाँचों कर्मेन्द्रियों को, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को तथा 'हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' रूप अन्तःकरण पंचक को प्रीणित करनेवाले लोग उस प्रिय प्रभु में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के बल से बलवाले होकर ही हम भूत व भव्य का निर्माण करते हैं। अपनी शक्तियों का विस्तार करके प्रभु में प्रवेश के अधिकारी होते हैं।

नोट—'पंच प्रियाः' शब्द सिखों के पाँच प्यारों का वाचक यहाँ नहीं है।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्यरूप विभूति

आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन॥ ३॥

(१) प्रभु की विभूति यह सूर्य **रोदसी**-द्युलोक व पृथ्वीलोक को **आ अपृणात्**-समन्तात् प्रकाश से परिपूर्ण कर देता है, **उत**-और **मध्यं आ**-इस अन्तरिक्षलोक रूप मध्य लोक को भी यह प्रकाश से व्याप्त करता है। वस्तुतः सूर्य के रूप में प्रभु का प्रकाश ही इन सब लोकों को दीप्त करता है। (२) व सूर्य ही प्राणियों के शरीरों में रोगों को जीतने की कामना करनेवाले **पंच देवान्**-प्राण, अपान, व्यान, उदान व समान रूप पाँच प्राणों को **आ अपृणात्**-समन्तात् पूरित

करता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=सूर्य ही प्रजाओं का प्राण है। ये प्राण रोगों को जीतने के कारण देव कहलाते हैं 'दिव् विजिगीषा'। **क्रतुशः**=समय-समय पर यह सूर्य **सप्त**=सर्पणशील **सप्त**=अपनी सात रंगों की किरणों को सर्वत्र पूरित करता है। इनके द्वारा ही वह सब प्राणदायी तत्त्वों को वनस्पति आदि में धारण करता है। (३) **चतुस्त्रिंशता**=तेंतीस देवों के अधिष्ठातृरूप उस चौंतीसवें प्रभु के साथ यह सूर्य **पुरुधा**=नाना प्रकार से **विचष्टे**=प्राणियों का पालन करता है (विचक्ष्=to look after)। **सरूपेण ज्योतिषा**=समानरूपवाली अपनी ज्योति से, जो **विव्रतेन**=विविध व्रतोंवाली है, उस ज्योति से वह सूर्य सभी का पालन करता है। सूर्य की सात रंगों की किरणें भिन्न-भिन्न प्राणदायी तत्त्वों की (vitamins) स्थापना करती हुई 'वि-व्रत' हैं। सब मिलकर के एक श्वेत रूप अप्रकट हो रही हैं। एवं विव्रत होती हुई ये समान हैं। वस्तुतः इन में विविध प्राणशक्तियों को स्थापित करता हुआ प्रभु ही सबका पालन करता है। यह सूर्य प्रभु की अद्भुत विभूति है।

भावार्थ—सूर्य सर्वत्र प्रकाश को फैलाता है। अपनी किरणों द्वारा सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करता हुआ सबका पालन करता है।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषा

यदुष औच्छः प्रथमा विभानामजनयो येन पुष्टस्य पुष्टम्।
यत्ते जामित्वमवरं परस्या महन्महत्या असुरत्वमेकम्॥ ४॥

(१) हे **उषः**=उषे **यत्**=जो तू **औच्छः**=अन्धकार को दूर करती है सो **विभानां प्रथमा**=ज्योतियों में सर्वप्रथम होती है। तू उस ज्योतिवाली है **येन**=जिससे **पुष्टस्य**=प्रत्येक पोषणयुक्त के **पुष्टम्**=पोषण को **अजनयः**=उत्पन्न करती है उषा की ज्योति वायुमण्डल में ओजोन गैस की उत्पत्ति का कारण होती है, उस गैस की उत्पत्ति से यह सबका पोषण करती है। उषाकाल में भ्रमण का इसीलिए महत्त्व है। (२) **परस्याः**=उत्कृष्ट होती हुई भी **ते**=तेरा **यत्**=जो **अवरम्**=यहाँ नीचे (अस्मदभिमुखम्) हमारे साथ **जामित्वम्**=सम्बन्ध है वह **महत्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **महत्या**=महनीय-आदरणीय तेरा **असुरत्वम्**=(असून् राति, तस्य भावः) प्राणशक्ति को देने का गुण **एकम्**=अद्वितीय ही है। इस उषा के साथ सम्बन्ध को स्थापित करनेवाले व्यक्ति देव बन जाते हैं 'उषर्बुधो हि देवाः'। देव ही क्या, देव बनकर ब्रह्म को प्राप्त करते हुए ये ब्रह्म जैसे बन जाते हैं, ब्रह्म के साथ इनका सम्बन्ध होता है, इसलिए ही इस उषा के समय को 'ब्राह्म-मुहूर्त' कहने की परिपाटी है।

भावार्थ—उषा का प्राणशक्तिदायकता का गुण अनुपम हैं।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

काल-चक्र (जन्म से मृत्यु तक)

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान॥ ५॥

(१) **विधुम्**=चन्द्रमा के समान अपने सौन्दर्य से औरों के हृदयों को विद्ध करनेवाले बालक उत्पन्न होता है, उसका सुन्दर मुख सभी को अपनी ओर आकृष्ट करता है, सो बालक विधु है। (२) कुछ बड़ा होकर **दद्राणम्**=विविध गतियों को यह निरन्तर करनेवाला होता है, इसके लिये

शान्त बैठ सकने का सम्भव नहीं होता। बालक शब्द का अर्थ ही 'बल संचलने', संचलनशील है। (३) **बहूनाम्**-बहुतों के समने (सम् अननात्, अन् प्राणने) यह सम्यक् प्राणित करने में होता है, इसको देखकर माता-पिता आदि जी से उठते हैं। (४) धीमे-धीमे बढ़ता हुआ यह युवा बनता है। इस युवावस्था में यह 'यु मिश्रणामिश्रणयो:'-खूब जोड़-तोड़ में लगा रहता है। कुछ अच्छी वृत्ति होने पर बुराइयों से अपना अमिश्रण व अच्छाइयों से अपना मिश्रण करता है। पर यह चहल-पहल का जीवन बहुत देर तक नहीं रहता। **युवानं सन्तम्**-नौजवान होते हुए इसको **पलित:**-बुढ़ापे के कारण होनेवाली बालों की सफेदी **जगार**-निगल लेती है। यह वृद्ध हो जाता है। यौवन की चहल-पहल व उमंगे समाप्त हो जाती हैं। (५) हे जीव! तू **देवस्य**-उस क्रीड़ा करनेवाले, संसार रूप क्रीड़ा के (खेत के) अधिष्ठाता उस प्रभु के **काव्यम्**-इस अद्भुत कर्म को, कविता (wisdom, प्रज्ञा) पूर्ण कर्म को **पश्य**-देख कि **महित्वा**-उसकी महिमा से **स**-वह व्यक्ति जो **ह्य:**-अभी कल ही **समान**-सम्यक् प्राणधारण कर रहा था, बिलकुल ठीक-ठाक था, वह **अद्य ममार**-आज मृत्यु का ग्रास हो गया है, वस्तुत: यह मृत्यु की घटना रहस्यमय होने से 'काव्य' ही है। यह मृत्यु रूप कर्म प्रज्ञा-पूर्ण भी है, क्योंकि इसके अभाव में यह संसार रहने योग्य न रहता, चलने-फिरने के लिये भी स्थान न होता। एक विद्वान् का यह वाक्य ठीक ही है कि 'Hed there been no death, manhwind world gave been foreed to intewt it'-मृत्यु न होती, तो इसका भी आविष्कार ही करना पड़ता। (६) इस प्रकार कालचक्र में एक दिन हम शरीरधारण करके जीवनयात्रा को प्रारम्भ करते हैं और उसमें आगे बढ़ते हुए एक दिन अन्तिम स्थान पर पहुँच जाते हैं। यह सारी ही चीज विचारने पर अद्भुत-सी लगती है।

भावार्थ—प्रभु के कालचक्र में हम एक दिन आते हैं और आगे और आगे चलते हुए एक दिन चले जाते हैं।

ऋषि:—बृहदुक्थो वामदेव्य: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

सत्य-ज्ञान व स्पृहणीय धन

शाक्मना शाको अरुण: सुपर्ण आ यो मह: शूर: सनादनीळ:।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता॥ ६॥

(१) वे प्रभु **शाक्मना शाक:**-सब शक्तियों से शक्ति-सम्पन्न हैं। सर्वशक्तिमान् हैं। **अरुण:**-(आरोचन: नि० ५।२०) समन्तात् दीप्त हैं अपनी शक्तियों से वे प्रभु चमकते हैं। **सुपर्ण:**-उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, शरीर में हमें रोगों से बचाते हैं तो हमारे मनों में न्यूनताओं को नहीं आने देते। (२) ये प्रभु **आ**-सब ओर से **मह:**-महान् ही महान् हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से निरतिशय ज्ञानवाले हैं तो सर्वाधिक शक्तिवाले हैं 'नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक: कुतोऽन्य:'-हे प्रभो! आपके समान कोई नहीं, अधिक तो हो ही कैसे सकता है? अतएव ये प्रभु (मह पूजायाम्) पूजा के योग्य हैं। **शूर:**-(शृ हिंसायाम्) हमारे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। **सनात्**-सदा से हैं प्रभु सनातन हैं। **अनीड:**-वे प्रभु बिना नीडवाले हैं, उनका कोई घर नहीं, वस्तुत: वे प्रभु ही सबके घर हैं। (३) वे प्रभु **यत्**-जो **चिकेत**-ज्ञान देते हैं **तत्**-वह ज्ञान **इत्**-निश्चय से **सत्यम्**-सत्य है, **न मोघम्**-वह ज्ञान व्यर्थ नहीं है। वेद में कोई भी शब्द अनावश्यक नहीं है। वेद का सम्पूर्ण ज्ञान सत्य व सार्थक है। (४) वे प्रभु जहाँ इस सत्य ज्ञान को हमें देते हैं, **उत**-और वहाँ **स्पार्हं वसु**-स्पृहणीय धन को **जेता**-जीतनेवाले होते हैं **उत**-और **दाता**-हमें देनेवाले हैं। सम्पूर्ण धनों का विजय प्रभु ही करते हैं। प्रभु कृपा से ही हमें

निवास के लिये आवश्यक धनों की प्राप्ति होती है। ज्ञान देते हैं और धन को देते हैं। धन के साथ ज्ञान के कारण धन का हम दुरुपयोग करने से बचते हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्तिशाली हैं। वे हमें सत्य-ज्ञान व स्पृहणीय-धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'कुरु कर्म त्यजेति च'

ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त देवाः ॥ ७ ॥

(१) **एभिः**=गत मन्त्र में वर्णित सत्य ज्ञानों से व स्पृहणीय धनों के ठीक प्रयोग से मैं **पौंस्यानि**=पुमान् (=पुरुष) के लिये हितकर **वृष्ण्या**=बलों को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। ज्ञान से वासनाओं का क्षय होता है, वासनाक्षय शक्तिवर्धन का कारण बनता है। (२) ये शक्तियाँ वे हैं **येभिः**=जिनसे **वज्री**=(वज गतौ) क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथों में धारण करनेवाला पुरुष **वृत्रहत्याय**=ज्ञान की आवरणभूत अतएव वृत्र नामवाली वासनाओं की हत्या के लिये **औक्षत्**=अपने को सिक्त करता है। क्रियाशीलता वासना को जीतने का साधन है और वासना विजय का परिणाम 'शक्तिवर्धन' है। (३) इस प्रकार **ये**=जो व्यक्ति कर्मशील होते हैं वे **क्रियमाणस्य कर्मणः मह्न**=इन किये जाते हुए कर्मों की महिमा से युक्त होते हैं और **ऋते कर्मम्**=कर्म के बिना होते हैं, अर्थात् कर्म करते हैं और उसे प्रभु के अर्पण करके बिना कर्मवाले हो जाते हैं, इस प्रकार जो व्यक्ति 'कुरु कर्म त्यजेति च' (कर्म करो और छोड़ दो) इन व्यास वचनों को जीवन में क्रियान्वित करते हैं वे **उत्**=इन कर्मों के अभिमान से ऊपर उठकर **देवाः**=देव **अजायन्त**=हो जाते हैं। देव वही है जो यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करता है और उन यज्ञों को भी संग व फल की इच्छा को छोड़कर ही करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक वसुओं का प्रयोग करते हुए शक्तिशाली बनें। कर्म करते हुए कर्म के अभिमान से ऊपर उठें, तभी हम देव बनेंगे।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दस्यु-निर्धमन

युजा कर्माणि जनयन्विश्वौजा अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट्।
पीत्वी सोमस्य दिव आ वृधानः शूरो निर्युधाधमद्दस्यून् ॥ ८ ॥

(१) **युजा**=उस प्रभु रूप सदा साथ रहनेवाले मित्र के साथ **कर्माणि जनयन्**=कर्मों को पैदा करता हुआ यह होता है। कर्म करता है और उन कर्मों को प्रभु की शक्ति से होता हुआ अनुभव करता है, इसीलिए उन कर्मों का उसे अभिमान नहीं होता। कर्मों के करते रहने से ही यह **'विश्वौजाः'**=यह व्याप्त बलवाला बनता है, सम्पूर्ण जीवन में शक्तिशाली बना रहता है, जीर्ण नहीं होता। शक्तिशाली बने रहने से **अशस्ति-हा**=सब अप्रशस्त बातों को यह समाप्त करता है, इसके शरीर में रोग नहीं होते, मन में राग-द्वेष नहीं होते तथा बुद्धि में कुण्ठता नहीं रहती। **विश्वमनाः**=यह व्यापक व उदार मनवाला बनता है। इसके मन में उदारता के कारण किसी प्रकार की मलिनता नहीं रहती। **तुराषाट्**=यह शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। संकुचित हृदय में ही वासनाएँ पनपा करती हैं। विशाल हृदय में वासनाएँ नहीं रह पाती, वे विनष्ट हो जाती हैं। (२) इस प्रकार अपने जीवन को बनाने के लिये यह **सोमस्य**=शरीर में उत्पन्न सोम (=वीर्य)

शक्ति का पान करके **दिवः**=ज्ञानों को **आवृधानः**=सर्वथा बढ़ाता हुआ यह **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला बनता है और **युधा**=हृदय के रणक्षेत्र में चलनेवाले अध्यात्म युद्ध के द्वारा **दस्यून्**=ध्वंसक वृत्तियों को, इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करनेवाले काम को, मन को नष्ट करनेवाले क्रोध को, बुद्धि को नष्ट करनेवाले लोभ को **निरधमत्**=सन्तप्त करके दूर कर देता है।

भावार्थ—कर्म से शक्ति बढ़ती है, बुराइयाँ नष्ट होती हैं। हम सोम को शरीर में सुरक्षित करके ज्ञान को बढ़ाते हैं और शूर बनकर 'काम-क्रोध-लोभ' को पराभूत करते हैं।

'पराङ्मुखी वृत्तिवालों से प्रभु दूर रहते हैं' इन शब्दों से सूक्त का प्रारम्भ होता है, (१) और सोमरक्षण के द्वारा ज्ञान को बढ़ाकर काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठने के साथ सूक्त का अन्त है, (२) काम-क्रोध व लोभ के नाश से 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' की ज्योतियों का उदय होता है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तीन ज्योतियाँ

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥ १ ॥

(१) प्रभु अपने स्तोता 'बृहदुक्थ' से कहते हैं कि **इदम्**=यह **ते**=तेरी **एकम्**=प्रथम ज्योति है। शरीर में यह **'वैश्वानर'** अग्नि (जाठराग्नि) के रूप से रहती है, यह ठीक से प्रज्वलित रहकर शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनती है। स्वास्थ्य के तेज से यह बृहदुक्थ चमक उठता है। (२) **उ**=और **ते**=तेरी **एकम्**=एक ज्योति **परः**=और अधिक उत्कृष्ट है। यह हृदय की निर्मलता का कारण बनती है। इस ज्योति के कारण राग-द्वेष के अन्धकार से ऊपर उठकर तू प्रकाशमय व उल्लासमय हृदयवाला होता है। तू सब के साथ एकत्व के अनुभव से तेजस्वी बन जाता है। (३) अब तू मस्तिष्क में निवास करनेवाली **तृतीयेन**=तीसरी ज्ञानरूप **ज्योतिषा**=ज्योति के साथ **संविशस्व**=जीवन को आनन्दमय बनानेवाला हो। प्राज्ञ बनकर तू उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव कर। (४) इस प्रकार **तन्वः**=शरीर के **संवेशने**=इन तीन ज्योतियों से युक्त करने पर **चारुः एधि**=तू अत्यन्त सुन्दर जीवनवाला हो। वास्तव में इससे अधिक सुन्दर जीवन क्या हो सकता है कि शरीर स्वास्थ्य की ज्योति से चमकता हो, मन नैर्मल्य के कारण प्रसाद व उल्लासवाला हो और मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो। तू इस **परमे जनित्रे**=सर्वोत्कृष्ट विकास के होने पर **देवानाम्**=सब देवों का **प्रियः**=प्रिय हो। सब देव तेरे साथ अनुकूलतावाले हों। बाह्य देवों का अन्दर के देवों के साथ आनुकूल्य ही शान्ति है। इस शान्ति में ही सुख है।

भावार्थ—शरीर, मन व मस्तिष्क की ज्योतियों को सिद्ध करके हम परम विकास को सिद्ध करें और अपने जीवन को देवों की अनुकूलता में शान्त व सुखी बनाएँ।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आत्मज्योति में प्रवेश

तनूष्टे वाजिन्तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धातु शर्म तुभ्यम्।
अहुतो महो धरुणाय देवान्दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयाः ॥ २ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—हे **वाजिन्**=शक्ति-सम्पन्न जीव! **ते तनूः**=तेरा शरीर अपने को **तन्वम्**=(तनु विस्तारे) विस्तार को **नयन्ती**=प्राप्त कराता हुआ **वामम्**=उस सुन्दर शरीर को

अस्मभ्यम्-हमारे लिये **धातु**-(दधातु) धारण करे। हमें चाहिए कि हम (क) शक्तिशाली बनें, (ख) शरीर के सब अंगों की शक्तियों का विस्तार करें, (ग) इस शरीर को सर्वांग सुन्दर बनाकर प्रभु प्राप्ति के लिये यत्नशील हों। इस शरीर का मुख्य प्रयोजन प्रभु प्राप्ति ही है, अपवर्ग (मोक्ष) मुख्य उद्देश्य है, भोग प्रासंगिक वस्तु है। भोग को प्रासंगिक वस्तु रखने से ही शरीर 'स्वस्थ, सशक्त व सुन्दर' बनता है और हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है। इस प्रकार जीवन में स्वस्थ शरीर से अपवर्ग की ओर चलने पर प्रभु कहते हैं कि **तुभ्यं शर्म**-तेरे लिये कल्याण हो। (२) **अहुतः**-(अनवपतितः) तेरा जीवन पतित व कुटिल न हो। **महः**-प्रभु की तू पूजा करनेवाला बन। **देवान् धरुणाय**-दिव्य गुणों को धारण करने के लिये **स्वं ज्योतिः**-आत्मज्योति में **आमिमीयाः**-प्रवेश करनेवाला बन उसी प्रकार **इव**-जैसे कि **दिवि**-द्युलोक में सूर्य-ज्योति है। द्युलोकस्थ सूर्य-ज्योति के समान तू आत्मज्योति में प्रवेश कर। इस आत्मज्योति के मार्ग पर चलने से उत्तरोत्तर तेरी दैवी सम्पत्ति वृद्धि को प्राप्त होती जाएगी।

भावार्थ—शरीर की शक्तियों का विस्तार करके शरीर को हम सुन्दर बनाएँ। इसे प्रभु प्राप्ति के लिये धारण करें। आत्मज्योति में प्रवेश करने पर हम दिव्यगुणों को धारण करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व प्रेरणा की प्राप्ति

वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः सुवितः स्तोमं सुवितो दिवं गाः।
सुवितो धर्मं प्रथमानु सत्या सुवितो देवान्त्सुवितोऽनु पत्म॥ ३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'आत्मज्योति में प्रवेश करने पर हम कैसे बनते हैं?' उसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि तू **वाजिनेन**-(वाज+इन)-सब शक्तियों के स्वामी उस प्रभु से **वाजी असि**-शक्तिशाली बनता है। प्रभु में प्रवेश करने पर हमारी शक्ति उसी प्रकार बढ़ती है जैसे कि लोहे की शलाका अग्नि में प्रविष्ट होकर अग्नि की शक्ति को प्राप्त करती है। इस शक्ति को प्राप्त करके तू **सुवेनीः**-(सुष्ठु कान्तः) 'उत्तम सुन्दर तेजस्वी' प्रतीत होता है। (२) प्रभु में प्रवेश करने पर यहाँ शक्ति प्राप्त होती है, वहाँ प्रभु से हमें उत्तम प्रेरणा भी प्राप्त होती है और **सुवितः**-उत्तम प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ तू **स्तोमम्**-स्तुति को **गाः**-प्राप्त होता है, तू प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। **सुवितः**-उत्तम प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ तू **दिवं गाः**-ज्ञान की ज्योति को प्राप्त होता है। **सुवितः**-उस उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला तू **प्रथमा सत्या धर्म**-मुख्य सत्य धर्मों को **अनुगाः**-पालन करनेवाला होता है। वेद में यज्ञ के अन्तर्गत 'देवपूजा-संगतिकरण व दान' इनको मुख्य धर्म कहा है। प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' आदि देवों का पूजन करता है, परस्पर प्रेम से मिलकर चलनेवाला होता है, छोटों को सदा देनेवाला, उसपर अनुग्रह की वृत्तिवाला होता है। **सुवितः**-उत्तम प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ यह **देवान्**-दिव्यगुणों को प्राप्त करनेवाला होता है और **सुवितः**-सदा सुप्रेरित हुआ-हुआ **पत्म**-मार्ग का **अनु (गाः)**-अनुसरण करता है। मार्ग का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में ही 'स्तोमं-दिवं-प्रथमा सत्या धर्म व देवान्' इन शब्दों द्वारा व्यक्त रूप से किया गया है। स्तुति, ज्ञान, देवपूजा, संगतिकरण, दान व दिव्यगुणों का अर्जन ही मार्ग है, इसी मार्ग पर हमें चलना है।

भावार्थ—आत्मज्योति की ओर चलने से शक्ति प्राप्त होगी तथा उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करके हम मार्ग का अनुसरण करेंगे। मार्ग यह है (क) प्रभुस्तवन, (ख) ज्ञान प्राप्ति, (ग) देवपूजा, संगतिकरण, दान, (ग) दैवी सम्पत्ति का अर्जन।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

पितरः देवाः

महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम्।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥ ४ ॥

(१) जो व्यक्ति कर्मप्रधान जीवनवाले हैं वे 'पितर' कहलाते हैं, ये रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत रहते हैं। ज्ञानप्रधान जीवनवाले व्यक्ति 'देव' हैं, इनका समय 'अध्ययनाध्यापन' में बीतता है। इनमें **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए कर्मप्रधान जीवनवाले व्यक्ति **एषाम्**=गत मन्त्र में वर्णित प्रथम धर्मों की **महिम्नः**=महिमा से **चन**=निश्चयपूर्वक **ईशिरे**=ईश बनते हैं, अपने कार्यों के करने में समर्थ होते हैं, इनकी कर्मेन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं और 'देव-पूजा, संगतिकरण व दान' रूप कर्मों से पवित्र व सशक्त जीवनवाले होते हुए ये अपने कार्यों को सफलता से करनेवाले होते हैं। (२) **देवाः अपि**=ज्ञानी पुरुष भी **एषां महिम्नः**=इन्हीं 'देव-पूजा, संगतिकरण व दान' रूप धर्मों की महिमा से **देवेषु**=अपनी ज्ञानेन्द्रियों में **क्रतुम्**=प्रज्ञान को **अदधुः**=धारण करते हैं। इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति रूप कर्म में अधिक शक्त बनती हैं। (३) **समविव्यचुः**=ये जो कर्मेन्द्रियाँ इनके जीवन में विस्तृत शक्तिवाली होती हैं (व्यच्-विस्तारे) **उत**=और **यानि**=ये जो ज्ञानेन्द्रियाँ **अत्विषुः**=ज्ञान के प्रकाशवाली होती हैं ये **एषां तनूषु**=इन पितरों व देवों के शरीरों में **पुनः**=फिर से **आ**=सर्वथा **निविविशुः**=निश्चित रूप से प्रवेश करती है। विषयों में व्यर्थ न भटकती हुई ये अपने-अपने कार्यों में ठीक से लगी रहती हैं।

भावार्थ—हम देवपूजा आदि धर्मों के पालन से कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाकर रक्षणात्मक कार्यों में लगनेवाले 'पितर' बनें, ज्ञानेन्द्रियों को सशक्त बनाकर ज्ञान-ज्योति को फैलानेवाले देव हों।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सहनशीलता

सहोभिर्विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः।
तनूषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के पितर व देव **सहोभिः**=शक्तियों के द्वारा **विश्वं रजः**=सम्पूर्ण लोक में **परिचक्रमुः**=विचरण करते हैं। 'शरीर' पृथिवीलोक है, 'हृदय' अन्तरिक्षलोक है और 'मस्तिष्क' द्युलोक है। पितर व देव अपनी त्रिलोकी को सशक्त बनाते हैं। शरीर की दृढ़ता, हृदय की विशालता, मस्तिष्क की उज्ज्वलता इन्हें अलंकृत जीवनवाला बना देती है। विशेषकर ये अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाते हैं, उसमें सहनशक्ति होती है। इनके हृदय में सभी के लिये स्थान होता है, सबका जिसमें प्रवेश है वही हृदय 'विश्वं रजः' कहलाता है। (२) ये लोग **पूर्वाधामानि**=पालन व पूरण करनेवाले तेजों को **अमिता**=अमितरूप में अत्यधिक **मिमानाः**=बनानेवाले होते हैं। ये तेज ही इनको विकृतियों से बचानेवाले होते हैं। इनके शरीर स्वस्थ रहते हैं, मन भी क्रोध, ईर्ष्या आदि से रहित बने रहते हैं और इनके मस्तिष्क सदा ज्ञानोज्ज्वल होते हैं। (३) ये अपने **तनूषु**=शरीरों में **विश्वाभुवनानि**=सब लोकों को **नियेमिरे**=नियम में करते हैं। इनकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब संयत होते हैं। और परिणामतः **पुरुध**=बहुत प्रकार से **प्रजाः**=अपने जीवन की शक्तियों के विकासों को **अनु**=अनुक्रम से **प्रासारयन्त**=फैलानेवाले होते हैं। सहनशक्ति से तेजस्विताओं में वृद्धि

होती ही है, क्रोध शक्ति को भस्म कर देता है। सहनशक्ति की विपरीत वस्तुएँ 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' हैं। सहनशक्ति तेजस्विता का वर्धन करती है तो क्रोध उसका ह्रास करता है। सहनशक्ति से विकास होता है, क्रोध से संहार।

भावार्थ—सहनशीलता व संयम से हम तेजस्वी बनें और विकास को प्राप्त हों।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्जगती ॥
स्वरः—धैवतः ॥

सूनवः (सच्चे पुत्रों के लक्षण) 'प्राणशक्ति व प्रकाश'

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्॥ ६॥

(१) **सूनवः**=प्रभु के सच्चे पुत्र अपने पिता उस प्रभु को **द्विधा**=दो प्रकार से **आस्थापयन्त**=अपने में स्थापित करते हैं, अपने हृदय देश में आसीन करते हैं। एक तो '**असुर**'=असुर के रूप में और दूसरा '**स्वर्विदम्**' स्वर्विद् के रूप में। (क) जब हम प्रभु को अपने में आसीन करते हैं तो वे प्रभु 'असून् राति'=हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं, हमारे शरीर रोगों से संघर्ष करने की शक्ति से युक्त होने के कारण नीरोग 'स्वस्थ, सबल व सुन्दर' बने रहते हैं। (ख) शरीरों के स्वास्थ्य के साथ प्रभु हमें मानस व बौद्धिक स्वास्थ्य भी प्राप्त कराते हैं, वे 'स्वर्विद्' हैं, प्रकाश को प्राप्त करानेवाले। इस प्रकाश में चलते हुए हम मार्गभ्रष्ट नहीं होते। एवं प्रभु को दो प्रकार से स्थापन करने के कारण हम शरीर में प्राणशक्ति-सम्पन्न बनते हैं और मस्तिष्क में प्रकाशमय। (२) यह प्रभु का दो प्रकार से स्थापन '**तृतीयेन कर्मणा**' तृतीय कर्म से होता है। यह तृतीय कर्म यज्ञरूप मुख्य धर्मों में 'देव-पूजा व संगतिकरण' के बाद 'दान' है। दान से प्रभु की स्थापना हमारे हृदयों में होती है। (३) परमात्मा को अपने में स्थापित करने से यह '**स्वां प्रजां**'=अपने विकास को धारण करता है। शरीर में शक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न बनकर यह अपने सब अंगों को विकसित कर पाता है, इसकी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को सुचारुरूपेण करनेवाली होती हैं। इस प्रकार अपना विकास करनेवाले ये लोग **पितरः**=अपना रक्षण करनेवाले होते हैं '**पा रक्षणे**'। अपने जीवन में न्यूनताओं को नहीं आने देते। प्रभु से अपना सम्बन्ध बनाकर ये '**पित्र्यं सहः**'=उस पिता प्रभु से प्राप्त होनेवाले बल को अपने में धारण करते हैं। (४) ये इस बल को **अवरेषु**=अपनी अनन्तर सन्तानों (=पुत्रों) में भी **आदधुः**=स्थापित करनेवाले होते हैं। इस प्रकार अपनी सन्तानों को भी उत्तम बनाते हुए ये **तन्तुम्**=अपने इस प्रजातन्तु को **आततम्**=विस्तृत करते हैं। ये अविच्छिन्न, वंशवाले होते हैं।

भावार्थ—धन के त्याग से हम प्रभु के समीप होते हैं। प्रभु हमें प्राणशक्ति व प्रकाश देते हैं। हम प्रभु से प्राप्त बल को अपनी सन्तानों में भी स्थापित कर अविच्छिन्न वंशवाले बनते हैं।

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पिता के गुणों का पुत्र पौत्रों में संचार

नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु को अपने में स्थापित करनेवाला व्यक्ति **पृथिव्याः प्रदिशः**=पृथिवी की इन प्रकृष्ट दिशाओं को उसी प्रकार **अति**=अतिक्रान्त कर जाता है **न**=जैसे कि **क्षोदः**=पानी

को (=नदी को) **नाव्या**=नाव से पार कर लेते हैं। यह व्यक्ति **स्वस्तिभिः**=(सु अस्ति=) उत्तम जीवन से, जीवन के सब कार्यों को उत्तमता से करने के द्वारा **विश्वा दुर्गाणि अति**=सब कठिनताओं को पार कर जाता है। (२) प्रभु-स्मरण से उत्तम जीवन को बनाकर यह **स्वां प्रजाम्**=अपने विकास को सिद्ध करता है। प्रभु-स्मरण इसके लिये भवसागर को पार करने के लिये नाव के समान हो जाता है। यह **बृहदुक्थः**=प्रभु को खूब ही स्तुत करनेवाला व्यक्ति **महित्वा**=अपने महत्त्व से, अपनी 'मह पूजायाम्' इस प्रभु-पूजा की वृत्ति से **अपरेषु**=अपने सन्तानों में भी, पुत्रों में भी प्रभु पूजा के भाव को **अदधात्**=धारण करता है। पिता का स्वभाव पुत्र में संक्रान्त होना ही चाहिये। (३) पुत्र 'अवर' कहलाता है, अपने एकदम समीप होने से। पौत्र 'पर' कहलाता है, पुत्र से अन्तर्हित होकर यह हमारे से दूर (पर-far) ही हो जाता है। 'बृहदुक्थ' जहाँ अपने पुत्रों में अपने विकास को संचरित करता है, वहाँ वह इस विकास को पौत्रों में भी संचरित करनेवाला होता है। इसीलिए कहते कि **परेषु**=दूरभावी पौत्र आदि में भी **आ**=वह अपने विकास को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता 'बृहदुक्थ' अपने जीवन की शक्तियों का विकास करके उस विकास को पुत्र-पौत्रों में भी संचरित करनेवाला होता है।

तीन ज्योतियों को धारण करने के साथ इस सूक्त का प्रारम्भ होता है (१) और प्रभु सम्पर्क से शक्ति-सम्पन्न बनकर उन शक्तियों को पुत्र-पौत्रों में संचरित करने के साथ सूक्त की समाप्ति। इस प्रभु सम्पर्क के लिये मनोनिरोध आवश्यक है। मन को बाँधनेवाला 'बन्धु' ही अगले ४ सूक्तों का ऋषि है। यह उत्तमता से मन को बाँधने कारण 'सुबन्धु' है। ज्ञान प्राप्ति में, स्वाध्याय में मन को बाँधने से यह 'श्रुतबन्धु' है और अपना विशेषरूप से (वि) पूरण करने के लिये (प्रा) इस बन्धन क्रिया को करने के कारण यह 'विप्रबन्धु' है। मनोनिरोध से इन्द्रियों (गो) का उत्तमता से रक्षण करनेवाले ये 'बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु व विप्रबन्धु' गौपायन हैं। इनकी प्रार्थना है कि—

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबधुश्च गौपायनाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अ-भ्रंश

मा प्र गा॑म प॒थो व॒यं मा य॒ज्ञादि॑न्द्र सो॒मिनः॑। मान्तः स्थु॑र्नो॒ अरा॑तयः ॥ १ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के प्रकाश में चलते हुए **वयम्**=हम मनोनिरोध करनेवाले 'बन्धु-सुबन्धु' आदि **पथः**=मार्ग से **मा**=मत **प्रगाम**=दूर हों। मार्ग से भ्रष्ट न हों। मन वश में नहीं होता तभी इधर-उधर भटकना होता है। मन निरुद्ध हुआ तो भटकने का प्रश्न ही नहीं रहता। इन्द्रियाँ नव विषयों में जाती हैं तो यदि मन भी उनके साथ हो जाए तभी बुद्धि भ्रष्ट होती है। मन निरुद्ध रहे तो बुद्धि का भ्रंश नहीं होता। बुद्धि के ठीक रहने से हम मार्ग भ्रष्ट नहीं होते। (२) मार्ग क्या है? यज्ञ। सो कहते हैं कि हम हे **इन्द्र**=यज्ञप्रिय प्रभो! **यज्ञात् मा**=यज्ञ से पृथक् न हों। उस यज्ञ से जो **सोमिनः**=सोमी है। यज्ञ सोमवाला है। सोम का अभिप्राय शरीरस्थ वीर्यशक्ति है। यज्ञ से मनुष्य में वासनाएँ प्रबल नहीं होती। वासनाओं के न होने से शक्ति सुरक्षित रहती है। इसीलिए यज्ञ 'सोमी' कहा गया है। (३) इस प्रकार यज्ञों में लगे रहने पर **नः अन्तः**=हमारे अन्दर **अरातयः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु **मा अस्थुः**=मत स्थित हों। इन लोभादि शत्रुओं से आक्रान्त न होने के लिये यज्ञादि में लगे रहना ही ठीक है। उत्तम कर्मों में लगे हुए व्यक्ति को

वासनाएँ सता ही नहीं पाती।

भावार्थ—हम पथभ्रष्ट न हों, यज्ञों में लगे रहें जिससे लोभादि शत्रु हमारे हृदयों में स्थान न पा सकें।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूत्रों का सूत्र

यो य॒ज्ञस्य॑ प्र॒साध॑न॒स्तन्तु॑र्दे॒वेष्वात॑तः। तमाहु॑तं नशीमहि ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में मार्ग से भ्रष्ट न होने की प्रार्थना थी। मार्ग का स्वरूप भी 'यज्ञ' शब्द से व्यक्त कर दिया गया था। अब कहते यह हैं कि उन यज्ञों में लगे रहकर हम उन यज्ञों की सफलता को अपनी सफलता मानकर गर्वित न हो जाएँ। यह ध्यान रखें कि यज्ञों को सिद्ध करनेवाला कोई और है। **तम्**=उसको ही **नशीमहि**=हम प्राप्त करें (नशीमहि=व्याप्नुयाम सा०)। उस परमात्मा को जो **आ हुतम्**=(आ समन्तात् हुतं=दानं यस्य) समन्तात् दानवाले हैं। हम अग्निहोत्र करते हैं। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर क्या देखते हैं कि घृत को डालने के लिये साधनभूत चम्मच (चमस) प्रभु की देन है, जिस धातु व काष्ठ से यह बना है, वह प्रभु की ही कृति है। हवि-घृत प्रभु की देन है। अग्नि प्रभु की बनाई है। आहुति डालनेवाले हमारे हाथ आदि अवयव प्रभु से दिये गये हैं। इसी प्रकार खेती करने पर क्या देखते हैं कि 'हल-बैल-पृथ्वी-जल-वायु-सूर्य' आदि उन सभी की रचना उस प्रभु ने की है जिनके द्वारा कि अन्न का उत्पादन व परिपाक होता है। प्रभु सचमुच 'आ-हुत' हैं। (२) उस प्रभु को हम प्राप्त करें **यः**=जो **यज्ञस्य प्रसाधनः**=सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले हैं। हम इस बात को भूलें नहीं कि छोटे से छोटा कार्य भी प्रभु-प्रदत्त शक्ति से हो रहा है। उसकी शक्ति के बिना मनुष्य के लिये कुछ भी कर सकने का संभव नहीं है। बुद्धिमानों की बुद्धि प्रभु हैं, बलवानों का बल प्रभु हैं, प्रभु ही 'जय' हैं। (३) वे प्रभु **तन्तुः**=सूत्र रूप हैं, सर्वत्र विस्तृत हैं, (तनु विस्तारे) इन लोक-लोकान्तरों का विस्तार करनेवाले हैं। सब लोकों में सूत्र रूप से विद्यमान हैं, उस प्रभु रूप सूत्र में ही ये सब लोक पिरोये हुए हैं। **देवेषु**-सूर्यादि सब देवों में **आततः**=वे प्रभु आतत हैं, वस्तुतः इन सब देवों को उस प्रभु से ही तो देवत्व प्राप्त हो रहा है। उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सब देव दीप्त हो रहे हैं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। इस प्रभु को प्राप्त करके हम भी उसकी दीप्ति से दीप्त होंगे, हमारा जीवन भी 'विभूति, श्री व ऊर्ज' वाला बनेगा।

भावार्थ—मन को बाँधकर हम प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें। सब यज्ञों को उस प्रभु से होता हुआ जानकर गर्वित न हों।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम और मन्म

मनो॒ न्वा हु॑वामहे नाराश॒ंसेन॒ सोमे॑न। पि॒तॄणां च॒ मन्म॑भिः ॥ ३ ॥

(१) **नु**=अब हम **मन्म**-मन को **आहुवामहे**=सब ओर से पुकारते हैं। उस मन को, जो नाना विषयों के अन्दर भटकता है, हम उसे विषयों में भटकने से लौटाते हैं। (२) इसलिए लौटाते हैं कि **नाराशंसेन सोमेन**-मनुष्यों से **आशंसनीय**-(चाहने योग्य) सोम को हम अपने शरीर में सुरक्षित कर सकें। सोम शक्ति शरीर की मूलभूत शक्ति है। मन के संयम से इसका संयम होता

है, मन के विषयों में जाने से इसका अपव्यय होता है। च=और मन को इसलिए भी विषयों से हम लौटाते हैं कि पितृणाम्=पितरों के मन्मभिः=ज्ञानपूर्व उच्चारण किये गये स्तोत्रों का हम भी उच्चारण करनेवाले बनें। मनोनिरोध के बिना पहले तो प्रभु स्तवन का सम्भव ही नहीं, पर यदि जैसे तैसे कुछ स्तोत्रों का हम उच्चारण करें भी तो मन अन्यत्र होने से वे स्तोत्र ज्ञानपूर्वक उच्चारित न हो रहे होंगे। एवं मन को विषयों से वापिस पुकारकर शरीर में ही निरुद्ध करने के दो लाभ हैं (क) शरीर में शक्ति का रक्षण, (ख) और ज्ञानपूर्वक प्रभु का स्तवन। (३) ज्ञानपूर्वक स्तोत्रों के उच्चारण से ही वस्तुतः पितर 'पितर' बनते हैं। इन स्तोत्रों का परिणाम 'जीवन की पवित्रता' होता है। स्तोत्र इन्हें आसुरवृत्तियों के आक्रमण से बचाते हैं (पा रक्षणे) एवं स्तोत्रों द्वारा अपना रक्षण करनेवाले ये पितर हैं।

भावार्थ—मन को हम विषयों से रोकें इससे शक्ति का रक्षण होगा और प्रभु का हम ज्ञानपूर्वक स्तवन कर पायेंगे।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

क्रतु व दक्ष मनोनिरोध के लाभ

आ त॑ एतु मनः॒ पुनः॒ क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑। ज्योक्च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ४ ॥

(१) प्रभु 'सुबन्धु' से कहते हैं कि ते मनः=तेरा मन पुनः=फिर आ एतु=विषयों से निवृत्त होकर हृदय देश में ही प्राप्त हो। इस मन के हृदय में निरुद्ध होने पर ही क्रत्वे=तू यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिये समर्थ होगा, दक्षाय=इन कर्मों के द्वारा अपने बल को बढ़ाने के लिये तू समर्थ होगा। निरुद्ध मन यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला बनता है, इन कर्मों से शक्ति का वर्धन होता है। अथवा 'प्राणो वै दक्षः अपानः क्रतुः तै० सं० २।५२) मन के निरुद्ध होने पर प्राणापान की शक्ति बढ़ती है। (२) प्राणापान की शक्ति का वर्धन होकर जीवसे=तू जीवन के लिये होता है। तेरे में उत्साह व उल्लास होता है। तू मरा-सा प्रतीत नहीं होता। च=और उल्लासमय जीवनवाला होकर ज्योक्=दीर्घकाल तक सूर्यं दृशे=सूर्य के दर्शन के लिये होता है। अर्थात् मनोनिरोध का अन्तिम लाभ दीर्घजीवन है।

भावार्थ—मनोनिरोध से 'यज्ञशीलता-शक्ति की वृद्धि, उत्साह व उल्लास तथा दीर्घ-जीवन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पितर व दैव्य जन

पुन॑र्नः पितरो॒ मनो॒ ददा॑तु॒ दैव्यो॒ जनः॑। जी॒वं व्रातं॑ सचेमहि ॥ ५ ॥

(१) पितरः=ज्ञान प्रदान के द्वारा रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए पितर नः=हमें पुनः=फिर से मनः=मन को ददातु=दें। पितरों के सम्पर्क में आकर उनके जीवन के अनुसार अपने जीवन को बनाते हुए हम मन को भटकने से रोक सकें। दैव्यः जनः=देव की ओर चलनेवाले लोग भी हमें फिर से मन को प्राप्त कराएँ। उस देव (=प्रभु) की ओर चलना मन को निरुद्ध व उत्तम बनाने का सुन्दर साधन है। प्रभु के स्तोत्रों का जप मनोनिरोध का साधन बनता है। प्रकृति की ओर जाने से मन अधिकाधिक भटकता है और प्रभु की ओर चलने से यह शान्त होता है। (२) मन को निरुद्ध करके हम जीवं व्रातम्=जीवन के साधनभूत व्रतसमूह को सचेमहि=अपने साथ

संगत करें। व्रत में मन को लगाएँगे तो यह भटकने से रुकेगा ही। ये व्रत हमारे जीवन को सुन्दर भी बनानेवाले होंगे।

भावार्थ—पितरों व देव लोगों के अनुगमन से मन निरुद्ध होता है। इस मन को हम व्रतों में लगाएँ, ये व्रत जीवन को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का व्रत

व॒यं सो॑म व्र॒ते तव॒ मन॑स्त॒नूषु॒ बिभ्र॑तः। प्र॒जाव॑न्तः सचेमहि॥ ६॥

(१) पिछले मन्त्र में व्रतों में मन को लगाने का उल्लेख है। उन्हीं व्रतों में एक 'सोम' का भी व्रत है। शरीर में सोमशक्ति के रक्षण का निश्चय करना ही 'सोम का व्रत' है। इसे धारण करनेवाला अवश्य ही मनोनिरोध के लिये यत्नशील होता है। **वयम्**=हम हे **सोम**=सोमशक्ते! **तव व्रते**=तेरे व्रत में, अर्थात् तेरे रक्षण का निश्चय करने पर **मनः**=मन को **तनूषु**=शरीरों में ही **बिभ्रतः**=धारण करते हुए, **प्रजावन्तः**=उत्कृष्ट विकासवाले होकर **सचेमहि**=प्रभु के साथ संगत हों। (२) जो भी सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने का निश्चय करता है वह मन को विषयों में भटकने से रोकता ही है, मन को अपने अन्दर ही निरुद्ध करने के लिये यत्नशील होता है। (३) मन को निरुद्ध कर सकने पर हम विविध शक्तियों के विकासवाले होते हैं, शक्तियों का विकास हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण का व्रत मनोनिरोध से पूर्ण होता है। मनोनिरोध से शक्तियों का विकास होकर प्रभु की प्राप्ति होती है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम पथ-भ्रष्ट न हों, (१) इसके लिये सोम के रक्षण का व्रत धारण करें, यह व्रत मनोनिरोध से ही पूर्ण होगा, (२) इस दूर-दूर जानेवाले मन को हम लौटाकर उत्तम निवास व जीवनवाले बनें—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः॥ देवता—मन आवर्त्तनम्॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'यम वैवस्वत' की ओर

यत्ते॑ य॒मं वै॑वस्व॒तं मनो॑ ज॒गाम॑ दूर॒कम्। तत्त॒ आ व॑र्तयामसी॒ह क्षया॑य जी॒वसे॑॥ १॥

(१) **यत्**=जो ते **मनः**=तेरा मन **वैवस्वतम्**=विवस्वान् सम्बन्धी **यमम्**=मृत्यु के देव की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=वापिस लौटाते हैं। **इह क्षयाय**=यहाँ ही (क्षि निवासगत्योः) निवास व गति के लिये। इसलिए मन को लौटाते हैं कि वह यहीं रहे, जिस कार्य को कर रहे हैं उससे दूर न हो जिससे **जीवसे**=हमारा जीवन उत्तम व दीर्घ हो, दीर्घ जीवन के लिये मन को न भटकने देना आवश्यक है। भटकता हुआ मन शक्तियों की विकीर्णता का कारण बनता है और इस प्रकार जीवन का ह्रास हो जाता है। (२) यहाँ यम को, मृत्यु की देवता को वैवस्वत कहा है। विवस्वान् 'सूर्य' है, सूर्य की गति से दिन-रात बनते हैं और एक-एक करके आयुष्य के दिन घटते जाते हैं। इसी कारण यम को यहाँ वैवस्वत कहा गया है। कभी-कभी हमारा मन मृत्यु की ओर चला जाता है, कुछ मृत्यु का भय लगने लगता है। हमारी सारी क्रियाएँ उदासी के कारण समाप्त हो जाती हैं। हम मृत्यु का ही राग अलापने लगते

हैं, इससे जीवन का ह्रास हो जाता है। मृत्यु को भूलना नहीं चाहिये, परन्तु मृत्यु का ही राग अलापते रहना भी ठीक नहीं। हम अपने मन को इस 'यम' से वापिस लाते हैं। मृत्यु को न भूलना जहाँ हमें धर्म-प्रवण करता है वहाँ हर समय मौत का ही ध्यान करते रहना हमें निराश व अकर्मण्य बना देता है।

भावार्थ—मन में हर वक्त मौत का ही चिन्तन करते रहना ठीक नहीं।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक की ओर

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ २॥

(१) **यत्**-जो **ते मनः**-तेरा मन **दिवम्**-द्युलोक की ओर **दूरकं जगाम्**-दूर जानेवाला होता है और **यत्**-जो **पृथिवीम्**-पृथिवी की ओर दूर-दूर जाता है, **ते**-तेरे उस मन को **आवर्तयामसि**-वापिस लौटाते हैं **इह क्षयाय**-यहां ही रहकर गति के लिये और **जीवसे**-दीर्घ व सुन्दर जीवन के लिये। (२) मन भी द्युलोक में भटकता है तो कभी पृथिवीलोक में। कभी इस सिरे पर और कभी उस सिरे पर। यह प्रत्येक कार्य को सुन्दरता से कर पाता है और जीवन की प्रशस्तता का कारण बनता है।

भावार्थ—हम द्युलोक व पृथ्वीलोक में भटकने से मन को रोकते हैं।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

चतुर्भृष्टि भूमि की ओर

यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ३॥

(१) **यत्**-जो **ते मनः**-तेरा मन **चतुर्भृष्टिम्**-(चतुर्दिक्षु भृष्टिः भ्रंशो यस्याः) गेंद की तरह गोल-सा होने के कारण चारों दिशाओं में झुकाववाली **भूमिम्**-भूमि की ओर **दूरकं जगाम**-दूर-दूर जाता है, **ते**-तेरे **तत्**-उस मन को **आवर्तयामसि**-लौटाते हैं जिससे **इह क्षयाय**-यहां ही निवास व गति के लिये हो और हम **जीवसे**-जीवन को उत्तम व दीर्घ बना पायें। (२) जमीन गोल है, चारों दिशाओं में झुकाववाली है। कभी-कभी मन पृथ्वी पर एक कोने से दूसरे कोने तक भटका करता है इस मन को हम भटकने से रोकें और जो कार्य कर रहे हैं उसी में केन्द्रित करें। यही जीवन को सुन्दर व दीर्घ बनाने का उपाय है।

भावार्थ—पृथ्वी पर इधर-उधर भटकते हुए मन को रोककर हम प्रस्तुत कार्य में ही केन्द्रित करें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

जीवसे

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ४॥

(१) **यत्**-जो **ते**-तेरा **मनः**-मन **चतस्रः प्रदिशः**-चारों विशाल दिशाओं में **दूरकं जगाम**-दूर-दूर जाता है **ते**-तेरे **तत्**-उस मन को **आवर्तयामसि**-लौटाते हैं जिससे **इह क्षयाय**-यह यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और **जीवसे**-दीर्घ व उत्तम जीवन को हम सिद्ध कर सकें। (२) मन इधर-उधर इन अनन्त विस्तृत दिशाओं में भटकता है, इस भटकने से उसकी शक्ति बिखर जाती है। परिणामतः कोई भी कार्य सुन्दरता से नहीं हो पाता।

भावार्थ—चारों दिशाओं में भटकते हुए मन को रोकना ही ठीक है।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

जलोंवाले समुद्र की ओर

यत्त समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ५॥

(१) **यत्**-जो **ते मनः**-तेरा मन **अर्णवं समुद्रम्**-जलोंवाले समुद्र की ओर **दूरकं जगाम**-दूर-दूर जाता है **ते**-तेरे **तत्**-उस मन को **आवर्तयामसि**-लौटाते हैं जिससे **इह क्षयाय**-यह यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और **जीवसे**-दीर्घ व उत्तम जीवन के लिये हो। (२) मन अपने अन्दर निहित संस्कारों के कारण कभी-कभी समुद्रों की सैर करने लगता है, समुद्रों में उठती हुई लहरों का ध्यान करता है, प्रस्तुत कार्य में स्थिर नहीं होता। वे कार्य ठीक से नहीं होते और जीवन में सफलता नहीं मिलती। सफल जीवन के लिये मन को न भटकने देना आवश्यक है।

भावार्थ—दूर-दूर समुद्रों में भटकते हुए मन को हम अपने अन्दर ही रोकने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सुदूर किरणों में

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ६॥

(१) **यत्**-जो **ते मनः**-तेरा मन **प्रवतः**-अत्यन्त उच्च स्थान में स्थित **मरीचीः**-किरणों की ओर **दूरकं जगाम**-दूर-दूर जाता है **ते**-तेरे **तत्**-उस मन को **आवर्तयामसि**-लौटाते हैं जिससे वह **इह क्षयाय**-यहां ही रहे और **जीवसे**-दीर्घ व उत्तम जीवन के लिये हो। (२) यहाँ से सूर्य चौदह करोड़ किलो मीटर के करीब दूरी पर है, अन्य कई नक्षत्र इससे भी हजारों गुणा दूर हैं। इतनी दूरी से आती हुई इन किरणों की ओर हमारा ध्यान जाता है, किरणों के साथ मन भी खूब दूर पहुँच जाता है। उस समय अन्य मनस्कता से होता हुआ कार्य बिगड़ ही जाता है। कार्य की सिद्धि के लिये आवश्यक है कि मन किये जाते हुए कार्य में ही केन्द्रित रहे।

भावार्थ—मन सुदूर नक्षत्रों से आती हुई किरणों का ध्यान करने लगता है, यह भटकता हुआ मन किसी भी कार्य को सुन्दरता व सफलता से नहीं कर पाता।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

जलों व ओषधियों की ओर

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ७॥

(१) **यत्**-जो **ते**-तेरा **मनः**-मन **अपः**-जलों की ओर व **यत्**-जो **ओषधीः**-ओषधियों की ओर **दूरकं जगाम**-दूर-दूर जाता है **ते**-तेरे **तत्**-उस मन को **आवर्तयामसि**-लौटाते हैं। यह निरुद्ध मन **इह क्षयाय**-यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और इस प्रकार **जीवसे**-दीर्घ व उत्तम जीवन के लिये हो। (२) कई बार यह मन खान-पान की दुनियाँ में ही घूमता रहता है, उस समय जीवन के एकदम भौतिक प्रवृत्ति का बन जाने की आशंका हो जाती है। इन भौतिक विषयों में फँसकर यह जीवन की अवनति का ही कारण बनता है। इसे उधर से हटाकर हम अपने कर्त्तव्य कर्मों में केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—मन सदा खान-पान की चीजों में ही न भटकता रहे उसे हम कर्त्तव्य कर्मों में केन्द्रित करें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सूर्य व उषा की ओर

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ८ ॥

(१) यत्-जो ते मनः-तेरा मन सूर्यम्-सूर्य की ओर, और यत्-जो उषसम्-उषा की ओर दूरकं जगाम-दूर-दूर जाता है कभी सूर्य का ध्यान करता है और कभी उषा का तत्-उस ते-तेरे मन को इह-यहाँ क्षयाय आवर्तयामसि-जीवन के प्रस्तुत कार्यों में निवास के लिये लौटाते हैं जीवसे-जिससे यह मन दीर्घ व उत्तम जीवन का कारण बने। (२) सूर्य व उषाकाल के सोचने का यहाँ भाव यह है कि मन इस रूप में सोचा करता है कि—'प्रातःकाल होगा, सूर्य निकलेगा और मैं वहाँ जाऊँगा, उससे मिलूँगा, यह आनन्द लूँगा और वह आनन्द प्राप्त करूँगा।' मन को इस प्रकार सोचते रहने से रोककर कर्त्तव्य कर्म में लगाना ही ठीक है।

भावार्थ—मन को 'सवेरा होगा, सूर्य निकलेगा, यह खायेंगे, वह पीयेंगे' इस प्रकार सोचते रहने से रोककर प्रस्तुत कर्म में लगाना ही ठीक है।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ऊँचे पर्वतों की ओर

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ९ ॥

(१) यत्-जो ते मनः-तेरा मन बृहतः पर्वतान्-इन उच्च शृंगवाले बड़े-बड़े पर्वतों की ओर दूरकं जगाम-दूर-दूर जाता है ते-तेरे तत्-उस मन को आवर्तयामसि-लौटाते हैं जिससे इह क्षयाय-वह यहाँ अपने क्रियमाण कर्म में ही निवास करे और जीवसे-उत्तम जीवन के लिये हो। (२) हमारा मन पहाड़ों में भटकता है, पहाड़ों की ऊँची चोटियों की ओर जाता है। इस मन को निरुद्ध करके अपने कर्त्तव्य कर्मों में ही स्थिर करना चाहिए।

भावार्थ—पर्वतों की ऊँची चोटियों में भटकनेवाले इस मन को हम निरुद्ध करें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इस व्यापक संसार की ओर

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १० ॥

(१) यत्-जो ते-तेरा मनः-मन इदं विश्वं जगत्-इस सम्पूर्ण संसार में दूरकं जगाम-दूर-दूर जाता है ते-तेरे तत्-उस मन को आवर्तयामसि-हम लौटाते हैं, इह क्षयाय-जिससे यह यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और जीवसे-उत्तम जीवन के लिये हो। (२) भटकता हुआ मन किसी भी कार्य को सुन्दरता व सफलता से नहीं कर पाता। इसका निरुद्ध करना और कर्त्तव्य कर्म में लगाना आवश्यक है। एकाग्रता से ही उस दिव्यशक्ति का जन्म होता है, जो हमें जीवन में सफल करती है।

भावार्थ—भटकते हुए मन का निरोध ही सफलता की कुञ्जी है।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

दूर से दूर

यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ११ ॥

(१) यत्-जो ते-तेरा मनः-मन पराः परावतः-दूर से दूर प्रदेशों में भटकता हुआ दूरकं

जगाम=अनन्त दूर चला जाता है, **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **इह**=यहाँ ही **क्षयाय**=निवास व गति के लिये **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं जिससे **जीवसे**=यह मन दीर्घ व उत्तम जीवन का साधन बने। (२) मन स्वभावतः दूर-दूर भटकता है। इसका निरोध करके ही हम किसी भी कार्य में सफल हो पाते हैं। जीवन भी शक्तियों के केन्द्रित हो जाने से उत्तम व दीर्घ होता है।

भावार्थ—हम इस दूर-दूर जानेवाले मन का निरोध करें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—मन आवर्त्तनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सदा 'था' व 'गा' में

यत्ते॑ भू॒तं च॒ भव्यं॑ च॒ मनो॑ ज॒गाम॑ दू॒र॒कम्। तत्त॒ आ व॑र्तयामसी॒ह क्षया॑य जी॒वसे॑॥ १२ ॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **भूतं च**=भूतकाल में **जगाम**=जाता है, हर समय भूतकाल की ही बातें सोचा करता है, **च**=और **भव्यं दूरकं जगाम**=भविष्यत्काल में बड़ी दूर चला जाता है, भविष्यत् की ही बातें सोचने लगता है, **ते तत्**=तेरे उस मन को **इह क्षयाय**=यहाँ ही वर्तमानकाल में निवास व गति के लिये **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं। जिससे **जीवसे**=हमारा जीवन दीर्घ व उत्तम हो। (२) कई लोग निराशावाद की वृत्ति के होते हैं, प्रायः ये वृद्ध लोग भूतकाल की ही बात किया करते हैं। इन्हें भूत बड़ा उज्ज्वल दिखता है, वर्तमान बड़ा अवनत प्रतीत होता है। ये सदा 'था' की ही बात करते हैं। इनके विपरीत जीवन को प्रारम्भ करनेवाले युवक लोग 'कोठी बनायेंगे, कार खरीदेंगे, सन्तान को प्राशासक बनायेंगे' इत्यादि सुख-स्वप्न लेते हुए सदा उज्ज्वल भविष्य की बातें करते रहते हैं। चाहिए यह कि 'भूत व भव्य' से मन को हटाकर वर्तमान में ही केन्द्रित करें। सफल जीवन का यही मार्ग है।

भावार्थ—हम भूत व भविष्य में न भटकते रहकर वर्तमान में रहनेवाले बनें।

इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से है कि हम मन में सदा मृत्यु के ही विचार न उठते रहने दें, (१) इस भटकते हुए मन को रोकें (२-११) और 'था' व 'गा' की भाषा में न बोलते हुए सदा 'है' की भाषा ही बोलें। यही उत्तम जीवन का मार्ग है, (१२) निरोध से ही जीवन नवीन व स्तुत्य बनेगा—

[५९] एकोनषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—निर्ऋतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रतुमान् सारथि

प्र ता॒र्यायुः॑ प्र॒त॒रं नवी॑यः॒ स्थाता॑रेव॒ क्रतु॑मता॒ रथ॑स्य।
अध॒ च्यवा॑न॒ उत्त॑वी॒त्यर्थं॑ परात॒रं सु निर्ऋ॑तिर्जिहीताम् ॥ १ ॥

(१) गत सूक्त के अनुसार मनोनिरोध के होने पर **आयुः**=जीवन **प्रतरम्**=(प्रवृद्धतरं) प्रवृद्धतर, दीर्घ व **नवीयः**=नवतर-यौवन से युक्त, न जीर्ण हुआ-हुआ स्तुति के योग्य (नु स्तुतौ) **प्रतारि**=बढ़ता है। हमारा जीवन दीर्घ व स्तुत्य (प्रशस्त) होता है। हम उसी प्रकार जीवन में बढ़ते हैं **इव**=जैसे कि **रथस्य स्थातारः**=रथ पर स्थित होनेवाले पति-पत्नी **क्रतुमता**=उत्तम प्रज्ञान व कर्मवाले सारथि से बढ़ते हैं। इस शरीर-रथ में आत्मा रथी है, पति, बुद्धि उसकी पत्नी है और प्रभु सारथि हैं, वे पूर्ण प्रज्ञा व कर्मवाले हैं। (२) **अध**=अब प्रभु को रथ का सारथि बनाने पर, **च्यवानः**=सब अशुभों से पृथक् होता हुआ **अर्थम्**=वाञ्छनीय धर्म, अर्थ, काम व मोक्षरूप पुरुषार्थों को **उत्तवीति**=बढ़ाता है। और इस प्रार्थना के योग्य होता है कि **निर्ऋतिः**=दुर्गति

परातरम्=बहुत ही दूर सुजिहीताम्=पूर्णतया चली जाए। दुर्गति से हम दूर हों। प्रभु जब हमारे रथ के सारथि होते हैं तब दुर्गति का वस्तुतः प्रश्न ही नहीं रहता। अहंकार-वश जब हमें रथ के स्वयं संचालन का गर्व हो जाता है तो हम भटक जाते हैं और दुर्गति का शिकार होते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन दीर्घ व स्तुत्य हो। प्रभु हमारे रथ के सारथि हों और हम दुर्गति से दूर रहें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—निर्ऋतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धन-अन्न-ज्ञान व यश

सामन्नु राये निधिमन्न्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि।
ता नो विश्वानि जरिता ममत्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥ २ ॥

(१) हे **पुरुध**=नाना प्रकार से धारण करनेवाले प्रभो! **नु**=अब हम **सामन्**=साम के होने पर, अर्थात् साम मन्त्रों से प्रभु के गुणों का गायन करने पर **राये**=धन के लिये **करामहे**=हम पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं। प्रभु के स्मरण के साथ धन प्राप्ति के लिये प्रयत्न के होने पर उन प्रयत्नों में पवित्रता बनी रहती है और हमें उन धनों के विजय का गर्व नहीं होता, उन धनों का विजेता हम प्रभु को ही मानते हैं। (२) हम **निधिमत् अन्नं करामहे**=निधिवाले, निधानवाले शरीर में ही स्थिर तत्त्वों को जन्म देनेवाले, रस रुधिर आदि उत्तम धातुओं को उत्पन्न करनेवाले अन्न को हम करते हैं। 'निधिमत् अन्न' स्थिर सात्त्विक अन्न है। (३) इस स्थिर सात्त्विक अन्न के सेवन से हम **सुश्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों व यशों को करते हैं। सात्त्विक अन्न हमारी बुद्धि को सात्त्विक करके हमारे जीवन को यशस्वी बनाता है। (४) **नः जरिता**=हमारा स्तवन करनेवाला **ता विश्वानि**=उन सब चीजों को **ममत्तु**=आनन्दपूर्वक आस्वादित करे। वह 'धन, अन्न, ज्ञान व यश' से जीवन में आनन्द का अनुभव करे। और **निर्ऋतिः**=दुर्गति **परातरम्**=बहुत दूर **सुजिहीताम्**=पूर्णतया चली जाये।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हुए 'धन, अन्न, ज्ञान व यश' को प्राप्त करके दुर्गति से दूर हों और सुगति को प्राप्त करें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—निर्ऋतिः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति

अभी ष्व१र्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान्।
ता नो विश्वानि जरिता चिकेत परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम् ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! हम आपके सम्पर्क से प्राप्त **पौंस्यैः**=बलों से **अर्यः**=शत्रुओं को **सु**=अच्छी प्रकार **अभिभवेम**=अभिभूत कर लें। इस प्रकार अभिभूत कर लें **न**=जैसे कि **द्यौः**=द्युलोक **भूमिम्**=अपने प्रकाश से भूमि को अभिभूत-सा कर लेता है। सारी पृथिवी द्युलोक से प्राप्त होनेवाले प्रकाश से व्याप्त हो जाती है और चमक उठती है। हम शत्रुओं को इस प्रकार अभिभूत कर लें **न**=जैसे कि **गिरयः** (cloud)=मेघ **अज्रान्** (field)=खेतों को वृष्टिजल से अभिभूत कर देता है। मेघ वृष्टिजल के द्वारा खेतों को प्राप्त होता है, इसी प्रकार हम शक्ति के द्वारा शत्रुओं को प्राप्त हों। वृष्टिजल खेत को अभिभूत-सा कर लेता है, हम शत्रुओं को शक्ति से अभिभूत कर लें। (२) प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारी **ता विश्वानि**=उन सब शक्तियों को **जरिता**=स्तोता **चिकेत**=जाने, अपने जीवन में अनूदित करे। और परिणामतः **निर्ऋतिः**=दुर्गति **सु**=खूब ही **परातरम्**=दूर **जिहीताम्**=चली जाये। शक्तियों के द्वारा शत्रुओं का पराभव करते हुए हम उत्तम स्थिति को प्राप्त करें।

भावार्थ—शक्ति से शत्रु को अभिभूत करके हम दुर्गति से बच पायें।

ऋषि:—बन्ध्वादयो गौपायना: ॥ देवता—निर्ऋति: सोमश्च ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

मृत्यु से ग्रस्त न होना

मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥ ४॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **नः**=हमें **मृत्यवे**=मृत्यु के लिये **मा उ सु परादाः**=मत ही दे डालिये। आपकी कृपा से हम मृत्यु के शिकार न हों, दीर्घजीवनवाले बनें। इस दीर्घ जीवन के लिये **नु**=निश्चय से **उच्चरन्तम्**=ऊपर आकाश में गति करते हुए **सूर्यम्**=सूर्य को **पश्येम**=हम देखनेवाले बनें। यह 'सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठना और सूर्य-किरणों को छाती पर लेना' हमारे स्वास्थ्य का कारण बनेगा। 'हिरण्यपाणि' सूर्य हमारे शरीरों में स्वर्ण को संचरित कर रहा होगा। (२) **द्युभिः**=दिनों से **हितः**=स्थापित किया हुआ **जरिमा**=बुढ़ापा **नः**=हमारे लिये **सु अस्तु**=उत्तम ही हो, यह जीर्णता का कारण न बने। हम वृद्ध (=बढ़े हुए) बनें, न कि जीर्ण। एक-एक दिन के बीतने के साथ आयुष्य तो काल के दृष्टिकोण से कम और कम होता ही है, परन्तु हमारी शक्तियाँ जीर्ण न हो जाएँ। **निर्ऋतिः**=दुर्गति **सु**=अच्छी प्रकार **परातरम्**=दूर और खूब ही दूर **जिहीताम्**=चली जाए। हमारी स्थिति अच्छी ही हो, यह होगी तभी जब कि हम जीर्ण न होंगे। सूर्य के सम्पर्क में स्वस्थ रहते हुए हम जीर्ण शक्ति न हों।

भावार्थ—सोम की कृपा से हम मृत्यु से दूर हों। सूर्य सम्पर्क हमें नीरोगता दे।

ऋषि:—बन्ध्वादयो गौपायना: ॥ देवता—असुनीति: ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

असु-नीति

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ ५॥

(१) हे **असुनीते**=प्राणों के धारण की नीति! तू **अस्मासु**=हमारे में **मनः**=मन को **धारय**=धारण कर। दीर्घ-जीवन के लिये पहला सिद्धान्त यह है कि हम मन को स्थिर करें। भटकता हुआ मन शक्तियों को विकीर्ण कर देता है और इससे कभी दीर्घ-जीवन नहीं प्राप्त हो सकता। विशेषकर मन में मृत्यु आदि का भय आ गया और मन को अस्थिर करनेवाला हुआ तब तो दीर्घ-जीवन का मतलब ही नहीं रहता। (२) **जीवातवे**=जीवन के लिये **नः आयुः**=हमारी आयु को **सु प्रतिरा**=खूब ही बढ़ा दीजिये। 'आयु' शब्द 'इ गतौ' से बना है। यह गतिशीलता का संकेत करता है। क्रियामय जीवन ही दीर्घजीवन होता है। आलस्य आयुष्य को अल्प कर देता है। (३) **नः**=हमें **सूर्यस्य**=सूर्य के **संदृशि**=संदर्शन में **रारन्धि**=सिद्ध करिये। हम अधिक से अधिक सूर्य के सम्पर्क में रहनेवाले बनें। यह उदय व अस्त होता हुआ सूर्य रोग क्रिमियों का नाशक होता है। (४) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **घृतेन**=घृत के द्वारा **तन्वम्**=हमारे शरीर को, शरीर की शक्तियों को **वर्धयस्व**=बढ़ाइये। घृत का प्रयोग दीर्घायुष्य का साधक है। 'घृतं आयुः'=घृत को आयु ही कहा गया है। पर इस घृत का प्रयोग 'आज्यं तौलस्य प्राशान'=तौलकर ही करना है। मात्रा में प्रयुक्त घृत मलों के क्षरण व जाठराग्नि की दीप्ति का कारण बनता है, परन्तु यही अतिमात्रा होने पर जाठराग्नि की मन्दता व यकृत् विकार का कारण हो जाता है। सो घृत का मात्रा में प्रयोग दीर्घजीवनीय है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के चार साधन हैं—(क) मन की दृढ़ता व स्थिरता, (ख) क्रियाशीलता, (ग) सूर्य सम्पर्क, (घ) गोघृत का मात्रा में सेवन।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—असुनीतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'चक्षु-प्राण-धन-सूर्य-दर्शन व अनुमति'

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ ६ ॥

(१) हे **असुनीते**-प्राणधारण के मार्ग! तू **अस्मासु**-हमारे में **पुनः**-फिर **चक्षुः**-दृष्टिशक्ति को **धेहि**-धारण कर, **पुनः**-फिर **प्राणम्**-प्राणशक्ति को दे। **इह**-इस जीवन में **नः**-हमारे लिये **भोगम्**-शरीर के पालन के लिये आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के साधनभूत धन को धारण करिये। एवं असुनीति यह है कि (क) हम चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण न होने दें। (ख) प्राणशक्ति को कायम रखें, (ग) उचित धन की मात्रावाले हों। निर्धनता हीन भोजन का कारण बनेगी और उससे चक्षु व प्राण दोनों में क्षीणता आयेगी। (२) हम **उच्चरन्तम्**-उदय होते हुए **सूर्यम्**-सूर्य को **ज्योक् पश्येम**-दीर्घकाल तक देखनेवाले हों। यह सूर्य-दर्शन व सूर्य-सम्पर्क में रहना ही तो मुख्य रूप से हमारे दीर्घायुष्य का कारण होता है। (३) हे **अनुमते**-अनुकूलमति! **मृळया**-तू सुखी कर। तेरी कृपा से **नः स्वस्ति**-हमारा कल्याण हो। 'हर वक्त मृत्यु का ध्यान आना व मृत्यु की चिन्ता करना' ही प्रतिकूलमति है। यह जीवन के ह्रास का महान् कारण होती है। अनुमति का स्वरूप तो यह है कि 'जीवेम शरदः शतम्'-हम सौ वर्ष तक अवश्य जीयेंगे ही।

भावार्थ—(क) इन्द्रियों को ठीक रखना, (ख) प्राणशक्ति में कमी न आने देना, (ग) निर्धनता का न होना, (घ) सूर्य सम्पर्क, (ङ) अनुकूल मति ये बातें दीर्घजीवन का कारण हैं।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—लिङ्गोक्ताः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शान्ति-सोमरक्षण-पथ्य-सेवन

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः ॥ ७ ॥

(१) **नः**-हमें **पृथिवी**-पृथिवी **पुनः**-फिर **असुं ददातु**-प्राणशक्ति को दे। **देवी द्यौः**-देदीप्यमान द्युलोक भी **पुनः**-फिर प्राण को दे। **अन्तरिक्षम्**-अन्तरिक्ष फिर प्राण को दे। पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक हमें प्राण को देनेवाले हों। अध्यात्म में पृथिवीलोक 'शरीर' है। अन्तरिक्षलोक 'हृदय' है। द्युलोक 'मस्तिष्क' है। बाहर की त्रिलोकी व अन्दर की त्रिलोकी की अनुकूलता होने पर मनुष्य स्वस्थ होता है। 'द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिः' इस प्रार्थना का यही अभिप्राय है। इन की परस्पर अनुकूलता के होने पर शरीर दृढ़ होता है, हृदय चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को लिये हुए होता है, मस्तिष्क दीप्त होता है। (२) **सोमः**-सोम-रसादि के क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ वीर्य **नः**-हमारे लिये **पुनः**-फिर **तन्वम्**-शक्तियों के विस्तारवाले शरीर को **ददातु**-दे। सोम के रक्षण से ही नीरोगता व अन्य शक्तियों की प्राप्ति होती है। उन्नतिमात्र का मूल सोमरक्षण है। 'ब्रह्मचर्यं परोधर्मः'-इसीलिए ब्रह्मचर्य को परधर्म कहा है। (३) **पूषा**-वह पोषण करनेवाला प्रभु **पुनः**-फिर **पथ्याम्**-पथ्य भोजन की वृत्ति को दे, **या**-जो पथ्य भोजन की वृत्ति 'अनुमति' की यह भावना भी महत्त्वपूर्ण है कि मन तो कहता है कि भोजन बड़ा स्वादिष्ट है थोड़ा-सा और खा लो, पर मति-बुद्धि प्रतिवाद करती हुई कहती है कि यह दीर्घ-जीवन के लिये ठीक

नहीं तो अधिक नहीं खाना। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में मन की इच्छा पर, दीर्घ-जीवन के दृष्टिकोण से प्रतिबन्ध रखनेवाली मति ही 'अनुमति' है। यह हमारा निश्चय से कल्याण करनेवाली है। **स्वस्तिः**-वस्तुतः उत्तम अस्तित्व को देनेवाली है। पथ्य भोजन से रोग होते ही नहीं, अचानक आ गये रोग भी नष्ट हो जाते हैं। अपथ्य सब रोगों का मूल है। अपथ्य के होने पर अच्छे से अच्छे औषध भी रोगों को दूर नहीं कर पाते।

भावार्थ—'त्रिलोकी की अनुकूलता, सोम का रक्षण, पथ्य का सेवन' ये तीन बातें दीर्घायुष्य के लिये आवश्यक हैं।

सूचना—५-६ व ७ संख्या के मन्त्रों में दीर्घ-जीवन के क्रमशः निम्न उपाय निर्दिष्ट हुए हैं—(क) मन की दृढ़ता, (ख) क्रियाशील जीवन, (ग) सूर्य सम्पर्क, (घ) गोघृत का यथोचित सेवन, (ङ) ज्ञानेन्द्रियों का ठीक रखना, (च) प्राणशक्ति में कमी न आने देना, (छ) निर्धनता को दूर रखना, (ज) मन की इच्छाओं को बुद्धि से संयत करके दीर्घजीवन के अनुकूल सोचना व करना (अनुमति), (झ) बाह्य जगत् व अन्तर्जगत् में सामञ्जस्य (ञ) सोम (=वीर्य) रक्षण, (ट) पथ्य-भोजन। ये ११ बातें हमें अवश्य शतायु करेंगी।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'सुबन्धु' का निर्दोष जीवन

शं रोदसी सुबन्धवे यह्वी ऋतस्य मातरा।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत्॥ ८॥

(१) **सुबन्धवे**-मन को उत्तमता से बाँधनेवाले तथा मन के द्वारा वीर्य को शरीर में सुरक्षित रखनेवाले मन्त्र के ऋषि सुबन्धु के लिये **रोदसी**-द्युलोक व पृथिवीलोक **शम्**-शान्ति को देनेवाले हों। ये द्युलोक व पृथिवीलोक **यह्वी**=महान् हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे जीवनों में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, पृथिवी की अनुकूलता से शरीर स्वस्थ रहता है, द्युलोक की अनुकूलता से मस्तिष्क दीप्त बनता है। ये अनुकूल पृथिवीलोक व द्युलोक **ऋतस्य मातरा**-ऋत का निर्माण करनेवाले होते हैं। जो भी चीज ठीक है उसे ये उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये शरीर को निर्दोष बना देते हैं। (२) **द्यौः**=द्युलोक **यद् रपः**=जो भी दोष है उसे **अपभरताम्**-दूर करे, **पृथिवि**=अन्तरिक्ष दोष को दूर करे, **क्षमा**-यह पृथिवी भी दोष को दूर करे। इस त्रिलोकी की अनुकूलता से हमारा जीवन शरीर, हृदय व मस्तिष्क तीनों ही अध्यात्मलोकों में निर्दोष बने। (३) **किंचन रपः**=कुछ रत्तीभर भी दोष **मा उ**=मत ही **ते**=तेरा **सु अममत्**-हिंसन करे। वस्तुतः बाह्यलोकों व अन्तर्लोकों की अनुकूलता के होने पर दोष उत्पन्न ही नहीं होते और यदि दोष का अंकुर उत्पन्न होने भी लगे तो उसका मूल में ही (प्रारम्भ में ही) उद्धर्हण हो जाता है। उस समय दोष का दूर करना कठिन नहीं होता। उसे आराम से उखाड़कर फेंक दिया जाता है। वृक्ष की तरह बद्धमूल हो जाने पर तो उसे काटने के लिये बड़े-बड़े औषध रूप कुल्हाड़ों की आवश्यकता पड़ेगी ही। सो बुराई को प्रारम्भ में ही समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये सम्पूर्ण वातावरण की अनुकूलता इष्ट है। 'प्रकृति के समीप रहना' ही प्राकृतिक शरीर को स्वस्थ रखता है। अस्वाभाविक खान-पान व रहन-सहन रोगों का जनक होता है।

भावार्थ—हम मन को भटकने से रोकें, शरीर में वीर्य को बाँधनेवाले हों। इससे द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिये ऋत (=ठीक) चीज का निर्माण करनेवाले होंगे और हमारे जीवन को निर्दोष करेंगे।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तीन औषध

अवं द्वके अवं त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा ।
क्षमा चरिष्ण्वेकुकं भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चुनाममत् ॥ ९ ॥

(१) जीवन की निर्दोषता के लिए प्रस्तुत मन्त्र में तीन महत्त्वपूर्ण औषधों का संकेत है। **क्षमा**-इस पृथिवी पर **एककम्**-(एक+कं) एक सुख को देनेवाली **भेषजा**=औषध **चरिष्णु**-(चरति) विचरण करती है, विद्यमान है। यह 'मधु' के रूप में है। यह मधु क्षीणता व स्थूलता दोनों को ही दूर करके शरीर के यथेष्ठ स्थिति में लानेवाला है। स्वयं मट्टी भी अद्भुत औषध है, यह सब विषयों का चूषण कर लेती है और शरीर को नीरोग बनाने में अद्भुत चमत्कार को प्रकट करती है। (२) 'दिवः' शब्द यहाँ अन्तरिक्ष व द्युलोक दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। **दिवः**=इस अन्तरिक्ष से **द्वके**=दूसरी सुखप्रद औषध अव (चरन्ति) नीचे इस पृथ्वी पर गति करती है। यह 'मेघ-जल' के रूप में है। मेघ-जल के गुण इस शब्द से ही स्पष्ट हैं कि इसे 'अमर-वारुणी' कहा गया है, यह देवताओं की मद्य के समान है। (३) **दिवः**=द्युलोक से **त्रिका**=तीसरी सुखप्रद **भेषजा**=औषध **अव चरन्ति**=इस पृथ्वीलोक पर आती है। यह सूर्य-किरण के रूप में है। यह सूर्य-किरण शरीर में आनेवाले सब रोगकृमियों का संहार करके शरीर को नीरोग बनाती है। यह शरीर में स्वर्ण के इञ्जक्शन-सा कर देती है। शरीर में विटामीन डी की उत्पत्ति करके शरीर में कैल्सियम की ठीक खपत करानेवाली ये होती हैं। इस प्रकार ये सूर्य-किरणें शरीर के रोगों को नष्ट करती हैं। (४) **द्यौः**=द्युलोक **पृथिवी**=अन्तरिक्षलोक तथा **क्षमा**=पृथिवीलोक **यद् रपः**=जो भी दोष है उसे **अपभरताम्**=दूर करें। **किंचनरपः**=नाममात्र भी दोष **ते**=तुझे **मा उ सु अममत्**=मत ही हिंसित करें।

भावार्थ—पृथिवी का 'मधु', अन्तरिक्ष का वृष्टिजल तथा द्युलोक की सूर्य-किरणें शरीर को निर्दोष बना करके हमारे जीवनों को सुखी बनाते हैं।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—द्यावापृथिव्याविन्द्रश्च, द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उशीनराणी का रथ

समिन्द्रेरय गामनुड्वाहं य आवहदुशीनराण्या अनः ।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चुनाममत् ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार शरीर को निर्दोष बनाकर हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **उशीनराण्याः अनः**=बुद्धि के इस रथ को **सं ईरय**=सम्यक् प्रेरित कर। बुद्धि को उशीनराणी कहा है, यह 'उशी' कामना करती है और 'नराणी' आगे ले चलती है उस **गाम्**=गौ को **अनड्वाहम्**=(बैल को) अनड्वाह को **सं ईरय**=प्रेरित कर **यः**=जो **आवहत्**=इस रथ का वहन करता है। 'गावः इन्द्रियाणि' गौएँ तो इन्द्रियाँ हैं, ये शरीर रूप रथ के घोड़े कहलाते हैं 'इन्द्रियाणि हयानाहुः'। मन लगाम है। वह जितना दृढ़ होता है उतना ही रथ की गति निर्विघ्न रहती है। वस्तुतः 'अनड्वाह' शब्द की मूल भावना ही 'रथ का वहन करनेवाला' यह है। मन इस शरीर रथ का वहन करनेवाला है। 'रथी' इन्द्र व जीवात्मा है, परन्तु इस रथ को बुद्धि का ही रथ कहा गया, क्योंकि सारथित्वेन बुद्धि ही इसे ठीक-ठाक रखती है। वह मनरूपी लगाम के द्वारा रथ का वहन

करती है, एवं मन का महत्त्व स्पष्ट है। इसके बिना बुद्धि भी अपना कार्य करने में समर्थ नहीं। (२) इन सब का (बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ) निर्दोष होना आवश्यक है। सो कहते हैं कि **द्यौः**-द्युलोक **पृथिवि**-अन्तरिक्षलोक तथा **क्षमा**-पृथिवीलोक **यद् रपः**-जो भी दोष है उसे **अपभरताम्**-दूर करें। **किंचन रपः**-कुछ भी दोष **ते**-तुझे **मा उ सु अमनत्**-मत ही हिंसित करे।

भावार्थ—हमारा यह शरीर-रथ निर्दोष व परिष्कृत हो, जिससे यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाए।

सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों में दुर्गति के दूरीकरण के लिये प्रार्थना है, (१-४) फिर असुनीति का प्रतिपादन करते हुए दीर्घजीवन के साधनों पर प्रकाश डाला गया है, (५-७) अन्तिम तीन मन्त्रों में शरीर को निर्दोष बनाने का विधान है, (८-१०) हमें प्रयत्न करना है कि 'त्वेषसन्दृश' (=दीप्त-दर्शन) व 'उपस्तुत' बनें—

[६०] षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—असमाती राजा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दीप्त-दर्शन, स्तुतिवाला

आ जनं॑ त्वे॒षसं॑दृशं॒ माही॑नाना॒मुप॑स्तुतम्। अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमः॑ ॥ १ ॥

(१) **नमः बिभ्रतः**-नमस्कार को धारण करते हुए, बद्धाञ्जलि होकर अथवा आदर की भावना को धारण करते हुए हम **आ अगन्म**-सर्वथा प्राप्त हों। **जनम्**-उस मनुष्य को प्राप्त हों जो कि **त्वेषसन्दृशम्**-दीप्त-दर्शनवाला है, जिसका मुख तेजस्विता से दीप्त है तो मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से उज्ज्वल है। इसके सम्पर्क में आकर हम भी इसी प्रकार बन पायेंगे। हमारा भी शरीर तेजस्वी होगा और मस्तिष्क ज्ञान की दीप्तिवाला बनेगा। (२) हम उस मनुष्य को प्राप्त होते हैं जो कि **माहीनानां उपस्तुतम्**-पूजा के योग्यों के लिये उपगत स्तुतिवाला है, पूजनीयों की पूजा करनेवाला है। वही पुरुष संगतिकरण योग्य है जो कि हृदय में प्रभु की पूजा की भावना से ओत-प्रोत है।

भावार्थ—हम उन लोगों को नमस्कृत करें जो तेजस्विता से दीप्त मुखवाले, ज्ञान से उज्ज्वल मस्तिष्कवाले तथा हृदय में पूज्यों की पूजा की वृत्तिवाले हैं। जिससे हमारा भी जीवन इसी प्रकार का बने।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—असमाती राजा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

किनका संग ?

अस॑माति॒ नि॒तोश॑नं त्वे॒षं नि॑य॒यिनं॒ रथ॑म्। भ॒जेर॑थस्य॒ सत्प॑तिम् ॥ २ ॥

(१) **भजे**-मैं सेवन व उपासन करता हूँ उस पुरुष का जो कि (क) **असमातिम्**-असमान व अनुपम है, unpasselleded-अपने क्षेत्र में अपनी समतावाले को नहीं रखता। (ख) **नितोशनम्**-निश्चय से काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाला है, (ग) **त्वेषम्**-कामादि शत्रुओं के संहार के कारण दीप्त जीवनवाला है। इन वासनाओं ने ही तो ज्ञान पर परदा डाला हुआ था, इस आवरण के हट जाने पर उसका ज्ञान चमक उठता है, (घ) **निययिनम्**-गतिशील है, जिसका जीवन अकर्मण्य नहीं। (ङ) **रथम्**-जो तीव्र गतिवाला है, स्फूर्ति से सब कार्यों को करनेवाला है। क्रियाशील है और क्रियाओं को स्फूर्ति से करता है। (रंहतेर्रा स्माद् गतिकर्मणः) (च) **रथस्य सत्पतिम्**-शरीर रूप रथ का उत्तम रक्षक है। अर्थात् अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करता है। यदि यह शरीर रूप रथ विकृत हो जाए तो अन्य सब बातें तो व्यर्थ ही हो जाती हैं।

(२) एवं हमारा सम्पर्क उल्लिखित ६ बातों से युक्त जीवनवाले पुरुष के साथ होगा तो हम भी अपने जीवन में अनुपम उन्नति करनेवाले, कामादि का पराभव करनेवाले, दीप्त, गतिशील, स्फूर्तिमय व स्वस्थ बनेंगे। यह संग ही तो हमारे जीवन को बनानेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम सम्पर्क से हम भी अपने जीवन को उत्तम बना पायें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—असमाती राजा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

युद्ध के द्वारा अग्र-स्थिति

यो जनान्महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान्। उतापवीरवान्युधा ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र में 'असमाति'=अनुपम जीवनवाले का उल्लेख था। यह असमाति वह है **यः**=जो **जनान्**=सब लोगों को **अतितस्थौ**=लाँघकर ठहरा है, उसी प्रकार सब से आगे बढ़कर यह स्थित हुआ है **इव**=जिस प्रकार कि वन में मृगेन्द्र (=शेर) सब **महिषान्**=बड़े-बड़े भैंसे आदि पशुओं को लाँघकर स्थित होता है। (२) 'यह 'असमाति' औरों से किस प्रकार लाँघ गया'? इसका उत्तर 'युधा' शब्द से दिया गया है। यह आगे बढ़ा है **युधा**=युद्ध के द्वारा। इसने 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं के साथ हृदयरूप रणक्षेत्र में युद्ध किया है। इस अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करने के कारण ही यह सब से आगे बढ़ गया है। इसने जब इस युद्ध को किया है उस समय इसने यह नहीं देखा है कि **पवीरवान्**-वह वज्रवाला है **उत**=अथवा **अपवीरवान्**-वज्रवाला नहीं है। साधन जुटाने की प्रतीक्षा में ही यह खड़ा नहीं रह गया। आक्रमण करनेवाले कामादि शत्रुओं के साथ यह युद्ध में जुट गया और उसे यह श्रद्धा रही कि साधन तो प्रभु जुटा ही देंगे। ठीक कार्य में लगने पर प्रभु मदद करते ही हैं। जो व्यक्ति परिस्थियों की अनुकूलता व प्रतिकूलता को ही देखते रहते हैं वे संसार संग्राम में विजयी नहीं हुआ करते। यह 'असमाति' पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध में लग जाता है और विजयी बनकर सब से आगे स्थित होता है। हम भी इस असमाति के सम्पर्क में आते हैं, इसे आदर देते हैं और उसके पदचिह्नों पर चलने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं के साथ युद्ध के द्वारा ही मनुष्य उन्नत स्थिति में पहुँचता है।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—असमाती राजा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इक्ष्वाकु

यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान्मराय्येधते। दिवीव पञ्च कृष्टयः ॥ ४ ॥

(१) 'असमाति' वह है अनुपम जीवनवाला वह है, **यस्य**=जिसके **व्रते**=गत मन्त्र में वर्णित काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं के साथ सतत युद्ध रूप व्रत में, अर्थात् इस अध्यात्म युद्ध को स्वयं अपनानेवाला **इक्ष्वाकुः**=(इक्षु=इच्छा desire, आकुः=one who bends अञ्च्) इच्छाओं व कामनाओं को झुकानेवाला पुरुष **रेवान्**=उत्तम अध्यात्म सम्पत्तिवाला होता हुआ **मरायी**=शत्रुओं को मारनेवाला, काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को नष्ट करनेवाला **उपैधते**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होता है। उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है **इव**=जैसे **पञ्च कृष्टयः**=’ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में विभक्त हुए-हुए मनुष्य **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में वृद्धि को प्राप्त करते हैं। ज्ञान मनुष्य के जीवन को पवित्र करता है। ज्ञान से हमारी न्यूनताएँ दूर होती हैं और हम पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। (२) कामनाओं को दबानेवाला 'इक्ष्वाकु' अध्यात्म संग्राम में जुटकर के आगे बढ़ता है। वह अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करता हुआ वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम भी अध्यात्म-संग्राम का व्रत लें। इस संग्राम में कामादि शत्रुओं को मारकर आत्म-सम्पत्तिवाले बनें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रथ-प्रोष्ठ 'असमाति'

इन्द्र॑ क्षत्रास॑मातिषु रथ॑प्रोष्ठेषु धारय। दि॒वीव॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**-सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **रथप्रोष्ठेषु**-(प्रोष्ठ-ऋषभ-श्रेष्ठ) रंहणशील-गतिशील-स्फूर्तिमय पुरुषों में श्रेष्ठ **असमातिषु**-अनुपम जीवनवाले इन पुरुषों में **क्षत्रा**-बलों को **धारय**-धारण करिये। इस प्रकार धारण करिये, **इव**-जैसे कि **दिवि**-द्युलोक में **सूर्यम्**-आप सूर्य को धारण करते हैं, **दृशे**-जिससे सब लोग मार्ग को देख सकें। (२) 'रथ' शब्द 'रंहतेर्गतिकर्मण:' धातु से बनकर तीव्र गतिवाले, स्फूर्तिमय जीवनवाले पुरुष का वाचक है। उनमें भी श्रेष्ठ 'रथ-प्रोष्ठ' है। यह इस स्फूर्ति व गति के कारण ही 'असमाति' बना है, अनुपम जीवनवाला हुआ है। इसके जीवन में शक्ति का स्थापन होगा तो ये लोकहित के कार्यों को करने में अधिक क्षम होंगे, ये उसी प्रकार लोगों के मार्ग-दर्शन के लिये होंगे जिस प्रकार कि आकाश में उदित हुआ-हुआ सूर्य लोगों का मार्गदर्शन करता है।

भावार्थ—स्फूर्तिमय जीवनवाले, कामादि के विजेता अनुपम जीवनवाले पुरुष हमारे लिये मार्ग-दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यस्य स्वसैषां माता ॥ देवता—असमाती राजा ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अगस्त्यस्य नद्भ्यः

अ॒गस्त्य॑स्य॒ नद्भ्यः॒ सप्ती॑ युनक्षि॒ रोहि॑ता। प॒णीन्न्य॑क्रमीर॒भि विश्वा॑न्राजन्नरा॒धसः॑ ॥ ६ ॥

(१) अगस्त्य की स्वसा (=बहिन) सुबन्धु की माता है। वही प्रस्तुत मन्त्रों की देवता है। अगं अचलं कूटस्थं प्रभुं स्त्यायति (**स्त्यै शब्दे**)=अचल प्रभु के नामों का जो उच्चारण करता है वह 'अगस्त्य' है। वह चित्तवृत्ति जो कि प्रभु-स्तवन की ओर झुकती है वही अगस्त्य की स्वसा है, 'सु अस्'-अगस्त्य की स्थिति को उत्तम बनानेवाली है। यह 'अगस्त्य स्वसा' सुबन्धु को जन्म देती है, सुबन्धु, अर्थात् उत्तमता से मन को बाँधनेवाला। हे प्रभो! आप इन **अगस्त्यस्य नद्भ्यः**=(नन्दपितृभ्य) अगस्त्य के आनन्दित करनेवाले, अगस्त्य के भगिनी पुत्रों, अर्थात् प्रभु-स्तवन की ओर चित्तवृत्ति को लगाकर चित्त के बाँधनेवालों के लिये **रोहिता**=तेजस्वी अथवा प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले **सप्ती**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **युनक्षि**=इस शरीर रूप रथ में जोतते हैं। अर्थात् मनोनिरोध करनेवाले व्यक्तियों को आप उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति कराते हैं। इन्द्रियों ने तो विषयों का ग्रहण करना ही है, परन्तु यदि वे आत्मवश्य होती हुई विषयों में जाती हैं तो पवित्रता बनी रहती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की वृत्ति भौतिक नहीं बन जाती। (२) इसके विपरीत हे **राजन्**=संसार के शासक प्रभो! आप **विश्वान्**-सब **अराधसः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को न सिद्ध करनेवाले **पणीन्**=बनिये की मनोवृत्तिवाले व्यवहारी लोगों को **अभि**=इस लोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से **नि अक्रमीः**=नीचे कुचल देते हैं। धन का लोभ इन्हें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होने से रोकता है, सो ये इहलोक से भी जाते हैं, परलोक से भी।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन की ओर चित्तवृत्ति को झुकायेंगे तो हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम होंगे। केवल व्यवहारी पुरुष बन जायेंगे तो कुचले जाएँगे।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—सुबन्धोर्जीविताह्वानम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

आजा, निकल आ

अयं मातायं पितायं जीवातुरागमत्। इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरिहि ॥ ७ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **सुबन्धो**=मन को बाँधनेवाले! मन को विषयों में न भटकने देनेवाले! **अयम्**=यह यज्ञ ही अथवा प्रभु ही **माता**=तेरी माता हैं, तेरे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं, **अयं पिता**=यही तेरे पिता अथवा रक्षण करनेवाले हैं। **अयं जीवातुः**=यह जीवनौषध के रूप में **आगमत्**=तुझे प्राप्त हुए हैं। मन को निरुद्ध करके हम प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें, यज्ञादि उत्तम कर्मों में इसे लगाये रखें। हम प्रभु को ही माता, पिता व जीवनोषध के रूप में जानें। (२) हे सुबन्धो! **इदम्**=यह प्रभु व यज्ञ की ओर चलना ही **तव प्रसर्पणम्**=तेरा प्रकृष्ट मार्ग है। **एहि**=तू इस मार्ग पर चलता हुआ मुझे (प्रभु को) प्राप्त करनेवाला बन। **निरिहि**=इस विषयपंक से तू बाहर निकल आ। विषयों में फँसे रहकर तेरा विनाश हो जाएगा। यज्ञ में ही तेरा कल्याण है, प्रभु की ओर झुकना ही जीवन है, उससे दूर होकर विषय-प्रवण होना ही मृत्यु है। प्रभु जीव से कहते हैं कि आ जा, विषयों के पंक से बाहिर निकल आ।

भावार्थ—हम प्रभु को ही माता, पिता व जीवन के रूप में जानें। प्रभु की ओर ही हम चलें। प्रभु को प्राप्त हो जाएँ, विषयों से दूर रहें।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—सुबन्धोर्जीविताह्वानम् ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मनो-बन्धन

यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥ ८ ॥

(१) **यथा**=जैसे **युगम्**=रथ के जुए को **धरुणाय**=धारण करने के लिये **वरत्रया**=रस्सी से **नह्यन्ति**=बाँध देते हैं, और परिणामतः **कम्**=वहाँ सुख होता है। न बाँधने पर सब तितर-बितर हो जाने से यात्रा का ही सम्भव न होता। **एवा**=इसी प्रकार **ते मनः**=तेरे मन को **दाधार**=धारण करते हैं। इसे यज्ञ में व उपासन में लगाते हैं। जिससे कि **जीवातवे**=जीवन बड़ी ठीक प्रकार से चले **न मृत्यवे**=मृत्यु न हो जाए। मन के भटकने में मृत्यु ही है। **अथ उ**=और अब **अरिष्टतातये**=अहिंसन व शुभ के विस्तार के लिये तेरे मन को धारण करते हैं। (२) स्थिर मन जीवन का कारण है, अस्थिर मन मृत्यु की ओर ले जानेवाला है। स्थिर मन शुभ का मूल होता है। मन की अस्थिरता में हिंसन ही हिंसन है। इसलिए जैसे जुए को रस्सी से दृढ़तापूर्वक बाँध देने से रथ का ठीक से धारण होता है, इसी प्रकार हम मन को यज्ञों में व प्रभु में बाँधकर जीवन को धारण करनेवाले बनते हैं, यही अरिष्ट मार्ग है।

भावार्थ—मन को स्थिर करके हम मृत्यु को छोड़कर जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—सुबन्धोर्जीविताह्वानम् ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मन को यज्ञों में बाँधना

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥ ९ ॥

(१) **यथा**=जैसे **इयं मही पृथिवी**=यह महनीय पृथ्वी **इमान् वनस्पतीन्**=इन वनस्पतियों को **दाधार**=धारण करती है। पृथ्वी में गड़े हुए (=दृढमूल) ये वनस्पति इधर-उधर भटकते नहीं।

एवा-इसी प्रकार **ते मनः**-तेरे मन को भी **दाधार**-प्रभु में व यज्ञ में **दाधार**-धारण करते हैं। जिससे **जीवातवे**-तेरा जीवन सुन्दर बना रहे, **न मृत्यवे**-तू मृत्यु की ओर न चला जाए। **अथ उ**-और अब निश्चय से **अरिष्टतातये**-अहिंसन व शुभ का विस्तार हो सके। (२) हमारा मन यज्ञादि उत्तम कर्मों में इस प्रकार स्थिर बना रहे जैसे कि वृक्ष पृथ्वी में स्थिरता से बद्धमूल होते हैं। इसी में जीवन है, इसी में मृत्यु से बचाव है, यही शुभ के विस्तार का साधन है।

भावार्थ—हम मन को स्थिर करके दीर्घजीवी व शुभ जीवनवाले हों।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—सुबन्धोर्जीविताह्वानम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वैवस्वत यम से दूर

यमादहं वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम्। जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥ १०॥

(१) मन को बड़ी उत्तमता से यज्ञादि कर्मों में बाँधनेवाला यह 'सुबन्धु' है। **अहम्**-मैं **सुबन्धोः**-इस सुबन्धु के मन को **वैवस्वतात्**-विवस्वान् (=सूर्य) के पुत्र **यमात्**-यम से, मृत्यु की देवता से **आभरम्**-(आहरम्) दूर लाता हूँ। 'विवस्वान्' सूर्य है। यह प्रकाश की किरणोंवाला है (विवस्-वान्) इसके कारण बने हुए दिन-रात हमारे जीवन को काटते चलते हैं, इसलिए यम को वैवस्वत कह दिया गया है। हमारा मन सदा मृत्यु का ही जप करता रहेगा तो आयुष्य अवश्य छोटा हो जाएगा। सो इस सुबन्धु के मन को हम मृत्यु से दूर करते हैं। जिससे **जीवातवे**-यह उत्तम जीवनवाला हो, **न मृत्यवे**-मृत्यु का शिकार न हो जाए और **अथ उ**-अब निश्चय से **अरिष्टतातये**-यह शुभ चीजों का विस्तार कर सके। (२) हमारा मन हर समय मृत्यु के विकल्प से ही अपहृत न रहे। हम इसे उस विकल्प से दूर करते हैं। जीवन के लिये ऐसा करना आवश्यक है। हर समय मृत्यु का राग मृत्यु की ही ओर ले जाता है। शुभ के विस्तार के लिये इस मृत्युराग से दूर होना आवश्यक है।

भावार्थ—हम मन को मृत्यु के राग अलापते रहने से दूर करें। यह मृत्यु का मार्ग है। जीवन के लिये इस राग को छोड़ना आवश्यक है।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—सुबन्धोर्जीविताह्वानम् ॥ छन्दः—आर्च्यनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वात-सूर्य-अघ्न्या

न्य१ग्वातोऽव वाति न्यक्तपति सूर्यः। नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः॥ ११॥

(१) **वातः**-वायु मृत्यु को तेरे से **न्यग्**-नीचे **अववाति**-सुदूर ले जाती है। शुद्ध वायु का सेवन मृत्यु को तेरे से दूर करता है और इस प्रकार तेरा जीवन दीर्घ होता है। शुद्ध वायु सब रोगों का औषध बनता है और तुझे नीरोग बनाता है, नीरोग बनाकर यह मन को भी शान्ति देनेवाला होता है। शान्त मन दीर्घायुष्य का सर्वमहान् साधन है। (२) **सूर्यः**-यह प्रतिदिन उदय होनेवाला सूर्य भी मृत्यु को **न्यक्**-तेरे से नीचे ले जानेवाला होकर **तपति**-दीप्त होता है। सूर्य-किरणों को छाती पर लेने से मृत्यु व रोग दूर होते हैं। (३) **अघ्न्या**-यह **अहन्तव्य गौ**-अपने दूध से हिंसा न होने देनेवाली गौ, **नीचीनम् दुहे**-मृत्यु को तेरे से नीचे ले जाती हुई **दुहे**-दुग्ध का हमारे पात्रों में पूरण करती है। यह गोदुग्ध का प्रयोग भी दीर्घायुष्य का प्रमुख साधन होता है। (४) इस प्रकार शुद्ध वायु के सेवन से, सूर्य-किरणों को अपने शरीर पर लेने से तथा गोदुग्ध के प्रयोग से हम मृत्यु से दूर होते हैं। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि इनके प्रयोग से **ते रपः**-तेरा दोष **न्यग् भवतु**-नीचे जानेवाला होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिये (क) शुद्ध वायु सेवन, (ख) सूर्य-किरणों में उठना-बैठना तथा (ग) गोदुग्ध का प्रयोग आवश्यक हैं।

ऋषिः—बन्ध्वादयो गौपायनाः ॥ देवता—सुबन्धोर्जीविताह्वानम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मंगल-स्पर्शन

अ॒यं मे॒ हस्तो॒ भग॑वान॒यं मे॒ भग॑वत्तरः । अ॒यं मे॑ वि॒श्वभे॑षजो॒ऽयं शि॒वाभि॑मर्शनः ॥ १२ ॥

(१) यदि एक व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है और उसके मन पर उस रोगमय का प्रभाव प्रकट होने लगता है तो एक उत्तम वैद्य उसके मन पर स्वास्थ्यकर प्रभाव डालने के लिये कहता है कि **मे**=मेरा **अयम्**=यह **हस्तः**=दायां हाथ **भगवान्**=भगवाला है, अद्भुत शक्तिवाला है (भग=stength) और **मे**=मेरा **अयम्**=यह वाम हस्त **भगवत्तरः**=और भी अधिक शक्तिशाली है। (२) यह मेरा हाथ क्या है। **मे अयम्**=मेरा यह हाथ तो **विश्वभेषजः**=सब औषधोंवाला है, **अयं शिवाभिमर्शनः**=यह मंगल स्पर्शवाला है, यह छूते ही कल्याण करता है। इस प्रकार प्रेरणा देता हुआ वैद्य रोगी के मन को शुभ प्रभाव से सम्पन्न करने का प्रयत्न करता है और उसे स्वस्थ बनाता है।

भावार्थ—रोगी को वैद्य में विश्वास हो जाए तो उसका रोग शीघ्र ही दूर हो जाता है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम ज्ञानी तेजस्वी स्तोता पुरुषों के सम्पर्क में चलते हुए उन जैसे ही बनें। (१) मन को काबू करके दीर्घजीवन व शुभ को प्राप्त करनेवाले हों, (८-१०) शुद्ध वायु, सूर्य-किरण सम्पर्क व गोदुग्ध हमें नीरोग बनाये। (११) वैद्य का हस्त-स्पर्श ही हमारे रोग को दूर भगा दे, (१२) हम सृष्टि के केन्द्रभूत यज्ञों के समीप हों, यज्ञशील बनें और अग्रिम सूक्त के ऋषि 'नाभानेदिष्ठ' बनें। (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) विचारशील होते हुए 'मानव' हों। यह मानव सात होताओं का पूरण करता है—

पञ्चमोऽनुवाकः

[६१] एकषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सप्त होताओं का पूरण

इ॒दमि॒त्था रौद्रं॑ गू॒र्तव॑चा॒ ब्रह्म॒ क्रत्वा॒ शच्या॑म॒न्तरा॒जौ ।
क्रा॒णा यद॑स्य पि॒तरा॑ मंहने॒ष्ठाः पर्ष॑त्प॒क्थे अह॒न्ना स॒प्त होतॄ॑न् ॥ १ ॥

(१) **इत्था**=इस प्रकार **इदम्**=इस **रौद्रम्**=(सत्) रुद्र सम्बन्धी, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान प्राप्त करानेवाले प्रभु के **ब्रह्म**=स्तोत्र को **क्रत्वा**=प्रज्ञान से **शच्यां अन्तः**=कर्मों के अन्दर **आजौ**=काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में, **यद्**=जब **उपस्थ**=इस नाभानेदिष्ठ के **पितरा**=मातृ-पितृ-स्थानभूत पृथिवीलोक और द्युलोक, शरीर व मस्तिष्क **क्राणा**=(कुर्वाणा) करनेवाले होते हैं। तब यह **गूर्तवचाः**=उद्यत वचनोंवाला होता है, ज्ञान की वाणियों को मस्तिष्क में धारण करनेवाला होता है और **मंहनेष्ठाः**=सदा दान में स्थितिवाला होता है, त्यागमय जीवनवाला होता है। (२) प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिये (क्रत्वा), प्रभु का उपासक क्रियामय जीवनवाला होता है, कर्म के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है (शच्याम् अन्तः)। यह उपासक काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं के साथ सतत युद्ध में प्रवृत्त रहता है। इस उपासक का शरीर व मस्तिष्क दोनों प्रभु के उपासक बनते हैं, अर्थात् शरीर सम्बन्धी सब क्रियाओं को यह 'ऋत' पूर्वक करता है। ये सब क्रियाएँ सूर्य और चन्द्रमा की गति की तरह ठीक समय पर होती हैं। मस्तिष्क में यह असत्य विचारों को नहीं आने देता। इस प्रकार ऋत और सत्य का अपने जीवन से प्रतिपादन करता हुआ यह ब्रह्म का सच्चा उपासक होता है। इस उपासना के परिणामस्वरूप इसका जीवन

ज्ञान व त्याग से परिपूर्ण होता है। (३) यह नाभानेदिष्ठ **पक्थे अहन्**=पक्तव्य दिन में **सप्त होतॄन्**=सात होताओं को **आपर्यत्**=(सर्वत: अपूरयत्) सब प्रकार से पूरित करता है। यह एक-एक दिन को इस योग्य समझता है कि उसने अपने शरीर, मन व बुद्धि का उनमें परिपाक करना है। एक-एक दिन 'अ-हन्'=न नष्ट करने योग्य है। प्रतिदिन अपना परिपाक करता हुआ यह 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'-दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख रूप सातों होताओं को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है, इनमें न्यूनताओं को नहीं आने देता।

भावार्थ—हम प्रज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हुए, वासनाओं के साथ संग्राम को करते हुए प्रभु का सच्चा स्तवन करें। ज्ञान व त्याग को अपनाएँ। 'कान, नासिका, आँख व मुख' सभी को न्यूनताओं से रहित बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शरीर को यज्ञवेदि बना देना

स इद्दानाय दभ्याय वन्वञ्च्यवानः सूदैरमिमीत वेदिम्।
तूर्वयाणो गूर्तवचस्तमः क्षोदो न रेत इतऊति सिञ्चत्॥ २॥

(१) **स**=वह नाभानेदिष्ठ **इत्**=निश्चय से **दानाय**=दान के लिये तथा **दभ्याय**=लोभादि के हिंसन के लिये **वन्वन्**=(वन्=win) इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न करता है। जितेन्द्रिय बनकरके ही वह लोभादि का हिंसन करता है और त्याग को अपना पाता है। यह **सूदैः**=लोभादि के हिंसनों से **च्यवानः**=सब मलों को अपने से दूर करता हुआ **वेदिं अमिमीत**=वेदि को बनाता है, अर्थात् अपने शरीर को यज्ञस्थली के रूप में परिवर्तित कर देता है। इसका जीवन यज्ञमय बन जाता है, यह सचमुच नाभानेदिष्ट=यज्ञरूप केन्द्र के समीप रहनेवाला हो जाता है। (२) **तूर्वयाणः**=शीघ्रता से गमनवाला, स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला यह होता है। **गूर्तवचस्तमः**=अतिशयेन ज्ञान की वाणियों को उठाने व धारण करनेवाला बनता है। और 'तूर्वयाण व गूर्तवचस्तम' बनने के लिये ही **क्षोदो न**=उदक के समान **रेतः**=शरीर में स्थितिवाले इन रेतःकणों को यह **इत ऊति**=इस संसार की वासनाओं से व रोगों से अपने रक्षण के लिये **असिञ्चत्**=शरीर में ही सिक्त करता है। इन रेतःकणों को शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला करके यह ऊर्ध्वरेता बनता है। इन सुरक्षित रेतःकणों से यह रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम शरीर को यज्ञवेदी का रूप देनेवाले हों। रेतःकणों को शरीर में ही ऊर्ध्वगति के द्वारा व्याप्त करके हम अपना रक्षण करें, रोगों व वासनाओं का शिकार न हों।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनोनिरोध व जीवन का परिपाक

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! (यह शब्द ६१।४ से लिया गया है) **न द्रवन्ता**=स्थिर होते हुए आप **येषु हवनेषु**=जिन प्रभु की पुकारों में, प्रभु नाम-स्मरणों में **विपः**=ज्ञानी मेधावी पुरुष के **तिग्मं मनः**=इस तीव्र गतिवाले मन को **शच्या**=प्रज्ञानपूर्वक कर्मों से **वनुथः**=जीत लेते हो (वन्=win)। यहाँ मनोनिरोध के लिये (क) सर्वमुख्य साधन प्राणसाधना को कहा गया है। ये प्राण-स्थिर होते हैं (न द्रवन्ता) तो मन भी स्थिर हो जाता है। (ख) मनोनिरोध के लिये प्रभु

का आराधन आवश्यक है (हवनेषु), (ग) कर्मों में लगे रहना भी इसमें सहायक है (शच्या)। इन सभी साधनों को अपनाने पर ही यह तीव्र गतिवाला मन वश में होता है। (२) प्राणसाधना आदि के द्वारा मनोनिरोध करनेवाला मेधावी पुरुष वह है यः-जो शर्यांभिः-(शॄ हिंसायाम्) वासनाओं के हिंसन के द्वारा तुविनृम्णः-(नृम्ण-strength) महान् शक्तिवाला होता है और यह मेधावी अस्य-इस प्रभु की गभस्तौ-ज्ञानरश्मियों में आदिशम्-उसके आदेश के अनुसार आ अश्रीणीत-सर्वथा अपना परिपाक करता है। शरीर, मन व बुद्धि सभी को बड़ा सुन्दर बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना, प्रभु के आराधन व कर्म में लगे रहने से हम मन को स्थिर करें और प्रभु के आदेश के अनुसार चलते हुए ठीक से अपना परिपाक करें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अश्विनौ का आराधन काल

कृष्णा यद्गोष्व॑रु॒णीषु॒ सीद॑द्दि॒वो नपा॑ताश्विना हुवे वाम्।
वी॒तं मे॑ य॒ज्ञमा ग॑तं मे॒ अन्नं॑ ववन्वांसा॒ नेष॒मस्मृ॑तध्रू॥ ४॥

(१) हे दिवः नपाता=ज्ञान के न नष्ट होने देनेवाले अश्विना=अश्विनी देवो! मैं वाम्=आपको उस समय हुवे=पुकारता हूँ यद्=जब कि कृष्णा=अन्धकारमयी रात्रि अरुणीषु गोषु=अरुण वर्णवाली किरणों में, अर्थात् उषःकाल के प्रारम्भिक प्रकाश में सीदत्=निषण्ण होती है। यही समय 'ब्राह्म-मुहूर्त' कहलाता है। इसी समय प्राणसाधना करते हुए, मनोनिरोधपूर्वक प्रभु का स्मरण करना होता है। (२) हे अश्विनी देवो! प्राणापानो! आप मे=मेरे यज्ञम्=प्रभु के साथ संगतिकरण व मेल को वीतम्-चाहो। आपकी कृपा से मैं प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ। मे-मेरे अन्नं च-इस अन्नमयकोश को त्वरह इषम्-इच्छा को ववन्वांसा=जीतने की कामना करते हुए आगतम्-आप आओ। आपकी आराधना से मैं अन्नमयकोष को जीत पाऊँ। इसमें किसी प्रकार का रोग न हो। मैं मन में उत्पन्न होनेवाली इच्छाओं को भी जीत पाऊँ। इस प्रकार मेरा शरीर व मन दोनों ही उत्तम हों। हे अश्विनी देवो! आप हमारे लिये अ-स्मृत-ध्रू=(अस्मृत द्रोहौ) किसी प्रकार के द्रोह का स्मरण न करनेवाले होवो। हम कभी भी आपके द्वारा हिंसित न हों।

भावार्थ—उषा के होते ही हम प्राणसाधना में आसीन हों। इससे हमारा शरीर व मन दोनों अहिंसित हों। शरीर रोगों से आक्रान्त न हो, मन इच्छाओं से आन्दोलित न हो।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राष्ट्रपति (नर्यः-अनर्वा)

प्रथि॑ष्ट॒ यस्य॑ वी॒रक॑र्ममि॒ष्णदनु॑ष्ठितं॒ नु नर्यो॒ अपौ॑हत्।
पुन॒स्तदा वृ॑हति॒ यत्क॒नाया॑ दुहि॒तुरा अनु॑भृतमन॒र्वा॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति शरीर व मन को अधिक से अधिक स्वस्थ बनाता है वह राष्ट्रपति होने के योग्य होता है। इसका पहला कार्य विधान का निर्माण होता है। यस्य-जिस राष्ट्रपति का वीरकर्मम्-विधान निर्माण रूप वीरता का काम प्रथिष्ट=प्रथित-प्रसिद्ध होता है। यह कार्य ही वस्तुतः सब से अधिक आवश्यक व कठिन होता है। (२) यह विधान अनुष्ठितम्-क्रिया में अनूदित हुआ-हुआ इष्णत्-(to impel promote) राष्ट्र को उन्नत करनेवाला होता है, लोगों को उन्नति के पथ पर आगे ले चलता है। नु=अब विधान के बन जाने पर नर्यः-यह लोकहित कर्ता राष्ट्रपति अपौहत्-(ऊह्-to remone) सब कमियों को दूर करता है। विधान के अनुसार

राष्ट्र का संचालन करता हुआ यह लोक-जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। राष्ट्र में 'सुख, शान्ति व समृद्धि' को बढ़ाना इसका उद्देश्य होता है। (३) इस विधान के अनुसार राष्ट्र संचालन के लिये यह **अनर्वा**-लोगों को हिंसित न करनेवाला राष्ट्रपति अपनी शक्ति को सभा व समिति में स्थापित करता है। ये सभा व समिति राष्ट्रपति की पूरिका होने से 'दुहिता' (दुह प्रपूरणे) कहलाती हैं, ये शक्ति को प्राप्त करके चमकती हैं सो 'कना' (कन् दीप्तौ) हैं। राष्ट्रपति के द्वारा बनायी जाने के कारण ये उसकी कन्याएँ ही हैं। **यत्**-जो शक्ति **कनायाः**-इस चमकनेवाली **दुहितुः**-राष्ट्रपति की पूरिका सभा व समिति में **अनुभृतम्**-स्थापित **आः**-(आसीत्) थी, **तत्**-उस शक्ति को यह **अनर्वा**-राष्ट्र की हिंसा न होने देनेवाला राष्ट्रपति ४ या ५ वर्ष के निश्चित समय के समाप्त होने पर **पुनः**-फिर **आवृहति**-(उपच्छति) उस सभा से ले लेता है। सभा की शक्ति को समाप्त करके सभाभंग कर देता है और नया चुनाव कराता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति 'नर्य व अनर्वा' होना चाहिये। यह विधान का निर्माण करके सभा व समिति द्वारा राष्ट्र का संचालन करता है। सभा को राष्ट्रपति की शक्ति प्राप्त हो जाती है। निश्चित अवधि के पूर्ण होने पर राष्ट्रपति सभा से शक्ति को वापिस लेकर नये चुनाव के लिये सभा भंग कर देता है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सभा-भंग व नये चुनाव के समय शक्ति कहाँ?

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ॥ ६॥

(१) **यत्**-जो **कर्तं मध्या अभवत्**-अपने कार्य के बीच में ही होती है, अर्थात् सभी किन्हीं कानूनों पर विचार कर रही हो वह विचार पूर्ण न हुआ हो तो भी **अभीके**-(at the right time, just in time) ठीक समय पर, अर्थात् सभा के समय की अवधि के समाप्त होने पर **पितरि**-राष्ट्र के पिता (=रक्षक) राजा के **युवत्याम्**-उस युवति सभा में **कामं कृण्वाने**-अपनी सभाभंग रूप इच्छा को करने पर, ये **वियन्ता**-भंग होती हुई सभाएँ (सभा व समिति) **रेतः**-शक्ति को **मनानक्**-थोड़ा-सा थोड़ी देर के लिये **जहतुः**-छोड़ देती हैं। (२) इस चुनाव के काल में यह शक्ति **सानौ**-शिकर में, राष्ट्र के सर्वोच्च व्यक्ति राष्ट्रपति में **निषिक्तम्**-सिक्त होती है, जो राष्ट्रपति **सुकृतस्य योनौ**-सुकृत का योनि है, सदा उत्तम ही कार्यों का करनेवाला है, जिससे यही आशा की जाती है कि वह गलत कार्य कर ही नहीं सकता (a king can do no wrors) (३) सभा को यहां युवति कहा गया है। वस्तुतः प्रति चतुर्थ या पंचम वर्ष में फिर से चुनाव हो जाने के कारण सभा के वृद्ध हो जाने का प्रश्न ही नहीं होता। यह सदा युवति बनी रहती है। राष्ट्रपति चुनाव कराता है सो वह इस युवति का पिता कहा गया है। इस युवति में ही वह पिता शक्ति का स्थापन कर देता है, सभा ही तो राष्ट्र का संचालन करती है। चुनाव के अल्पकाल में यह शक्ति फिर से उस पिता में, जो कि राष्ट्र रूप गृह में सर्वोच्च व्यक्ति है, और जिससे यह आशा की जाती है कि वह जो कुछ करेगा ठीक ही करेगा, स्थापित होती है। (४) यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि चुनाव सभा व मन्त्रिमण्डल नहीं कराते। उनका भंग होकर राष्ट्रपति ही चुनाव की व्यवस्था करता है।

भावार्थ—चुनाव ठीक समय पर हो ही जाने चाहिएँ। सभा का कोई कार्य अधूरा भी हो तो सभाभंग होकर नया चुनाव हो ही जाना चाहिए, नयी सभा उस कार्य को पूर्ण कर लेगी। चुनाव

के समय सारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित होनी चाहिए।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

राष्ट्रपति सभा को चुनवाता है, सभा राष्ट्रपति को चुनती है

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽ जनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥ ७॥

(१) **यत्**-जब **पिता**-राष्ट्र का रक्षक राष्ट्रपति **स्वां दुहितरम्**-अपनी पूरिका और अपनी कन्या के समान इस सभा को **अधिष्कन्**-अधिरूढ़ होता है (to ascend), अर्थात् सभा से शक्ति को लेकर सभा को भंग कर देता है। तो **क्ष्मया**-इस राष्ट्रभूमि से **संजग्मानः**-संगत होता हुआ, अर्थात् सारे राष्ट्रभार को अपने कन्धों पर लेता हुआ यह **रेतः**-सारी शक्ति को **निषिञ्चत्**-अपने में ही सिक्त करता है, सारी शक्ति को अपने में स्थापित करता है। इस प्रकार देश में चुनाव के लिये वातावरण को तैयार कर देता है। और चुनाव के हो जाने पर (२) **स्वाध्यः**-(सुध्यानाः सुकर्माणो वा सा०) उत्तम ध्यानवाले व उत्तम कर्मोंवाले **देवाः**-राष्ट्र व्यवहार के चलानेवाले देववृत्ति के चुने हुए सभ्य **ब्रह्म**-राष्ट्र के सबसे बड़े व्यक्ति को **अजनयन्**-उत्पन्न करते हैं। अर्थात् वे राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। इसे ये **वास्तोष्पतिम्**-राष्ट्रगृह का रक्षक व **व्रतपाम्**-(नियमः-व्रतम्) नियमों का पालन करानेवाला **निरतक्षन्**-निश्चय से बनाते हैं। राष्ट्रपति का कार्य यही है कि वह राष्ट्र की रक्षा करे, यह राष्ट्रपति ही अन्ततः सम्पूर्ण सैन्य का मुखिया होता है और राष्ट्र की शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा के लिये उत्तरदायी होता है। इस बात का भी इसने ध्यान करना होता है कि इसके अमात्य किसी प्रकार से कानून के विरोध में कोई कार्य न कर दें।

भावार्थ—राष्ट्रपति सभाओं के सभ्यों का चुनाव कराता है। चुने जाने पर ये राष्ट्रपति को चुनते हैं। राष्ट्रपति के मुख्य कार्य राष्ट्र-रक्षण नियमों का पालन करवाना है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

राष्ट्रपति के तीन कर्त्तव्य

स ईं वृषा न फेनमस्यदाजौ स्मदा परैदप दभ्रचेताः।
सरत्पदा न दक्षिणा परावृङ् न ता नु मे पृशन्यो जगृभ्रे॥ ८॥

(१) गत मन्त्र में जिसे 'वास्तोष्पति व व्रतपा' कहा है **स**-वह राष्ट्रगृह का रक्षक राष्ट्रपति **ईम्**-निश्चय से **वृषा**-शक्तिशाली होता है। परन्तु शक्तिशाली होता हुआ यह **आजौ**-संग्राम में **फेनम्**-बढ़े हुए धन को **न अस्यत्**-नहीं फेंकता है। यह धन का युद्धों में अपव्यय नहीं करता है। सेना को सुशिक्षित बनाकर यह राष्ट्र को शक्ति-सम्पन्न तो बनाता है, परन्तु यथासम्भव राष्ट्र को युद्ध में न झोंकने के लिये यत्नशील रहता है। 'फेन' शब्द बढ़े हुए धन के लिये तो प्रयुक्त होता ही है। इस शब्द का प्रसिद्ध अर्थ झाग है। 'इसे क्रोध में मुँह से झाग आने' लगे ऐसी बात नहीं है। क्रोधान्वित होकर यह युद्ध ही शुरु कर दे ऐसा नहीं होता। ऐसा **दभ्रचेताः**-अल्प चेतनावाला **स्मत्**-हमारे से **आ**-सर्वथा **अप परैत्**-दूर ही रहें। नासमझ राष्ट्रपति राष्ट्र को युद्धों में उलझाये रखेगा। (२) **दक्षिणा परावृङ्**-दान आदि का **परावर्जयिता**-राष्ट्रहित के लिये रुपये को न व्यय करनेवाला **पदा न सरत्**-कदमों को हमारी ओर रखनेवाला न हो। अर्थात् राष्ट्रपति ऐसा ही होना चाहिए जो कि राष्ट्रहित के कार्यों में उदारतापूर्वक धन का व्यय कर सके। 'कर' तो ले, पर उस धन का राष्ट्रहित में व्यय न करे ऐसा राष्ट्रपति तो व्यर्थ ही है, यह राष्ट्र की किसी भी प्रकार अभ्युत्थान

न कर सकेगा। (३) पृशन्यः=ज्ञान वाणियों के स्पर्श में कुशल यह राष्ट्रपति मे=मेरी ता=उन वाणियों को नु=निश्चय से न जगृभ्रे=पकड़ नहीं लेता। यह वाणी पर प्रतिबन्ध नहीं लगा देता, भाषण स्वातन्त्र्य पर यह रोक नहीं लगा देता।

भावार्थ—(क) राष्ट्रपति शक्ति को बढ़ा करके भी राष्ट्र को युद्धों में न झोंको रखे, (ख) राष्ट्रहित के कार्यों में उदारता से व्यय कर सके, (ग) भाषण स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध न लगा दे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रजा का अपीड़क

मक्षू न वह्निः प्रजाया उपब्दिरग्निं न नग्न उप सीददूधः।
सनितेध्मं सनितोत वाजं स धर्ता जज्ञे सहसा यवीयुत् ॥ ९ ॥

(१) यह राष्ट्रपति मक्षू=शीघ्र, स्फूर्ति से वह्निः=प्रजाओं के कार्यों का वहन करनेवाला होता है और कभी भी प्रजायाः=प्रजा का उपब्दिः=उपपीड़क न=नहीं होता (उपब्दि=rwise in geneue) यह कष्टों से प्रजाओं को रुलानेवाला नहीं होता। (२) दिनभर राजकार्यों में लगे रहने के कारण ऊधः=रात्रि में अग्निं उपसीदत्=उस अग्रेणी प्रभु की उपासना करता है, न नग्नः=यह कभी भी निर्लज्ज नहीं होता। प्रभु का उपासन इसे अधर्म के कार्यों से डरनेवाला बनाये रखता है। सोते समय प्रभु का स्मरण करते हुए सोने के कारण सारी रात्रि इसका प्रभु से सम्पर्क बने रहता है, उस प्रभु से इसे धर्मप्रवृत्त बने रहने के लिये प्रेरणा मिलती रहती है। (३) यह इध्मं सनिता=प्रजाओं में ज्ञानदीप्ति को देनेवाला होता है, शिक्षा की उचित व्यवस्था के द्वारा यह सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करता है, इसके राष्ट्र में कोई अशिक्षित नहीं रहता। उत=और यह वाजं सनिता=शक्ति को देनेवाला होता है। राष्ट्र में स्वास्थ्य के लिये उचित व्यवस्थाओं के द्वारा यह रोगों को नहीं आने देता और लोगों में शक्ति का वर्धन करता है। इस प्रकार स=वह राष्ट्रपति धर्ता जज्ञे=राष्ट्र का धारण करनेवाला होता है। प्रजाओं में ज्ञान व शक्ति के संचार से बढ़कर राष्ट्रधारण का और कार्य हो ही क्या सकता है? (४) यह राष्ट्रपति सहसा=बल के द्वारा यवी-युत्=(यु=मिश्रणामिश्रणे) सदा तोड़-फोड़ के कार्यों में लगे रहनेवाले राक्षसों से युद्ध करनेवाला होता है। राष्ट्र में इन चोर-डाकू आदि के आतंक को नहीं फैलने देता। इनको उचित शक्ति के प्रयोग के द्वारा दबाये रखता है।

भावार्थ—कार्यों को शीघ्रता से करता हुआ राष्ट्रपति प्रजा का पीड़क न हो। रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए सो जाए। राष्ट्र में ज्ञान व शक्ति को फैलाये। चोर-डाकुओं के आतंक को दूर करे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सभा के सभ्य

मक्षू कनायाः सख्यं नवंग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिमग्मन्।
द्विबर्हसो य उप गोपमागुरदक्षिणासो अच्युता दुदुक्षन् ॥ १० ॥

(१) नवग्वा=स्तुत्य (नु स्तुतौ) गतिवाला राष्ट्रपति कनायाः=(कन दीप्तौ) ज्ञान दीप्त सभ्योंवाली सभा को सख्यम्=मित्रता को मक्षु=शीघ्र प्राप्त होता है। राष्ट्रपति सभा के सम्पर्क में आता है। और वहाँ सभा के सभ्य ऋतं वदन्तः=जो ठीक बात है उसे ही कहते हुए ऋतयुक्तिम्=ऋत का अपने साथ मेल करनेवाले उस राष्ट्रपति को अग्मन्=प्राप्त होते हैं। सभ्यों का यह मुख्य गुण है कि वे दबाव में या खुशामद के कारण कभी गलत बात को न कहें, वे जो ठीक समझते हैं

उसे ही कहें। राष्ट्रपति को भी चाहिए कि जो ऋत हो उसे अपनानेवाला बने। वह आलोचना को अपनी निन्दा न समझ बैठे। सभ्यों के कथन में जो सत्य है उसे वह ग्रहण करे ही। (२) ये=जो सभ्य द्विबर्हसः=शरीर व मस्तिष्क दोनों का वर्धन करनेवाले होते हैं, शक्ति व ज्ञान दोनों को बढ़ाते हैं वे गोपम्=राष्ट्ररक्षक के उप आगुः=समीप प्राप्त होते हैं। प्रजाओं से चुने जाकर राष्ट्र सभा के सभ्य होने के नाते राष्ट्रपति के सम्पर्क में आते हैं। ये अदक्षिणासः=किसी प्रकार की दक्षिणा को नहीं लेते, अच्युताः=धर्म के मार्ग से विचलित नहीं होते। और इन कारणों से दुदुक्षन्=राजा का उचित प्रकार से पूरण करते हैं। राष्ट्रपति के लिये राष्ट्र के संचालन कार्य में पूर्णरूप से सहायक होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र सभा के सभ्य निर्भीक होने से सत्य वक्ता हों, वेतन न लेनेवाले और इस प्रकार न्याय्य मार्ग से अडिग हों, ऐसे ही सभ्य राष्ट्र का पूरण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राधः-रेतः-ऋतम्

म॒क्षू क॒नाया॑: स॒ख्यं नवी॑यो॒ राधो॒ न रेत॑ ऋ॒तमित्तु॑रण्यन्।
शुचि॒ यत्ते॒ रेक्ण॒ आय॑जन्त सब॒र्दुघा॑या॒: पय॑ उ॒स्रिया॑याः ॥ ११ ॥

(१) राष्ट्रपति कनायाः=ज्ञानदीप्त सभ्यों के कारण चमकनेवाली सभा की नवीयः=स्तुत्यतम सख्यम्=मित्रता को मक्षू तुरण्यन्=शीघ्रता से उत्पन्न करता है, अर्थात् प्रयत्न करता है कि उसका सभा से किसी प्रकार का विरोध न हो। इस सभा के साथ अविरोध के द्वारा वह राष्ट्रपति राधः न=सम्पत्ति व सफलता की तरह रेतः=शक्ति को और इत्=निश्चय से ऋतम्=न्याय्य व्यवस्था (=ठीक शासन) को तुरण्यन्=शीघ्रता से उत्पन्न करता है। जब राष्ट्र में राष्ट्रपति व सभा में मैत्री का भाव, अर्थात् अविरोध चलता है तो राष्ट्र की सम्पत्ति, शक्ति व न्याय्य व्यवस्था में वृद्धि ही वृद्धि होती है। (२) ते=वे सभा के सभ्य यत्=जब शुचि रेक्णः=पवित्र धन को ही आयजन्त=अपने साथ संगत करनेवाले होते हैं तो वह पवित्र धन सबर्दुघायाः=अमृत का दोहन करनेवाली उस्रियायाः=गौ के पयः=दूध के समान होता है। इन बड़े व्यक्तियों में यदि किसी भी प्रकार के अन्याय्य धन को कमाने की रुचि न हो राष्ट्र के कार्यकर्ताओं में रिश्वत आदि लेने की भावना का उच्छेद हो जाता है और राष्ट्रकोश उस धन से परिपूर्ण होता है, जो धन कि राष्ट्र के लिये अमृत के तुल्य प्रमाणित होता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति व सभा का अविरोध राष्ट्र की सम्पत्ति शक्ति व न्याय्य व्यवस्था के वर्धन का कारण बनता है। यदि सभ्य पवित्र धन का ही अर्जन करते हैं तो वह राष्ट्र के लिये अमृत तुल्य होता है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सभा' राष्ट्रपति के प्रभाव से दूर हो

प॒श्वा यत्प॒श्चा वियु॑ता बु॒धन्तेति॑ ब्रवीति व॒क्तरी॒ ररा॑णः।
वसो॑र्वसु॒त्वा का॒रवो॑ऽने॒हा विश्वं॑ विवेष्टि॒ द्रवि॑ण॒मुप॑ क्षु ॥ १२ ॥

(१) राष्ट्र का निरीक्षण करने के कारण, राष्ट्र का ध्यान करने के कारण (look after) राष्ट्रपति यहाँ 'पश्यति इति' पशु शब्द से कहा गया है। यह सभा का प्रारम्भिक समारोह करके फिर सभा में प्रतिदिन आता नहीं, जिससे सभ्यों को सब प्रकार के दबाव से रहित होकर विचार का अवसर

मिले वियुता-इस राष्ट्र-निरीक्षक राष्ट्रपति से अलग हुए-हुए पश्वा-उसके पीछे, उसकी अनुपस्थिति में यत्-जो बुधन्त-ये सभ्य समझते हैं, राष्ट्रपति तो इति ब्रवीति-उस ही बात को कह देता है। सभ्यों से बनाये गये नियम को वह उद्घोषित कर देता है। वस्तुतः राष्ट्रपति अपनी सारी शक्ति को वक्करी-वक्ताओंवाली सभा में रराणः-देनेवाला होता है, राष्ट्र संचालन के सारे अधिकार प्रायः सभा को प्राप्त होते हैं। राष्ट्रपति तो सभा में निश्चित किये गये कानून को प्रमाणित भर कर देता है। (२) वसोः-धन के द्वारा वसुत्वा-प्रजा के निवास को उत्तम बनानेवाली, अर्थात् प्रजा की आर्थिक स्थिति को ठीक करके उनके जीवन मापक को ऊँचा करनेवाला, कारवः-क्रियाशील अनेहाः-पाप से रहित राष्ट्रपति विश्वं द्रविणम्-सम्पूर्ण धन को क्षु-शीघ्रता से उपविवेष्टि-व्याप्त करनेवाला होता है। सम्पूर्ण कोश का स्वामी राष्ट्रपति ही होता है। वह इस बात का पूरा ध्यान करता है कि प्रजा से कर के रूप में प्राप्त धन का किसी भी प्रकार से दुरुपयोग न हो जाए। एवं यह राष्ट्रपति सभा पर इष्ट नियन्त्रण को रखनेवाला होता है। उसका यह कर्त्तव्य होता है कि कार्य करनेवाली सभा के कार्यों पर दृष्टि रखे उन कार्यों में गलती न होने दे।

भावार्थ—सभा के सभ्य कानून आदि का विचार करते समय राष्ट्रपति के दबाव में आकर कानून न बना बैठें। राष्ट्रपति भी सभा को अन्धाधुन्ध व्यय न करने दे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शोषक संगठन का अन्त

तदिन्न्वस्य परिषद्वानो अग्मन्पुरू सदन्तो नार्षदं बिभित्सन्।

वि शुष्णस्य संग्रथितमनर्वा विदत्पुरुप्रजातस्य गुहा यत्॥ १३॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित अस्य-इस राष्ट्रपति के तद्-उस कोश को नु-अब इत्-निश्चय से परिषद्वानः-सभा के सभ्य अग्मन्-प्राप्त होते हैं। राष्ट्र कार्यों में व्यय के लिये यह कोश सभा को प्राप्त होता है, सभा ही तो बजट को पास करती है। पुरु-पालन व पूरण के दृष्टिकोण से सदन्तः-सभा में आसीन होते हुए ये सभ्य नार्षदम्-(नृ सद् to kill) प्रजाओं को पीड़ित करनेवाले सभापति व किसी भी अन्य अधिकारी को बिभित्सन्-विदीर्ण करने की कामना करते हैं। सभ्यों का यह कर्त्तव्य होता है कि यदि राष्ट्रपति ही प्रजा के लिये अवाञ्छनीय हो जाए तो उसे वे राष्ट्रपति पद से हटा देते हैं, अन्य भी कोई अधिकारी प्रजा पीड़क हो तो उसे वे हटा ही देते हैं। (२) इसी प्रकार राष्ट्र में शुष्णस्य-शोषक के संग्रथिम्-प्रबल संगठन को भी वि-विशेष रूप से बिभित्सन्-विदीर्ण करने की कामना करते हैं। यदि राष्ट्र में कोई व्यक्ति धूर्तता व चालाकी से संगठन बनाकर प्रजा का शोषण करने में लगता है तो उस शुष्ण के संगठन को भी वे तोड़ने की प्रबल कामनावाले होते हैं। (३) अनर्वा-राष्ट्र की हिंसा न होने देनेवाला राष्ट्रपति पुरु प्रजातस्य-(बहु प्रादुर्भावस्य) नाना प्रान्तों में उत्पन्न हुई-हुई अपनी प्रजा के यत्-जो गुहा-हृदय में गुप्त बात है उसे भी विदत्-जानता है। विविध गुप्तचरों के द्वारा बहुविध प्रजा के मनोभावों को यह जानने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान से ही वह प्रजा की ठीक स्थिति को जानकर प्रजा की उन्नति के लिये यत्नशील होता है।

भावार्थ—कोश सभा को प्राप्त होता है, एक व्यक्ति (-राष्ट्रपति) को इसके व्यय का अधिकार नहीं होता। सभ्य प्रजा पीड़क राष्ट्रपति को भी अलग करने की कामनावाले होते हैं, राष्ट्र में किसी भी 'शोषक संगठन' को विकसित नहीं होने देते। राष्ट्रपति प्रजाओं के गुप्त विचारों को भी जानने का प्रयत्न करता है, उनके इन विचारों को जानकर राष्ट्रोन्नति के लिये यत्नशील होता है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'भर्ग-अग्नि-जातवेदाः'

भर्गो ह नामोत यस्य देवाः स्वर्ण ये त्रिषधस्थे निषेदुः।
अग्निर्ह नामोत जातवेदाः श्रुधी नो होतर्ऋतस्य होताध्रुक् ॥ १४ ॥

(१) वह राष्ट्रपति ह=निश्चय से **भर्गः नाम**=भर्ग नामवाला है, राष्ट्र के दोषों को भून डालनेवाला है (भ्रस्ज्-पाके)। **उत**=और **यस्य**=जिसके **देवाः**=राष्ट्र-व्यवहार को सिद्ध करनेवाले **ये**=जो सभ्य हैं वे **स्वः न**=जिस प्रकार देव स्वर्गलोक में या प्रकाशमय लोक में आसीन होते हैं उसी प्रकार **त्रिषधस्थे**=वर्ष में तीन बार मिलकर बैठने के स्थान 'सभास्थल' में **निषेदुः**=निषण्ण होते हैं। अर्थात् वर्ष में तीन बार सभा का अधिवेशन होता है, उसमें एकत्रित होकर सभ्य राष्ट्र की स्थिति पर विचार करते हुए राष्ट्रोन्नति के लिये विचार करते हैं। (२) यह राष्ट्रपति **ह**=निश्चय से **अग्निः नाम**=अग्नि नामवाला होता है, यह राष्ट्र को आगे ले चलता है **उत**=और यह राष्ट्रपति **जातवेदाः**=(जातं जातं वेत्ति) राष्ट्र में होनेवाली प्रत्येक घटना से परिचित रहता है। इस परिचय के अभाव में आवश्यक कार्यों के होने का सम्भव ही नहीं होता। राष्ट्रोन्नति के लिये राष्ट्र को पूरी तरह से जानना आवश्यक है। (३) राष्ट्रपति राष्ट्रयज्ञ का होता है। इस होता से सभ्य कहते हैं कि आप **होता**=इस राष्ट्रयज्ञ के होता हो, **अध्रुक्**=द्रोह की भावना से रहित हो, आप किसी भी हिंसा की कामना को नहीं करते हो। हे **होतः**=राष्ट्र यज्ञ के करनेवाले राष्ट्रपते! **नः**=हमारे **ऋतस्य**=ऋत का, विचारपूर्वक बनाये हुए नियम का (=कानून का) **श्रुधि**=आप श्रवण कीजिये। राष्ट्रपति को यही चाहिए कि वह प्रजाओं का शासन सभा से बनाये गये कानून के अनुसार ही करे। आधुनिक युग में इसी बात को इस रूप में कहते हैं कि राष्ट्रपति तो 'defender of the constitution' है, विधान का रक्षक है। विधान के अनुसार उसका शासनक्रम चलता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति राष्ट्र के दोषों को भून डालने के कारण 'भर्ग' है, राष्ट्रोन्नति के कारण 'अग्नि' है, राष्ट्र की प्रत्येक घटना से परिचित रहने के कारण 'जातवेदाः' है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रौद्री अर्चिमन्ती

उत त्या मे रौद्रावर्चिमन्ता नासत्याविन्द्र गूर्तये यजध्यै।
मनुष्वद् वृक्तबर्हिषे रराणा मन्दू हितप्रयसा विक्षु यज्यू ॥ १५ ॥

(१) गत मन्त्रों में वर्णित राष्ट्रपति व सभा के सभ्यों ने प्रजा में से ही चुना जाना है, कहीं बाहर से तो इन्होंने आना नहीं। सो प्रत्येक प्रजावर्ग के सभ्य का उत्तम होना आवश्यक है। यह जीवन का उत्कर्ष प्राणसाधना से ही सम्भव है। ये प्राणापान 'नासत्या' हैं, (न असत्या) इनसे जीवन में असत्य नहीं रहता। सो प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=सब बुराई रूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **उत**=और **त्या**=वे **मे**=मेरे **नासत्या**=प्राणापान **रौद्री**=बुराइयों के लिये रुद्ररूप हों, सब बुराइयों का प्रलय करनेवाले हों और वासनाओं का विलय करके ये **अर्चिमन्ती**=ज्ञान की ज्वालावाले हों। मेरे जीवन में ज्ञान की ज्योति को ये जमानेवाले हों। इस प्रकार ये प्राणापान **गूर्तये**=(गूर्तिः praise स्तुति) स्तुति के लिये हों और **यजध्यै**=यज्ञों के लिये हों। इनकी साधना से मेरा मन प्रभु के स्तवन में लगे तो मेरे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। (२) **मनुष्वत्**=(मनुः=ज्ञानं) ज्ञानवाले और **वृक्तबर्हिषे**=शुद्धान्तःकरणवाले के लिये (वृक्तं बर्हिः येन,

तस्मै) रराणा=ज्ञान व पवित्रता को देते हुए ये प्राणापान मन्दू=आनन्दित करनेवाले हैं, हित प्रयसा=अन्नमयादि सब कोशों में धनों को निहित करनेवाले हैं, (प्रयस्) प्रत्येक कोश का जो भोजन है उसे ये प्राणापान देनेवाले हैं। विक्षु=प्रजाओं में ये प्राणापान ही यज्यू=यष्टव्य हैं, संगतिकरण योग्य हैं, ये प्राणापान ही पूज्य हैं, इन्हीं की आराधना करनी, ये ही सब कुछ देनेवाले हैं (यज्=देवपूजा, संगतिकरण दान)।

भावार्थ—प्राणापान ही जीवन का उत्तम निर्माण करनेवाले हैं, सो ये ही यष्टव्य हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कक्षीवान् व अग्नि का दीपन

अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः ।
स कक्षीवन्तं रेजयत्सो अग्निं नेमिं न चक्रमर्वतो रघुद्रु ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणापान की साधना करनेवाला अयम्=यह व्यक्ति स्तुतः=(स्तुतं अस्य अस्ति) प्रभु-स्तवन की प्रवृत्तिवाला होता है। राजा=(regnlated) व्यवस्थित जीवनवाला होता है और अतएव (राज् दीप्तौ) दमकता है। यह वन्दि=लोगों से अभिवादित होता है। इसकी 'उपासनावृत्ति को, व्यवस्थित व दीप्त जीवन को' देखकर लोग इसका आदर करते हैं। यह वेधाः=(creetor or leerned wan) निर्माण के कार्यों को करनेवाला व ज्ञानी होता है। (२) अपः च तरति=सब कार्यों को तैरनेवाला, पार करनेवाला, अन्त तक पहुँचानेवाला होता है (पार कर्मसमाप्तौ)। यह विप्रः=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाला स्वसेतुः=आत्मतत्त्व को अपना सेतु बनाता है, भवसागर को पार करने का साधन बनाता है (सेतु=bridge in genorel) (३) सः=वह साधक कक्षीवन्तम्=(कक्षः=hidig place) गुहा में निवास करनेवाले उस प्रभु को रेजयत्=अपने में दीप्त करता है सः=वह अग्निम्=अपने शरीर के अन्दर निवास करनेवाली वैश्वानर अग्निम् (=जाठराग्नि) को दीप्त करता है। प्राणसाधक जहाँ हृदय को पवित्र करके प्रभु का दर्शन करता है, वहाँ जाठराग्नि को भी दीप्त करता हुआ स्वास्थ्य का पूर्ण विकास करने के लिये यत्नशील होता है। (४) यह साधक नेमिं न चक्रम्=परिधि की तरह चक्र को भी दीप्त करता है। शरीर चक्र है, तो त्वचा उसकी नेमि है, शरीर को भी स्वस्थ बनाता है और त्वचा को भी दीप्त रखने का प्रयत्न करता है। अर्वतः=इन्द्रिय रूप अश्वों को रघुद्रु=लघुगमनवाला बनाता हुआ दीप्त करता है। इसकी इन्द्रियाँ शीघ्रता से अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन उपासनामय व व्यवस्थित बनता है। यह प्राणसाधक स्वस्थ शरीरवाला व प्रभुदर्शन करनेवाला बनता है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्विबन्धु

स द्विबन्धुर्वैतरणो यष्टा सबर्धुं धेनुमस्वं दुहध्यै ।
सं यन्मित्रावरुणा वृञ्ज उक्थैर्ज्येष्ठेभिरर्यमणं वरूथैः ॥ १७ ॥

(१) गत मन्त्र का स=वह प्राणसाधक द्विबन्धुः=दोनों को अपने साथ बाँधनेवाला होता है, शरीर के स्वास्थ्य को तथा मस्तिष्क के ज्ञान को। अथवा यह अपने जीवन में प्रकृति व परमात्मा दोनों के साथ सम्बद्ध होकर के चलता है। प्रकृति सम्बन्ध से यह अभ्युदय को सिद्ध करता है तो प्रभु सम्बन्ध से निःश्रेयस को। इहलोक व परलोक दोनों को यह सम्यक्तया अपने जीवन से

सम्बद्ध करता है। **वैतरणः**=शक्ति व ज्ञान की साधना करके यह मार्ग में आनेवाले विघ्नों को तैर जाता है **यष्टा**=यज्ञशील होता है और **सबर्दुघम्**=अमृतोपम ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौ को **अस्वम्**=जिसने अब सन्तान को जन्म देना छोड़ दिया था, अर्थात् जिसे अब स्वाध्याय के अभाव के कारण हम समझते न थे, उसके **दुहध्यै**=दोहन के लिये यह होता है। इसकी बुद्धि तीव्र होती है और वह वेदरूप धेनु से ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करनेवाला बनता है। (२) ऐसा यह बनता तब है **यत्**=जब कि यह **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण देवता का **संवृञ्जे**=सम्यक् स्तवन करता है। और **ज्येष्ठेभिः**=प्रशस्त **वरूथैः**=(armohr) कवचों व (shield) ढालों के द्वारा **अर्यमणम्**=अर्यमा देव का स्तवन करता है। 'मित्र' का भाव है सबके साथ स्नेह करना, 'वरुण' का भाव है द्वेष का निवारण। प्रभु-स्तवन करनेवाला व्यक्ति सब में प्रभु-सत्ता का अनुभव करता हुआ सब के प्रति स्नेह को धारण करता है, वह किसी से द्वेष नहीं करता। इस प्रभु को ही अपना कवच व ढाल बनानेवाला व्यक्ति वासनाओं का नियमन करनेवाला 'अर्यमा' बनता है (ब्रह्मवर्म ममान्तरम्)।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन से प्रेम व निर्द्वेषता को अपने में स्थापित करें। प्रभु को अपना कवच बनाकर काम-क्रोधादि का नियमन करें। ऐसा करने पर हम 'द्विबन्धु-वैतरण-यष्टा' बनेंगे और वेदधेनु के अमृतोपम दूध का पान करेंगे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तद्बन्धु

तद्बन्धुः सूरिर्दिवि ते धियन्धा नाभानेदिष्ठो रपति प्र वेनन्।
सा नो नाभिः परमास्य वा घाहं तत्पश्चा कतिथश्चिदास ॥ १८ ॥

(१) वह प्राणसाधक **तद्बन्धुः**=(तस्य बन्धुः, स बन्धुर्यस्य इति वा) उस सर्वव्यापक प्रभु रूप बन्धुवाला होता है। 'तनु विस्तारे' से बना 'तद्' शब्द सर्वव्यापकता की सूचना देता है। इस सर्वव्यापक प्रभु को ही यह अपना बन्धु मानता है 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता०'। **सूरिः**=यह उस प्रभु की स्तुति का प्रेरक होता है, सदा प्रभु का स्तवन करता है। **ते दिवि**=आपके (उस प्रभु के) ज्ञान के प्रकाश में **धियन्धाः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों का धारण करनेवाला होता है। (२) यह ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाला **नाभानेदिष्ठः**-'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' यज्ञ रूप भुवननाभि के समीप रहनेवाला होता है। यज्ञ को यह भुवनों का केन्द्र जानता है, 'यज्ञ में ही लोक प्रतिष्ठित है' ऐसा समझता हुआ यह यज्ञों से अपने को दूर नहीं करता। **प्रवेनन्**-प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना करता हुआ यह **रपति**=प्रभु के नामों का जप करता है। (३) **सा**=वह यज्ञ ही **नः**=हमारी **परमा नाभिः**=सर्वोत्कृष्ट नाभि हो, यज्ञ ही हमारे जीवन का केन्द्र बनता है। **वा**=और इस यज्ञ के द्वारा **अहम्**=मैं **घा**=निश्चय से **अस्य**=इस परमात्मा का होता हूँ यज्ञ से ही तो प्रभु का पूजन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। **तत् पश्चाः**=यज्ञ के द्वारा प्रभु-पूजन करने के पीछे **कतिथः**=(advanced to a certain degree) कुछ उन्नत **चित्**=निश्चय से **आस**=मैं हुआ हूँ। 'प्रभु को बन्धु बनाकर चलना, अपने में स्तुति को प्रेरित करना, प्रभु के प्रकाश में ज्ञानपूर्वक कर्मों को करना, यज्ञ को अपनाना, प्रभु नाम का जप' यही उन्नति का मार्ग है, इस पर चलने से ही हम कुछ उन्नत होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को बन्धु समझना, तदुपदिष्ट यज्ञों में प्रवृत्त होना ही उन्नति का मार्ग है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञवेदि

इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः।
द्विजा अहं प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमाना ॥ १९ ॥

(१) **इयम्**-यह यज्ञवेदी ही **मे**-मेरी **नाभिः**-बन्धिका है, यह सारे परिवार के सभ्यों को अपने में बाँधनेवाली है। **इह**-इस यज्ञवेदि में **मे**-मेरा **सधस्थम्**-सारे परिवार के साथ मिलकर बैठना होता है। इस यज्ञवेदि पर बैठे हुए **इमे**-ये मेरे **देवाः**-देव हैं। छोटे-छोटे खेलनेवाले बालक (क्रीडन्ति), शिक्षणालय में स्पर्धा से एक दूसरे को जीतने की कामनावाले विद्यार्थी (विजिगीषा) काम में लगनेवाला युवक (व्यवहार) ज्ञानदीप्त प्रौढ व्यक्ति (द्युति) केवल स्तुति में रत वृद्ध (स्तुति) प्रसन्नता का संचार करनेवाली युवतियाँ (मोद) माद्यन्ती अवस्थावाली द्वितीयाश्रम में प्रवेश के लिये तैयार युवति (मद), गोद में सोया हुआ बच्चा (स्वप्न) नाना प्रकार की कामनाओंवाली किशोरी (कान्ति) और केवल चहल-पहल रखनेवाले सन्तान (गति) ये सब देव हैं। यज्ञवेदि पर इन सबने आसीन होना है। (२) इस प्रकार यज्ञ करता हुआ **अयम्**-यह मैं **सर्वः अस्मि**-पूर्ण होने का प्रयत्न करता हूँ। (सर्व-whole-स्वस्थ) यह यज्ञ मेरे शरीर को ही नहीं, मन व बुद्धि को भी स्वस्थ बनाता है। **द्विजाः**-(द्वौ जायेते यस्य) मैं शरीर व मस्तिष्क दोनों के विकासवाला बनता हूँ। **अह**-निश्चय से **ऋतस्य**-उस सत्यस्वरूप प्रभु की **प्रथमजा**-सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई **धेनुः**-वेदरूप गौ **जायमाना**-मेरे हृदय में प्रादुर्भूत होती हुई **इदं अदुहत्**-इस ज्ञान का दोहन व पूरण करती है। इस ज्ञान ने ही तो वस्तुतः मुझे 'सर्व' बनाना है।

भावार्थ—हम परिवार में सम्मिलित यज्ञ की प्रथा को अनिवार्य रूप से स्थापित करें। प्रभु की वेदवाणी का अध्ययन करें। यही **सर्व**-पूर्ण स्वस्थ बनने का मार्ग है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अरति-विभावा

अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावाव स्यति द्विवर्तनिर्वनेषाट्।
ऊर्ध्वा यच्छ्रेणिर्न शिशुर्दन्मक्षू स्थिरं शेवृधं सूत माता ॥ २० ॥

(१) **अध**-अब **आसु**-इन वेदवाणियों में **मन्द्रः**-आनन्द का अनुभव करनेवाला यह व्यक्ति **अरतिः**-(अविद्यमाना रतिर्यस्य) विषयों के प्रति प्रेमवाला नहीं रहता। अथवा 'ऋ गतौ'-खूब क्रियाशील होता है। ज्ञान की वाणियों में आनन्द लेने के कारण क्रियाशील होने के कारण तथा विषयों के प्रति रुचि न होने के कारण **विभावा**-यह विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। (२) **द्विवर्तनिः**-अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों में वर्तनेवाला, इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करनेवाला अथवा ज्ञान व शक्ति दोनों का सम्पादन करनेवाला यह **वनेषाट्**-उपासना में वासनारूप शत्रुओं का मर्षण करनेवाला होता है (वन-उपासना, षह मर्षणे) और यह उपासना के द्वारा **अव स्यति**-सब मलिनताओं व पापों को सुदूर विनष्ट करता है (अव-away, षोऽन्तकर्मणि) (३) **यत्**-जो **ऊर्ध्वाश्रेणिः न**-ऊपर स्थित योद्धाओं की पंक्ति की तरह **शिशुः**-शत्रुओं को तनूकृत करनेवाला **दन्**-यह शत्रुओं का दमन करता है। जिस सेना के योद्धा अपना मोर्चा ऊपर की भूमि में बना पाते हैं वे नीचे स्थित शत्रुओं को आसानी से समाप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार यह अपनी बुद्धि को तीव्र करनेवाला 'शिशु' वासनारूप शत्रुओं को कुचल डालता है। (४) इस शिशु को

माता=यह वेदमाता मक्षू=शीघ्र ही स्थिरम्=स्थिर तथा शेवृधम्=सुख का वर्धन करनेवाला सूत=बनाती है। यह वेदज्ञान को प्राप्त करता है और यह वेदज्ञान इसे स्थिर वृत्ति का तथा सुखी बनाता है (शेवृधं सुख नामम् नि० ३।६)।

भावार्थ—वेदज्ञान को अपनाने से जीवन में स्थिरता तथा सुख की वृद्धि होती है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

श्वान्त-अश्वघ्न

अधा गाव उपमातिं कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित्परेयुः।
श्रुधि त्वं सुद्रविणो नस्त्वं याळाश्वघ्नस्य वावृधे सूनृताभिः ॥ २१ ॥

(१) अधा=अब श्वान्तस्य=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गति के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करनेवाले कस्यचित्=किसी विरल व्यक्ति की गावः=वाणियाँ कनायाः=दीप्त स्तुति के उपमातिम्=उपमानभूत प्रभु को अनुपरेयुः=अनुगत होती हैं। अर्थात् इस की वाणियाँ सदा प्रभु का स्तवन करती हैं, उस प्रभु का जो कि हमारे से की जानेवाली स्तुति से सदा अधिक ही हैं। (२) हे प्रभो! त्वम्=आप श्रुधि=हमारी प्रार्थना को सुनिये। नः सुद्रविणः=हमारे लिये आप उत्तम धनोंवाले हैं, त्वम्=आप याट्=सब धनों को हमारे लिये देनेवाले हैं (यज्=दान)। आप आश्वघ्नस्य=(आ+अश्व+हन्)समन्तात् इन्द्रियों की हिंसा करनेवाले, अर्थात् इन इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाले को सूनृताभिः=सूनृत वाणियों से वावृधे=बढ़ते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष की सूनृत वाणियाँ आपकी महिमा का वर्धन करती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का गुणगान पूर्णरूपेण करने में समर्थ नहीं। वे प्रभु ही हमें उत्तम धनों को प्राप्त कराते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष की सूनृत वाणियाँ प्रभु की महिमा को ही बढ़ाती हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अनेहस्

अध त्वमिन्द्र विद्ध्य१स्मान्महो राये नृपते वज्रबाहुः।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीननेहसस्ते हरिवो अभिष्टौ ॥ २२ ॥

(१) हे नृपते=नरों के रक्षक इन्द्र=परमैश्वर्यशाली प्रभो! अध=अब त्वम्=आप अस्मान्=हमें महोराये=महान् धन के लिये विद्धि=जानिये। आपकी कृपा से हम महनीय धन को प्राप्त करनेवाले हों। धन को तो हम प्राप्त करें ही, पर वह धन उत्तम साधनों से ही सदा कमाया जाए। (२) हे प्रभो! आप वज्रबाहुः=वज्रयुक्त बाहुवाले हैं, दुष्टों को दण्ड देनेवाले हैं। नः=हमारे मघोनः=यज्ञशील सूरीन्=ज्ञानी पुरुषों को रक्षा च=अवश्य रक्षित करिये। आपकी रक्षा के पात्र वे ही होते हैं जो कि उत्तम साधनों से कमाये गये धनों का यज्ञात्मक कर्मों में ही विनियोग करते हैं और जो ज्ञान को महत्त्व देते हैं। (३) हे हरिवः=प्रशस्त इन्द्रिय रूप अश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! ते=आपकी अभिष्टौ=प्राप्ति में, अभिगमन में अनेहसः=हम पाप शून्य जीवनवाले हों आप हमें उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं, आपकी उपासना से वे इन्द्रियाँ उत्तम ही बनी रहती हैं, विषय पंक में वे इन्द्रियाँ फँसनेवाली नहीं होती। प्रभु की उपासना से वासनाएँ विनष्ट होती हैं और हमारा जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें महान् धन प्राप्त हो। यज्ञशील ज्ञानी बनकर हम आपकी रक्षा के पात्र हों। आपकी उपासना से हमारा जीवन निष्पाप हो।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सरण्यु-जरण्यु

अध॒ यत्राजा॑ना॒ गवि॑ष्टौ॒ सर॑त्सर॒ण्युः का॒रवे॑ जर॒ण्युः।
विप्रः॒ प्रेष्ठः॒ स ह्ये॑षां ब॒भूव॒ परा॑ च॒ वक्ष॑दु॒त प॑र्षदेनान् ॥ २३ ॥

(१) **अध**=अब **यद्**=यदि **ना**=मनुष्य उन्नतिपथ पर चलनेवाला व्यक्ति (नृ=नये) **राजा**=बड़े व्यवस्थित जीवनवाला (regulated) और अतएव दीप्त जीवनवाला होता है (राज् दीप्तौ) तो यह **गविष्टौ**=उस आत्मतत्त्व के अन्वेषण में **सरत्**=गति करता है (in seareh of god) इसकी सब क्रियाएँ आत्मतत्त्व के अन्वेषण के लिये होती हैं। (२) यह **सरण्युः**=उत्कृष्ट गतिवाला पुरुष **कारवे**=उस कलापूर्ण कृतिवाले प्रभु के लिये **जरण्युः**=स्तोता होता है, उस प्रभु की विभूतियों का स्मरण करता हुआ उस प्रभु की भक्ति में मग्न हो जाता है। एक-एक पदार्थ में इसे प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। (३) **विप्रः**=प्रभु-भक्ति करता हुआ यह अपना विशेषरूप से पूरण करता है (वि-प्रा)। **एषां सः हि**=इन जीवों में अपना पूरण करनेवाला यह विप्र ही **प्रेष्ठः**=प्रभु का प्रियतम होता है। उन्नति करनेवाला पुत्र पिता को प्रिय होता ही है। **च**=और यह **परावक्षत्**=अपने को सब दुरितों से परे ले चलता है **उत**=और **एनान्**=अपने अन्य साथियों को भी **पर्षत्**=अवाञ्छनीय वस्तुओं से पार ले चलता है। अपने जीवन को अच्छा बनाकर दूसरों के जीवनों को भी उत्तम बनाता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा आत्मतत्त्व के अन्वेषण में चलता है यह प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की विभूति को देखता हुआ उत्तम जीवनवाला व प्रभु का प्रिय होता है। यह अपने को दुरितों से दूर ले चलता है, औरों के भी कल्याण करनेवाला होता है। यह सरण्यु व जरण्यु होता है, 'गतिशील प्रभु का स्तोता'।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अनायास स्तवन

अधा॒ न्व॑स्य॒ जेन्य॑स्य पु॒ष्टौ वृथा॒ रेभ॑न्त ईमहे॒ तदू॒ नु।
स॒र॒ण्युर॑स्य सू॒नुरश्वो॒ विप्र॑श्चासि॒ श्रव॑सश्च सा॒तौ ॥ २४ ॥

(१) **अधा नु**=अब निश्चय से **अस्य जेन्यस्य**=इस विजयशील परमात्मा के **पुष्टौ**=पोषण में, प्रभु को अपने हृदय में धारण करने पर **वृथा**=अनायास ही **रेभन्ते**=ये प्रभु-भक्त उसका स्तवन कर उठते हैं। **तद् उ नु**=उस प्रभु की ओर ही निश्चय से **ईमहे**=(ई=to go) हम चलते हैं। (२) **सरण्युः**=यह अपनी प्रत्येक क्रिया से प्रभु की ओर चलनेवाला व्यक्ति **अस्य सूनुः**=इस प्रभु का सच्चा पुत्र होता है। **अश्वः**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला यह प्रभु-भक्त **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला होता है **च**=और **श्रवसः**=ज्ञान के **सातौ**=सम्भजन व प्राप्ति में **असि**=होता है। इसका पुरुषार्थ ज्ञान वृद्धि के लिये होता है। (३) 'रेभन्ते' शब्द स्तुति का उल्लेख करता है, 'सरण्यु व अश्व' शब्द क्रियाओं में लगे रहने का भाव देते हैं और 'श्रवसः साति' ज्ञान प्राप्ति का संकेत करते हैं। एवं इसके जीवन में 'स्तुति, कर्म व ज्ञान' का सुन्दर समन्वय होता है। इसका हृदय प्रभु का स्तवन करता है, हाथ कर्मों में व्याप्त करते हैं और यह मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम सब विजयों को प्रभु की ओर से होता हुआ जानें। क्रियाशील व ज्ञानमय

जीवनवाले बनें। हम प्रभु के निष्काम आराधक हों।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूनृता वाणी के प्रति अर्पण

युवोर्यदि सख्यायास्मे शर्धाय स्तोमं जुजुषे नमस्वान्।
विश्वत्र यस्मिन्ना गिरः समीचीः पूर्वीव गातुर्दाशत्सूनृतायै ॥ २५ ॥

(१) गत मन्त्र में 'अश्वः विप्रः च असि' इन शब्दों में कर्मों में व्याप्त होनेवाले को 'अश्व' कहा है और ज्ञान के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले को 'विप्र'। एक व्यक्ति **यदि**=यदि **युवोः**='क्रिया व ज्ञान' इन दोनों को **सख्याय**=मैत्री के लिये होता है तो ये क्रिया व ज्ञान **अस्मे शर्धाय**=हमारे बल के लिये होते हैं। यह पुरुष ही वस्तुतः **स्तोमं जुजुषे**=प्रभु के स्तोत्र का सेवन करता है। **नमस्वान्**=यह प्रभु के प्रति नमस्‌वाला होता है। इस प्रभु के प्रति नमन के कारण ही इसे उन क्रियाओं व ज्ञानों का गर्व नहीं होता। (२) यह वह व्यक्ति होता है **यस्मिन्**=जिसमें **विश्वत्र**=(सर्वत्र) सब प्रसंगों में **गिरः**=उस प्रभु की वाणियाँ **आः**=समन्तात् **समीचीः**=(सं अञ्च्) सम्यक् गतिवाली होती हैं। अर्थात् इसे प्रत्येक धर्म जिज्ञासा के प्रसंग में हृदयस्थ प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। और यह वाणी ही इस व्यक्ति के लिये **पूर्वी गातुः इव**=पालन व पूरण करनेवाले, उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले मार्ग के समान होती है। यह इस वाणी के अनुसार ही जीवन में चलता है और यह इस **सूनृतायै**=(सु ऊन् ऋता) उत्तम दुःखों का परिहाण करनेवाली, सत्य वाणी के लिये **दाशत्**=अपने को दे डालता है। उस वाणी के अनुसार ही कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—क्रिया व ज्ञान का समन्वय हमारे बल को बढ़ाता है, यही प्रभु का सच्चा उपासन है। इस उपासक को प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, यह सूनृत वाणी ही उसके जीवन का मार्ग बनती है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कर्म के द्वारा उपासन

स गृणानो अद्भिर्देववानिति सुबन्धुर्नमसा सूक्तैः।
वर्धदुक्थैर्वचोभिरा हि नूनं व्यध्वैति पयस उस्रियायाः ॥ २६ ॥

(१) **स**=वह, गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की सूनृत वाणी के प्रति अपना अर्पण करनेवाला, **अद्भिः**=उस वाणी के अनुसार किये गये कर्मों के द्वारा **गृणानः**=प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है। प्रभु की वास्तविक स्तुति तो कर्मसाध्य ही है। कर्मों के द्वारा होनेवाली भक्ति ही प्रभु का 'दृशीक स्तोम' है, दृश्य भक्ति है। इस भक्ति का करनेवाला **देवान्**=सब दिव्यगुणोंवाला होता है। **इति**=और दिव्यगुणोंवाला होने के कारण **सुबन्धुः**=यह अपने को परमात्मा से खूब अच्छी प्रकार बाँधनेवाला होता है। यह प्रभु के प्रति **नमसा**=नमन के द्वारा और **सूक्तैः**=प्रभु के गुणोच्चारण करनेवाले मधुर स्तुति-वचनों के द्वारा **वर्धत्**=बढ़ता है। (२) इन **उक्थैः वचोभिः**=स्तुति वचनों से इस उपासक को **नूनं हि**=निश्चय से ही **उस्रियायाः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेद-धेनु के **पयसः**=ज्ञानदुग्ध का **अध्वा**=मार्ग **आ वि एति**=सब प्रकार से विशिष्टरूप में प्राप्त होता है। जब मनुष्य प्रभु का सच्चा उपासक बनता है तो उसे वेद के द्वारा जीवन के मार्ग का ठीक रूप में दर्शन होता है और उस मार्ग से चलता हुआ यह कल्याण को प्राप्त करता है।

भावार्थ—स्वकर्म का पालन करनेवाला प्रभु का सच्चा उपासक होता है, यह दिव्यगुणोंवाला बनकर प्रभु को प्राप्त होता है। वेदवाणी इसे जीवन के मार्ग का दर्शन कराती है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रक्षक देव

त ऊ षु णो महो यजत्रा भूत देवास ऊतये सजोषाः।
ये वाजाँ अनयता वियन्तो ये स्था निचेतारो अमूराः ॥ २७ ॥

(१) **ते**=वे **यजत्राः**=यष्टव्य, पूज्य संगतिकरण योग्य व सब कुछ देनेवाले **देवासः**=देवो! आप **ऊ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **नः**=हमारे **महः** (महते)=महान् **ऊतये**=रक्षण के लिये **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाले **भूत**=होइये। सब देव ऐकमत्यवाले होकर हमारा रक्षण करनेवाले हों। सूर्य-चन्द्रादि देव हमारे अनुकूल होकर हमें स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। तथा विद्वान् ज्ञानी पुरुष ज्ञान के द्वारा हमारा कल्याण करनेवाले होते हैं। सामान्यतः 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप सब देव एक निश्चय से चलते हैं तो एक बालक को एक 'सज्जन ज्ञानी' के रूप में बनानेवाले होते हैं। (२) ये सब देव वे हैं **ये**=जो **वियन्तः**=विविध गतियों को करते हुए, **वाजान्**=विविध शक्तियों को **अनयत**=हमें प्राप्त कराते हैं। माता 'चरित्र-बल' को प्राप्त कराती है, पिता 'आचार शक्ति' को। आचार्य 'ज्ञान के बल' को देते हैं तो अतिथि 'धर्म के मार्ग पर चलने की शक्ति' को देनेवाले होते हैं, ये हमें धर्म मार्ग से विचलित नहीं होने देते। इन देवों के अतिरिक्त प्राकृतिक देव अपनी अनुकूलता से हमें 'स्वास्थ्य का बल' प्राप्त कराते हैं। (३) ये 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' वे देव हैं **ये**=जो **निचेतारः स्थ**=निश्चय से ठीक मार्ग का चयन करनेवाले हैं, ये गलत मार्ग से हमें सदा बचाते हैं, यदि **अमूराः**=ये अमूढ़ होते हैं, किसी प्रकार के मोह में फँसे हुए नहीं होते। मोह में फँसकर माता-पिता से भी गलती हो सकती है। अमूढ़ माता-पिता बालक को ज्ञानी व सदाचारी बना ही पाते हैं।

भावार्थ—सब देव हमारे रक्षक हों, ये हमें विविध शक्तियों को प्राप्त करानेवाले हों।

सूक्त का प्रारम्भ 'आँख, कान, नासिका, मुख' आदि की न्यूनताओं को दूर करके उनके पूरण की प्रार्थना से हुआ है (६१.१) और समाप्ति पर सब देवों से विविध शक्तियों की प्राप्ति की प्रार्थना है (६१.२७) अब नाभानेदिष्ठ यह प्रार्थना करता है कि हम यज्ञ व दान वृत्ति से युक्त हों और अमृतत्व को प्राप्त करें—

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवा आङ्गिरसो वा ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

मानव धर्म (भद्र)

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ १ ॥

(१) **तेभ्यः वः**=उन तुम्हारे लिये, हे **अंगिरसः**=अंग-अंग में रसवालो! **भद्रं अस्तु**=कल्याण व सुख हो, **ये**=जो तुम **यज्ञेन**=यज्ञ से व **दक्षिणया**=दान की वृत्ति से **समक्ताः**=संगत व युक्त हो। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म हैं, ये कर्म लोकहित के कर्म हैं। इन कर्मों को व्यक्ति स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर ही कर पाता है। यज्ञात्मक कर्मों में ही दक्षिणा भी एक

कर्म है। दान से ही मनुष्य लोकहित के कर्मों को कर पाता है। (२) ये यज्ञ व दक्षिणा से युक्त पुरुष धन के मित्र न बनकर के **इन्द्रस्य सख्यम्**-प्रभु की मित्रता को **आनश**-प्राप्त करते हैं। इस प्रभु की मित्रता का परिणाम होता है कि ये **अमृतत्वम्**-अमृतत्व को, मोक्ष को, प्राप्त करते हैं। प्रकृति में फँसे रहने पर ही जन्म-मरण का चक्र चलता है प्रकृति से ऊपर उठते ही यह चक्र समाप्त हो जाता है। अमृतत्व प्राप्ति का भाव यह भी है कि प्रभु की मित्रता के होने पर मनुष्य उस अद्भुत आनन्द को प्राप्त करता है जिसकी कि तुलना में ये लौकिक आनन्द अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। उस परमानन्द को प्राप्त व्यक्ति इन चीजों के प्रति रसवाला नहीं रहता। भोगासक्ति के न होने के कारण शरीर में जीर्णता भी नहीं आती, ये अंगिरस् बने रहते हैं। (३) इन अंगिरसों को अब अपने लिये कुछ नहीं करना होता। प्रभु की मित्रता व प्रभु की प्राप्ति के बाद और कुछ प्राप्तव्य ही नहीं रहता। 'ऐसी स्थिति में ये व्यक्ति अब कर्म क्यों करें?' इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे **सुमेधसः**-उत्तम बुद्धिवाले अंगिरसो! तुम **मानवं प्रति गृभ्णीत**-मानव धर्म का ग्रहण करो। तुम्हारा प्रत्येक कार्य मानवहित के लिये हो। लोकसंग्रह के उद्देश्य से तुम्हारे कर्म प्रवृत्त रहें। इन लोकहित के कर्मों को करने से ही नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञों व दान की वृत्ति को अपनाये, प्रभु की मित्रता को प्राप्त करे। अपने लिये कुछ करने को न होने पर भी मानवहित के लिये कर्म करे।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवा आङ्गिरसो वा ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वल-विभेदन (वत्सर पर्यन्त ऋतपालन) (दीर्घायु)

य उदाज॑न्पि॒तरो॑ गो॒मयं॒ वस्वृ॒तेनाभि॑न्दन्परिवत्स॒रे व॒लम्।
दी॒र्घा॒यु॒त्वम॑ङ्गिरसो वो अस्तु॒ प्रति॑ गृभ्णीत मान॒वं सु॑मेधसः ॥ २ ॥

(१) **ये**-जो **पितरः**-रक्षणात्मक कार्यों की प्रवृत्तिवाले लोग **गोमयं वसु**-ज्ञान की वाणियों से बने हुए धन को, अर्थात् ज्ञान रूप ऐश्वर्य को **उदाजन्**-उत्कृष्टता से अपने में प्रेरित करते हैं और जो **ऋतेन**-ऋत के पालन से, सब कार्यों को बड़े नियमित रूप से करने के द्वारा, **परिवत्सरे**-(the rerohution of full one year) पूर्ण वर्ष के उपरान्त **वलम्**-(veil) ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाले इस वल (=वृत्र) नामक असुर को **अभिन्दन्**-विदीर्ण करते हैं। ऋत का पालन इन्हें वासना को जीतने के लिये समर्थ करता है। कम से कम एक एक वर्ष ऋत का निरन्तर पालन इन्हें वासनाओं का विजेता बनाता है। इस आवरण के हटने से इनका ज्ञान दीप्त हो उठता है। (२) हे **अंगिरसः**-अंगों को रसमय बनानेवाले पुरुषो! **वः**-तुम्हारे लिये **दीर्घायुत्वं अस्तु**-दीर्घजीवन प्राप्त हो। वासना ही तो मनुष्य की शक्तियों को भी क्षीण करती है। शक्तियों को क्षीण करके यह हमें जीर्ण कर देती है और हम असमय ही में चले जाते हैं। वासना विजय जहाँ ज्ञानदीप्ति का कारण बनता है, वहाँ यह विजय हमारे दीर्घायुष्य को भी सिद्ध करता है। (३) वासना विजय कर लेने पर हे **सुमेधसः**-उत्तम बुद्धिवाले पुरुषो! **मानवम्**-मानव धर्म को तुम **प्रति गृभ्णीत**-ग्रहण करनेवाले बनो। जितेन्द्रिय पुरुष के कर्म लोकहित के लिये ही होते हैं।

भावार्थ—रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए हम ज्ञानधन का वर्धन करें। ऋत के पालन से वासना को जीतकर हम दीर्घायुष्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवा आङ्गिरसो वा ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

सुप्रजास्त्व

य ऋतेन सूर्यमारोहयन्दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि।
सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र में कहा था कि ऋत के पालन से ज्ञान पर आ जानेवाले आवरण का नाश हो जाता है। इस आवरण के नष्ट होने से ज्ञान का सूर्य उसी प्रकार चमक उठता है जैसे कि मेघ के हटने पर आकाश में सूर्य चमक आता है। **ये**=जो **ऋतेन**=ऋत के पालन से **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यम्**=ज्ञान रूप सूर्य को **आरोहयन्**=आरूढ़ करते हैं और जो लोग **मातरम्**=भूमि माता के समान हितकर **पृथिवीम्**=इस शरीर रूप पृथिवी को **वि अप्रथयन्**=विस्तृत करते हैं, अर्थात् जो शरीर की शक्तियों को फैलाने का प्रयत्न करते हैं, **अंगिरसः**=हे रसमय अंगोंवाले पुरुषो! **वः**=उन आपके लिये **सुप्रजास्त्वम्**=उत्तम सन्तानोंवाला होना **अस्तु**=हो। अर्थात् मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न तथा शरीर में शक्ति सम्पन्न अंगिरस उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। (२) सन्तानों की उत्तमता माता-पिता की उत्तमता पर निर्भर करती है। माता-पिता ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करके, मस्तिष्क व शरीर दोनों को अच्छा बनाकर, उत्तम सन्तानों को ही प्राप्त करते हैं। सन्तान भी ज्ञान व शक्ति को लेकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सन्तानों को अच्छा बनाकर हे **सुमेधसः**=उत्तम मेधावाले पुरुषो! आप **मानवम्**=मानव धर्म को **प्रति गृभ्णीत**=ग्रहण करनेवाले बनो। तुम्हारे सब कार्य अधिक से अधिक प्राणियों का हित करनेवाले हों।

भावार्थ—ऋत के द्वारा हमारा ज्ञान बढ़े और शरीर की शक्तियाँ सुसम्पन्न हों। परिणामतः हमारी सन्तानें भी उत्तम हों।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवा आङ्गिरसो वा ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

सुब्रह्मण्यम्

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ४ ॥

(१) **अयम्**=यह **नाभा**=नाभानेदिष्ठ (सूक्त का ऋषि), यज्ञों को केन्द्र बनाकर उनके समीप रहनेवाला, **वः**=तुम्हारे **गृहे**=घर में **वल्गु वदति**=शुभ व सुन्दर ही शब्द बोलता है। यहाँ सन्तानों को सम्बोधन करते हुए यह कहना कि '**वः**=तुम्हारे घर में', उन सन्तानों को प्रेरणा देता है कि 'घर हमारा है, इसे हमने अच्छा बनाना है।' (२) पिता पुत्रों को कहता है कि हे **देव पुत्राः**=देव पुत्रों, दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाले पुत्रो! **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियो! ज्ञान प्राप्त करनेवालो! **तत् शृणोतन**=उन शुभ शब्दों को सुनो। सन्तान 'देव पुत्र, ऋषि' आदि शुभ शब्दों को सुनेंगे तो वैसे ही बनेंगे। 'नालायक' आदि शब्दों को सुनकर वे नालायक ही बन जाएँगे। (३) इस प्रकार शुभ शब्दों के बोलनेवाले **अंगिरसः**=रसमय अंगोंवाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिये **सुब्रह्मण्यं अस्तु**=ज्ञाननैपुण्य हो, तुम वेदज्ञान में पूर्ण कुशलतावाले बनो। और **सुमेधसः**=उत्तम मेधावी बनकर **मानवम्**=मानवधर्म को **प्रति गृभ्णीत**=ग्रहण करो। मानवहित के कार्यों में सदा रत रहो।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष घर में सन्तानों को 'देव पुत्र व ऋषि' उत्तम शब्दों से ही सम्बोधित

करता है, इन उत्तम शब्दों से प्रेरणा को लेते हुए वे 'देव पुत्र व ऋषि' ही बनते हैं। मन उनके देवों के समान होते हों, मस्तिष्क ऋषियों के तुल्य। ये अंगिरस् होते हुए उत्तम ज्ञानवाले होते हैं।

सूचना—इन चार मन्त्रों में 'भद्र, दीर्घायुत्व, सुप्रजास्त्व व सुब्रह्मण्य' इन चार बातों का उल्लेख हुआ है, जहाँ भी ये चार बातें होंगी वहाँ लोग अगले मन्त्र के अनुसार 'विरूप'-विशिष्ट रूपवाले बनेंगे—

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवा आङ्गिरसो वा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

विरूप-ऋषि

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः। ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे॥ ५॥

(१) **विरूपासः**=गत मन्त्रों के अनुसार अपने जीवनों को बनानेवाले व्यक्ति विशिष्टरूपवाले होते हैं, ये औरों की तुलना में कहीं आगे बढ़े हुए होते हैं, ये तेजस्विता से दीप्त होते हुए चमकते हैं, **इत्**=निश्चय से **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा बनते हैं। शरीर में 'विरूप', मस्तिष्क में 'ऋषि' बनकर आदर्श पुरुष प्रतीत होते हैं। (२) **ते**=वे **इत्**=निश्चय से **गम्भीरवेपसः**=(गम्भीरकर्माणः) गम्भीर कर्मोंवाले होते हैं। ये प्रत्येक कर्म को उचित गम्भीरता के साथ करते हैं। (३) **ते**=वे **अंगिरसः सूनवः**=अंगिरस् के पुत्र कहलाते हैं। अर्थात् उत्कृष्ट अंगिरस होते हैं, इनके अंग-प्रत्यंग सब सशक्त बने रहते हैं, उसके अंगों में लोच-लचक बनी रहती है। (४) **ते**=वे **अग्नेः**=उस परमात्मा से **परिजज्ञिरे**=प्रादुर्भूत शक्तिवाले होते हैं, प्रभु की उपासना से इन्हें शक्ति प्राप्त होती है, इसकी शक्तियों के प्रादुर्भाव का रहस्य इनका प्रभु उपासन है।

भावार्थ—हम 'तेजस्वी-ज्ञानी-गम्भीरता से कर्मों को करनेवाले, सरस अंगोंवाले' बनें। ऐसा बनने के लिये प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवा आङ्गिरसो वा ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

नवग्व-दशग्व

ये अग्नेः परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते॥ ६॥

(१) **ये**=जो **अग्नेः**=उस प्रभु से **परिजज्ञिरे**=शक्तियों के विकास को प्राप्त करते हैं, वे **विरूपासः**=विशिष्टरूपवाले तो होते ही हैं। ये **दिवः परि**=(परेर्वर्जने) द्युलोक से भी परे पहुँचते हैं। द्युलोक को छोड़कर द्युलोक से ऊपर उठते हैं। पृथ्वीलोक से ऊपर उठकर ये अन्तरिक्ष में आरूढ़ हुए, अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर द्युलोक में पहुँचे और द्युलोक से भी ऊपर उठकर इन्होंने स्वर्ज्योति को प्राप्त किया है 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहं, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहं, दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति करके ये प्रभु को प्राप्त करनेवाले हुए हैं। (२) यह व्यक्ति **नवग्वः**=(नवग्व शब्द पर्यन्तं गच्छति) आयु के नौवें दशक तक जानेवाला होता है, **नु दशग्वः**=निश्चय से दशवें दशक तक पहुँचनेवाला होता है। अर्थात् ९० व १०० वर्ष तक आयुष्यवाला होता है। इस आयुष्य में भी यह **अंगिरस्तमः**=अधिक से अधिक सरस अंगोंवाला होता है। **सचा देवेषु**=यह सदा देवों में साथ रहनेवाला होता है। अर्थात् सूर्यादि देव इसके अक्षि आदि स्थानों में ठीक प्रकार निवास करते हैं 'सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्'=सूर्य चक्षु बनकर आँखों में रहता है तो चन्द्रमा मन बनकर हृदय में निवास करता है, वायु प्राण बनकर नासिका में, अग्नि वाणी बनकर मुख में, दिशाएँ श्रोत्र बनकर कानों में रहती हैं। इस प्रकार यह विरूप सब

देवों के साथ रहता है 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। (२) इस प्रकार सब देवों के साथ रहता हुआ यह देवों की सब से बड़ी विशेषता को धारण करता है और मंहते-खूब देनेवाला होता है। यह त्याग इसके जीवन को उत्कृष्ट बनाये रखता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से हम द्युलोक से परे स्वर्ज्योति को प्राप्त करनेवाले बनें। नव्वे व सौ साल की उमर में भी सरस अंगोंवाले हों। देवों के साथ निवास करते हुए त्यागशील हों।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवा ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

गोमान् अश्ववान् व्रज

इन्द्रे॑ण युजा निः सृ॑जन्त वा॒घतो॑ व्र॒जं गोम॑न्तम॒श्विन॑म्।
स॒हस्रं॑ मे॒ दद॑तो अष्टक॒र्ण्यः॑ श्रवो॑ दे॒वेष्व॑क्रत ॥ ७ ॥

(१) **वाघतः**-ज्ञान का वहन करनेवाले मेधावी ऋत्विज् **इन्द्रेण युजा**-उस प्रभु रूप मित्र के साथ **गोमन्तम्**-प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों से बने **व्रजम्**-इस इन्द्रियसमूह को तथा **अश्विनम्**-प्रशस्त कर्मेन्द्रियों से बने इस इन्द्रियसमूह को **निःसृजन्त**-विषयपंक से बाहिर निकाल लेते हैं। ये वाघत् लोग इन्द्रियों को विषयपंक में नहीं फँसने देते। इसके लिये वे प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु की मित्रता का परिणाम होता है कि वे वासनाओं को जीत लेते हैं और इन्द्रियों को सुरक्षित कर पाते हैं। (२) ये **अष्टकर्ण्यः**-व्याप्त कर्णोंवाले, अर्थात् ज्ञान का खूब श्रवण करनेवाले **सहस्रम्**-(स+हस्) प्रसन्नतापूर्वक **मे**-मेरे प्रति अपने को देते हुए अथवा खूब दान करते हुए, **देवेषु**-दिव्यगुणों के विषय में **श्रवः**-अपनी कीर्ति को **अक्रत**-फैलाते हैं। ज्ञान को प्राप्त करते हैं, और त्यागशील बनते हैं। ये दोनों बातें मिलकर उनके अन्दर दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाली होती हैं। इन दिव्यगुणों के कारण उनका चारों ओर यश फैलता है।

भावार्थ—प्रभु को मित्र बनाकर ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं। ये खूब ज्ञान प्राप्त करते हैं, त्यागशील होते हैं। और इस प्रकार अपने दिव्यगुणों के कारण कीर्तिवाले होते हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—सावर्णेर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मनुष्य की सस्यांकुर के समान उत्पत्ति

प्र नू॒नं जा॑यताम॒यं मनु॒स्तोक्मे॑व रोहतु। यः स॒हस्रं॑ श॒ताश्वं॑ स॒द्यो दा॒नाय॒ मंह॑ते ॥ ८ ॥

अयं मनुः-यह मनुष्य **तोक्मं**-जल से भीगे बीज के समान **प्र जायताम्**-अच्छी प्रकार उत्पन्न होता **प्र रोहतु**-और उसी के समान उगता, बढ़ता और फलता फूलता है। यह वही है **यः**-जो **सहस्रं शताश्वं**-हजारों सैकड़ों पशुओं का **दानाय**-दान देकर **सद्यः**-शीघ्र ही **मंहते**-सत्कार योग्य हो जाता है।

भावार्थ—दानवृत्तिवाले का सम्मान होता है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—सावर्णेर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तेजस्वी का सूर्यवत् सर्वोच्च स्थान

न तम॑श्नोति॒ कश्च॒न दि॒व इ॑व॒ सान्वा॒रभ॑म्। सा॒व॒र्ण्यस्य॒ दक्षि॑णा॒ वि सिन्धु॑रिव पप्रथे ॥ ९ ॥

दिवः इव सानुम्-आकाश में ऊँचे स्थान पर सूर्यवत् स्थित उसको **कः चन**-कोई भी **आरभम् न अश्नोति**-प्राप्त नहीं कर सकता। **सावर्ण्यस्य**-चारों वर्णों से समान रूप में वरण करने योग्य उसकी **दक्षिणा**-दानशक्ति **सिन्धुः इव**-समुद्र के समान **पप्रथे**-विस्तृत होती है।

भावार्थ—दानी पुरुष समुद्र के समान गम्भीर होते हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—सावर्णेर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यदु और तुर्व

उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा। यदुस्तुर्वश्च मामहे ॥ १० ॥

(१) **उत**-और **दासा**-जो प्रभु के भक्त हैं, जो वासनाओं के उपदसन (दसु उपक्षये) क्षय में प्रवृत्त हैं, **स्मद्दिष्टी**-(कल्याण देशिनौ सा०) शुभ उपदेशवाले हैं, जो अन्तःस्थित प्रभु की कल्याणी प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले हैं, **गोपरीणसा**-इन्द्रियों को चारों ओर से बाँधनेवाले हैं, इधर-उधर विषयों में जाती हुई इन्द्रियों को रोकनेवाले हैं, ये ही **परिविषे**-(to surround to encouuter) शत्रुओं के घेरने के लिये और उनसे मुकाबिला करने के लिये होते हैं। वस्तुतः वासनाओं को जीतने के लिये सर्वोत्तम साधन यही है कि हम प्रभु के दास बनें, उसकी कल्याणी प्रेरणा को सुनें, इन्द्रियों को रोकने का प्रयत्न करें। (२) **यदुः**-(यतते) यत्नशील पुरुष **च**-और **तुर्वः**-(तुर्वी हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाला व्यक्ति **मामहे**-प्रभु का पूजन करता है। प्रभु की वस्तुतः पूजा यही है कि हम अकर्मण्य न हों और वासनाओं के शिकार न हों। इस प्रकार यदु और तुर्व बनकर हम प्रभु का पूजन करते हैं। आलसी प्रभु से दूर होता है, क्रियाशील समीप। वासनाओं को जीतनेवाला प्रभु का दर्शन करता है, वासनामय जीवनवाला इन वासनाओं से ही कुचला जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-भक्त बनें, उसकी कल्याणी प्रेरणा को सुनें, इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकें, यत्नशील हों, वासनाओं का संहार करें। यही सच्चा प्रभु-पूजन है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—सावर्णेर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अश्रान्ता असनाम वाजाम्'

सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा।
सावर्णेर्देवाः प्र तिरन्त्वायुर्यस्मिन्नश्रान्ता असनाम वाजम् ॥ ११ ॥

(१) **सहस्रदा**-(स+हस्+दा) आनन्दपूर्वक देनेवाला, देने में आनन्द को अनुभव करनेवाला अथवा खूब दान करनेवाला, हजारों के देनेवाला **ग्रामणीः**-इन्द्रिय समूह का प्रणयन करनेवाला **मनुः**-ज्ञानी पुरुष **मा रिषत्**-हिंसित न हो। हिंसित न होने का मार्ग यही है कि हम (क) दानशील हों, (ख) इन्द्रिय समूह को यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रखें, (ग) ज्ञानी विचारशील बनें। (२) **अस्य**-इस मनु की **दक्षिणा**-दानवृत्ति **सूर्येण**-सूर्योदय के साथ ही **यतमाना**-लोकहित के लिये उद्योग करती हुई **एतु**-गतिमय हो, प्रवृत्त हो। अर्थात् यह ज्ञानी पुरुष दिन के प्रारम्भ से ही दान की वृत्तिवाला बने, प्रातःकाल को दान से ही प्रारम्भ करे। इसका यह दान 'देशकालपात्र' का विचार करके दिया जाए जिससे वह सबके हितकारी कारण बने, अहित का नहीं। अपात्र में दिया गया दान उसके जीवन को और अधिक विकृत करनेवाला ही हो जाता है। (३) जो दान की वृत्ति के द्वारा अपने जीवन को उस सब कुछ देनेवाले प्रभु के समान ही बनाने के लिये बलशील होता है उस **सावर्णेः**-प्रभु के समान वर्णवाले की **आयुः**-आयु को **देवाः**-सब देव **प्रतिरन्तु**-बढ़ानेवाले हों। देवों की अनुकूलता से हम **वाजम्**-अन्न, बल का **असनाम**-उपभोग करें।

भावार्थ—दानी को अन्न, धन का अभाव नहीं हो सकता।

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उपदेष्टा लोगों के कर्त्तव्य

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः ।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

ये-जो मनु-प्रीतासः=विचारवान् मनुष्यों को प्रेम करनेवाले होकर परावतः=दूर-दूर देश से आकर आप्यम् दिधिषन्ते=आप्तजनों के बीच दीक्षादि धारण करते हैं और जो विवस्वतः=धन सम्पन्न जनों वा विविध ब्रह्मचारियों के स्वामी गुरु से जनिमं दिधिषन्ते=उत्तम कोटि का विद्याजन्म, द्विजत्व धारण करते हैं और ययातेः=यत्नशील वा दुष्टों के दमन करनेवाले के बर्हिषि=वृद्धियुक्त आसन पर आसते=विराजते हैं, ते देवाः=वे विद्या, ज्ञान धनादि के दाता और तेजस्वी, ज्ञानप्रकाशक जन नः अधि ब्रुवन्तु=हमें उपदेश करें और हम पर शासन करें।

भावार्थ—हमें प्रबुद्ध जन ही उपदेश करें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु के नाम 'नमस्य वन्द्य व यज्ञीय' हैं

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः ।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम् ॥ २ ॥

(१) हे देवाः=देववृत्ति के पुरुषो! वः=आपके लिये हि=निश्चय से विश्वानामानि=प्रभु के सब नाम नमस्यानि=परिचर्या के योग्य हैं, उपासनीय हैं। ये नाम वन्द्या=स्तुत्य हैं, इनके द्वारा प्रभु का उत्तमता से स्तवन होता है उत=और ये नाम वः=आपके लिये यज्ञिया=संगतिकरण योग्य हैं। इन नामों के द्वारा आप प्रभु की परिचर्या करते हैं। इनके द्वारा प्रभु का स्तवन होता है और आप इन नामों के अन्दर निहित भाव को प्रेरणा के रूप में लेकर अपने जीवन को प्रभु जैसा बनाने का प्रयत्न करते हैं। (२) ये-जो देव अदितेः=द्युलोक के दृष्टिकोण से (अदिति द्यौ०) जाताः स्थ=विकासवाले हुए हैं, इसी प्रकार अद्भ्यः=अन्तरिक्षलोक के दृष्टिकोण से परिजाताः स्थ=पूर्ण विकासवाले हुए हैं और ये-जो पृथिव्याः=पृथिवी के दृष्टिकोण से जाताः स्थ=विकसित हुए हैं ते=वे देव मे हवम्=मेरी प्रार्थना को इह=यहाँ श्रुता=सुनें। मस्तिष्क ही द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष है और पृथिवी शरीर है। मस्तिष्क हृदय व शरीर तीनों को दृष्टिकोण से जिन्होंने अपना विकास ठीक रूप में किया है वे देव हमारी प्रार्थना को सुनें और हमें उपदेश के देनेवाले हैं। उनके पगचिह्नों पर चलते हुए हम भी मस्तिष्क, हृदय व शरीर का विकास कर पायें।

भावार्थ—देव लोग प्रभु के सब नामों से उसका उपासन व स्तवन करते हुए उन नामों की भावना को अपने जीवन का अंग बनाने का प्रयत्न करते हैं। ये मस्तिष्क, हृदय व शरीर तीनों का विकास करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

माधुर्ययुक्त दुग्ध

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान्वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये ॥ ३ ॥

(१) **तान्**-उन **आदित्यान्**-सब स्थानों से अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाले देवों के **अनु**-पीछे चलते हुए हम **मदा**-हर्ष का अनुभव करते हैं, जिससे **स्वस्तये**-(सु+अस्ति) हम जीवन की स्थिति को उत्तम बना सकें। आदित्यों का अनुगमन करते हुए हम भी गुणों के आदान की वृत्तिवाले बनेंगे, तो हमारी स्थिति उत्तम बनेगी ही। (२) उन आदित्यों का हम अनुगमन करते हैं **येभ्यः**-जिनके लिये **माता**-वेद-माता **मधुमत् पयः**-माधुर्य से पूर्ण ज्ञानदुग्ध को **पिन्वते**-प्राप्त कराती है। 'स्तुता मया वरदा वेदमाता०' इन वेद शब्दों में वेद को माता कहा ही है। माता जैसे दूध से बच्चे का पोषण करती है, इसी प्रकार यह वेदमाता ज्ञानदुग्ध से हमारा पोषण करती है। वेदमाता का यह ज्ञानदुग्ध माधुर्य से परिपूर्ण है। वेद में माधुर्य पर अत्यधिक बल दिया है। वेद का ज्ञान मनुष्य के जीवन को द्वेषादि से ऊपर उठाकर मधुर बनाता है। (३) हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जिनके लिये **द्यौः**-द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क **पीयूषम्**-अमृत का वर्षण करता है। मस्तिष्कस्थ सहस्रार चक्र में जिस समय प्राणों का संयम होता है उस समय धर्ममेघ समाधि की स्थिति में अमृत बिन्दुवर्षण होता है जो कि योगी के अनिर्वचनीय आनन्द का कारण बनता है। **अदितिः**-हृदयान्तरिक्ष (अदितिरन्तरिक्षम्) **अद्रिबर्हाः**-अविदारणीय (अ+दृ) अथवा आदरणीय प्रभु का वर्धन करनेवाला होता है। इन देवों के हृदय में प्रभु की भावना का उत्कर्ष होता है, यह प्रभु-दर्शन ही वस्तुतः इन्हें पवित्र व शान्त जीवनवाला बनाता है। (४) हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जो **उक्थशुष्मान्**-स्तोत्रों के बलवाले हैं, प्रभु के स्तवन से प्रभु के सम्पर्क में आकर जो प्रभु के बल से बलवाले होते हैं। **वृषभरान्**-जो अपने अन्दर धर्म की भावना को भरते हैं तथा **स्वप्नसः**-(अप्नस्-कर्म) उत्तम कर्मवाले हैं। इन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी 'स्तुतिशील, धार्मिक व उत्तम यज्ञादि कर्मों के करनेवाले' बनेंगे।

भावार्थ—हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जो कि 'स्तुतिशील धार्मिक व कर्मनिष्ठ' हैं तथा जो वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं, समाधि के अभ्यस्त हैं, प्रभु का हृदय में दर्शन करनेवाले हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अहीन-यज्ञ व निष्पाप

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ ४॥

(१) **नृचक्षसः**-सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले, केवल अपने स्वार्थ को न देखनेवाले, **अनिमिषन्तः**-प्रमाद व आलस्य न करनेवाले, **अर्हणा**-प्रभु अर्चना के द्वारा **बृहद् देवासः**-वर्धनशील देववृत्ति के पुरुष **अमृतत्वम्**-अमृतत्व को **आनशुः**-प्राप्त करते हैं। अमृतत्व की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) हम केवल अपने लिये न जियें, (ख) प्रमाद व आलस्य से रहित हों, (ग) पूजा की वृत्ति को अपनाकर अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करें। (२) **ज्योतीरथाः**-ज्योतिर्मय रथवाले, जिनका यह शरीर-रथ ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। **अहि मायाः**-अहीन प्रज्ञावाले, जिनकी बुद्धि में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। **अनागसः**-जिनका जीवन निष्पाप है। ऐसे ये व्यक्ति **दिवः वर्ष्माणम्**-द्युलोक के समुच्छ्रित प्रदेश में, अर्थात् ज्ञान के शिखर पर **वसते**-निवास करते हैं, ऊँचे से ऊँचे ज्ञानी होते हैं। ये ज्ञानी पुरुष **स्वस्तये**-उत्तम जीवन की स्थिति के लिये होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष केवल अपने लिये नहीं जीते। प्रभु-पूजन से दिव्यगुणों का वर्धन करके ये अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। ये प्रकाशमय अहीनप्रज्ञ व निष्पाप होते हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

आदित्यों व अदिति का पूजन

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥ ५॥

(१) तान्-उन आदित्यान्-सब स्थानों से गुणों का ग्रहण करनेवाले महः-गुणों के आधिक्य से महनीय देवों को नमसा-नमन के द्वारा और सुवृक्तिभिः-सुष्ठु दोष वर्जन के द्वारा, प्रयत्नपूर्वक दोषों को दूर करने के द्वारा, आविवास-पूजित कर। बड़ों का आदर दो ही प्रकार से होता है, (क) उनके प्रति नम्रता के धारण से तथा (ख) अपने दोषों को दूर करने से। यदि हम नमस्ते तो करें, पर उनके कहने के अनुसार अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न न करें तो यह उनका निरादर ही है। (२) हम उन आदित्यों का आदर तो करें, साथ ही अदितिम्-(अखण्डन) स्वास्थ्य का भी आदर करें। स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान करें। स्वस्तये-(सु+अस्ति) उत्तम स्थिति के लिये आदित्यों व अदिति दोनों का पूजन आवश्यक है। (३) आदित्य वे हैं ये-जो (क) सम्राजः-दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाले हैं, जिनकी सब भौतिक क्रियाएं ठीक समय पर होती हैं (well regulated) और अतएव (ख) सुवृधः-उत्तम वर्धनवाले हैं। ठीक समय पर क्रियाओं के होने से उनके सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति का ठीक से विकास होता है। (ग) जो विकसित शक्तिवाले होकर यज्ञं आययुः-श्रेष्ठतम कर्मों को प्राप्त होते हैं। (घ) अपरिह्वृताः-जो सब प्रकार की कुटिलता से रहित हैं। श्रेष्ठतम कर्मों का कुटिलता से समन्वय सम्भव ही नहीं। (ङ) जो दिवि-मस्तिष्क रूप द्युलोक में क्षयम्-निवास को दधिरे-धारण करते हैं। जिनका जीवन ज्ञान प्रधान होता है, वे ही आदित्य हैं। ये भावुकता में बहकर न्याय्य पथ को छोड़ नहीं देते। इनकी श्रद्धा भी ज्ञानोज्ज्वल होती है। इन आदित्यों के सम्पर्क में तो हम आयें ही, साथ ही स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करें। तभी हमारी स्थिति उत्तम होगी।

भावार्थ—आदित्यों व अदिति का पूजन हमारी स्थिति को उत्तम बनाये।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

स्तुतिमयता-यज्ञशीलता

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥ ६॥

(१) हे विश्वेदेवासः-सब देववृत्ति के पुरुषो! मनुषः-विचारशील लोगो! यतिष्ठन-आप जितने भी हो, वः-आपमें से स्तोमं राधति-जो स्तुति समूह को सिद्ध करता है, उस स्तुति-समूह को यं जुजोषथ-जिसको आप भी प्रीतिपूर्वक सेवन करते हो, जो स्तुति-समूह आपको भी बड़ा रुचिकर प्रतीत होता है, वह व्यक्ति ही कः-आनन्दमय जीवनवाला है। देववृत्ति का विचारशील पुरुष स्तुति में लीन होता है तो एक आनन्द का अनुभव करता है। (२) हे तुविजाताः-महान् विकासवाले पुरुषो! वः-तुम्हारे में से यः-जो अध्वरम्-हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को अरं करद्-अलंकृत करता है अथवा खूब ही करता है वही कः-आनन्दस्वरूप होता है और वह नः-हमें अंहः अतिपर्षत्-पाप के पार ले जाता है, हमें पापों से बचाता है और इस प्रकार स्वस्तये-उत्तम स्थिति के लिये होता है। हमें अपने क्रियात्मक जीवन से सद्गुणों का पाठ पढ़ाता हुआ वह पापों से बचानेवाला होता है और इस प्रकार हमारा जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—आनन्द में वही है जिसका जीवन स्तुतिप्रिय है व जो यज्ञशील है।

सूचना—पाँचवें व छठे मन्त्र का सार यह है कि जीवन का उत्कर्ष 'आदित्यों के सम्पर्क में ज्ञान की वृद्धि, स्तुतिमयता व यज्ञशीलता' में ही है। इनकी आधारभूत वस्तु स्वास्थ्य है। (क) स्वस्थ होता हुआ मनुष्य, (क) ज्ञान प्रधान जीवन बिताये, (ग) स्तुति में लीन व (घ) यज्ञशील हो। इसी में सुख है।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

होत्रा-मन तथा सप्त होता (वे आदित्य)

येभ्यो॒ होत्रां॑ प्रथ॒माया॑ये॒जे मनुः॒ समि॑द्धाग्नि॒र्मन॑सा स॒प्त होतृ॑भिः।

त आ॑दित्या॒ अभ॑यं॒ शर्म॑ यच्छत सु॒गा नः॑ कर्त सु॒पथा॑ स्व॒स्तये॑॥ ७॥

(१) **समिद्धाग्निः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाले **मनुः**=ज्ञानपुञ्ज प्रभु **येभ्यः**=जिनके लिये **प्रथमां होत्राम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उच्चारण की जानेवाली ज्ञान की वाणी (नि० १।११) को **आयेजे**=संगत करते हैं। **मनसः**=मनन शक्ति के साथ तथा **सप्त होतृभिः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=कर्णादि सात होताओं के साथ प्रभु जिन्हें ज्ञान प्राप्त कराते हैं **ते**=वे **आदित्यः**=ज्ञान का आदान करनेवाले ज्ञानी मननशील ऋषि **अभयम्**=निर्भयता व **शर्म**=सुख को **यच्छत**=दें और **नः**=हमारे लिये **सुपथा**=उत्तम मार्गों को **सुगा**=सुगमता से जाने योग्य **कर्त**=करें। जिससे **स्वस्तये**=हमारी जीवन की स्थिति उत्तम हो। (२) प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' इन ऋषियों को वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। अब भी निर्मल हृदय होकर हम उस प्रकाश को देख सकते हैं। प्रभु जहाँ ज्ञान प्राप्त कराते हैं, वहाँ मनन साधन 'मन' को भी प्राप्त कराते हैं, उस मनन के लिये सामग्री को प्राप्त कराने के लिये 'दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो चक्षु व वाणी' रूप सप्त (ऋषियों) को भी प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार मन, इन्द्रियों व वेदवाणी द्वारा अपने ज्ञान का वर्धन करनेवाले ये व्यक्ति 'आदित्य' हैं। इन आदित्यों के सम्पर्क में हमें निर्भयता व सुख प्राप्त होता है। ये आदित्य हमें ज्ञान देकर सुपथ से चलने की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। इस सुपथ से चलते हुए हमारा जीवन 'स्वस्ति-मय' होता है।

भावार्थ—ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके हम सुपथ से चलें और स्वस्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

देव का लक्षण (वे देव)

य ईशि॑रे॒ भुव॑नस्य॒ प्रचे॑तसो॒ विश्व॑स्य स्था॒तुर्जग॑तश्च॒ मन्त॑वः।

ते नः॑ कृ॒ताद॑कृ॒ता॒देन॑स॒स्पर्य॒द्या दे॑वासः पिपृता स्व॒स्तये॑॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के प्रसंग में ही कहते हैं कि **ते देवासः**=वे देव **नः**=हमें **एनसः**=पापों से **अद्य**=आज ही **पिपृता**=पार करें, अर्थात् पापरहित करें, **स्वस्तये**=जिससे हमारी जीवन स्थिति उत्तम हो। उन पापों से दूर करें जो आप **कृतात्**=क्रिया से निर्वृत्त हुए हैं, अर्थात् जिन पापों को हमने इस शरीर के अंगों से किया है और **अकृतात्**=जिन्हें शरीर के अंगों से तो अभी नहीं किया, अभी जो मन में ही विचार रूप में रह रहे हैं। **अकृतात्**=(करचरणादिभिरकृतात् मानसात् सा०) उन कामिक व तामस सभी पापों से ये देव हमें बचाएँ। (२) **ये**=जो **देव ईशिरे**=अपने ईश हैं, इन्द्रियों के स्वामी हैं, जितेन्द्रिय हैं। **भुवनस्य**=इस भुवन के, लोक के **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं, प्रकृति व जीव को जो जानते हैं। **विश्वस्य**=सम्पूर्ण **स्थातुः जगतः च**=स्थावर व जंगम

का जो मन्तवः=मनन करनेवाले हैं। जड़ व चेतन जगत् को समझनेवाले हैं। (३) इस जड़ व चेतन जगत् के ज्ञान से ही मार्ग का ज्ञान होता है। प्रकृति का ज्ञान शरीर स्वास्थ्य के मार्ग को बतलाता है, जीव का ज्ञान मानस स्वास्थ्य के मार्ग का प्रदर्शक होता है। इस प्रकार ये देव 'शरीर व मन' के दृष्टिकोण से ठीक मार्ग पर चलनेवाले होते हैं। ये हमें भी इस मार्ग का उपदेश देकर शरीर व मानस स्वास्थ्य को प्राप्त करायें। प्रभु का ज्ञान व स्मरण हमें इस मार्ग से भ्रष्ट होने से बचाता है।

भावार्थ—प्रकृति व जीव को समझनेवाले जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष हमें मार्ग का ज्ञान देकर शरीर व मानस पापों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अंहोमुक् प्रभु

भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम मार्ग पर चलते हैं तो संसार के प्रलोभन हमारे लिये इतने आकर्षक होते हैं कि वे हमें उस मार्ग से भटका देते हैं। इन प्रलोभनों के साथ हमारा संग्राम चलता है। उन **भरेषु**=अध्यात्म-संग्रामों में हम **सुहवम्**=शोभन आह्वानवाले उस **इन्द्रम्**=असुर वृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं जो **अंहोमुचम्**=हमें सब पापों से छुड़ानेवाले हैं। प्रभु का स्मरण हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है, प्रभु के स्मरण से हमें शक्ति मिलती है और हम प्रलोभनों को जीत पाते हैं। (२) हम प्रभु को पुकारने के साथ **सुकृतम्**=उत्तम कर्म करनेवाले **दैव्यम्**=देव के उस प्रभु के उपासक **जनम्**=लोगों को भी पुकारते हैं जो **अग्निम्**=उन्नतिपथ पर निरन्तर आगे ले चलनेवाले हैं, **मित्रम्**=(प्रमीते त्रायते) मृत्यु व पाप से बचानेवाले हैं, **वरुणम्**=हमारे से द्वेष आदि का निवारण करनेवाले हैं। इन लोगों के सम्पर्क में आकर हम भी 'सुकृत्, अग्नि, मित्र व वरुण बनकर' प्रभु की ओर चलनेवाले होते हैं और प्राकृतिक भोगों में फँस नहीं जाते। (३) **सातये**=जीवन के लिये आवश्यक अन्नादि के लाभ के लिये **भगम्**=ऐश्वर्य की भी हम प्रार्थना करते हैं, हम चाहते हैं कि हमें उतना धन अवश्य प्राप्त हो जो कि जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये पर्याप्त हो। (४) हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों के लिये प्रार्थना करते हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त हो तो हमारा शरीर सुदृढ़ हो। इस उत्तम-स्थिति के लिये ही हम **मरुतः**=प्राणों को पुकारते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही तो बुद्धि सूक्ष्म होकर दीप्त ज्ञान की प्राप्ति होगी और इस साधना से ही शरीर पूर्ण नीरोग व सुदृढ़ बनेगा।

भावार्थ—प्रभु का आराधन हमें वासना संग्राम में विजयी बनायेगा। सज्जन संग हमें प्रभु की ओर ले चलेगा। आवश्यक धन को प्राप्त करके प्राणसाधना करते हुए हम दीप्त मस्तिष्क व सुदृढ़ शरीरवाले होंगे।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दैवी नाव

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ १०॥

(१) हम **स्वस्तये**=कल्याण के लिये, इस भवसागर में न डूब जाने के लिये, इस दैवी

नावम्=प्रभु से दी गई शरीर रूप दिव्य नौका पर **आरुहेमा**=आरोहण करें। जो नौका कि **सुत्रामाणम्**=बहुत अच्छी प्रकार सुरक्षित हुई है, जिसे आधि-व्याधियों के आक्रमण से बचाया गया है। रोगों से इस शरीर रूप नाव की रक्षा करना आवश्यक है। यह नाव **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) ठीक विस्तारवाली है, इसका अंग-प्रत्यंग ठीक से विकसित हुआ है। **द्याम्**=यह ज्योतिर्मय है, बुद्धि के समुचित विकास से इसमें ज्ञान के प्रकाश की कमी नहीं। **अनेहसम्**=(सहस्=sin) यह निर्दोष है और इसी कारण **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख को देनेवाली है। **अदितिम्**=(दो अवखण्डने) यह खण्डन से रहित है, इसमें किसी प्रकार की अंग-विकृति नहीं है। (२) यह पूर्ण स्वस्थ शरीर रूप नाव **सुप्रणीतिम्**=उत्तम प्रणयन वाली है, बुद्धि के द्वारा इसका संचालन बड़ी उत्तमता से होता है। इस उत्तम संचालन का ही परिणाम है कि यह नाव हमें उस देव (=परमात्मा) तक पहुँचानेवाली होती है और अपने ''दैवीं नावं' इस नाम को सार्थक कर पाती है। **स्वरित्राम्**=यह उत्तम अरित्रों (=चप्पुओं) वाली है। कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ ही इसमें अरित्र (oar) हैं। यह नाव **अनागसम्**=एकदम निर्दोष है और **अस्रवन्तीम्**=(does not leak) यह स्वछिद्र न होने से सुरक्षित वीर्य रूप जलवाली होती है। इस अस्रवण के कारण ही इसका सब सौन्दर्य है। इसमें जो कुछ उत्तमता है उसका मूल यह अस्रवण ही है। इस नाव के द्वारा हम भवसागर को पार करें और प्रभु को प्राप्त करें।

भावार्थ—यह शरीररूप नाव प्रभु ने हमें भवसागर को पार करने के लिये दी है। इस पर आरूढ़ होकर हम अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'अवसे-स्वस्तये' (कुटिलता व हिंसा से दूर)

विश्वे॑ यजत्रा॒ अधि॑ वोचतो॒तये॒ त्राय॑ध्वं नो दु॒रेवा॑या अ॒भि॒हुतः॑ ।
स॒त्यया॑ वो दे॒वहू॑त्या हुवेम शृण्व॒तो दे॑वा॒ अव॑से स्व॒स्तये॑ ॥ ११ ॥

(१) **विश्वे**=सब **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य **देवाः**=देवो! आप **ऊतये**=रक्षण के लिये **अधिवोचत**=हमें अधिक्येन उपदेश दीजिये और **नः**=हमें **दुरेवायाः**=दुर्गति=दुराचरण से तथा **अभिहुतः**=कुटिलता से व हिंसा से **त्रायध्वम्**=बचाइये। हम दुरितों व हिंसा के मार्ग से बचकर ही चलें। हमारा जीवन आपके दिये गये ज्ञान से पवित्र बने और उस पवित्र जीवन में दुरितों व हिंसा का कोई स्थान न हो। इस प्रकार आपका दिया हुआ ज्ञान हमारे रक्षण के लिये हो जाता है। (२) हे **शृण्वतो देवाः**=हमारी प्रार्थना को सुननेवाले देवो! हम **वः**=आपको **सत्यया**=सत्य **देवहूत्या**=देवहूति से, देवों को पुकारने के ढंग से, **हुवेम**=पुकारें। देवों को पुकारने का सत्य प्रकार यही होता है कि हम नम्रता व जिज्ञासा की भावनावाले होकर उनके समीप जाएँ। इस प्रकार उनके समीप हम जाएँगे तो वे हमें वह सत्य ज्ञान प्राप्त करायेंगे जो हमारे **अवसे**=रक्षण के लिये होगा और **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये होगा। यह ज्ञान हमें वासनाओं से बचानेवाला होगा और नीरोगता व ऐश्वर्य के द्वारा हमारे जीवन की उत्तम स्थिति का कारण बनेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानियों के समीप नम्रता से पहुँचे और उस ज्ञान को प्राप्त करें जो हमारे रक्षण व कल्याण के लिये हो।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रोग व द्वेष से दूर

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥ १२॥

(१) हे देवो! आप अपने ज्ञानोपदेश के द्वारा **अमीवाम्**=रोगों को **अप**=हमारे से दूर करिये। हमारे शरीर रोगों से रहित हों। **विश्वाम्**=सब **अनाहुतिम्**=न यज्ञ करने की भावना को (हु) अथवा विद्वानों को न पुकारने की भावना को (ह्वा) हमारे से दूर करिये **अरातिम्**=(अ रा=दाने) न दान देने की भावना को **अप**=हमारे से दूर करिये। **अघायतः**=दूसरे के अघ व पाप (अशुभ) की कामनावाले पुरुष की **दुर्विदत्राम्**=दुर्बुद्धि को, दुष्टज्ञान को हमारे से दूर करिये। (२) हे **देवाः**=ज्ञान देनेवाले पुरुषो! **द्वेषः**=द्वेष को **अस्मत्**=हमारे से **आरे**=दूर **युयोतन**=पृथक् करिये। ईर्ष्या-द्वेष की भावनाएँ हमारे समीप न आएँ। और इस प्रकार ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठाकर **नः**=हमारे लिये **उरु शर्म**=विस्तृत सुख को **यच्छता**=प्राप्त कराइये जिससे **स्वस्तये**=हमारे जीवन की स्थिति उत्तम हो।

भावार्थ—हम देवों से ज्ञान को प्राप्त करें, यह ज्ञान हमें नीरोग, निर्लोभ व निर्द्वेष बनाये।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सम-विकास

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥ १३॥

(१) **स मर्तः**=वह मनुष्य **विश्वः**=सारे का सारा, अर्थात् पूर्णरूप से **अरिष्टः**=अहिंसित होता हुआ **एधते**=बढ़ता है, वृद्धि को प्राप्त करता है और **धर्मणः**=धर्म के द्वारा **प्रजाभिः**=अपने सन्तानों के साथ **परिप्रजायते**=सब प्रकार के विकास को प्राप्त करता है, **यम्**=जिस पुरुष को हे **आदित्यासः**=सब ज्ञानों व गुणों का आदान करनेवाले देवो! आप **सुनीतिभिः**=उत्तम मार्गों से हमें कल्याण के लिये **नयथा**=ले चलते हैं। (२) ये पाप हमारे न चाहते हुए भी हमारे में प्रविष्ट हो जाते हैं, अतः इन्हें 'विश्व' कहा गया है (विशन्ति)। आदित्यों का उपदेश हमें इस योग्य बनाता है कि हम इन पापों से बचे रहते हैं। धर्म के मार्ग पर चलते हुए हम अपने जीवनों को उत्तम बनाते हैं, साथ ही हमारे सन्तानों के जीवन भी सुन्दर बनते हैं। इस प्रकार **स्वस्तये**=हम उत्तम स्थिति के लिये होते हैं।

भावार्थ—आदित्यों का उपदेश हमें सदा सन्मार्ग के दिखानेवाला हो, उस पर चलते हुए हम दुरितों से दूर हों और स्वस्ति को सिद्ध करें।

सूचना—यहाँ 'विश्वः एधते'=इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि केवल शरीर, केवल मन व केवल मस्तिष्क का विकास वेद को अभीष्ट नहीं। वेद के दृष्टिकोण से 'शरीर, मन व मस्तिष्क' का सम्मिलित विकास ही विकास है। यही स्थानान्तर में 'त्रिविक्रम बनना' कहा गया है। तीनों कदमों का रखना ही ठीक है।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शरीर-रथ

यं दे॑वा॒सोऽव॑थ॒ वाज॑साती॒ यं शूर॑साता मरुतो हि॒ते धने॑।
प्रा॒त॒र्यावा॑णं॒ रथ॑मिन्द्र सान॒सिमरि॑ष्यन्त॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**-परमात्मन्! **रथम्**-हम उस शरीर रथ पर **आरुहेम**-आरोहण करें जो **प्रातर्यावाणम्**-प्रातः से ही गतिमय है, अर्थात् इस शरीर-रथ पर आरूढ़ होकर हम सदा क्रियाशील जीवन बिताएँ। **सानसिम्**-जो सम्भजनशील हैं, जिस शरीररथ पर आरूढ़ होकर हम प्रातः-सायं उस प्रभु का सम्भजन करनेवाले होते हैं। इस प्रभु-सम्भजन से ही हम स्वस्थ शरीरवाले रहते हैं, **अरिष्यन्तम्**-जो शरीर-रथ हिंसित नहीं होता, विविध आधि-व्याधियों का शिकार नहीं होता। (२) एवं हम उस शरीर-रथ पर आरोहण करते हैं जो कि 'गतिमय, उपासनामय व नीरोगता' वाला है। इस शरीर-रथ पर आरोहण करके हम **स्वस्तये**-जीवन में उत्तम स्थितिवाले होते हैं। यह शरीर-रथ वह है **यम्**-जिसको **देवासः**-सब प्राकृतिक शक्तियाँ, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल आदि **वाजसातौ**-शक्ति प्राप्ति के निमित्त **अवथ**-रक्षित करते हैं। सूर्यादि की अनुकूलता के होने पर शरीर की शक्ति बढ़ती है। (२) यह शरीररथ वह है **यम्**-जिसको **मरुतः**-प्राण **शूरसातौ**-इस संसार संग्राम में **हितेधने**-हितकर धन की प्राप्ति के निमित्त **अवथ**-रक्षित करते हैं। प्राणसाधना से हमारे शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियाँ बढ़ती हैं, हम संसार-संग्राम में विजयी होते हैं और हितकर धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। प्रत्येक कोश का धन पृथक्-पृथक् है, वह धन हमें इस प्राणसाधना से प्राप्त होता है। यह धन वेद के शब्दों में 'अन्नमयकोश का तेज, प्राणमयकोश का वीर्य, मनोमयकोश का ओज व बल, विज्ञानमयकोश का मन्यु=ज्ञान तथा आनन्दमयकोश का सहस्' है। प्राणसाधना से यह सब धन प्राप्त होता है। इस प्रकार हमारे इस शरीर-रथ को सब देव सुरक्षित करते हैं और मरुत् इसे उत्कृष्ट धनों से परिपूर्ण करते हैं।

भावार्थ—हम इस शरीर को 'गतिमय, उपासनामय व स्वस्थ' बनायें। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता से यह स्वस्थ हो तथा प्राणसाधना से यह हितकर धनों से परिपूर्ण हो।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती त्रिष्टुप् वा ॥ स्वरः—निषादो धैवतो वा ॥

उत्तम घर

स्व॒स्ति नः॑ प॒थ्या॑सु॒ धन्व॑सु स्व॒स्त्य१॒॑प्सु वृ॒जने॒ स्व॑र्वति।
स्व॒स्ति नः॑ पुत्रकृ॒थेषु॒ योनि॑षु स्व॒स्ति रा॒ये म॑रुतो दधातन॥ १५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हमारा शरीर-रथ ठीक होगा तो **नः**-हमारे लिये **पथ्यासु**-पथ के योग्य समतल भूभागों में **स्वस्ति**-कल्याण हो। **धन्वसु**-मरु प्रदेशों में हमारे लिये कल्याण हो। तथा **अप्सु**-जलमय प्रदेशों में भी **स्वस्ति**-कल्याण हो। वस्तुतः प्राणसाधना के ठीक प्रकार से होने पर सब स्थानों का जलवायु हमारे अनुकूल होता है। पूर्ण स्वस्थता में हमें बल प्राप्त होता है, यह बल हमें सुखमय स्थिति में रखता है। **स्वर्वति**-स्वर्गवाले **वृजने**-शत्रुओं के पराभूत करनेवाले बल के होने पर हमारा कल्याण हो। (२) इस प्रकार स्वस्थ व सबल होकर हम घरों में कल्याणपूर्वक रहें। **नः**-हमारे **योनिषु**-उन घरों में, जिनमें कि **पुत्रकृथेषु**-पुत्रों का निर्माण होता है, **स्वस्ति**-कल्याण हो। मनुष्य गृहस्थ बनता है, सन्तान के लिये। सो घर में सर्वमहान् कर्त्तव्य यही होता है कि सन्तान का उत्तम निर्माण किया जाए। हे **मरुतः**-प्राणो! इन घरों में हमें **राये**-ऐश्वर्य के लिये **दधातन**-धारण

करो जिससे स्वस्ति-हमारा कल्याण हो। निर्धनता भी घर के लिये दुर्गति का कारण बनती है। प्राणसाधक पुरुष उचित मात्रा में धन का संग्रह कर ही पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हमें सर्वत्र जलवायु की अनुकूलता रहती है। हमें शत्रुओं को पराभूत करनेवाली शक्ति प्राप्त होती है। हमारे सन्तान उत्तम होते हैं और निर्धनता हमारे से दूर रहती है।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वावेशा-देवगोपा (पृथिवी)

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥ १६॥

(१) हमारा शरीर पाँचभौतिक होते हुए भी पृथिवी की प्रधानता के कारण 'पार्थिव' कहलाता है। इस पृथिवी देवता से प्रार्थना करते हैं कि यह पृथिवी **प्रपथे**=हमारे प्रकृष्ट मार्ग में चलने पर **इत् हि**=निश्चय से **स्वस्ति**=कल्याण करनेवाली होती है। **श्रेष्ठा**=यह हमारे जीवन को प्रशस्यतम बनाती है। **रेक्णस्वती**=यह हमारे लिये उत्तम धनोंवाली होती है। हम उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हैं तो यह मातृभूत पृथिवी हमारे लिये सब आवश्यक तत्त्वों को उपस्थित करती है और हमारा जीवन जहाँ धार्मिक होता है वहाँ धन की दृष्टि से भी उसमें न्यूनता नहीं होती। 'श्रेष्ठा' शब्द 'धर्म' का संकेत करता है और 'रेक्णस्वती' 'धन' का। इस प्रकार यह पृथिवी **या**=जो **अभि**=धर्म व धन दोनों ओर हमें ले चलती है वह **स्वस्ति**=हमारे कल्याण के लिये होती है और **वामं एति**=उस सब प्रकार से सुन्दर प्रभु की ओर हमें ले चलती है। हमारे जीवनों में जब धर्म व धन का सुन्दर समन्वय होता है तभी हम प्रभु प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। (२) **सा**=वह पृथिवी **नः**=हमें **अमा**=घर में **निपातु**=सुरक्षित करे **सा उ**=और वह ही हमें **अरणे**=घर से बाहर भी सुरक्षित करे। यह पृथिवी हमारे लिये **स्वावेशा**=(सु आ विश्) बड़ी उत्तमता से सब आवश्यक तत्त्वों का प्रवेश करानेवाली हो और इन सब आवश्यक तत्त्वों के प्रवेश कराने के साथ **देवगोपा**=हमारे में दिव्यगुणों का रक्षण करनेवाली **भवतु**=हो। शरीर के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त कराने से यह हमें 'शारीरिक स्वास्थ्य' देती है और दिव्यगुणों के रक्षण से 'मानस स्वास्थ्य'। पृथिवी से उत्पन्न विविध वानस्पतिक पदार्थ शरीर के लिये सब आवश्यक तत्त्वों का पोषण तो करते ही हैं, ये वानस्पतिक पदार्थ उपयुक्त होने पर हमारी बुद्धि, मन को भी शुद्ध रखते हैं और इस प्रकार हमारे में दिव्यगुणों का विकास होता है।

भावार्थ—पृथिवी अनुकूल होकर हमारे जीवन को धर्म व धन से युक्त करती है, यह हमें शारीरिक व मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराती है और इस प्रकार प्रभु की ओर ले चलती है।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु से मेल में ईशानता

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन॥ १७॥

(१) **एवा**=गत मन्त्रों में वर्णित प्रकार से **प्लतेः सूनुः**=प्लति का पुत्र, **विश्वे आदित्याः**=सब देवो! और **अदिते**=अदीने देवमातः! **वः**=आप सबका **अवीवृधत्**=वर्धन करता है। 'प्रा पूरणे' धातु से ति प्रत्यय करके, प्रा को ह्रस्व होने से प्रति शब्द बनता है, इस में र को ल होकर प्लति

हो गया है। यह शरीर व मन के दृष्टिकोण से अपना पूरण करनेवाला है। इसी भाव पर बल देने के लिये उसे यहां 'प्लति का सूनु' कहा है। अपना पूरण करनेवाला व्यक्ति देवों व देवमाता का स्तवन करता है और इस प्रकार उन देवों को अपने में धारण करने का प्रयत्न करता है। दिव्यगुणों को धारण करने के लिये ही वह अदीना देवमाता का भी स्तवन करता है। यह अपने जीवन में भौतिक पदार्थों के लिये लालायित नहीं होता और इसीलिये इसे इन पदार्थों की प्राप्ति के लिये कहीं दीनतापूर्वक गिड़गिड़ाना नहीं होता। यह आत्मसम्मान के साथ जीवन-यापन कर पाता है। वस्तुतः यही व्यक्ति **मनीषी**=मनीषा व बुद्धिवाला है। बुद्धि का मार्ग यही है कि मनुष्य दिव्यगुणों को धारण करने का प्रयत्न करे, भौतिक वस्तुओं को जीवन में प्रधानता न दे। इन्हीं की प्राप्ति के लिये मनुष्य को आत्मसम्मान खोना पड़ता है। (२) जब मनुष्य इन भौतिक वस्तुओं में नहीं उलझते तभी उस **अमर्त्येन**=अमरणधर्मा अविनाशी प्रभु के साथ चलते हुए **नरः**=उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले ये मनुष्य **ईशानासः**=ईशान होते हैं। प्रभु के मेल से इन्हें शक्ति प्राप्त होती है। इस अमर्त्य प्रभु से मेल के लिये ही **गयेन**=(गयाः प्राणाः) प्राकृतिक वस्तुओं में न उलझने से प्राणशक्ति के पुंज बने हुए इस 'गय' से **दिव्यः जनः**=उस देव की ओर चलनेवाले लोग **अस्तावि**=स्तुत होते हैं। इन दिव्य जनों का स्तवन करके ये भी दिव्य बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—दिव्य जनों का स्तवन करते हुए हम भी दिव्य बनें। उस प्रभु से मेल होने पर हम भी ईशान बन सकेंगे।

सूक्त का प्रारम्भ देव पुरुष के तीन लक्षणों के प्रतिपादन से हुआ है, (१) समाप्ति पर प्रभु से मिलकर ईशान बनने का संकल्प वर्णित हुआ है, (१७) प्रभु से मेल के लिये ही 'गय प्लात' प्रभु के नाम का स्मरण करता है—

[६४] चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सुखी नीरोग सुरक्षित'

कथा देवानां कतमस्य यामनि सुमन्तु नाम शृण्वतां मनामहे।
को मृळाति कतमो नो मयस्करत्कतम ऊती अभ्या ववर्तति ॥ १ ॥

(१) 'गय प्लात' हृदय में इस प्रकार की तीव्र कामना करता है कि **कथा**=किस प्रकार **यामनि**=इस जीवनयात्रा के मार्ग में **कतमस्य**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप प्रभु के **सुमन्तु**=उत्तम मननीय **नाम**=नाम को **शृण्वताम्**=सुनते हुए **देवानाम्**=देवों के **मनामहे**=आदर करनेवाले हम हों। इन देवताओं का आदर करते हुए हम भी इनकी तरह ही प्रभु के नामों का स्मरण करेंगे, प्रभु का भजन करते हुए प्रभु में लीन होने का प्रयत्न करेंगे। (२) ऐसी स्थिति में वह **कः**=आनन्दस्वरूप प्रभु **मृळाति**=हमारे जीवन को सुखी करता है, **कतमः**=वह अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **नः**=हमारे लिये **मयः करत्**=आरोग्य को करता है, और **कतमः**=वह अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **ऊती**=रक्षण के द्वारा **अभि आववर्तति**=हमारी ओर आता है। हम प्रभु का स्मरण करते हैं और हमें प्रभु की ओर से 'सुख, आरोग्य व रक्षण' प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु नाम के स्मरण करनेवाले देव-पुरुषों के सम्पर्क में हम भी प्रभु का स्मरण करनेवाले होंगे। परिणामतः सुखी, नीरोग व सुरक्षित जीवनवाले होंगे, हमारे पर वासनाओं का आक्रमण न हो सकेगा।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

क्रतवो क्रतूयन्ति

क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः ।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत ॥ २ ॥

(१) **क्रतवः**=हमारे कर्म संकल्प सदा **क्रतूयन्ति**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने-वाले होते हैं। हमारे में यज्ञादि कर्मों के संकल्प होते हैं और उन संकल्पों के अनुसार हमारे कर्म होते हैं। उन कर्मों को करते हुए **हृत्सु**=हमारे हृदयों में **धीतयः**=(धीति) भक्ति की भावना होती है। इस धीति के कारण हमें उन कर्मों का गर्व नहीं होता। इस प्रकार गर्व रहित होकर कर्म करते हुए **वेनाः**=(वेन्) ज्ञानी प्रभु-भक्त पुरुष **वेनन्ति**=उस प्रभु की ओर जाते हैं। **आदिशः**=प्रभु के आदेश ही **पतयन्ति**=इन्हें उन-उन कार्यों को करानेवाले होते हैं। प्रभु के आदेशों के अनुसार ही ये सारी क्रियाओं को करते हैं। (२) यह गय अनुभव करता है कि **एभ्यः**=उल्लिखित दिव्य वृत्तियों को छोड़कर **अन्यः**=अन्य कोई बात **मर्डिता**=हमारे जीवन को सुखी करनेवाली **न विद्यते**=नहीं है। सो 'गय' निश्चय करता है कि **मे**=मेरी **कामाः**=इच्छाएँ **देवेषु अधि**=देवों के विषय में ही, दिव्यवृत्तियों के विषय में ही **अयंसत**=नियमित होती हैं, अर्थात् मैं दिव्यगुणों को ही प्राप्त करने की कामना करता हूँ। इन दिव्यगुणों ने ही तो मेरे जीवन को सुखी बनाना है।

भावार्थ—कर्म-संकल्प हमें यज्ञों में प्रवृत्त करें, हृदय में प्रभु-भक्ति की भावना हो, मेधावी भक्त बनकर हम योगस्थ होकर कर्म करते हुए प्रभु की ओर चलें, प्रभु के आदेश ही हमें क्रियाओं में प्रेरित करनेवाले हों। ये दिव्य बातें ही हमारे जीवनों को सुखी करेंगे, सो हम इन्हीं को प्राप्त करने की कामना करें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

महादेव व देवों का उपासन

नराशंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥ ३ ॥

(१) गय प्लात से ही कहते हैं कि तू **गिरः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वा**=निश्चय से उस प्रभु का **अभ्यर्चसे**=स्तवन करता है जो प्रभु **नराशंसम्**=मनुष्यों से शंसन के योग्य हैं, जिनका शंसन मनुष्य को जीवन में प्रेरणा प्राप्त कराता है। **पूषणम्**=जो प्रभु पोषण करनेवाले हैं, प्रभु ही पोषण के सब साधनों को उत्पन्न करनेवाले हैं। **अगोह्यम्**=निराकार होते हुए भी जिनका छिपाना कठिन है, उस प्रभु की महिमा कण-कण में प्रकट होती है, प्रत्येक फूल व तारा प्रभु की महिमा का गायन कर रहा है। **अग्निम्**=वे प्रभु अग्रणी हैं, हमें उन्नतिपथ पर आगे और आगे ले चलते हैं। **देवेद्धम्**=वे देवों से अपने हृदयों में (=प्रकाशित) किये जाते हैं। इन प्रभु का स्तवन हमें जीवन में पथ-प्रदर्शक व सहायक होता है। (२) इन प्रभु का स्तवन करने के लिये ही **सूर्यामासा**=सूर्य की गति से बनाये जानेवाले बारह मासों का मैं स्तवन करता हूँ। इन मासों के स्तवन का स्वरूप यही है कि मैं इस संसार-वृक्ष की विशिष्ट शाखा बनूँगा (वि-शाखा) यह संकल्प मुझे ज्येष्ठता प्रदान करेगा (ज्येष्ठा) मैं काम-क्रोध-लोभ से पराभूत न होऊँगा (अ-षाढा) इस अपराभव में ज्ञान का श्रवण मेरा सहायक होगा (श्रवणा) यह श्रवण ही कल्याण का मार्ग है (भद्र-पदा) इस पर मैं आज से ही चलूँगा (अ-श्विनी) और कामादि शत्रुओं का कर्तन करने लगूँगा (कृत्तिका)

आत्मालोचन के द्वारा इन शत्रुओं के अन्वेषण करनेवालों का शिरोमणि बनूँगा (मृगशिरस्) बस यही मार्ग मेरा वास्तविक पोषण करेगा (पुष्य) मैं वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करूँगा (मघा) इस ऐश्वर्य की तुलना में मुझे सांसारिक ऐश्वर्य तुच्छ जचेगा (फल्गुनी) यही मेरे जीवन का आश्चर्यजनक कर्म (miracle) होगा (चित्रा)। (३) **चन्द्रमसा**-इन मासों का स्तवन मैं चन्द्रा के साथ करता हूँ। चन्द्रमा से 'चदि आह्लादे' सदा मन की प्रसन्नता का पाठ पढ़ता हूँ। इस मनःप्रसाद के होने पर **दिवियमम्**-प्रकाशमय रूप में स्थित उस नियन्ता प्रभु को याद करता हूँ। मनःप्रसाद के होने पर प्रभु का प्रकाश दिखता ही है। यह प्रकाश हमें जीवन के मार्ग में नियन्त्रित करनेवाला होता है। (४) इस प्रकाश की प्राप्ति के लिये ही हम **त्रितम्**-ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों में तीर्णतम (=अत्युच्च स्थिति में स्थित) पुरुष का आदर करते हैं, आदरपूर्वक उसके समीप उपस्थित होते हैं। इसका सम्पर्क हमारे जीवन को भी उच्च करेगा। (५) **वातम्**-मैं वायु का उपासन करता हूँ, **उषसम्**-उषा का उपासन करता हूँ और **अश्विना**-प्राणापानों का उपासन करता हूँ। वायु की तरह सतत क्रियाशील जीवनवाला बनता हूँ। उषा की तरह अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला होता हूँ। प्राणापान के द्वारा प्राणसाधना करता हुआ मैं उल्लिखित सब देवों व परमदेव का उपासक बन पाता हूँ। उपासना के लिये आवश्यक चित्तवृत्ति का निरोध प्राणसाधना से ही तो होना है।

भावार्थ—हम परमदेव के दर्शन के लिये सूर्य, चन्द्र, वायु व उषा आदि देवों का उपासन करते हैं, इनकी विशेषताओं को अपने जीवनों में धारण करते हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मैं कैसे प्रभु-स्तवन करूँ

क॒था क॒विस्तु॑वी॒रवा॒न्कया॑ गि॒रा बृह॒स्पति॑र्वावृधते सुवृ॒क्तिभिः॑।
अ॒ज एक॑पात्सु॒हवे॑भि॒र्ऋक्व॑भि॒रहिः॑ शृणोतु बु॒ध्न्यो॒३॒॑ हवी॑मनि ॥ ४ ॥

(१) प्रभुस्तवन के लिये उत्कण्ठित हुआ-हुआ 'गय प्लात' कहता है कि **कथा**-किस प्रकार **कया गिरा**-अत्यन्त आन्तर को देनेवाली वाणी तथा **सुवृक्तिभिः**-अच्छी प्रकार दोषों के वर्जन से वह प्रभु **वृधते**-मेरे द्वारा बढ़ाये जाते हैं, मेरे द्वारा स्तुत होते हैं जो प्रभु **कविः**-क्रान्तदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं। **तुवीरवान्**-(तुवि+ईर+वान्) खूब ही उत्तम प्रेरणा को देनेवाले हैं। **बृहस्पतिः**-ज्ञानियों के भी ज्ञानी हैं 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनावच्छेदात्' प्रभु के स्तवन से मैं भी प्रेरणा को प्राप्त करके ज्ञानी बनूँगा। (२) **सुहवेभिः**-उत्तम आह्वानों के द्वारा प्रार्थनाओं के द्वारा तथा **ऋक्वभिः**-स्तुति-वचनों के द्वारा मेरे से वह **अजः**-गति के द्वारा सब मलों का क्षेपण करनेवाला **एकपात्**-(एक-मुख्य) मुख्य गति देनेवाला (prime morer) प्रभु बढ़ाया जाता है, मेरे से उसकी महिमा का विस्तार किया जाता है। इस प्रभु की महिमा का स्मरण करता हुआ मैं भी गतिशील बनूँ और अपने जीवन को निर्मल बना पाऊँ। (३) **हवीमनि**-पुकारे जाने पर वह **अहिः**-(अह व्याप्तौ) सर्वव्यापक **बुध्न्यः**-मूल में होनेवाला, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड का आधारभूत वह ब्रह्म **शृणोतु**-हमारे प्रार्थना-वचनों को सुने। हमारी प्रार्थना अनसुनी न हो जाए। सर्वव्यापक होने से ही वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड का आधार हैं। मुझे भी तो वे ही आधार देंगे।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें, उसकी तरह ही गतिशील हों, उसी को अपना आधार समझें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अतूर्तपन्थाः

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-स्तवन के लिये उत्कण्ठित 'गय प्लात' से प्रभु कहते हैं कि **अदिते**-हे स्वास्थ्य के पुञ्ज। पूर्ण स्वस्थ पुरुष! **दक्षस्य जन्मनि**-शक्ति व उन्नति के जन्म के निमित्त **व्रते**-व्रत के धारण करने पर तू **राजाना**-दीप्त **मित्रावरुणा**-प्राणापानों को **विवाससि**-पूजित करता है। प्रभु के स्तवन के लिये पहली आवश्यक बात तो यह है कि (क) हम स्वस्थ बनें (अदिति), (ख) दूसरी बात यह कि हम शक्ति को उत्पन्न करने के लिये यत्नशील हों, (ग) तीसरे स्थान पर युक्तचेष्ट होने का व्रत लें और प्राणसाधना रूप योग का अभ्यास करें। (२) इस अभ्यास के परिणामरूप हम **अतूर्तपन्थाः**-अहिंसित मार्गवाले हों (तुर्वी हिंसायाम्), अर्थात् जीवन में कभी मार्गभ्रष्ट न हों। **पुरुरथः**-उस शरीर रूप रथवाले हों जिसका कि रोगों से रक्षण किया जाता है और जिसमें से वासनाओं के आक्रमण से आजानेवाली कमियों का पूरण किया जाता है। **अर्यमा**-(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करता है। इन **विषुरूपेषु जन्मसु**-विविध रूपोंवाले विकासों के निमित्त **सप्तहोता**-'कान, नासिका, आँखें व मुख' रूप सात होताओंवाला बन। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'। ये कान आदि इन्द्रियाँ जब ज्ञान की आहुति देनेवाली बनेंगी तभी तो हमारे जीवन में विविध शक्तियों का विकास होगा। विविध विकासों के लिये इन सातों होताओं का ठीक से कार्य करना नितान्त आवश्यक है।

भावार्थ—हम अपने इस जीवन में प्राणसाधना के द्वारा कान आदि इन्द्रियों को पवित्र व शक्ति-सम्पन्न बनाते हुए सब ('शरीर, मन व बुद्धि' के) विकासों के करनेवाले हों।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वाजिनः

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।
सहस्रसा मेधसाताविव त्मना महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे ॥ ६ ॥

(१) **ते**-वे **अर्वन्तः**-वासनाओं का संहार करनेवाले, **हवनश्रुतः**-हीन व आर्तजनों की पुकार को सुननेवाले, **वाजिनः**-शक्तिशाली, **मितद्रवः**-नपी-तुली गतिवाले, **सहस्रसाः**-सहस्र-संख्याक धनों को देनेवाले अथवा (स+हस्) प्रसन्नतापूर्वक देनेवाले **विश्वे**-सब देव **नः**-हमारी **हवम्**-पुकार को व प्रार्थना को **शृण्वन्तु**-सुनें। देव जनों के लक्षण यहाँ बड़ी सुन्दरता से कह दिये गये हैं। ये (क) वासनाओं से ऊपर उठते हैं, (ख) आर्तों के क्रन्दन को सुनते हैं, (२) शक्तिशाली बनते हैं, (घ) नपी-तुली गतिवाले होते हैं और (ङ) दानशील होते हैं। हम इनके सम्पर्क में आयें, इनके प्रिय हों, हमारी आवाज इनसे सुनी जाए। (२) उन देवों से हमारी बात सुनी जाए **ये**-जो **मेधसाती इव**-यज्ञों की तरह **समिथेषु**-संग्रामों में भी **महः धनम्**-महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य को **त्मना**-स्वयं **जभ्रिरे**-प्राप्त करते हैं। ये देव यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। ये यज्ञ इन्हें इस लोक व परलोक दोनों लोकों में कल्याण को देनेवाले होते हैं। इसी प्रकार ये वासनाओं के साथ संग्राम में चलते हैं और यह वासनाओं के साथ होनेवाला संग्राम इनकी शक्ति की व ऐश्वर्य की वृद्धि का कारण बनता है। इन देवों के सम्पर्क में हम भी यज्ञों में व इन अध्यात्म-संग्रामों में चलते हुए उत्कृष्ट

ऐश्वर्य के भागी बनते हैं।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देव बनें। हम भी उनकी तरह 'वासनाओं का संहार करनेवाले, दीनजनों की पुकार को सुननेवाले, शक्तिशाली, युक्तचेष्ट व दानी बनें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु की प्रेरणाएँ

प्र वो वायुं रथयुजं पुरन्धिं स्तोमैः कृणुध्वं सख्याय पूषणम्।
ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः ॥ ७ ॥

(१) हे जीवो! **वः वायुम्**-तुम्हारे गति देनेवाले, **रथ-युजम्**-शरीर रूप रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वों से युक्त करनेवाले **पुरन्धिम्**-पूरक व पालक बुद्धि को देनेवाले **पूषणम्**-सब के पोषक उस प्रभु को **स्तोमैः**-स्तुतियों के द्वारा **सख्याय प्रकृणुध्वम्**-मित्रता के लिये उत्तमता से करो। स्तुति के द्वारा हम प्रभु को अपना मित्र बनायें। वे प्रभु ही हमें शक्ति देकर गतिशील बनाते हैं, सब इन्द्रिय-शक्तियाँ प्रभु से ही प्राप्त होती हैं, प्रभु ही हमें उत्तम बुद्धि देते हैं। (२) **ते**-वे प्रभु को मित्र बनानेवाले **सचितः**-ज्ञानी पुरुष **सचेतसः**-समानचित्तवाले होकर **हि**-निश्चय से **सवितुः देवस्य**-सब के प्रेरक दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु के **सवीमनि**-प्रेरण में **क्रतुं सचन्ते**-यज्ञों का सेवन करते हैं। प्रभु को ये मित्र बनाते हैं और उस मित्र की प्रेरणा के अनुसार उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। प्रभु ने जिन यज्ञों का उपदेश दिया है, उन यज्ञों में ये तत्पर रहते हैं।

भावार्थ—स्तवन के द्वारा हम प्रभु के मित्र बनते हैं, उस मित्र की प्रेरणा के अनुसार यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। हमारे यज्ञ ज्ञानपूर्वक होते हैं (सचितः) और अप्रमाद के साथ होते हैं (सचेतसः)।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

स्वास्थ्य तथा अभ्युदय व निःश्रेयस का साधन

त्रिः सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन्पर्वताँ अग्निमूतये।
कृशानुमस्तॄन्तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे ॥ ८ ॥

(१) हमारे जीवनों में 'सरस्वती-सरयु-सिन्धु' इन तीन नदियों का प्रवाह निरन्तर चलता है। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो आँखें व मुख ये सात ऋषि व सात होता कहलाते हैं। इनके द्वारा उल्लिखित तीन नदियों का प्रवाह चला करता है। 'सरस्वती' ज्ञान की प्रतीक है, 'सरयु' (सृ गति, यु=मिश्रणे) उस गति का जो हमें प्रभु से मिलाती है, अर्थात् उपासना का सूचन करती है, और 'सिन्धु' (स्यन्दते)-जल के प्रवाह की तरह स्वाभाविक रूप से चलनेवाले कर्म-प्रवाह की द्योतक है। उल्लिखित सात ऋषियों से ये ज्ञान, उपासना व कर्म के प्रवाह चलाये जाते हैं। इन्हें ही यहाँ '**त्रिः सप्त**'-इकीस प्रकार की **सस्राः**-बहनेवाली **नद्यः**-नदियाँ कहा है। इनको हम **ऊतये**-रक्षण के लिये **हवामहे**-पुकारते हैं। ये सातों होता अपना कार्य ठीक से करते रहें तो हम स्वस्थ रहते हैं। (२) **महीः अपः**-महनीय जलों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। जल स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, 'जलवायु की अनुकूलता' इस वाक्यांश विन्यास में जल का स्वास्थ्य के लिये महत्त्व स्पष्ट है। **वनस्पतीन्**-वनस्पतियों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। 'वन' शब्द घर का वाचक है, यहां यह घर शरीर के रूप में है। इस शरीर गृह के रक्षक ये 'वनस्पति' हैं। **पर्वतान्**-पर्वतों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। जीवनरक्षण में इनका स्थान भी महत्त्वपूर्ण है, कई रोगों में तो पर्वत के वायु का सेवन आवश्यक ही हो जाता है। (३)

अग्निम्-अग्नि को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। अग्नि शान्त हो जाता है तो शरीर भी ठण्डा पड़कर मृत हो जाता है। इस अग्नि को ही 'कृशानु' विशेषण से यहां स्मरण किया गया है, उस अग्नि को हम पुकारते हैं जो कि 'कृशं आनयति' कृश को फिर से प्राणशक्ति सम्पन्न कर देता है। **अतृन्**-(स्तृ-to kill) उन सब तत्त्वों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं जो न हिंसा करनेवाले हैं। इस प्रकार हिंसा न होने देनेवाले इन तत्त्वों के द्वारा हमारे शरीर का रक्षण समुचित रूप में हो पाता है। (४) शरीर को स्वस्थ बनाकर **तिष्यम्**-हम तिष्य को पुकारते हैं। 'तिष्य' का पर्याय 'पुष्य' है, सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक धनों का पोषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है यही 'अभ्युदय' कहलाता है, इसी में स्वस्थ जीवनवाला व्यक्ति (तुष्यन्त्यस्मिन् इति तिष्यः) सन्तोष का अनुभव करता है। (५) सांसारिक उत्थान का संकेत करने के बाद अध्यात्म उत्थान के लिये कहते हैं कि हम **सधस्थे**-आत्मा व परमात्मा के मिलकर रहने के स्थान हृदय में हम **रुद्रम्**-उस (रुत्-र) सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानोपदेश देनेवाले प्रभु को **आ हवामहे**-सब प्रकार से पुकारते हैं, जो प्रभु **रुद्रेषु रुद्रियम्**-रुद्रों में सर्वाधिक रुद्रिय हैं, रुद्र नाम के योग्य हैं। 'स पूर्वेषामपि गुरुः०' वे प्रभु गुरुओं के गुरु तो हैं ही। इस प्रभु को पुकारना मेरी अध्यात्म उन्नति का मूल बनता है, यह अन्ततः मेरे निःश्रेयस का साधक होता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के कार्यप्रवाह के ठीक होने से तथा जलादि तत्त्वों की अनुकूलता से हम स्वस्थ बनते हैं। और स्वस्थ शरीर से 'अभ्युदय व निःश्रेयस' रूप धर्म का साधन करते हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सरस्वती-सरयु-सिन्धु'

सर॑स्वती स॒रयुः॒ सिन्धु॑रू॒र्मिभि॑र्म॒हो म॒हीरव॒सा य॑न्तु॒ वक्ष॑णीः।
दे॒वीरापो॑ मा॒तरः॑ सूदयि॒त्न्वो॑ घृ॒तव॒त्पयो॒ मधु॑मन्नो अर्चत॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार 'सरस्वती' ज्ञानवाहिनी नदी है, 'सरयु' भक्तिवाहिनी है और 'सिन्धु' कर्मवाहिनी। ये **सरस्वती सरयुः सिन्धुः**-सरस्वती, सरयु और सिन्धु तीनों ही **ऊर्मिभिः**-अपनी ज्ञान, भक्ति व कर्म की तरंगों से **महो महीः**-महान् से महान् हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये **वक्षणीः**-(वक्ष् to grow) हमारी उन्नति की कारणभूत नदियाँ **अवसा**-रक्षण के हेतु से **यन्तु**-हमें प्राप्त हों। हमारे मस्तिष्क में सरस्वती का प्रवाह हो, हृदय-स्थली में सरयु का तथा भुजाओं में सिन्धु प्रवाहित हो। (२) इन तीनों नदियों के **आपः**-जल **देवीः**-प्रकाश को करनेवाले हों (दिव्-द्युति), **मातरः**-हमारे जीवनों में सब अच्छाइयों का निर्माण करनेवाले हों तथा **सूदयित्न्वः**-शरीर से सब मलों को दूर करनेवाले हो। क्रियाशीलता के होने पर मलों का सम्भव ही नहीं रहता। मलों का उपाय अकर्मण्यता के होने पर ही होता है। (सूद् to eject, to throw away)। सरस्वती के जल 'देवी' हों, सरयु के 'मातरः' तथा सिन्धु के सूदयित्नु। (३) इन सब नदियों से प्रार्थना करते हैं कि **नः**-हमारे लिये अपने उस **पयः**-जल को **अर्चत**-(प्रयच्छत सा०) दो जो **घृतवत्**-दीप्तिवाला तथा मलों के क्षरणवाला है और **मधुमत्**-स्वास्थ्य प्रदान के द्वारा अत्यन्त माधुर्यवाला है। सरस्वती का जल ज्ञानदीप्ति को देता है, सरयु का जल मानस मलों का क्षरण करता है, तो सिन्धु का जल स्वास्थ्य के द्वारा जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—'सरस्वती' हमारे में ज्ञान का संचार करे, 'सरयु' हमें निर्मल मनवाला बनाकर प्रभु से मिलने के योग्य बनाये तथा 'सिन्धु' हमें कर्मशील बनाकर स्वाध्य का माधुर्य प्राप्त कराये।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्तम जीवन

उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस्त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः पिता वचः।
ऋभुक्षा वाजो रथस्पतिर्भगो रण्वः शंसः शशमानस्य पातु नः ॥ १० ॥

(१) उत=और बृहद् दिवा=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के प्रकाशवाली माता=यह वेदमाता, हमारे जीवनों का निर्माण करनेवाला वेदज्ञान नः शृणोतु=हमारी प्रार्थना को सुने। हम इसके प्रिय हों। वस्तुतः इस ज्ञान ने ही हमारे जीवन का निर्माण करना है, यह ज्ञान ही बृहत्=हमारी वृद्धि का कारण है। (२) वेदज्ञान हमारी माता है तो वे प्रभु हमारे पिता हैं। वे त्वष्टा हैं, 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः'=वे प्रभु ज्ञान से दीप्त हैं 'त्वक्षतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः' और वे प्रभु ही सारी गति के आद्य स्रोत हैं। ये पिता=हमारा रक्षण करनेवाले त्वष्टा=ज्ञानदीप्त व गति के स्रोत प्रभु जनिभिः=सब विकासों के हेतु से तथा देवेभिः=दिव्यगुणों के उत्पादन के हेतु से नः वचः=हमारी प्रार्थना को सुनें। प्रभु कृपा से हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का विकास हो। (३) वे हमारे पिता प्रभु नः=हमारे में से शशमानस्य=(शश प्लुतगतौ) प्लुतगति से कर्म करनेवाले व्यक्ति का पातु=रक्षण करें। प्रभु से रक्षणीय वही होता है जो क्रियाशील है, अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु रक्षा का पात्र नहीं होता। वे प्रभु 'ऋभुक्षाः' हैं, ऋभुओं में निवास करनेवाले हैं। 'ऋभुः' (ऋतेन भाति) वह है जो कि नियमित क्रिया से दीप्त होता है। सब कार्यों को नियम से करने के कारण यह स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकता है, 'ऋभु' बनता है। ऐसे व्यक्ति ही प्रभु के निवास-स्थान होते हैं। वाजः=वे प्रभु शक्ति के पुञ्ज हैं। यह व्यक्ति भी प्रभु का निवास-स्थान बनकर शक्ति को धारण करता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है वे प्रभु इस ऋभु में निवास करते हुए रथस्पतिः=इसके शरीररूप रथ के रक्षक होते हैं। भगः=ऐश्वर्य के पुञ्ज होते हुए वे प्रभु संसार यात्रा के लिये आवश्यक ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। रण्वः=वे प्रभु रमणीय हैं, अपने उपासक को भी रमणीय जीवनवाला बनाते हैं अथवा 'रण शब्दे' हृदयस्थरूपेण उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देते हैं। इस प्रकार वे प्रभु 'शंसः'=शंसनीय हैं, स्तुति के योग्य हैं। उस प्रभु का शंसन करते हुए हम भी उस प्रभु के गुणों को अपना लक्ष्य बनाकर उन्नतिपथ पर निरन्तर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—वेद हमारी माता है, प्रभु पिता हैं, इनके रक्षण में हमारा जीवन अधिकाधिक उत्तम बनता है।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

गौवें व इडा से यशस्वी बनना

रण्वः सन्दृष्टौ पितुमाँइव क्षयो भद्रा रुद्राणां मरुतामुपस्तुतिः।
गोभिः ष्याम यशसो जनेष्वा सदा देवास इळया सचेमहि ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र में पितृरूपेण वर्णित प्रभु संदृष्टौ रण्वः=संदर्शन में रमणीय हैं, अर्थात् योगमार्ग से चलता हुआ भक्त जब प्रभु का दर्शन करता है तो प्रभु को रमणीय ही रमणीय पाता है। प्रभु इस प्रकार रमणीय हैं इव=जैसे कि पितुमान् क्षयः=अन्न से परिपूर्ण घर रमणीय प्रतीत होता है। जिस घर में अन्नाभाव रूप दरिद्रता का निवास नहीं होता वह सुन्दर ही सुन्दर लगता है। प्रभु भी सुन्दर हैं, घर की सुन्दरता भौतिक दृष्टिकोण से भी तो प्रभु का सौन्दर्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लिये हुए है। और वस्तुतः प्रभु ही भक्त के लिये अन्नपूर्ण निवास-स्थान के समान

हैं। प्रभु भक्त को खान-पान की कमी नहीं रहती, इन नित्याभियुक्त व्यक्तियों के योगक्षेम को वे प्रभु चलाते ही हैं। (२) इन प्रभु भक्तों के जीवन में **रुद्राणाम्**-रोगों का द्रावण करनेवाले (रुत्-रोग द्रु-भगाना) **महताम्**-प्राणों का **उपस्तुतिः**-स्तवन **भद्रा**-कल्याणकर होता है। ये प्राणसाधना में चलते हैं। प्राणायाम करते हुए अपने शरीर को मलों से रहित करके नीरोग बनाते हैं। (२) इस प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य करने में सशक्त होती हैं। इन **गोभिः**-ज्ञान प्राप्ति में समर्थ इन्द्रियों से हम **जनेषु**-लोगों में **यशसः स्याम**-यशस्वी हों। और **देवासः**-हे देवो! हम **सदा**-हमेशा **इडया**-वेदवाणी से **आ सचेमहि**-सब प्रकार से संगत हों। हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष होने से दीप्त हों और इन ज्ञान की वाणियों को खूब ग्रहण करनेवाली हों। इन प्रशस्त इन्द्रियों के कारण और ज्ञान के कारण हमारा सर्वत्र यश हो।

भावार्थ—प्रभु के संदर्शन में आनन्द ही आनन्द है। प्राणसाधना हमारा कल्याण करती है। इसी से हमारी इन्द्रियाँ प्रशस्त होती हैं और ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बुद्धि व ज्ञानगिरायें (ज्ञान-वाणियाँ)

यां मे धियं मरुत इन्द्र देवा अददात वरुण मित्र यूयम्।
तां पीपयत पयसेव धेनुं कुविद्गिरो अधि रथे वहाथ॥ १२॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! **इन्द्र**-परमात्मन्! **देवाः**-विद्वान् आचार्यो! **वरुण**-निर्द्वेषता की देवते! तथा **मित्र**-स्नेह की देवते! **यूयम्**-आप सबने **यां धियम्**-जिस बुद्धि को **मे**-मेरे लिये **अददात**-दिया है, **ताम्**-उस बुद्धि को **पीपयत**-खूब बढ़ाओ उसी प्रकार बढ़ाओ, **इव**-जिस प्रकार **धेनुम्**-गौ को **पयसा**-दूध से आप्यायित करते हो। प्राणसाधना से तो बुद्धि सूक्ष्म होती ही है (मरुतः) प्रभु का स्मरण बुद्धि को शुद्ध रखता है (इन्द्र) ज्ञानी आचार्यों का सम्पर्क ज्ञान बढ़ाने के लिये आवश्यक ही है (देवाः)। ज्ञानवृद्धि के लिये राग-द्वेष से ऊपर उठना भी जरूरी है (मित्र वरुण), इसीलिए वेद में विद्यार्थी के लिये कहते हैं कि 'प्रणीतिरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह'-सब सहाध्यायियों के साथ प्रेम से वर्तो। (२) इस प्रकार हमारी बुद्धि 'मरुतों, इन्द्र, देवों तथा मित्र वरुण' की कृपा से आप्यायित होती है। और बुद्धि को आप्यायित करने के द्वारा हे मरुतो! आप **गिरः**-ज्ञान की वाणियों को **रथे**-इस शरीर-रथ में **कुवित्**-खूब ही **अधिवहाथ**-धारण करते हो। बुद्धि से ही इन ज्ञान की वाणियों को हम धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—'प्राणसाधना, प्रभु-स्मरण, आचार्योपासन व राग-द्वेषातीता' से हमारी बुद्धि तीव्र होती है, तीव्र बुद्धि से हम ज्ञानवाणियों को खूब समझने व धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्राणसाधना व यज्ञियवृत्ति

कुविदङ्ग प्रति यथा चिदस्य नः सजात्यस्य मरुतो बुबोधथ।
नाभा यत्र प्रथमं संनसामहे तत्र जामित्वमदितिर्दधातु नः॥ १३॥

(१) हे **मरुतः**-प्राणो! आप **अंग**-शीघ्र ही **कुवित्**-खूब ही **यथा**-जैसे-जैसे **चित्**-निश्चय से **नः**-हमारे **अस्य**-इस **सजात्यस्य**-बन्धुत्व का **प्रतिबुबोधथ**-प्रतिदिन बोध करते हो, हमारे बन्धुत्व को अपने साथ समझते हो, तो यह बन्धुत्व ऐसा होता है कि **यत्र**-जिसमें **प्रथमम्**-सबसे पहले तो हम **नाभा**-(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञ में **संनसामहे**-संगत होते हैं। जितनी-

जितनी हम प्राणसाधना करते हैं उतनी-उतनी हमारी वृत्ति यज्ञ की ओर झुकती है। प्राणों के साथ हमारा सजात्य व बन्धुत्व यही है कि हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं और प्राणों के बल को बढ़ाते हैं। यह प्रवृद्ध प्राणशक्तिवाला पुरुष यज्ञों में प्रवृत्त होता है। (२) **तत्र**-वहाँ, उन यज्ञों में **अदितिः**-(अ+दिति) स्वास्थ्य का अखण्डन **नः**-हमारे **जामित्वम्**-बन्धुत्व को **दधातु**-धारण करे। हम स्वस्थ बने रहें और यज्ञात्मक कर्मों के करने में समर्थ रहें। वस्तुतः प्राणसाधना से जहाँ हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है, वहाँ हमारा स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और हम उन यज्ञों के करने के योग्य बने रहते हैं।

भावार्थ—हम प्राणों के साथ अपना बन्धुत्व स्थापित करें, इस बन्धुत्व का परिणाम यह होगा कि हमारी वृत्ति यज्ञिय बनेगी और हम दीर्घायुष्य को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

द्यावापृथिवी

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः।

उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरू रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः ॥ १४ ॥

(१) शरीर में मस्तिष्क 'द्युलोक' है तथा यह स्थूल शरीर 'पृथिवी' है। **ते**-वे **द्यावापृथिवी**-मस्तिष्क व शरीर **हि**-निश्चय से **मातरा**-हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं। मस्तिष्क 'ज्ञान' के द्वारा तथा शरीर 'शक्ति' के द्वारा हमारी जीवनयात्रा को पूर्ण करनेवाले हैं। अतएव **मही**-ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मस्तिष्क का महत्त्व है, तो 'शरीर का महत्त्व उससे कम हो' ऐसी बात नहीं है। ये दोनों **देवी**-हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करनेवाले हैं। (२) ये **यज्ञिये**-याज्ञिक प्रवृत्ति के लिये हेतुभूत द्यावापृथिवी **देवान्**-देववृत्ति के पुरुषों को **जन्मना**-विकास के हेतु से **इतः**-प्राप्त होते हैं। ज्ञान व शक्ति मिलकर हमारे में यज्ञ के भाव को जन्म देते हैं। इन यज्ञों से हमारा विकास होता है। (३) **उभे**-ये दोनों द्यावापृथिवी **भरीमभिः**-भरण-पोषणों के द्वारा **उभयम्**-हमारे जीवनों में अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का **बिभृतः**-पोषण करते हैं। **च**-और ये द्यावापृथिवी **पितृभिः**-माता, पिता व आचार्य रूप पिताओं के द्वारा **रेतांसि**-शक्तियों का **पुरु**-खूब ही **सिञ्चतः**-अपने में सेचन करते हैं। माता चरित्र निर्माण के द्वारा, पिता शिष्टाचार के द्वारा, आचार्य ज्ञान के द्वारा हमारे जीवनों में विविध बलों का संचार करते हैं। चरित्र का बल, शिष्टाचार का बल व ज्ञान का बल हमें क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक का विजय करने में समर्थ करते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर दोनों मिलकर जीवन को सुन्दर बनाते हैं। दोनों शरीर में विविध शक्तियों का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सा होत्रा (वह वेदवाणी)

वि षा होत्रा विश्वमश्नोति वार्यं बृहस्पतिरमतिः पनीयसी।

ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहदवीवशन्त मतिभिर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

(१) **सा**-वह **होत्रा**-सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दी जानेवाली वेदवाणी **विश्वम्**-सब **वार्यम्**-वरणीय, चाहने योग्य, जीवन के लिये उपयोगी ज्ञान को **वि अश्नोति**-विशेषरूप से व्याप्त करती है। यह वाणी सब सत्य विद्याओं का कोश है। यह **बृहस्पतिः**-बृद्धियोंकी रक्षिका

है, इस वेदवाणी के द्वारा हमारी सब प्रकार की उन्नति का सम्भव होता है। **अ-रमतिः**-इसका अवसान व अन्त नहीं, अनन्त ज्ञान से यह परिपूर्ण है। जितना-जितना इसे हम पढ़ेंगे उतना-उतना हमें अपना ज्ञान बढ़ता हुआ प्रतीत होगा तथा कोई ऐसी जीवन की समस्या न होगी जिसका कि इसमें हमें हल न मिले। **पनीयसी**-यह अत्यन्त उत्तम व्यवहार की साधिका तथा स्तुति को प्राप्त करानेवाली है। 'केवल प्रभु-स्तवन का ही इसके द्वारा साधन हो' ऐसी बात नहीं है। प्रभु-स्तवन के साथ यह हमारे इस संसार के व्यवहार को भी सुन्दर बनाती है। इस प्रकार अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का साधन करती हुई यह हमारे जीवन को धर्मयुक्त करती है। (२) यह वेदवाणी वह है **यत्र**-जिसमें वह **बृहद् ग्रावा**-महान् गुरु **उच्यते**-प्रतिपादित होता है जो कि **मधुषुत्**-मधु को ही जन्म देनेवाला है। 'स पूर्वेषामपि गुरुः' प्रभु गुरुओं के भी गुरु हैं एवं महान् हैं। प्रभु जो भी उपदेश देते हैं, मधुरता से देते हैं। वे दण्ड देते हुए ज्ञान नहीं देते। हृदयस्थ होकर निरन्तर प्रेरणा के रूप में यह ज्ञान दिया जाता है। यह ज्ञान हमें माधुर्य का ही पाठ पढ़ाता है, हमारे जीवन को भी मधुर बनाता है। (३) **मनीषिणः**-बुद्धिमान् लोग **मतिभिः**-मनन के द्वारा **अवीवशन्त**-इस ज्ञान की निरन्तर कामना करते हैं। इस ज्ञान में ही अन्ततः उन्हें प्रभु-दर्शन होता है। इस प्रकृति से बने संसार का जितना-जितना ये बुद्धिमान् पुरुष विचार करते हैं उतना-उतना वे प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं, एक-एक पदार्थ में उन्हें प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

भावार्थ—वेदवाणी सब सत्य-विद्याओं का प्रतिपादन करती है, अन्ततः इसका प्रतिपाद्य विषय वे प्रभु होते हैं जिन्हें कि मनीषी लोग मनन के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिव्यता का विकास

एवा कविस्तुवीरवाँ ऋतज्ञा द्रविणस्युर्द्रविणसश्चकानः।

उक्थेभिरत्र मतिभिश्च विप्रोऽपीपयद्गयो दिव्यानि जन्म॥ १६॥

(१) **एवा**-गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से **गयः**-प्राणों का रक्षक (गयाः प्राणाः) प्राणसाधना करनेवाला 'गय' **कविः**-क्रान्तप्रज्ञ बनता है, सृष्टि के पदार्थों के तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है। **तुवीरवान्**-(तुवि+ईर+वान्) हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को खूब ही सुनता है, बहुत प्रेरणावाला होता है। **ऋतज्ञाः**-ऋत को जाननेवाला, यज्ञों (ऋत=यज्ञ) को समझनेवाला अथवा बड़े नियमित कार्यक्रमवाला होता है। **द्रविणस्युः**-संसार-यात्रा के साधक द्रविणों को चाहनेवाला और उन द्रविणों के उत्तम उपयोग के द्वारा वह **द्रविणसः चकानः**-उन द्रविणों को दीप्त करनेवाला होता है (कन् दीप्तौ)। इन धनों से उसकी शोभा बढ़ती ही है। प्रभु-स्मरण के कारण व प्रभु-प्रेरणा को सुनने के कारण इन धनों से यह वासनामय जगत् में नहीं पहुँच जाता, वैषयिक वृत्ति का न बनकर इनको वह जीवनयात्रा को पूर्त्ति का साधन मात्र ही जानता है। (२) इस प्रकार **अत्र**-इस जीवन में **गयः**-यह प्राणसाधक पुरुष **उक्थेभिः**-प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **च**-और **मतिभिः**-मननों के द्वारा प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखने के द्वारा **विप्रः**-अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बनता है और **दिव्यानि जन्म**-दिव्य प्रादुर्भावों व विकासों का **अपीपयत्**-वर्धन करता है। अपने अन्दर दिव्यता का अधिकाधिक विकास करनेवाला होता है। प्रभु का स्तवन व मनन करता हुआ यह बहुत कुछ प्रभु जैसा ही बनता जाता है। प्रभु जैसा बनना ही तो जीवन का लक्ष्य है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन व मनन के द्वारा हम अपने जीवनों में दिव्यता का विकास करें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ईशानासः

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन ॥ १७ ॥

१०.६३.१७ पर यह मन्त्र द्रष्टव्य है।

यह सूक्त 'प्रभु–स्मरण से हम सुखी, नीरोग व सुरक्षित जीवनवाले होंगे। इन शब्दों से प्रारम्भ होता है, (१) और इस प्रभु–स्मरण से हमारे जीवनों में दिव्यता का विकास होगा इन शब्दों के साथ समाप्त होता है, (१६) अपने में दिव्यता का विकास करनेवाला व्यक्ति जीवन को सब वसुओं से, निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों से व्याप्त करता है और 'वसुकर्ण' बनता है। यह वसुकर्ण वासुक्र प्रार्थना करता है कि—

[६५] पञ्चषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अग्नि आदि देवों का ओज

अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः ॥ १ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र 'विश्वे देवाः' देवता का है। अग्नि आदि देवों का उल्लेख करके वसुकर्ण अग्रिम मन्त्र में प्रार्थना करता है कि 'अन्तरिक्षं महि आपप्रुः ओजसा'–ये सब देव मेरे प्रभु–पूजन के भाव से पूर्ण हृदयान्तरिक्ष को अपने–अपने ओज से आपूरित कर दें। **अग्निः**=अग्निदेव मेरे हृदय को प्रकाश से पूर्ण करे। अग्नि प्रकाश का प्रतीक है। **इन्द्रः**=इन्द्रदेव मेरे हृदय को बल से भर दे। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' सब बल के कर्मों का सम्बन्ध इन्द्र देवता से है। **वरुणः**=वरुण, द्वेष का निवारण करनेवाला हो, तो **मित्रः**=मित्र मेरे हृदय को सब के प्रति स्नेह की भावना से भरनेवाला हो। **अर्यमा**='अरीन् यच्छति' अर्यमा कामादि शत्रुओं का नियमन करनेवाला हो। **वायुः**='वा गतौ' वायु गतिशीलता के संकल्प से मेरे हृदय को भर दे, तो **पूषा**=शरीर के उचित पोषण को करनेवाला हो। इस पोषण के साथ **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ–देवता मुझे ज्ञान को देनेवाली हो। ये सब देव **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होकर मेरे हृदय को अपने–अपने ओज से भरनेवाले हों। (२) **आदित्याः**='आदानात् आदित्यः' आदित्य मुझे सब स्थानों से उत्तमता से ग्रहण का पाठ पढ़ायें। **विष्णुः**='विष् व्याप्तौ' विष्णु मेरे हृदय को व्यापक व उदार बनाये। **मरुतः**=प्राण मुझे प्राण शक्ति सम्पन्न करके सब दोषों को समाप्त करनेवाला बनायें। **बृहत् स्वः**=वृद्धि का कारणभूत प्रकाश–आत्मज्ञान का प्रकाश (परा–बृहत्, स्वः=विद्या) मेरे हृदय को उज्ज्वल करे। **सोमः**=सौम्यता-विनीतता मेरे हृदय का अलंकार हो। **रुद्रः**=रोगों का द्रावण करनेवाली देवता मेरे सब रोगों का द्रावण करे। **अ–दितिः**=स्वास्थ्य का न टूटना मेरे हृदय को उत्साहयुक्त बनाये। और अन्त में **ब्रह्मणस्पतिः**=वेदज्ञान का पति मुझे ब्रह्मज्ञानवाला बनाये।

भावार्थ—अग्नि आदि देव मेरे हृदय को अपने–अपने ओज से भर दें।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

इन्द्र व अग्नि

इन्द्राग्नी वृत्रहत्येषु सत्पती मिथो हिन्वाना तन्वाऽ समोकसा।
अन्तरिक्षं मह्या पप्रुरोजसा सोमो घृतश्रीर्महिमानमीरयन्॥ २॥

(१) **इन्द्राग्नी**-इन्द्र और अग्नि देव-शक्ति व प्रकाश के देवता **वृत्रहत्येषु**-वासनाओं के मारने पर **सत्पती**-उत्तमता के रक्षक होते हैं। शक्ति व प्रकाश मिलकर वासनाओं का नाश करते हैं। वासनाओं के नाश के परिणामस्वरूप उत्तमता का हमारे जीवन में रक्षण होता है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **मिथः**-आपस में **तन्वा**-एक दूसरे के शरीर को, शरीरस्थ बल को **हिन्वाना**-बढ़ानेवाले होते हैं। 'शक्ति' प्रकाश का वर्धन करती है, 'प्रकाश' शक्ति का। इस प्रकार ये प्रकाश और शक्ति **समोकसा**-समान गृह (=ओकस्) वाले होते हैं, अर्थात् दोनों ही, हमारे शरीरों में निवास करते हैं। (३) ये इन्द्र और अग्नि तथा पूर्व मन्त्र वर्णित सब देव **मह्या**-प्रभु-पूजन के भाव से पूर्ण **अन्तरिक्षम्**-हृदयान्तरिक्ष को **ओजसा**-ओजस् के द्वारा **आपप्रुः**-सर्वथा भर देते हैं। इस अवसर पर **घृत-श्रीः**-मलों के क्षरण व दीप्ति का आश्रय करनेवाला **सोमः**-सोम (=वीर्य) **महिमानम्**-महिमा को **ईरयन्**-उद्गत करता है। वीर्य शक्ति के रक्षण से शरीर में मलों का संचय नहीं हो पाता और शरीर को एक अद्भुत दीप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह सोम हमारे जीवन को महत्त्वपूर्ण कार्यों के करने में समर्थ करता है। वस्तुतः इस सोम के रक्षण पर ही इन्द्र और अग्नि तत्त्वों के विकास का भी आधार है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा अपने जीवन को महत्त्वपूर्ण बनायें। इन्द्र व अग्नि तत्त्वों का विकास हमारी वासनाओं का नाश करेगा।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अप्सव-अर्णव

तेषां हि मह्ना महतामनर्वणां स्तोमाँ इयर्म्यृतज्ञा ऋतावृधाम्।
ये अप्सवमर्णवं चित्रराधसस्ते नो रासन्तां महये सुमित्र्याः॥ ३॥

(१) **ऋतज्ञाः**-ऋत को जाननेवाला, ऋत, अर्थात् यज्ञ व नियमितता को अपने जीवन में अनूदित करनेवाला मैं **हि**-निश्चय से **तेषाम्**-उन देवों के **स्तोमान्**-स्तुतियों को **इयर्मि**-प्राप्त होता हूँ, उन देवों का स्तवन करता हूँ जो देव **मह्ना**-अपनी महिमा से **महताम्**-महान् हैं, **अनर्वणाम्**-हिंसा से रहित हैं और **ऋतावृधाम्**-ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। देवों की यहां तीन विशेषताओं का उल्लेख है—(क) सर्वप्रथम वे महान् होते हैं, उनमें तुच्छता व अनुदारता नहीं होती, (ख) वे कभी किसी की हिंसा नहीं करते, उनके कर्म लोकहित के दृष्टिकोण से होते हैं और (ग) ये अपने अन्दर ऋत का वर्धन करते हैं, इनके सब कार्य बड़े नियमित व व्यवस्थित होते हैं। मैं भी इन देवों का स्तवन करता हुआ ऐसा ही बनने का प्रयत्न करता हूँ। (२) **ये**-जो देव **चित्रराधसः**-अद्भुत ऐश्वर्यवाले हैं **ते**-वे **सुमित्र्याः**-उत्तम मित्र के कर्मोंवाले देव **महये**-महत्त्व को प्राप्त कराने के लिये **नः**-हमें **अप्सवम्**-उत्तम रूपवाले शरीर को (अप्स-रूप, व-वाला) तथा **अर्णवम्**-ज्ञानजलवाले मस्तिष्क को **रासन्ताम्**-प्राप्त करायें, हमारे लिये वे तेजस्वी रूपवाले स्वस्थ शरीर को तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्क को प्राप्त करायें।

भावार्थ—देवों का सम्पर्क हमें भी देव बनायेगा। हम महान्, अहिंसक व नियमित जीवनवाले

होंगे। हमें तेजस्वी शरीर व दीप्त मस्तिष्क प्राप्त होगा।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

देवों के लक्षण

स्वर्णरमन्तरिक्षाणि रोचना द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा।
पृक्षाइव महयन्तः सुरातयो देवाः स्तवन्ते मनुषाय सूरयः॥ ४॥

(१) **देवाः**=देव **ओजसा**=ओज के हेतु से **स्वर्णरम्**=(स्व-स्व कर्मणि नेतारं सा०) प्रकाश के द्वारा सबको अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करनेवाले आदित्य को, **अन्तरिक्षाणि**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले रोचना=दीप्त नक्षत्रों को **द्यावाभूमी**=द्युलोक और पृथिवीलोक को तथा **पृथिवीम्**=अन्तरिक्षलोक को **स्कम्भुः**=धारण करते हैं। आदित्य को धारण करना 'ब्रह्मज्ञान के सूर्य' को धारण करना है। नक्षत्रों के धारण करने का भाव 'विज्ञान के नक्षत्रों' को धारण करना है। द्युलोक 'मस्तिष्क' है, भूमि यह 'शरीर' है और पृथिवी शब्द अन्तरिक्षवाची होता हुआ हृदयान्तरिक्ष की सूचना देता है। देव लोग इन तीनों का धारण करते हैं, इन्हें क्रमशः 'दीप्त, दृढ़ व पवित्र' बनाते हैं। (२) **पृक्षाः**=(पृच्=to give gramt bountifully) **इव**=उदार पुरुषों के समान **महयन्तः**=(to behonowred) आदर को प्राप्त होते हुए **सुरातयः**=उत्तम दानोंवाले **देवाः**=देव **स्तवन्ते**=सब से स्तुति किये जाते हैं और **मनुषाय**=विचारशील पुरुष के लिये **सूरयः**=उत्तम ज्ञान को प्रेरित करनेवाले होते हैं। देवों की प्रथम विशेषता यह है कि वे उदार होते हैं, उदार होने के कारण ही वे आदृत होते हैं। ये देव जहाँ उत्तम धनों को देनेवाले हैं, वहाँ विचारशील पुरुष के लिये सदा ज्ञान की प्रेरणा को भी प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—देव ज्ञान-विज्ञान को धारण करते हुए मस्तिष्क, शरीर व हृदय को उत्तम बनाते हैं। ये उदारता के कारण आदृत होते हैं और धनों व ज्ञान की प्रेरणा को देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मित्र और वरुण

मित्राय शिक्ष वरुणाय दाशुषे या सम्राजा मनसा न प्रयुच्छतः।
ययोर्धाम धर्मणा रोचते बृहद्ययोरुभे रोदसी नाधसी वृतौ॥ ५॥

(१) हे जीव! तू **मित्राय**=मित्र देवता के लिये, अर्थात् स्नेह की भावना के लिये और **वरुणाय**=द्वेष के निवारण के लिये **शिक्ष**=समर्थ होने की इच्छा कर (शक्+सन्)। तू प्रयत्न कर कि सब के प्रति तेरी स्नेह की भावना हो और किसी से भी तू द्वेष को न करे। (२) ये मित्र और वरुण वे हैं **या**=जो **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये, अपने को मित्र और वरुण के प्रति दे डालनेवाले के लिये **सम्राजा**=उत्तम दीप्ति को देनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के कारण जीवन दीप्तिमय बनता ही है। ये मित्र और वरुण अपने आराधक के हित करने के कार्य में **मनसा न प्रयुच्छतः**=मन से भी प्रमाद नहीं करते, क्रिया से प्रमाद करने का तो प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। अप्रमाद से ये अपने आराधक का कल्याण करते हैं। (३) ये मित्र और वरुण वे हैं **ययोः**=जिनका **धाम**=तेज **धर्मणा**=धारक शक्ति से **बृहत् रोचते**=खूब ही चमकता है। मित्र और वरुण हमारा धारण करते हैं और इनके विपरीत कटुता और क्रोध हमारी शक्तियों का नाश करते हैं। द्वेष से मनुष्य अन्दर ही अन्दर जल जाता है। (४) ये मित्र और वरुण वे हैं **ययोः**=जिनके **उभेरोदसी**= दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर **नाधसी**=ऐश्वर्य-सम्पन्न **वृतौ**=(वर्तमाने भवतः

सा०) होते हैं मित्र और वरुण के आराधन से मस्तिष्क ज्ञान-सम्पन्न होता है और शरीर शक्ति-सम्पन्न होता है। ईर्ष्या, द्वेष व क्रोध ज्ञान और शक्ति दोनों का ही क्षय करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन को दीप्त बनाते हैं, हमारे जीवन का धारण करते हैं और हमारे मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न व शरीर को शक्ति-सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वेदवाणी

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ ६ ॥

(१) **या**=जो **गौः**=वेदवाणी **निष्कृतम्**=संस्कृत **वर्तनिम्**=मार्ग का **पर्येति**=लक्ष्य करके चलती है, अर्थात् यह वेदवाणी हमारे लिये उस मार्ग का उपदेश करती है जो मार्ग बड़ा परिष्कृत होता है। यह वेदवाणी **पयः दुहाना**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करती है और **अवारतः**=बिना विघ्नों के या रुकावट के **व्रतनीः**=यह हमें व्रतों की ओर ले चलती है। वस्तुतः ज्ञान कर्मों में पवित्रता को लाता है और हमारे कर्म 'व्रत व नियम' का रूप धारण कर लेते हैं। (२) **सा**=वह वेदवाणी **वरुणाय**=द्वेष-निवारण के लिये **प्रब्रुवाणा**=उपदेश देती हुई **देवेभ्यः दाशुषे**=देवों के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये और **हविषा विवस्वते**=हवि के द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाले के लिये **दाशत्**=सब आवश्यक सम्पत्तियों को प्राप्त कराती है। देवों के प्रति अपने को देने का अभिप्राय यह है कि पाँचवें वर्ष तक 'मातृ देवो भव' के अनुसार वह माता के प्रति अपने को देनेवाला बने। इसी प्रकार आठवें वर्ष तक 'पितृ देवो भव' पिता के प्रति अपना अर्पण करे और पच्चीसवें वर्ष तक 'आचार्य देवो भव' आचार्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाला हो। इसके बाद ५० व ५१ वर्ष तक 'अतिथि देवो भव' विद्वान् अतिथि ही हमारे देव हों, हम उनके प्रति अर्पण करें। इसके बाद त्यागपूर्वक प्रभु का उपासन करते हुए प्रभु को ही हम अपना आराध्य देव बनायें। ऐसा होने पर यह वेदवाणी हमें सब आवश्यक चीजों को प्राप्त करानेवाली होती है।

भावार्थ—वेदवाणी हमारे मार्ग को परिष्कृत करती है, ज्ञानदुग्ध को देती है, हमारे जीवनों को सतत व्रतमय बनाती है। जीवन के लिये सब आवश्यक चीजों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दिव्य-जीवन

दिवक्षसो अग्निजिह्वा ऋतावृध ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते।
द्यां स्कभित्व्यप आ चक्रुरोजसा यज्ञं जनित्वी तन्वीऽनि मामृजुः ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वेदवाणी को अपनानेवाले लोग **दिवक्षसः**=ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाले होते हैं। **अग्निजिह्वाः**=अग्नि के समान प्रभावशालिनी जिह्वावाले होते हैं। इनके मुख से उच्चरित शब्द अपवित्रता व मलिनता को दग्ध करनेवाले होते हैं। **ऋतावृधः**=ये अपने जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले होते हैं। **ऋत**=यज्ञ का वर्धन तो ये करते ही हैं, साथ ही इनका जीवन बिलकुल ऋतवाला होता है, इनकी प्रत्येक क्रिया ठीक समय पर की जाती है। (२) ये देव **ऋतस्य योनिम्**=सब यज्ञों व सत्यों के उत्पत्ति-स्थान प्रभु को (ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत) **विमृशन्तः**=विचारते हुए **आसते**=आसीन होते हैं। ये प्रभु का चिन्तन करते हैं, प्रभु का चिन्तन 'ऋत के उत्पत्ति-स्थान' के रूप में करते हैं। इस प्रकार चिन्तन करते हुए ये अपने

जीवन को ऋतमय बनाने का प्रयत्न करते हैं। (३) ऋतमय जीवनवाले ये देव **द्यां स्कभित्वी**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को धारण करके, अर्थात् अपने ज्ञान को उत्तम बनाकर **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अपः आचक्रुः**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं। इनके कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं, ज्ञानपूर्वक होने से ही इनके कर्म पवित्र होते हैं। इनके कर्म यज्ञात्मक बन जाते हैं। (४) **यज्ञं जनित्वी**=यज्ञों को जन्म देकर ये **तन्वि**=शरीर में **निमामृजुः**=निश्चय से शोधन करनेवाले होते हैं। यज्ञात्मक कर्मों से इनका सारा जीवन ही पवित्र हो जाता है। इन कर्मों के होने पर शरीर में रोग नहीं आते, मन में राग-द्वेष का मैल नहीं होता और बुद्धि में कुण्ठता नहीं आ जाती। शरीर-मन-बुद्धि में पूर्ण शोधनवाले ये सचमुच देव होते हैं।

भावार्थ—देव सदा प्रकाश में निवास करते हैं, इनके शब्द प्रभावशाली होते हैं, जीवन यज्ञमय होता है। यज्ञोपदेष्टा प्रभु का ये चिन्तन करते हैं। मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करके ये शक्तिशाली कर्मों को करते हैं। यज्ञों के द्वारा जीवन को शुद्ध बनाते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

घृतवत् पयः

परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा।
द्यावापृथिवी वरुणाय सव्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वतः ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम अपने जीवन को उत्तम बनाते हैं तो **द्यावापृथिवी**=अर्थात् सम्पूर्ण जगत् हमारे लिये **आप्यायन**=वृद्धि का कारण बनता है। ये **परिक्षिता**=चारों ओर सबको निवास देनेवाले **पितरा**=द्युलोकरूप पिता तथा पृथिवीरूप माता **पूर्वजावरी**=सब से प्रथम होनेवाले (=इनके हो जाने पर ही सब वनस्पतियों व प्राणियों के उत्पादन का सम्भव होता है) **समोकसा**=समान निवास स्थानवाले (=दोनों का निवास प्रभु में है) **ऋतस्य योना**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान उस प्रभु में **क्षयतः**=निवास करते हैं। द्यावापृथिवी को भी आधार देनेवाले वे प्रभु हैं। प्रभु दोनों का ही समानरूप से निवास-स्थान हैं। ब्रह्माण्ड को जन्म देते समय प्रथम इन्हीं का निर्माण होता है (पूर्वजावरी)। द्युलोक वृष्टि के द्वारा पृथिवी में अन्नादि की उत्पत्ति का कारण है और इस प्रकार द्युलोक पिता है तो पृथिवी माता है। (२) ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **सव्रते**=समान व्रतवाले हैं। देखने में इनके कर्म अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके कर्म एक दूसरे के लिये पूरक होकर जीव के हित का साधन करनेवाले हैं। इस प्रकार जीवहित रूप समान व्रतवाले होते हुए ये **वरुणाय**=द्वेष का निवारण करनेवाले और अतएव श्रेष्ठ जीवनवाले के लिये तथा **महिषाय**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पूजन करनेवाले के लिये **घृतवत् पयः**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाले आप्यायन को, वृद्धि को **पिन्वतः**=प्राप्त कराते हैं। घृतवाले पय से उसे सिक्त कर देते हैं। सब प्रकार के ओषधि वनस्पति उसे इस प्रकार का रस प्राप्त कराते हैं और पशु उसे दूध प्राप्त कराते हैं कि उसके शरीर में मलों का संचय न होकर मल-क्षरण का कार्य ठीक से होता रहता है और इस प्रकार जहाँ उसका शरीर स्वस्थ बनता है वहाँ उसका मस्तिष्क भी ज्ञानदीप्त बना रहता है।

भावार्थ—वरुण व महिष के लिये, द्वेष से ऊपर उठे हुए प्रभु के पुजारी के लिये द्युलोक व पृथिवीलोक शरीर व मस्तिष्क के स्वास्थ्य को प्राप्त कराते हैं। इसका शरीर निर्मल बनता है, मस्तिष्क दीप्त होता है।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

त्रिलोकी के देव

पर्जन्यावाता वृषभा पुरीषिणेन्द्रवायू वरुणो मित्रो अर्यमा।
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये ॥ ९ ॥

(१) हम **देवान्**-देवों को **हवामहे**-पुकारते हैं, जो देव **आदित्यान्**-उत्तमता का आदान करनेवाले हैं, ये-जो **पार्थिवासः**-पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं, **दिव्यासः**-द्युलोक के साथ सम्बद्ध हैं और ये-जो **अप्सु**-अन्तरिक्ष में हैं। पृथिवीलोक 'शरीर' है, द्युलोक 'मस्तिष्क' है और अन्तरिक्षलोक 'हृदय' है। शरीर, मस्तिष्क व हृदय सम्बन्धी सब दिव्यगुणों की हम कामना करते हैं। साथ ही **अदितिम्**-अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य की हम प्रार्थना करते हैं। स्वास्थ्य आधार बनता है, देव उसमें आधेय होते हैं। (२) **पर्जन्यावाता**-पर्जन्य (=बादल) तथा वात को पुकारते हैं, ये पर्जन्य और वात **वृषभा**-सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। बादल वृष्टि के द्वारा तृप्ति को पैदा करता है, वायु जीवन को देनेवाली है। हम इनको पुकारते हैं, हम भी पर्जन्य की तरह अन्नादि का उत्पादन करते हुए दूसरों की तृप्ति को पैदा करनेवाले हों। वायु की तरह जीवन के देनेवाले हों। (३) **इन्द्रवायू**-इन्द्र और वायु को पुकारते हैं, जो **पुरीषिणा**-पालन व पूरण करनेवाले हैं। इन्द्र 'शक्ति' का प्रतीक है और वायु 'गति' का (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य, वा गतौ)। शक्ति और गति हमारा पालन व पूरण करनेवाले हों। शक्ति और गति शरीर व मन दोनों को स्वस्थ रखते हैं। (४) **वरुणा**-द्वेष निवारण की देवता, **मित्रः**-स्नेह की देवता तथा **अर्यमा** (=अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन, इन तीनों को हम पुकारते हैं। हमारा जीवन किसी व्यक्ति के प्रति द्वेषवाला न हो, हम सब के साथ स्नेह करनेवाले हों और काम-क्रोध आदि को पूर्णरूप से वश में करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारा जीवन दिव्यभावनाओं से परिपूर्ण हो। स्वस्थ शरीर इन दिव्य भावनाओं का आधार बने।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

त्वष्टा व बृहस्पति की प्राप्ति

त्वष्टारं वायुमृभवो य ओहते दैव्या होतारा उषसं स्वस्तये।
बृहस्पतिं वृत्रखादं सुमेधसमिन्द्रियं सोमं धनसा उ ईमहे ॥ १० ॥

(१) **धनसाः**-उचित धनों का संभजन करनेवाले हम उ-निश्चय से **सोमम्**-सोम से **त्वष्टारं वायुम्**-उस निर्माता गतिशील प्रभु को **ईमहे**-याचना करते हैं। शरीर में सोम (=वीर्य) के रक्षण के द्वारा हम सृष्टि निर्माता गतिशील प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रभु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम भी निर्माता बनें, उस निर्माण के लिये गतिशील हों। (२) **ऋभवः**-ऋत से दीप्त होनेवाले हम अपने सब कार्यों को नियमितता से करनेवाले हम उस सोम से प्रार्थना करते हैं **यः**-जो **स्वस्तये**-हमारे कल्याण के लिये **दैव्या होतारा**-दैव्य होताओं, अर्थात् जीवनयज्ञ के चलानेवाले प्राणापानों को तथा **उषसम्**-उषा को **ओहते**-प्राप्त कराता है। सोम के रक्षण से प्राणापान की शक्ति तो बढ़ती ही है, इससे हमारे जीवन में उषा का उदय होता है। उषा घोर अन्धकार का नाश करती हुई आती है, उसी प्रकार सोमरक्षण से हमारी बुद्धि का विकास होकर अज्ञानान्धकार का नाश होता है। एवं सोमरक्षण 'शक्ति व ज्ञान' दोनों का वर्धन करता है।

(३) हम इस सोम से **बृहस्पतिम्**-सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के पति **वृत्रखादम्**-वासना रूप वृत्र को नष्ट करनेवाले **सुमेधसम्**-(शोभना मेधा यस्मात्) उत्तम मेधा को देनेवाले प्रभु को माँगते हैं। वीर्यरक्षण हमें उस ज्ञान के पति प्रभु का दर्शन कराता है, परिणामत: हमारी वासनाएँ नष्ट होती हैं और हमें मेधा की प्राप्ति होती है। (४) मेधा के साथ **इन्द्रियम्**-इन्द्रिय शक्ति को हम माँगते हैं। सोमरक्षण से ही तो सब इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। 'इन्द्रियं वीर्यं बलम्' ये सब शब्द समानार्थक हैं। सोमरक्षण से सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में समर्थ बनी रहती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम निर्माता प्रभु की ओर झुकते हैं, प्राणापान की शक्ति को बढ़ाकर अज्ञानान्धकार को दूर कर पाते हैं, ज्ञानी प्रभु से मेधा को प्राप्त करते हैं और सब इन्द्रिय शक्तियों को स्थिर रखते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ब्रह्म गाम् अश्वम्

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन्पृथिवीं पर्वताँ अपः।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि॥ ११ ॥

(१) **ब्रह्म**=ज्ञान को या प्रभु के स्तोत्रों को **जनयन्तः**=अपने में विकसित करते हुए तथा **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों का तथा **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **जनयन्त**=विकसित करते हुए श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। श्रेष्ठता के मार्ग का पहला कदम यह है कि हम ज्ञान का वर्धन करें और ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की शक्ति का विकास करें। (२) इसके लिये आवश्यक है कि हमारा अन्न भी सात्त्विक हो। सो दूसरा कदम यह है कि ये **ओषधीः वनस्पतीन्**=ओषधियों और वनस्पतियों को **पृथिवीं रोहयन्तः**=इस शरीर में आरूढ़ करनेवाले होते हैं। अर्थात् सदा वानस्पतिक भोजन को ही अपनाते हैं। फलपाकान्त गेहूँ इत्यादि ओषधियाँ कहलाती हैं, तद्भिन्न आम, अनार आदि सब वनस्पति हैं। वानस्पतिक भोजन से बुद्धि शुद्ध रहती है और हमारे में ब्रह्म का विकास समुचित रूप में होता है। (३) इस सात्त्विक भोजन से उत्पन्न **अपः**=रेत:कणों को (आप: रेतो भूत्वा०) **पर्वतान् रोहयन्तः**=ये पर्वत पर आरूढ़ करते हैं। शरीर में मेरुदण्ड (=रीढ़ की हड्डी) ही मेरुपर्वत है। इसके मूल से वीर्य कणों की ऊर्ध्वगति होकर जब ये वीर्यकण इस पर्वत के शिखर पर पहुँचते हैं तो ये ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। इस प्रकार ज्ञानाग्नि चमक उठती है। (४) और ये श्रेष्ठ पुरुष **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यं रोहयन्तः**=ज्ञानरूप सूर्य का आरोहण करते हैं। ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय को इनकी बुद्धि समझने लगती है। इस ज्ञान के द्वारा ये **सुदानवः**=(दाप् लवने) बुराई का पूरी तरह खण्डन करनेवाले बनते हैं। ज्ञान पवित्रता का संचार तो करता ही है। (५) स्वयं पवित्र बनकर ये लोग **अधिक्षमि**=इस पृथ्वी पर **आर्याव्रता**=श्रेष्ठ कर्मों का **विसृजन्तः**=प्रसारित करनेवाले होते हैं। इनके आचरण को देखकर अन्य लोग भी उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और इस प्रकार इस पृथ्वी पर शुभ का विस्तार होता है।

भावार्थ—हम अपने में ज्ञान का विकास करें, उसके लिये सात्त्विक अन्न को खायें और शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। इससे हमारे मस्तिष्करूप गगन में ज्ञान-सूर्य का उदय होगा और हम श्रेष्ठ कर्मों का प्रसार करनेवाले होंगे।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चार कदम

भुज्युमंहसः पिपृथो निरश्विना श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्।
कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं विष्णाप्वं१ विश्वकायाव सृजथः ॥ १२ ॥

(१) मनुष्य भोग-प्रवण होने पर 'भुज्यु' कहलाता है, भुज्-भोगों को यु=अपने साथ जोड़नेवाला। प्राणसाधना करने पर यह भोगवृत्ति दूर हो जाती है और मनुष्य विषय-वासनाओं के समुद्र में डूबने से बच जाता है। हे **अश्विना**=प्राणपानो! आप **भुज्युम्**=भोग-प्रवण व्यक्ति को **अंहसः**=पापों से **निःपिपृथः**=पार कर देते हो, पाप समुद्र में डूबने नहीं देते। (२) **वध्रिमत्या**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि का बन्धन व संयम करनेवाली (वध्री-रस्सी) गृहिणी के लिये आप **श्यावं पुत्रम्**=गतिशील सन्तान को **अजिन्वतम्**=देते हो। माता के संयम का पुत्रों के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। माता संयमवाली होती है, तो सन्तान भी संयम के द्वारा शक्ति व गतिवाली बनती है। (३) **युवम्**=आप दोनों **विमदाय**=मदशून्य विनीत व्यक्ति के लिये **कमद्युवम्**=कमनीयता व सौन्दर्य को द्योतित करनेवाली वेदवाणी को **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हैं। वेदवाणी विमद की पत्नी बनती है और उसके जीवन को सौन्दर्य से परिपूर्ण कर देती है। (४) **विश्वकाय**=(विश्वस्य अनुकम्पकाय) सब पर अनुकम्पा करनेवाले इस विश्वक के लिये आप **विष्णाप्वम्**=व्यापक कर्म को **अवसृजथः**=उत्पन्न करते हो। स्वार्थवृत्ति से होनेवाला कर्म संकुचित होता है, स्वार्थ से जितना-जितना हम ऊपर उठते जाते हैं उतना-उतना हमारे कर्म व्यापकता को लिये हुए होते हैं। यही विश्वक के लिये विष्णाप्व की प्राप्ति है। विष्णाप्व विश्वक का पुत्र है, (पुनाति त्रायते) उसके जीवन को पवित्र बनानेवाला तथा उसका त्राण करनेवाला है।

भावार्थ—(क) प्राणसाधना से हम भोगवृत्ति से ऊपर उठते हैं, (ख) संयमी जीवन के होने पर हमारी सन्तानें उत्तम होती हैं, (ग) ये वि-मद सन्तानें वेदवाणी के द्वारा अपने जीवन को सौन्दर्य से द्योतित करती हैं और (घ) सब पर अनुकम्पावाली होकर ये व्यापक हित के कर्मों को करनेवाली बनती हैं।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में पहले चरण का परिणाम दूसरा चरण है, दूसरे का तीसरा तथा तीसरे का चौथा। एवं यह क्रम मन्त्र को बड़ा ही सुन्दर बना देता है।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पावीरवी तन्यतु

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
विश्वे देवासः शृणवन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या ॥ १३ ॥

(१) **पावीरवी तन्यतुः**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाली मेघगर्जना के समान हृदयस्थ प्रभु की वाणी (त्रिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्) **मे वचांसि शृणवत्**=मेरी पुकार को सुने, अर्थात् मैं प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ, यह प्रेरणा मेरे जीवन को पवित्र करनेवाली है। (२) **एक-पाद् अजः**=(एक=मुख्य, पद गतौ) मुख्य गति देनेवाला (frime mover) गति के द्वारा मलों को सुदूर फेंकनेवाला प्रभु मेरी पुकार को सुने। मेरे शरीररूप रथ को प्रभु ही गति देनेवाले हों और गति के द्वारा मेरे सब मलों का क्षय करनेवाले हो। (३) **दिवः**=प्रकाश का **धर्ता**=धारण करनेवाला **सिन्धुः**=ज्ञान का समुद्र आचार्य मेरी पुकार को सुने। इन आचार्यों के सम्पर्क में मेरी

प्रवृत्ति भी ज्ञान की ओर हो। इस ज्ञान समुद्र आचार्य के समीप रहने पर **समुद्रियः आपः**-इस ज्ञान-समुद्र आचार्य के ज्ञान-जल मेरी पुकार को सुनें। ये मुझे प्राप्त हों और मेरे जीवन को शुद्ध करनेवाले हों। (३) **विश्वे देवासः**-सब देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **मे वचांसि शृणवन्**-मेरी प्रार्थना वाणी को सुनें। मुझे भी ये अपने समान ये देव बनाने की कृपा करें। (४) **धीभिः**-कर्मों के तथा **पुरन्ध्या**-पालक बुद्धि के **सह**-साथ **सरस्वती**-ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता मेरी पुकार को सुने। मैं सरस्वती की आराधना से उत्तम कर्मोंवाला तथा खूब प्रज्ञानवाला होकर अपना हितसाधन कर सकूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु की प्रेरणा को सुनूँ, सरस्वती का आराधक बनूँ।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों के लक्षण

विश्वे देवाः सह धीभिः पुरन्ध्या मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।

रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः स्वर्गिरो ब्रह्म सूक्तं जुषेरत ॥ १४ ॥

(१) **विश्वे देवा**-सब देव **धीभिः**-उत्तम कर्मों तथा **पुरन्ध्या**-पालक बुद्धि के **सह**-साथ **स्वः**-प्रकाश का **गिरः**-ज्ञान की वाणियों का **ब्रह्म**-प्रभु का **सूक्तम्**-मधुर शब्दों का **जुषेरत**-सेवन करें। देव लोग सदा उत्तम कर्मों को करते हैं, उस बुद्धि का सम्पादन करते हैं जो कि सबका पालन करनेवाली होती है। इनको ये चार वस्तुएँ प्रिय होती हैं—प्रकाश, ज्ञान की वाणियों का अध्ययन, प्रभु का उपासन, मधुर शब्दों का ही उच्चारण। (२) ये देव **मनोः यजत्राः**-ज्ञान का अपने साथ संगतिकरण करनेवाले और ज्ञान-सम्पर्क द्वारा अपना त्राण करनेवाले होते हैं। ज्ञान प्राप्ति के कारण ही **अमृताः**-विषयों के पीछे मरनेवाले नहीं होते। इन सांसारिक विषयों में आसक्ति से ये सदा ऊपर होते हैं। **ऋत-ज्ञाः**-ऋत के जाननेवाले, अर्थात् प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले होते हैं। **रातिषाचः**-दान का सेवन करनेवाले होते हैं, दान की वृत्तिवाले होते हैं। **अभिषाचः**-दोनों ओर का सेवन करनेवाले, अर्थात् अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। इहलोक व परलोक को मिलाकर चलते हैं। **स्वर्विदः**-अपने जीवन के व्यवहार से औरों को प्रकाश के प्राप्त करानेवाले होते हैं। इनका जीवन औरों के लिये मार्गदर्शक बनता है।

भावार्थ—देवों को 'प्रकाश-ज्ञान की वाणियाँ, प्रभु का उपासन व मधुर भाषण' प्रिय होता है।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुब् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देव-वन्दन

देवान्वसिष्ठो अमृतान्ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः।

ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १५ ॥

(१) **वसिष्ठः**-अपने निवास को उत्तम बनानेवाला मैं **देवान् ववन्दे**-देवों का वन्दन करता हूँ, उनको आदर देता हूँ। उन देवों को जो **अ-मृतान्**-विषयों के पीछे मरते नहीं, जो संसार के प्रति आसक्त नहीं। **ये**-जो **विश्वा भुवना अभि**-सब लोगों की ओर **प्रतस्थुः**-जाते हैं। दुःखितों के दुःख को दूर करने के लिये स्वयं उनके समीप पहुँचते हैं, 'सर्वभूतहिते रत' बनते हैं। (२) **ते**-वे देव **नः**-हमें **अद्य**-आज **उरुगायम्**-जिसका खूब ही गायन किया जाता है उस प्रभु को **रासन्ताम्**-दें। ये देव हमें प्रभु का ज्ञान देनेवाले हों और उस प्रभु के उपासन की वृत्ति को भी

प्राप्त करायें। हे देवो! यूयम्-आप नः-हमें स्वस्तिभिः-उत्तम स्थिति के द्वारा सदा पात-सदा रक्षित करो। देवों की कृपा से हमारा जीवन मंगलमय हो।

भावार्थ—देवताओं का आदर करते हुए हम प्रभु का उपासन करनेवाले बनें और उन्हीं की तरह मंगल-मार्ग पर चलते हुए अपने कल्याण को सिद्ध कर सकें।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा था कि 'अग्नि आदि देव हमारे हृदयों को अपने ओज से भर दें'। (१) समाप्ति पर कहते हैं कि इनकी कृपा से हम प्रभु के उपासक बनें और मंगल मार्ग का आक्रमण करें, (१५) इन्हीं विश्वेदेवों से ही प्रार्थना है कि—

[६६] षट्षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

(धनी परन्तु प्रभुभक्त) देवों के लक्षण

देवान्हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः।
ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः ॥ १ ॥

(१) मैं स्वस्तये-जीवन में उत्तम स्थिति के लिये देवान्-देवों को हुवे-पुकारता हूँ, इन देवों के सान्निध्य से मेरा भी जीवन उन जैसा ही बनता है और मैं कल्याण को प्राप्त करनेवाला होता हूँ। देवों के सम्पर्क में देव ही बन जाता हूँ। किन देवों को? (क) बृहत् श्रवसः-खूब उत्कृष्ट ज्ञानवाले देवों को। इनके प्रति प्रणिपात-परि प्रश्न व सेवन से मैं भी उत्कृष्ट ज्ञानवाला क्यों न बनूँगा? (ख) ज्योतिष्कृतः-ज्ञान की ज्योति को चारों ओर फैलानेवालों को। ऐसे ही देवों से मैं ज्ञान-ज्योति को प्राप्त कर सकूँगा। (ग) अध्वरस्य प्रचेतसः-यज्ञों को खूब अच्छी प्रकार समझनेवालों को। इन से यज्ञों को समझकर मैं भी निर्दोष यज्ञों को करनेवाला बनूँगा। जिस समय मेरे यज्ञ में सेरों घृत की आहुतियाँ पड़ रही होती हैं, उस समय उस यज्ञभूमि के समीप ही एक व्यक्ति भूख से पीड़ित हुआ-हुआ अन्न को नहीं प्राप्त करता तो यह यज्ञ निर्दोष नहीं कहा जा सकता। (घ) ये-जो देव प्रतरम्-खूब ही वावृधुः-वृद्धि के मार्ग का आक्रमण करते हैं। इनका उपासक बन मैं भी वृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ूँगा ही। (ङ) विश्ववेदसः-जो सम्पूर्ण धनोंवाले हैं, परन्तु साथ ही इन्द्रज्येष्ठासः-जिनके जीवन में प्रभु की प्रधानता है। धनवाले होते हुए भी जो धन को ही प्रथम स्थान नहीं दे देते। अमृताः-इन धनों के लिये मरनेवाले नहीं है, इनका जीवन केवल धन के लिये ही नहीं हो जाता। ये ऋतावृधः-अपने जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले होते हैं। धनों का विनियोग यज्ञों में करते हैं। इस प्रकार के देवों को पुकारता हुआ मैं भी धनी-प्रभु-भक्त, विषयों में अनासक्त व यज्ञशील बनता हूँ।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में मैं भी दिव्य जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

इन्द्रप्रसूत-वरुणप्रशिष्ट

इन्द्रप्रसूता वरुणप्रशिष्टा ये सूर्यस्य ज्योतिषो भागमानशुः।
मरुद्गणे वृजने मन्म धीमहि माघोने यज्ञं जनयन्त सूरयः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के ही प्रकरण में कहते हैं कि मैं उन देवों को पुकारता हूँ जो देव इन्द्रप्रसूताः-परमात्मा से प्रेरणा को प्राप्त करते हैं। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' इन्द्र के सब कार्य शक्तिशाली होते हैं, ये देव इस शक्ति के पुञ्ज इन्द्र से शक्ति की ही प्रेरणा को लेते हैं।

वरुणप्रशिष्टाः-वरुण से ये शासित होते हैं। 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है, वरुण से शासित होकर ये निर्द्वेषता के मार्ग से गति करते हैं। (२) शक्ति और निर्द्वेषता को धारण करते हुए **ये**-जो देव **सूर्यस्य**-सूर्य की **ज्योतिषः**-ज्योति के **भागम्**-अंश को **आनशुः**-प्राप्त करते हैं। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'-ब्रह्म सूर्यसम ज्योति है। ये देव उसके एक अंश को प्राप्त करनेवाले होते हैं। ब्रह्म के समान सर्वज्ञ होने का तो सम्भव नहीं होता। परन्तु उसकी ज्योति के एक अंश को तो ये प्राप्त करते ही हैं, इस प्रकार उसी के छोटे रूप (=अंश) बन जाते हैं। (३) हम भी इस प्रकार बनने के लिये **वृजने**-शत्रुओं का छेदन करनेवाले **मरुद्गणे**-प्राणसमूह में **मन्म**-स्तोत्र को **धीमहि**-धारण करते हैं। प्राणों का स्तवन यही है कि हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना करनेवाले बनें। इस साधना से ही हमारे वासना रूप शत्रुओं का छेदन होगा। इस प्रकार **सूरयः**-ज्ञानी लोग **माघोने**-उस 'मघवान्'-ऐश्वर्यों के पुञ्ज (मघ=ऐश्वर्य) अथवा यज्ञमय (मघ=यज्ञ=मख) उस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **यज्ञं जनयन्त**-अपने जीवन में यज्ञों का विकास करते हैं। वासना के विनाश के होने पर ही यज्ञों का विकास होता है और तभी प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शक्ति व निर्द्वेषता का धारण करनेवाले व्यक्ति ही प्रभु के ज्ञान के अंश को प्राप्त करते हैं। प्राणसाधना से वासना का विनाश करके, यज्ञों का विकास करते हुए ये प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

इन्द्र-अदिति-रुद्र-त्वष्टा

इन्द्रो वसुभिः परि पातु नो गयमादित्यैर्नो अदितिः शर्म यच्छतु।
रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृळयाति नस्त्वष्टा नो ग्नाभिः सुवितायं जिन्वतु॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**-सर्वशक्तिमान्, सब शक्ति के कार्यों को करनेवाला प्रभु **वसुभिः**-निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के द्वारा **नः**-हमारे **गयम्**-शरीर गृह को **परिपातु**-रक्षित करे। हमें निवास के लिये सब आवश्यक तत्त्व प्राप्त रहें जिससे इस शरीर रूप घर में किसी प्रकार की कमी न आ जाये। (२) **अदितिः**-अदीना देवमाता **आदित्यैः**-सब देवों के साथ **नः**-हमारे लिये **शर्म**-सुख को **यच्छतु**-दे। हमारे जीवन में अदीनता हो और अदीनता के साथ सब दिव्यगुणों का निवास हो। वस्तुतः यही सुखमयी स्थिति है। (३) **रुद्रः**-(रोरूयमाणो द्रवति) गर्जना करता हुआ, वेदज्ञान का उपदेश देता हुआ (तिस्रो वाच उदीरते हरिरिति कनिक्रदत्) हमारी वासनाओं पर आक्रमण करता है इसलिए प्रभु 'रुद्र' कहलाते हैं। ये **रुद्र देवः**-प्रभु **रुद्रेभिः**-प्राणों के द्वारा **नः मृडयाति**-हमें सुखी करते हैं। 'प्राणों पर टकराकर वासनाएँ चकनाचूर हो जाती हैं' सो प्राण भी रुद्र कहलाते हैं। (४) इन वासनाओं के नष्ट हो जाने पर **त्वष्टा**-वे ज्ञान से दीप्त प्रभु **ग्नाभिः**-इन छन्दोरूप वेदवाणियों के द्वारा **नः**-हमें **सुविताय**-उत्तम मार्ग पर गति के लिये **जिन्वतु**-प्रेरित करें। हम वासना-विनाश के द्वारा प्रभु के प्रकाश को देखें और सदा उस प्रकाश में सन्मार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—इन्द्र की कृपा से हमारा शरीर-गृह सुरक्षित हो, अदिति हमारा कल्याण करे, प्राणसाधना से हमारा जीवन सुखी हो, दीप्त प्रभु के प्रकाश में हम सुवित के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वसु-रुद्र-आदित्य

अदि॑ति॒र्द्यावा॑पृथि॒वी ऋ॒तं म॒हदिन्द्रा॒विष्णू॑ म॒रुतः॒ स्व॑र्बृ॒हत्।
दे॒वाँ आ॑दि॒त्याँ अव॑से हवामहे॒ वसू॑न्रु॒द्रान्त्स॑वि॒तारं॑ सु॒दंस॑सम्॥ ४॥

(१) **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता है (दो अवखण्डने से दिति, न+दिति), **द्यावापृथिवी**=ज्ञान से देदीप्यमान मस्तिष्करूप द्युलोक तथा दृढ़ शरीर रूप पृथिवीलोक, **ऋतं महत्**=महनीय ऋत, प्रत्येक कार्य का ठीक समय पर होना, अर्थात् जीवन की व्यवस्था जो अत्यन्त प्रशंसनीय है, **इन्द्राविष्णू**=शक्तिशाली कर्मों का प्रतीक 'इन्द्र' है तो व्यापक कर्मों का 'विष्णु'। **मरुतः**=प्राण तथा **बृहत् स्वः**=वृद्धि का कारणभूत प्रकाश। ये सब देव तो मेरे लिये सुख को करनेवाले हों ही। (२) हम **अवसे**=रक्षण के लिये **वसून्**=प्रकृति ज्ञान में निपुण वसु नामक विद्वानों को, **रुद्रान्**=जीव की प्राणविद्या को समझनेवाले रुद्रों को, **आदित्यान् देवान्**=प्रकृति, जीव परमात्म-ज्ञान में निपुण आदित्यों को, इन सब देवों को **हवामहे**=पुकारते हैं। इनके सम्पर्क में आकर प्रकृति, जीव व परमात्मा को समझते हुए हम शारीरिक, मानस व अध्यात्म उन्नति को करनेवाले होते हैं। (३) हम **सुदंससम्**=उत्तम कर्मोंवाले **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक व सकल जीव-प्रेरक प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। प्रभु का अनुकरण करते हुए हम भी उत्तम कर्मोंवाले बनते हैं।

भावार्थ—वसुओं, रुद्रों व आदित्यों के सम्पर्क में आकर, अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए हम प्रभु के अधिक समीप आ जाते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

त्रिवरूथ शर्म

सर॑स्वान्धी॒भिर्वरु॑णो धृ॒तव्र॑तः पू॒षा विष्णु॑र्महि॒मा वा॒युर॒श्विना॑।
ब्र॒ह्म॒कृतो॑ अ॒मृता॑ वि॒श्ववे॑दसः॒ शर्म॑ नो यंसन्त्रि॒वरू॑थ॒मंह॑सः॥ ५॥

(१) **धीभिः**=उत्तम बुद्धियों के साथ **सरस्वान्**=ज्ञान का अधिष्ठतृदेव-प्रभु, **धृतव्रतः**=सब उत्तम कर्मों का धारण करनेवाला **वरुणः**=निर्द्वेषता का अधिष्टातृदेव-प्रभु, **पूषा**=पोषण की देवता अथवा सब प्राणशक्तियों के संचार से पोषण करनेवाला सूर्य, **विष्णुः**=व्यापकता का अधिष्ठातृदेव-प्रभु, **महिमा**=(मह पूजायाम्) पूजा की भावना, **वायुः**=गति, **अश्विना**=प्राणापान ये सब **नः**=हमारे लिये **शर्म**=सुख को **यंसन्**=दें। (२) **ब्रह्मकृतः**=ज्ञान को औरों में उत्पन्न करनेवाले अथवा स्तोत्रों को करनेवाले, उपासना की वृत्तिवाले **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनों व ज्ञानोंवाले देव **नः**=हमारे लिये **अंहसः**=पाप से **त्रिवरूथम्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि तीनों को रक्षित करनेवाले **शर्म**=शरण को **यंसन्**=दें। हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी सुरक्षित हों, ये पापाक्रान्त न हो पायें।

भावार्थ—ज्ञानियों का सम्पर्क हमें पापों से बचाये। हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि अथवा काम-क्रोध व लोभ से अभिभूत न हो जाएँ।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

यज्ञ व प्रभु-स्तवन

वृषा॑ य॒ज्ञो वृष॑णः सन्तु य॒ज्ञिया॒ वृष॑णो दे॒वा वृष॑णो ह॒विष्कृतः॑।
वृष॑णा॒ द्यावा॑पृथि॒वी ऋ॒ताव॑री॒ वृषा॑ प॒र्जन्यो॒ वृष॑णो वृष॒स्तुभः॑ ॥ ६ ॥

(१) **यज्ञः**-यज्ञ **वृषा**-सुखों का वर्षण करनेवाला है। यज्ञ से इस लोक व परलोक दोनों में कल्याण होता है। इस यज्ञ को करनेवाले **यज्ञियाः**-यज्ञशील पुरुष **वृषणः**-शक्तिशाली **सन्तु**-हों। यज्ञ के अन्दर 'देव-पूजा'-बड़ों का आदर 'संगतिकरण' मिल करके चलना-परस्पर प्रेम से वर्तना तथा 'दान'-देने की वृत्तिवाला होना ये तीन भाव निहित हैं। **देवाः**-'देवो दानाद्वा' ये देने की वृत्तिवाले पुरुष **वृषणः**-शक्तिशाली होते हैं, दान की वृत्ति इन्हें भोगवृत्तिवाला नहीं बनने देती और इस प्रकार इनकी शक्ति स्थिर रहती है। **हविष्कृतः**-ये हवि को करनेवाले, दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले व्यक्ति **वृषणः**-शक्तिशाली होते हैं। 'यज्ञिय, देव व हविष्कृत्' तीनों शब्दों में यज्ञ की भावना ओत-प्रोत है। यज्ञ इन्हें शक्तिशाली बनाता है। (२) **ऋतावरी**-ऋत का अवन व रक्षण करनेवाले, ऋत के अनुसार गतिवाले **द्यावापृथिवी**-द्युलोक व पृथिवीलोक **वृषणा**-सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **पर्जन्यः**-अन्तरिक्षलोक में होनेवाला यह बादल **वृषा**-सुखों का वर्षण करनेवाला है। **वृषस्तुभः**-सब सुखों का वर्षण करनेवाले शक्तिशाली प्रभु के स्तोता **वृषणः**-शक्तिशाली बनते हैं। प्रभु का स्तवन करनेवाले के लिये द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष में होनेवाला पर्जन्य ये सभी सुखों का वर्षण करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों का जीवन शक्ति-सम्पन्न बनता है। प्रभु-स्तवन से संसार के सब पदार्थ सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अग्नि व सोम का समन्वय

अ॒ग्नीषोमा॒ वृष॑णा॒ वाज॑सातये पुरुप्रश॒स्ता वृष॑णा॒ उप॑ ब्रुवे।
यावी॑जि॒रे वृष॑णो देवय॒ज्यया॒ ता नः॒ शर्म॑ त्रि॒वरू॑थं॒ वि यं॑सतः ॥ ७ ॥

(१) 'अग्नि' तेजस्विता का प्रतीक है और 'सोम' शान्ति का। इन दोनों का समन्वय 'अग्नीषोमा' इस समस्त शब्द से सूचित हो रहा है। केवल 'तेजस्विता' उग्रता में परिवर्तित हो जाती है और अकेला 'सोम' कायरता का आभास देता है। इन दोनों का समन्वय ही ठीक है। **अग्नीषोमा**-ये अग्नि और सोम तत्त्व **वृषणा**-सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वाजसातये**-ये शक्ति की प्राप्ति के लिये होते हैं। **पुरुप्रशस्ता**-सम्मिलित हुए-हुए ये अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। **वृषणा**-शक्ति के वर्धन करनेवाले इन दोनों तत्त्वों को **उपब्रुवे**-मैं पुकारता हूँ। अपने जीवन में इन दोनों के समन्वय के लिये प्रार्थना करता हूँ। (२) **वृषणः**-शक्तिशाली पुरुष **देवयज्यया**-देवयज्ञ के द्वारा, बड़ों के उपासन के द्वारा तथा अग्निहोत्र आदि के द्वारा **यौ**-जिन अग्नि और सोम का **ईजिरे**-यजन करते हैं, **ता**-वे अग्नि और सोम **नः**-हमारे लिये **त्रिवरूथम्**-इन्द्रियों, मन व बुद्धि तीनों को आच्छादित करनेवाला **शर्म**-रक्षण (protection or अथवा shelter) **वि यंसतः**-विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं। अग्नि व सोम के समन्वय के होने पर इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब ठीक बने रहते हैं।

भावार्थ—हम अग्नि और सोम तत्त्वों के समन्वय से अपने जीवन को प्रशस्त बनायें और 'त्रिवरूथ शर्म' को प्राप्त करें।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रशस्त जीवन

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये॥ ८॥

(१) प्रशस्त जीवनवाले व्यक्ति **धृतव्रताः**=व्रतों को धारण करनेवाले होते हैं। बिना व्रतों के जीवन कभी उत्तम बन ही नहीं सकता। व्रत जीवन में नियम को ले आते हैं। **क्षत्रियाः**=ये क्षतों से अपना त्राण करनेवाले होते हैं। व्रतमय जीवन का यह स्वाभाविक परिणाम है कि शरीर में रोगों का आक्रमण नहीं होता और मन वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है। (२) ये स्वस्थ व वासनाओं से ऊपर उठे हुए मनुष्य **यज्ञनिष्कृतः**=यज्ञों का निश्चय से सम्पादन करनेवाले होते हैं और **बृहद्दिवाः**=बड़े प्रकाशमय तेजस्वी जीवनवाले बनते हैं। (३) **अध्वराणाम्**=हिंसा शून्य कर्मों का **अभिश्रियः**=सेवन करते हुए ये इहलोक व परलोक दोनों की (अभि) श्रीवाले होते हैं। इन यज्ञात्मक कर्मों के परिणामरूप इनके दोनों लोक कल्याणमय बनते हैं। **अग्निहोतारः**=अग्नि का ये आह्वान करते हैं, उस अग्रेणी प्रभु का सदा आराधन करते हैं। इस प्रकार ये प्रभु का स्मरण करते हैं और अध्वरमय जीवन बिताते हैं। उन अध्वरों को प्रभु से होता हुआ पाते हैं। (४) **ऋतसापः**=प्रभु स्मरण करनेवाले ये ऋत को अपने साथ समवेत करते हैं, 'ऋतं वदिष्यामि' इस निश्चयवाले होते हैं। सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं और **अद्रुहः**=किसी का द्रोह नहीं करते। (५) द्रोह आदि अशुभ वृत्तियाँ वासनाओं के कारण ही जागरित होती हैं। इन **वृत्रतूर्ये**=वासनाओं के संहार के निमित्त (वृत्र=वासना, तुर्वी हिंसायाम्) ये लोग **ननु**=निश्चय से **अपः**=कर्मों को **असृजन्**=नियमित रूप से करनेवाले होते हैं। कर्मों में लगे रहने से ये वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं।

भावार्थ—प्रशस्त जीवन व्रती जीवन होता है, कर्ममय होता हुआ यह वासनाओं से अनाक्रान्त रहता है।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

देवताओं का संयमी जीवन

द्यावापृथिवी जनयन्नभि व्रताप ओषधीर्वनिनानि यज्ञिया।
अन्तरिक्षं स्व१रा पपुरूतये वशं देवासस्तन्वी३ नि मामृजुः॥ ९॥

(१) **देवासः**=देव वृत्ति के पुरुष **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को तथा शरीर रूप पृथिवीलोक को **जनयन्**=विकसित करते हैं। शरीर को दृढ़ बनाते हैं तथा मस्तिष्क को ज्योतिर्मय। (२) इस द्यावापृथिवी का **अभि**=लक्ष्य करके, अर्थात् दृढ़ शरीर व ज्योतिर्मय मस्तिष्क को बनाने का विचार करते हुए ही ये **व्रता**=अपने जीवन में व्रतों को **आ पप्रुः**=आपूरित करते हैं, इनका जीवन व्रतमय होता है। जीवन को व्रतमय रखने के लिये ही ये **आपः ओषधीः**=जलों व ओषधियों को तथा **यज्ञिया वनिनानि**=यज्ञ के योग्य पवित्र वनस्पतियों को ही अपने में आपूरित करते हैं। यज्ञ के अन्दर कभी अपवित्र पदार्थों को नहीं डाला जाता। इसी प्रकार ये भोजन को भी एक यज्ञ का ही रूप दे देते हैं और सात्त्विक ही पदार्थों का सेवन करते हैं। पीने के लिये शुद्ध जल और खाने के लिये वानस्पतिक पदार्थ। इन पदार्थों को ही अपने आपूरित करते हुए ये सात्त्विक जीवनवाले बनते हैं। (३) इस सात्त्विकता को स्थिर रखने के लिये ही **अन्तरिक्षम्**=

(अन्तरिक्षि) सदा मध्यमार्ग को ये अपनाते हैं। इस मध्यमार्ग पर आक्रमण करने से ये स्वः-प्रकाश व सुख को अपने में आ पूरित करनेवाले होते हैं। (४) ऊतये-सब प्रकार से अपने रक्षण के लिये ये देव वशम्-(power, controe, mestsship, subjection) जितेन्द्रियता को, इन्द्रिय-संयम को अपने में आपूरित करते हैं। इस वश के अनुपात में ही वस्तुतः 'द्यावापृथिवी' का विकास हुआ करता है। (५) इस प्रकार जीवन को बनाते हुए देवासः-ये देव तन्वि-स्व शरीर में निमामृजुः-नितरां शोधन करते हैं। जीवन की शुद्धता ही देवत्व है, जीवन की मलिनता ही आसुरी संपद् है।

भावार्थ—देव शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को दीप्त बनाते हैं। ये व्रती व वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करनेवाले होते हैं। मध्य-मार्ग पर चलते हुए प्रकाशमय जीवनवाले होते हैं। संयमी व शुद्ध जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान-सत्य-कर्म

धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः।
आप ओषधीः प्रतिरन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो यन्तु मे हवम्॥ १०॥

(१) दिवः धर्तारः-ज्ञान के धारण करनेवाले, मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनानेवाले, ऋभवः (ऋतेन भान्ति)-सत्य से हृदयों को सुशोभित करनेवाले तथा सुहस्ताः-हाथों से सदा कुशलतापूर्वक उत्तम कर्मों को करनेवाले व्यक्ति मे-मेरे लिये महिषस्य तन्यतोः-महनीय गर्जना के अथवा उस-उस महनीय प्रभु की गर्जना के वातापर्जन्या-वायु व बादल हों। वायु उन बादलों को हमारे तक प्राप्त कराती है जो बादल कि गर्जना करनेवाले होते हैं। इसी प्रकार प्रभु गर्जना करते हैं ('तिस्रो वाच उदीरते हरिरिति कनिक्रदत्') और ये लोग उस गर्जना को सुन सकने के लिये प्रभु को हमारे समीप प्राप्त कराते हैं। ये स्वयं प्रभु की गर्जना को सुनते हैं और हमें सुनने के योग्य बनाते हैं। प्रभु की गर्जना के 'तिस्रो वाचः' तीन ही शब्द हैं—'ज्ञान, कर्म व उपासना'। ये इन तीनों को अपने में धारण किये हुए हैं, 'दिवो धर्तारः'=ज्ञान, 'ऋभवः'=सत्य के द्वारा प्रभु का उपासन, 'सुहस्ताः'=कर्म। (२) आपः ओषधीः-जल व ओषधियाँ नः-हमारे लिये गिरः-इन ज्ञानवाणियों को प्रतिरन्तु-बढ़ानेवाले हों। अर्थात् सात्त्विक खान-पान के कारण हमारी बुद्धि भी सात्त्विक हो और हम उन ज्ञानवाणियों को समझने के योग्य हों। (२) ऐसा होने पर भगः-ऐश्वर्य की देवता मे हवम्-मेरी पुकार के प्रति यन्तु-आयें, अर्थात् मैं ऐश्वर्यशालीन बनूँ। रातिः-दान मेरी पुकार के प्रति आये। मैं उस धन का दान करनेवाला बनूँ। वाजिनः-शक्तिशाली देवता 'अग्नि, वायु वा सूर्य' (तै० ब्रा० १।६।३) मेरी पुकार के प्रति आयें। मैं अग्नि के समान सब मलों का दग्ध करनेवाला, वायु के समान सतत क्रियाशील व सूर्य के समान प्रकाश को फैलानेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्ण मस्तिष्कवाले, सत्य से निर्मल मनवाले व हाथों से कुशलता से कर्मों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

देव-सूरि

समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात्तनयित्नुरर्णवः।
अहिर्बुध्न्यः शृणवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम॥ ११॥

(१) समुद्रः=समुद्र मे वचांसि शृणवत्=मेरे वचनों को सुनें। इस समुद्र की तरह मैं भी ज्ञान का समुद्र बनूँ। (२) सिन्धुः=निरन्तर जल-प्रवाहवाली नदी (स्यन्दते) मेरे वचनों को सुने। इस नदी के प्रवाह की तरह ही मेरा कर्म-प्रवाह सतत चलता रहे। (२) रजः अन्तरिक्षम्=यह चन्द्र की ज्योत्स्ना से रञ्जन करनेवाला अन्तरिक्ष मेरे वचनों को सुने। एक ओर सन्तापवाले सूर्य से युक्त द्युलोक है, दूसरी ओर दाहक अग्निवाला पृथिवीलोक। इनके मध्य में शीतल ज्योत्स्ना से युक्त चन्द्रवाला अन्तरिक्ष लोक है। मैं भी सदा मध्य में चलनेवाला बनूँ, अति को छोड़कर यह मध्य-मार्ग को अपनाना मुझे भी चन्द्र की शीतल ज्योत्स्ना को प्राप्त करायेगा और यही मेरे जीवन को आनन्दित करेगा। (३) अज एक पात्=वह गति के द्वारा सब मलों का क्षेपण करनेवाला मुख्य (एक) गति देनेवाला (पद्) प्रभु मेरे वचन को सुने। मैं भी गति के द्वारा मलों को अपने से दूर फेंकूँ। गतिशीलता मेरे जीवन को निर्मल बनाये। अर्णवः=जल से युक्त तनयित्नुः=गर्जनेवाला मेघ मेरे वचन को सुने। मैं भी ज्ञानजल से उसी प्रकार औरों को शान्ति देनेवाला बनूँ जैसे कि मेघ सन्ताप को हरता है। अहिर्बुध्न्यः=अहिंसित मूलवाला अथवा अहीन मूलवाला देव मेरी प्रार्थना को सुने। मैं भी अहीन मूलवाला बनूँ। मेरे जीवन का आधार 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों पर हो। किसी एक की भी कमी मुझे हीन मूलवाला बना देगी। मूल में कमी होने पर उन्नति का भवन भी सुस्थिर न होगा। (४) इस प्रकार का जीवन बना सकने के लिये विश्वेदेवासः=सब देववृत्ति के पुरुष उत=तथा सूरयः=ज्ञानी लोग मम=मेरे हों। इनका सम्पर्क मुझे भी देव व सूरि बनाये।

भावार्थ—समुद्र आदि से शिक्षा को ग्रहण करते हुए हम देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

आदित्यों-रुद्रों व वसुओं के सम्पर्क में

स्याम वो मनवो देववीतये प्राञ्चं नो यज्ञं प्र णयत साधुया।
आदित्या रुद्रा वसवः सुदानव इमा ब्रह्म शस्यमानानि जिन्वत ॥ १२ ॥

(१) हे आदित्याः=प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करनेवाले सूर्यवत् देदीप्यमान ज्ञानियो! रुद्राः=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रकृति व जीव का ज्ञान प्राप्त करके, प्रभु का नामोच्चारण करते हुए, हृदयस्थ वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले चन्द्रवत् साह्लाद मनोवृत्तिवाले पुरुषो! वसवः=प्रकृति के पूर्णज्ञान से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले वसुओ! आप सुदानवः=उत्तमता से बुराइयों का खण्डन करनेवाले हो। हम मनवः=विचारशील बनकर वः=आपके स्याम=हों। हम आपके सम्पर्क में आएँ और देववीतये=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये हों। (२) आप नः=हमारे यज्ञम्=यज्ञ को, श्रेष्ठतम कर्म को साधुया=उत्तम प्रकार से प्रणयत=प्रकर्षेण आगे ले चलनेवाले होवो। और इमा=इन शस्यमानानि=प्रशंसा किये जाते हुए ब्रह्म=स्तोत्रों को जिन्वत=हमारे में प्रीणित करो। हम उत्तम स्तोत्रों को करनेवाले बने।

भावार्थ—हम आदित्यों, रुद्रों व वसुओं के सम्पर्क में आकर विचारशील बनें, दिव्यगुणों को प्राप्त करें। हमारी वृत्ति यज्ञिय हो, हम प्रभु स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु व देवों का आराधन

दैव्या होतारा प्रथमा पुरोहित ऋतस्य पन्थामन्वेमि साधुया।
क्षेत्रस्य पतिं प्रतिवेशमीमहे विश्वान्देवाँ अमृताँ अप्रयुच्छतः ॥ १३ ॥

(१) **दैव्या होतारा**=अग्नि और आदित्य दैव्य होता हैं, ये हमें उस देव के प्राप्त करानेवाले हैं (हु=दाने)। **प्रथमा**=हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हैं। **पुरोहिता**=ये हमारे सामने आदर्श के रूप से रखे गये हैं। आदित्य की तरह हमने सब स्थानों से अच्छाई को ग्रहण करना है और अग्नि की तरह निरन्तर आगे बढ़ते चलना है (अग्निः=अग्रणीः)। (२) मैं आदित्य व अग्नि का शिष्य बनकर **साधुया**=उत्तमता से **ऋतस्य पन्थां अनुएमि**=ऋत के मार्ग का अनुसरण करता हूँ ऋत, अर्थात् यज्ञ को अपनाता हूँ और ऋत, अर्थात् प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाला बनता हूँ। (३) हम **क्षेत्रस्य पतिम्**=इस शरीर रूप क्षेत्र के स्वामी **प्रतिवेशम्**=समीप वर्तमान (पड़ोसी) उस प्रभु को **ईमहे**=प्रार्थित करते हैं और साथ ही **विश्वान् देवान्**=सब ज्ञानी पुरुषों के भी जो **अमृतान्**=विषयों के पीछे मरनेवाले नहीं तथा **अप्रयुच्छतः**=धर्म सत्य व स्वाध्यायादि में प्रमाद करनेवाले नहीं उनका आराधन करते हैं। इन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देववृत्ति का बनने का प्रयत्न करते हैं। इनसे हम दैवी सम्पत्ति की याचना करते हैं।

भावार्थ—हम आदित्य व अग्नि को अपना आदर्श बनाते हैं। प्रभु की प्रार्थना करते हैं। देवों के सम्पर्क से दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पितृवत्-ऋषिवत्

वसिष्ठासः पितृवद्वाचमक्रत देवाँ ईळाना ऋषिवत्स्वस्तये।
प्रीताइव ज्ञातयः काममेत्यास्मे देवासोऽव धूनुता वसु ॥ १४ ॥

(१) **वसिष्ठासः**=अपने निवास को अत्यन्त उत्तम बनानेवाले ज्ञानी पुरुष **पितृवत्**=पिता की तरह **वाचं अक्रत**=ज्ञान की वाणियों का उपदेश करनेवाले होते हैं। जैसे पिता पुत्र के लिये प्रेम से प्रेरणा को प्राप्त कराता है, इसी प्रकार ये वसिष्ठ हमारे लिये प्रेम से ज्ञानोपदेश को करनेवाले होते हैं। (२) **देवान् ईडाना**=देवों का स्तवन करते हुए, अर्थात् देवों से देवत्व को प्राप्त करते हुए ये **ऋषिवत्**=तत्त्वद्रष्टा की तरह ज्ञान को देते हैं जिससे **स्वस्तये**=हमारा कल्याण हो। इनका उपदेश एक पिता की तरह प्रेम से दिया जाता है और ऋषि की तरह तात्त्विकता को लिये हुए होता है। इस प्रकार प्रेम से दिया हुआ तत्त्वज्ञान का उपदेश हमारा कल्याण करता है। (२) हे **देवासः**=देवो! **प्रीताः ज्ञातयः इव**=प्रसन्न हुए-हुए बन्धुओं की तरह **कामं एत्य**=प्रसन्नतापूर्वक आकर **अस्मे**=हमारे लिये **वसु**=धन को **अवधूनुत**=प्रेरित करो। जैसे बन्धु किसी उत्सव में सम्मिलित होने पर कुछ धन स्वेच्छा से देनेवाले होते हैं, इसी प्रकार देव हमें दैवी सम्पत्ति रूप धन को देनेवाले हों।

भावार्थ—स्वयं उत्तम निवासवाले लोग प्रेम से हमें तत्त्वद्रष्टा पुरुष की भान्ति उपदेश करें। देव हमें दैवी सम्पत्ति के देनेवाले हों।

ऋषिः—वसुकर्णो वासुक्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देव-वन्दन

देवान्वसिष्ठो अमृतान्ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १५ ॥

देखो १०.६५.१५ ।

सूक्त का प्रारम्भ 'देवों के सम्पर्क में मैं भी दिव्य जीवनवाला बनूँ' इस भावना से होता है, (१) और समाप्ति पर उन्हीं देवों से दैवी सम्पत्ति की याचना है, (१४) अगले सूक्त में 'धी' की प्रार्थना है—

[६७] सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तुरीयावस्था

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥ १ ॥

(१) सूक्त का ऋषि **अयास्य**='प्राणो वा अयास्यः'=न थकनेवाला प्राणशक्ति का पुञ्ज है और वह **आंगिरस**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला है। यह प्रार्थना करता है कि—**इमां धियम्**=इस (कर्मणां धात्रीम्) कर्मों व बुद्धि का धारण करनेवाली हमारे कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाली तथा ज्ञान को बढ़ानेवाली **सप्तशीर्ष्णीम्**=गायत्री आदि सात छन्दों रूप सिरोंवाली **ऋतप्रजाताम्**=ऋत के लिये प्रादुर्भूत हुई-हुई यज्ञादि उत्तम कर्मों के प्रतिपादन के लिये उत्पन्न हुई **बृहतम्**=वृद्धि की कारणभूत इस वेदवाणी को **पिता**=हम सबके पिता प्रभु ने **नः**=हमारे लिये **अविन्दत्**=(=अवेदयत्) प्राप्त कराया। यह वेद-ज्ञान गायत्री आदि सात छन्दोरूप वाणी में बँधा है, ऋत का इसमें प्रतिपादन है, कर्मों का धारण करता हुआ और ज्ञान देता हुआ यह हमारे वर्धन का कारण बनता है। (२) इस वेदज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य **विश्वजन्यः**=सब लोगों के हित को करनेवाला होता है, 'सर्वभूतहितेरत' बनता है। **अयास्यः**=कर्म करने में थकता नहीं, अनथक श्रमवाला होता है। **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **उक्थम्**=स्तोत्रों का **शंसन्**=उच्चारण करनेवाला होता है। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनाता हुआ **स्वित्**=निश्चय से **तुरीयम्**=तुरीयावस्था को **जायत्**=अपने में विकसित करता है। यह तुरीयावस्था जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति से परे समाधिजन्य अवस्था है, इसमें यह उपासक 'वैश्वानर-तैजस व प्राज्ञ' बनकर 'शान्त-शिव-अद्वैत' स्थिति में पहुँचता है। इसमें वह सब के साथ एकत्व को अनुभव करता है। सबके साथ एक होने से ही आनन्दमय होता है।

भावार्थ—हम प्रभु से दी गई वेदवाणी को प्राप्त करें, इसके अनुसार लोकहित में प्रवृत्त हों, अनथक रूप से कार्य करें, प्रभु का स्तवन करें और समाधि की स्थिति तक पहुँचने को अपना लक्ष्य बनायें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

असुरस्य वीराः (प्रभु के पुत्र)

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र की समाप्ति पर समाधिजन्य तुरीयावस्था का संकेत है। इस स्थिति की ओर चलनेवाले लोग **ऋतं शंसन्तः**=ऋतका ही सदा शंसन करते हैं, इनके जीवन से अनृत का उच्चारण नहीं होता। **ऋजु दीध्यानाः**=ये सदा सरलता से कल्याण का ही ध्यान करनेवाले होते हैं, ये कभी किसी के अमंगल का विचार नहीं करते। **दिवः**=ज्ञान के द्वारा ये **पुत्रासः**=(पुंनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र बनाते हैं और आधि-व्याधियों के आक्रमण से अपना रक्षण करते हैं। **असुरस्य वीराः**=ये उस (असून् राति) प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु के वीर सन्तान बनते हैं, प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके सब बुराइयों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। (२) **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले ये वीर पुरुष **विप्रं पदम्**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले (वि+प्रा) सर्वोच्च स्थान को **दधानाः**=धारण करने के हेतु से **यज्ञस्य**=उस यज्ञरूप प्रभु के **प्रथमं धाम**=सर्वोत्कृष्ट तेज का **मनन्त**=मनन करते हैं। इस प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बना करके ये भी अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हैं और उन्नति को प्राप्त करते हुए 'विप्र पद' को धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ऋत का शंसन करते हुए, प्रभु के तेज का स्मरण करते हुए हम उन्नत होते चलें। शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय व क्षत्रिय से विप्र बननेवाले हों।

ऋषिः—अयास्यः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'पाषाणमय बन्धन-भेजन'

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत्॥ ३॥

(१) **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) वेदज्ञान का पति बननेवाला ज्ञानी पुरुष **अश्मन्मयानि**=पत्थरों से बने हुए अर्थात् पाषाणतुल्य दृढ़ **नहना**=बन्धनों को **व्यस्यन्**=दूर फेंकने के हेतु से **वावदद्भिः**=खूब ही प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला **हंसैः इव सखिभिः**=हंस तुल्य मित्रों के साथ **गाः**=इन वेदवाणियों का **अभिकनिक्रदत्**=प्रातः-सायं उच्चारण करता है। काम-क्रोध-लोभ रूप आसुर वृत्तियाँ क्रमशः इन्द्रियों, मन व बुद्धि में अपने दृढ़ अधिष्ठानों को बनाती हैं। ये ही असुरों की तीन पुरियाँ कहलाती हैं। बड़ी दृढ़ होने के कारण ये पुरियाँ यहाँ 'अश्मन्मयी' कही गई हैं। इनका तोड़ना सुगम नहीं। ज्ञान के प्रकाश में ही इनका विलय हुआ करता है, ज्ञानाग्नि ही इनके भस्म करने का साधन है। सो बृहस्पति अपने मित्रों के साथ इन ज्ञानवाणियों का उच्चारण करता है और ज्ञान के प्रकाश में इन असुरों की शक्ति को क्षीण करके अपने जीवन को पवित्र बनाता है। (२) यहाँ प्रसंगवश मित्रों की मुख्य विशेषता का भी संकेत हुआ है। मित्र हंसों के तुल्य होने चाहिएँ। (क) हंस शुभ का ही ग्रहण करता है, कौवे की तरह मल की रुचिवाला नहीं होता। (ख) वह जीवन में एक सरल चाल से चलता है, कौए की तरह विविध कुटिल गतियोंवाला नहीं होता। (ग) हंस निरभिमान है, कौए का घमण्ड उसमें नहीं। इस प्रकार के हंसतुल्य मित्र ही हमारे जीवनों में उपयोगी होते हैं इनका संग ही हमें उत्थान की ओर ले जाता है। (घ) यह बृहस्पति असुर-पुरियों के विध्वंस के उद्देश्य से ही **प्रास्तौत्**=प्रकर्षेण प्रभु का स्तवन करता है **उत**=और **विद्वान्**=ज्ञानी बनकर **उद्गायत् च**=प्रभु के गुणों का गायन करता है। यह प्रभु के गुणों का गायन उसे भी उन गुणों के धारण के लिये प्रेरित करता है। इन गुणों को धारण करता हुआ यह अवगुणों से दूर होता ही है। यही असुर-पुरियों का विध्वंस है।

भावार्थ—हम मित्रों के साथ ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए और प्रभु गुणगान करते हुए काम-क्रोध व लोभ को परास्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

एक-दो व तीन

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥ ४ ॥

(१) **बृहस्पतिः**=ज्ञान का पति यह विद्वान् **द्वाभ्यां अव** उ=काम-क्रोध (=(राग-द्वेष) रूप शत्रुओं से दूर होता है। ज्ञान के होने पर काम-क्रोध का नाश होता ही है। काम-क्रोध से दूर होकर **एकया**=इस अद्वितीय वेदवाणी से यह **परः**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। (२) ज्ञान प्राप्ति से पूर्व **गुहा तिष्ठन्तीः**=अज्ञानान्धकार रूप गुफा में ठहरी हुई और अतएव **अनृतस्य**=अनृत के **सेतौ**=बन्धन में पड़ी हुई **गाः**=इन्द्रियों को **उद् आकः**=अज्ञानान्धकार से बाहिर करता है। अब इसकी इन्द्रियाँ विषयों में ही नहीं फँसी रहतीं। (३) **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान की वाणी का पति बनता है। **तमसि**=इस संसार के विषयान्धकार में **ज्योतिः इच्छन्**=यह फिर आत्मप्रकाश की प्राप्ति की इच्छा करता है। इसी उद्देश्य से **उस्राः**=ज्ञान किरणों को **उद् आकः**=अपने जीवन में प्रमुख-स्थान प्राप्त कराता है। ज्ञान विरोधी किसी भी व्यवहार को यह नहीं करता। और इस प्रकार **हि**=निश्चय से **तिस्रः**=तीनों ज्योतियों को **वि आवः**=विशेषरूप से प्रकट करता है। इन तीन ज्योतियों का ही उल्लेख 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इस मन्त्रभाग में है। बाह्य जगत् में ये 'अग्नि-चन्द्र व सूर्य' हैं। शरीर में ये 'तेजस्विता (अग्नि) आह्लाद (चन्द्र) व ज्ञान (सूर्य)' के रूप में हैं। यह बृहस्पति शरीर में तेजस्वितावाला होता है, मन में सदा आह्लादमय तथा मस्तिष्क में ज्ञानरूप सूर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम काम-क्रोध से दूर हों वेदवाणी के द्वारा उत्कृष्ट जीवनवाला बनें तथा 'तेजस्विता, आह्लाद व ज्ञान' रूप ज्योतियों को अपने में जगाएँ।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उदधेः साकम् त्रीणि

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५ ॥

(१) इन्द्रियों, मन व बुद्धि में असुर अपनी नगरियाँ बना लेते हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ काम से, मन क्रोध से व बुद्धि लोभ से आक्रान्त हो जाती है। ये नगरियाँ यहाँ 'अपाची' कहलायी हैं 'अप् अञ्च्'=बाहर की ओर ले जानेवाली अथवा प्रभु से दूर ले जानेवाली। आसुर वृत्तियों के कारण हम संसार के विषयों में फँस जाते हैं और प्रभु को भूल जाते हैं। यदि हम इन्द्रियों को शान्त कर पाते हैं तो इन आसुर-पुरियों के विदारण में भी समर्थ हो जाते हैं। **शयथा**=(शी=tranguility=शान्ति)=शान्ति के द्वारा अथवा हृदय में शयन व निवास के द्वारा **अपाचीम्**=प्रभु से हमें दूर ले जाने वाली **पुरम्**=इस वासनात्मक असुर पुरी का **ईं विभिद्या**=निश्चय से विदारण करके, यह विदारण करनेवाला पुरुष **उदधेः साकम्**=(कामो हि समुद्रः) अनन्त विषयरूप जलवाले काम के साथ **त्रीणि**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को **निः अकृन्तत्**=निश्चय से काट डालता है। सामान्यतः पुरुष 'काम-क्रोध-लोभ' में ही भटकता रहता है, और प्रभु को भूल जाता है। हृदय में ध्यान करने से अथवा वृत्ति को शान्त बनाने के द्वारा हम 'काम-क्रोध-लोभ' को जीत लेते हैं और प्रभु प्रवण वृत्तिवाले बनते हैं। (२) यह **बृहस्पतिः**=शान्त वृत्तिवाला और अतएव ज्ञानी पुरुष

उषसम्-उषा को सूर्यम्-सूर्य को गाम्-गौ को अर्कम्-अर्क को विवेद-विशेष रूप से प्राप्त करता है। 'उषस्'-शब्द 'उष दाहे' धातु से बनकर दोष-दहन का प्रतीक है, 'सूर्य' 'सृ गतौ' से बनकर निरन्तर गति व क्रियाशीलता का संकेत करता है, गौ शब्द 'गमयति अर्थम्' इस व्युत्पत्ति से अर्थों का ज्ञान देनेवाली वाणी का वाचक है, 'अकर्म' शब्द 'अर्च' धातु से बनकर पूजा का प्रतिपादक है। बृहस्पति के जीवन में ये चारों चीजें बड़ी सुन्दरता से उपस्थित होती हैं। यह दोषों का दहन करनेवाला होता है, निरन्तर क्रियाशील बनता है, वेदवाणी के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाता है और प्रभु के पूजन की वृत्तिवाला होता है। (३) ऐसा बनकर यह स्तनयन् इव द्यौः-गर्जना करते हुए द्युलोक के समान होता है। द्युलोकस्थ सूर्य की तरह सर्वत्र प्रकाश को फैलाता है, परन्तु गर्जते हुए मेघों के कारण जैसे सूर्य सन्तापकारी नहीं होता उसी प्रकार यह बृहस्पति भी गर्जते हुए मेघ के समान ज्ञान जल का वर्षण करता है और लोगों के सन्ताप को हरनेवाला ही बनता है। यह ज्ञान के प्रसार को बड़े माधुर्य से करता है।

भावार्थ—असुर-पुरियों का विदारण करके हम प्रभु-प्रवण वृत्तिवाले बनें। ज्ञान प्रसार के कार्य को अहिंसा व माधुर्य के साथ करनेवाला हों।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

करेण-रवेण

इन्द्रो॑ व॒लं र॑क्षि॒तारं॒ दुघा॑नां क॒रेणे॑व॒ वि च॑कर्ता॒ रवे॑ण।
स्वेदा॑ञ्जिभिरा॒शिर॑मि॒च्छमा॑नोऽरोदयत्प॒णिमा गा अ॑मुष्णात्॥ ६ ॥

(१) 'वल' वृत्र का ही दूसरा नाम है, यह ज्ञान पर परदे के रूप में (वल=veil) आया रहता है। इस वृत्र-काम के प्रबल होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कार्य ठीक से नहीं करती। मानो यह वृत्र उन्हें चुरा ले जाता है और कहीं गुफा में छिपा रखता है। यहाँ इसी भाव को 'दुघानां रक्षितारम्' इन शब्दों से कहा गया है। ज्ञान का दोहन करनेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ 'दुघ' हैं, 'वल' उनको छिपा रखता है, सो इनका रक्षिता कहलाया है। 'इन्द्र'-जितेन्द्रिय पुरुष वल को नष्ट करके इन इन्द्रियरूप गौओं को फिर वापिस ले आता है। वल के नष्ट करने का साधन 'करेण+रवेण' है, कर्मशील बनना और प्रभु के नामों का उच्चारण करना। क्रियाशीलता के अभाव में अशुभ-वृत्तियाँ पनपती हैं और प्रभु विस्मरण से उन कर्मों का गर्व हो जाने का भय बना रहता है। अहंकार भी 'वल' का ही दूसरा रूप है यह भी ज्ञान को नष्ट करनेवाला है। इन्द्रः-एक जितेन्द्रिय पुरुष दुघानाम्-ज्ञानरूप दुग्ध का दोहन करनेवाली इन्द्रियरूप गौवें के रक्षितारम्-चुराकर कहीं गुफा में रखनेवाले वलम्-वृत्रासुर को करेण इव रवेण-जैसे हाथ से उसी प्रकार रव से विचकर्त-काट डालता है। 'कर' का भाव क्रियाशीलता है, रव का नामोच्चारण क्रियाशील बनकर प्रभु नाम-स्मरण करता हुआ यह वासना को विनष्ट करता है और इस प्रकार इन्द्रियों का रक्षण करनेवाला बनता है। (२) यह स्वेदाञ्जिभिः-(अञ्जि=आभरण) पसीने रूप आभूषणों से आशिरम्-(श्रियं-आश्रयणं) श्री को इच्छमानः-चाहता हुआ पणिम्-लोभवृत्ति को (वणिये की वृत्ति को) अरोदयत्-रुलाता है और गाः-ज्ञानेन्द्रिय रूप गौवों को अमुष्णात्-(आजहार सा०) फिर वापिस ले आता है। लोभवृत्ति में मनुष्य कम से कम श्रम से अधिक से अधिक धन को लेना चाहता है, इस लोभ से उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है इसीलिए यहाँ मन्त्र का ऋषि 'अयास्य' गहरे पसीने की कमाई को ही चाहता है, स्वेद उसका आभूषण ही बन जाता है। इस प्रकार यह लोभवृत्ति को नष्ट कर देता है, मानो उसे रुलाता है। श्रम से ही धन की कामना करता हुआ यह अपनी इन्द्रियों को स्वस्थ रखता है।

भावार्थ—वासना हमारी इन्द्रियरूप गौवों को चुरा लेती है। श्रम से ही धनार्जन की इच्छा करते हुए हम ज्ञानेन्द्रियों को स्वस्थ रखते हैं।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कैसे मित्र ?

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

(१) **स**=वह **ईम्**=सचमुच **सत्येभिः**=सत्य का पालन करनेवाले, **शुचद्भिः**=अपने मनों को पवित्र बनानेवाले, **धनसैः**=धनों का संविभाग करनेवाले, अर्थात् सारे का सारा स्वयं न खा जानेवाले **सखिभिः**=मित्रों के साथ **गोधायसम्**=हमारी इन्द्रियरूप गौओं को चुराकर कहीं अज्ञानान्धकार में छुपाकर रखनेवाले वलः वृत्र=वासनात्मक शत्रु को **वि अदर्दः**=विदीर्ण करता है। संसार में मित्रों का संग ही हमें बनाता व बिगाड़ता है। अच्छे मित्रों के साथ हम बन जाते हैं, बुरों के साथ बिगड़ जाते हैं। यहाँ हमारे मित्र 'सत्य, शुचि व धनों का संविभाग करनेवाले' हैं। इससे उत्तम मित्र हो ही क्या सकते हैं? (२) यह उत्तम मित्रों के साथ 'वल' का विदारण करनेवाला **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है और **वृषभिः**=पुण्यों से पुण्यात्मक कर्मों से **वराहैः**=(वरम् आहन्ति=गच्छति) शुभ उपायों के अवलम्बन से तथा **घर्मस्वेदेभिः**=(घृ=क्षरण) स्वेद के क्षरण से, पसीना बहाने के द्वारा, **द्रविणम्**=धन को **व्यानट्**=प्राप्त करता है। ज्ञानी बनकर यह धन को पुण्यात्मक कर्मों से शुभ उपायों से तथा खूब मेहनत से (=पसीना बहाकर ही) कमाता है।

भावार्थ—हमारे मित्र सत्यवादी, पवित्र व निःस्वार्थी हों। हम पुण्य व शुभ कामयुक्त उपायों से धनार्जन करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रियों का परस्पर रक्षण

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः।
बृहस्पतिर्मिथोअवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

(१) **ते**=वे **सत्येन मनसा**=सच्चे दिल से **गोपतिम्**=सब इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को तथा **गाः**=इन्द्रियों को **इयानासः**=प्राप्त करने के लिये जाते हुए (अभिगच्छन्तः) **धीभिः**=ज्ञानयुक्त कर्मों से **इषणयन्त**=उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। जब हमारे में किसी पदार्थ के प्राप्त करने की सच्ची कामना होती है तभी हम उसे प्राप्त कर पाया करते हैं। ज्ञानयुक्त कर्मों से हम जहाँ इन इन्द्रियों को प्राप्त करते हैं, वहाँ इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को भी प्राप्त करनेवाले होते हैं। (२) **बृहस्पतिः**=आत्मतत्त्व से मेल करानेवाली ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **उस्रियाः**=प्रकाश की किरणों को **उत्**=उत्कर्षेण **असृजत**=उत्पन्न करता है। (३) कर्मेन्द्रियाँ कर्म द्वारा ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान द्वारा कर्मों को पवित्र करती हैं। इस प्रकार ये एक दूसरे को अपवित्रता से बचाये रखती हैं। अपवित्रता से अपने को बचाकर ये आत्मा के साथ हमारा मेल करनेवाली होती हैं, इन इन्द्रियों से ही प्रकाश की किरणों की सृष्टि होती है।

भावार्थ—हमारे में प्रभु प्राप्ति व इन्द्रिय विजय की सच्ची कामना हो हम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए प्रकाशमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान+शक्ति=विजय

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ॥ ९ ॥

(१) **शिवाभिः**-कल्याणी **मतिभिः**-मतियों से हम **तम्**-उस प्रभु का **वर्धयन्तः**-वर्धन करते हुए **अनुमदेम**-उसकी अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें। हम अपनी मति को सदा शुभ बनाये रखें, वस्तुतः मति का शुभ बनाये रखना ही प्रभु का सर्वोत्तम आराधन है, संसार में किसी के अशुभ का विचार न करना। (२) उस प्रभु का हम वर्धन करें जो कि **सधस्थे**-जीवात्मा और परमात्मा के साथ-साथ ठहरने के स्थान 'हृदय' में **सिंहं इव**-शेर की तरह **नानदतम्**-गर्जन कर रहे हैं। हृदयस्थरूपेण प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं, 'कनिक्रदत'-वे गर्जना कर रहे हैं। सिंह गर्जना को सुनकर जैसे खरगोश मृग आदि पशु भाग खड़े होते हैं, इसी प्रकार प्रभु के नाम को सुनकर वासनारूप पशु भाग जाते हैं। (३) **बृहस्पतिम्**-ज्ञान के स्वामी **वृषणम्**-शक्तिशाली प्रभु को, **शूरसातौ**-शूरों से सेवनीय **भरेभरे**-प्रत्येक संग्राम में **जिष्णुम्**-जो विजय को करनेवाले हैं, उस प्रभु के **अनुमदेम**-अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें। प्रभु ज्ञानी हैं और शक्तिशाली हैं, इसी से वे विजयशील हैं। हमारे संग्रामों में भी हमें विजय प्रभु के कारण ही प्राप्त होती है। ऐसा समझने पर हमें अहंकार नहीं होता और वास्तविक हर्ष प्राप्त होता है।

भावार्थ—शुभ मति के द्वारा हम प्रभु का वर्धन करें। वे प्रभु हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। प्रभु ज्ञानी व शक्तिशाली हैं, इसीसे विजयी हैं, हम प्रभु की अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'उत्तर सप्त' का आरोहण

यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता में **यदा**-जब **विश्वरूपम्**-'तेज, वीर्य, ओजस्, बल, मन्यु व सहस्' इन सब रूपोंवाले **वाजम्**-बल को **असनत्**-प्राप्त करता है। प्रभु की अनुकूलता में होंगे तो ये सब शक्तियाँ हमें प्राप्त होंगी ही। तब वह व्यक्ति **द्यां अरुक्षत्**-प्रकाशमय लोक का आरोहण करता है, **उत्तराणि सद्म**-उत्कृष्ट गृहों का आरोहण करता है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर अन्तरिक्षलोक में पहुँचता है, अन्तरिक्षलोक से द्युलोक में। सब से निचला घर असूर्यलोक में होता है, उससे ऊपर इस मर्त्यलोक में, इससे ऊपर चन्द्रलोक, उससे भी ऊपर सूर्यलोक और सूर्यलोक से भी ऊपर ब्रह्मलोक में हम पहुँचते हैं। बस, यह 'ब्रह्मलोक' सर्वोत्कृष्ट गृह है। (२) इस समय हम **बृहस्पतिम्**-ज्ञान, **वृषणम्**-बल **वर्धयन्तः**-बढ़ाते हुये **नाना सन्तः**-अनेक प्रकार से **ज्योतिषा**-प्रकाश से **बिभ्रतः**-प्रकाशित होवें।

भावार्थ—हम उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विद्वान् पुरुषों के कर्त्तव्य

स॒त्याम॒शिषं॑ कृणुता वयो॒धै की॒रिं चि॒द्ध्य॑वथ॒ स्वेभि॒रेवैः॑ ।
प॒श्चा मृधो॒ अप॑ भवन्तु॒ विश्वा॒स्तद्रो॑दसी शृणुतं विश्वमि॒न्वे ॥ ११ ॥

हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग **वयोधैः**=दीर्घ जीवन धारण करने के लिये **सत्याम् आशिषं**=सत्य-सत्य आशीर्वाद और सत्य आशा को सफल करो और **स्वेभिः एवैः**=अपने-अपने ज्ञानों और उद्योगों से **कीरिम् चित्**=उपदेष्टा, ज्ञानप्रद वा प्रार्थी पुरुष की **अवथ**=रक्षा करो। **मृधः**=हिंसक दुःखदायी सब आपत्तियें **पश्चा**=पीछे रह जावें, **अप भवन्तु**=और हमसे पृथक् हो जावें। हे **विश्वमिन्वे**=सबको प्रसन्न एवं पुष्ट करनेवाले स्त्री-पुरुषो! हे **रोदसी**=दुष्टों के रुलानेवाले वा रोग दूर करनेवाले सेनापति तथा वैद्य लोगो! आप **शृणुतम्**=सुनो और तदनुसार कर्त्तव्य पालन करो।

भावार्थ—विज्ञजनों के आशीर्वाद से हम दुःखों से तर कर आनन्द को प्राप्त करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राजा-प्रजावर्गों का कर्त्तव्य

इन्द्रो॑ म॒ह्ना म॑ह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑ ।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात्स॒प्त सिन्धू॑न्दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥ १२ ॥

राष्ट्र में राजा और प्रजावर्ग की सम्मिलित शक्तियाँ सब प्रजाओं की रक्षा करती हैं। वह महान् राजा, हिंसक शत्रु के महान् सैन्य के शिरोनायक का नाश करता है, **अहिम्**=सन्मुख आये शत्रु पर प्रहार करता और परसैन्यों को भगा देता है। **सप्त सिन्धून्**=नदीवेग से आगे बढ़नेवाले शत्रुसैन्यों को पराजित करता है। आकाश और भूमि के समान आश्रय रूप और रक्षकरूप राजा और उसकी राज्यशासनव्यवस्था हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—राजा और प्रजा मिलकर राष्ट्र को शत्रु रहित व शक्तिशाली बनायें।

[६८] अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

हंसवत् भक्तों के कर्त्तव्य

उ॒द॒प्रुतो॒ न वयो॒ रक्ष॑माणा॒ वाव॑दतो अ॒भ्रिय॑स्येव॒ घोषाः॑ ।
गि॒रि॒भ्रजो॒ नोर्मयो॒ मद॑न्तो॒ बृह॒स्पति॑म॒भ्य१॒॑र्का अ॑नावन् ॥ १ ॥

मदन्तः=अति प्रसन्न **अर्काः**=स्तुति करनेवाले भक्त जन, **बृहस्पतिम्**=महान् ब्रह्माण्डों के पालक परमेश्वर की ऐसे **अनावन्**=उत्साहपूर्वक स्तुति करते हैं, **उद् प्रुतः**-**वयः न**=जिस प्रकार जल पर तैरनेवाले पक्षी कलकल करते हैं, जैसे खेत की रक्षा करनेवाले **रक्षमाणाः**=समय-समय पर उच्च स्वर से हाँका करते हैं, जैसे **वावदतः न**=परस्पर बातचीत करते हुए स्नेह के प्रवाह में बात करते ही रहते हैं, जैसे **अभ्रियस्य घोषाः न**=मेघ के गर्जन होते रहते हैं, जैसे **गिरिभ्रजः ऊर्मयः न**=मेघ से गिरनेवाली जलधाराएँ वा पर्वत से झरनेवाले झरने अनवरत प्रवाह से बहते हैं।

भावार्थ—गतिशीलता ही जीवन है, अतः हम गतिशील बनकर उन्नति करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कर्मफल दाता प्रभु

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भगइवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥ २ ॥

आंगिरसः=अंगारों में अग्नि जिस प्रकार नक्षमाणः=फैलता हुआ गोभिः सं निनाय=अपनी किरणों से मनुष्य को अन्धकार में भी सन्मार्ग पर ले जाता है, उसी प्रकार आंगिरसः=ज्ञानवान् पुरुषों में प्रमुख विद्वान् नक्षमाणः=विद्या–क्षेत्र में अधिक व्यापक ज्ञान रखता हुआ गोभिः=वाणियों के द्वारा सं निनाय=शिष्य को सन्मार्ग पर ले चले और भग इव इत् अर्यमणम्=ऐश्वर्यवान् प्रभु जिस प्रकार गोभिः=आज्ञावाणियों द्वारा उपासक को, उसी प्रकार वह प्रमुख विद्वान् गोभिः सं निनाय=वेदवाणियों द्वारा सन्मार्ग पर लाता है। जने=जनसमूह में जिस प्रकार मित्रः दम्पती अनक्ति=स्नेही पुरोहित वर–वधू को सम्=परस्पर स्नेह करने की प्रेरणा करता है उसी प्रकार वह प्रमुख विद्वान् प्रभु और मुझमें स्नेह उत्पन्न करे। आजौ=संग्राम में जिस प्रकार वीर सेनापति आशून्=वेगवान् अश्वों को वाजयति=वेग से चलाता है उसी प्रकार बृहस्पतिः=वेदवाणी का पालक विद्वान् गुरु आजौ=जगत् रूप विजय के क्षेत्र में आशून्=कर्मफल के भोक्ता हम जीवों को वाजय=शक्ति प्रदान करे।

भावार्थ—परमात्मा हमारी बुद्धियों में स्नेह उत्पन्न करे जिससे हम सदा विजयी बनें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का सृष्टिवपन

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार कृषक पर्वतेभ्यः=पर्वतों से गाः=जलधाराओं को वि–तूर्य=विविध प्रकार से काटता है और यवम् निः ऊपे=जौ आदि धान्य बोता है, और जिस प्रकार सूर्य वा विद्युत् पर्वतेभ्यः=मेघों से गाः=जलधाराओं को वि–तूर्य=विशेष रूप से निकाल कर भूमियों पर डालता है, मानो भूमियों पर जौ छिटकाता है, उसी प्रकार बृहस्पतिः=वह बड़ी–बड़ी शक्तियों का स्वामी परमेश्वर स्थिविभ्यः=स्थिर, पर्वतेभ्यः=और पालक शक्तियोंवाले सूर्यादि पदार्थों से जीवनशक्ति के तत्त्वों को गाः निरूपे=अनेक भूमियों के प्रति ऐसे फेंकाता है जैसे भूमियों पर जौ छिटकाता हो। ये भूमियाँ साधु–अर्याः=जो कि उत्तम स्वामियों और वैश्यजनों से युक्त हैं, विद्वान् अतिथि जिनमें नेता का कार्य हैं, जो कि अन्न से भरपूर हैं स्पार्हाः=चाहने योग्य, सु–वर्णाः=उत्तम वर्णवाली, अनवद्य–रूपाः=तथा अनिन्दनीय रूपवाली हैं।

भावार्थ—कृषक परिश्रम पूर्वक अन्नोत्पादन करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परमेश्वर ज्ञानदाता

आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

बृहस्पतिः=वेदवाणी का विद्वान् सत्पात्र को **मधुना**=ज्ञानमय मधु से **आ-प्रुषायन्**=इस प्रकार पूर्ण करता है जैसे मेघ **ऋतस्य योनिम्**=जलाशय को **मधुना**=जल से पूर्ण करता है। वह **अर्कः**=स्तुतियोग्य उपदेष्टा सत्पात्र को ज्ञान का प्रकाश इस प्रकार देता है जैसे **अर्कः द्यौः उल्काम् अवक्षिपन् इव**=विद्युत् आकाश से चमकती धाराओं को नीचे डालती हैं। वह विद्वान् **अश्मनः**=सर्वव्यापक प्रभु की **गाः**=वेदवाणियों को इस प्रकार **उत् हरन्**=उदारता से प्रदान करता है जैसे **अश्मनः गाः**=विशाल पर्वत से जल की धाराओं को वा मेघ से आती जलधाराओं को बड़ी उदारता से प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार **उद्ना**=जलधारा के निमित्त **भूम्याः**=भूमि के **त्वचम्**=ऊपर के आवरण-पृष्ठ को कोई इंजिनियर पाटता है और नहर बना लेता है उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी **भूम्याः**=ज्ञानधारण के योग्य उत्तम भूमिरूप शिष्य के **त्वचम्**=अज्ञानावरण को **मधुना**=ज्ञान से **वि बिभेद**=विविध प्रकारों से दूर करे।

भावार्थ—विज्ञजन विद्यार्थियों को प्रेम से विद्यादान करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अज्ञान के नाश का उपदेश

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत्।

बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार सूर्य **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से **ज्योतिषा**=प्रकाश द्वारा **तमः**=अन्धकार को **अप आजत्**=दूर करता है और जिस प्रकार **वातः**=तीव्र वायु **उद्नः**=जल के पृष्ठ पर से **शीपालम् इव**=सेवार या काई के आवरण को दूर करता है और जिस प्रकार **वातः**=वेगवाला वायु **अभ्रम् इव अप**=मेघ को दूर करता है, उसी प्रकार गुरु **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश से **अन्तरिक्षात्**=अपने शासन में स्थित शिष्य से **तमः**=अज्ञानान्धकार को **अप आजत्**=दूर करता है और **बृहस्पतिः**=ज्ञानवाणी का पालक गुरु **बलस्य** आवरणकारी अज्ञान की मात्रा का **अनु-मृश्य**=बलाबल विचार कर तदनुसार **आ चक्रे**=वेदवाणियों का उपदेश करता है।

भावार्थ—गुरु शिष्य के अज्ञानावरण को हटाकर ज्ञान से प्रकाशित करता है।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान प्राप्ति का उपदेश

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।

दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥ ६ ॥

वेदवाणी का पालक ज्ञानी पुरुष नाशकारी अज्ञान के विनाशक प्रभाव को छिन्न-भिन्न कर, अग्नि के तुल्य प्रकाशवाले **अर्कैः**=अर्चनायोग्य वेद मन्त्रों द्वारा ही **परि-विष्टम्**=सर्वव्यापक प्रभु का **आदत्**=ग्रहण करे, उसका ज्ञान प्राप्त करे, और **उस्रियाणां निधीन्**=वाणियों के परमनिधि रूप **अकृणोत्**=नाना शिष्यों को वेदनिधि बनावे।

भावार्थ—आचार्य शिष्यों को वेदवित् बनावे।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणियों से गुह्य ज्ञान करने का उपाय

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥ ७॥

बृहस्पतिः=वेदवाणियों का पालक विद्वान् **स्वरीणां**=स्वरपूर्वक शब्दोचारण से गाने योग्य **आसां**=इन वेदवाणियों के **त्यत् नाम अमत**=उस स्वरूप को भी जान लेता है, **यत् गुहा**=जो कि गुहा अर्थात् बुद्धि के भीतर चिन्तनीय रूप से होता है। **यत्**=जिस प्रकार **शकुनस्य आण्डा इव भित्वा**=पक्षी के अण्डों को फोड़कर गर्भरूप बच्चा प्रकट होता है उसी प्रकार **बृहस्पतिः**=वेद का विद्वान् **त्मना**=अपने आत्मसामर्थ्य से **शकुनस्य**=शक्तिशाली प्रभु के **आण्डा भित्त्वा**=अनेक ब्रह्माण्डों का अवयवशः ज्ञान करके, **पर्वतस्य**=सबके पालक प्रभु के **गर्भम्**=जगत् के ग्रहण करने के सामर्थ्य को जाने और **उस्रिया**=जलधाराओं के तुल्य वा गौओं के तुल्य ज्ञान-रसधारा प्रदान करनेवाली वाणियों को **उत् आजत्**=प्राप्त करे।

भावार्थ—वेदज्ञ रहस्यमयी विद्या को बुद्धि से जाने।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान द्वारा मुक्त होने का उपदेश

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥ ८॥

दीने उदनि=अल्प जल में **क्षियन्तं मत्स्यं न**=रहते हुए मत्स्य के समान व्याकुल **मधु**=उस मधुर रसवान् आत्मा को, ज्ञानी पुरुष **अश्ना अपिनाद्धम्**=सुख दुःखों के भोगप्रद देह के साथ बंधा हुआ **परि अपश्यत्**=देखता है। **वृक्षात् चमसं न**=वृक्ष से खाने योग्य फल के समान **तत्**=उसको वह **विरवेण**=विशेष शब्दमय ज्ञानभण्डार वेद वा ओंकार-नाद से **वि-कृत्य**=विशेष साधना करके बंधे बन्धन को काट कर अपने को **निर्जभार**=मुक्त कर ले।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष वेद से योग से संसार बन्ध से मुक्त हों।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आत्म-विवेचन का उपदेश

सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार॥ ९॥

सः=वह साधक **उषाम्**=अपने साधनामार्ग में, प्रभातवेला के तुल्य पापमल को भस्म कर देनेवाली ऋतम्भरा, ज्योतिष्मती, विशोका प्रज्ञा को **अविन्दत्**=प्राप्त करे। **सः स्वः**=वह सूर्यवत् तेजोमय आत्मा को प्राप्त करे। **सः अग्निम्**=वह अग्नि के तुल्य स्वयं प्रकाश रूप आत्मा को प्राप्त करे। **सः**=वह **अर्केण**=मन्त्ररूप ज्ञान के प्रकाश से अन्धकार के तुल्य **तमांसि वि बबाधे**=अनेक अन्धकारों को विनष्ट करे। **बृहस्पतिः**=बड़े भारी व्रत वा शक्ति का पालन करनेवाला विद्वान् **गो वपुषः**=इन्द्रियों के सहित देहरूप में बने **वलस्य**=आत्मा को आवरण करनेवाले इस काय-बन्धन के **पर्वणः**=एक-एक पोरु में से अपने बद्ध आत्मा को **मज्जानं न निः जभार**=ऐसे अलग करे जैसे पोरु-पोरु में से मज्जा धातु को वा **वलस्य पर्वणः**=फल को घेरनेवाली गाँठ वा गुठली वा

अखरोट में से मींगी को निकाल लेते हैं।

भावार्थ—साधक योग से जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अननुकृत्यम्

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥ १० ॥

हिमा इव पर्णा=हेमन्त काल जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों को झाड़ देता है उसी प्रकार **बृहस्पतिना**=उस महान् शक्ति से **वनानि मुषिता**=नाना भोगबन्धन वा वनों के समान उच्छेद्य बन्धन दूर किये जायें। **वलः**=आवरणकारी यह देह-बन्धन उस समय **गाः**=आत्मा की शक्तियों और इन्द्रियसामर्थ्यों को भी **अकृपयत्**=त्याग देता है। साधक ऐसी साधना करे कि वह **अपुनः अननुकृत्यम्**=पुनः जन्म-मरण में न फँसे और फिर दूसरी बार उसे बन्धन काटने का उद्योग न करना पड़े। **यात्**=जब तक भी **सूर्यमासाः मिथः उत् चरातः**=सूर्य और चन्द्र, दिन और रात्रि उदय हों, अर्थात् यावच्चन्द्रदिवाकरौ पुनः फिर-फिर यत्न न करना पड़े।

भावार्थ—आत्मज्ञानी पुरुष योगाभ्यास द्वारा अपनी आत्मा को शक्तिशाली बनायें और अपने जीवन में सूर्य व चन्द्र का साथ-साथ उदय करनेवाले हों, मस्तिष्क में 'ज्ञानसूर्य' का, मन में 'प्रसाद चन्द्र' का।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अभि अपिंशन्

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
राज्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ॥ ११ ॥

(१) **पितरः**=रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले लोग **द्याम्**=अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक को **नक्षत्रेभिः**=विज्ञान के नक्षत्रों से **अभि अपिंशन्**=सर्वतः दीप्त करते हैं, सुशोभित करते हैं, **न**=उसी प्रकार जैसे कि **श्यावम्**=गतिशील, खूब तीव्र गतिवाले **अश्वम्**=घोड़े को **कृशनेभिः**=सुवर्ण के बने आभूषणों से अलंकृत करते हैं, इसकी काठी आदि को स्वर्ण से मण्डित करके इसकी शोभा को बढ़ाते हैं। (२) ये पितर अपने जीवनों में **राज्याम्**=रात्रि के साथ ही **तमः**=तमोगुण व अन्धकार को **अदधुः**=धारण करते हैं, उस समय ये सुषुप्ति में होते हैं और तमोगुण की प्रधानता के कारण गाढ़निद्रा का अनुभव करते हैं। **अहन्**=दिन में ये **ज्योतिः**=प्रकाश को धारण करते हैं। इस समय सत्त्वगुण की प्राधनता के कारण इनके सब कर्म सात्त्विक होते हैं। और ये सारे दिन को पूर्ण चेतनता के साथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में बिताते हैं। इस प्रकार ये रात्रि को अपने लिये रमयित्री तथा दिन को **अहन्**=एक भी क्षण जिसका नष्ट नहीं किया गया (अ+हन्) ऐसा बनाते हैं। (३) **बृहस्पतिः**=उल्लिखित प्रकार से जीवन को बनाता हुआ बृहस्पति **अद्रिम्**=वासना पर्वत को **भिनद्**=विदीर्ण करता है और **गाः**=द्युलोक को विज्ञान क्षेत्रों से दीप्त करें।

भावार्थ—हम रात्रि में सुषुप्ति का आनन्द लें, दिन में ज्योति का। वासना को नष्ट करके इन्द्रियों को सशक्त बनायें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गो-अश्व-वीर-नर

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥ १२ ॥

(१) **अभ्रियाय**-(अभ्रेषु भवाय) द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले बादलों के स्थान में होनेवाले, अर्थात् सदा अन्तरिक्ष में, मध्यमार्ग में चलनेवाले बृहस्पति के लिये **इदं नमः अकर्म**-इस नमस्कार को करते हैं। ऐसे व्यक्ति का, जो अति को छोड़कर सदा मध्यमार्ग को अपनाता है, हम सत्कार करते हैं। **यः**-जो बृहस्पति **पूर्वीः**-जीवन का पूरण करनेवाले ऋचाओं को **अनु आनोनवीति**-प्रतिदिन खूब ही उच्चारण करता है। इन ऋचाओं का उच्चारण करता हुआ उनके अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करता है। (२) **स बृहस्पतिः**-वह ज्ञान का रक्षक व्यक्ति **नः**-हमारे में से **हि**-निश्चयपूर्वक **गोभिः**-उत्तम ज्ञानेन्द्रियों के साथ **वयः**-उत्कृष्ट जीवन को **धात्**-धारण करता है। **सः**-वह **अश्वैः**-उत्तम कर्मेन्द्रियों के साथ उत्तम जीवनवाला होता है। **स**-वह **वीरेभिः**-वीर-सन्तानों के साथ सुन्दर जीवनवाला होता है। **स नृभिः**-वह उत्तम नर मनुष्यों के साथ, उत्तम मनुष्यों की मित्रता में प्रशस्त जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम मध्यमार्ग में चलें, ऋचाओं का उच्चारण करते हुए तदनुकूल जीवनवाले हों। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्रशस्त हों। सन्तान वीर हों, साथी प्रगतिशील हों।

सूक्त का प्रारम्भ बृहस्पति की इस आराधना से हुआ था कि (क) शक्ति वृद्धि रक्षण के द्वारा हमारे आयुष्य की वृद्धि हो, (ख) हमारी इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहें, (ग) जीवन उल्लासमय हो, (१) समाप्ति पर यही भाव है कि बृहस्पति सदा मध्यमार्ग में चलता हुआ प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है, वीर सन्तानों को प्राप्त करता है, इसके साथी भी प्रगतिशील होते हैं, (१५) इस प्रकार यह 'सुमित्र'=उत्तम मित्रोंवाला व उत्तमता से रोगों व पापों से अपने को बचानेवाला होता है (प्रमीतेः त्रायते) तथा 'वाध्र्यश्व'-संयम रज्जु से बद्ध इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। यह 'सुमित्र वाध्र्यश्व' निम्न प्रकार से जीवन को बिताता है—

षष्ठोऽनुवाकः

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वध्र्यश्व (संयम रज्जुवाला)

भद्रा अग्नेर्वध्र्यश्वस्य सन्दृशो वामी प्रणीतिः सुरणा उपेतयः।
यदीं सुमित्रा विशो अग्र इन्धते घृतेनाहुतो जरते दविद्युतत्॥ १ ॥

(१) **अग्नेः**-प्रगतिशील **वध्र्यश्वस्य**-संयम रज्जु से बद्ध इन्द्रियाश्ववाले पुरुष की **संदृशः**-दृष्टियाँ **भद्राः**-भद्र होती हैं। इसका दृष्टिकोण ठीक व कल्याण कर ही होता है। दृष्टिकोण की भद्रता का ही परिणाम है कि **प्रणीतिः**-इसका कार्यों के प्रणयन का मार्ग **वामी**-सुन्दर ही सुन्दर होता है। यह प्रत्येक कार्य को सुन्दरता से करता है। इसके उपेतयः-यज्ञादि उत्तम कार्यों के प्रति उपगमन **सुरणाः**-(शोभनरमणाः सा०) उत्तम आनन्द को लिये हुए होते हैं, अर्थात् यह यज्ञादि कर्मों में आनन्दपूर्वक प्रवृत्त होता है। (२) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुमित्राः विशः**-अपने को पापों व रोगों से बचानेवाली प्रजाएँ **अग्रे**-सब से पूर्व **इन्धते**-प्रभु रूप अग्नि का अपने में समिन्धन

करती हैं, तो घृतेन=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति के द्वारा (घृ क्षरणदीप्त्योः) आहुतः=आत्मार्पण किया गया वह प्रभु दविद्युतत्=खूब दीप्त होता हुआ, हृदय में प्रकाश के रूप से चमकता हुआ, जरते=स्तुत होता है। 'सुमित्र' अपने पापों व रोगों को नष्ट करके, निर्मलता व ज्ञानदीप्ति का सम्पादन करके, प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करता है। इसके हृदय में प्रभु का खूब ही प्रकाश होता है और सुमित्र प्रभु का सतत स्तवन करता है।

भावार्थ—संयमी पुरुष का दृष्टिकोण उत्तम होता है, कार्य करने का तरीका सुन्दर होता है, यज्ञादि में प्रसन्नता से यह प्रवृत्त होता है। यह संयमी निर्मलता व ज्ञानदीप्ति के द्वारा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु के प्रकाश को देखता है और उसका सतत स्तवन करता है।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'घृतम् आयुः'

घृतमग्नेर्वध्र्यश्वस्य वर्धनं घृतमन्नं घृतम्वस्य मेदनम्।
घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्यइव रोचते सर्पिरासुतिः ॥ २ ॥

(१) वध्र्यश्वस्य=संयम रूप रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले अग्नेः=प्रगतिशील पुरुष का घृतम्=घृत वर्धनम्=वृद्धि का कारण होता है। 'घृतम् आयुः'='घृत जीवन है' इस तत्त्व को समझता हुआ यह वध्र्यस्व घृत को महत्त्व देता है, और घृत के उचित मात्रा में प्रयोग से यह अपना वर्धन करता है। 'घृत क्षरणदीप्त्योः' इस धातु के अनुसार यह घृत इसके मलों का क्षरण करनेवाला व इसकी बुद्धि को ज्ञानदीप्त करनेवाला होता है। घृतं अन्नम्=यह घृत ही इसका अन्न, इसका भक्षणीय हो जाता है। उ=और घृतम्=घृत ही अस्य मेदनम्=इसके शरीर में उचित मेदस् तत्त्व को लानेवाला बनता है। (२) यह वध्र्यश्व भोजन को भी एक यज्ञ का रूप देता है, जिसमें कि इसकी उदरस्थ वैश्वानराग्नि में घृत की आहुति पड़ती है। घृतेन=घृत से आहुतः=आहुत हुआ-हुआ यह उर्विया विपप्रथे=खूब ही विस्तृत होता है, इसकी शक्तियों का ठीक विस्तार होता है। यह सर्पिरासुतिः=जिसके लिये घृत का आसवन (=उत्पादन) किया जाता है वह वध्र्यश्व सूर्य इव=सूर्य के समान रोचते=चमकता है। पूर्ण स्वस्थ होने से इसका इस प्रकार चमकना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—वध्र्यश्व अपने भोजन में घृत की मात्रा के महत्त्व को समझता हुआ उसका ठीक प्रयोग करता है और सूर्य के समान चमकता है।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमित्र का स्तुत्यतर कार्य

यत्ते मनुर्यदनीकं सुमित्रः समीधे अग्ने तदिदं नवीयः।
स रेवच्छोच स गिरो जुषस्व स वाजं दर्षि स इह श्रवो धाः ॥ ३ ॥

(१) हे अग्ने=अग्रेणी प्रभो! सुमित्रः=यह पापों व रोगों से अपने को अच्छी तरह बचानेवाला पुरुष यत्=जो ते=तेरा मनुः=मनन करनेवाला बनता है और यत्=जो, इस मनन के द्वारा अनीकम्=बल को व रश्मिसंघ को समीधे=अपने में दीप्त करता है तद् इदम्=यह प्रभु के मनन के द्वारा अपने में बल व प्रकाश को दीप्त करना नवीयः=अत्यन्त प्रशंसनीय कर्म है। प्रभु का मनन करनेवाला प्रभु के बल व प्रकाश से युक्त होता ही है। (२) प्रभु इस सुमित्र से कहते हैं कि (क) स=वह तू रेवत् शोच=धनयुक्त होकर दीप्त होनेवाला हो। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन

की तुझे कमी न हो और तू दीप्त जीवनवाला बने। (ख) स-वह तू गिरः जुषस्व-वेदवाणियों का सेवन करनेवाला बन वेदवाणियाँ तेरे ज्ञान को निरन्तर बढ़ायें तथा इनके द्वारा तू प्रभु का स्तवन करनेवाला बने। (ग) स-वह तू वाजम्-शत्रु के बल का दर्षि-विदारण कर, काम-क्रोधादि शत्रुओं के बल को जीतनेवाला हो। (घ) स-वह तू इह-यहाँ इस जीवन में श्रवः-यश को धाः-धारण कर। बड़ा मर्यादित जीवन बिताता हुआ तू यशस्वी जीवनवाला हो।

भावार्थ—'सुमित्र' प्रभु का मनन करता है, प्रभु के तेज से तेजस्वी बनता है। धनयुक्त दीप्त जीवनवाला, वेदवाणियों का मनन करनेवाला, कामादि शत्रुओं के बल का विदारण करनेवाला व यशस्वी होता है।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तिपाः तनूपाः

यं त्वा पूर्वमीळितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **यं त्वा**-जिन आपको **ईडितः**-स्तुति करनेवाला (ईडितम् अस्य अस्ति) **वध्र्यश्वः**-संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाला पुरुष **पूर्वं समीधे**-सब से प्रथम, दिन के प्रारम्भ में ही अपने हृदयाकाश में समिद्ध करने का प्रयत्न करता है **स**-वे आप **इदम्**-इस मेरे स्तोत्र को **जुषस्व**-प्रीतिपूर्वक सेवित करिये यह मेरा स्तोत्र आपके लिये प्रिय हो। (२) **स**-वे आप **नः**-हमारे **स्तिपाः**-(पस्त्यरक्षकः) गृहों के रक्षक **भवा**-होइये। **उत**-और **तनूपाः**-हमारे शरीरों का भी रक्षण करिये। साथ ही **दात्रम्**-हमारे में दानवृत्ति को भी **रक्षस्व**-रखिये। हम सदा इस विचार को स्थिर रूप से धारण करें कि **यद् इदम्**-यह जो कुछ **अस्मे**-हमारे में है, वह **ते**-आपका ही है। आपके दिये हुए इस धन को हम सदा यज्ञात्मक कार्यों में देनेवाले हों। (३) आपकी कृपा से हमारे घरों का रक्षण हो, उनमें किसी प्रकार की अशुभवृत्तियों का प्रसार न हो जाए। हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न हो जायें। तथा हमारे में दान की वृत्ति बनी रहे। यह वृत्ति ही तो लोभ को नष्ट करके पाप के मूल को ही उन्मूलित कर देती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे घरों को अशुभ से बचाते हैं। हमें नीरोगता प्रदान करते हैं और हमारी दानवृत्ति को बनाये रखते हैं।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्युम्नी गोपा

भवा द्युम्नी वाध्र्यश्वोत गोपा मा त्वा तारीदभिमातिर्जनानाम्।
शूरइव धृष्णुश्च्यवनः सुमित्रः प्र नु वोचं वाध्र्यश्वस्य नाम ॥ ५ ॥

(१) **वाध्र्यश्व**-हे संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले पुरुष! **द्युम्नी भवा**-तू ज्योतिर्मय हो। इन्द्रियों के संयम से तेरी ज्ञान की ज्योति चमके। **उत**-और **गोपाः**-इन्द्रियों व वेदवाणियों का तू रक्षक हो। इन्द्रियों को स्वस्थ बनाकर तू ज्ञानवाणियों का रक्षण करनेवाला बन। ऐसा बन जाने पर **जनानाम्**-सामन्यतः सब लोगों के अन्दर आ जानेवाली **अभिमातिः**-अभिमान की वृत्ति **त्वा मा तारीत्**-तुझे हिंसित करनेवाली न हो। द्युम्नी व गोपा बन जाने का तुझे अभिमान न हो जाए। (२) **शूरः इव**-जैसे एक शूर पुरुष संग्राम में शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है, इसी प्रकार तू **धृषणुः**-काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षक हो। **च्यवनः**-(च्यु to couse to go

away) कामादि शत्रुओं का दूर भगानेवाला तू सुमित्रः-बड़ी उत्तमता से रोगों व पापों से अपने को बचानेवाला हो। (३) सुमित्र बन करके यह निश्चय कर कि मैं वाध्र्यश्वस्य-संयमी पुरुष को प्राप्त होनेवाले प्रभु के (वध्र्यश्वस्य अयं वाध्र्यश्वः) नाम-नाम को नु-निश्चय से प्रवोचम्-प्रकर्षेण उच्चारित करूँ, मैं प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला बनूँ, प्रभु को ही अपने संयम आदि गुणों का कारण समझूँ। तभी तो मैं उनके अभिमान से बच सकूँगा।

भावार्थ—हम ज्योतिवाले व जितेन्द्रिय बनें। पर इन उत्तमताओं को प्रभु कृपा से होता हुआ जानें, और इनका गर्व न करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अज्र्या पर्वत्या वसूनि

सम॒ज्र्या॑ पर्व॒त्या॒३॑ वसू॑नि॒ दासा॑ वृ॒त्राण्यार्या॑ जिगेथ।
शूर॑इव धृ॒ष्णुश्च्यव॑नो॒ जना॑नां॒ त्वम॑ग्ने पृत॒ना॒यूँर॒भि ष्या॑: ॥ ६ ॥

(१) हे अग्ने-प्रगतिशील जीव! तू अज्र्या-कृषि से उत्पन्न होनेवाले (अज्र्य=agriculture से होनेवाले) तथा पर्वत्या-पर्वतों से उत्पन्न होनेवाले, पर्वतस्थ वनों, पत्थरों व कानों (mines) से उत्पन्न होनेवाले वसूनि-निवास के लिये आवश्यक धनों को संजिगेथ-सम्यक् विजय करता है तथा दासा आर्या-दासों व आर्यों किन्हीं से भी उत्पादित वृत्राणि-उपद्रवों को भी जीतनेवाला होता है। किसी से भी किये गये विघ्न को दूर करके तू वसुओं का विजय करता है। इन वसुओं के द्वारा तू अपने जीवन को सुन्दर बनाता है। इन वसुओं का विजय तू कृषि आदि श्रम साध्य कर्मों से ही करता है। (२) शूर इव धृष्णुः-एक शूर पुरुष की तरह उन्नति में विघ्नभूत काम-क्रोधादि का तू धर्षण करता है च्यवनः-इन शत्रुओं को दूर भगानेवाला होता है। जनानाम्-लोगों में जो भी पुरुष पृतनायून्-सेना बनकर आक्रमण करनेवाले हैं उनको, हे अग्ने! त्वम्-तू अभिष्याः-अभिभूत कर, पराजित करनेवाला हो। आन्तर शत्रुओं का विजय करनेवाला बाह्य शत्रुओं को अवश्य अभिभूत कर पाता है।

भावार्थ—हम श्रम से वसुओं का अर्जन करें। काम-क्रोधादि को जीतकर बाह्य शत्रुओं को भी पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्युमत्सु द्युमान्

दी॒र्घत॑न्तुर्बृ॒हदु॒क्षायम॒ग्निः स॒हस्र॑स्तरीः श॒तनी॑थ॒ ऋभ्वा॑।
द्यु॒मान्द्यु॒मत्सु॒ नृभि॑र्मृ॒ज्यमा॑नः सुमि॒त्रेषु॑ दीदयो देव॒यत्सु॑ ॥ ७ ॥

(१) अयं अग्निः-यह प्रगतिशील जीव दीर्घतन्तुः-विस्तृत यज्ञरूप कर्मतन्तुवाला होता है, अर्थात् इसके यज्ञों का तार कभी टूटता नहीं। बृहद् उक्षा-यह बड़ा सेचन करनेवाला बनता है। शरीर में भोजन से उत्पन्न सोमशक्ति को शरीर में ही सिक्त करता है, इसे नष्ट नहीं होने देता। शरीर में सिक्त हुई-हुई यह शक्ति शरीर की वृद्धि का कारण बनती है। (२) बढ़ी हुई शक्तिवाला यह अग्नि सहस्रस्तरीः-हजारों को आच्छादित करनेवाला होता है, शतशः पुरुषों का रक्षण करनेवाला होता है। शतनीतः-सौ के सौ वर्ष तक सदा इस उत्तम मार्ग से अपने को ले चलता है और इस प्रकार ऋभ्वा-महान् बनता है अथवा 'उरुभाति' खूब देदीप्यमान होता है। द्युमत्सु-ज्योतिर्मय पुरुषों में भी द्युमान्-खूब प्रशस्त ज्योतिवाला होता है। (३) इसके ज्योतिर्मय बनने का

रहस्य इस बात में है कि यह **नृभिः**-उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले 'माता, पिता, आचार्य' आदि से **मृज्यमानः**-खूब शुद्ध किया जाता है। माता इसे चरित्रवान् बनाती है, तो पिता इसे शिष्टाचार की शिक्षा देते हैं और आचार्य इसे ज्ञान-ज्योति से परिपूर्ण करने के लिये यत्नशील होते हैं। इस प्रकार इन सब से शुद्ध जीवनवाला बनाया जाता हुआ यह **सुमित्रेषु**-अपने को रोगों व पापों से बचानेवाले **देवयत्सु**-उस महान् देव प्रभु को प्राप्त करने की कामनावालों में भी यह **दीदयः**-विशिष्ट रूप से दीप्त होता है। 'सुमित्र' व 'देवयन्' पुरुषों में भी इसका स्थान विशिष्ट होता है।

भावार्थ—माता, पिता व आचार्य से शुद्ध किये गये जीवनवाले हम, 'चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान' से सम्पन्न होकर, श्रेष्ठ पुरुषों में भी श्रेष्ठ बनें, हमारा जीवन चमक उठे।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुदुघा धेनु

त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक्।
त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे देवयद्भिः ॥ ८ ॥

(१) हे **जातवेदः**-सर्वज्ञ प्रभो! **त्वम्**-आप **सुदुघा धेनुः**-उत्तमता से दोहन योग्य गौ के समान हैं। जैसे सुखदोह्य गौ दूध को प्राप्त कराती है, इसी प्रकार आप ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करानेवाले हैं। **असश्चतास्व**-(सश्च=to cling) अनासक्तरूप से आप **समना**-सम्यक् प्राणित व चेष्टित करनेवाले हैं, **सबर्धुक्**-ज्ञानदुग्ध का पूरण करनेवाले हैं। प्रभु प्रेरणा देकर क्रिया में प्रवृत्त तो करते हैं कि 'यह करो', परन्तु हम नहीं करते तो क्रोध में आकर 'तुमने यह क्यों नहीं किया?' इस प्रकार झिड़कने नहीं लगते। 'यह करो' इस रूप में प्रेरणा ही करते रहते हैं। (२) **अग्ने त्वम्**-हे प्रभो! आप **नृभिः**-उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवालों से, **दक्षिणावद्भिः**-त्याग की वृत्तिवालों से **सुमित्रेभिः**-अच्छी प्रकार अपने को पापों व रोगों से बचानेवालों से तथा **देवयद्भिः**-अपने को दिव्यगुणों से युक्त करने की कामनावालों से **इध्यसे**-दीप्त किये जाते हो। आपको 'नर, दक्षिणावान्, सुमित्र व देवयन्' पुरुष ही प्राप्त करते हैं। आपकी ज्योति को ये ही अपने हृदयों में देख पाते हैं। इन्हीं को आपकी प्रेरणा ठीक प्रकार से सुनाई पड़ती है।

भावार्थ—प्रभु सुदुघा धेनु के समान ज्ञानदुग्ध को देनेवाले हैं। उन्हें 'सुमित्र' ही हृदयों के अन्दर देख पाते हैं।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की महिमा का उच्चारण

देवाश्चित्ते अमृता जातवेदो महिमानं वाध्र्यश्व प्र वोचन्।
यत्संपृच्छं मानुषीर्विश आयन्त्वं नृभिरजयस्त्वावृधेभिः ॥ ९ ॥

(१) हे **वाध्र्यश्व**-संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले पुरुष के हित करनेवाले (वध्र्यश्वाय हितः=वाध्र्यश्वः) **जातवेदः**-सर्वज्ञ प्रभो! **ते चित् देवाः**-वे निश्चय से देव बनते हैं जो कि **महिमानं प्रवोचन्**-आपकी महिमा का प्रकर्षेण उच्चारण करते हैं। प्रभु का स्मरण करनेवाले व्यक्ति ही, मार्गभ्रष्ट होने से बचकर, लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए उस परमदेव के सदृश देव बन पाते हैं। (२) **यत्**-जब **मानुषीः विशः**-ये मननशील प्रजायें **संपृच्छम्**-(संप्रश्नम्) सम्यक्तया जिज्ञास्य आपको **आयन्**-प्राप्त होती हैं, अर्थात् आपके विषय में ही परस्पर चर्चा करती हुई जीवनयात्रा में चलती हैं तो **त्वम्**-आप ही इन **त्वावृधेभिः**-आपका वर्धन करनेवाली, आपकी

महिमा का स्तवन करनेवाली नृभिः=प्रजाओं के साथ अजयः=इनके काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराजित करते हैं। प्रभु का स्तवन व वर्धन करनेवाली प्रजायें काम-क्रोधादि शत्रुओं से कभी आक्रान्त नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु की महिमा का गायन करते हुए लोग देव बनते हैं, जहाँ प्रभु की चर्चा चलती है वहां वासनाएँ नहीं फटकती।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पिता प्रभु की गोद में

पितेव पुत्रमबिभरुपस्थे त्वामग्ने वध्र्यश्वः सपर्यन्।
जुषाणो अस्य समिधं यविष्ठोत पूर्वाँ अवनोर्व्राधतश्चित्॥ १० ॥

(१) हे अग्ने=परमात्मन्! आप संयमी पुरुष को (वध्र्यश्व को) इस प्रकार उपस्थे=गोद में अबिभः=धारण करते हैं, इव=जैसे पिता पुत्रम्=पिता पुत्र को। संयमी पुरुष उस पिता प्रभु का प्रिय पुत्र होता है। और यह वध्र्यश्वः=संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाला पुरुष, हे अग्ने=परमात्मन्! त्वाम्=आपको सपर्यन्=पूजता हुआ होता है। वस्तुतः आपके पूजन के द्वारा ही यह इन्द्रियों का संयम कर पाता है। (२) हे यविष्ठ=बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ संपृक्त करनेवाले प्रभो! अस्य=इस संयमी पुरुष की समिधम्=ज्ञानदीप्ति को जुषाणः=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए, अर्थात् ज्ञान के कारण इस से प्रसन्न होते हुए आप उतपूर्वान्=अत्यन्त पुराणे भी, अर्थात् जो दृढ़मूल से हो गये हैं ऐसे भी व्राधतः चित्=उन्नति के मार्ग में बाधक बनते हुए शत्रुओं को अवनोः=आप नष्ट करते हैं (अवधीः=सा०)। संयम से ज्ञान की वृद्धि होती है, ज्ञानवृद्धि से हम प्रभु के प्रिय बनते हैं और हमारे कामादि शत्रुओं का संहार होता है।

भावार्थ—संयमी पुरुष प्रभु का सच्चा पुत्र है। यह प्रभु का प्रिय होता है, प्रभु इसके काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुतसोमवान्-नरों का सम्पर्क

शश्वदग्निर्वध्र्यश्वस्य शत्रून्नृभिर्जिगाय सुतसोमवद्भिः।
समनं चिददहश्चित्रभानोऽव व्राधन्तमभिनद् वृधश्चित्॥ ११ ॥

(१) अग्निः=वह अग्रेणी प्रभु शश्वत्=सदा वध्र्यश्वस्य=संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले पुरुष के शत्रून्=काम-क्रोधादि शत्रुओं को सुतसोमवद्भिः=प्रशस्त उत्पन्न सोमवाले, अर्थात् शरीर में आहार से रस-रुधिरादि क्रम में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखनेवाले नृभिः=माता, पिता व आचार्य आदि उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले पुरुषों से जिगाय=पराजित करता है। प्रभु कृपा से इस वध्र्यश्व को उत्तम संयत जीवनवाले माता, पिता व आचार्य का सम्पर्क प्राप्त होता है। इनके सम्पर्क में इस वध्र्यश्व को भी संयमी जीवनवाला बनने में सहायता मिलती है। (२) हे चित्रभानो! अद्भुत दीप्तिवाले प्रभो! आप समनं चित्=(सं अनम्) अत्यन्त चेष्टायुक्त, अर्थात् अत्यन्त प्रबल भी क्रोधादि के अदहः=भस्मसात् कर देते हैं। वृधः=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुए-हुए आप व्राधन्तं चित्=बाधक शत्रुओं को अवाभिनत्=सुदूर विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें जितेन्द्रिय माता, पिता व आचार्य प्राप्त होते हैं। उनके शिक्षण

से हम भी संयमी जीवनवाले होते हैं और प्रबल भी काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विदारण करने में समर्थ होते हैं।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नमसा उपवाक्यः

अयमग्निर्वध्र्यश्वस्य वृत्रहा सनकात्प्रेद्धो नमसोपवाक्यः।
स नो अजामीँरुत वा विजामीनभि तिष्ठ शर्धतो वाध्र्यश्व ॥ १२ ॥

(१) **अयं अग्निः**-यह अग्रेणी प्रभु **वध्र्यश्वस्य**-संयम रज्जु से अपने को बाँधनेवाले पुरुष के **वृत्रहा**-ज्ञान की आवरणभूत (=वृत्र) वासना का विनाश करनेवाला होता है (हा)। **प्रेद्धः**-हृदयदेश में चिन्तन के द्वारा समिद्ध किया हुआ यह प्रभु **सनकात्**-सनातन काल से **नमसा उपवाक्यः**-नमन के द्वारा समीपता से स्तुति के योग्य होता है संयमी पुरुष हृदय में प्रभु का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है, उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है, उसका स्तवन करता है। प्रभु इस संयमी पुरुष के वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। (२) हे **वाध्र्यश्व**-संयमी पुरुष को अपना ही रूप समझनेवाले प्रभो! **स**-वे आप **नः**-हमारे **अजामीन्**-शत्रुभूत कामादि को **उत वा**-तथा **शर्धतः**-हमारा हिंसन करनेवाले **विजामीन्**-विविध बन्धुओं को भी **अभितिष्ठ**-अभिभूत करनेवाले होइये। हमें पराये व अपने किसी से भी हिंसित न होने दीजिये।

भावार्थ—संयमी पुरुष प्रभु का स्तवन करता है, प्रभु इसके कामादि शत्रुओं का विनाश करते हैं। यह संयमी पुरुष प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है और प्रभु इसके पराये व अपने सभी हिंसकों को अभिभूत करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि संयमी पुरुष का दृष्टिकोण उत्तम होता है, (१) अन्त में कहते हैं कि यह सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है, (१२) अगले सूक्त में भी सुमित्र यही कहता है कि, 'मेरी ज्ञानदीप्ति मुझे आपका प्रिय बनाये'—

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वेदज्ञान व देवयज्ञ

इमां मे अग्ने समिधं जुषस्वेळस्पदे प्रति हर्या घृताचीम्।
वर्ष्मन्पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नामूर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या ॥ १ ॥

(१) प्रभु सुमित्र से कहते हैं कि हे **अग्ने**-प्रगतिशील जीव! तू **मे**-मेरी **इमाम्**-इस **समिधम्**-वेदज्ञान के रूप में दी गई ज्ञानदीप्ति को **जुषस्वम्**-प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला बन। इस **घृताचीम्**-मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की साधनभूत वेदवाणी को **इडस्पदे**-इस वाणी के स्थान में **प्रति हर्या**-प्रतिदिन प्राप्त करने की कामना कर। वाणी से इसका उच्चारण करता हुआ इसे अपनानेवाला बन। इस ज्ञान को अपनाने से तू सचमुच अपने मलों को दूर करके दीप्त हो उठेगा। उस समय 'अग्नि' यह तेरा नाम सार्थक हो जाएगा, तू सचमुच अपने को आगे प्राप्त करा रहा होगा। (२) **पृथिव्याः वर्षान्**-इस पृथिवी के पृष्ठ पर (वर्षान्=surface) **अह्नां सुदिनत्वे**-दिनों के शुभ बनाने के निमित्त **ऊर्ध्वो भव**-तू उठ खड़ा हो। सोया न रह जा। हे **सुक्रतो**-उत्तम प्रज्ञा व उत्तम कर्मोंवाले जीव! तू **देवयज्या**-देवयज्ञ आदि के हेतु से पुरुषार्थवाला हो। इन देवयज्ञ आदि उत्तम कर्मों से ही तो तू अपने दिन को शुभ बना पायेगा। तू पुरुषार्थवाला हो, तेरे पुरुषार्थ यज्ञ

आदि उत्तम कर्मों में प्रकट हो।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि (क) ज्ञान को प्राप्त करो और (ख) यज्ञादि उत्तम कर्मों में जीवन को व्याप्त करो।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु-स्तवन

आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः।
ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत्॥ २॥

(१) सुमित्र प्रार्थना करता है कि **देवानां अग्रयावा**-देवों के अग्र स्थान में गति करनेवाला, अर्थात् देवों का अधिपति प्रभु **इह**-इस हमारे हृदय में **आयातु**-आये। वह प्रभु जो कि **नराशंसः**-मनुष्यों से शंसनीय व स्तुति करने योग्य है। जीवन में उन्नति का मार्ग यही है कि हम प्रातः उठने पर हृदय में प्रभु का ध्यान करें। प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। (२) (क) **विश्वरूपेभिः**-सम्पूर्ण विश्व का निरूपण करनेवाली, इस ब्रह्माण्ड में 'आदित्य-समुद्र-पर्वत' आदि विभूतियों का विचार करनेवाली, **अश्वै**-इन्द्रियों से वे प्रभु **मियेधः**-संगतिकरण योग्य हैं। जब इन्द्रियों से इस ब्रह्माण्ड में हम प्रभु की महिमा को देखेंगे तभी प्रभु के आभास को प्राप्त करके उस प्रभु से मिलनेवाले होंगे। (ख) **ऋतस्य पथा**-ऋत के मार्ग से वे प्रभु (**मियेधः**-) मिलने योग्य हैं। प्रभु से हमारा मेल तभी होगा जब कि हम ऋत के मार्ग का अनुसरण करेंगे। सब कार्यों को ठीक समय पर करते हुए हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। (ग) **नमसा**-नमन के द्वारा प्रभु (**मियेधः**) मिलने योग्य हैं। प्रातः-सायं प्रभु के चरणों में नतमस्तक होते हुए हम प्रभु के अधिकाधिक समीप आते चलते हैं। (३) ये प्रभु **देवतमः**-सर्वमहान् देव हैं, 'देवानामग्रयावा' हैं। ये **देवेभ्यः**-देववृत्तिवाले व्यक्तियों के लिये **सुषूदत्**-सब प्रकार के मलों का क्षरण करनेवाले होते हैं। शरीर से मलों का क्षरण करके ये हमें स्वास्थ्य प्रदान करते हैं, मनों के मल का क्षरण करके हमें राग-द्वेषातीत निर्मल मन प्राप्त कराते हैं और बुद्धि को निर्मल करके हमें तत्त्वदर्शन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः हृदयों में प्रभु का ध्यान करें। ये प्रभु ब्रह्माण्ड में प्रभु की विभूतियों का निरूपण करनेवाली इन्द्रियों से, ऋत के पालन से तथा नमन से प्राप्त होते हैं। हमारे मलों को दूर करके हमें 'देव' बनाते हैं।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का सन्देश

शश्वत्तममीळते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो अग्निम्।
वर्हिष्ठैरश्वैः सुवृता रथेना देवान्वक्षि नि षदेह होता॥ ३॥

(१) **हविष्मन्तः**-प्रशस्त हविवाले, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले, यज्ञ शेष का सेवन करनेवाले, **मनुष्यासः**-विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले मनुष्य (मत्वा कर्माणि सीव्यति) **शश्वत्तमम्**-उस सनातन **अग्निम्**-अग्रेणी प्रभु को **दूत्याय**-दूत कर्म के लिये, उससे ज्ञान सन्देश को प्राप्त करने के लिये, **ईळते**-उपासित करते हैं। प्रभु के उपासना 'हविष्मान् मनुष्य' बनने से ही होती है, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'-उस आनन्दमय देव का हवि के द्वारा उपासन करें। (२) वे उपासित प्रभु हमें ज्ञान का सन्देश प्राप्त कराते हुए कहते हैं कि (क) **वर्हिष्ठैः**-अधिक से अधिक कर्त्तव्यों का

वहन करनेवाले **अश्वैः**-इन्द्रियाश्वों से तथा **सुवृता रथेन**-जिसमें प्रत्येक अंग शोभन है 'शोभनं वर्तते' उस शरीररूप रथ से तू **देवान् आवक्षि**-देवों को अपने में प्राप्त करानेवाला हो। तेरे हृदय में दिव्य भावों का निवास हो, ऐसा होने के लिये तू सदा कर्त्तव्य कर्मों में लगा रह तथा शरीर को स्वस्थ, सुन्दर व सबल बनाने का ध्यान कर। (ख) **इह**-इस जीवन में **होता**-होता बनकर **निषद**-आसीन हो। दानभाव तेरे में सदा बने रहे। देकर ही यज्ञशेष को खानेवाला बन।

भावार्थ—जब हम प्रभु का उपासन करते हैं तो प्रभु हमें यही ज्ञान का सन्देश देते हैं कि इन्द्रियों को कर्त्तव्य-कर्मों में व्याप्त रखो और संसार में होता बनकर चलो, यज्ञशेष का ही सेवन करो।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुरभि-जीवन

वि प्र॑थतां दे॒वजु॑ष्टं तिर॒श्चा दी॒र्घं द्रा॒घ्मा सु॒र॒भि भू॑त्व॒स्मे।
अहे॑ळता॒ मन॑सा देव बर्हि॒रिन्द्र॑ज्येष्ठाँ उश॒तो य॑क्षि दे॒वान्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम हृदयों में देवों को आसीन करते हैं तो यह **देवजुष्टम्**-देवों से, दिव्य भावनाओं से सेवित हृदय **तिरश्चा**-(तिरः अञ्चति) तिरोहितरूपेण रहकर सब गति करते हुए उस प्रभु से **विप्रथताम्**-विशिष्ट विस्तारवाला हो। जब हृदय में प्रभु का हम स्मरण करते हैं तो हृदय विशाल बनता ही है, 'हम सब उस एक प्रभु के पुत्र हैं' यह भावना हमें एक दूसरे के समीप लानेवाली होती है। (२) इस प्रकार हृदय के विशाल बनने पर **दीर्घं द्राघ्मा**-यह लम्बा जीवन का विस्तार **अस्मे**-हमारे लिये **सुरभि भूतु**-सुगन्धित हो। हम कभी इस जीवन में अपशब्दों को न बोलें। वस्तुतः अपशब्दों के प्रयोग का अभाव स्वयं दीर्घायुष्य का कारण बनता है 'सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयूंषि तारिषत्'। (३) इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले सुमित्र से प्रभु कहते हैं कि हे **देव**-दिव्यगुणों के अधिष्ठानभूत हृदयवाले! तू **अहेडता मनसा**-किसी से भी घृणा न करते हुए हृदय से **इन्द्रज्येष्ठान्**-सर्वशक्तिमान् प्रभु जिनमें ज्येष्ठ हैं उन **उशतः**-हित की कामनावाले **देवान्**-सब देवों को **बर्हिः**-अपने वासनाशून्य हृदय में **यक्षि**-संगत कर। हम हृदय से घृणा व द्वेष को दूर करें, तभी यह हृदय 'बर्हिः' कहलायेगा, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। इस मन में ही सब देवों के साथ परमदेव प्रभु अधिष्ठित होते हैं।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु-स्मरण से विशाल बने। जीवन सुगन्धित हों तथा प्रभु व देवों को हम हृदय में आसीन करें।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्वारः=इन्द्रियाणि

दि॒वो वा॒ सानु॑ स्पृ॒शता॒ वरी॑यः पृथि॒व्या वा॒ मात्र॑या॒ वि श्र॑यध्वम्।
उ॒श॒तीर्द्वा॑रो महि॒ना म॒हद्भि॑र्दे॒वं रथं॑ रथ॒युर्धा॑रयध्वम्॥ ५॥

(१) 'अष्टचक्रा नवद्वारा०' आदि मन्त्रभागों में द्वार् शब्द इन्द्रियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इन इन्द्रियों के दो मुख्य विभाग हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों के लिये प्रार्थना करते हैं कि हे ज्ञानेन्द्रियरूप द्वारो! **दिवः**-ज्ञान के **वरीयः**-विशाल व उत्कृष्ट **सानु**-शिखर को **स्पृशता**-तुम छूनेवाले बनो। अर्थात् ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होओ। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्कृष्ट ज्ञान

प्राप्ति का साधन बनें। (२) **वा**-और हे कर्मेन्द्रिय रूप द्वारो! तुम **पृथिव्याः मात्रया**-पृथिवी की मात्रा से, अर्थात् पृथिवी को इकाई बनाकर, सारी पृथिवी को ही अपना कुटुम्ब समझकर, **वि श्रयध्वम्**-विशेषरूप से लोकहितात्मक कर्मों का सेवन करनेवाले बनो। अर्थात् तुम्हारे सब कार्य हृदय की विशाल वृत्ति से किये जाएँ, स्वार्थ से ऊपर उठकर ही सब कार्य हों। (३) **उशतीः**-हित की कामनावाले **द्वारः**-इन्द्रिय द्वारो! **महिना महद्भिः**-महिमा से महान् देवों से अधिष्ठित और अतएव **देवं रथम्**-इस प्रकाशमय रथ को **रथयुः**-रथ की कामनावाले होकर **धारयध्वम्**-धारण करो। इस शरीर-रथ में सब देव आरूढ़ हैं, 'सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। सूर्य यहाँ आँखों में स्थित है, तो दिशाएँ कानों में, वायु नासिका में, अग्नि मुख में, चन्द्रमा मन में, पृथिवी पाँवों में और इसी प्रकार अन्यान्य देवता अन्यान्य स्थानों में स्थित हैं। सब देवों का अधिष्ठान होने से यह शरीर-रथ 'देवरथ' है। इस देवरथ को ये सब इन्द्रिय द्वार उत्तमता से धारण करते हैं। सब इन्द्रिय द्वारों (ख) का उत्तम होना (सु) ही 'सुख' है। इनकी विकृति (दुः) ही 'दुःख' है। शरीर के ये सब द्वार ठीक होंगे तभी ज्ञान के शिखर पर भी हम पहुँचेंगे और तभी व्यापक लोकहित के कार्यों को कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारे सब इन्द्रिय द्वार ठीक हों। ज्ञानेन्द्रियाँ हमें ज्ञानशिखर पर पहुँचाएँ और कर्मेन्द्रियाँ व्यापक यज्ञात्मक कर्मों में व्यापृत रहें।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषासानक्ता

दे॒वी दि॒वो दु॑हि॒तरा॑ सुशि॒ल्पे उ॒षासा॒नक्ता॑ सदतां॒ न योनौ॑।
आ वां॑ दे॒वास॑ उशती उ॒शन्त॑ उ॒रौ सी॑दन्तु सुभगे उ॒पस्थे॑ ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सब इन्द्रियों के ठीक होने पर **उषासानक्ता**-ये दिन और रात **देवी**-हमारे सब व्यवहारों के साधक हों (दिव्-व्यवहार) इनमें हमारा दैनिक कार्यक्रम बड़ी सुन्दरता से चले। किसी कर्म के करने में हम प्रमाद न करें। **दिवः दुहितरा**-ये ज्ञान प्रकाश का प्रपूरण करनेवाले हों, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाले हों। तथा **सुशिल्पे**-उत्तम शिल्पवाले हों। इन दिन व रात में प्रत्येक कार्य बड़े कलापूर्ण तरीके से किया जाये। कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को सुन्दरता से करनेवाली हों। (२) इस प्रकार के ये दिन-रात, जिनमें ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के पूरण में लगी हैं और कर्मेन्द्रियाँ कलापूर्ण तरीके से कार्यों में व्यापृत हैं, **योनौ**-उस मूल-स्थान प्रभु में **निसदताम्**-निश्चय से स्थित हों। अर्थात् दिन-रात प्रभु का स्मरण चले। हमारा प्रत्येक कार्य प्रभु-स्मरण पूर्वक हो। (३) हे उषासानक्ता! **उशती**-आप हमारे हित की कामनावाले हो। और **उशन्तः**-हमारे हित को चाहते हुए **देवासः**-सब देव **वाम्**-आपकी **उरौ**-विशाल व **सुभगे**-उत्तम ऐश्वर्यवाली **उपस्थे**-गोद में **आसीदन्तु**-आसीन हों। दिन-रात्रि की गोद के उरु व सुभग होने का भाव यह है कि हमारा हृदय सदा विशाल व श्री सम्पन्न बना रहे। उस विशाल श्री-सम्पन्न हृदय में सब दिव्यभावनाओं का निवास हो। पूर्वार्ध में कहा था कि हम सदा प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें, उत्तरार्ध में कहते हैं कि हमारे हृदयों में दिव्यगुणों का विकास हो। प्रभु स्मरण से दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है। प्रभु-स्मरण कारण है, दिव्यगुणों का विकास उसका कार्य।

भावार्थ—हम दिन-रात प्रभु-स्मरण करते हुए, प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करते हुए, अपने जीवन में दिव्यता का अवतरण करें।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जीवन यज्ञ के पुरोहित 'प्राणापान'

ऊ॒र्ध्वो ग्रावा॑ बृ॒हद॒ग्निः समि॑द्धः प्रि॒या धामा॒न्यदि॑तेरु॒पस्थे॑।
पु॒रोहि॑तावृत्विजा य॒ज्ञे अ॒स्मिन्वि॒दुष्ट॑रा॒ द्रवि॑ण॒मा य॑जेथाम्॥ ७॥

(१) वेद में 'अश्मा भवतु नस्तनूः' इत्यादि मन्त्रभागों में शरीर को 'अश्मा' बनाने के लिये कहा गया है। यह **ग्रावा** अश्मा-पत्थर के समान दृढ़ शरीर **ऊर्ध्वः**=उन्नत हो। हमारे शरीर की शक्तियों का विकास ठीक प्रकार से हो। (२) शारीरिक उन्नति के साथ **अग्निः**=ज्ञानाग्नि भी **बृहत्**=खूब **समिद्धः**=दीप्त हो। मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से चमक उठे। इस ज्ञानाग्नि ने ही तो हमारे सब कर्मों को पवित्र करता है 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। (३) शरीर को उन्नत व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाने के बाद हम चाहते हैं कि **अदितेः**=उस अविनाशी प्रभु के **उपस्थे**=उपस्थान में, उपासना में उसकी गोद में बैठने पर **प्रिया धामानि**=हमें प्रिय तेज प्राप्त हों। प्रभु के उपासन से हम प्रभु के समान तेजस्वी बनें और ये तेज, किसी की हानि न करते हुए, रक्षणात्मक कार्यों में ही विनियुक्त हों, और इस प्रकार ये तेज प्रिय हों। (४) 'शरीर की दृढ़ता व उन्नति, मस्तिष्क की ज्ञानदीप्ति तथा हृदय में प्रभु के उपासन की वृत्ति' ये सब बातें प्राणसाधना की अपेक्षा करती हैं। प्राणापान को यहाँ 'पुरोहितौ' कहा है। ये सब इन्द्रियों के प्रमुख स्थान में रखे गये हैं, ये ही ज्येष्ठ व वसिष्ठ हैं। जीवन यज्ञ के ये प्रमुख संचालक हैं, 'तत्र जागृतः अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ'। अन्य इन्द्रियाँ सो जाती हैं, पर ये प्राणापान जागते ही रहते हैं। ये **सत्र सदौ**-**ऋत्विजा**=प्रत्येक ऋतु में इस जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हैं। **विदुष्टरा**=(विद् लाभे) जीवन यज्ञ के लिये आवश्यक सब सामग्री को प्राप्त करानेवाले हैं। ये **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **द्रविणम्**=आवश्यक सम्पत्ति को **आयजेथाम्**=सब प्रकार से हमारे साथ संगत करनेवाले हैं। वस्तुतः ये प्राणापान ही शरीर, मस्तिष्क व हृदय को उन्नत करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा जीवन के लिये आवश्यक सामग्री को जुटाएँ।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इडा-सरस्वती-मही

तिस्रो॑ दे॒वीर्ब॒र्हिरि॒दं वरी॑य॒ आ सी॑दत च॒कृमा॑ वः स्यो॒नम्।
म॒नु॒ष्व॒द्य॒ज्ञं सुधि॑ता ह॒वींषीळा॑ दे॒वी घृ॒तप॑दी जुषन्त॥ ८॥

(१) वैदिक साहित्य में 'इडा-सरस्वती-मही' इन तीन देवियों का साथ-साथ उल्लेख मिलता है। 'तिस्रो देवीः' ये शब्द इन्हीं के लिये प्रयुक्त होते हैं। यहाँ 'इडा' का स्पष्ट उल्लेख है। सरस्वती का उल्लेख 'देवी' शब्द से हुआ है। यह शिक्षा के उस अंश को सूचित करता है जो कि 'शिष्टाचार' व सभ्यता कहलाता है, यह शिष्टाचार प्रवाह से सीखा जाता है, पिता के बर्ताव से पुत्र सीखता है। प्रवाह से सीखा जाने के कारण ही इसे सरस्वती कहा गया है। मही को यहाँ 'घृतपदी' कहा है, जिसका एक-एक पद दीप्त है, ज्ञान दीप्ति ही सब से अधिक महत्त्वपूर्ण होने से 'मही' है। इन तीनों से कहते हैं कि हे **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियो! आप **इदम्**=इस **वरीयः**=उत्तर-विशाल अथवा उत्कृष्ट **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसीदत**=आसीन होवो। हम **वः**=आपके द्वारा **स्योनम्**=सुख ही सुख को **चकृमा**=उत्पन्न करते हैं। इन देवियों के अपनाने से जीवन सुखी बनता है। तीनों देवियों का कार्यक्षेत्र अलग-अलग है। 'इडा' शरीर सम्बद्ध है, वस्तुतः इडा का अर्थ

'law'-कानून है। शरीर सम्बन्धी सब कार्यों को बड़ा नियम से करना होता है 'सूर्याचन्द्रमसाविव'। सरस्वती का स्थान हृदय है, यही विनीतता आदि भावनाएँ पनपती हैं। मही का स्थान मस्तिष्क है। सबका कार्यक्षेत्र अलग-अलग होते हुए भी इन सब का निवास स्थान हृदय ही है। अपने जीवन को इन तीनों देवियों का अधिष्ठान बनाकर ही हम सुखी बना पाते हैं। (२) ये **इडा**-शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की कानून भूत देवी, **देवी**-सब व्यवहारों में शिष्टाचार को जन्म देनेवाली सरस्वती तथा **घृतपदी**-मही व भारती ये तीनों ही देवियाँ **यज्ञम्**-श्रेष्ठतम कर्म का **जुषन्त**-सेवन करें। उस श्रेष्ठतम कर्म का जो **मनुष्वत्**-उस ज्ञान के पुञ्ज प्रभुवाला है। जिस यज्ञ में प्रभु का स्मरण ठीक से चलता है, प्रभु को भुला नहीं दिया गया। प्रभु को न भुलाने के कारण ही तो हम उन यज्ञों की सफलता के गर्व से मुक्त रहते हैं। ये देवियाँ **सुधिता**-उत्तमता से स्थापित की गई **हवींषि**-हवियों का सेवन करें। सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाली हों।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'इडा, सरस्वती व मही' तीनों देवियाँ का निवास हो ये जीवन में प्रभु-स्मरणपूर्वक यज्ञों में प्रवृत्त रहें, यज्ञशेष का सेवन करनेवाली हों।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु अंगिरसों के मित्र हैं

देव त्वष्टर्यद्ध चारुत्वमानड्यदङ्गिरसामभवः सचाभूः।
स देवानां पाथ उप प्र विद्वानुशन्यक्षि द्रविणोदः सुरत्नः ॥ ९ ॥

(१) हे **देव**-दिव्यगुणों के पुञ्ज! **त्वष्टः**-(त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा गतिकर्मणः नि०) दीप्त व सारे संसार के निर्माता प्रभो! **यद् ह**-जो निश्चय से आप **चारुत्वम्**-सौन्दर्य को **आनट्**-व्याप्त करते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण सौन्दर्य के स्वामी हैं तथा **यद्**-जो आप **अंगिरसाम्**-अंग-प्रत्यंग में रसवाले, अर्थात् सबल शरीरवालों के **सचाभूः अभवः**-साथ होनेवाले हैं। **स**-वे आप **प्रविद्वान्**-हमारी स्थिति के प्रकर्षेण जानते हुए **उशन्**-हमारे हित को चाहते हुए **देवानाम्**-देवों के **पाथः**-सात्त्विक अन्न को (food) **उपयक्षि**-हमारे साथ संगत करिये। देवों से खाने योग्य सात्त्विक अन्न के प्रयोग से ही हमारी वृत्ति भी देववृत्ति बनेगी। सब जीवन का सौन्दर्य इस सात्त्विक अन्न पर ही निर्भर करता है। इसी अन्न ने हमें अंग-प्रत्यंग में रसवाला सात्त्विक शक्ति सम्पन्न बनाना है। (२) हे प्रभो! आप ही **द्रविणोदः**-सब द्रविणों के देनेवाले हैं और **सुरत्नः**-सुन्दर रमणीय रत्नोंवाले हैं। आपका मित्र बनकर मैं इन द्रविणों व रत्नों को क्यों न प्राप्त करूँगा?

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में ही जीवन का सौन्दर्य है। देवताओं का सात्त्विक अन्न ही हमें सात्त्विक बनाकर सशक्त बनायेगा और हम प्रभु की मित्रता के अधिकारी होंगे।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्यागपूर्वक उपभोग में आनन्द

वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्।
स्वदाति देवः कृणवद्धवींष्यवतां द्यावापृथिवी हवं मे ॥ १० ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का मित्र सौन्दर्य को प्राप्त करता है। इसे सम्बोधन करके कहते हैं कि हे वनस्पते (वनस्-loveliness, glory) सौन्दर्य की अपने में रक्षा करनेवाले जीव! इस सौन्दर्य रक्षा के लिये **रशनया नियूयः**-अपनी सब इन्द्रियों व मन को संयम-रज्जु से बाँधकर, **विद्वान्**-समझदार ज्ञानी होता हुआ तू **देवानां पाथः**-देवों के सात्त्विक अन्न को ही **उपवक्षि**-समीपता

से प्राप्त करानेवाला बन। सात्त्विक अन्न का ही सेवन कर। इसके लिये जीवन को संयमी बना, इन्द्रियाश्वों को संयम-रज्जु से बाँधनेवाला बन। इसी से तू जीवन में सौन्दर्य को रक्षित करनेवाला होगा। सुन्दर जीवनवाला तू देव बन जाएगा। (२) **देवः**=यह देव **स्वदाति**=प्रभु की बनाई हुई इन सब वस्तुओं का स्वाद लेता है, परन्तु **हवींषि कृणवत्**=सदा दानपूर्वक ही अदन को करनेवाला बनता है (हु दानादनयोः)। यह यज्ञशेष का सेवन उसके लिये अमृत का सेवन हो जाता है। यह चाहता है कि **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, द्युलोक से लेकर पृथ्वीलोक तक सारा संसार मे **हवम्**=मेरी पुकार को **अवताम्**=(to faronr, promote, amimate) प्रीणित करे। मेरी यही कामना हो कि मैं सदा हवियों का सेवन करनेवाला बनूँ। संसार का आनन्द लूँ, पर यह न भूल जाऊँ कि सच्चा आनन्द त्यागपूर्वक उपभोग में ही है। संसार में इन इन्द्रियों के द्वारा विचरो तो सही, परन्तु इन्हें आत्मवश्य करके ही विचरूँ।

भावार्थ—संयमी बनकर मैं सात्त्विक अन्न को ही लूँ। त्यागपूर्वक उपभोग में ही आनन्द का अनुभव करूँ। सारा संसार मेरी इस कामना के लिये अनुकूल वातावरण उपस्थित करे।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-प्राणायाम व मध्यमार्ग

आग्ने वह वरुणमिष्टये न इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात्।
सीदन्तु बर्हिर्विश्व आ यजत्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्॥ ११ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **नः**=हमारी **इषये**=पूजा के लिये व प्राप्ति के लिये **वरुणम्**=द्वेष-निवारण की वृत्ति को **आवह**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला बन। अपने में तू निर्द्वेषता को धारण कर। राग-द्वेष से पूर्ण हृदय में प्रभु का निवास नहीं हो सकता। प्रभु प्राप्ति के लिये तू **इन्द्रम्**=जितेन्द्रियता को **आवह**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला हो। इन्द्र वही है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। (२) इस निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता को तू (क) **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश से प्राप्त कर। जितना-जितना ज्ञान बढ़ेगा तू उतना-उतना ही तू निर्द्वेष व जितेन्द्रिय हो पायेगा। (ख) निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता को तू **मरुतः**=प्राणों के द्वारा प्राप्त कर। प्राणसाधना तेरे लिये इन्हें सुगमता से प्राप्त होने योग्य करेगी। (ग) **अन्तरिक्षात्**=मध्यमार्ग में (अन्तराक्षि) चलने से भी तू जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बन पायेगा। (३) ज्ञान-प्राणसाधना व मध्यमार्ग में चलने से **विश्वे**=सब **यजत्राः**=यष्टव्य=पूजा के योग्य दिव्य भावना में **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसीदन्तु**=आसीन हों। दिव्य भावनाएँ यजत्र हैं, इनकी प्राप्ति के लिये ज्ञान (स्वाध्याय) प्राणायाम व मध्यमार्ग में चलना आवश्यक है। (३) इन दिव्य भावनाओं को प्राप्त करके **देवाः**=देववृत्तिवाले लोग **स्वाहा**=स्व का त्याग करनेवाले हों, त्यागपूर्वक ही सदा संसार के सब पदार्थों का उपभोग करें। इस त्यागपूर्वक उपभोग व यज्ञशेष के सेवन से ही ये **अमृताः**=नीरोग होते हैं, ये नीरोग देव **मादयन्ताम्**=जीवन में निरन्तर आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—हम स्वाध्याय, प्राणायाम व मध्यमार्ग को अपनाकर निर्द्वेष व जितेन्द्रिय बनें। यही सच्ची प्रभु-पूजा है। देव त्यागपूर्वक उपभोग करते हैं, अतएव अमर व नीरोग होते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ वेद ज्ञान को अपनाने के आदेश से होता है, (१) समाप्ति पर उसके परिणामरूप निर्द्वेष व जितेन्द्रिय बनने का उल्लेख है, (११) अब इस वेदज्ञान का सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाने का उल्लेख करते हैं—

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत्प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त्प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः ॥ १ ॥

(१) **बृहस्पते (बृहस्पतेः)**-उस ज्ञान के स्वामी प्रभु का **प्रथमम्**-(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तारवाला **वाचः अग्रम्**-वाणी के अग्र-स्थान में होनेवाला यह वेदज्ञान है। 'प्रथमं' तो इसलिए कि इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है और 'वाचः अग्रं' इसलिए कि सबसे पूर्व इन्हीं शब्दों का उच्चारण हुआ 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' प्रभु ने मानस पुत्रों को जन्म दिया और उनमें से श्रेष्ठतम चार जो 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' उनके हृदयों में इस वेदज्ञान का प्रकाश किया। इस प्रकार सबसे प्रथम इसी वाणी का उच्चारण हुआ। (२) (क) अब **नामधेयं दधानाः**-प्रभु के नाम का हृदयों में धारण करते हुए अन्य ऋषियों व विचारशील व्यक्तियों ने भी **यत्**-यह जो वेदज्ञान था उसे **प्रैरत**-अपने में प्रेरित किया। अग्नि आदि से इन्होंने वेदज्ञान को प्राप्त किया और इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हुए ये सदा उस प्रभु के नाम का मानस जप करने में व्यस्त रहे। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि संसार में भिन्न-भिन्न संस्थाओं (आकृतियों) का नाम रखते समय इन्होंने उस वेदवाणी को ही अपने में प्रेरित किया, उसका ध्यान करके उसी में से नदियों के सिन्धु आदि पर्वतों के हिमालयादि नाम रखे 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'। (३) **एषाम्**-सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए-हुए इन व्यक्तियों में **यत्**-जो **श्रेष्ठम्**-सर्वोत्तम थे **यत्**-जो **अरिप्रम्**-बिलकुल निर्दोष थे, जिनकी बुद्धि व मन सर्वाधिक पवित्र **आसीत्**-थे **तत्**-सो **एषाम्**-इनके श्रेष्ठ व अरिप्र लोगों के **गुहा**-हृदय रूप गुहा में **प्रेणा**-(प्रेम्णा) प्रभु प्रेम के कारण **निहितम्**-यह वेदज्ञान स्थापित हुआ और **आविः**-प्रकट हुआ। प्रारम्भिक मानसी सृष्टि में जो सर्वाग्रणी थे उनके पवित्रतम हृदयों में यह वेदज्ञान प्रकट किया गया। इनके द्वारा यह वेदज्ञान औरों तक पहुँचा।

भावार्थ—प्रभु से दी गई वेदवाणी ही इस सृष्टि के प्रारम्भिक शब्द थे। सर्वश्रेष्ठ हृदयों में इसका प्रकाश हुआ और उनके द्वारा इसका विस्तार हुआ।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी का विचार

सक्तु॑मिव॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त।
अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्निहि॒ताधि॑ वा॒चि ॥ २ ॥

(१) **इव**-जैसे **सक्तुम्**-सत्तु को **तितउना**-छाननी से **पुनन्तः**-पवित्र करते हैं, उसी प्रकार **यत्र**-जहाँ **धीराः**-ज्ञान में रमण करनेवाले धीर पुरुष **मनसा**-मन से, मन में मनन व चिन्तन के द्वारा, **वाचम्**-इस वेदवाणी को **अक्रत**-प्रकृति प्रत्यय के विचार से प्रकटार्थ करते हैं **अत्रा**-यहाँ **सखायः**-(सह ख्यानं येषां) मिलकर ज्ञान की चर्चा करनेवाले ये लोग **सख्यानि**-वास्तविक मित्रता को **जानते**-अनुभव करते हैं। इस संसार में वास्तविक मैत्री तो प्रभु के ही साथ है, उस मैत्री का अनुभव ये ज्ञान की चर्चा करनेवाले ही कर पाते हैं। (२) **एषां वाचि**-इनकी वाणी में **भद्रा लक्ष्मीः**-कल्याणी लक्ष्मी **अधि निहिता**-आधिक्येन निहित होती है। इनकी वाणी पवित्र

होती है, ये सब के लिये शुभ ही शब्दों को बोलती है, सदा प्रभु के नाम का स्मरण करने से यह लक्ष्मी सम्पन्न बनी रहती है। जब लक्ष्मीवान् वे प्रभु हैं, इनकी वाणी में लक्ष्मी क्यों न हो! वास्तव में तो इनकी वाणी में ऐसी शक्ति आ जाती है कि ये जो कुछ बोलते हैं वैसा ही हो जाता है।

भावार्थ—वेदवाणी की मिलकर चर्चा करने से वाणी में भद्रा लक्ष्मी का निवास होता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सप्तरेभा वेदवाणी का ऋषियों में प्रवेश

य॒ज्ञेन॑ वा॒चः प॑द॒वीय॑माय॒न्तामन्व॑विन्द॒न्नृषि॑षु॒ प्रवि॑ष्टाम्।
तामा॒भृत्या॒ व्य॑दधुः पुरु॒त्रा तां स॒प्त रे॒भा अ॒भि सं न॑वन्ते ॥ ३ ॥

(१) **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा उस उपास्य प्रभु के द्वारा ('यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः') **वाचः**=वाणी के **पदवीयम्**=मार्ग को **आयन्**=प्राप्त हुए। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के द्वारा अग्नि आदि को इस वेदवाणी का ज्ञान हुआ और **ऋषिषु प्रविष्टाम्**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट हुई-हुई **ताम्**=उस वेदवाणी को **अन्वविन्दन्**=पीछे अन्य ऋषियों ने प्राप्त किया। प्रभु ने अग्नि आदि को ज्ञान दिया। अग्नि आदि से अन्य ऋषियों ने इसे पाया। (२) **तां आभृत्या**=उस वेदवाणी को उत्तमता से धारण करके उन्होंने **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **व्यदधुः**=इसे स्थापित किया। इसका मनुओं में, विचारशील पुरुषों में प्रचार किया, **ताम्**=उस वेदवाणी को **सप्त रेभाः**=सात गायत्री आदि छन्द **अभिसंनवन्ते**=प्राप्त होते हैं। यह वेदवाणी गायत्री आदि सात छन्दों में प्रवृत्त होती है। अथवा 'सप्तरेभाः' को समस्त पद लेकर यह अर्थ किया जा सकता है कि उस वेदवाणी को 'कानों, नासिकाओं, आँखों व मुख' से इन सातों से प्रभु-स्तवन करनेवाले लोग **अभितः**=प्राप्त होते हैं।

सूचना—प्रारम्भिक चरण का अर्थ यह भी है कि 'यज्ञ से, श्रेष्ठतम कर्मों से वाणी के मार्ग को प्राप्त करते हैं'। यज्ञिय वृत्ति हृदय का शोधन करके हमें वेदज्ञान के मार्ग का पथिक बना देती है।

भावार्थ—प्रभु अग्नि आदि को वेदज्ञान देते हैं, इनसे अन्य यज्ञिय वृत्तिवाले ऋषियों को यह प्राप्त होती है। उसे ये ऋषि मानवसमाज में प्रचरित करते हैं। यह वेदवाणी सात छन्दों से युक्त है, अथवा 'कान-२, नाक-२, आँख-२, मुख-१' ये सात स्तोता बनकर इसे प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानी व अज्ञानी (यह वेदज्ञान किसी को होता है, किसी को नहीं)

उ॒त त्वः॒ पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्वः॑ शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम्।
उ॒तो त्व॑स्मै त॒न्वं१॒॑ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासाः॑ ॥ ४ ॥

(१) **त्वः**=कोई एक **पश्यन् उत**=देखता हुआ भी **वाचं न ददर्श**=इस वेदवाणी को देखता नहीं, **त्वः**=कोई एक **शृण्वन् उत**=सुनता हुआ भी **एनां न शृणोति**=इस वेदवाणी को नहीं सुनता है। इस वेदवाणी को देखता और सुनता हुआ यदि वह एक तोते की तरह उसका उच्चारण कर लेता है पर उसके अर्थ को नहीं समझता, तो वस्तुतः वह देखते हुए भी नहीं देख रहा, सुनते हुए भी नहीं सुन रहा। केवल बोलना व उच्चारण करना किसी लाभ को न देने के कारण व्यर्थ-सा हो जाता है। 'व्यर्थ' का भाव ही अर्थ से रहित है। अर्थ से रहित पढ़ना व्यर्थ तो हो ही जाता है। (२) सो एक समझदार पुरुष इस वेदवाणी के अर्थ को समझने का प्रयत्न करता है। वेद का

पढ़ना-पढ़ाना उसका परम धर्म हो जाता है, वह इसे पढ़ता है और इसे समझने का प्रयत्न करता है, केवल पढ़कर वह चन्दनवाही खर ही नहीं बना रहता। **उत उ**-और निश्चय से **त्वस्मै**-इस वेदवाणी को समझनेवाले पुरुष के लिये यह वेदवाणी उसी प्रकार **तन्वं विसस्रे**-अपने स्वरूप को प्रकट करती है **इव**-जैसे **उशती**-हित की कामना करती हुई **सुवासाः**-उत्तम वस्त्रोंवाली **जाया**-पत्नी **पत्ये**-पति के लिये अपने रूप को प्रकट करती है। अर्थज्ञ पुरुष ही वेदवाणी के रूप को ठीक प्रकार देख पाता है। यही उससे उचित आनन्दों को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी के अर्थ को न समझनेवाला पुरुष वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देख रहा होता। यह वेदवाणी के सुन्दर रूप का दर्शन नहीं कर पाता।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अफला अपुष्पा वेदवाणी-बांझ गौ

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिसके प्रति वेदवाणी रूप पत्नी अपने रूप को प्रकट करती है **त्वं उत**-उसको ही **सख्ये**-मिलकर के होनेवाली ज्ञानचर्चाओं के प्रसंग में (सह चक्षते अस्मिन्) **स्थिरपीतम्**-स्थिरता से किये हुए ज्ञान के पानवाला **आहुः**-करते हैं। **एनम्**-इस स्थिरपीत व्यक्ति को **वाजिनेषु**-(वाक् इना येषां) वाक् से ज्ञेय अर्थों में **न हिन्वन्ति अपि**-नहीं ही प्राप्त होते। यह जितनी सुन्दर वाग् शेष अर्थों का प्रतिपादन करता है, उतना अन्य लोग नहीं कर पाते, शास्त्रार्थ में इससे जीत नहीं पाते। एवं वेदवाणी के अर्थ का 'मनन, निदिध्यासन व साक्षात्कार' भी अत्यन्त आवश्यक है। (२) मननादि को न करके श्रवण तक ही अपने को सीमित करनेवाला **एषः**-यह व्यक्ति **वाचं शुश्रुवान्**-वाणी का सुननेवाला तो हुवा है, परन्तु **अफलां अपुष्पाम्**-इसने फल पुष्प रहित ही वाणी को सुना है। वाणी के पुष्प व फल उसके अर्थ ही है। अर्थ को नहीं जाना तो वह वाणी अफलता अपुष्पा तो हो ही गई। 'यज्ञविषयक ज्ञान' इस वाणी का पुष्प है और 'देवता (प्रभु) विषयक ज्ञान' इसका फल है। जिसने वेदवाणी को सुनकर यज्ञों व देवों को नहीं जाना, यज्ञ में प्रवृत्त नहीं हुआ तथा प्रभु के उपासन में नहीं लगा तो उसके लिये यह वेदवाणी 'अफला व अपुष्पा' ही रही। (३) वह वेदवाणी के अर्थ को न समझनेवाला पुरुष तो **अधेन्वा**-एक अप्रशस्त धेनु के साथ **मायया**-माया व भ्रान्ति को पैदा करता हुआ **चरति**-विचरण करता है। जैसे बांझ और शरीर में हृष्ट-पुष्ट गौ को लिये हुए एक पुरुष इधर-उधर घूमता है तो लोगों को यही भ्रम होता है कि मनभर तो दूध देती ही होगी, इसी प्रकार इस वेदोच्चारण करनेवाले पुरुष के लिये लोगों के हृदय में उसके लिये महती भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, वे उसे बड़ा वेदज्ञ समझने लगते हैं, जब कि वास्तव में वह कोरे का कोरा ही है।

भावार्थ—वेदार्थ को समझनेवाला ही वेद से कल्याण को प्राप्त करता है। दूसरे के लिये तो यह वेदवाणी वन्ध्या गौ के ही समान है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सखा का अत्याग

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ ६ ॥

(१) यः=जो सचिविदं (सचा विद्यते)=सदा साथ रहनेवाले अथवा (शंची विन्दति 'अन्तर्भावितण्यर्थ')=शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करानेवाले सखायम्=मित्र प्रभु को तित्याज=छोड़ देता है, तस्य=उसका वाचि=वेदवाणी में भागः अपि=कुछ भी अंश न अस्ति=नहीं होता प्रभु का विस्मरण करनेवाला वेदवाणी को ग्रहण नहीं कर पाता। (२) वेदवाणी को छोड़कर यह संसार में ईम्=निश्चय से यत् शृणोति=जो अन्य बातें सुनता है अलकं शृणोति=वह सब असत्य ही सुनता है। उस सब श्रवण से यह सुकृतस्य=पुण्य के पन्थाम्=मार्ग को नहि प्रवेद=निश्चय से नहीं जान पाता। वेदों को छोड़कर अन्य बातों को सुनते रहना हमारे लिये धर्मज्ञान में सहायक नहीं होता। वेद व वेद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हमें धर्म की प्रेरणा देते हैं। अन्य ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं होता, वह हमें धर्म की ओर झुकाववाला नहीं करता।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से शक्ति व प्रज्ञा में वृद्धि होती है, हम वेद को समझने योग्य बनते हैं और धर्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान में विषमता

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥

(१) अक्षण्वन्तः=आँखोंवाले तथा कर्णवन्तः=कानोंवाले सखाया=एक ही श्रेणी में ज्ञान को प्राप्त करनेवाले (समानं ख्यानं येषां) युवक होते हैं। इनकी आँखें बाह्य पदार्थों को ठीक से देखती हैं, कान बाह्य शब्दों को ठीक से सुनते हैं एक ही गुरु से ये ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं। ऐसा होते हुए भी मनोजवेषु=मन के वेगों में असमा बभूवुः=ये समान नहीं होते। इनका मन दिये जाते हुए ज्ञान को समानरूप से ग्रहण नहीं करता। (२) ज्ञान को यदि जल से उपमित करें, तो इनमें से कई आदघ्नासः=आस्य प्रमाण उदकवाले होते हैं, कइयों के ज्ञान सरोवर में मुख तक आनेवाला ज्ञान जल भरा होता है। उ=और त्वे=कई उपकक्षासः=बाहुमूलपर्यन्त आनेवाले ज्ञान जलवाले होते हैं। उ=और त्वे=कई तो स्नात्वाः ह्रदाः इव=स्नानीय तालाबों के समान परिपूर्ण जलवाले, डुबाऊ जलवाले ददृश्रे=दिखाई पड़ते हैं।

भावार्थ—बाह्य वातावरण की समानता होते हुए भी मनोजवों की विषमता के कारण एक ही श्रेणी के विद्यार्थियों में ज्ञान की विषमता हो जाती है। 'स्नात्वाः ह्रदाः इव' प्रथम विभाग के हैं, 'आदघ्नासः' द्वितीय विभाग के तथा 'उपकक्षासः' तृतीयविभाग के।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदज्ञ व अवेदज्ञ

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥

(१) यद्=जब हृदा=हृदय की श्रद्धा से तष्टेषु=तीव्र किये हुए (तक्ष=तनूकरणे) मनसः जवेषु=मन के वेगों में, मन से प्राप्त करने योग्य ज्ञानों के निमित्त ब्राह्मणाः=ब्रह्म के विचारक पुरुष सखायः=परस्पर ज्ञान की मैत्रीवाले होकर संयजन्ते=एकत्रित होते हैं। एकत्रित होकर जब ये ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञ को प्रारम्भ करते हैं तो अत्र=यहाँ ज्ञानयज्ञों में अह=निश्चय से त्वम्=किसी एक को वेद्याभिः=वेद्य वस्तुओं से विजहुः=छोड़ देते हैं। अर्थात् समझ की कमी के कारण उसे

शास्त्रीय चर्चाओं में सम्मिलित नहीं करते। उ त्वे=और कई इन नासमझ पुरुषों से भिन्न **ओहब्रह्माणः**=ऊह्य है ब्रह्म जिनके लिये, अर्थात् तर्क-वितर्क द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व का स्थापन करनेवाले व्यक्ति उन ज्ञानयज्ञों में **विचरन्ति**=विशिष्ट शोभा के साथ विचरण करते हैं। ज्ञान उनकी शोभा वृद्धि का कारण बनता है। (२) ज्ञान यज्ञों में कई हृदय व मन के विकास के कारण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं तो दूसरे अविकसित हृदय व मनवाले अलग ही बैठे रह जाते हैं।

भावार्थ—हृदय व मन की पवित्रता ब्रह्मज्ञान के लिये आवश्यक है। इसके बिना हम 'ओहब्रह्म' नहीं बन पाते।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञानी-यज्ञशील

इ॒मे ये नार्वाङ् न प॒रश्चर॑न्ति॒ न ब्रा॑ह्म॒णासो॒ न सु॒तेक॑रासः।
त ए॒ते वाच॑मभि॒पद्य॑ पा॒पया॑ सि॒रीस्तन्त्रं॑ तन्वते॒ अप्र॑जज्ञयः॥ ९॥

(१) **इमे**=ये **ये**=जो **न**=न तो **अर्वाङ्**=यहाँ नीचे लौकिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के साथ ज्ञानचर्चा करते हुए **चरन्ति**=विचरते हैं और **न**=नां ही **परः**=उत्कृष्ट अध्यात्मक्षेत्र में देवचिन्तन करते हुए देवों के साथ विचरते हैं, वे **न ब्राह्मणासः**=न ज्ञानी बनते हैं और **न**=नां ही **सुतेकरासः**=यज्ञादि को करनेवाले होते हैं। ब्राह्मणों के साथ विचरते, तो उनके साथ ज्ञानचर्या करते हुए ज्ञानी बन जाते। यदि देवों का चिन्तन करते, तो इन सब पदार्थों को देवों से दिया हुआ जानकर, सदा देवों के लिये देकर यज्ञशेष का ही सेवन करते। परन्तु अब ये न तो ज्ञानी बने, न यज्ञशील। (२) **ते एते**=वे ये **अप्रजज्ञयः**=अविद्वान् लोग **वाचम्**=लौकिकी वाणी को ही, 'कहाँ और कब क्या-क्या दुर्घटनाएं हुईं' इस प्रकार की व्यर्थ की वाणी को **अभिपद्य**=प्राप्त होकर **पापया**=उस पाप की ओर झुकाव को करनेवाली वाणी से युक्त हुए-हुए **सिरीः**=(सीरिणो भूत्वा सा०) हलोंवाले होकर **तन्त्रम्**=कृषि लक्षण तन्त्र का ही **तन्वते**=विस्तार करते हैं। अर्थात् ये हल ही चलाते रह जाते हैं, अर्थात् खान-पान की दुनियाँ से ऊपर नहीं उठ पाते।

सूचना—यहां कृषि की निन्दा अभिप्रेत नहीं। परन्तु खान-पान की दुनियाँ से ऊपर उठना अभिप्रेत है। केवल इस दुनियाँ की ही चर्चा न करते रहकर, कुछ अध्यात्मचर्चा भी करनी ही चाहिए।

भावार्थ—हम ब्राह्मणों के सम्पर्क से ज्ञानी बनें, देवों के सम्पर्क से यज्ञशील। केवल लौकिक बातों के ज्ञान में उलझकर खाने-पीने की दुनियाँ में ही न समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रौढ़ ज्ञानी

सर्वे॑ नन्दन्ति य॒शसाग॑तेन सभासा॒हेन॒ सख्या॒ सखा॑यः।
कि॒ल्बि॒ष॒स्पृत्पि॑तु॒षणि॒र्ह्ये॑षा॒मरं॑ हि॒तो भव॑ति॒ वाजि॑नाय॥ १०॥

(१) जो व्यक्ति ब्राह्मणों व देवों के सम्पर्क में विचरता है वह खूब ऊँचा ज्ञानी बनता है। जब कभी यह सभाओं में आता है, तो इसके आने पर सभी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। इस **यशसा**=यशस्वी **सभासाहेन**=सम्पूर्ण सभा का अपने ज्ञान से अभिभव करनेवाले **आगतेन**=आये हुए **सख्या**=ज्ञान संगी से **सर्वे सखायः**=सारे ज्ञान संगी **नन्दन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) सभा में उपस्थित होकर यह जो ज्ञानचर्चा करता है, उस ज्ञानचर्चा से यह **किल्बिषस्पृत्**=पापों

का नष्ट करनेवाला होता है पितुषणिः=अन्न का सम्भजन करानेवाला होता है। इसकी ज्ञानचर्चा परा व अपरा दोनों विद्याओं के क्षेत्र में चलती है। पराविद्या से यह पापों को दूर करता है तो अपरा से यह अन्न प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराता है। इसका दिया हुआ ज्ञान अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करता है। (३) इस प्रकार यह विद्वान् एषाम्=इन सब सभ्यों के वाजिनाय=शक्ति-सम्पादन के लिये अरम्=पर्याप्त रूप से हितः=हितकर भवति=होता है। इनके लिये ज्ञान को देकर वह शारीरिक व अध्यात्म शक्तियों से इन्हें सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान वही ठीक है जो कि पाप को नष्ट करनेवाला है और अन्न प्राप्ति की क्षमता देता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चार ऋत्विन

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्रों में वर्णित ज्ञानियों में चार ज्ञानी ऋत्विज ही सब यज्ञादि कार्यों को सम्पन्न कराते हैं। उनमें से त्वः=एक 'होता' ऋचां पोषं पुपुष्वान्=ऋचाओं के यथाविधि कर्मों में प्रयोग का पोषण करता हुआ आस्ते=यज्ञवेदि में आसीन होता है। (२) त्वः=एक उद्गाता शक्करीषु=प्रभु के सम्पर्क के द्वारा शक्ति को उत्पन्न करनेवाली 'शक्करी' नामक ऋचाओं में गायत्रम्=प्राणों का रक्षण करनेवाले 'गायत्र' नामक साम का गायति=गायन करता है। साम के द्वारा प्रभु के गुणों का गायन होता है, प्रभु के इस उपासन से उपासक के जीवन में शक्ति का संचार होता है। (३) त्वः=एक ब्रह्मा=सर्ववेदवेत्ता-विशेषतः अथर्व के द्वारा दोषों को दूर करनेवाला जातविद्यां वदति=(जातेरवेदयित्रीं) उस-उस उत्पन्न कर्म में दोष दूरीकरण की विधि की ज्ञापक वाणी को बोलता है। (४) उ=और त्वः=एक अध्वर्यु, यजुर्वेद का विशेष ज्ञाता बनकर यज्ञस्य मात्राम्=यज्ञ की मात्रा को विमिमीते=मापता है। आहुति के परिमाणादि का निर्णय करता है। इस प्रकार 'होता' ऋग्वेद से, 'उद्गाता' सामवेद से, 'ब्रह्मा' अथर्व से और 'अध्वर्यु' यजुर्वेद से कार्य करता है। और ये चारों मिलकर यज्ञ को पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—हम वेदों को पढ़ें, वेदज्ञान को यज्ञों में विनियुक्त करते हुए यज्ञशील हों।

इस सूक्त में 'बृहस्पति' वेदज्ञानी बनकर किस प्रकार जीवन को सुन्दर बनाता है, इस बात का प्रतिपादन हुआ है। अगले सूक्त में 'बृहस्पति' सृष्ट्युत्पत्ति का प्रतिपादन करेगा तो उसका नाम ही 'लौक्य बृहस्पति' हो गया है। वह कहता है—

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सृष्ट्युत्पत्ति

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया। उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥

(१) वयम्=हम नु=अब विपन्यया=(विस्पष्टया वाचा)=वेदवाणी रूप प्रशस्त वाणी से देवानाम्=सूर्य, चन्द्र, तारे और पृथिवी आदि देवों के जाना=जन्मों को प्रवोचाम=प्रतिपादित करते हैं। वेद-मन्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति का विषय वर्णित हुआ है। (२) इसलिए उक्थेषु

शस्यमानेषु=इन वेद-मन्त्रों के, स्तोत्रों के उच्चरित होने पर यः=जो उपस्थित होता है वह उत्तरे युगे=आनेवाले युगों में पश्यात्=इस सृष्टि की उत्पत्ति को देखता है। वेद मन्त्रों में वर्णित उस सृष्ट्युत्पत्ति को समझनेवाला वह बनता है। वेद-मन्त्रों में प्रभु के द्वारा इस सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन पढ़नेवाले के हृदय में प्रभु-भक्ति की भावना को जगाता है, ये वर्णन ही प्रभु के स्तवन बन जाते हैं। इनका शंसन हमें प्रभु-प्रवण बनाता है।

भावार्थ—वेद-मन्त्रों में वर्णित सृष्ट्युत्पत्ति को हम समझें और प्रभु की महिमा का अनुभव करें।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'असत्' का 'सत्' रूप में आना (देव युग)

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ २ ॥

(१) **ब्रह्मणः पतिः**=ज्ञान का पति प्रभु **कर्मार इव**=एक लोहार की तरह **एता**=इन सूर्यादि देवों की आकृतियों को **अधमत्**=प्रकृति पिण्ड को संतप्त करके ढालता था। प्रकृति के द्वारा प्रभु ने सूर्यादि को बनाया। एक लोहार लोहपिण्ड को संतप्त कर के आहत करता है और विविध आकृतियों में उसे परिणत करता है, इसी प्रकार प्रभु ने प्रकृति पिण्ड को संतप्त करके सूर्यादि देवों की आकृति में परिणत किया। (२) **देवानां पूर्व्ये युगे**=इस देवों के निर्माणवाले प्रथम युग में **असतः**=आकृतिशून्य अव्यक्त, असत् प्राय-प्रकृति से **सत्**=यह आकृतिवाला व्यक्त जगत् **अजायत**=प्रादुर्भूत हो गया। सृष्ट्युत्पत्ति का प्रथम युग वही है जिसमें कि 'असत् प्रकृति' 'सत् सृष्टि' का रूप लेती है, इसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों का निर्माण हो जाता है और यह 'देव-युग' कहलाता है। इन देवों का निर्माण ज्ञान के पति प्रभु से हुआ है, सो उसके ज्ञान की पूर्णता के कारण इनके निर्माण में भी किसी प्रकार की कमी नहीं। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं'=प्रभु पूर्ण हैं, सो सृष्टि भी पूर्ण है।

भावार्थ—प्रभु ने अव्यक्त प्रकृति को व्यक्त सृष्टि का रूप दिया। प्रभु पूर्ण ज्ञानी हैं सो उनकी रचना में भी न्यूनता नहीं है।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वानस्पतिक युग

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ ३ ॥

(१) **देवानां युगे प्रथमे**=देवों के निर्माण के इस प्रथम युग में **असतः**=अव्यक्त होने से असत् प्राय प्रकृति से **सत्**=यह आकृतिवाला व्यक्त जगत् **अजायत**=प्रादुर्भूत हो गया। अव्यक्त प्रकृति ने इन व्यक्त सूर्यादि देवों का रूप धारण किया। (२) **तद् अनु**=उसके बाद, अर्थात् इन लोकों के बन जाने के बाद **आशाः**=दिशाएँ **अजायन्त**=प्रादुर्भूत हुई। इन लोकों के बनने से पहले दिशाओं के व्यवहार का सम्भव ही नहीं। इन लोकों में ही यह 'भू'=पृथ्वी भी है। इस पर रहनेवाले प्राणी सूर्योदय आदि को देखकर 'प्राची-प्रतीची-उदीची व अवाची' आदि दिशाओं का व्यवहार करते हैं। (३) **तत् परि**=उसके पीछे इस पृथ्वी पर **उत्तानपदः** (**उत्ताना: पद्यन्ते-गच्छन्ति**)= ऊर्ध्वगतिवाले ये वृक्ष वनस्पति प्रादुर्भूत हुए। यही वस्तुतः देवों के युग के बाद का 'वनस्पति युग' है। इस वनस्पति युग में आगे होनेवाले जीवन के धारण के लिये विविध वानस्पतिक रचनाओं का निर्माण हुआ।

भावार्थ—देवयुग के बाद वानस्पतिक युग आया और पृथ्वी पर विविध वनस्पतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी॥ देवता—देवाः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

अदिति व दक्ष (प्रकृति परमात्मा)

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ ४॥

(१) 'उत्तानपद्' शब्द का अर्थ वृक्ष भी है और परमात्मा भी है (supreme spirit)। प्रस्तुत मन्त्र में 'परमात्मा' अर्थ ही अभीष्ट है। (क) **उत्तानपदः**=उस परमात्मा से **भूः जज्ञे**=यह पृथ्वी प्रादुर्भूत की गई। (ख) 'उत्तानपद्' शब्द का वृक्ष ही अर्थ लें तो अर्थ इस प्रकार होगा कि वृक्षों के हेतु से यह पृथ्वी पैदा की गई। **भुवः**=इस पृथ्वी से ही **आशाः अजायन्त**=दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ। पृथ्वी पर रहनेवाली प्राणियों से ही पूर्वादि का व्यवहार किया जाता है। दिशा कोई स्थूल वस्तु न होकर व्यावहारिक वस्तु है और व्यवहार इन चेतन प्राणियों ने ही करना होता है। (२) इस प्रकार **दक्षः**=इस संसार का वर्धन करनेवाले प्रभु **अदितेः**=अविनाशी प्रकृति से (अ+दिति=खण्डन) **अजायत** (अजनयत्)=इस संसार को जन्म देते हैं। उ=और ऐसा भी कह सकते हैं कि **दक्षात्**=उस प्रजापति से यह **अदितिः**=प्रकृति **परि अजायत**=चारों ओर वर्तमान संसार के रूप में हो जाती है। 'दक्ष अदिति से संसार को जन्म देता है' अथवा 'दक्ष से अदिति संसार को जन्म देती है' इन दोनों वाक्यों का अन्तिम भाव समान ही है। 'पिता माता द्वारा पुत्र को जन्म देता है', 'अथवा माता पिता द्वारा पुत्र को जन्म देती है' इन दोनों वाक्यों में जन्म तो माता ही देती है, इसी प्रकार प्रकृति ही संसार को उत्पन्न करती है।

भावार्थ—पृथ्वी हुई और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं तथा दिशाओं का व्यवहार प्रसिद्ध हुआ। दक्ष की अध्यक्षता में अदिति ने सृष्टि को जन्म दिया।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी॥ देवता—देवाः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'भद्र व अमृतबन्धु' देव

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः॥ ५॥

(१) हे **दक्ष**=संसार का वर्धन करनेवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से यह **अदितिः**=अविनाशी प्रकृति, या जो कि **तव**=आपकी **दुहिता**=प्रपूरक है (दुह प्रपूरणे), वह **अजनिष्ट**=इस संसार को जन्म देती है। एक कुशल कुम्हार घड़े बनाने में जैसे किसी अन्य चेतन की सहायता की अपेक्षा न करके स्वयं ही मट्टी से घड़े बनाता है, उसी प्रकार वे सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ प्रभु भी इस अदिति से इस ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करते हैं। लोक-लोकान्तरों का उपादानकारण तो यह प्रकृति ही है, यही विकृत होकर इस चराचर के रूप में आती है। परमात्मा ही विकृत होकर इन लोकों का रूप नहीं धारण कर लेते, प्रभु तो निर्विकार हैं, वे उपादानकारण नहीं हैं। प्रभु तो इस सृष्टि के निमित्तकारण ही हैं। वे अपने इस कार्य में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते, इसी से वे सर्वशक्तिमान् हैं। (२) **तां अनु**=सत्त्व, रजस्, तमो गुणात्मिका इस अदिति के अनुसार ही **देवाः**=इस ब्रह्माण्ड के सब देव, सब लोक-लोकान्तर, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि भी **अजायन्त**=सत्त्व, रजस् व तमस् को लेकर ही उत्पन्न हुए हैं। ये सब लोक व दिव्य पिण्ड **भद्राः**=हमारा कल्याण व सुख करनेवाले हैं और **अमृतबन्धवः**=(अ+मृत+बन्धु) हमारे साथ

नीरोगता का सम्बन्ध करनेवाले हैं। जितना-जितना हम इन सूर्यादि देवों के सम्पर्क में जीवन बितायेंगे उतना-उतना ही दीर्घजीवी बनेंगे। पशु हमारी अपेक्षा अधिक प्राकृतिक जीवन बिताते हैं और परिणामतः नीरोग होते हैं। यह प्रकृति हमें भी नीरोग बनाती है यदि हम इसकी गोद में बैठने का ध्यान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के द्वारा इस संसार को बनाते हैं, सब पिण्ड प्रकृति के अनुसार सत्त्व, रजस् व तमस् को लिये हुए हैं। कोई भी पदार्थ इन गुणों से रहित नहीं, ये हमें सुखी व नीरोग बनाते हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'सुसंरब्ध' देव तथा उल्कापात

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥ ६ ॥

(१) **यद्**-जो **देवाः**-प्रकृति से उत्पन्न हुए-हुए ये दिव्य लोक-लोकान्तर हैं, वे सब **अदः सलिले**-उस महान् अन्तरिक्ष में (सलिले-अन्तरिक्षे ७।४९।१ द०) **सुसंरब्धाः**-बहुत अच्छी प्रकार आपस में जुड़े हुए (cloudly joined) न असम्बद्ध रूप में **अतिष्ठत**-अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित हैं। जैसे फूल अलग-अलग होते हुए भी एक माला में पिरोये हुए होते हैं, उसी प्रकार ये लोक-लोकान्तर अलग-अलग होते हुए भी प्रभु रूप सूत्र में पिरोये हुए हैं। ब्रह्माण्ड के अवयवभूत ये लोक-लोकान्तर अलग-अलग होते हुए भी मिलकर एक ब्रह्माण्ड की इकाई को बनाते हैं। सब पिण्ड अव्यवस्थित न होकर एक व्यवस्था में चल रहे हैं, इसी से ये कहीं टकराते नहीं। अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित हुए-हुए अपने मार्ग का आक्रमण कर रहे हैं। (२) **अत्रा**-इस विशाल अन्तरिक्ष में **नृत्यतां इव**-नृत्य-सा करते हुए **वः**-इन सब पिण्डों का **तीव्रः रेणुः**-अन्य सारे पिण्ड की अपेक्षा कुछ तीव्र गति में हुआ हुआ शिथिल भाग (रेणु) **अप अयत**-उस पिण्ड से दूर किसी ओर पिण्ड की ओर चला जाता है। इसे ही व्यवहार में उल्कापात कहते हैं। आकाश में तारे नृत्य-सा करते हुए प्रतीत होते हैं, उनका टिमटिमाना ऐसा ही लगता है। इन तारों का पृथ्वी की धूल की तरह जो शिथिल भाग होता है, वह कभी-कभी समीप से गति करते हुए किसी और पिण्ड की ओर चला जाता है। साधारण लोग इसे 'तारा टूटना' कह देते हैं। इन उल्कापातों से अन्य पिण्डों की रचना का ज्ञान होने में बहुत कुछ सहायता मिलती है।

भावार्थ—आकाश में वर्तमान ये सब पिण्ड अलग-अलग होते हुए भी परस्पर व्यवस्था में सम्बद्ध हैं। कभी-कभी इनका कोई शिथिल भाग तीव्र-गति होकर दूसरे पिण्ड की ओर चला जाता है।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

आकाश में सूर्य का स्थापन

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥ ७ ॥

(१) **यद्**-जब **देवाः**-सब देव-प्रकृति से उत्पन्न हुए-हुए लोक-लोकान्तर **भुवनानि**-इस मर्त्यलोकस्थ प्राणियों को उसी प्रकार **अपिन्वत**-प्रीणित करते हैं **यथा**-जैसे कि **यतयः**-मेघ (जलं नियमयन्ति इति यतयः सा०), उस समय **अत्रा समुद्रे**-इस अन्तरिक्ष में **सूर्यम्**-सूर्य को **आ-अजभर्तन**-धारण करते हैं, उस सूर्य को जो **गूळ्हम्**-प्रकृति में संवृत रूप में विद्यमान था।

(२) मेघ अपने वृष्टिजल से उन सब प्राणियों को शान्ति प्राप्त कराते हैं जो गर्मी के सन्ताप से व्याकुल हो रहे थे। तथा ये मेघ ही वृष्टि द्वारा पृथिवी में अन्नों को उत्पन्न करके प्राणियों की शान्ति का कारण बनते हैं। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के सभी लोक-लोकान्तर इन प्राणियों को अपनी विविध देनों के द्वारा प्रीणित करनेवाले होते हैं। इन देवों में सब से महत्त्वपूर्ण स्थान इस सूर्य का है जो प्रजाओं के प्राण के ही रूप में उदित होता है। यह सूर्य भी अन्य लोकों की तरह प्रकृति में छिपा हुआ था। इसे प्रकट करके आकाश में स्थापित किया गया, जिससे यह प्रकाश के द्वारा अन्धकार को दूर करता हुआ सब प्राणियों के अन्दर प्राणशक्ति का संचार करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रकृति से बने सभी प्रकाशमान पिण्ड प्राणियों को अपनी-अपनी देन से प्रीणित करते हैं, सूर्य का आकाश में धारण प्राणियों में प्राणशक्ति के संचार के लिये ही तो हुआ है।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रकृति के आठ पुत्र

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व१स्परि। देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥ ८ ॥

(१) **अदितेः**=अविनाशी प्रकृति के **अष्टौ पुत्रासः**=आठ पुत्र हैं, **ये**=जो **तन्वः**=उस प्रकृति के शरीर से **परिजाताः**=चारों ओर उत्पन्न हुए। अदिति के ये आठ पुत्र 'मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग और विवस्वान्' इन सात पुत्रों द्वारा यह **देवान्**=देवों को **उप प्रैत्**=समीपता से प्राप्त होती है और आठवें **मार्ताण्डम्**=इस आदित्य को **परा**=देवलोकों से दूर इस मर्त्यलोक के समीप **आस्यत्**=फैंकती है, स्थापित करती है। (३) सम्भवतः यह ब्रह्माण्ड ८ सौर लोकों से बना है। इन आठ में मित्र, वरुण आदि सूर्यों को केन्द्र बनाकर विद्यमान लोक 'देवलोक' कहलाते हैं और आदित्य को केन्द्र में स्थापित करके चलनेवाला यह लोक मर्त्यलोक है। सबसे प्रथम देवलोक 'मित्रलोक' है, दूसरा 'वरुणलोक', तीसरा 'धातृ लोक', चौथा अर्यम-लोक, पाँचवाँ 'अंशलोक', छठा 'भग लोक', सातवाँ 'विवस्वत् लोक' है। इन देवलोकों की समाप्ति पर आठवाँ यह मर्त्यलोक से जिसका सूर्य 'आदित्य' है अथवा जिसे मार्त्ताण्ड भी कहते हैं क्योंकि इसकी गति दिन-रात को बनाती हुई प्राणियों की मृत्यु का कारण बनती है। (४) जो व्यक्ति गुणों की आदान की वृत्तिवाला बनता है और आदित्य की तरह खारे पानी में से भी शुद्ध जल को ही लेनेवाले सूर्य की तरह अच्छाइयों को ही ग्रहण करता है वह आदित्य लोक का विजय करके विवस्वान् के लोक में जन्म लेता है, यहां यह 'विवासयति' ज्ञान-किरणों से अन्धकार को दूर करनेवाला होता है। इस प्रकार से स्वाध्याय से ज्ञान प्रकाश को बढ़ाता हुआ यह इस विवस्वान् के लोक को जीतकर 'भग लोक' में जन्म लेता है। वहाँ प्रभु का भजन उपासन करनेवाला बनकर 'अंशलोक' में पहुँचता है और यहाँ अपनी सम्पत्तियों का अंशापन करता हुआ, सारे का सारा स्वयं न खाकर सदा बाँटता हुआ 'अर्यमा लोक' में पहुँचता है। यहां 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करता हुआ 'धातृलोक' में जन्म लेता है। यहाँ सबके धारण की वृत्तिवाला बनकर 'वरुण लोक' में पहुँचता है। यहाँ द्वेष-ईर्ष्या आदि का पूर्णतया निवारण करनेवाला बनकर 'मित्र लोक' में आता है। यह अन्तिम लोक है, यहाँ सबके साथ स्नेह से चलता हुआ यह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है, प्रकृति से ऊपर उठकर परमेश्वर को पा लेता है।

भावार्थ—प्रकृति से आठ लोक बने हैं। सात देवलोक हैं, आठवाँ यह मर्त्यलोक। हमें इनका उत्तरोत्तर विजय करते हुए ब्रह्मलोक में पहुँचना है।

सूचना—सात देववृत्तियाँ हैं—(क) **विवस्वान्**=स्वाध्याय द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करना,

(ख) **भग**=प्रभु-भजन करते हुए मन को शुद्ध बनाना, भजनीय ऐश्वर्य को ही कमाना, (ग) **अंश**=अर्जित ऐश्वर्य को विभक्त करके खाने की वृत्तिवाला होना, (घ) **अर्यमा**=लोभादि शत्रुओं को जीतना, (ङ) **धाता**=सबका धारण करनेवाला बना, (च) **वरुण**=किसी से द्वेष न करना और (छ) **मित्र**=सबके साथ स्नेह से चलना। इन दिव्यगुणों को अपनानेवाला ही प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सात देवलोक, आठवाँ मर्त्यलोक

स॒प्तभिः॑ पु॒त्रैरदि॑ति॒रुप॒ प्रैत्पू॒र्व्यं यु॒गम्। प्र॒जायै॑ मृ॒त्यवे॒ त्वत्पुन॑र्मार्ता॒ण्डमाभ॑रत् ॥ ९ ॥

(१) **अदितिः**=अविनाशी प्रकृति **सप्तभिः पुत्रैः**=‘मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग और विवस्वान्’ नामक सात पुत्रों से **पूर्व्यं युगम्**=देवलोकों के प्रथम युग को **उप प्रैत्**=समीपता से प्राप्त हुई। अर्थात् पहले प्रकृति से मित्र-वरुण आदि नामवाले सात देव (सौर) लोकों का जन्म हुआ। (२) **पुनः**=फिर **त्वत्**=इस एक आठवें **मार्ताण्डम्**=सूर्य को **प्रजायै**=जन्म के लिये व **मृत्यवे**=मृत्यु के लिये **आभरत्**=आकाश में स्थापित किया। इस मर्त्यलोक के सूर्य की गति से ही दिन-रात का निर्माण होता है, ये दिन और रात हमारे जीवन को एक-एक दिन करके काटते चलते हैं और इस प्रकार मृत्यु का कारण बनते हैं। (३) यहाँ भी यह स्पष्ट है कि सम्भवतः ब्रह्माण्ड ८ सौर लोकों से बना हुआ है इनमें सात सौर लोक तो देवलोक हैं और ‘यद् देवेषु आयुषम्’=‘जो देवों में ३०० वर्ष का आयुष्य है’ इस मन्त्र-वाक्य के अनुसार इनमें प्राणियों का आयुष्य ३०० वर्ष का है। इस आठवें सौ वर्ष के आयुष्यवाले लोक को उनकी तुलना में मर्त्यलोक नाम दिया गया है।

भावार्थ—पहले सात देवलोक बने। तदुपरान्त आठवाँ मर्त्यलोक। ‘लौक्य बृहस्पति’ से दृष्ट इस सूक्त में सृष्ट्युत्पत्ति का सुन्दर वर्णन हुआ है। इस सृष्टि में आठवें मार्ताण्डवाले इस मर्त्यलोक में मनुष्य को चाहिये कि वह ‘गौरिवीति शाक्त्य’ बने। गौरी (=speech वेदवाणी) वेदवाणी ही है वीति=भोजन जिसका, ऐसा शक्ति का पुत्र। ‘ज्ञान-सम्पन्न और सबल’ ही पुरुष आदर्श है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है। इसका चित्रण करते हुए प्रभु कहते हैं कि—

[७३] त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बहुलाभिमानः

जनि॑ष्ठा उ॒ग्रः सह॑से तु॒राय॑ म॒न्द्र ओजि॑ष्ठो बहु॒लाभि॑मानः।
अव॑र्ध॒न्निन्द्रं॑ म॒रुत॑श्चि॒दत्र॑ मा॒ता यद्वी॒रं द॒धन॒द्धनि॑ष्ठा ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **उग्रः**=तेजस्वी होकर **सहसे**=आन्तरिक शत्रुओं के पराभव के लिये तथा **तुराय**=बाह्य शत्रुओं के हिंसन के लिये **जनिष्ठाः**=समर्थ होता है। इन शत्रुओं के नाश से **मन्द्रः**=अत्यन्त आनन्दमय जीवनवाला, **ओजिष्ठः**=खूब ही ओजस्वी तू होता है। ओजस्वी होने से तू **बहुलाभिमानः**=बहुत आत्मसम्मान की भावनावाला होता है, आत्मसम्मान को खोकर तू संसार में अशुभ कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता। यह आत्मसम्मान की भावना ही तुझे खुशामदरूप आत्महनन से बचानेवाली होती है। (२) इस प्रकार के जीवनवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष

को अत्र-यहाँ संसार में मरुतः-माता, पिता, आचार्य व अतिथि (मितराविण:, महद् द्रवन्ति इति वा नि० ११।१३) रूपेण परिमित बोलनेवाले व खूब क्रियाओं में गतिवाले मनुष्य अवर्धन्-सब प्रकार से बढ़ाते हैं। माता इसके चरित्र का निर्माण करती है, पिता इसे शिष्टाचार सिखाते हैं और आचार्य इसे ज्ञान से भरने का प्रयत्न करते हैं। अतिथि इसके लिये मार्गदर्शन कराते हुए इसे मार्ग भ्रष्ट होने से बचाते हैं। (३) यह सब वर्धन होता तभी है यद्-जब कि माता-माता वीरं दधनत्-इस वीर को धारण करती है, वही धनिष्ठा-धारण करनेवालों में सर्वोत्तम है। माता का कार्य तो भवन की नींव के रूप में है, उस नींव पर ही बाकी सब ने इसके जीवन के भवन का निर्माण करना होता है। इसी दृष्टि से माता का स्थान सबसे ऊँचा माना गया है, माता का आदर सब से अधिक है। माता सन्तान में आत्मसम्मान की भावना को भर के उसे क्षुद्र कार्यों से एकदम पराङ्मुख कर देती है।

भावार्थ—हमें 'उग्र-मन्द्र-ओजिष्ठ व बहुलाभिमान' बनना है। इस जीवन की नीव माता रखती है और उस नीव पर 'पिता, आचार्य, अतिथि' जीवन-भवन का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—गौरिवीतिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पञ्चायतन

द्रुहो निषत्ता पृशनी चिदेवैः पुरू शंसैन वावृधुष्ट इन्द्रम्।
अभीवृतेव ता महापदेन ध्वान्तात्प्रपित्वादुदरन्त गर्भाः॥ २॥

(१) गत मन्त्र का माता से प्राप्त कराये गये चरित्रवाला वीर द्रुहः निषत्ता-काम, क्रोध, लोभ आदि आन्तरिक जिघांसु शत्रुओं का नाश करनेवाला होता है (सद्=to kill)। यह चित्-निश्चय से एवैः-अपनी क्रियाओं के द्वारा पृशनी-उस प्रभु से सम्पर्क-पृशनवाला होता है। ते-गत मन्त्र में वर्णन किये गये वे मरुत् इन्द्रम्-इस जितेन्द्रिय पुरुष को पुरुशंसेन-पालनात्मक व पूरणात्मक उपदेश के द्वारा वावृधुः-खूब ही बढ़ाते हैं। (पुरु=पृ पालनपूरणयोः)। (२) ता-वे अपत्य (=सन्तान) इव-मानो महापदेन-उस महान् गन्तव्य प्रभु से (पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः) अभीवृता-परिवृत से होते हैं। वस्तुतः माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि को निमित्त बनाकर प्रभु ही उनका रक्षण करते हैं। ये व्यक्ति प्रपित्वात्-समीप प्राप्त ध्वान्तात्-अन्धकार से उद् अरन्त-ऊपर उठते हैं, इसलिए ऊपर उठते हैं कि गर्भाः-ये माता आदि के गर्भ बनते हैं। ५ वर्ष तक माता की दृष्टि में रहते हुए ये चरित्रवान् बनते हैं। फिर ८ वर्ष तक पितृगर्भ में रहते हुए ये शिष्टाचार की शिक्षा को प्राप्त करते हैं। फिर आचार्य इन्हें गर्भ में करके ज्ञान से परिपूर्ण करता है 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'। अन्ततः अतिथियों के गर्भ में रहता हुआ गृहस्थ कभी मार्ग भ्रष्ट नहीं होता। अपने जीवन में यह प्रभु के गर्भ में रहने का तो प्रयत्न करता ही है। इसी कारण यह अन्धकार से ऊपर उठ पाता है।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य, अतिथि व महापद (प्रभु) के गर्भ में रहते हुए हम अन्धकार से सदा ऊपर उठें।

ऋषिः—गौरिवीतिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सालावृक-संहार

ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगास्यवर्धन्वाजा उत ये चिदत्र।
त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रमासन्दधिषे अश्विना ववृत्याः॥ ३॥

(१) **यत्**-जब **प्रजिगासि**-तू प्रकृष्ट गतिवाला होता है, अर्थात् उत्तम मार्ग पर चलता है अथवा प्रभु की ओर चलता है (प्रकृति की ओर जाना ही नीचे की ओर जाना है, प्रभु की ओर जाना ही उत्कृष्ट मार्ग पर जाना है) तो **ते**-तेरे **पादा**-पाँवों **ऋष्वा**-(great, high, noble) महान् व उत्कृष्ट होते हैं। पाँवों की क्या, ये **चित्**-जो भी **अत्र**-यहां शरीर में **वाजाः**-शक्तियाँ हैं **उत**-और वे भी **अवर्धन्**-वृद्धि को प्राप्त होती हैं। प्रभु की ओर चलने से शक्तियों में वृद्धि होती है, प्रकृति में फँसना ही शक्तियों को जीर्ण करता है। (२) प्रभु की ओर चलता हुआ **इन्द्र**-हे जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**-तू **सहस्राम्**-शतशः **सालावृकान्**-(dog, wolf, deer, jaekal cat, monkey) कुत्ते, भेड़िये, हरिण, बिल्ली, गीदड़ व बन्दर आदि की वृत्तियों को **आसन् दधिषे**-जबड़े में धारण करता है, अर्थात् इनको कुचल डालता है। 'उलूकयातुं शुशुलूकयातुं०' मन्त्र में उलूक आदि की वृत्ति को छोड़ने का उपदेश है। यहाँ 'सालावृक' इस एक शब्द से ही इन सब अशुभ वृत्तियों के त्याग का संकेत हुआ है। कुत्ते की तरह हमें परस्पर वैरी नहीं बनना, भेड़िये की तरह पेटू नहीं बनना, हरिण की तरह श्रवणव्यसनी नहीं होना, बिल्ली की तरह निर्बलों पर अत्याचार में आनन्द नहीं लेना, गीदड़ की तरह छलछिद्रवाला नहीं होना और बन्दर की तरह चञ्चल नहीं बनना। (३) इन वृत्तियों को दूर करने के लिये ही तू **अश्विना**-प्राणापान का **ववृत्याः**-आवर्तन करता है। प्राणायाम के द्वारा तूने इन सब वृत्तियों को दूर करना है। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध करके तू अपने को इन अशुभ वृत्तियों से बचा सकेगा।

भावार्थ—उत्कृष्ट मार्ग पर चलने से शक्तियों का वर्धन होता है। प्रभु-प्रवण व्यक्ति अशुभवृत्तियों का शिकार नहीं होता। इस कार्य में प्राणसाधना इसके लिये सहायक होती है।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संग्राम द्वारा प्रभु का उपासन

समना तूर्णिरुप यासि यज्ञमा नासत्या सख्याय वक्षि।
वसाव्यामिन्द्र धारयः सहस्राश्विना शूर ददतुर्मघानि॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के द्वारा **समना**-संग्राम में **तूर्णिः**-काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करता हुआ **शूर**-हे वीर पुरुष! तू **यज्ञाम्**-उस उपास्य प्रभु को **उपयासि**-समीपता से प्राप्त होता है। इस संग्राम में विजय के लिये ही तू **नासत्या**-प्राणापान को **सख्याय**-मित्रता के लिये **आवक्षि**-सर्वथा धारण करता है। प्राणायाम के द्वारा प्राणापान की साधना ही तो चित्तवृत्ति के निरोध के लिये हमें क्षम बनाती है। (२) हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! तू इस प्राणसाधना से **सहस्रा**-अनेकों **वसाव्यम्**-वसु समूहों को **धारयः**-धारण करता है। निवास को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक तत्त्व वसु हैं। यह प्राणसाधक इन वसुओं को प्राप्त करता है। (३) हे शूर! **अश्विना**-ये प्राणापान **मघानि**-सब ऐश्वर्यों को **ददतुः**-देते हैं। शरीर को ये 'स्वास्थ्य' प्रदान करते हैं, मन को 'नैर्मल्य' प्राप्त कराते हैं और बुद्धि में 'तीव्रता' का आधान करते हैं। ये तीन ही महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य हैं, ये ही हमें ईश्वर का रूप बनाते हैं।

भावार्थ—संग्राम में कामादि का पराभव करके ही हम प्रभु को उपासित करते हैं। प्राणसाधना हमें उन सब वसुओं को प्राप्त कराती है जिनसे कि जीवन सुन्दर बनता है।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋत का पालन और प्राणायाम

मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम्।
आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत्तमांसि ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**= परमैश्वर्यशाली प्रभु **ऋतात्**-हमारे दैनिक कार्यक्रम को ठीक समय पर करने से अथवा यज्ञों से **अधि-मन्दमानः**=खूब प्रसन्न होते हुए, **इषिरेभिः**=निरन्तर गतिशील **सखिभिः**= मरुत् (-प्राण) रूप मित्रों के द्वारा **प्रजायै**-हम प्रजाओं के लिये **अर्थम्**=वाञ्छनीय वस्तुओं को **अवपत्**=देते हैं। जिस समय हम (क) सब क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर करते हैं, (ख) जब हमारा जीवन यज्ञमय होता है, (ग) जब हम प्राणसाधना करनेवाले होते हैं, तब प्रभु हमें सब वाञ्छनीय वस्तुएँ देते हैं। वस्तुतः वाञ्छनीय वस्तुएँ तीन ही हैं, शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य और बुद्धि की तीव्रता। ये तीनों ही इन मरुतों व प्राणों की साधना से प्राप्त होती हैं। (२) **आभिः**=इन प्रजाओं के हेतु से **हि**=ही प्रभु (क) **मायाः**=असुरों की मायाओं पर तथा **दस्युम्**= (दस्=destroy) उपक्षीण करनेवाली इन काम-क्रोधाति दास्यव वृत्तियों पर **उप आगत्**=आक्रमण करते हैं। जीव के हित के लिये प्रभु इन वृत्तियों को नष्ट करते हैं। (ख) **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को **अवपत्**=नष्ट करते हैं। 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'-इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के पोषण के होने पर अज्ञानान्धकार का नामोनिशान नहीं रहता। (ग) **तम्राः**=(तम्=to wish, desire) वाञ्छनीय **मिहः**=धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वृष्टियों को **अवपत्**=करते हैं।

भावार्थ—ऋत के पालन व प्राणायाम के होने पर (क) सब वाञ्छनीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, (ख) अन्दर ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रकाश होता है, (ग) समाधिजन्य आनन्द की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-स्मरण व प्राणायाम

सनामाना चिद् ध्वसयो न्यस्मा अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः।
ऋष्वैरगच्छः सखिभिर्निकामैः साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ ॥ ६ ॥

(१) **यथा**=जैसे **इन्द्रः**=सूर्य **उषसः अनः**=उषा के शकट को **अवाहन्**=नष्ट कर देता है, सूर्योदय होता है और उषा की समाप्ति हो जाती है, इसी प्रकार **अस्मा**=गत मन्त्र में वर्णित ऋत के पालन करनेवाले के लिये **सनामाना चित्**=समान नामवाले भी ('काम' यह वासना व प्रभु दोनों का नाम है, इसी प्रकार 'प्रद्युम्न' 'असुर' आदि शब्द भी वासना व प्रभु दोनों के ही वाचक हैं) इन आसुरभावों को **निध्वसयः**=निश्चय से नष्ट करते हैं। (२) इनके नाम के लिये **ऋष्वैः**=गतिशील **निकामैः**=निश्चय से कामना को पूर्ण करनेवाले **सखिभिः**=मरुत् (-प्राण) रूप मित्रों के साथ **अगच्छः**=इन पर आप आक्रमण करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही तो इनका विनाश होता है। हे प्रभो! **साकम्**=इस प्राणसाधना के द्वारा आप **हृदि प्रतिष्ठा**=हृदय में दृढ़मूल हुए-हुए इन कामादि को **आजघन्थ**=सर्वतो विनष्ट कर देते हैं। काम-क्रोध-लोभ के किलों को तोड़कर आप हमारे जीवन में नैर्मल्य व प्रसाद का स्थापन करते हैं। (३) कामादि का ध्वंस प्रभु-स्मरण के द्वारा हमारे जीवनों में इस प्रकार होता है जैसे कि सूर्योदय के होने पर उषा का। सूर्योदय हुआ और उषा का नामोनिशान समाप्त हो जाता है, इसी प्रकार प्रभु का स्मरण हुआ और काम का ध्वंस हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण व प्राणायाम कामादि आसुर वृत्तियों के संहार के साधन हैं।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नम्रता व सरलता

त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम्।
त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्पथो देवत्राञ्जसेव यानान् ॥ ७ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**-आप ही **नमुचिम्**-(न+मुच्) अन्त तक पीछा न छोड़नेवाली अभिमानवृत्ति को **जघन्थ**-नष्ट करते हैं। प्रभु-स्मरण से मनुष्य को सब यज्ञों के कर्तृत्व का अहंकार नहीं होता, सब यज्ञ प्रभु-शक्ति से पूर्ण होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। प्रभुभक्त सब यज्ञों को प्रभु के अर्पण करता है, स्वयं कर्तृत्व के अहंकार से रहित हो जाता है। एवं प्रभु-स्मरण अहंकार को नष्ट करनेवाला है। (२) हे प्रभो! आप उस नमुचि को नष्ट कर डालते हो जो **मखस्युम्**-सब यज्ञों का अन्त करनेवाला है (षोऽन्तकर्मणि)। अहंकार से यज्ञ का यज्ञत्व नष्ट हो जाता है, वह यज्ञ असुरों का 'नामयज्ञ' ही रह जाता है 'यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्'। हे प्रभो! आप **ऋषये**=तत्त्वद्रष्टा के लिये **दासम्**-(दसु उपक्षये) इस उपक्षय के कारणभूत अहंकार को **विमायम्**-माया व शक्ति से रहित **कृण्वानः**-करते हैं। प्रभु की कृपा से अहंकार की माया को समाप्त करके यह तत्त्वद्रष्टा पुरुष निरभिमान बनता है। (३) हे प्रभो! आप ही **मनवे**-विचारशील पुरुष के लिये **पथः**-मार्गों को **स्योनान्**-सुखकर **चकर्थ**-करते हैं। **देवत्रा**-देवों में **अञ्जसा इव**-सब प्रकार की कुटिलता से रहित ही **यानान्**-मार्गों को आप बनाते हैं। देववृत्ति के पुरुषों को अकुटिल व सरल मार्ग से आप ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त सब उत्तम कर्मों को अहंकार रहित होकर करते हैं, ये कभी कुटिल मार्ग से नहीं चलते। 'नम्रता व सरलता' इनके जीवन को भूषित करती हैं।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपरि-बुध्न

त्वमेतानि पप्रिषे वि नामेशान इन्द्र दधिषे गभस्तौ।
अनु त्वा देवाः शवसा मदन्त्युपरिबुध्नान्वनिनश्चकर्थ ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार तत्त्वद्रष्टा प्रभु सब यज्ञों को प्रभु से होता हुआ समझते हैं, इसीलिए उन्हें उन यज्ञों का गर्व नहीं होता। यह गर्व का न होना ही उन्हें विनीत बनाये रखता है। **एतानि विनामा**-इन विविध नामों का उच्चारण करनेवाले प्रभु-भक्तों को हे **ईशान**-सर्वैश्वर्यवाले **इन्द्र**-सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**-आप ही **पप्रिषे**-पूर्ण बनाते हैं, इनकी न्यूनताओं को आप ही दूर करते हैं। इनकी न्यूनताओं को दूर करने के लिये आप इन्हें **गभस्तौ**-ज्ञान-रश्मियों में **दधिषे**-धारण करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में ये मार्ग-भ्रष्ट नहीं होते और मार्ग पर चलते हुए देववृत्ति के बनते हैं, आपके समीप और समीप पहुँचते जाते हैं। (२) **त्वा अनु**-आपकी अनुकूलता में चलते हुए **देवाः**-ये देव पुरुष **शवसा**-शक्ति से **मदन्ति**-हर्ष का अनुभव करते हैं। उपासक उपास्य की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। उपासना का मुख्य लाभ ही यह है कि उस प्रभु की शक्ति को हम अपने में भरनेवाले होते हैं। (३) हे प्रभो! आप **वनिनः**-इन उपासकों को (वन संभक्तौ) **उपरिबुध्नान्**-ऊपर मूलवाला **चकर्थ**-करते हैं। ये अपने जीवन का मूल व आधार प्रकृति को न बनाकर प्रभु को बनाते हैं। इनकी क्रियाएँ प्राकृतिक भोगों को दृष्टिकोण में न रखकर प्रभु प्राप्ति के दृष्टिकोण से होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें। प्रभु हमारा पूरण करेंगे, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करायेंगे। हम

प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होते हुए प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से ही सब क्रियाओं को करेंगे।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

घर–दूध–अन्न

चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात्।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु॥ ९ ॥

(१) **यत्**=जब **अस्य**=गत मन्त्र में वर्णित इस प्रभु-भक्त का **अप्सु**=कर्मों के विषय में **चक्रम्**=नियमित गति से चलनेवाला क्रम, अर्थात् दैनिक कार्यक्रम का चक्र **आ-निषत्तम्**=सम्यक्तया (सद्गति) गतिमय होता है, अर्थात् जब यह प्रभु-भक्त (क) स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यों को करके, (ख) अध्यात्म उन्नति के लिये ध्यान व स्वाध्याय को करता है। (ग) इसके बाद संसार यात्रा के लिये जीविका प्राप्ति के लिये किसी उत्तम कर्म में प्रवृत्त होता है, (घ) और अन्त में प्रभु-स्मरण के साथ लोकहित के लिये यथाशक्ति कार्य को करता हुआ दिन के कार्यचक्र को पूर्ण करता है **तद्**=तब **उत उ**=अवश्य ही वे प्रभु **अस्मै**=इस कर्त्तव्यचक्र को पूर्ण करनेवाले पुरुष के लिये **मधुरत्**=माधुर्य ही माधुर्य **चच्छद्यात्**=चाहते हैं (छन्द्=wish, desere) प्रभु इसके जीवन को अत्यन्त मधुर बनाते हैं। (२) इसके जीवन को मधुर बनाने के लिये वे (क) **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर **यत् अतिषितम्**=जो अत्यन्त सुबद्ध है उस **ऊधः**=शत्रुओं से अप्राप्य सुरक्षित गृह को **अदधाः**=धारण करते हैं (an apartment to wlrich only friends are inkited)। इस छोटे, परन्तु शान्त गृह में वे शान्तिपूर्वक अपने जीवन का यापन करते हैं। (ख) इनके लिये इस घर में वे प्रभु **गोषु पयः**=गौवों में दूध का स्थापन करते हैं। इनके लिये घर में गोदुग्ध सुप्राप होता है। यह दूध इनके शरीर, मन व बुद्धि सभी को स्वस्थ बनाता है। (ग) इस दूध के साथ प्रभु **ओषधीषु**=ओषधियों में 'ओषधयः फलपाकान्ताः' फलपाक से ही जिनका अन्त हो जाता है उन गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्नों में **पयः**=आप्यायन व वर्धन को धारण करते हैं। अर्थात् अन्नादि वानस्पतिक पदार्थ ही इनके आप्यायन का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम अपने दैनिक कार्यक्रम का उत्तमता से पालन करेंगे तो प्रभु हमें सुबद्ध गृह-दूध व अन्न प्राप्त कराके हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बना देंगे।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व ज्ञान का पुत्र

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम्।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति दैनिक कर्त्तव्यों को बड़ी नियमित गति से करता है और जिसके लिये प्रभु सुन्दर गृह दूध व वानस्पतिक भोजनों को प्राप्त कराते हैं वह अत्यन्त तेजस्वी बनता है। उसे देखकर लोग **इति**=ऐसा **यद् वदन्ति**=जो कहने लगते हैं कि **अश्वाद्**=आदित्य से ही, द्युलोक के मार्ग का आक्रमण करनेवाले इस सूर्य से ही **इयाय**=आया है, उत्पन्न हुआ है। **उत**=और मैं **एनम्**=इसको **ओजसः**=ओज से ही **जातम्**=पैदा हुए-हुए को **मन्ये**=मानता हूँ। वस्तुतः यह इतना तेजस्वी होता है कि वह सूर्य का पुत्र अथवा ओजस्विता का ही पुत्र-पुतला प्रतीत होने लगता है। तेज का यह पुञ्ज बन जाता है। (२) तेज का पुंज ही नहीं, यह **मन्योः**=(मन्=अवबोध) ज्ञान से **इमाय**=उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, ज्ञान का पुतला होता है, खूब ज्ञानी

बनता है। इस प्रकार तेजस्वी व ज्ञानी बनकर **हर्म्येषु**=(ह्र=हर्म्य) उन गृहों में **तस्थौ**=निवास करता है जिनसे रोगों व दोषों का हरण हो गया है। ऐसा सुन्दर इसका जीवन होता है कि **यतः प्रजज्ञे**=जहाँ से, जिन कर्मों के फलस्वरूप, इसका ऐसा विकास हो गया **अस्य**=इस बात को **इन्द्रः वेद**=प्रभु ही जानते हैं। सामान्य मनुष्य के लिये उसकी उस उन्नत-स्थिति के मूल को समझना कठिन हो जाता है।

भावार्थ—कर्त्तव्यपालक तेजस्वी व ज्ञानी बनता है, उत्तम घर में निवास करता है। इस पर प्रभु कृपा सदा बनी रहती है।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुन्दर जीवन

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के तेजस्वी व ज्ञानी पुरुष **वयः**=मार्ग पर चलनेवाले होते हैं, कभी कर्त्तव्यमार्ग से भ्रष्ट नहीं होते **सुपर्णाः**=कर्त्तव्यमार्ग पर चलते हुए ये अपना उत्तमता से पालन व पूरण करते हैं। शरीर को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते, साथ ही मन में न्यूनताओं को नहीं आने देते। इस पालन व पूरण के लिये ही ये **इन्द्रं उपसेदुः**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु का उपासन करते हैं। वस्तुतः प्रभु ने ही तो पालन व पूरण करना होता है। (२) ये व्यक्ति **प्रियमेधाः**=बुद्धि प्रिय होते हैं। इन्हें प्रचिकेता की तरह सांसारिक भोगों की रुचि न होकर ज्ञान प्राप्ति की ही कामना होती है। इस कामना के कारण ही ये **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा बनते हैं। और **नाधमानाः**=सदा प्रभु से प्रार्थना करते हुए होते हैं कि हे प्रभो! **ध्वान्तम्**=अज्ञानान्धकार को **अप ऊर्णुहि**=हमारे से दूर करिये, **चक्षुः पूर्धि**=प्रकाश का हमारे में पूरण करिये और अज्ञानान्धकार के कारण **निधया इव**=विषयों के जाल समूह से **बद्धान्**=बन्धे हुए हम लोगों को **मुमुग्धि**=मुक्त करिये। ज्ञान के प्रकाश में विषयों का अन्धकार लुप्त हो जाए और हमारा जीवन पवित्र होकर आपकी उपासना के योग्य बने।

भावार्थ—हम मार्ग पर चलते हुए जीवन को सुन्दर बनाएँ। हमारी यही कामना हो कि प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करके हमारे में प्रकाश का पूरण करें जिससे हम विषयजालबन्धन से सदा मुक्त रहें।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन को सुन्दर बनाने पर बल देता है। प्रारम्भ में कहा है कि मनुष्य 'उग्र, मन्द्र, ओजिष्ठ व बहुलाभिमान' बने। (१) अशुभवृत्तियों का संहार करे, (३) अभिमानशून्य हो, (७) भौतिक प्रवृत्ति का न होकर अध्यात्मवृत्तिवाला हो, (८) दूध व अन्नरस को ही अपना आहार बनाये, (९) शक्ति व ज्ञान का पुञ्ज बने, (१०) प्रभु से यही आराधना करे कि 'अज्ञानान्धकार को दूर करिये। प्रकाश का हमारे में पूरण करिये'। (११) हम शत्रुओं का संहार करनेवाले व ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों—

[७४] चतुः-सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति-धन व ज्ञान

वसूनां वा चर्कृष इयक्षन्धिया वा यज्ञैर्वा रोदस्योः।
अर्वन्तो वा ये रयिमन्तः सातौ वनुं वा ये सुश्रुणं श्रुः ॥ १ ॥

(१) **वनुम्**=शत्रुओं के हिंसन करनेवाले अथवा (win) जीतनेवाले **वा**=तथा **सुश्रुणम्**=उत्तम ज्ञानवाले उस परमात्मा को **धुः**=धारण करते हैं। कौन? **वसूनाम्**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के **चर्कृषे**=आकर्षण के लिये **धिया वा**=बुद्धि व ज्ञान के द्वारा **यज्ञैः वा**=या यज्ञों के द्वारा **रोदस्योः**=द्यावपृथिवी का **इयक्षन्**=अपने से संगतिकरण (=मेल) चाहता हुआ। जो व्यक्ति द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर का अपने से मेल चाहता है, इस मेल के लिये ही वह बुद्धि व यज्ञों को साधन बनाता है। बुद्धि का व्यापार ठीक से होते रहने पर मस्तिष्क ठीक बना रहता है तथा हाथों के यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रहने पर शरीर ठीक रहता है। मस्तिष्क की शक्ति को कायम रखने के लिये बुद्धि साधन बनती है और शरीर को ठीक रखने के लिये यज्ञ साधन बनते हैं। इन मस्तिष्क और शरीर दोनों के स्वास्थ्य के लिये वसुओं का, निवासक तत्त्वों का वर्धन अभीष्ट है। इन वसुओं का विनाश वासनाओं के कारण होता है। प्रभु स्मरण इन वासनाओं का विनाश करता है, इस प्रकार प्रभु का धारण वसुओं के वर्धन के लिये आवश्यक हो जाता है। (२) फिर प्रभु का धारण कौन करते हैं? **ये**=जो **रयिमन्तः**=धन को महत्त्व देनेवाले ऐश्वर्य-सम्पन्न लोग **सातौ**=धन की प्राप्ति के निमित्त **अर्वन्तः**=गतिशील होते हैं। ये धन की कामनावाले, धन प्राप्ति के लिये ही गति करनेवाले लोग भी प्रभु का धारण करते हैं। (३) वे भी प्रभु का धारण करते हैं, **ये**=जो कि **सुश्रुतः**=उत्तम ज्ञानवाले हैं। ज्ञान का स्रोत तो हैं ही प्रभु। प्रभु का उपासन ही प्रकाश को प्राप्त कराता है। इस प्रकार प्रभु का धारण तीन व्यक्ति करते हैं—(क) जो मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखना चाहते हैं, (ख) जो धन प्राप्त करना चाहते हैं, (ग) जो ज्ञान के प्रकाश के इच्छुक हैं। शक्ति, धन व ज्ञान सभी के देनेवाले वे प्रभु हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का धारण करते हैं। परिणामतः शक्ति, धन व ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ठीक चुनाव व चमक

हवं एषामसुरो नक्षत द्यां श्रवस्यता मनसा निंसत क्षाम्।
चक्षाणा यत्र सुवितायं देवा द्यौर्न वारेभिः कृणवन्त स्वैः ॥ २ ॥

(१) **एषाम्**=गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का धारण करनेवाले इन भक्तों की **हवः**=पुकार, अर्थात् प्रार्थना **असुरः**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाली है (असून् राति)। इस प्रार्थना से ही यह भक्त **द्यां नक्षत**=द्युलोक को प्राप्त करता है, प्रार्थना इसे प्रकाशमय लोक में प्राप्त कराती है। एवं प्रार्थना के दो मुख्य लाभ हैं—(क) प्राणशक्ति का संचार, और (ख) प्रकाश की प्राप्ति। (२) यह भक्त **श्रवस्यता मनसा**=ज्ञान प्राप्ति की कामनावाले मन से **क्षां निंसत**=पृथ्वी का चुम्बन करता है, अर्थात् अत्यन्त नम्र होता है। घमण्डी के लिये ऐसा मुहाविरा प्रयुक्त होता है कि 'न जाने इसका दिमाग कहाँ चढ़ गया है?' इसके विपरीत नम्रता का सूचन इन शब्दों से हुआ है कि यह पृथ्वी का चुम्बन करता है जितनी नम्रता उतना ही ज्ञान। नम्रता से ही ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञानी अधिकाधिक नम्र होता चलता है। 'सोमवार' सौम्यता के वरण का ही तो उपदेश देता है। यह सौम्यता का वरण ही हमारा 'मंगल' करता है और हमें 'बुध' (=ज्ञानी) बनाता है। 'बुध' ही क्या, ज्ञानियों का भी ज्ञानी 'बृहस्पति' बनाता है। (२) **यत्र**=यह सौम्यता का मार्ग वह है जहाँ **चक्षाणा**=मार्ग को देखते हुए **देवाः**=ज्ञानी लोग **सुविताय**=सदा उत्तम मार्ग के लिये होते हैं। ये देव लोग **स्वैः**=अपने **वारेभिः**=ठीक चुनावों के द्वारा अपने जीवन को **द्यौः न**=प्रकाशमय द्युलोक की तरह **कृणवन्त**=कर लेते हैं। जिस प्रकार द्युलोक सूर्य के प्रकाश से चमकता है, इसी

प्रकार इनका जीवन भी ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है, इनके जीवन-गगन में कहीं भी अन्धकार नहीं रहता। 'बृहस्पति' ज्ञानियों के ज्ञानी बनकर ये अत्यन्त शुचि कर्मोंवाले 'शुक्र' बनते हैं। जीवन में शान्तिपूर्वक मार्ग का आक्रमण करते हुए ये 'शनैश्चर' होते हैं और ज्ञान से अज्ञानान्धकार को दूर करते हुए ज्ञान-सूर्यवाले ये लोग अपने जीवन में 'रवि' वार को लानेवाले होते हैं। इनका जीवन देदीप्यमान द्युलोक की तरह बन जाता है।

भावार्थ—प्रार्थना हमें शरीर में प्राणशक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न बनाये। नम्रता से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़े। हम सुमार्ग पर चलें और जीवन में ठीक चुनाव करते हुए चमकें।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बुद्धि व यज्ञ

इ॒यमे॑षाम॒मृता॑नां॒ गीः स॒र्वता॑ता॒ ये कृ॒पण॑न्त॒ रत्न॑म्।
धियं॑ च य॒ज्ञं च॒ साध॑न्त॒स्ते नो॑ धान्तु वस॒व्य१॒॑मसा॑मि ॥ ३ ॥

(१) **एषां अमृतानाम्**=गत मन्त्र में वर्णित इन अमृत-विषय वासनाओं के पीछे न मरनेवाले, देवों की **इयं गीः**=यह वेदवाणी होती है। वे इस वेदवाणी को अपनाते हैं। **ये**=जो देव इस वेदवाणी को अपनाते हैं वे **सर्वताता**=यज्ञों के अन्दर **रत्नम्**=अपने रमणीय धनों को **कृपणन्त**=(कृपू सामर्थ्ये) शक्तिशाली बनाते हैं। वेदवाणी में दिये गये प्रभु के आदेश के अनुसार वे धनों का यज्ञों में विनियोग करते हैं और इस प्रकार इनके धन और अधिक पुष्ट होते हैं। (२) **ते**=वे देव **धियं च यज्ञं च**=बुद्धियों को तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों को **साधन्तः**=सिद्ध करते हुए, अपने जीवन में ज्ञान व उत्तम कर्मों का सम्पादन करते हुए **नः**=हमारे लिये **असामि**=पूर्णरूप से (सामि=आधा) **वसव्यम्**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के समूह को **धान्तु**=धारण करें। वस्तुतः मनुष्य ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृत रहता है तो उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ तो ठीक बनी ही रहती हैं, उसके ज्ञान व शक्ति में क्षीणता नहीं आती। इसी को इस रूप में कह सकते हैं कि इसके 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास होकर उसके शोभा की वृद्धि होती है।

भावार्थ—देव (क) वेदवाणी को अपनाते हैं, (ख) धनों का यज्ञों में विनियोग करते हैं, (ग) बुद्धि व यज्ञ का साधन करते हैं, (घ) निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को पूर्णरूप से धारण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जितेन्द्रिय बनकर वेदवाणी रूप गौ का दोहन

आ तत्त॑ इन्द्रा॒यवः॑ पनन्ता॒भि य ऊ॒र्वं गोम॑न्तं॒ तितृ॑त्सान्।
स॒कृत्स्व१॒॑ं ये पु॑रुपु॒त्रां म॒हीं स॒हस्र॑धारां बृह॒तीं दुदु॑क्षन् ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते आयवः**=वे मनुष्य **तत् आपनन्त**=वह आपका स्तवन करते हैं, **ये**=जो **गोमन्तम्**=इन्द्रियों से बने हुए **ऊर्वम्**=समूह को **तितृत्सान्**=मारने की कामना करते हैं। 'इन्द्रियों को मारना', अर्थात् 'इन्द्रियों को वश में करना' यही वस्तुतः प्रभु का सच्चा पूजन होता है। जितेन्द्रिय पुरुष प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठता है और प्रभु की सच्ची उपासन करनेवाला होता है। (२) ये उपासक वे होते हैं **ये**=जो **महतीम्**=इस अत्यन्त आदर के योग्य वेदवाणी का **दुदुक्षन्**=दोहन करने की कामना करते हैं। यह वेदवाणी (क) **महीम्**=अत्यन्त महनीय है, अर्थ के गौरव से पूर्ण है। (ख) **सहस्रधाराम्**=शतशः ज्ञानधाराओं से हमारे जीवनों

को पवित्र करनेवाली है अथवा नाना प्रकार से हमारा धारण करनेवाली है, (ग) तथा यह वेदवाणीरूप गौ **सकृत्स्वम्**-एक बार जनती है, पर **पुरुपुत्राम्**-बहुत पुत्रोंवाली है। इस वाक्य में विरोधाभास अलंकार का सुन्दर उदाहरण है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि एक बार ही इसके अध्ययन का अवसर प्राप्त होता है, ब्रह्मचर्याश्रम में इसे पढ़ लिया तो पढ़ लिया। फिर गृहस्थ में फँसे-पढ़ने का अवसर गया। परन्तु यह पुरु-पालन व पूरण करनेवाली है (पृ पालनं-पूरणयोः) शरीर को नीरोग बनानेवाली है, मन की न्यूनताओं को दूर करनेवाली है, साथ ही **पुत्राम्**-(पुनाति त्रायते) यह हमारे जीवनों को पवित्र करती है और हमारा त्राण-रक्षण करती है। एवं प्रभु का उपासक जितेन्द्रिय बनकर वेदवाणी रूप गौ का दोहन करता है। इस दोहन से वह अपने जीवन को पवित्र बनाता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक वह है जो इन्द्रिय समूह को मार लेता है, इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में कर लेता है। यह उपासक वेदवाणी रूप गौ का दोहन करता हुआ अपने जीवन को आप्यायित करता है।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'नर्य वज्र' का धारण

शचीव इन्द्रमवसे कृणुध्वमनानतं दुमयन्तं पृतन्यून्।
ऋभुक्षणं मघवानं सुवृक्तिं भर्ता यो वज्रं नर्यं पुरुक्षुः ॥ ५ ॥

(१) **शचीवः**-हे प्रज्ञा व कर्म सम्पन्न भक्त पुरुषो! **इन्द्रम्**-उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अवसे**-रक्षण के लिये **कृणुध्वम्**-करो, अपना रक्षक जानो जो कि **अनानतम्**-कभी किसी से दबनेवाले नहीं हैं, **पृतन्यून् दमयन्तम्**-सेना से आक्रमण करनेवालों का दमन करनेवाले हैं, **ऋभुक्षणम्**-महान् हैं, **मघवानम्**-ऐश्वर्यवान् हैं और **सुवृक्तिम्**-दोषों को अच्छी प्रकार दूर करनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु जब रक्षक होते हैं तो किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रभु रक्षण में काम-क्रोधादि के आक्रमण का तो सम्भव ही नहीं, लोभ जनित दोषों से हम बचे रहते हैं और सांसारिक दृष्टिकोण से भी हम असफल जीवनवाले नहीं होते। (२) हम प्रज्ञाकर्म सम्पन्न बनकर उस प्रभु को अपना रक्षक बनायें **यः**-जो कि **पुरुक्षुः**-(क्षु-शब्दे) पालक व पूरक प्रेरणात्मक शब्दोंवाले होते हुए **नर्य**-नर हितकारी **वज्रम्**-क्रियाशीलतारूप वज्र को **भर्ता**-भरण करनेवाले हैं। हृदयस्थित होते हुए वे प्रभु सदा प्रेरणा देते हैं, वह प्रेरणा हमें शरीर में रोगों से बचाती है तो मन में न्यूनताओं को नहीं आने देती। प्रभु इस प्रेरणा के द्वारा वज्र को हमारे हाथों में देते हैं, 'क्रियाशीलता' ही यह वज्र है। यह वज्र 'नर्य' है, नर हितकारी है। सदा क्रियाशील होने पर हम वासनाओं के शिकार नहीं होते। वस्तुतः क्रियाशील व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न बनता है, यह किसी से दबता नहीं (अनानत) बाह्य शत्रुओं का भी तेजस्विता से मुकाबिला करनेवाला होता है, अपने जीवन में महान् बनता है, दोषों को सदा दूर रख पाता है। इस प्रकार यह अपने उपास्य प्रभु का ही छोटारूप बन जाता है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथों में लेकर हम शत्रुओं पर विजय पायें और अपने उपास्य प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—गौरिवीतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भक्त की भावना का भरण करनेवाले प्रभु

यद्वावान पुरुतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः ।
अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्यदीमुश्मसि कर्तवे करत्तत् ॥ ६ ॥

(१) यद्-जब पुरुतमम्-उस सर्वमहान् पालन व पूरण करनेवाले प्रभु को वावान-खूब ही उपासित करता है तब ये प्रभु पुराषाट्-असुरों की तीनों पुरियों का विध्वंस करनेवाले होते हैं, कामादि असुर 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में अपना अधिष्ठान बनाते हैं, उपासित होने पर प्रभु इन अधिष्ठानों का विध्वंस कर देते हैं और इस प्रकार वृत्र-हा-वे प्रभु ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाले 'वृत्र' को नष्ट कर डालते हैं। मन्मथ (=ज्ञान के नाशक) के विध्वंस से प्रभु हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाते हैं। (२) प्रकाशमय जीवनवाला यह इन्द्रः-जितेन्द्रिय पुरु नामानि-प्रभु के नामों को आ अप्राः-अपने में पूरित करता है, अर्थात् प्रभु के नामों का जप करता है और उनके अर्थ का भावन करता हुआ उन बातों को अपने जीवन का अंग बनाता है। यही नामों का अपने में भरना है। (३) इस भक्त से वे प्रभु अचेति-इस रूप में जाने जाते हैं कि—(क) प्रासहः-ये शत्रुओं का प्रकर्षेण पराभव करनेवाले हैं, हमारे काम-क्रोधादि को कुचलनेवाले हैं। (ख) पतिः-इस प्रकार हमारा रक्षण करनेवाले हैं। शत्रुओं के नाश के द्वारा हमें शत्रुओं से नष्ट किये जाने से बचाते हैं। (ग) तुविष्मान्-वे प्रभु अनन्त धन-धान्यवान् हैं (तुवि=बहुत)। उस प्रभु के उपासक को किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। इसका योगक्षेम बखूबी चलता है। (४) इस प्रभु की उपासना करते हुए हम यद्-जो कुछ ईम्-निश्चय से कर्तवे-करने के लिये उश्मसि-चाहते हैं तत् करत्-प्रभु उसको पूर्ण कर देते हैं। उपासक चाहता है, प्रभु सब साधन जुटा देते हैं और वह चीज पूर्ण हो ही जाती है। वस्तुतः सब करनेवाले तो वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त की सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। वह जो चाहता है प्रभु उसे पूर्ण कर देते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हम प्रभु को धारण करते हैं प्रभु हमें शक्ति, धन व ज्ञान देते हैं। (१) इन चीजों को देकर वे प्रभु भक्त के सब कार्यों का पूरण करते हैं, (४) यह भक्त प्रभु के आदेश के अनुसार रेतःकणों का स्वामी बनता है, 'सिन्धुक्षित्' (सिन्धुः आपः=रेतः, क्षि)। इनके रक्षण से ही तो वह शरीर में शक्तिशाली बनेगा और मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न। यह रेतःकणों के रक्षण से बुद्धि को दीप्त करता है, 'प्रियमेध' होता है। यह इन 'आपः' की स्तुति करता हुआ कहता है कि—

[७५] पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रेतःकणों की उत्तम महिमा

प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः ।
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा ॥ १ ॥

(१) हे आपः-रेतःकणो! (आपः रेतो भूत्वा०) वः-आपकी उत्तमं महिमानम्-उत्कृष्ट महिमा को कारुः-कुशलता से कार्यों को करनेवाला स्तोता प्र सु वोचाति-प्रकर्षेण उत्तमता से कहता है। ये रेतःकण विवस्वतः सदने-उस प्रकाशमय प्रभु के इस शरीररूप गृह में हि-निश्चय

से **त्रेधा**=तीन प्रकार से **सप्त सप्त**=सात-सात रूपों में होकर **प्रचक्रमुः**=गति करते हैं। 'त्रेधा' का भाव 'भूमि, अन्तरिक्ष व आकाश में' है। अध्यात्म में भूमि 'शरीर' है, अन्तरिक्ष 'हृदय' है तथा आकाश 'मस्तिष्क' है। शरीर में ये आपः=सात धातुओं के रूप में रहते हैं, हृदय देश में पाँच मुख्य प्राणों व मन और बुद्धि के रूप में इनका निवास है तथा मस्तिष्क रूप द्युलोक में 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों के रूप में इनका कार्य चलता है। (२) वस्तुतः ये **सिन्धुः**=(आपः) रेतःकण **सुत्वरीणाम्**=बहनेवाली चीजों में **ओजसा**=ओज के दृष्टिकोण से **अति**=(अतीत्य वर्तते) लाँघ करके हैं। सबसे अधिक ओजस्वितावाले हैं, ओजस्वितावाले क्या, ये तो ओज ही ओज हैं। इनके ठीक होने पर शरीर के सब धारक तत्त्व (धातुएँ) ठीक बने रहते हैं, प्राण, मन व बुद्धि का कार्य ठीक से चलता है तथा कर्ण आदि सात ऋषि अपने कार्य को शक्ति के साथ करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—यह आपः व रेतः कणों का ही माहात्म्य है कि शरीर, मन व मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ बने रहते हैं। तभी यह शरीर सचमुच विवस्वान् (=प्रकाशमय प्रभु) का सदन होता है।

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वरुणः

प्र तेऽरदुद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम्।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि ॥ २ ॥

(१) **वरुणः**=सब अशुभों का निवारण करनेवाला प्रभु **ते यातवे**=हे सिन्धो (=आपः) तेरी गति के लिये **पथः**=मार्गों को **अरदत्**=बनाता है। गत मन्त्र के अनुसार यह शरीर उस विवस्वान् (=प्रकाशमय) प्रभु का ही है। उस प्रभु से जीव को यह कर्मरूप भाटक (किराये) के अनुसार दिया जाता है। उस परमात्मा ने इस सिन्धु की गति के लिये शरीर में मार्गों को बनाया है। ये मार्ग ही ऊपर की ओर जानेवाले 'उत्तरायण' व नीचे की ओर जानेवाले 'दक्षिणायन' के नाम से कहलाते हैं। (२) हे सिन्धो! हे रेतः! **त्वम्**=तू ही **यद्**=जब **अद्रवः**=इन मार्गों से गति करता है तो **वाजान्**=अंग-प्रत्यंगों की शक्तियों को **अभि**=लक्ष्य बनाकर ही गति करता है। इस गति में तू **भूम्याः अधि**=इस शरीर रूप पृथिवी से ऊपर **सानुना प्रवता**=समुच्छ्रित मार्ग से **यासि**=आता है। मस्तिष्क की ओर जानेवाला मार्ग ही समुच्छ्रित मार्ग है। **यद्**=जब तू इस मार्ग से चलता है तो **एषां जगताम्**=इन गतिशील मनुष्यों के **अग्रम्**=सर्वोत्कृष्ट प्रदेश इस मस्तिष्क को, शरीर के अन्दर के इस द्युलोक को **इरज्यसि**=तू ऐश्वर्ययुक्त करता है। इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होने पर मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि समुचित ईंधन को प्राप्त करके चमक उठती है। (३) दक्षिणायन से गति करने पर ये **आपः**=रेतःकण उत्तम प्रजाओं को जन्म देनेवाले होते हैं और उत्तरायण से गति करने पर ज्ञानसूर्य के उदय का कारण बनते हैं। रुधिर के साथ व्याप्त हुए-हुए ये रेतःकण विविध नाड़ी रूप नदियों से सम्पूर्ण शरीर में प्रवाहित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने शरीरस्थ रेतःरूप जलों के प्रवाह के लिये नाड़ीरूप नदियों का निर्माण किया है। इन मार्गों से ये नीचे ऊपर सर्वत्र विचरते हैं। सर्वोत्कृष्ट स्थान मस्तिष्क को ये ही प्रकाशरूप ऐश्वर्य से युक्त करते हैं।

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान-आनन्द-शक्ति

दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जब **सिन्धुः**=यह बहने के स्वभाववाला रेतस् **वृषभः न**=एक शक्तिशाली बैल के समान **रोरुवत्**=गर्जना करता हुआ रोगों व वासनाओं के प्रति आक्रमण करता है (रोरूयमाणोऽद्रवति) तो **भूम्या उपरि**=शरीर के ऊपर **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **स्वनः**=प्रभु की वाणी **यतते**=(stirshp) प्रेरित हो उठती है। प्रभु की प्रेरणात्मक वाणी (voice of conscience) सुन पड़ती है। शक्तिशाली बैल के समाने कोई खड़ा होने का साहस नहीं करता, सभी भाग खड़े होते हैं। इसी प्रकार इन रेत:कणों के सामने रोग व शत्रु टिके नहीं रह सकते। (२) इस प्रकार इस रेत:रक्षण से **भानुना**=ज्ञान की दीप्ति के साथ **अनन्तं शुष्मम्**=अनन्त शक्ति **उदियर्ति**=उद्गत होती है। रेत:रक्षण के दो परिणाम होते हैं—(क) मस्तिष्क में ज्ञान का प्रकाश और (ख) शरीर में शत्रु-शोषक शक्ति का उदय। (३) इस रेत:रक्षण का तीसरा परिणाम यह होता है कि **इव**=जिस प्रकार **अभ्रात्**=बादल से **वृष्टयः प्र स्तनयन्ति**=गर्जनापूर्वक वृष्टिजल भूमि पर आते हैं, इसी प्रकार शक्ति की ऊर्ध्वगति होने पर धर्ममेघ समाधि में आनन्द के वृष्टिजल बरसने लगते हैं। इन्हीं का वर्णन 'ऊर्ध्वादिक्' के प्रसंग में 'वर्षं इषवः' इन शब्दों से हुआ है। एवं रेत:कणों की ऊर्ध्वगति शरीर में तीन परिणामों को उत्पन्न करती है—(क) (भानुना०) मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय, (ख) (वृष्टयः) हृदयान्तरिक्ष में आनन्दजल का वर्षण, (ग) (शुष्मम्) शरीर रूप पृथिवी में अनन्त शक्ति।

भावार्थ—रेत:कणों की ऊर्ध्वगतिवाला ऊर्ध्वरेताः पुरुष 'ज्ञान, आनन्द व शक्ति' का स्वामी बनता है।

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दोनों प्रान्तों का प्राशस्त्य

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित्सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि॥ ४ ॥

(१) **न**=जिस प्रकार **वाश्राः**=शब्द करनेवाली **धेनवः**=दूध को पिलानेवाली **मातरः**=गौवें **पयसा**=दूध के साथ **इत्**=निश्चय से **शिशुं इव**=बछड़े को ही **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं (इव=एव), उसी प्रकार सब प्रजाएँ हे **सिन्धो**=रेत:कणो! **त्वा अभि**=तेरा ही लक्ष्य करके गतिवाली होती हैं। जैसे गौ की सब क्रियाएँ नवोत्पन्न बछड़े के उद्देश्य से ही होती हैं, जैसे माता की सब क्रियाएँ बच्चे के हित के लिये होती हैं, उसी प्रकार प्रजाओं की सब क्रियाएँ इस **सिन्धुः आपः**=रेत:कणों के रक्षण के लिये ही होती हैं। (२) **यद्**=जब **त्वम्**=तू **आसाम्**=इन **अग्रं प्रवताम्**=आगे गति करती हुई इन प्रजाओं को **इनक्षसि**=व्याप्त करता है अथवा प्राप्त होता है तो **युध्वा राजा इव**=एक युद्ध करनेवाले राजा की तरह **इत्**=निश्चय से **सिचौ नयसि**=प्रान्तों को प्राप्त कराता है, एक प्रान्त पृथिवीरूप शरीर है तो दूसरा प्रान्त द्युलोकरूप मस्तिष्क है। तू शरीर व मस्तिष्क दोनों की ही उन्नति करनेवाला होता है। शरीर को तू शक्ति प्राप्त कराता है, तो मस्तिष्क को ज्ञान

की दीप्ति।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ रेतःरक्षण के उद्देश्य से होनी चाहिएँ। ये रक्षित रेतःकण हमारे शरीर को दृढ़ बनायेंगे और मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त।

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

गंगा से सुषोमा तक

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ५ ॥

(१) सोम के शरीर में रक्षण होने पर मनुष्य प्रभु-प्रवण वृत्तिवाला बनकर प्रभु का स्तवन करता है और कहता है कि **इमं मे स्तोमम्**-इस मेरे स्तवन के साथ **सचता**-हे गंगा आदि वृत्तियो! तुम भी समवेत होवो (सच समवाये) मैं प्रभु का स्तवन करूँ और गंगादि शब्दों से सूचित वृत्तियों को धारण करनेवाला बनूँ। 'गंगे यमुने सरस्वति' इन तीन सम्बोधन शब्दों से 'गति, संयम व ज्ञान' का प्रतिपादन है। गंगा शब्द 'गम्' से और यमुना शब्द 'यम्' से बना है। गंगा, अर्थात् गति, क्रियाशीलता। अपनी तीव्र गति के कारण ही गंगा नदी का जल पवित्र है, क्रियाशीलता हमें भी पवित्र बनाती है। हमारे शरीर सदा क्रियाशील हों, तो मन संयम की भावना से ओत-प्रोत हो। यमुना, अर्थात् यमन, संयम। हम मन को निरुद्ध करनेवाले हों। सरस्वती तो ज्ञान की अधिष्ठात्री है ही। हमारा मस्तिष्क ज्ञानान्वित हो। (२) हे **शुतुद्रि**-शुतुद्री! तू **परुष्ण्या**-परुष्णी के साथ हमारे स्तोम के साथ समवेत हो। 'शु-तुद्री' शीघ्रता से (शु) वासनाओं को व्यथित करके (तुद् व्यथने) दूर भगाने की वृत्ति को सूचित कर रही है। अशुभ वासनाओं को दूर भगाकर, शुभ भावनाओं के भरने का भाव 'परुष्णी' शब्द से व्यक्त होता है (पर्व पूरणे)। हम अशुभवृत्तियों को दूर करें और शुभवृत्तियों का अपने में पूरण करें (दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव)। (३) हे **मरुद् वृधे**-(मरुतः=प्राणाः) प्राणवर्धन की भावना! तू **असिक्न्या**-असिक्नी के साथ **वितस्तया**-और वितस्ता के साथ हमारे स्तोम के साथ समवेत हो। हम प्रभु-स्तवन करें तो हमें मरुद्वृधा 'असिक्नी' और वितस्ता के साथ प्राप्त हो। 'मरुद्वृधा' का भाव प्राणों का वर्धन है, प्राणायाम के द्वारा हम प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं। इस प्राणसाधना से हम चित्तवृत्ति का निरोध करके उसे विषयों से अबद्ध 'असिक्नी' (षिञ् बन्धने) करते हैं, और विषय वासनाओं को **वि**-विशेषरूप से उपक्षीण करनेवाले होते हैं (तसु उपक्षये)। (४) हे **आर्जीकीये**-(ऋज to be healthy or strong) स्वस्थता व सबलता की स्थिति! तू **सुषोमया**-सुषोमा के साथ **अशृणुहि**-इस हमारे स्तोम को सुननेवाली हो। हम स्वस्थ व सबल बनें और साथ ही उत्तम सौम्यतावाले हों। हमें उन बल आदि गुणों का अभिमान न हो।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करूँ और निम्न १० बातें से युक्त जीववाला बनूँ—(क) क्रियाशीलता, (ख) संयम, (ग) ज्ञान, (घ) वासना-विद्रावण, (ङ) शुभ भावनाओं का पूरण, (च) विषयों से अबद्धता, (छ) प्राणशक्ति, (ज) रोग व राग-द्वेषादि अशुभःक्षय, (झ) स्वस्थता व सबलता, (ञ) और विनीतता।

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तृष्टामा से मेहत्नु तक

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे ॥ ६ ॥

(१) हे **सिन्धो**=(आप:) स्पन्दनशील रेत:कण! **त्व**=तू **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **यातवे**=जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये **तृष्टामया**=(तृष्ट=harsh, pungent, rugged, hoarse) तृष्टामा के साथ, कटुता व अभद्रता पर आक्रमण Attack करने की वृत्ति के साथ **सजू:**=संगत हो। संसार में हम भद्र बनकर चलें। (२) तू **सुसर्त्वा**=(सु+सृ गतौ) उत्तम गति के साथ संगत हो, **रसया**=रसा-रसवती वाणी के साथ संगत हो तथा **त्या श्वेत्या**=उन शुभ कलंकशून्य चित्तवृत्तियों के साथ संगत हो। (३) तू **कु-भया**=कुभा के साथ **गोमतीं क्रुमुम्**=गोमती क्रुमु को अपने साथ संगत कर। **कु**=पृथिवी, अर्थात् शरीर, **भा**=दीप्ति। शरीर की दीप्ति, अर्थात् तेजस्विता के साथ उत्तम ज्ञान की वाणीवाली (गौ=वाणी) गति (क्रम्) को प्राप्त हो। तेरा शरीर तेजस्वी हो, वाणी प्रशस्त हो और जीवन क्रियामय हो। (४) तू **मेहत्न्वा (मिह सेचने)**=लोगों पर सुखों के वर्षण की भावना से संगत हो। ये 'तृष्टामा' आदि वृत्तियाँ वे हैं **याभि:**=जिनके साथ **सरथम्**=इस समान शरीर-रथ पर **ईयसे**=आरूढ़ होकर गतिवाला होता है।

भावार्थ—(क) शरीर में वीर्य के रक्षण होने पर हमें (ख) भद्रता प्राप्त होती है, हमारे कार्यों में कठोरता नहीं होती, (ग) हमारी क्रियाएँ उत्तम होती हैं, (घ) वाणी रसवती और (ङ) चरित्र अकलंक हमें शरीर की तेजस्विता प्राप्त होती है, (छ) प्रशस्त ज्ञानवाणीवाले हम होते हैं, (ज) इस ज्ञानवाणी के अनुसार क्रियाओं को करते हैं, (झ) हमारी ये क्रियाएँ सभी पर सुखों का वर्षण करनेवाली होती हैं।

ऋषि:—सिन्धुक्षित्प्रैयमेध: ॥ **देवता**—नद्य: ॥ **छन्द:**—आर्चीस्वराड्जगती ॥ **स्वर:**—निषाद: ॥

ऋजीती-रुशती

ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता ॥ ७ ॥

(१) **ऋजीती**=(ऋजुना अतति) सरल मार्ग से चलने की वृत्ति जो **एनी**=श्वेतवर्णवाली है, जिसमें कहीं भी कलंक का चिह्न नहीं है, **रुशती**=जो कि अन्त: ज्ञानदीप्ति से देदीप्यमान है वह **महित्वा**=अपनी महिमा से हमारे अन्दर **ज्रयांसि**=वेगवाले **रजांसि**=कर्मों को **परिभरते**=सब ओर से भरती है। ऋजीती का भाव सरल मार्ग से चलता है। इस सरल मार्ग से चलने में कहीं भी मलिनता नहीं आ पाती। यह मार्ग शुद्ध व श्वेत बना रहता है, कलंकित नहीं होता। इस मार्ग से चलने पर ही अन्तत: अन्तर्दर्शन दीप्ति की प्राप्ति होती है। इस ज्ञानदीप्ति से हमारे कार्य जहाँ पवित्र होते हैं वहाँ सबल व वेगवान् होते हैं। (२) इस प्रकार यह **सिन्धु:**=रेत:कण **अपसां अपस्तमा**=क्रियाशीलों में अत्यन्त क्रियाशील हैं। ये हमें शक्ति सम्पन्न करके अकर्मण्यता से ऊपर उठाते हैं। **अदब्धा**=ये कभी हिंसित नहीं होते, रोगादि का इन पर आक्रमण नहीं हो पाता। ये रोगों को आक्रान्त करके हमारी इस तनू (शरीर) को **अश्वा न चित्रा**=एक घोड़े की तरह अद्भुत शक्तिवाला बनाते हैं। और **वपुषी इव**=एक उत्तम-उत्तम शरीरवाली युवति के समान **दर्शता**=सचमुच सौन्दर्य के कारण दर्शनीय हमारा शरीर होता है। ये सिन्धु दर्शनीय है, अर्थात् रेत:कण इस दर्शनीयता का जनक है।

भावार्थ—रेत:कणों के रक्षण का परिणाम यह है कि हम (क) सरल शुद्ध मार्ग से सब गतियों को करनेवाले होते हैं और हमें (ख) अन्तर्ज्ञान की शुभ्र-ज्योति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह सिन्धु 'ऋजीती' है, 'रुशती' है।

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सिन्धुः

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥ ८॥

(१) 'सिन्धु' शब्द इस सूक्त में स्यन्दनात्मक होने से वीर्यशक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह वीर्यशक्ति शरीर में सुरक्षित होने पर **स्वश्वा**-उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाली है, इन्द्रियों की शक्ति इससे बढ़ी रहती है। यह **सुरथा**-उत्तम शरीर रूप रथवाली है, इससे शरीर रूप रथ में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। **सुवासाः**-यह उत्तमता से आच्छादित करनेवाली है, यह रोगों से बचाती है, उसी प्रकार जैसे कि वस्त्र सर्दी-गर्मी से बचाते हैं। **हिरण्ययी**-ज्योतिर्मय है, यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञान-ज्योति को दीप्त करती है। **सुकृता**-उत्तम कर्मोंवाली है। वीर्य का रक्षण होने पर अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। यह शक्ति **वाजिनीवती**-शरीर व मन को सबल बनानेवाली है। (२) **ऊर्णावती**-(ऊर्णु आच्छादने) मन में अशुभ वासनाओं का प्रवेश नहीं होने देती। **युवतिः**-अशुभ को दूर करके शुभ से यह हमें युक्त करनेवाली है। **सील-मावती**-(सीर) यह हल व लक्ष्मीवाली है, अर्थात् वीर्य शक्ति के रक्षण के होने पर मनुष्य की वृत्ति श्रमपूर्वक ही धनार्जन की होती है। सील व सीर शब्द 'हल' का वाचक होकर श्रम का संकेत करता है (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व)। (३) इस प्रकार हमारे जीवन को सुन्दर बनानेवाली यह वीर्यशक्ति 'सुभगा' है, हमारे जीवन में श्री का वर्धन करनेवाली है यह सुभगा वीर्यशक्ति श्री का वर्धन तो करती ही है, उत-और **मधुवृधम्**-मधु का वर्धन करनेवाले प्रभु को **अधिवस्ते**-आधिक्येन धारण करती है। प्रभु को अपना आच्छादक वस्त्र बनाती है, इससे हमारे जीवन में माधुर्य का वर्धन होता है।

भावार्थ—वीर्यशक्ति के रक्षण से शरीर व मन का पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है, ज्ञान-ज्योति दीप्त होती है। श्री की वृद्धि होकर हम माधुर्य का वर्धन करनेवाले प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अदब्ध-स्वयशाः-विरप्शी

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः॥ ९॥

(१) 'सिन्धु' शब्द से कहा गया है। यह 'सिन्धुः'-वीर्यशक्ति का पुत्र भूत पुरुष **रथम्**-शरीर रूप रथ को **युयुजे**-जोतता है। यह रथ 'सुखं'-उत्तम शोभन द्वारोंवाला है, **अश्विनम्**-प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला है। **तेन**-इस उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले रथ से **अस्मिन् आजौ**-इस जीवन संग्राम में यह **वाजं सनिषद्**-शक्ति व ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। (२) **अस्य**-इस शक्ति पुञ्ज पुरुष की महान् **महिमा**-बड़ी महिमा **हि**-निश्चय से **पनस्यते**-सब से प्रशंसित होती है, सब कोई इसके रथ की उत्तमता, शक्ति व ऐश्वर्य का प्रशंसन करता है। यह पुरुष **अदब्धस्य**-अदब्ध होता है अहिंसित होता है, यह दबता नहीं **स्वयशसः**-अपने उत्तम कर्मों के कारण यशस्वी होता है, **विरप्शिनः**-महान् बनता है (विरप्शिनः-महतः नि०) अथवा विशेष रूप से प्रभु के गुणों का उच्चारण करनेवाला होता है (वि-रप्)।

भावार्थ—वीर्य का संयम करने पर यह संयमी पुरुष 'अदब्ध, स्वयशाः विरप्शी' बनता है। इस सूक्त में वीर्यशक्ति के महत्त्व को बहुत ही उत्तमता से व्यक्ति किया गया है। यह संयमी पुरुष अब 'सर्प'=गतिशील, 'ऐरावत'=(इरा वेदवाणी) वेदवाणी का ज्ञाता (ज्ञानी) व 'जरत् कर्ण'=स्तुति के शब्दों को ही सदा सुननेवाला, उत्तम स्तोता बनता है। प्रार्थना है कि—

[७६] षट्सप्ततिमं सूक्तम्

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'इन्द्र-मरुत व रोदसी' का अलंकरण

आ वं ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिष्विन्द्रं मरुतो रोदंसी अनक्तन।
उभे यथा नो अहंनी सचाभुवा सर्दःसदो वरिवस्यातं उद्भिदां ॥ १ ॥

(१) श० १४।२, २।३३ में 'प्राणा वै ग्रावाणः' इन शब्दों में प्राणों को 'ग्रावा' कहा है। प्राणशक्ति का मूल 'वीर्य'=सोम है। (१) जराकर्ण इन ग्रावों-सोमों को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **ऊर्जां व्युष्टिषु**=बलों के उदय के निमित्त सब अंग-प्रत्यंगों को शक्ति प्राप्त कराने के निमित्त मैं **वः**=आपको **आ ऋञ्जसे**=सर्वथा प्रसाधित करता हूँ। तुम सिद्ध होकर **इन्द्रम्**=आत्मा को, **मरुतः**=प्राणों को, **रोदसी**=द्यावापृथिवी को मस्तिष्क व शरीर को **अनक्तन**=कान्त व शोभित बनाओ। रक्षित हुए-हुए तुम्हारे द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास हो, प्राणों की शक्ति का विकास हो, मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल हो और शरीर स्वास्थ्य की दीप्तिवाला। (२) रक्षित हुए-हुए तुम ऐसी कृपा करो कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **उभे अहनी**=दोनों दिन व रात **सचाभुवा**=सदा उस प्रभु के साथ बीतनेवाले हों। हम जागरित अवस्था में व स्वप्नावस्था में प्रभु का स्मरण करते हुए अपने कार्यों को करनेवाले हों। ये दोनों दिन-रात **उद्भिदा**=हमारी उन्नति का कारण हों तथा **सदः सदः**=प्रत्येक सभा में **वरिवस्यातः**=उस प्रभु का पूजन करनेवाले हों। जब कभी सभाओं में हम एकत्रित हों तो प्रभु के गुणों का ही कीर्तन करें।

भावार्थ—हम शरीर में सोमकणों का प्रसाधन करें। सारे कार्यों को करते हुए प्रभु को न भूलें।

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

श्रेष्ठ सवन

तदु श्रेष्ठं सवनं सुनोतनात्यो न हस्तयतो अद्रिः सोतरि।
विदद्ध्यर्यो अभिभूति पौंस्यं महो राये चित्तरुते यदर्वतः ॥ २ ॥

(१) हे प्राणो! **उ**=निश्चय से **तद्**=उस **श्रेष्ठं सवनम्**=सर्वोत्तम सवन को **सुनोतन**=करनेवाले बनो। श्रेष्ठ सवन 'सोम' का सवन है। आहार से रस रुधिरादि के क्रम से सोम को उत्पन्न करना ही 'श्रेष्ठ सवन' है। यह सोम **हस्तयतः**=ग्रहण करनेवाला का **अद्रिः**=न विदारण करनेवाला है, **सोतरि**=अपने उत्पन्न करनेवाले में यह **अत्यः न**=सतत अतन (=गमन) शील अश्व के समान है, अर्थात् यह सोम अपने रक्षक पुरुष को सतत क्रियाशील बनाता है। (२) **अर्यः**=(स्वामी) जितेन्द्रिय पुरुष इस सोमरक्षण के द्वारा **हि**=निश्चय से **अभिभूति**=शत्रुओं के पराभूत करनेवाले **पौंस्यम्**=बल को **विदत्**=प्राप्त करता है। **यत्**=जब यह सोम **महो राये**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **चित्**=ही **अर्वतः**=इन इन्द्रियरूप अश्वों को **तरुते**=(प्रयच्छति) देता है। सोमरक्षण से

ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को करने में सशक्त बनती हैं, उस समय ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कराती हैं और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों के साधन से पुण्यैश्वर्य को सिद्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—श्रेष्ठतम सवन 'सोम का सवन' है। जितेन्द्रिय पुरुष के लिये यह सोम शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को प्राप्त कराता है। उस समय ज्ञानेन्द्रियाँ हमें ज्ञानैश्वर्य को तथा कर्मेन्द्रियाँ सुकृतैश्वर्य को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

क्रियाशीलता व अभ्रंश

तदिद्ध्यस्य सवनं विवेरपो यथा पुरा मनवे गातुमश्रेत्।
गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयुः ॥ ३ ॥

(१) **तत्**-वह **हि**-निश्चय से **अस्य**-इस सोम का **सवनम्**-उत्पादन **अपः**-कर्मों को **विवेः**-व्याप्त करता है। शरीर में सोम के रक्षण से मनुष्य का जीवन क्रियाशील बनता है। यह सोम **मनवे**-विचारशील पुरुष के लिये **यथा**-ठीक-ठीक (जैसे चाहिए उस प्रकार) **पुरा**-(पृ पालन पूरणयोः) पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **गातुम्**-मार्ग का **अश्रेत्**-सेवन करता है। सोम के रक्षण के होने पर मनुष्य गलत मार्ग पर नहीं जाता, ठीक मार्ग पर चलने से उसका पालन व पोषण उचित प्रकार से होता है। (२) ये सोम का सवन व रक्षण करनेवाले लोग **गो अर्णसि**-वेदवाणी से प्राप्य ज्ञानजलों **त्वाष्ट्रे**-(त्वष्टुः इदम्) निर्माण सम्बन्धी कार्यों के निमित्त तथा **अश्वनिर्णिजि**-इन्द्रियों के शोधन के निमित्त (णिजिर् शौचपोषणयोः), **ईम्**-और निश्चय से **अध्वरेषु**-हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के निमित्त **अध्वरान्**-हिंसा व कुटिलता से रहित कर्मों को **प्र अशिश्रयुः**-प्रकर्षेण सेवन करते हैं। सोम के रक्षण के ये परिणाम हैं—(क) ज्ञान प्राप्ति, (ख) निर्माणात्मक कार्यों में रुचि, (ग) इन्द्रियों की शुचिता, (घ) यज्ञशीलता।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें क्रियाशील बनाता है और मार्ग से भ्रष्ट होने से बचाता है।

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

राक्षसी वृत्तियों का संहार

अप हत रक्षसो भङ्गुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधतामतिम्।
आ नो रयिं सर्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः ॥ ४ ॥

(१) प्रभु उपासकों से कहते हैं कि—हे **अद्रयः**-(thrse who adone) उपासको! **भंगुरावतः**-भंजन व तोड़-फोड़ के कर्मों में प्रवृत्त होनेवाली **रक्षसः**-राक्षसी वृत्तियों को **अपहत**-अपने से सुदूर विनष्ट करो, **निर्ऋतिम्**-दुर्गति-दुराचरण-रूप पापदेवता को **स्कभायत**-दूर ही रोक दो, **अमतिम्**-अप्रशस्त बुद्धि को **सेधत**-अपने समीप आने से निषिद्ध कर दो वस्तुतः प्रभु का उपासक राक्षसीवृत्तियों से, पाप से अप्रशस्त विचारों से अपने को दूर ही रखता है। (२) हे उपासको! **नः**-हमारे इस **सर्ववीरम्**-सारे कोशों को वीरता से पूर्ण करनेवाले **रयिम्**-सोमात्मक धन को **सुनोतन**-अपने में अभिषुत करो। इस सोम के रक्षण से ही तुम राक्षसी वृत्तियों को, निर्ऋति व अमति को दूर रख पाओगे। इस सोम के रक्षण के लिये ही **देवाव्यम्**-दिव्यगुणों के प्रीणित करनेवाले **श्लोकम्**-प्रभु के यशोगान को **भरत**-धारण करनेवाले बनो। प्रभु का यह स्तवन

वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के लिये सहायक होगा और हमारे में दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम उपासक बनकर सोम का रक्षण करें। यह सोमरक्षण हमें अशुभ वृत्तियों से बचायेगा और शुभ की ओर ले चलेगा।

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—आसुरीस्वराडार्ची निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सूर्य, विद्युत-वायु, तथा अग्नि' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सोम

दिवश्चिदा वोऽमवत्तरेभ्यो विभ्वना चिदाश्वपस्तरेभ्यः।
वायोश्चिदा सोमरभस्तरेभ्योऽग्नेश्चिदर्च पितुकृत्तरेभ्यः॥ ५॥

(१) हे जीव! **अर्च**=इन सोम कणों की अर्चना कर, इनको पूजनेवाला बन! इसकी पूजा यही है कि इन के महत्त्व को समझकर इनका तू रक्षण करनेवाला हो। ये सोमकण **वा**=तुम्हारे लिये **दिवः चित्**=द्युलोकस्थ सूर्य देवता से भी **अमवत्तरेभ्यः**=अधिक प्राणशक्तिवाले हैं। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=यह सूर्य भी प्रजाओं का प्राण ही उदित होता है। पर सोमकण तो सूर्य से भी अधिक प्राणशक्ति को देनेवाले हैं। (२) ये सोमकण **विभ्वना चित्**=(विभु=ether=सर्वत्र व्याप्त विद्युत्तत्व, etheric to light up) आकाश में सर्वत्र व्याप्त विद्युत्तत्व से भी **आशु अपस्तरेभ्यः**= शीघ्रता से कार्य करनेवाले हैं। विद्युत् कार्यों को अत्यन्त शीघ्रता से करनेवाली है, पर ये सोमकण मनुष्य को इससे भी अधिक स्फूर्ति के देनेवाले हैं। (३) **वायोः चित्**=आकाश में निरन्तर गतिशील वायु से भी **सोमरभस्तरेभ्यः**=अधिक सौम्यता से युक्त वेगशक्ति को देनेवाले हैं। वायु में वेग है, सोमकणों में उससे भी अधिक वेगशक्ति है। ये सोमकण इस वेगशक्ति को प्राप्त कराते हुए अपने साधक को सौम्य भी बनाते हैं। (४) **अग्नेः चित्**=पृथिवी के मुख्य देवता अग्नि से भी **पितुकृत्तरेभ्यः**=अधिक रक्षण को करनेवाले हैं। अग्नि तत्त्व शरीर का रक्षक है यह बात इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि 'ठण्डा पड़ गया, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया'। अग्नि तत्त्व है, तभी तक जीवन है। सोम इस अग्नितत्त्व का साधक होने से अग्नि से भी अधिक महत्त्व रखता ही है। जब तक सोम सुरक्षित रहता है तब तक शरीर में अग्नितत्त्व बना रहता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'सूर्य, विद्युत्, वायु तथा अग्नि' से भी जीवन के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान के तीन परिणाम

भरन्तु नो यशसः सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता।
नरो यत्र दुहते काम्यं मध्वाघोषयन्तो अभितो मिथस्तुरः॥ ६॥

(१) **यशसः**=यशस्वी **ग्रावाणः**=ज्ञानोपदेष्टा आचार्य (ग्रावाणः विद्वांसः श० ३।९।३।१४) **नः**=हमें **अन्धसः**=सोम के **सोतु**=उत्पादन के द्वारा **भरन्तु**=पोषित करनेवाले हों। इनका उपदेश हमें सोमरक्षण के लिये प्रेरित करके इन्हीं की तरह यशस्वी व ज्ञानी बनाये। सोमरक्षण का परिणाम इनके जीवन में ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान के पोषण के रूप में हुआ और कर्मेन्द्रियों के द्वारा यशस्वी कार्यों को सिद्ध करने के रूप में। इसी प्रकार हम भी सोमरक्षण से ज्ञान व यश को प्राप्त करनेवाले हों। (२) ये ज्ञानोपदेष्टा आचार्य **दिवित्मता**=दीप्तिमती, ज्ञान की दीप्तिवाली, **वाचा**=वाणी से **दिविता**=दीप्तिमाता में, ज्ञान के प्रकाश में हमारा धारण करें। इनकी वाणियाँ हमें ज्ञान देनेवाली

हों। ये हमें उस ज्ञान के प्रकाश में स्थापित करें, (क) **यत्र**=जहाँ कि **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **काम्यम्**-चाहने योग्य **मधु**=माधुर्य का **दुहते**=अपने में पूरण करते हैं। ज्ञान से मनुष्य का जीवन मधुर बनता है, उनके जीवन में किसी प्रकार की कटुता नहीं रहती। (ख) इस ज्ञान में स्थापित करें, जिसमें कि नर **अभितः**=दिन के दोनों ओर, अर्थात् प्रातः-सायं **आघोषयन्तः**=प्रभु के गुणों का, स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाले होते हैं। ज्ञान मनुष्य के अन्दर विशिष्ट भक्ति को पैदा करनेवाला होता है 'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते'। (ग) उस ज्ञान में स्थापित करें जिस ज्ञान से **मिथस्तुरः**=परस्पर मिल करके शीघ्रता से कार्य करनेवाले होते हैं (मिथः त्वरमाण्यः सा०) ज्ञानी लोग मिलकर अपने-अपने कार्यभाग को सुचारूरूपेण करते हुए कार्यों को शीघ्रता से सिद्ध करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से वह ज्ञान प्राप्त होता है जो कि हमारे जीवनों को माधुर्य से पूर्ण बनाता है, हमें प्रभु-प्रवण करता है और मिलकर शीघ्रता से कार्यों को सिद्ध करनेवाला बनाता है।

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

जिह्वा का संयम

सुन्वन्ति सोमं रथिरासो अद्रयो निरस्य रसं गविषो दुहन्ति ते।
दुहन्त्यूधरुपसेचनाय कं नरो हव्या न मर्जयन्त आसभिः ॥ ७ ॥

(१) जो भी व्यक्ति **सोमं सुन्वन्ति**=सोम का सवन करते हैं, अर्थात् सोम को अपने शरीर में सुरक्षित करते हैं वे **रथिरासः**=उत्तम शरीररूप रथवाले बनते हैं तथा **अद्रयः**=परमेश्वर के उपासक होते हैं। **ते**=वे **गविषः**=(गो+इष) वेदवाणियों की इच्छा करते हुए **अस्य रसम्**=इस सोम के रस को **निःदुहन्ति**=पूर्णरूप से अपने में पूरित करते हैं। (दुह प्रपूरणे)। सोम का अपने शरीर में ही पूरण करने से मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है, उससे उसे ज्ञान की वाणियाँ सुगमता से बुद्धिगम्य होती हैं। इस सोम के रक्षण से शरीर भी स्वस्थ रहता है और मानसवृत्ति भी उत्तम होकर प्रभु की ओर झुकाववाली बनती है। (२) इसी विचार से **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **ऊधः दुहन्ति**=वेदवाणी रूप गौ के ऊधस् का दोहन करते हैं, इस ज्ञान प्राप्ति के कार्य में लगे रहने से वे **उपसेचनाय**=शरीर में ही सोम के सेचन के लिये होते हैं। ज्ञान प्राप्ति का व्यसन इन्हें अन्य व्यसनों से बचा देता है और ये वासनाओं का शिकार न होने से सोम का रक्षण कर पाते हैं। शरीर में सोम के सेचन से **कम्**=इन्हें सुख की प्राप्ति होती है। (३) **न**=(च) और सोमरक्षण के उद्देश्य से ये नर **आसभिः**=(असने आसः) स्वाद आदि की आसक्ति को परे फेंकने से **हव्या मर्जयन्त**=अपनी जाठराग्नि में आहुति देने योग्य पदार्थों को शुद्ध कर डालते हैं। शुद्ध सात्त्विक पदार्थों का ही ये सेवन करते हैं। इन पदार्थों के सेवन से उत्पन्न शीतवीर्य को ये शरीर में सुगमता से स्थापित कर पाते हैं।

भावार्थ—सोम के शरीर में रक्षण से)क) शरीर उत्तम बनता है, (ख) मन प्रभु-प्रवण होता है, (ग) बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान की वाणियों का दोहन करनेवाली होती है। इसके रक्षण के लिये यह आवश्यक है कि हम जिह्वा का संयम करें।

ऋषिः—जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दिव्य तेज

एते नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः।
वामंवामं नो दिव्याय धाम्ने वसुवसु वः पार्थिवाय सुन्वते ॥ ८ ॥

(१) एते-ये नरः-प्रगतिशील मनुष्य स्वपसः-उत्तम कर्मोंवाले अभूतन-होते हैं, ये-जो अद्रयः=प्रभु के उपासक इन्द्राय-प्रभु की प्राप्ति के लिये सोमं सुनुथ-सोम का अभिषव करते हैं। 'अपने अन्दर सोम को उत्पन्न करना, उसे शरीर में सुरक्षित करना' यह हमें, (क) उत्तम कर्मोंवाला बनाता है, अशुभ कर्मों में हमारी प्रवृत्ति ही नहीं रहती। (ख) हम प्रभु प्रवण बनते हैं, प्रभु के उपासक होते हैं, (ग) और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। (२) दिव्याय धाम्ने=दिव्य तेज (divine power) की प्राप्ति के लिये वः-तुम्हारा वामं वामम्-प्रत्येक कार्य बड़ा सुन्दर हो। वः-तुम्हारे में से सुन्वते-सोमाभिषव करनेवाले, सोम का सम्पादन करनेवाले, पार्थिवाय-इस शरीररूप पृथिवी के अधिपति के लिए वसुवसु-निवास के लिये प्रत्येक आवश्यक तत्त्व प्राप्त हो। सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहने से दिव्य तेज की प्राप्ति होती है, और शरीर में सोम का सम्पादन करते हुए शरीर का अधिपति बनने से सब वसुओं का हम अधिष्ठान बनते हैं।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, ये प्रभु के उपासक बनते हैं और दिव्य तेज को प्राप्त करते हैं।

गत सूक्त की तरह यह सूक्त भी सोम-रक्षण के महत्त्व को बतला रहा है। इस सोम का रक्षण करता हुआ यह अब उन ज्ञान की रश्मियों को प्राप्त करता है जो उसके सुख व आनन्द का कारण बनती हैं, (स्यूम=heppiness, रश्मि=rey of light) इससे इसका नाम 'स्यूमरश्मि' हो जाता है। यह भार्गव है, भृगुपुत्र है, अत्यन्त तपस्वी है। तपस्वी बने बिना 'स्यूमरश्मि' बनने का सम्भव भी तो नहीं। यह स्यूमरश्मि सोमरक्षण के उद्देश्य से प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है और प्राणों (=मरुतों) की स्तुति करता हुआ कहता है—

[७७] सप्तसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणसाधना से भी योग्यता व शोभा की प्राप्ति

अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु हविष्मन्तो न यज्ञा विजानुषः।
सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे॥ १॥

(१) अभ्रपुषः न=(पुष् सेचने) जैसे आधिदैविक क्षेत्र में मरुत् (मौनसून विण्ड्स) बादलों से सम्पूर्ण क्षेत्रों को (भूमियों को सिक्त करनेवाले हैं, उसी प्रकार अध्यात्म क्षेत्र में ये मरुत्=प्राण वाचा प्रुषाः=वेदवाणी के द्वारा हमें ज्ञान से परिपूर्ण करनेवाले हैं। (प्रुष, पूरणे:)। प्राणसाधना से सोम शक्ति का रक्षण होता है, यह ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है और हम वेदज्ञान से अपने को भर पाते हैं। (२) हविष्मन्तः यज्ञाः न=जिन में उत्तम हव्य पदार्थ डाले गये हैं उन यज्ञों के समान ये मरुत् वसु=धनों को विजानुषः=विविध रूपों में उत्पन्न करते हैं। यज्ञों से पर्जन्य (बादल) होता है बादल से अन्न। यह अन्न ही सर्वमुख्य वसु है। शरीर में प्राण भी इसी प्रकार वसुओं को जन्म देनेवाले होते हैं। निवास के लिये आवश्यक तत्त्व इन वसुओं से ही प्राप्त होते हैं। एवं प्राणसाधना से जहाँ ज्ञान बढ़ता है, वहाँ निवास के लिये आवश्यक सब वसुओं का, तत्त्वों का उत्पादन भी होता है। (३) यह सचमुच ही मेरे दौर्भाग्य की बात है कि अर्हसे=योग्यता के सम्पादन के लिये ब्रह्माणम्=वृद्धि के कारणभूत सुमारुतं गणम्=मरुतों के इस शुभ गण को न अस्तोषि=मैंने आज तक स्तुत नहीं किया। एषाम्=इन मरुतों के गण की शोभसे=शोभा की प्राप्ति के लिये न=मैं स्तुति नहीं कर पाया। इनकी स्तुति के द्वारा ही तो मुझे योग्यता व शोभा प्राप्त होनी थी। सो मैं इन की स्तुति में प्रवृत्त होऊँ जिससे अपनी योग्यता व शोभा की वृद्धि का करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राण साधना ही तो प्राणों का स्तवन है, प्राणायाम मेरे दैनिक जीवन को कार्यक्रम का मुख्य अंग हो।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अकृत्रिम शोभा

श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षपः।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः ॥ २ ॥

(१) **मर्यासः**=मनुष्य **श्रिये**=शोभा की प्राप्ति के लिये **अञ्जीन् अकृण्वत**=आभरणों को करते हैं। आभरणों से शरीर की शोभा को बढ़ाने के लिये यत्नशील होते हैं। परन्तु **सुमारुतम्**=इस उत्तम मरुतों के (=प्राणों के) गण को **पूर्वीः क्षपः**=बहुत भी नाशक शत्रु **न अति** (**क्रम्य वर्तन्ते**)=नहीं लाँघ पाते हैं। इन मरुतों के गण के सामने हमारे इन शत्रुओं की शक्ति शान्त हो जाती है। इन शत्रुओं के शान्त हो जाने पर न शरीर में रोग आते हैं, नांही मन में राग आ पाते हैं। इस प्रकार शरीर को स्वस्थ बनाकर तथा मन को निर्मल बनाकर ये मरुत् हमारी शोभा को बढ़ानेवाले होते हैं। आभरणों द्वारा प्राप्त शोभा कृत्रिम थी, यह मरुतों से प्राप्त करायी गयी शोभा वास्तविक है, इसे ही प्राप्त करना बुद्धिमत्ता है। (२) इन मरुतों की साधना करनेवाले लोग **दिवस्पुत्रासः**=ज्ञान के पुतले (पुञ्ज) बनते हुए **एताः न**=गतिशील व्यक्तियों की तरह **येतिरे**=सदा शोभा को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं। **आदित्यासः ते**=सदा सद्गुणों का आदान करनेवाले वे प्राणसाधक **अक्राः न**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले वीरों के समान **वावृधुः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। शत्रुओं को परास्त करते हुए, सद्गुणों का आदान करते हुए ये सचमुच अपनी शोभा को बढ़ा पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से प्राप्त होनेवाली शोभा ही वास्तविक शोभा है, आभरणों से वह शोभा अप्राप्य है।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणसाधक की शोभा का अतिरेक

प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः।
पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवो रिशादसो न मर्या अभिद्यवः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना से शोभा को प्राप्त करनेवाले ये साधक (=मरुत्) वे हैं **ये**=जो कि **दिवः**=द्युलोक के दृष्टिकोण से **पृथिव्याः न**=(न=च सा०) और पृथिवी के दृष्टिकोण से **बर्हणा**=वृद्धि के कारण **त्मना**=स्वयं इस प्रकार **प्ररिरिच्रे**=खूब बढ़े हुए होते हैं **न**=जैसे कि **अभ्रात् सूर्यः**=बादल से सूर्य बढ़ा हुआ होता है। बादल कुछ देर के लिये सूर्य को एक देश में आवृत कर ले, परन्तु सदा सर्वत्र ऐसा कर सकना बादल के लिये सम्भव नहीं। इसी प्रकार प्राणसाधक को वासनारूप वृत्र हमेशा आवृत नहीं रख सकता। प्राणसाधक की वासनाएँ नष्ट होती ही हैं। वासना-विनाश से यह अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य से चमकता है। उसकी यह चमक बाह्य द्युलोक की चमक से भी अधिक होती है। और पृथिवीरूप शरीर इसका इस पृथिवी से भी अधिक दृढ़ बनता है। (२) **पाजस्वन्तः**=शक्तिशाली **वीराः न**=वीरों के समान ये प्राणसाधक **पनस्यवः**=स्तुति की कामनावाले होते हैं। इनका कोई व्यवहार कायर पुरुषों के

समान नहीं होता। (३) रिशादसः-शत्रुओं को खा जानेवाले मर्याः न-मनुष्यों के समान ये **अभिद्यवः**-अभिगत दीप्तिवाले होते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर ये दीप्त जीवनवाले बनते हैं। अथवा दोनों ओर ये दीप्तिवाले होते हैं। दोनों ओर, अर्थात् प्रकृतिविद्या में भी और आत्मविद्या में भी ये निपुण होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य वासना से ऊपर उठकर मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व दृढ़ बनाता है।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अरोगता-अक्षीणता

युष्माकं बुध्ने अपां यामनि विथुर्यति न मही श्रथर्यति।
विश्वप्सुर्यज्ञो अर्वागयं सु वः प्रयस्वन्तो न सत्राच आ गत ॥ ४ ॥

(१) हे (मरुतः) प्राणो! **युष्माकं बुध्ने**-तुम्हारे आधार में, **अपां यामनि**-रेतःकणों के रूप में जलों के शरीर में गति करने पर **मही**-यह पृथिवी रूप शरीर **न विथुर्यति**-(व्यथते) रोगों से पीड़ित नहीं होता और **न श्रथर्यति**-नांही क्षीणशक्तिवाला होता है। प्राणसाधना से सोमकणों की (वीर्यकणों का) शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। इस सोमशक्ति के शरीर में व्यापन से शरीर रोगाक्रान्त नहीं होता और शरीर की शक्ति क्षीण नहीं होती। (२) हे मरुतो! **अयम्**-यह **अर्वाग्**-शरीर के अन्दर चलनेवाला **विश्वप्सुः**-विश्वरूप **सु यज्ञः**-उत्तम यज्ञ **वः**-आपका ही है। शरीर के अन्दर होनेवाली सब क्रियाएँ इन मरुतों की कृपा से ही होती हैं। भोजन का ग्रहण पाचन तथा धातुओं का सर्वत्र नयन आदि सब क्रियाएँ इन प्राणों के ही अधीन हैं। इसलिए हे **सत्राचः**-मिलकर शरीर में गति करनेवाले मरुतो! **प्रयस्वन्तः**-उत्तम हविरूप अन्नवाले होते हुए आप **नः आगत**-हमें प्राप्त होवो। प्राणशक्ति के वर्धन के लिये हम उत्तम सात्त्विक अन्नों का ही प्रयोग करें। इन अन्नों से बढ़ी हुई शक्तिवाले प्राण हमारे जीवन को भी सात्त्विक बनायेंगे। उसी समय हमारा जीवन यज्ञमय हो पायेगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होकर शरीर न रोगाक्रान्त होता है, न क्षीणशक्ति। उस समय हमारा जीवन यज्ञमय हो जाता है। शरीर के अन्दर चलनेवाली क्रियाएँ सब यज्ञ का रूप धारण कर लेती हैं।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

लक्ष्य की ओर

यूयं धूर्षु प्रयुजो न रश्मिभिर्ज्योतिष्मन्तो न भासा व्युष्टिषु।
श्येनासो न स्वयशसो रिशादसः प्रवासो न प्रसितासः परिप्रुषः ॥ ५ ॥

(१) हे (मरुतः-) प्राणसाधक पुरुषो! **यूयम्**-आप **रश्मिभिः**-प्रग्रहों, लगामों के कारण **धूर्षु**-रथ के जुए में जुते हुए **प्रयुजः न**-प्रकृष्ट घोड़ों के समान हो। जैसे रश्मियों से युक्त घोड़े इष्ट-स्थान पर ले जानेवाले होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों पर नियन्त्रणवाले ये प्राणसाधक पुरुष अपने को लक्ष्य पर प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) ये **भासा**-दीप्ति से **व्युष्टिषु**-उषाओं के होने पर **ज्योतिष्मन्तः न**-ज्योतिवाले सूर्यादि के समान होते हैं। प्राणसाधना से ज्ञान-ज्योति इस प्रकार दीप्त होती है, जैसे उषाकाल में सूर्य चमकता है। (३) **श्येनासः न**-बाज पक्षी के समान **रिशादसः**-(रिश अदस्) शत्रुओं के समाप्त करनेवाले **स्वयशसः**-अपने कर्मों से यशस्वी होते हैं प्राणसाधना से काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार होता है और यह साधक उत्तम कर्मोंवाला होकर यशस्वी

जीवनवाला बनता है। (४) ये साधक **प्रवासः न**-प्रवासी पुरुषों की तरह, पथिकों की तरह **प्रसितासः**-(intention, longing for, craering after) लक्ष्य पर पहुँचने के लिये प्रबल उत्सुकतावाले और अतएव **परिप्रुषः**-(परितो गन्तारः) खूब गतिवाले होते हैं। लक्ष्य मार्ग की ओर ये निरन्तर बढ़ रहे होते हैं, इनकी सब क्रियाएँ लक्ष्य प्राप्ति के लिये होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष संयत-जीवनवाले, ज्योतिष्मान्, यशस्वी कर्मोंवाले तथा निरन्तर गतिशील होते हैं।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आत्मदर्शन व निर्द्वेषता

प्र यद्वहध्वे मरुतः पराकाद्यूयं महः संवरणस्य वस्वः।
विदानासो वसवो राध्यस्याराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोत ॥ ६ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=तुम **यद्**=जब **पराकाद्**=दूर देश से **वहध्वे**=इन्द्रियों व मन को पुनः वापिस लाते हो, भटकते हुए इनको निरुद्ध करके अन्दर ही स्थापित करते हो तो आप **महः**=महनीय, प्रशंसनीय, **संवरणस्य**=वरणीय, चाहने योग्य **वस्वः**=आत्म-धन के **विदानासः**=प्राप्त करानेवाले होते हो, उस आत्मधन के जो **राध्यस्य**=सिद्ध करने योग्य है, सचमुच प्राप्त करने योग्य है। इस आत्मधन के अभाव में अन्य धनों को तो कोई महत्त्व है ही नहीं। प्राणसाधना के होने पर चित्तवृत्ति-निरोध सम्भव होता है, उस समय आत्मदर्शन से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। यह आत्मदर्शन ही राध्य व साध्य है। (२) **वसवः**=आत्मदर्शन के द्वारा उत्तम निवास को प्राप्त करानेवाले **वसुओ**! आप **सनुतः**=अन्तर्हित **द्वेषः**=द्वेष की भानाओं को (द्वेषः=द्वेष्टॄन् सा०) **आरात् चित्**=सुदूर ही **युयोत**=हमारे से पृथक् करो। आत्मदर्शन के होने पर द्वेष की भावनाओं के रहने का सम्भव ही नहीं रहता। ये अवाञ्छनीय भावनाएँ हमारे हृदयों में छिपे रूप से विद्यमान होती हैं, इन्हें नष्ट करना आवश्यक ही है। इनके नाश के लिये यह प्राणसाधना साधन बनती है।

भावार्थ—प्राणायाम से चित्तवृत्ति का निरोध होकर आत्मदर्शन रूप महनीय धन प्राप्त होता है, उस समय मन में द्वेष की भावनाओं का अभाव हो जाता है।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञशीलता व प्राणायाम

य उदृचि यज्ञे अध्वरेष्ठा मरुद्भ्यो न मानुषो ददाशत्।
रेवत्स वयो दधते सुवीरं स देवानामपि गोपीथे अस्तु ॥ ७ ॥

(१) **यः**=जो व्यक्ति **उदृचि**=उद्गत ऋचाओंवाले, जिसमें ऋचाओं का, मन्त्रों का उच्चारण हो रहा है ऐसे **यज्ञे**=यज्ञ में **अध्वरेष्ठाः**=हिंसारहित कर्मों में स्थित होनेवाला बनता है, अर्थात् जो यज्ञों में प्रवृत्त रहता है **न**=और (न इति चार्थे) **मानुषः**=विचारशील बनकर **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिये **ददाशत्**=अपने को दे डालता है, अर्थात् प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, **स**=वह **वयः**=उत्तम आयुष्य को **दधते**=धारण करता है। उस आयुष्य को जो **रेवत्**=उत्तम ज्ञान के धनवाला है और **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से सम्पन्न है। (२) **स**=वह यज्ञशील प्राणसाधक पुरुष **देवानाम्**=देवों के **गोपीथे**=(गोपीथ protection) रक्षण में **अपि**=भी **अस्तु**=हो। सब देव इसके अनुकूल होते हैं और यह उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ दिव्यता का अपने में वर्धन करता है।

भावार्थ—यज्ञशीलता व प्राणसाधना मनुष्य को ज्ञानधन, वीरता व दिव्यता प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनीषा-महः (बुद्धि व तेज)

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा आदित्येन नाम्ना शंभविष्ठाः ।
ते नोऽवन्तु रथतूर्मनीषां महश्च यामन्नध्वरे चकानाः ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार यज्ञों व प्राणसाधना को अपनानेवाले **ते**=वे लोग **हि**=निश्चय से **यज्ञेषु यज्ञियासः**=यज्ञों में यज्ञशील होते हैं, **ऊमाः**=इन यज्ञों के द्वारा इस लोक व परलोक का रक्षण करनेवाले बनते हैं। **आदित्येन**=सब स्थानों से अच्छाई को ग्रहण करने की वृत्ति से तथा **नाम्ना**=प्रभु नाम-स्मरण से अथवा नम्रता से **शंभविष्ठाः**=शान्ति को उत्पन्न करनेवाले हैं। (२) **ते**=वे आदित्य की वृत्तिवाले तथा प्रभु का स्मरण करनेवाले लोग **रथतूः**=(रथतुरः) शरीररूप रथ को त्वरा से मार्ग पर लक्ष्य की ओर ले चलनेवाले होते हैं। ये **नः**=हमारा भी **अवन्तु**=रक्षण करें। अपने जीवन के उदाहरण से हमारा मार्गदर्शन करते हुए ये हमें कल्याण-पथ का पथिक बनाते हैं। (३) ये व्यक्ति **अध्वरे**=यज्ञमय **यामन्**=जीवनमार्ग में **मनीषाम्**=बुद्धि को **महः च**=और तेजस्विता को **चकानाः**=चाहनेवाले होते हैं। इनकी कामना यही होती है कि इनका शरीर तेजस्वी हो तथा विज्ञानमय कोश सूक्ष्म बुद्धि से विभूषित हो।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुषों की मूल कामना यही होती है कि वे 'बुद्धि व तेज' को प्राप्त करनेवाले बनें।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

[७८] अष्टसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मर्या अरेपस

विप्रासो न मन्मभिः स्वाध्यो देवाव्यो॒३ न यज्ञैः स्वप्नसः ।
राजानो न चित्राः सुसंदृशः क्षितीनां न मर्या अरेपसः ॥ १ ॥

(१) प्राणसाधक पुरुष **विप्रासः न**=ज्ञानी पुरुषों के समान **मन्मभिः**=विचारपूर्वक किये गये, स्तवनों से **स्वाध्यः**=शोभन-ध्यानवाले होते हैं। यह ध्यान ही उन्हीं **वि-प्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बनाता है। (२) **देवाव्यः न**=दिव्य गुणों को अपने में सुरक्षित करनेवालों के समान ये साधक **यज्ञैः**=यज्ञों से **स्वप्नसः**=सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। वस्तुतः इन यज्ञादि कर्मों में लगे रहने के कारण ही ये अपने में दिव्यगुणों का रक्षण करते हैं। (२) **राजानः न**=राजाओं के समान दीप्तजीवाले पुरुषों के समान ये **चित्राः**=चायनीय-पूजनीय होते हैं और **सुसन्दृशः**=देखने में बड़े उत्तम लगते हैं, व्याकृतिवाले बनते हैं। सब कार्यों में नियमितता regularily ही इन्हें सौन्दर्य प्रदान करती है और लोगों का पूज्य बनाती है। (४) **क्षितीनां न**=उत्तम निवास व गतिवालों के समान ये **मर्याः**=मनुष्य **अरेपसः**=निर्दोष जीवनवाले होते हैं। वस्तुतः प्रतिक्षण इस बात का ध्यान रहने पर कि 'हमें इस पृथ्वी पर अपने निवास को उत्तम बनाना है और गतिशील रहना है' मनुष्य अपने जीवन को बहुत कुछ निर्दोष बना पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'स्वाध्य, स्वप्नस्, सुसंदृश् व अरेपस्' बनाती है, उत्तम ध्यानवाला, उत्तम कर्मोंवाला, उत्तम आकृति व दृष्टिवाला, निर्दोष।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दीप्त व क्रियाशील

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः ।
प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतं यते ॥ २ ॥

(१) **ये**=जो प्राणसाधक पुरुष हैं वे **भ्राजसा**=दीप्ति की दृष्टि से **अग्निः न**=अग्नि के समान हैं, **रुक्मवक्षसः**=ये देदीप्यमान वक्षःस्थलोंवाले होते हैं। प्राणसाधना इनको खूब चौड़ी दीप्त छातीवाला बनाती है। (२) **वातसः न**=वायुओं के समान ये **स्वयुजः**=स्वयं कार्यों में सदा लगे हुए तथा **सद्यऊतयः**=शीघ्र रक्षणवाले होते हैं। प्राणसाधना से जीवन में सदा स्फूर्ति बनी रहती है तथा यह प्राणसाधक अपना रक्षण कर पाता है। वायु की तरह सदा स्फूर्तिवाला तथा वायु की तरह जीवन का रक्षक होता है। (३) **प्रज्ञातारः न**=प्रकृष्ट ज्ञानियों के समान **ज्येष्ठाः**=ये प्रशस्त जीवनवाले होते हैं तथा **सुनीतयः**=सदा उत्तम नीति मार्ग का अवलम्बन करते हैं। (४) ये प्राण **ऋतं यते**=ऋत के मार्ग पर चलनेवाले के लिये **सुशर्माणः न**=जैसे उत्तम सुख को देनेवाले होते हैं, उसी प्रकार **सोमाः**=उसको सौम्य व शान्त स्वभाववाला बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से दीप्ति व क्रियाशीलता प्राप्त होती है। प्राणसाधक उत्तम नीतिमार्ग से चलता है और सौम्य होता है।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुकम्पक शूर

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः ।
वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितॄणां न शंसाः सुरातयः ॥ ३ ॥

(१) प्राणसाधक पुरुष वे हैं **ये**=जो कि **वातासः न**=वायुओं के समान **धुनयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले तथा **जिगत्नवः**=निरन्तर गतिशील होते हैं। (२) **अग्नीनां जिह्वाः न**=अग्नियों की लपटों के समान **विरोकिणः**=ये विशेषरूप से चमकनेवाले होते हैं। (३) **वर्मण्वन्तः योधाः न**=कवचधारी योद्धाओं के समान **शिमीवन्तः**=ये शौर्ययुक्त कर्मोंवाले होते हैं। (४) **पितॄणां शंसाः न**=पितरों के उपदेशों की तरह **सुरातयः**=उत्तम ज्ञान के दानवाले होते हैं। जैसे पिता सदा कल्याणकर वाणी का ही उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार ये प्राणसाधक सदा शुभ ही सलाह को देनेवाले होते हैं, ये सदा उत्तम ज्ञान को ही देते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक वायु के समान शत्रुओं को कम्पित करता हुआ गति करता है, अग्नि ज्वाला के समान चमकता है, शत्रुओं से मुकाबिला करनेवाले वीर योद्धा के समान होता है और पितरों की तरह हितकर ज्ञान को देनेवाला होता है।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मिलकर कार्य करनेवाले

रथानां न येऽराः सनाभयो जिगीवांसो न शूरा अभिद्यवः ।
वरेयवो न मर्या घृतप्रुषोऽभिस्वर्तारो अर्कं न सुष्टुभः ॥ ४ ॥

(१) प्राणसाधक व्यक्ति वे हैं **ये**=जो **रथानां अराः न**=रथों के अरों के समान **सनाभयः**=समान नाभि व बन्धनवाले होते हैं। जैसे रथचक्र के ओर एक नाभि में ही केन्द्रित होते हैं, उसी प्रकार

ये प्राणसाधक पुरुष एक ही कार्य में अपने को केन्द्रित करके चलते हैं 'सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा'। एक परिवार में पति-पत्नी दोनों प्राणसाधक होते हैं तो घर को मिलकर बड़ा सुन्दर बना पाते हैं। इसी प्रकार प्राणसाधकों का समाज सदा श्रेष्ठ समाज बनता है। राष्ट्र का शासकवर्ग भी इस प्राणसाधना को अपनाने से राष्ट्र को बड़ी उन्नत स्थिति में प्राप्त करानेवाला होता है। (२) ये प्राणसाधक पुरुष **जिगीवांसः सूराः न**=सदा जीतनेवाले शूरों के समान **अभिद्यवः**=अभिगत दीप्तिवाले होते हैं। इनके शरीर तेजस्विता से चमकते हैं तो इनके मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से दीप्त होते हैं। (३) ये प्राणसाधक **वरेयवः**=वरणीय उत्तम वस्तुओं को ही अपने साथ जोड़नेवाले **मर्याः न**=मनुष्यों के समान **घृत-प्रुषः**=मलों के क्षरण व दीप्ति को अपने में पूरित करते हैं (प्रुष पूरणे) मलों के क्षरण से इनका शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है और ज्ञान की दीप्ति से इनका मस्तिष्क जगमगा उठता है। (४) **अर्कं अभिस्वर्तारः न**=पूजनीय प्रभु का स्तवन करनेवालों के समान ये साधक **सुष्टुभः**=सदा उत्तम शब्दोंवाले होते हैं। ये सदा स्तुत्यात्मक शब्दों का ही उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक मिलकर कार्य करनेवाले, शूर, स्वस्थ व दीप्त जीवनवाले होते हैं तथा स्तुत्यात्मक शब्दों का ही उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

संसार को सुन्दर बनानेवाले

अश्वा॑सो॒ न ये ज्ये॒ष्ठास॑ आ॒शवो॑ दिधि॒षवो॒ न र॒थ्य॑: सु॒दान॑वः।

आपो॒ न नि॒म्नैरु॒दभि॑र्जिगत्नवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒ अङ्गि॑रसो॒ न साम॑भिः॥ ५॥

(१) प्राणसाधक पुरुष वे होते हैं **ये**=जो **अश्वासः न**=मार्ग का व्यापन करनेवाले घोड़ों के समान **आशवः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाले और अतएव **ज्येष्ठासः**=प्रशस्त जीवनवाले बनते हैं। प्राणसाधना स्फूर्ति को देकर हमारे जीवनों को प्रशस्त बनाती है। (२) ये साधक **दिधिषवः न**=वसुओं के जीवन के धारक तत्त्वों को धारण करनेवालों के समान **रथ्यः**=उत्तम शरीररूप रथवाले तथा **सुदानवः**=(दाप् लवने) शरीर में आ जानेवाली कमियों का खण्डन करनेवाले होते हैं। कमियों को दूर करके ये इस रथ को सदा यात्रा के लिये उपयुक्त बनाये रखते हैं। (३) **आपः निम्नैः न**=जल जैसे निम्न मार्गों से गति करते हैं, उसी प्रकार ये साधक **निम्नैः उदभिः जिगत्नवः**=नम्रता की भावना को जगानेवाले रेतःकणों के साथ गतिशील होते हैं। ये अपने में रेतःकणों का रक्षण करते हैं और रक्षित रेतःकण इन्हें नम्र जीवनवाला बनाते हैं। (४) ये साधक **सामभिः**=उपासनाओं के द्वारा **अंगिरसः न**=अंगिरसों के समान, अंगारों की तरह देदीप्यमान पुरुषों के समान, **विश्वरूपाः**=(विश्वं रूपयन्ति) इस विश्व को उत्तम रूप देनेवाले हैं। उपासना से इन्हें शक्ति प्राप्त होती है, ये अग्निरूप प्रभु के समान ही चमक उठते हैं और संसार को उत्तम बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक 'शीघ्रता से कार्य करनेवाले, बुराइयों का खण्डन करनेवाले, नम्रतापूर्वक गतिशील तथा उपासना से संसार को उत्तम रूप देनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

क्रीड़क व उत्तम निर्माता

ग्रावा॑णो॒ न सू॒रय॒: सिन्धु॑मातर आदर्दि॒रासो॒ अद्र॑यो॒ न वि॒श्वहा॑।

शि॒शू॒ला न क्री॒ळय॑: सु॒मा॒तरो॑ महाग्रा॒मो न याम॑न्नु॒त त्वि॒षा॥ ६॥

(१) प्राणसाधक पुरुष ग्रावाण: न=(विद्वांसो हि ग्रावाण: श० ३।९।३।१४) ज्ञानी पुरुषों के समान सुरय:=सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले, सिन्धुमातर:=अपने जीवन में (सिन्धु-आप:-रेत:) रेत:कणों का निर्माण करनेवाले होते हैं। इन रेत:कणों के रक्षण से ही ये प्रेरणात्मक कार्यों को करने में समर्थ होता है। (२) अद्रय: न=(adore) प्रभु के उपासकों के समान ये विश्वहा-सदा आदर्दिरास:=वासनाओं का विदारण करनेवाले होते हैं। वासनाओं का विदारण ही इन्हें सोमरक्षण में समर्थ करता है। वासनाओं को नष्ट करके ही तो ये ऊर्ध्वरेता बनेंगे। (३) शिशूला: न=छोटे बच्चों के समान ये सदा क्रीडय:=खेलनेवाले होते हैं। छोटे बच्चे खेल में कभी लड़ भी पड़ते हैं तो थोड़ी ही देर में सब लड़ाई को भूलकर फिर खेलने लगते हैं। इसी प्रकार प्राणसाधक भी संसार की सब घटनाओं को खेल समझता है। इसीलिए परेशान नहीं होता, राग-द्वेष में नहीं फँस जाता। इसी कारण सुमातर:=ये उत्तम निर्माण करनेवाले बनते हैं। खीझनेवाला व्यक्ति, राग-द्वेष से भरे हुए मनवाला व्यक्ति कभी उत्तम निर्माण नहीं कर पाता। (४) उत=और ये त्विषा=अपनी दीप्ति से यामन्=इस जीवनयात्रा में अकेले होते हुए भी महाग्राम: न=महान् जनसंघ के समान प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक ज्ञानियों के समान प्रेरणा देनेवाला, वासना विनाशक, उत्तम निर्माता व तेजस्वी होता है।

ऋषि:—स्यूमरश्मिर्भार्गव: ॥ देवता—मरुत: ॥ छन्द:—पादनिचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

अनथक क्रियाशील

उषसां न केतवोऽध्वरश्रिय: शुभंयवो नाञ्जिभिर्व्यश्वितन्।
सिन्धवो न ययियो भ्राजदृष्टय: परावतो न योजनानि ममिरे॥ ७॥

(१) उषसां केतव: न=उषाकाल की रश्मियों की तरह ये प्राणसाधक भी ज्ञान की दीप्तिवाले होते हैं और अध्वरश्रिय:=यज्ञों का सेवन करनेवाले होते हैं (श्रि सेवायाम्)। प्राणसाधना इन्हें ज्ञानदीप्त यज्ञसेवी बनाती है। (२) शुभंयव: न=शुभ को अपने साथ मिश्रित करने की कामनावालों के समान अञ्जिभि:=उत्तम गुणरूपी आभरणों से व्यश्वितन्=ये दीप्त होते हैं। सदा शुभंयु होते हुए ये गुणों का संचय कर ही पाते हैं। (३) सिन्धव: न=नदियों के समान ययिय:=निरन्तर गतिवाले और गति के कारण ही भ्राजद् ऋष्टय:=दीप्त 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधोंवाले ये होते हैं। (४) परावत: न=(दूराध्वनीना: वडवा इव सा०) सुदूर मार्ग का आक्रमण करनेवाली घोड़ियों के समान योजनानि ममिरे=कितने ही योजनों का, लम्बे मार्गों का परिच्छेदन करनेवाले होते हैं, अर्थात् लम्बे मार्गों को तय करने में थक नहीं जाते।

भावार्थ—प्राणसाधक 'ज्ञानदीप्त यज्ञसेवी' बनते हैं, गुणों के आभरणों से अपने को विभूषित करते हैं, गतिशील व दीप्त इन्द्रियादिवाले होते हैं, मार्गों के आक्रमण में थक नहीं जाते।

ऋषि:—स्यूमरश्मिर्भार्गव: ॥ देवता—मरुत: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

सुभाग-सुरत्न

सुभागान्नो देवा: कृणुता सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन्मरुतो वावृधाना: ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति॥ ८॥

(१) हे देवा:=प्राणसाधना से उत्पन्न सब दिव्य गुणो! न:=हमें सुभागान्=उत्तम सेवनीय धनोंवाला तथा सुरत्वान्=उत्तम शरीरस्थ 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस् व वीर्य' रूप

सप्त रत्नोंवाला कृणुता-करिये। (२) हे वावृधाना:-वृद्धि को प्राप्त होते हुए मरुत:-प्राणो! अस्मान् स्तोतृन् कृणुता-हमें आप स्तुति की वृत्तिवाला बनाइये। (२) हे मरुतो! आप स्तोत्रस्य-हमारे से किये जाते हुए स्तोत्रों को तथा सख्यस्य-मित्रता को अधिगात-प्राप्त होवो। हम प्राणों का स्तवन करें और प्राणों की मित्रता को प्राप्त करें। हे प्राणो! व:-आपके रत्नधेयानि-हमारे शरीरों में रत्नों की स्थापना रूप कार्य सनात् हि-चिरकाल से निश्चयपूर्वक सन्ति-हैं। सदा से आप हमारे में रस आदि रत्नों की स्थापना करते हो। आपकी ही कृपा से हमारे जीवनों में इन रत्नों का स्थापन होता है और हम 'सुभाग व सुरत्न' बन पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें सुभाग व सुरत्न बनाती है।

गत सूक्त की तरह यह सूक्त भी प्राणसाधना के महत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है। अब प्राणसाधना के द्वारा यह 'सौचीक अग्नि वैश्वानर' बनता है, 'सूची शिल्पं अस्य' सूई जिस तरह सी देती है उसी प्रकार मिलानेवाला न कि फाड़नेवाला, प्रगतिशील, विश्वनर हितकारी। 'वैश्वानर' बनने के लिये ही यह 'सप्तिवाजम्भर' बनता है, उपासक (सप् tohonour) व उपासना द्वारा अपने में शक्ति को भरनेवाला। यह सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है—

[७९] एकोनाशीतितमं सूक्तम्

ऋषि:—अग्नि: सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भर: ॥ **देवता**—अग्नि: ॥ **छन्द:**—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वर:**—धैवत: ॥

जबड़ों की अद्भुत रचना

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।
नाना हनू विभृते सं भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्त: ॥ १ ॥

(१) **अस्य**-इस **अमर्त्यस्य**-कभी न मरनेवाले **महत:**-महान् प्रभु की **महित्वम्**-महिमा को **मर्त्यासु विक्षु**-इन मर्त्य प्रजाओं के अन्दर **अपश्यम्**-देखता हूँ। इन मरणधर्मा शरीरों में क्या अद्भुत ही रचना है। ये **नाना**-अलग-अलग **हनू**-जबड़े **विभृते**-ऊपर और नीचे विभिन्न स्थितियों में धारण किये गये हैं। ये **संभरेते**-विभृत होते हुए भी मिलकर पुरुष का भरण करते हैं। इन्हीं से भोजन का चूर्णन व चर्वण होता है, इस चूर्णन व चर्वण के अभाव में भोजन का पाचन ही नहीं हो पाता। ३२ दाँतों की संख्या से यही संकेत हो रहा है कि कम से कम प्रत्येक ग्रास ३२ बार अवश्य चबाया जाए। (२) **असिन्वती बप्सती**-(असिन्व imsetiable) अतृप्तिपूर्वक खाते हुए (प्सा भक्षणे) ये जबड़े **भूरि अत्त:**-(भृ: धारणपोषणयो:) धारण व पोषण के दृष्टिकोण से ही खाते हैं। ये कभी अति भोजन नहीं खाते, कभी ऐसा नहीं होता कि ये कहा जाए कि 'अरे! पेट बड़ा भर गया'। वस्तुत: खूब चबाने का अभ्यस्त पुरुष अति-भोजन से बचा ही रहता है। भोजन को इतना चबाया जाए कि वह द्रव बन जाए। इस प्रकार हम इस उक्ति को क्रियान्वित करनेवाले बनें कि 'drink your food'।

भावार्थ—शरीर की रचना में यह जबड़ों की रचना बड़ी ही अद्भुत है, ये भोजन को शरीर के पालन व पोषण के योग्य बना देते हैं। इनमें द्रष्टा को प्रभु की महिमा दिखती है।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सिर, आँखें व जिह्वा

गुहा शिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि।
अत्राण्यस्मै पड्भिः सं भरन्त्युत्तानहस्ता नमसाधि विक्षु ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित जबड़ों की अद्भुत रचना के साथ प्रभु ने **शिरः**=सर्वमुख्य अंग मस्तिष्क को **गुहा निहितम्**=एक हड्डियों से बनी हुई गुफा-सी में रख दिया है। वहाँ उस गुफा में यह कितना सुरक्षित विद्यमान है। उस गुफा पर केश रूप घास-फूस के उगने की व्यवस्था से उसका रक्षण और भी सुन्दर हो जाता है। (२) प्रभु ने **ऋधक् अक्षी**=अलग-अलग दो आँखों को रखा है। दो होती हुई भी ये पदार्थों को दो न दिखाकर एक रूप में ही दिखाती हैं। यह भी एक अद्भुत ही रचना की कुशलता है। (३) सिर व आँखों के अतिरिक्त यह जिह्वा भी अद्भुत है। **जिह्वया**=इस जिह्वा से **असिन्वन्**=कभी अतितृप्ति को न अनुभव करता हुआ यह 'सौचीक अग्नि' **वनानि अत्ति**=वानस्पतिक पदार्थों को खाता है। जिह्वा से उनमें एक इस प्रकार का स्राव मिल जाता है जिससे कि उनका पाचन ठीक से हुआ करता है यहाँ कुछ starch निशास्ता खाण्ड में परिवर्तित हो जाता है। (४) **अस्मै**=इसके लिये **अत्राणि**=भोज्य पदार्थों को **पड्भिः**=श्रमों के द्वारा, गति के द्वारा **संभरन्ति**=संभृत करते हैं। वस्तुतः पुरुषार्थ से प्राप्त भोजन ही भोजन है। बिना पुरुषार्थ के प्राप्त भोजन अन्ततः विध्वंस का कारण बनता है। **विक्षु**=प्रजाओं में **उत्तानहस्ताः**=ऊपर उठाये हुए हाथोंवाले, अर्थात् पुरुषार्थ में रत पुरुष **नमसा**=नमन के द्वारा, प्रभु के प्रति नम्रभाव को धारण करते हुए इन भोजनों को प्राप्त करते हैं। इन भोजनों में भी ये प्रभु की महिमा को देखते हैं और प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क, आँखों व जिह्वा की रचना में भी उस रचयिता की महिमा स्पष्ट है। जिह्वा से हम पुरुषार्थ से प्राप्त वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कन्द-शाक-अन्न-फल

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥ ३ ॥

(१) **स**=यह **मातुः**=इस पृथ्वी माता की **गुह्यम्**=गुहा में स्थित कन्द आदि पदार्थों को **प्रतरम्**=प्रकृष्टतया **इच्छन्**=चाहता हुआ **कुमारः न**=सब कुत्सित प्रवृत्तियों को मारते हुए के समान **उर्वीः वीरुधः**=इन फैलनेवाले पौधों की ओर **सर्पत्**=गति करता है, इन पर लगनेवाले शाक फलों को भोज्य पदार्थों के रूप में स्वीकार करता है। (२) सबसे उत्कृष्ट भोज्य पदार्थ तो पृथ्वी माता के गर्भ में उत्पन्न होनेवाले कन्द हैं जो कि मुनियों के मुख्य भोजन बनते हैं। इन के सेवन से राजस व तामस प्रवृत्तियाँ उत्पन्न ही नहीं होती। इनके बाद इन पौधों पर होनेवाले शाकों का क्रम आता है। ये भी हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाले होते हैं। (२) **न**=जैसे यह 'सौचीक अग्नि' **पक्वम्**=पके हुए अतएव **शुचन्तम्**=चमकते हुए **ससम्**=यव आदि सस्यों को **अविदत्**=प्राप्त करता है, उसी प्रकार **रिपः**=पृथिवी की **उपस्थे अन्तः**=गोद के अन्दर **रिरिह्वांसम्**=मूलों से,

जड़ों से रस का आस्वादन लेते हुए इन वृक्षों को (अविदत्) प्राप्त करता है। इन वृक्षों के फलों को यह स्वीकार करता है। यहाँ पृथ्वी को 'रिप्' कहा है, इसकी गोद को विदीर्ण करके वृक्ष बाहर आ जाते हैं (rip=रिप्) आकाश में इनकी शाखाएँ शयन करती हैं एवं इनका मूल माता के उत्संग में होता है, शिखर द्युलोक रूप पिता की गोद में। एक प्रभु-भक्त इन वृक्षों के फलों का सेवन करता है और उनके अन्दर प्रभु की रचना के महत्त्व को देखता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्तों के भोजन 'कन्द, शाक, फल व अन्न' ही होते हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की अचिन्त्य महिमा

तद्वांमृतं रोंदसी प्र ब्रंवीमि जायंमानो मातरा गर्भों अत्ति।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताग्निरङ्ग विचेताः स प्रचेताः ॥ ४ ॥

(१) हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **वाम्**=आपके **तद् ऋतम्**=उस ऋत को **प्रब्रवीमि**=प्रकर्षेण उच्चारण करता हूँ। आपके अन्दर होनेवाली प्रत्येक क्रिया बड़े ऋत के साथ हो रही है। ऋत का अभिप्राय है प्रत्येक क्रिया का ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होना। प्रत्येक नक्षत्र एकदम नियमित गति से चल रहा है। इस सृष्टि के किसी भी पिण्ड में नाममात्र भी अनृत का स्थान नहीं है। यह ऋत भी उस प्रभु की महिमा को व्यक्त कर रहा है। (२) यह भी एक अद्भुत ही बात है कि **जायमानः गर्भः**=विकसित होता हुआ गर्भ **मातरा**=अपने जन्म देनेवाले माता-पिता को ही **अत्ति**=खा जाता है। एक बालक का शरीर माता-पिता की शक्ति के व्यय से ही बनता है। बालक बढ़ता है, माता-पिता क्षीण होते हैं। यह भी वस्तुतः एक विचत्र ही व्यवस्था है। (३) इस सारी व्यवस्था का विचार करता हुआ **अहं मर्त्यः**=मैं मरणधर्मा तो **देवस्य**=उस देव की महिमा को **न चिकेत**=पूरा-पूरा नहीं समझ पाता हूँ। हे **अंग**=हे प्रिय! **अग्निः**=वह सबका अग्रेणी प्रभु ही **विचेताः**=विविध ज्ञानोंवाला है, इन सब विविध व्यवस्थाओं के मर्म को वही जानता है **स प्रचेताः**=वही प्रकृष्ट ज्ञानी है। प्रभु ही अपनी महिमा को पूर्णरूपेण जानते हैं।

भावार्थ—इस द्युलोक व पृथ्वीलोक में कार्य करता हुआ 'ऋत' प्रभु की महिमा को प्रकट करता है, यह भी एक विचित्र बात है कि जायमान गर्भ अपने ही माता-पिता को क्षीण करनेवाला होता है।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥
छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परस्पर भावन

यो अस्मा अन्नं तृष्वा३ दधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम् ॥ ५ ॥

(१) प्रभु ने यह भी एक विचित्र व्यवस्था की है मनुष्य अग्नि के लिये अन्न व घृत आदि की आहुति देता है और अग्नि पर्जन्य (=बादल) आदि के द्वारा वृष्टि कराता हुआ फिर से मनुष्य को अन्न प्राप्त कराता है और उसका पोषण करता है। इस प्रकार यह देवों व मनुष्यों का परस्पर भावन चलता है। **यः**=जो **अस्मै**=इस अग्नि के लिये **अन्नम्**=अन्न को **तृषु**=शीघ्र **आदधाति**=स्थापित

करता है और **घृतैः आज्यैः**=(घृ दीप्तौ) दीप्त घृतों से **जुहोति**=आहुत करता है अग्नि उसका **पुष्यति**=पोषण करता है, **तस्मै**=उसके लिये **सहस्त्रं अक्षभिः**=हजारों आँखों से **विचक्षे**=(विपश्यति looks after) ध्यान करता है, अर्थात् उसके रक्षण के लिये सदा अप्रमत्त रहता है। (२) इस प्रकार उस प्रभु ने मनुष्य के पालन के लिये यह अद्भुत ही व्यवस्था की है। यही क्या, वास्तव में जिधर ही देखें उसी तरफ प्रभु की इस प्रकार की व्यवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं कि सर्वत्र उसकी महिमा दिखने लगती है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **विश्वतः**=सब ओर **प्रत्यङ्**=(प्रत्यगचनः) अभिमुख गति करते हुए **असि**=हैं, सब ओर हमारी अनुकूलता से आप प्रवर्तमान हो रहे हैं। जिधर दृष्टि जाती है उधर ही आपकी महिमा दिखती है।

भावार्थ—प्रभु ने यह भी विचित्र व्यवस्था की है कि मनुष्य यज्ञादि में अग्नि में अन्न व घृत को आहुत करता है और अग्नि, बादल वृष्टि व अन्नादि की उत्पत्ति के क्रम से मनुष्य का पोषण करता है।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥

छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकृति का विचित्र स्वभाव

किं देवेषु त्यज एनश्चकर्थाग्ने पृच्छामि नु त्वामविद्वान्।

अक्रीळन्क्रीळन्हरिरत्तवेऽदन्वि पर्वशश्चकर्त गामिवासिः ॥ ६ ॥

(१) हम प्रकृति में देखते हैं कि नाममात्र भी प्रकृति के विषय में हम अपराध करते हैं और प्रकृति एकदम उसका हमें दण्ड देती है। यह अपराध दो प्रकार का है। एक तो यह कि जिन चीजों का प्रयोग करना चाहिए उनका प्रयोग न करें और दूसरा यह कि जिनका प्रयोग नहीं करना चाहिए उनका प्रयोग कर बैठें। पहले अपराध 'त्यज्य' हैं, दूसरे 'एनस्' पहले sins of omission, तथा दूसरे sins of conamision। ये सब अपराध हमारी अल्पज्ञता व मूर्खता के कारण ही हुआ करते हैं। सो कहते हैं कि हे **अग्ने**=परमात्मन् **अविद्वान्**=अल्पज्ञ होता हुआ मैं **नु**=सब **त्वाम्**=आप से **पृच्छामि**=पूछता हूँ कि मनुष्य **देवेषु**=शरीरस्थ देवों के विषय में **किं** क्या **त्यजः**=करने योग्य के न करने का पाप तथा **एनः**=न करने योग्य के करने का पाप **चकर्थ**=करता है कि प्रकृति उसे **पर्वशाविचकर्त**=एक-एक पर्व काटती हुई पीड़ा पहुँचाती है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **असिः गाम्**=तलवार किसी को काटती है। मैं प्रकृति के विषय में गलती कर बैठता हूँ और उस गलती के कारण रोग के रूप में कष्ट को प्राप्त करता हूँ। (२) यह गलतियाँ सामान्यतः चार भागों में बाँटी जा सकती है—(क) **अक्रीडन्**=व्यायाम को बिलकुल न करता हुआ। व्यायाम का बिलकुल न करना पहली गलती है, (ख) **क्रीडन**=हर सम खेलता हुआ। यह व्यायाम की अति है। यह अति व्यायाम भी विविध व्याधियों का कारण बनता है। (ग) **हरिः**=मैं कभी-कभी अन्याय से धन का हरण करनेवाला बनता हूँ (हरणात्)। इस के परिणामरूप मानस अशान्ति को भोगता हूँ और (घ) **अत्तवे अदन्**=खाने के लिये खाने लगता हूँ। खाने के लिये ही खाने लगना सबसे बड़ा दोष है, यह सब प्रकार की अवनतियों का कारण होता है। (३) शरीर में अग्नि का निवास मुख में है, वायु का नासिका में, सूर्य का आँखों में, दिशाओं का कानों में, चन्द्रमा का हृदय में और इस प्रकार सारे देवता इस शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों में रह रहे हैं। इनके विषय में हमारे यही मुख्य रूप से अपराध हैं कि हम (क) व्यायाम बिलकुल नहीं करते, (ख) अतिव्यायाम कर बैठते हैं, (ग) चोरी करके धन जुटाते हैं, (घ) भोगों में फँस जाते हैं। इन अपराधों से देवताओं

का हम निरादर करते हैं और यह देवताओं का निरादर हमारे कष्टों का कारण बनता है। उपर्युक्त बातों को छोड़कर इन देवताओं की पूजा ही हमें सुखी बनायेगी।

भावार्थ—हम अव्यायाम, अतिव्यायाम, धनदासता व स्वाद रूप दोषों से ऊपर उठकर शरीरस्थ देवों के विषय में कोई अपराध न करें जिससे हम स्वस्थ बने रहें।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

अद्भुत इन्द्रियाश्व

विषूचो अश्वान्युयुजे वनेजा ऋजीतिभी रशनाभिर्गृभीतान्।
चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः ॥ ७ ॥

(१) **वनेजा**-(वने संभजने जातः) उपासना में ही निवास करनेवाला उपासक **ऋजीतिभिः**-(ऋजु+अत्) सरल मार्ग से गतिरूप **रशनाभिः**-लगामों के द्वारा **गृभीतान्**-ग्रहण किये हुए, वश में किये हुए **विषूचः**-(वि सु अच्) विविध दिशाओं में जानेवाले **अश्वान्**-इन्द्रिय रूप अश्वों को **युयुजे**-अपने इस शरीर रूप रथ में जोतता है। जब हम अपने जीवन का सूत्र 'ऋजुता' को बना लेते हैं तभी इन्द्रियों को वश में कर पाते हैं। ऋजुता-सरलता ही ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है, कुटिलता मृत्यु का मार्ग है। (२) इस ऋजुता के मार्ग से चलता हुआ, इन्द्रियों को वश में करनेवाला पुरुष **वसुभिः**-निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों से **सुजातः**-उत्तम प्रादुर्भाववाला और अतएव **मित्रः**-(प्रमीतेः त्रायते) अपने को रोगों व मृत्यु से बचानेवाला **चक्षदे**-(शकली करोति) वासनाओं को टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वासनाओं को विनष्ट करके, **पर्वभिः**-अपने में सद्गुणों के पूरण से (पर्व पूरणे) **वावृधानः**-खूब वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **समावृधे**-सम्यक् जीवनयात्रा को पूर्ण करता है (ऋध्-to aeeomplish)। (३) वस्तुतः उस प्रभु ने ये इन्द्रियरूप अश्व भी अद्भुत ही प्राप्त कराये हैं। अवशीभूत होने पर ये हमारे महान् पतन का कारण बनते हैं (इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्)। इन्हीं को वश में कर लेने पर ये हमें सिद्धि व सफलता तक ले चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जीवन का सूत्र 'सरलता' को बनाकर हम इन्द्रियाश्वों को वश में करते हैं। वशीभूत इन्द्रियाँ हमें जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण करने में समर्थ करती हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि शरीर में जबड़ों का कार्य प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। (१) मस्तिष्क, आँखें व जिह्वा भी उसकी महिमा को व्यक्त करती हैं, (२) जिह्वा जिन 'कन्द, शाक, अन्न व फलों' को खाती है उन सब में अद्भुत रचना चातुरी का दर्शन होता है, (३) यह भी एक विचित्र व्यवस्था है कि आनेवाला सन्तान माता-पिता की क्षीणता का कारण होता है, (४) 'मनुष्य अग्नि को खिलाता है, अग्नि मनुष्य को' इस प्रकार यह व्यवस्था भी अद्भुत है, (५) प्रकृति के विषय में जरा-सी गलती होती है और कष्ट आता है, (६) इन गलतियों से अपने को बचाकर ही हम जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाते हैं, (७) इस लोक में भी हम उत्तम बनते हैं—

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वीर-श्रुत्य-कर्मनिष्ठ' सन्तान

अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददात्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिःष्ठाम्।
अग्नी रोदसी वि चरत्समञ्जन्नग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम्॥ १ ॥

(१) अग्निः-वह अग्रेणी परमात्मा सप्तिम्-(सप् to worship) बड़ों का आदर करनेवाले (to obey, to do, to perfome) बड़ों के कहने के अनुसार कर्म करनेवाले वाजम्भरम्-अपने में शक्ति को धारण करनेवाले सन्तान को ददाति-देता है। अग्निः-वे प्रभु वीरम्-वीर श्रुत्यम्-ज्ञानश्रवण में उत्तम कर्मनिष्ठाम्-(कर्मणि निश्चयेन तिष्ठति) यज्ञादि उत्तम कर्मों में निष्ठावाले सन्तान को देता है। हम प्रभु का उपासन करते हैं, गतसूक्त के अनुसार सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखते हैं तो प्रभु हमारे सन्तानों को भी उत्तम बनाते हैं। (२) अग्निः-वे प्रभु रोदसी-द्यावापृथिवी को, हमारे मस्तिष्क व शरीर को समञ्जन्-अलंकृत करते हुए विचरत्-गति करते हैं। प्रभु कृपा से ही हमारा मस्तिष्क उग्र व ज्ञानदीप्त बनता है और शरीर दृढ़ होता है। अग्निः-ये प्रभु ही नारीम्-गृहिणी को वीरकुक्षिम्-वीर सन्तानों को कोख में धारण करनेवाली व पुरन्धिम्-पालक व पूरक बुद्धिवाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को देखनेवालों व स्तवन करनेवालों के सन्तान 'आज्ञापालक, सशक्त, ज्ञानी व यज्ञादि कर्मों में निष्ठावान' होते हैं। इनके अपने मस्तिष्क व शरीर उत्तम होते हैं। इनकी गृहिणियाँ वीर प्रसविनी व बुद्धिमती होती हैं।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बाह्य व अन्तःसंग्रामों में विजय

अग्नेरप्नसः समिदस्तु भद्राग्निर्मही रोदसी आ विवेश।
अग्निरेकं चोदयत्समत्स्वग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि॥ २॥

(१) अप्नसः-सब कर्मों को करनेवाले (कर्मवतः सा०) अग्नेः-उस अग्रेणी प्रभु की समिद्-दीप्त-हृदय में प्रकाश, भद्रा अस्तु-हमारा कल्याण व सुख करनेवाला हो। अर्थात् हमारे हृदयों में उस प्रभु का प्रकाश हो। इस प्रभु की शक्ति से ही होते हुए सब कर्मों को हम जानें। हमें उन कर्मों का गर्व न हो। हम यह अनुभव करने का प्रयत्न करें कि वह अग्निः-परमात्मा ही मही रोदसी-इन महान् द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पिण्डों में अविवेश-प्रविष्ट हो रहे हैं। उस-उस लोक में प्रभु के अंश से ही 'विभूति श्री व ऊर्ज्' का दर्शन होता है। इस अग्नि में तेज वे प्रभु ही हैं, सूर्य व चन्द्र की कान्ति भी वे ही हैं। (२) अग्निः-वे प्रभु ही एकम्-एक स्वभक्त क्षत्रिय को समत्सु-संग्रामों में चोदयत्-प्रेरणा देते हैं, उसके सहायक बनकर उसे संग्राम में विजीय करते हैं। अग्निः-ये प्रभु ही पुरूणि-बहुत संख्यावाले वृत्राणि-ज्ञान पर आवरण के रूप आ जानेवाले वासनारूप शत्रुओं को दयते-हिंसित करते हैं। बाह्य संग्रामों में भी विजय प्रभु ही प्राप्त कराते हैं, अन्तः संग्रामों में भी। इन विजयों के द्वारा ही वे हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—हृदयों में प्रभु का ध्यान हमें शक्ति देता है और बाह्य व अन्तःसंग्रामों में विजयी बनाता है।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की रक्षा का पात्र

अग्निर्ह त्यं जरतः कर्णमावाग्निरद्भ्यो निरदहज्जरूथम्।
अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्तरग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सम्॥ ३॥

(१) अग्निः-वे अग्रेणी प्रभु त्यम्-उस जरतः कर्णम्-(जरते to invoke, praise) स्तुति करनेवाले को जो सुनता है, अर्थात् जो अपने कानों में यथासम्भव स्तुति के शब्दों को ही आने

देता है, उसको आव=रक्षित करता है। हम जब खाली हों प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करने लगें तो इस प्रकार प्रभु की स्तुति के शब्द ही हमारे कानों में पड़ेंगे। तब 'भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवाः' यह प्रार्थना हमारे जीवनों में अनूदित हो रही होगी और तब हम प्रभु से रक्षणीय होंगे। (२) **अग्निः**=वे प्रभु **अद्भ्यः**=शरीरस्थ रेतःकणों के द्वारा **जरूथम्**=(speaking harohly) क्रूरता से बोलनेवाले को **निरदहत्**=भस्म कर देता है। शरीर में इन रेतःकणों के रक्षण से कड़वा बोलने की वृत्ति ही नहीं रहती। असंयमी और अतएव क्षीण शक्ति पुरुषों के जीवनों में ही कड़वाहट आ जाती है। (३) **अग्निः**=वे प्रभु ही **घर्मे अन्तः**=इस वासनाओं की गर्मी से परिपूर्ण संसार में **अत्रिम्**=(अविद्यमानाः त्रयो यस्मिन्, अथवा अतति इति) काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले निरन्तर क्रियाशील पुरुष को **उरुष्यत्**=रक्षित करता है। प्रभु ही इन वासनाओं का शिकार होने से हमें बचाते हैं। (४) **अग्निः**=वे प्रभु ही **नृमेधम्**=(नृ-मेध) मनुष्यों के साथ अपना सम्पर्क रखनेवाले को, केवल स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन न बितानेवाले को **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **सं असृजत्**=संसृष्ट करते हैं। वस्तुतः हम प्रभु की प्रजा का ध्यान करते हैं तो प्रभु हमारे सन्तानों को अच्छा बनाते हैं।

भावार्थ—जरत्कर्ण बनकर हम प्रभु से रक्षणीय हों। संयम के द्वारा कर्कशता से ऊपर उठें। इस वासनामय जगत् में क्रियाशील बनकर उलझे नहीं, 'नृमेध' बनकर उत्तम सन्तानोंवाले हों।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

'वीरपेशा अग्नि'

अग्निर्दाद् द्रविणं वीरपेशा अग्निर्ऋषिं यः सहस्रा सनोति।
अग्निर्दिवि हव्यमा ततानाग्नेर्धामानि विभृता पुरुत्रा॥ ४॥

(१) **वीरपेशाः**=उपासकों को वीर बनानेवाला (पेशस्=form) **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **द्रविणं दात्**=उपासकों के लिये जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन को देता है और **यः**=जो **सहस्रा सनोति**=इन सहस्र संख्याक धनों का दान करता है उसे **अग्निः**=वे प्रभु **ऋषिम्**=ऋषि व तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं। प्रभु धन देते हैं, देते वे इसलिए हैं कि इस धन से हम लोकहित के कार्य कर सकें। इन धनों का विनियोग हमें अपने महलों को खड़ा करने में नहीं करना है। इस धन को न देकर जो इसे स्वयं लादे रखता है वह अल्पज्ञ है। धन पर हम आरूढ़ हों, यह हमारे पर आरूढ़ न हो जाए। (२) **अग्निः**=वे प्रभु **हव्यम्**=हमारे से दिये गये हव्य पदार्थों को **दिवि**=सम्पूर्ण द्युलोक में **अततान**=विस्तृत कर देते हैं। यह भी प्रभु की अद्भुत महिमा है कि उन्होंने इस भौतिक अग्नि में वह छेदक-भेदक शक्ति रखी है कि इसमें डाले गये हव्य पदार्थों को वह अत्यन्त सूक्ष्म अदृश्य से कणों में विभक्त करके सारे वायुमण्डल में फैला देता है। (३) **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु के **धामानि**=तेज **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विभृता**=विविधरूपों में भृत हुए हैं। सूर्य-चन्द्रमा में ये 'प्रभा' के रूप से हैं, अग्नि में ज्योति के रूप में हैं। वायु में गति रूप में हैं तो पृथिवी में दृढ़ता के रूप में हैं। तेजस्वियों में ये तेजरूप से हैं, बलवानों में बल के रूप में तथा बुद्धिमानों में बुद्धि के रूप में ये विद्यमान हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों को देते हैं। अग्नि आदि में प्रभु ने ही अद्भुत भेदक शक्ति को रखा है और सर्वत्र प्रभु के तेज ही पिण्डों को विभूतिमय बना रहे हैं।

ऋषि:—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानी-भक्त व आर्त-भक्त

अग्निमुक्थैर्ऋषयो वि ह्वयन्तेऽग्निं नरो यामनि बाधितासः।
अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्तोऽग्निः सहस्रा परि याति गोनाम् ॥ ५ ॥

(१) ऋषयः=तत्त्वज्ञानी पुरुष उक्थैः=स्तोत्रों से अग्निम्=उस अग्रेणी प्रभु को विह्वयन्ते=विशेषरूप से पुकारते हैं। तत्त्वद्रष्टा पुरुष सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है और प्रभु का स्तवन करता है। नरः=अन्य मनुष्य भी अग्निम्=प्रभु का उपासन करते हैं। परन्तु प्रायः करते तभी हैं जब कि यामनि=जीवनयात्रा के मार्ग में बाधितासः=पीड़ित होते हैं। ऋषि प्रभु के ज्ञानी भक्त बनते हैं, तो सामान्य मनुष्य प्रभु के आर्त-भक्त होते हैं। (२) अन्तरिक्षे पतन्तः=अन्तरिक्ष में उड़ान करते हुए वयः=पक्षी भी अग्निम्=उस परमात्मा को ही स्तुत कर रहे हैं, इनकी उड़ान में भी तत्त्वद्रष्टा को प्रभु की महिमा दिखती है। 'किस प्रकार चील निःशब्द होकर पंखों को न हिलाती हुई-सी आकाश में फिसलती-सी चली जाती है' यह देखकर किसे आश्चर्य नहीं होता! (३) अग्निः=वह प्रभु ही गोनां सहस्रा=इन इन्द्रियों की हजारों वृत्तियों के परियाति=चारों ओर प्राप्त होते हैं, अर्थात् इन्द्रियवृत्तियों को प्रभु ही एक देश में बाँधनेवाले होते हैं। यदि हम चाहते हैं कि हमारी इन्द्रियवृत्तियाँ भटकें नहीं तो सर्वोत्तम साधन यही है कि हम प्रभु-चरण सेवा में उपस्थित हों। प्रभु चरण सेवा का व्यसन लगने पर अन्य व्यसन स्वयमेव समाप्त हो जाएगा। उड़ते हुए पक्षियों की उड़ान में भी प्रभु महिमा को देखनेवाला व्यक्ति इन्द्रियवृत्तियों को भटकने से बचाने में क्यों न समर्थ होगा?

भावार्थ—हम पीड़ा के ही समय प्रभु का स्मरण न करें, प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें। प्रभु हमारी इन्द्रियवृत्तियों को भटकने से रोकेंगे।

ऋषि:—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सत्य ज्ञान प्रकाशिका' वेदवाणी

अग्निं विश ईळते मानुषीर्या अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः।
अग्निर्गान्धर्वीं पथ्यामृतस्याग्नेर्गव्यूतिर्घृत आ निषत्ता ॥ ६ ॥

(१) याः=जो मानुषीः विशः=विचारशील प्रजाएँ हैं वे अग्निं ईळते=उस प्रभु का उपासन करती हैं। इन्हें सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक घटनाचक्र में प्रभु की महिमा दिखती है। हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र वा यह पृथिवी सब इन्हें प्रभु का स्तवन करते प्रतीत होते हैं। (२) उस नहुषः=सबको एक सूत्र में बाँधनेवाले (नह् बन्धने) प्रभु से विजाताः=विविधरूपों को लेकर उत्पन्न हुए-हुए मनुषाः=विचारशील पुरुष अग्निम्=उस परमात्मा को ही उपासित करते हैं। उन्हें उस प्रभु का पितृत्व स्मरण होता है। इससे जहाँ वे परस्पर भ्रातृत्व को अनुभव करते हुए प्रेम से चलते हैं, वहाँ विविध रूपों के निर्माण करनेवाले प्रभु के रचना वैचित्र्य को देखकर उसके प्रति नतमस्तक होते हैं। प्रभु को पिता जानकर सब आवश्यक चीजों को उसी से माँगते हैं। (३) अग्निः=वे अग्रेणी प्रभु भी गान्धर्वीम्=सब ज्ञानवाणियों का धारण करनेवाली ऋतस्य=सत्य के पथ्याम्=मार्ग में हितकर वेदवाणी को देते हैं। इस वेदवाणी से हमें ज्ञान प्राप्त होता है इसका अध्ययन हमें ऋत के मार्ग में ले चलता है। यह अग्नेः=उस अग्रेणी प्रभु का गव्यूतिः=मार्ग घृते=ज्ञानदीप्ति में आनिषत्ता=सर्वथा स्थापित है। प्रभु के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति अधिकाधिक

प्रकाश में पहुँचता जाता है।

भावार्थ—सब विचारशील व्यक्ति प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु उन्हें ज्ञान देते हैं। ज्ञान ही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तवन व रक्षण

अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षुरग्निं महामवोचामा सुवृक्तिम्।
अग्ने प्राव जरितारं यविष्ठाग्ने महि द्रविणमा यजस्व ॥ ७ ॥

(१) **ऋभवः (ऋतेन भाति)**=ऋत से देदीप्यमान होनेवाले मेधावी पुरुष **अग्नये**=उस प्रभु के लिये **ब्रह्म ततक्षुः**=स्तोत्र को करते हैं। वस्तुतः प्रभु-स्तवन से ही वे 'ऋभु' बन पाते हैं। हम भी उस **महां अग्निम्**-उस महनीय अग्नि के लिये **सुवृक्तिम्**-दोषवर्जनरूप उत्तम स्तुति को **अवोचाम**-उच्चारण करते हैं। (२) हे **यविष्ठ**-हमारे दोषों को पृथक् करनेवाले तथा गुणों से हमें संपृक्त करनेवाले **अग्ने**-अग्रेणी प्रभो! **जरितारम्**-अपने स्तोता को **प्राव**-आप प्रकर्षेण रक्षित करिये। हम आपका स्तवन करते हैं, आप हमें दोषों के आक्रमण से बचाते हैं। दोषों के आक्रमण से बचाने के लिये ही **अग्ने**-हे अग्रेणी प्रभो! आप **महि द्रविणम्**-महनीय धन को **आयजस्व**-हमारे साथ संगत करिये। हम उत्तम मार्ग से धन को कमाते हुए जीवनयात्रा को निर्दोष रूप से पूर्ण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमारा रक्षण करें। इस रक्षण के लिये ही प्रभु हमें महनीय धन को प्राप्त करायें।

सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि उपासित प्रभु हमें 'वीर-श्रुत्य-कर्मनिष्ठ' सन्तान प्राप्त कराते हैं। (१) प्रभु ही हमें बाह्य व अन्तः संग्रामों में विजयी बनाते हैं, (२) क्रियाशीलता के द्वारा हम वासनाओं में फँसने से बचें, (३) प्रभु हमें सब ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं, (४) उस प्रभु के हम ज्ञानी भक्त बनने का प्रयत्न करें, (५) प्रभु हमारे कल्याण के लिये हमें ज्ञान देते हैं, (६) हम प्रभु का स्तवन करेंगे, प्रभु हमारा रक्षण करेंगे, (७) वे प्रभु ही 'विश्वकर्मा' हैं, सृष्टिरूप कर्मवाले हैं। इसके उपासक हम भी 'विश्वकर्मा' बनें, सदा क्रियाशील हों और भुवन का हित करनेवाले 'भौवन' बनें। ये 'विश्वकर्मा भौवन' ही अगले दो सूक्तों के ऋषि हैं—

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रलय में व सृष्टि के प्रारम्भ में

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ॥ १ ॥

(१) प्रलयकाल में प्रभु इस सारे ब्रह्माण्ड की मानो अपने में आहुति दे डालते हैं। सारे पदार्थ प्रकृतिरूप हो जाते हैं वह प्रकृति प्रभु के सामर्थ्य के रूप में, प्रभु में ही रहती है। इस प्रकार उस समय एक प्रभु ही प्रभु प्रतीत होते हैं 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्। तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' (१०।१२९।२)। जीव भी सब सुषुप्त-सी अवस्था में होते हैं। इसी से उपनिषद् कहती है कि

हैं। **विश्वतः बाहुः**-सब ओर भुजाओंवाले हैं, **उत**-और **विश्वतस्पात्**-सब ओर पाँवोंवाले हैं। (२) वे प्रभु **बाहुभ्याम्**-बाहुओं से **संधमति**-द्युलोक को सम्यक् प्रेरित करते हैं और **पत्रैः**-पतनशील इन पाँवों से पृथिवी को **सम्**-(धमति) प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रकार वे **एकः देवः**-किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा न करते हुए अकेले प्रभु **द्यावाभूमी**-द्युलोक व पृथिवीलोक को **जनयन्**-उत्पन्न कर रहे हैं। (३) ये प्रभु सर्वव्यापक हैं। इनमें सर्वत्र देखनेवाले ग्रहण करने व चलने की शक्ति है। सब इन्द्रियों के गुणों की इनमें सर्वत्र प्रतीति है। परन्तु इन्द्रियों से ये रहित हैं। निराकार होने से ये बाह्य अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखते। ये स्वयं सब के अधिष्ठान हैं, इनका कोई अधिष्ठान नहीं। इन से बाह्य कोई वस्तु ही नहीं जो इनका अधिष्ठान बने।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु सर्वत्र सब इन्द्रियों के गुणों के आभासवाले हैं। सर्वव्यापक व निराकार होने से उनके बाह्य अधिष्ठान का न सम्भव है न आवश्यकता।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आरम्भण की अज्ञेयता

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥ ४॥

(१) जैसे वर्तमान में एक बढ़ई किसी वन में किसी वृक्ष से लकड़ी को लेकर मेज आदि बनाने में प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार **किं स्विद् वनम्**-वह वन कौन-सा था? **उ**-और **स वृक्षः**-वह वृक्ष **कः आस**-कौन-सा था, **यतः**-जिससे **द्यावापृथिवी**-ये द्युलोक और पृथिवीलोक **निष्टतक्षुः**-बनाये गये। (२) वह वन या उस वन का वह वृक्ष ही इस सृष्टि का उपादानकारण होगा, परन्तु उसके स्वरूप को हमारे लिये पूरा-पूरा जानने का सम्भव तो नहीं। उसे कैसे जानें! इसके लिये कहते हैं कि **मनीषिणः**-हे बुद्धिमान् पुरुषो! **मनसा इत् उ**-मन से ही, अर्थात् मन को एकाग्र करके **तत्**-उससे **पृच्छत**-पूछो, **यत्**-जो **भुवनानि धारयन्**-इन सब भुवनों को धारण करता हुआ **अध्यतिष्ठत्**-अधिष्ठातृरूपेण वर्तमान है। इस आरम्भण भूत 'प्रकृति' का ज्ञान प्रभु ही ठीक-ठीक दे सकते हैं। प्रभु के अतिरिक्त इसके स्वरूप को कौन जानता है!

भावार्थ—सृष्टि के उपादानकारणभूत प्रकृति का रूप प्रभु से ही ठीक-ठीक प्रतिपादित होता है।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'परम अवम व मध्यम' धाम

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ५॥

(१) हे **विश्वकर्मन्**-सृष्टि रूप कर्मवाले प्रभो! **या**-जो **ते**-आपके **परमाणि धामानि**-उत्कृष्ट तेज हैं, द्युलोक सम्बन्धी तेज हैं, शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है और इसका तेज 'बुद्धि' है। उन तेजों को हे **स्वधावः**-स्वयं अपना धारण करनेवाले प्रभो! **सखिभ्यः**-हम सखाओं के लिये **हविषि**-हवि के होने पर, त्यागपूर्वक अदन के होने पर **शिक्षा**-दीजिये। आपकी कृपा से हमारा मस्तिष्क रूप द्युलोक बुद्धि के तेज से चमके। इसे चमकाने के लिये हम सदा हवि का सेवन करनेवाले बनें। (२) इसी प्रकार **या अवमा**-जो आपके तेज इस **अवम**-सब से निचले

'नान्यत् किंचन मिषत्'-और कुछ गतिमय न था। उस समय **यः**-जो **नः पिता**-हम सबके पिता (=रक्षक) प्रभु हैं वे **इमा विश्वा भुवनानि**-इन सब लोक-लोकान्तरों को **जुह्वत्**-अपने में आहुत करते हुए **ऋषिः**-तत्त्वद्रष्टा **होता**-सारे पिण्डों की अपने में आहुति देनेवाले के रूप में **न्यसीदत्**-अपने स्वरूप में स्थित होते हैं। (२) अब प्रलयकाल की समाप्ति पर **स**-वे प्रभु **आशिषा**-'बहुस्यां प्रजायेय'-'मैं बहुत हो जाऊँ (=बहुतों से जाना जाऊँ) इस संसार को उत्पन्न कर दूँ' इस इच्छा से **द्रविणम्**=('सृ गतौ से संसार, गम् गतौ से जगत्, द्रु गतौ से द्रविणा)-संसार को **इच्छमानः**-चाहता हुआ **प्रथमच्छद्**-उन प्रथम उत्पन्न होनेवालों को अपने में आवृत करते हुए (प्रथमान् छादयति), जैसे अब बालक मातृ गर्भ में आवृत होता है उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के मानस पुत्र प्रभु से आवृत थे। **अवरान्**-पीछे होनेवाले सब प्राणियों के अन्दर भी **आविवेश**-प्रविष्ट हो रहे हैं। हम सब के अन्दर प्रभु विद्यमान हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले ये सब परमात्मा के गर्भ में थे।

भावार्थ—प्रलयकाल में सारे भुवन परमात्मा में आहुत हो जाते हैं, उस समय केवल प्रभु ही विद्यमान प्रतीत होते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में अपने मानस पुत्रों को प्रभु गर्भ में धारण करते हैं और पीछे होनेवाली इनकी प्रजाओं में वे प्रविष्ट हो रहे हैं।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अधिष्ठान व आरम्भण?

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ २ ॥

(१) जब सृष्टि का प्रारम्भ हुआ तो उस समय **अधिष्ठानम्**-बैठने का स्थान, अर्थात् आधार **किंस्वित् आसीत्**-क्या था? एक कारीगर किसी स्थान पर बैठकर ही तो अपने कार्य को करता है। उस 'विश्वकर्मा' ने भी किसी स्थान पर बैठकर ही तो इस विश्व को बनाया होगा। प्रश्न यह है कि यह अधिष्ठान क्या था? (२) इसी प्रकार एक बढ़ई लकड़ी को लेकर ही मेज आदि को बनाने में प्रवृत्त होता है। ये लकड़ी आदि पदार्थ 'आरम्भण' कहलाते हैं, इनके द्वारा मेज आदि का आरम्भ किया जाता है। यह **आरम्भणम्**-सृष्टि का उपादानकारण **कतमत् स्वित्**-भला कौन-सा था? **कथा आसीत्**-और वह कैसा था? (३) वह आरम्भण, **यतः**-जिससे कि **भूमिं जनयन्**-इस भूमि को जन्म देता हुआ **विश्वकर्मा**-संसार का निर्माता तथा **विश्वचक्षाः**-सर्वद्रष्टा प्रभु **महिना**-अपनी महिमा से **द्याम्**-इस द्युलोक को **वि और्णोत्**-प्रकट करता है। इस भूमि व द्युलोक का आरम्भण कौन-सा था?

भावार्थ—प्रभु ने जब सृष्टि को बनाया तो उसका अधिष्ठान कौन-सा था तथा किस 'आरम्भण' को लेकर उसने इन द्यावा भूमि को बनाया?

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वह सर्वव्यापक प्रभु स्वयं अधिष्ठान हैं

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के 'अधिष्ठान' के विषय में किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे प्रभु **विश्वतः चक्षुः**-सब ओर आँखोंवाले हैं, **उत**-और **विश्वतोमुखा**-सब ओर मुखोंवाले

लोक, पृथ्वीलोक के साथ सम्बद्ध हैं, उन्हें आप हमें दीजिये। शरीर ही पृथ्वीलोक है। इसका धाम 'तेजस्' कहलाता है। प्रभु-कृपा से हमारा शरीर तेजस्वी हो। इस तेजस्विता की प्राप्ति के लिये भी हम त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनें। (३) उत-और इमा-ये या-जो मध्यमा-आपके मध्यम लोक, अन्तरिक्षलोक सम्बन्धी तेज हैं, उन्हें भी आप हमें प्राप्त कराइये। शरीर में हृदय ही अन्तरिक्ष व मध्यमलोक है। पवित्रता व निर्द्वेषता ही इसकी शक्ति है। हमें हवि का सेवन करने पर यह पवित्रता व निर्द्वेषता भी प्राप्त हो। प्रभु की कृपा से हम मस्तिष्क में बुद्धि के प्रकाशवाले हों, हृदय में निर्मलता व निर्द्वेषतावाले हों और शरीर में तेजस्विता का सम्पादन कर सकें। (४) हे प्रभो! आप **तन्वं वृधानः**-हमारे शरीरों को विकसित-शक्तिवाला करने के हेतु से **स्वयं यजस्व**-हमें स्वयं ही प्राप्त हो जाइये। आपकी प्राप्ति से आपकी सब शक्तियाँ हमें स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगी (यज संगतिकरणे)। आपका हमारे साथ मेल हुआ और आपकी शक्तियाँ हमें प्राप्त हुईं।

भावार्थ—त्यागपूर्वक अदन करते हुए हम त्रिलोकी की शक्तियों को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघवा-सूरि

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ ६॥

(१) गत मन्त्र में जीव ने त्रिलोकी की शक्तियों के लिये आराधना की थी। प्रभु उसे प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **विश्वकर्मन्**-अपने सब कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले जीव! तू **हविषा**-त्यागपूर्वक अदन से **वावृधानः**-खूब ही वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **स्वयम्**-अपने आप **पृथिवीं उत द्याम्**-पृथिवीलोक और द्युलोक को-शरीर की शक्ति को व मस्तिष्क की दीप्ति को **यजस्व**-अपने साथ संगत कर। इनके प्राप्त करने के लिये तू यत्नशील होगा तो तुझे ये 'शक्ति व दीप्ति' क्यों न मिलेंगी? ये तुझे अवश्य प्राप्त होंगी ही। (२) प्रभु कहते हैं कि **अभितः**-चारों ओर होनेवाले **अन्ये जनासः**-अन्य लोग, अर्थात् सामान्य पुरुष **मुह्यन्तु**-चाहे मूढ़ बनें। वे हवि का सेवन करनेवाले न बनकर, अत्यन्त स्वार्थमय जीवन बिताते हुए, आसुरवृत्तिवाले बन जाएँ, पर **इह**-इस जीवन में **अस्माकम्**-हमारा यह भक्त तो **मघवा**-(मघ=मख) यज्ञशील व **सूरिः**-विद्वान्-समझदार **अस्तु**-हो। 'प्रभु का भक्त हो और अयज्ञिय व मूर्ख हो' ये तो परस्पर विरोधी बातें हैं। यज्ञशील व सूरि बनकर यह प्रभु-भक्त अपने शरीर को पृथिवी की तरह दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को द्युलोक के समान ज्ञान-ज्योति से चमकता हुआ बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा के अनुसार यज्ञशील व ज्ञानी बनते हुए शरीर व मस्तिष्क को बड़ा सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्वशम्भूः साधुकर्मा

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ ७॥

(१) जीव अपने साथियों के साथ मिलकर प्रार्थना करता है कि **वाचस्पतिम्**-उस ज्ञान के पति **विश्वकर्माणम्**-सब कर्मों को करनेवाले **मनोजुवम्**-मन को प्रेरणा देनेवाले, हृदयस्थरूपेण सन्मार्ग का दर्शन करानेवाले प्रभु को **ऊतये**-रक्षा के लिये **वाजे**-शक्ति प्राप्ति के निमित्त **अद्या हुवेम**-आज ही पुकारते हैं। **स**-वे प्रभु **नः**-हमारी **विश्वानि हवनानि**-सब पुकारों को

जोषत्=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। अर्थात् प्रभु की आराधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। (२) वे प्रभु विश्वशंभूः=सब शान्तियों के उत्पत्ति-स्थान हैं। अवसे=हमारे रक्षण के लिये साधुकर्मा=सब उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। हमारे सब कर्मों को ये प्रभु ही सिद्ध करते हैं। (साध्नोति कर्माणि)।

भावार्थ—प्रभु का आराधन करते हुए हम भी 'वाचस्पति'=ज्ञानी व 'विश्वकर्मा'=क्रियाशील बनेंगे। शान्ति को प्राप्त करेंगे और सदा उत्तम कर्मोंवाले होंगे।

इस सूक्त की तरह अगले सूक्त में भी 'विश्वकर्मा-भौवन' का ही वर्णन करते हैं—

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्यावापृथिवी की दृढ़ता

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥ १॥

(१) **चक्षुषः पिता**=चक्षु आदि इन्द्रियों का यह रक्षक होता है, **मनसा**=मन के दृष्टिकोण से **हि**=निश्चयपूर्वक **धीरः**=धैर्यवाला अथवा (धियि रमते) ज्ञान में रमण करनेवाला होता है। इस प्रकार इन्द्रियों को विषयों में प्रसक्त न होने देने के द्वारा तथा मन में धैर्य व ज्ञानवाला होता हुआ यह विश्वकर्मा **एने**=इन **नम्नमाने**=नमन व विनीततावाले मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी को **घृतं अजनत्**=ज्ञान से दीप्त तथा मलक्षरण द्वारा स्वस्थ बनाता है। (२) **पूर्वे**=अपने पूरण करनेवाले लोग **यदा इत्**=जब निश्चय से **अन्ता**=इन शरीर व मस्तिष्क रूप अन्तों को (एक अन्त पृथिवीलोक व शरीर है, दूसरा अन्त द्युलोक व मस्तिष्क है) **अददृहन्त**=दृढ़ बनाते हैं **आत् इत्**=तब ही **द्यावापृथिवी**=ये मस्तिष्क व शरीर **अप्रथेताम्**=विस्तृत होते हैं। शरीर व मस्तिष्क की शक्तियों के विकास के लिये आवश्यक है कि ये दृढ़ हों। दृढ़ता जीवन है, इनकी अन्य शक्तियों के विस्तार का भवन इस दृढ़तारूप नींव पर ही बनता है। इनकी दृढ़ता का साधन जितेन्द्रियता व विचारशीलता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय धीर बनकर द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व स्वस्थ बनाएँ। ये दृढ़ होंगे तभी इनकी शक्तियों का ठीक विकास होगा।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'विश्वकर्मा-विमना-विहायाः'

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः॥ २॥

(१) गत मन्त्र का जितेन्द्रिय पुरुष **विश्वकर्मा**=अपने सब कर्त्तव्यों का पालन करनेवाला होता है, **विमनाः**=यह विशिष्ट मनवाला, अर्थात् उत्कृष्ट चिन्तनवाला होता है, **आत्**=अब, अर्थात् विश्वकर्मा व विमना होता हुआ **विहायाः**=महान् होता है। इसका हृदय विशाल होता है, उदार दिलवाला होता हुआ यह सभी को अपनी में समाविष्ट करता है। **धाता**=यह सबका धारण करनेवाला बनता है, **विधाता**=विशिष्ट रूप से धारण करता है, **उत**=और **परम सन्दृक्**=(look after) सब से अधिक ध्यान करनेवाला होता है। जैसे माता-पिता बच्चे का ध्यान करते हैं, इसी प्रकार यह विश्वकर्मा सभी का ध्यान करने का प्रयत्न करता है। (२) **तेषाम्**=ऊपर वर्णन किये

गये लोगों को ही इष्टानि=इष्ट लोकों की प्राप्ति होती है। ये इषा=उस प्रभु की प्रेरणा से संमदन्ति=सम्यक् हर्ष का अनुभव करते हैं। ये यत्रा=जहाँ, जिस स्थिति में पहुँचकर सप्त ऋषीन्=कानों, नासिका, आँखों व मुख को परे=उस पर परमात्मा में ही धारण करते हैं, उस समय ये लोग एकं आहुः=उस अद्वितीय प्रभु का ही शंसन करते हैं। चित्तवृत्ति को एकाग्र करके, जितेन्द्रिय बनकर, प्रभु का शंसन करना ही जीवन का परम सौभाग्य है।

भावार्थ—हम कर्त्तव्यों को करनेवाले, चिन्तनशील व उदार बनकर औरों का भी धारण करनेवाले बनें। जब इन्द्रियवृत्तियों का निरोध करके हम उस प्रभु का शंसन करेंगे तभी इष्ट लोकों को प्राप्त कर पायेंगे।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'संप्रश्न' प्रभु

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ३ ॥

(१) यः=जो नः पिता=हम सब के रक्षक हैं, जनिता=हम सबको जन्म देनेवाले हैं अथवा हम सबकी शक्तियों के विकास का कारण होते हैं, यः विधाता=जो विशिष्ट रूप से हमारा धारण करनेवाले हैं, जो विश्वा=सब धामानि=तेजों को व भुवनानि=लोकों को वेद=जानते हैं, हमारे कर्मों के अनुसार इन तेजों व लोकों को वे प्रभु हमें प्राप्त कराते हैं। (२) यः=जो एक एव=अकेले ही देवाना नामधः=सब देवों के नाम को धारण करनेवाले हैं, अर्थात् इन सब देवों को देवत्व प्राप्त कराने के कारण इन सब के नामों से मुख्य रूप से प्रभु का ही प्रतिपादन होता है। वे प्रभु ही 'अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः व प्रजापति' हैं। तं संप्रश्नम्=उस (asylum refuge, आश्रयम्) उस शरण को ही अन्या भुवना=अन्य सब प्राणी यन्ति=जाते हैं। अर्थात् वे प्रभु ही सूर्यादि को दीप्ति प्राप्त कराके 'देव' शब्द से कहलाने योग्य बनाते हैं और प्राणिमात्र की वे प्रभु ही शरण हैं। अचेतन चेतन सभी के रक्षक वे ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे 'पिता, जनिता व विधाता' हैं। सूर्यादि देवों को वे देवत्व प्राप्त कराते हैं, तो सब प्राणियों को शरण देते हैं।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

समाज व विशाल परिवार

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ ४ ॥

(१) ते=वे गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को 'संप्रश्न' (आश्रय) जाननेवाले पूर्वे ऋषयः=अपना पूरण करनेवाले तत्त्वज्ञानी लोग द्रविणम्=धन को समस्मा=सबके लिये आयजन्त=दान करते हैं (यज=दाने), अर्थात् वे धन का विनियोग केवल अपने लिये न करके सम्पूर्ण समाज के हित के लिये करते हैं। न=और (न=च) भूना (भूम्ना)=अपने इस बाहुल्य के कारण, बहुतों को अपने परिवार में सम्मिलित करने के कारण, जरितारः=ये प्रभु के सच्चे स्तोता होते हैं। प्रभु-भक्त कभी अकेला नहीं खाता। यह अपने में सभी को समाविष्ट कर लेता है और सदा यज्ञ करके यज्ञशेष का ही सेवन करता है। (२) ये ऋषि वे होते हैं ये=जो असूर्ते=अचर व सूर्ते=चर रजसि=लोक में निषत्ते=निषण्ण-स्थित उस प्रभु में इमानि भूतानि=इन सब प्राणियों को समकृण्वन्=(think,

regard) सोचते हैं। जो प्रभु में स्थित इन प्राणियों को देखते हैं, वे सब के साथ एक बन्धुत्व का अनुभव करते हैं और इस बन्धुत्व के अनुभव करने के कारण वे धन को समाज के लिये देनेवाले होते हैं। इनके लिये अकेले खाने का सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा, सब प्राणियों को प्रभु में स्थित देखता हुआ सब को बन्धु समझता है। सो वह सब के साथ बाँट करके खाता है।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वव्यापक-सर्वाच्छादक

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥ ५ ॥

(१) वे प्रभु **दिवा परः**-इस द्युलोक से पर हैं, **एना पृथिव्या परः**-इस पृथिवी से भी पर हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक उस प्रभु को अपने में सीमित नहीं कर पाते। ये तो स्वयं उसके एक देश में हैं। (२) वे प्रभु वे हैं **यद्**-जो **देवेभिः**-ज्ञान की ज्योति से दीप्त व्यक्तियों से **परः**-उत्कृष्ट हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से वे प्रभु ज्ञान की पराकाष्ठा होने से देवों के भी देव हैं, सभी को ज्ञान देनेवाले वे ही हैं। वे प्रभु निरतिशय ज्ञानवाले हैं। **असुरैः**-प्राणशक्ति में रमण करनेवाले (असुषु रमन्ते) अत्यन्त शक्तिशाली पुरुषों से भी वे परः-पर हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, शक्ति के दृष्टिकोण से भी सभी को लाँघकर वे स्थित हैं। (३) **आपः**-सब प्रजाएँ उसके **स्वित्**-आनन्दमय **प्रथमम्**-(प्रथ विस्तारे) सर्वव्यापक प्रभु को ही **गर्भं दध्रे**-अपने अन्दर धारण करती हैं। सब के अन्दर प्रभु का वास है और उस प्रभु के कारण ही बुद्धि, बल व तेज आदि से वे प्रजाएँ युक्त होती हैं। उस प्रभु को ये प्रजाएँ अपने अन्दर धारण करती हैं, **यत्र**-जिसमें **विश्वे देवाः**-सब सूर्यादि देव **समपश्यन्त**-स्थित हुए-हुए देखे जाते हैं। इन सूर्यादि देवों को भी तो ये प्रभु ही देवत्व प्राप्त कराते हैं। एवं सारा चराचर जगत् उस प्रभु के अंश से ही विभूतिमय हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु को ये द्यावापृथिवी सीमित नहीं कर पाते। वे प्रभु ही ज्ञान व शक्ति से सर्वोच्च हैं। सब प्राणियों के गर्भ में हैं, सब देवों को गर्भ में धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वह सूत्रों का सूत्र

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ६ ॥

(१) **तं इत्**-उस आनन्दमय **प्रथमम्**-अनन्त विस्तारवाले प्रभु को ही **आपः**-सब प्रजाएँ **गर्भं दध्रे**-गर्भरूप से धारण करती हैं, **यत्र**-जिस प्रभु में **विश्वे देवाः**-सब देव **समगच्छन्त**-संगत होते हैं। प्रभु सब प्राणियों के हृदयों में हैं और ये सूर्यादि सब देव उस प्रभु में स्थित हैं। हृदयस्थरूपेण सब प्राणियों को प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं और अपने में स्थित इन सूर्यादि को दीप्ति प्राप्त करा रहे हैं। (२) **अजस्य**-उस अजन्मा प्रभु के **नाभौ अधि**-बन्धनशक्ति में **एकम्**-वह अद्वितीय सूत्र **अर्पितम्**-अर्पित हुआ-हुआ है, **यस्मिन्**-जिस सूत्र में **विश्वानि भुवनानि तस्थुः**-सारे लोक-लोकान्तर स्थित हैं। वह सूत्र सचमुच अद्वितीय तो है ही जो कि सारे लोकों को मणियों की तरह अपने में पिरोये हुए है। लोक अलग-अलग हैं, परन्तु एक सूत्र में पिरोये जाकर ये एक हार की

तरह प्रतीत होते हैं और अपने-अपने स्थान में गतिशील होते हुए इस ब्रह्माण्ड की शोभा का कारण बनते हैं।

भावार्थ—सारे लोक प्रभु में इसी प्रकार प्रोत हैं जैसे कि मणिगण सूत्र में प्रोत होते हैं।

ऋषिः—विश्वकर्मा भौवनः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु से दूर क्यों?

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्रों के अनुसार प्रभु सब प्रजाओं के गर्भ में स्थित हैं, वे सब सूर्यादि देवों को धारण किये हुए हैं। अन्दर होते हुए भी तम्=उस प्रभु को न **विदाथ**=तुम जानते नहीं। प्रभु वे हैं **यः**=जो **इमा जजान**=इन सब लोक-लोकान्तरों व शरीरों को उत्पन्न करते हैं। **अन्यत्**=शरीरों में रहनेवाले भी शरीर दुःखों से न दुःखी होनेवाले वे प्रभु विलक्षण हैं। **युष्माकं सन्तरं बभूव**=तुम्हारे अन्दर ही तो रह रहे हैं। (२) इतने समीप भी उस प्रभु को न जानने का कारण यह है कि सामान्यतः लोग **नीहारेण प्रावृताः**=अज्ञान के कुहरे से आच्छादित अन्तःकरणवाले हैं। अज्ञान के आवरण के कारण उस हृदयस्थ प्रभु की दीप्ति को हम देख नहीं पाते। **जल्प्याः**=प्रायः लोक प्रवृत्ति गपशप मारते रहने की है, हम व्यर्थ की बातें बहुत करते हैं। यह प्रवृत्ति भी हमें अन्तर्मुख नहीं होने देती। अन्तर्मुख हुए बिना उस प्रभु के दर्शन सम्भव नहीं। **च**=और इसलिए भी हम प्रभु दर्शन नहीं कर पाते कि **असु-तृपः**=हम प्राण-पोषण ही में लगे रह जाते हैं, हमारी दुनियाँ खान-पान की ही बनी रहती है और उससे ऊपर न उठ सकने के कारण हम प्रभु-दर्शन से वञ्चित ही रह जाते हैं। अगली बात यह है कि लोग **उक्थशासः चरन्तिः**=स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए ही विचरण करते हैं। यह कीर्तन भी पूरी तरह अन्तर्मुखी वृत्तिवाला नहीं होने देता। 'ताल ठीक हुई या नहीं' उधर ही ध्यान चला जाता है और प्रभु-दर्शन की हमारी तैयारी नहीं हो पाती।

भावार्थ—अज्ञान के कुहरे को दूर करेंगे, गपशप से पराङ्मुख होंगे, खान-पान की दुनियाँ से ऊपर उठेंगे और कीर्तन भी हमारे ध्यान को भंग करनेवाला न होगा तभी हम प्रभु-दर्शन कर पायेंगे।

सूक्त का विषय यही है कि जितेन्द्रिय बनकर विश्वकर्मा भौवन बनते हुए ही हम उस 'विश्वकर्मा' प्रभु का दर्शन कर सकेंगे। यह 'विश्वकर्मा भौवन' अब 'मन्यु तापस' बनता है, ज्ञानी तपस्वी। अज्ञान के कुहरे को दूर करके ही तो प्रभु-दर्शन का सम्भव है—

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान के द्वारा शत्रु विध्वंस

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥ १ ॥

(१) इस सूक्त में ज्ञान को 'मन्यु' इस नाम से स्मरण किया है 'मनु अवबोधे'। यह ज्ञान हमें गतिशील बनाता है, सो 'वज्र' कहलाता है 'वज गतौ'। यह हमें कर्मों के अन्त तक पहुँचाता है तो सायक है 'षोऽन्तकर्मणि' अथवा बाण की तरह कामादि शत्रुओं का अन्त करनेवाला होने

से यह 'सायक' है। हे वज्र-हमें गतिशील बनानेवाले, **सायक**-कामादि शत्रुओं का अन्त करनेवाले **मन्यो**-ज्ञान! **यः**-जो **ते अविधत्**-तेरी उपासना करता है, वह व्यक्ति **विश्वम्**-सम्पूर्ण **सह ओजः**-साथ ही उत्पन्न होनेवाले नैसर्गिक ओज को **आनुषक्**-निरन्तर **पुष्यति**-अपने में धारण करता है। इस ज्ञानी का अन्नमयकोष, गतिशीलता व कामविजय के कारण, तेजस्वी होता है और प्राणमयकोष वीर्यवान् बनता है। मनोमयकोष में यह बल व ओजवाला होता है और विज्ञानमयकोष में ज्ञान को धारण करता हुआ आनन्दमयकोष में सहस्वाला होता है। इस प्रकार सब कोशों के स्वाभाविक बल को यह धारण करनेवाला बनता है। (२) हे ज्ञान **त्वया युजा**-तुझ मित्र के साथ **वयम्**-हम **दासम्**-उपक्षय के करनेवाले **आर्यम्**-(ऋ गतौ) हमारे पर आक्रमण करनेवाले शत्रु को **साह्याम**-पराभूत करें। उस तेरे साथ, जो तू **सहस्कृतेन**-सहस् के उद्देश्य से उत्पन्न किया गया है। ज्ञान के होने पर मनुष्य में सहस् की उत्पत्ति होती है। **सहसा**-सहस् से। ज्ञान तो है ही 'सहस्' यह शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **सहस्वता**-सहस्वाला है, यह अवश्य ही कामादि शत्रुओं का मर्षण करेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें। ज्ञान के द्वारा कामादि शत्रुओं का पराभव करें।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'इन्द्र-देव-वरुण-जातवेदाः'

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास॑ देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।
मन्युं विश॑ ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥

(१) यह **मन्युः**=ज्ञान ही **इन्द्रः**=इन्द्र है। ज्ञान ही हमें इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने की प्रेरणा देता है। इस ज्ञान से ही हम आसुरवृत्तियों के संहार करनेवाले वृत्रहन्ता 'इन्द्र' बनते हैं। (२) **मन्युः एव**=यह ज्ञान ही **देवः आस**=देव है। यही हमें दिव्यवृत्तियोंवाला बनाता है। ज्ञानी पुरुष ही संसार की सब क्रियाओं को एक क्रीडक की मनोवृत्ति से करता हुआ सच्चा देव बनता है 'दिव् क्रीडा'। (३) **मन्युः**=ज्ञान ही **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला, यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होता है। ज्ञानी कभी अकेला नहीं खाता, सबके साथ बाँटकर ही खाता है। यह मन्यु ही **वरुणः**=हमारे से द्वेष का निवारण करनेवाला है और **जातवेदाः**=आवश्यक धनों (वेदस्=walth) को उत्पन्न करनेवाला है। ज्ञान से मनुष्य में आवश्यक धन को प्राप्त कर सकने की योग्यता आ जाती है। (४) **याः मानुषीः विशः**=ये विचारशील प्रजाएँ हैं वे **मन्युं ईडते**=ज्ञान का उपासन करती हैं, अपने जीवन में ज्ञानसाधना में प्रवृत्त होती हैं। हे **मन्यो**=ज्ञान! **तपसा सजोषाः**=तप के साथ हमारे लिये समान प्रीतिवाला होता हुआ **नः पाहि**=तू हमारा रक्षण कर। तपस्या के साथ ही ज्ञान का निवास है। तप के अभाव में ज्ञान भी क्षरित हो जाता है। तपस्या से उत्पन्न हुआ-हुआ ज्ञान हमें वासनाओं का शिकार हो जाने से बचाता है।

भावार्थ—ज्ञान से हम जितेन्द्रिय, दिव्यगुणोंवाले, दाता, निर्द्वेष तथा धनार्जन की क्षमतावाले होते हैं। यह ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुनाश व वसु प्राप्ति

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

(१) हे मन्यो-ज्ञान! तू अभि इहि-हमारी ओर आनेवाला हो, हमें प्राप्त हो। तू तवसः तवीयान्-बलवान् से भी बलवान् है। ज्ञान सर्वाधिक शक्तिवाला है। तपसा युजा-हे ज्ञान! तप रूप साथी के साथ तू शत्रून् विजहि-हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट कर दे। तप से ज्ञान उत्पन्न होता है और यह ज्ञान कामादि शत्रुओं का विध्वंस करनेवाला होता है। (२) हे मन्यो! तू अमित्रहा-हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाला है, वृत्रहा-ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करता है। च-और तू दस्युहा-दास्यव वृत्ति को समाप्त करनेवाला है, हमारे से नाशक वृत्तियों को यह ज्ञान दूर करता है। (३) हे ज्ञान! त्वं-तू नः-हमारे लिये विश्वा वसूनि-सब निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को आभरा-प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान एक प्रबल शक्ति है। यह हमारे सब शत्रुओं को समाप्त करती है और हमें वसुओं को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-रूप 'शक्ति'

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

(१) हे मन्यो-ज्ञान! त्वं हि-तू ही अभिभूत्योजाः-शत्रुओं को पराभूत करनेवाले ओजवाला है। तेरे द्वारा कामादि शत्रुओं का पराभव होता है। यह ज्ञान स्वयम्भूः-स्वयं होनेवाला है। हृदय के अन्दर प्रभु के द्वारा स्थापित किया गया है। ईर्ष्या-द्वेष आदि के आवरण के कारण हमारा यह ज्ञान आवृत्त-सा हुआ रहता है। यह ज्ञान भामः-तेज है। ज्ञान हमें तेजस्वी बनाता है। अभिमातिषाहः-अभिमान का यह पराभव करनेवाला है। ज्ञानी पुरुष सदा विनीत होता है, (२) यह ज्ञान विश्वचर्षणिः-सर्वद्रष्टा है, अर्थात् यह केवल अपने हित को न देकर सभी के हित का ध्यान करता है। सहुरिः-सहनशील होता है। यह ज्ञानी 'तुल्यनिन्दास्तुतिः' व 'समः मानापमानयोः' होता हुआ दूसरों से किये गये अपमान से उत्तेजित नहीं हो जाता। सहावान्-यह बलवाला होता है। इस बल के कारण ही यह सहनशील होता है। (३) हे ज्ञान! तू पृतनासु-काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्रामों में तू अस्मासु-हमारे में ओजः धेहि-ओजस्विता का आधान कर। तेरे से ओजस्वी बनकर हम इन अध्यात्म-संग्रामों में कभी पराजित न हों।

भावार्थ—ज्ञान वह शक्ति है, जिसके द्वारा हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दौर्भाग्य!

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळाहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ॥ ५ ॥

(१) हे प्रचेतः-प्रकृष्ट ज्ञान! अ-भागः सन्-कुछ अल्पभाग्यवाला होता हुआ मैं, बदकिस्मत होता हुआ मैं तविषस्य-महान् व शक्तिशाली तव-तेरे क्रत्वा-कर्म से, अर्थात् ज्ञानसाधक कर्मों से, अप परेतः अस्मि-दूर होता हुआ मार्ग से भटक गया हूँ, परे चला गया हूँ। यह मेरे सौभाग्य की कमी है कि मैं ज्ञान प्राप्ति के कर्मों में नहीं लगा रह सका। हे मन्यो-ज्ञान! तं त्वा-उस तुझ को अक्रतुः-अकर्मण्य होता हुआ मैं जिहीळ-घृणा करता रहा हूँ। आलस्य के कारण मुझे ज्ञान

रुचिकर नहीं हुआ। (२) पर अब मैं समझता हूँ कि आलस्य व अकर्मण्यता से दूर होकर सतत प्रयत्न से ज्ञानोपार्जन करना नितान्त आवश्यक है। सो हे ज्ञान! **स्वा तनूः**=(मम शरीरभूतः त्वम् सा०) अब मेरा शरीर ही बना हुआ तू **बलदेयाय**=बल को देने के लिये **मा इहि**=मुझे प्राप्त हो। ज्ञान मेरा शरीर ही बन जाए, अर्थात् मैं सदा ज्ञान में निवास करनेवाला बनूँ। इसी से मुझे इस संघर्षमय संसार में आनेवाले विघ्नों को सहन करने की शक्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—सब से बड़ा दौर्भाग्य यह है कि हम ज्ञान प्राप्ति के साधक कर्मों से दूर हो जाते हैं। ज्ञान में ही निवास करने पर वह शक्ति प्राप्त होती है जो कि हमें संसार में आगे बढ़ने में समर्थ करती है।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सौभाग्य

अ॒यं ते॑ अ॒स्म्युप॒ मेह्य॒र्वाङ् प्र॑तीची॒नः स॑हुरे विश्वधायः ।
मन्यो॑ वज्रिन्न॒भि मामा व॑वृत्स्व॒ हना॑व॒ दस्यूँ॑रु॒त बो॑ध्या॒पेः ॥ ६ ॥

(१) ज्ञान में रुचिवाला बनकर 'मन्यु तापस' कहता है कि **अयं ते अस्मि**=यह मैं तेरा हूँ। अर्थात् अब मैं ज्ञान का भक्त बन गया हूँ। हे ज्ञान! **उप मा अर्वाङ् इहि**=समीपता से मुझे अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो। **प्रतीचीनः**=मेरे शत्रुओं के प्रति गति करता हुआ, उन पर आक्रमण करता हुआ, तू मुझे प्राप्त हो। मेरे अनुकूल (अर्वाङ्) होता हुआ तू मेरे शत्रुओं के प्रतिकूल हो (प्रतीचीनः) **सहुरे**=हे शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान **विश्वधायः**=तू सबका धारण करनेवाला है। (२) हे **वज्रिन्**=क्रियाशील **मन्यो**=ज्ञान! तू **मां अभि आववृत्स्व**=मेरी ओर आनेवाला हो। मुझे तू सदा प्राप्त हो। **दस्यून् हनाव**=तू और मैं मिलकर काम-क्रोधादि दास्यव वृत्तियों का हनन करें। **उत**=और हे ज्ञान! तू **आपेः**=अपने मित्र मेरा **बोधि**=(बुध्यस्व) ध्यान करना, मेरी भी सुधबुध लेना, मेरा पूरा ध्यान करना। तूने ही तो शत्रुओं के संहार के द्वारा मेरा रक्षण करना है।

भावार्थ—जिस दिन हम ज्ञान के आराधक बनते हैं वह दिन हमारे सौभाग्यवाला होता है। इस ज्ञान के साथ मिलकर हम दास्यव वृत्तियों का संहार करनेवाले बनें।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान का समादर

अ॒भि प्रेहि॑ दक्षिण॒तो भ॑वा॒ मेऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑ ।
जु॒होमि॑ ते ध॒रुणं॒ मध्वो॒ अग्र॑मु॒भा उ॑पां॒शु प्र॑थ॒मा पि॑बाव ॥ ७ ॥

(१) **अभि प्रेहि**=हे ज्ञान! तू मुझे आभिमुख्येन प्राप्त हो। **मे**=मेरे **दक्षिणतः भवा**=दक्षिण की ओर तू हो। अर्थात् मैं तेरा आदर करनेवाला बनूँ। जिसको आदर देते हैं, उसे दाहिनी ओर ही बिठाते हैं। **अधा**=अब हम दोनों **वृत्राणि**=वासनारूप वृत्रों को **भूरि**=खूब ही **जंघनाव**=नष्ट करें। (२) **ते**=तेरे उद्देश्य से, तेरी प्राप्ति के लिये ही **धरुणम्**=शरीर की शक्तियों के धारण करनेवाले **मध्वः अग्रम्**=मधुर वस्तुओं के सर्वश्रेष्ठ इस सोम को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। सोम के रक्षण से ही बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान में वृद्धि होती है। हे ज्ञान! तू और मैं **उभा**=दोनों मिलकर **उपांशु**=चुपचाप, मौनपूर्वक ध्यानावस्था को अपनाकर **प्रथमा पिबाव**=सबसे प्रथम इसका पान करते हैं। इसका पान ही हमारी सब उन्नतियों का मूल है। इसके शरीर में ही व्याप्त करने के लिये 'ज्ञान प्राप्ति व ध्यान' भी साधन बनते हैं। इसके शरीर में व्याप्त होने पर ज्ञान प्राप्ति

व हमारी ध्यान की क्षमता बढ़ती है। इस प्रकार ये परस्पर सहायक होते हैं। 'ज्ञान व ध्यान से सोमपान तथा सोमपान से ज्ञान व ध्यान' यह इनका परस्पर भावन चलता है। एवं यह सोमपान हमें मन्त्र के ऋषि 'मन्यु तापस' बनने में सहायक होता है।

भावार्थ—हम ज्ञान के साथ वृत्रादि शत्रुओं का हनन करें। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये सोम का पान करें, वीर्यरक्षण करें, ब्रह्मचारी हों।

सारे सूक्त में ज्ञान की महिमा का वर्णन है। अगला सूक्त भी इसी विषय को कहता है—

[८४] चतुरशतितमं सूक्तम्

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अग्निरूप नरों का अभिप्रयण

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥

(१) हे **मन्यो**=ज्ञान! **त्वया**=तेरे साथ **सरथम्**=समान-रथ पर आरूढ़ हुए-हुए **आरुजन्तः**=समन्तात् शत्रुओं को नष्ट करते हुए, **हर्षमाणासः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **धृषिताः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले नरः=मनुष्य **अभिप्रयन्तु**=अभ्युदय व निःश्रेयस सम्बन्धी क्रियाओं के प्रति (अभि) गतिवाले हों। (२) **मरुत्वः**=हे प्राणोंवाले (मन्यो) ज्ञान! (प्राणसाधना से ही बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान की वृद्धि होती है) **तिग्मेषवः**=तीव्र प्रेरणाओं (इषु) वाले, अर्थात् जो प्रभु की प्रेरणा को ठीक से सुनते हैं, **आयुधा संशिशानाः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप आयुधों को (औजारों को) तेज करते हुए **अग्निरूपाः**=अग्नि के समान तेजस्वी अथवा उस अग्नि नामक प्रभु के ही छोटे रूप बने हुए ये लोग **अभिप्रयन्तु**=ऐहिक व आमुष्मिक क्रियाओं को करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान से हम वासना रूप शत्रुओं का नाश करके इहलोक व परलोक की साधक क्रियाओं को ठीक रूप से कर पाते हैं।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान का सेनापतित्व

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥ २ ॥

(१) हे **मन्यो**=ज्ञान! **अग्निः इव**=अग्नि के समान **त्विषितः**=दीप्तिवाला होता हुआ तू **सहस्व**=हमारे शत्रुओं का पराभव कर। हे **सहुरे**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान! **हूतः**=पुकारा गया तू **नः**=हमारा **सेनानीः**=सेनापति **एधि**=हो। ज्ञान ही वस्तुतः उन सब साधनों में मुख्य है जो कि वासनाओं का नाश करनेवाले हैं। (२) **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं को **हत्वाय**=नष्ट करके **वेदः**=जीवन-धन को **विभजस्व**=विशेषरूप से हमें प्राप्त करा। काम-क्रोध से भरा जीवन तो जीवन ही नहीं प्रतीत होता। ज्ञान इन काम-क्रोध आदि के मालिन्य को नष्ट करता है और उत्कृष्ट जीवन-धन को प्राप्त कराता है। (३) **ओजः मिमानः**=हमारे जीवनों में ओजस्विता का निर्माण करते हुए **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=विशेषरूप से दूर धकेल दे। ज्ञान से वह ओजस्विता प्राप्त होती है जो हमें काम-क्रोध आदि हिंसक शत्रुओं को हिंसित करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—ज्ञान हमारा सेनापति बनता है और हमारे सब शत्रुओं को नष्ट कर डालता है।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अभिमान नासक 'मन्यु'

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयस एकज त्वम् ॥ ३ ॥

(१) हे मन्योः-ज्ञान! तू अस्मे-हमारे अभिमातिम्-अभिमानरूप शत्रु को सहस्व-कुचल डाल। शत्रून्-इन कामादि शत्रुओं को रुजन्-भग्न करते हुए मृणन्-कुचलते हुए और प्रमृणन्-एकदम मसलते हुए प्रेहि-प्रकर्षेण आगे बढ़नेवाला हो। (२) ते पाजः-तेरी शक्ति उग्रम्-अत्यन्त तेजोमय है। यह नु-अब न आरुरुध्रे-रोकी नहीं जा सकती। इस शक्ति का पराभव किसी के लिये सम्भव नहीं। (३) त्वम्-तू एकजम्-अकेला ही वशी-सब शत्रुओं से परास्त न होता हुआ वशं नयसे-उन सब शत्रुओं को वशीभूत करता है। ज्ञान के होने पर अन्य आवश्यक साधन जुट ही जाते हैं और कामादि शत्रुओं का पराभव उतना कठिन नहीं रह जाता।

भावार्थ—हम ज्ञानोपार्जन करके अभिमान को दूर करें। इस ज्ञान के द्वारा सब शत्रुओं को भस्म कर पायें।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

विजय

एको बहूनामसि मन्यवीळितो विशंविशं युधये सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे ॥ ४ ॥

(१) हे मन्यो-ज्ञान! ईडितः-उपासित हुआ-हुआ एकः-अकेला ही बहूनाम्-काम-क्रोधादि बहुत से शत्रुओं का असि-पराभव करने में समर्थ है। वस्तुतः तू विशंविशम्-प्रत्येक प्रजा को युधये-इन कामादि शत्रुओं से युद्ध के लिए सं शिशाधि-सम्यक् तीक्ष्ण करता है। जब तक मनुष्य ज्ञानोपासना में नहीं चलता तब तक वह काम-क्रोध आदि को शत्रु के रूप में पहिचानता ही नहीं, उन्हें जीतने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। ज्ञान की आराधना के प्रारम्भ होते ही उसके ज्ञाननेत्र खुलते हैं और वह इन काम-क्रोधादि को शत्रुरूप में देखने लगता है। अब वह इनके साथ युद्ध की तैयारी करता है। (२) यह ज्ञान अकृत्तरुक्-अच्छिन्न कान्तिवाला है। हे निरन्तर दीप्तिवाले ज्ञान! त्वया युजा-तुझ साथी के साथ वयम्-हम विजयाय-विजय के लिये द्युमन्तं घोषम्-ज्योतिर्मय स्तोत्रोच्चारणों को कृण्महे-करते हैं। जब हमारा स्तवन ज्ञानपूर्वक होता है तो यह स्तवन हमें कामादि पर विजय करने में समर्थ बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान ही हमें कामादि शत्रुओं के उच्छेद के लिये समर्थ करता है। इस विजय के लिये हम ज्ञानपूर्वक स्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—मन्युस्तापसः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'ज्ञान का उद्गम-स्थान' प्रभु

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥

(१) हे ज्ञान! तू विजेषकृत्-विजय को करनेवाला है। तू काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करता है। इन्द्र इव-जितेन्द्रिय पुरुष की तरह अनवब्रवः-हुंकार द्वारा पराजित करके भगाया नहीं

जा सकता। काम-क्रोधादि की हुंकार तुझे उसी प्रकार भयभीत नहीं कर पाती जैसे कि एक जितेन्द्रिय पुरुष को आसुरवृत्तियाँ पराजित नहीं कर पाती। हे **मन्यो**-ज्ञान! तू **इह**-इस जीवनयज्ञ में **अस्माकम्**-हमारा **अधिपाः**-रक्षक **भव**-हो। (२) हे **सहुरे**-शत्रुओं का मर्षण करनेवाले ज्ञान! हम **ते**-तेरे **प्रियम्**-प्रिय **नाम गृणीमसि**-स्तोत्र का उच्चारण करते हैं, अर्थात् ज्ञान की महिमा को हृदय में अङ्कित करने के लिये उसका स्तवन करते हैं और ज्ञान के महत्त्व को समझते हुए **तं उत्सम्**-उस स्रोत को भी **विद्म**-जानते हैं **यतः आबभूथ**-जहाँ से कि यह ज्ञान उत्पन्न होता है। गंगा के महत्त्व को माननेवाला जैसे गंगा के उद्गम-स्थान गंगोत्री को देखने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार ज्ञानभक्त पुरुष ज्ञान के स्रोत प्रभु को जानने के लिए यत्नशील होता है। इस प्रभु का ज्ञान ही ज्ञान की चरमसीमा है। यहाँ पहुँचने पर सब पापों का ध्वंस हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञान कामादि का संहार व पराभव करता है, यही हमारा रक्षक है। ज्ञान के स्रोत प्रभु का दर्शन ही ज्ञान की चरमसीमा है।

ऋषिः—मन्युस्तापसः॥ देवता—मन्युः॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'ऐश्वर्य के साथ उत्पन्न होनेवाला' ज्ञान

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्ष्यभिभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि॥ ६॥

(१) **आ-भूत्या**-सब कोशों में व्याप्त होनेवाली भूति, अर्थात् ऐश्वर्य के **सहजाः**-साथ उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से अन्नमयकोश तेजःपूर्ण बनता है, प्राणमय वीर्य-पूर्ण होता है, मनोमय ओज व बल से भर जाता है, विज्ञानमय तो मन्यु युक्त होता ही है, आनन्दमय सहस् से परिपूर्ण बनता है। **वज्र**-(वजगतौ) गति को उत्पन्न करनेवाले, ज्ञान से जीवन गतिमय होता है, ज्ञानी पुरुष कभी अकर्मण्य नहीं होता **सायक**-'षोऽन्तकर्मणि' सब बुराइयों का अन्त करनेवाले, ज्ञान से सब मलिनताएँ नष्ट होती ही हैं। **अभिभूते**-कामादि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले ज्ञान! तू **उत्तरम्**-उत्कृष्ट **सहः**-बल को **बिभर्ष्य**-धारण करता है। ज्ञान से मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि वह सब काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराभव करता है। (२) हे **मन्यो**-ज्ञान! तू **क्रत्वा सह**-यज्ञादि उत्तम कर्मों के साथ **नः मेदी एधि**-हमारे साथ स्नेह करनेवाला हो। हम ज्ञान को प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें। हे **पुरुहूत**-(पुरुहूतं यस्य) पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे ज्ञान! तू **महाधनस्य**-उत्कृष्ट ऐश्वर्य के **संसृजि**-निर्माण में हमारा (मेदी एधि) स्नेह करनेवाला हो। तुझे मित्र के रूप में पाकर हम उत्कृष्ट ऐश्वर्य का उत्पादन करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान ही सब ऐश्वर्यों का मूल है, यह उत्कृष्ट बल को देता है, हमें क्रियाशील बनाकर हमारा सच्चा मित्र होता है।

ऋषिः—मन्युस्तापसः॥ देवता—मन्युः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

शत्रुओं का सुदूर पलायन

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥ ७॥

(१) **मन्युः**-ज्ञान **च**-तथा **वरुणः**-ज्ञान के द्वारा सब दुरितों का निवारण करनेवाले प्रभु **अस्मभ्यम्**-हमारे लिये **उभयम्**-ज्ञान व श्रद्धारूप द्विविध धन को, **समाकृतम्**-सम्यक् उत्पन्न

किये हुए को तथा **संसृष्टम्**-परस्पर मिले हुए को **दत्ताम्**-दें। प्रभु कृपा से ज्ञान को प्राप्त करते हुए हम अपने जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय करके चलें। इन दोनों को उत्पादन हमारे में सम्यक्तया हो और ये हमारे जीवन में संसृष्ट हों, परस्पर मिले हुए हों। 'ठीक ज्ञान' श्रद्धा को पैदा करता है और 'श्रद्धा' ज्ञान को पैदा करती है। (२) इस प्रकार हमारे मस्तिष्क व हृदय के परस्पर संगत हो जाने पर **शत्रवः**-सब काम-क्रोधादि शत्रु **हृदयेषु भियं दधानाः**-अपने हृदयों में भय का धारण करते हुए **पराजितासः**-पराजित हुए-हुए **अपनिलयन्ताम्**-कहीं सुदूर निलीन हो जाएँ। हमारे से दूर जा छिपें। हम कामादि से आक्रान्त न हों।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा प्रभु-दर्शन होने पर हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा के धन का वह समन्वय होता है कि सब कामादि शत्रु सुदूर विनष्ट हो जाते हैं।

इस सम्पूर्ण सूक्त में ज्ञान की ही महिमा का उल्लेख है। (१) यह ज्ञान हमें ओजस्वी बनाता है, कामादि शत्रुओं को पराभूत करता है, (२) यह सब कोशों के ऐश्वर्य को देनेवाला है, (३) वास्तविक ज्ञान हमें प्रभु के प्रति श्रद्धान्वित करके हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय को करता है, (४) अब अगले सूक्त में इस 'मन्यु तापस' के गृहस्थ में प्रवेश का उल्लेख है। यह ब्रह्मचर्याश्रम में शक्ति का रक्षण करके, सोम (वीर्य) का पान करके 'सोम' शब्द से ही कहलाता है। यह चाहता है कि सूर्य के समान प्रकाशमय हृदयवाली पत्नी ही इसे प्राप्त हो। इसीलिए उसे 'सूर्या' शब्द से स्मरण किया गया है। मानो यह सविता की ही पुत्री है। यह 'सावित्री सूक्त' ही प्रस्तुत सूक्त की ऋषिका है। गृहस्थ में प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सन्तान प्राप्ति है। उसके साधनभूत सोम (वीर्य) के वर्णन से ही सूक्त का प्रारम्भ है।

सप्तमोऽनुवाकः

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'सत्य-सूर्य-ऋत-सोम'

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

(१) 'सूर्या सावित्री' कहती है कि **सत्येन**=सत्य से **भूमिः**=यह पृथिवी **उत्तभिता**=थामी गयी है, अर्थात् पृथ्वी सत्य पर ही आश्रित है। संसार असत्य के आधार पर स्थित नहीं हो सकता। विशेषतः घर में पति-पत्नी का परस्पर सत्य व्यवहार ही उनके गृहस्थ जीवन को सुखी बना सकता है। असत्य से वे परस्पर आशंकित मनोवृत्तिवाले होंगे और गृहस्थ के मूलतत्त्व 'प्रेम' को खो बैठेंगे। (२) **सूर्येण**=सूर्य से **द्यौः**=द्युलोक **उत्तभिता**=थामा गया है। द्युलोक का द्युलोकत्व इस देदीप्यमान सूर्य के कारण ही है। सूर्य न हो तो द्युलोक भी इस पृथ्वीलोक की तरह ही हो जाएगा वहाँ प्रकाश न होगा। घर में प्रथम स्थान 'सत्य' का था, तो दूसरा स्थान 'ज्ञान' का है। इसके बिना घर का मापक ऊँचा नहीं उठ सकता। ज्ञान के अभाव में मनुष्य 'मनुष्य' ही नहीं रह जाता। उस घर का जीवन पशु तुल्य हो जाता है। (३) **आदित्याः**=अदिति के, अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देव **ऋतेन**=ऋत से, regnlerity (नियमितता) व यज्ञ से **तिष्ठन्ति**=आधारवाले होते हैं। जहाँ ऋत होता है, वहाँ घर के व्यक्ति देव बनते हैं। घर का तीसरा सूत्र 'ऋत' है। सब कार्यों को व्यवस्था

से करना, ठीक समय व ठीक स्थान पर करना आवश्यक ही है। साथ ही घर में यज्ञों का होना भी उतना ही आवश्यक है। घर के सब व्यक्तियों की मनोवृत्ति यज्ञिय बने, तो घर पनपता है। (४) **सोमः**-सोम (-वीर्य) **दिवि**-ज्ञान में **अधिश्रितः**-आश्रित है, अर्थात् सोम के रक्षण के लिये स्वाध्याय की वृत्ति आवश्यक है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और इस प्रकार शरीर में ही उपयुक्त होकर व्यर्थ में व्ययित नहीं होता। सोम का रक्षण करनेवाले पति-पत्नी ही उत्तम सन्तानों को जन्म दे पाते हैं।

भावार्थ—उत्तम घर वह है जहाँ—(क) सत्य है, (ख) ज्ञान-प्रवणता है (सूर्य, (ग) ऋत का पालन होता है और (घ) सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

देवत्व, शक्ति व विज्ञान

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

(१) **सोमेन**-गत मन्त्र की समाप्ति पर कहे गये सोम के रक्षण से **आदित्याः**-अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देवता **बलिनः**-बलवाले होते हैं। वस्तुतः सोमरक्षण से ही वे देव बनते हैं। देवताओं का सोमपान प्रसिद्ध है। यह कोई बाह्य रस नहीं है। शरीर में उत्पन्न होनेवाला ओषधियों का सारभूत सोम यह वीर्य ही है। इसका रक्षण देवों को शक्ति देता है। (२) **सोमेन**-सोम से ही **पृथिवी**-यह शरीररूप पृथिवी **मही**-महनीय व महत्त्वपूर्ण बनती है। शरीर में सब वसुओं-निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों का स्थापन इस सोम के द्वारा ही होता है (३) **उ**-और **अथ**-अब **एषां नक्षत्राणां उपस्थे**-इन विविध विज्ञान के नक्षत्रों की उपासना के निमित्त **सोमः**-यह सोम (-वीर्य) **आहितः**-शरीर में स्थापित किया गया है। इस सोम के द्वारा ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और मनुष्य अपने मस्तिष्क रूप गगन में ज्ञान के नक्षत्रों का उदय कर पाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन लाभ हैं—(क) हृदय में देववृत्ति का उदय, (ख) शरीर में शक्ति का स्थापन, (ग) मस्तिष्क में विज्ञान नक्षत्रों का उदय।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वास्तविक सोमपान

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ ३ ॥

(१) 'सोम ओषधीनामधिराजः' गो० उ० १।१७, 'सोम वीरुधां पते' तै० ३।११।४।१, 'गिरिषु हि सोमः' श० ३।३।४।७ इन ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि सोम एक लता है जो पर्वतों पर उत्पन्न होती है, यह अत्यन्त गुणकारी है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में सोम का भाव इस वानस्पतिक ओषधि से नहीं है। यहाँ तो 'रेतः सोमः' कौ० १३।७ के अनुसार वीर्यशक्ति ही सोम है। मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**-जो **ओषधिम्**-ओषधि को **संपिंषन्ति**-सम्यक् पीसते हैं और उसका रस निकालकर **मन्यते**-मानते हैं कि **सोमं पपिवान्**-हमने सोम पी-लिया है, यह उनकी धारणा ठीक नहीं। (२) **यं सोमम्**-जिस सोम को **ब्रह्माणः**-ज्ञानी पुरुष ही **विदुः**-जानते हैं **तस्य**-उस सोम का **कश्चन**-इन ओषधि रस पीनेवालों में से कोई भी **अश्नाति**-ग्रहण नहीं करता है। सोम तो शरीर में उत्पन्न होनेवाला वीर्य है। उसका रक्षण ज्ञानी

पुरुष ही करते हैं, यही सच्चा सोमपान है। ज्ञान संचय में प्रवृत्त पुरुष इस सोम को अपनी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है और इसकी ऊर्ध्वगति के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के योग्य बनता है।

भावार्थ—सोमलता के रस का पान सोमपान नहीं है। वीर्य का रक्षण ही सोमपान है। इस सोमपान को भौतिक प्रवृत्तिवाला पुरुष नहीं कर पाता। इस सोमपान को करनेवाला ज्ञानी ही होता है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सोम का रक्षण

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ४ ॥

(१) **आच्छद्विधानैः**-समन्तात् अपवारण के तरीकों से, अर्थात् हमारे पर सब ओर से जो वासनाएँ आक्रमण कर रही हैं, उनको दूर रखने के उपायों से **गुपितः**-यह सोम रक्षित होता है। यदि वासनाओं का आक्रमण चलता रहे, तो सोम के रक्षण का सम्भव नहीं होता। (२) **सोमः**-यह सोम (=वीर्य) **बार्हतैः**-वासनाओं के उद्बर्हण के द्वारा **रक्षितः**-रक्षित होता है। जैसे खेत में से एक किसान घास-फूस का उद्बर्हण कर देता है, इसी प्रकार जो व्यक्ति हृदयक्षेत्र में से वासनारूप घास का उद्बर्हण करता है, वही शरीर में सोम का रक्षण करनेवाला होता है। (३) हे सोम! तू **इत्**-निश्चय से **ग्राव्णाम्**-ज्ञानी स्तोताओं की ज्ञान चर्चाओं को **शृण्वन्**=सुनता हुआ **तिष्ठति**-शरीर में स्थित होता है। जो मनुष्य ज्ञानप्रधान जीवन बिताता है, यह सोम उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इस प्रकार उपयुक्त हुआ-हुआ सोम नष्ट नहीं होता। (४) **पार्थिवः**-पार्थिव भोगों में फँसा हुआ व्यक्ति **ते न अश्नाति**-तेरा सेवन नहीं करता। भोगासक्ति सोम के रक्षण की विरोधिनी है। ये पार्थिव वृत्तिवाले व्यक्ति तो सोमलता के रस के पान को ही सोम-पान समझते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये वासनाओं को दूर करना आवश्यक है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आप्यायन व दीर्घ-जीवन

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ५ ॥

(१) **देव**-दिव्य प्रकाश को प्राप्त करानेवाले सोम! **यत्**-जब **त्वा**-तुझे **प्रपिबन्ति**-अपने अन्दर ही प्रकर्षेण पीते हैं, शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं, **ततः**-तब **पुनः**-फिर से **अप्यायसे**-तू सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति का आप्यायन करता है। सोम के रक्षण से सब इन्द्रियाँ सबल बनती हैं। यह सोम मन को भी दिव्य वृत्तिवाला बनाता है। सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष का मन शुभ भावनाओं से भरा हुआ होता है। इसका मस्तिष्क भी ज्ञानदीप्त बनता है। (२) इस शरीर में **सोमस्य रक्षिता**-सोम का रक्षण करनेवाला **वायुः**-वायु है। वायु शरीर में प्राण के रूप में रहता है। इन प्राणों की साधना ही शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण बनती है। इस ऊर्ध्वगति से **मासः**-(मस्यते परिमीयते सोमः सा०) शरीर की आकृति को परिवर्तित कर देनेवाला, क्षीण अंगों को फिर से आप्यायित कर देनेवाला, यह सोम **समानाम्**-वर्षों का **अकृतिः**-अकर्ता बनानेवाला होता है, अर्थात् सोमरक्षण से दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है अथवा यह सोम **समानाम्**-

समताओं का आकृतिः=बनानेवाला है, अर्थात् सोम यथासम्भव हमारी मानस क्षमता को नष्ट नहीं होने देता। मानस सन्तुलन को वे ही व्यक्ति खो बैठते हैं जो सोम को अपव्यय से सुरक्षित नहीं करते।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सोम की ऊर्ध्वगति होती है। यह रक्षित सोम अंगों का आप्यायन करनेवाला तथा दीर्घजीवन को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्याविवाहः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सूर्या का चरित्र

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ ६ ॥

(१) अब प्रथम पाँच मन्त्रों में सोम के महत्त्व के प्रतिपादन के बाद इस सोम के रक्षण करनेवाले पुरुष के साथ सूर्या के विवाह का उल्लेख ६ से १६ मन्त्रों तक किया गया है इस विवाह के समय **रैभी**=जिसके द्वारा प्रभु का स्तवन होता है वह ऋचा 'रैभी' कहलाती है यह रैभी ऋचा ही **अनुदेयी आसीत्**=दहेज थी, अर्थात् पिता कन्या को ऋचाओं के द्वारा प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली बना देता है। यह स्तुति वृत्तिवाली बना देना ही सर्वोत्तम दहेज देना है। (२) **नाराशंसी**=नर समूह के शंसन की वृत्ति सबकी अच्छाइयों का ही कथन करने और कमियों को न कहने की वृत्ति ही इसकी **न्योचनी**=इसको ठीक आनेवाली इसकी कमीज होती है। स्तवन, न कि विन्दन, की वृत्ति ही उसके उचित वस्त्र हैं। अथवा **नाराशंसी**=वीर पुरुषों के चरित्रों का शंसन इनके इतिवृत्त का ज्ञान ही इसका समुचितवसन है। (३) **भद्रम्**=इसकी भद्रता (शराफत) **इत्**=ही **वासः**=ओढ़ने का कपड़ा है जो **गाथया परिष्कृतम्**=गाथा से परिष्कृत हुआ-हुआ **एति**=इसे प्राप्त होता है। जैसे वस्त्रा किनारी आदि से सुभूषित होता है उसी प्रकार इसकी भद्रता का यह वस्त्र प्रभु गुणगान से सुभूषित है। संक्षेप में यह कन्या भद्र व्यवहारवाली है और प्रभु के गुणों के गायन की वृत्तिवाली है।

भावार्थ—कन्या को स्तुति वृत्तिवाला बना देना ही सच्चा दहेज है। स्तवन, न कि निन्दन ही इसकी कमीज है। भद्रता ही वस्त्र है जो प्रभु गुणगायन से परिष्कृत है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्याविवाहः ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वास्तविक सम्पत्ति

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्। द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम् ॥ ७ ॥

(१) **चित्तिः**=समझदारी ही इसका **उपबर्हणं आः**=तकिया है। जैसे तकिया सहारा देता है, उसी प्रकार इस कन्या की समझदारी से आनेवाली मुसीबतों में सहारा देती है। **चक्षुः अभ्यञ्जनं आः**=इसका ठीक दृष्टिकोण ही इसका सुरमा था। सुरमा आँख के सौन्दर्य को बढ़ाने का साधन होता है। इसका ठीक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखना ही इसे सुशोभित करता है। (२) **द्यौ भूमिः**=मस्तिष्क व शरीर इसके **कोशः**=कोश **आसीत्**=था। ज्ञानोज्वल मस्तिष्क व दृढ़ शरीर ही इसका वास्तविक धन था। उस समय **यत्**=जब कि **सूर्या**=सविता की पुत्री, उज्ज्वल ज्ञानवाली **सूर्या पतिम्**=अपने पति को **अयात्**=प्राप्त हुई। पतिगृह में जाते हुए यह मस्तिष्क के ज्ञान व शरीर की दृढ़ता रूप सम्पत्ति को ही लेकर गयी।

भावार्थ—कन्या समझदार हो, इसका दृष्टिकोण ठीक हो। मस्तिष्क में ज्ञानरूप सम्पत्ति को तथा शरीर में दृढ़ता को प्राप्त करके ही यह पतिगृह को प्राप्त हो।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्याविवाहः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

साथी का ढूँढ़ना

स्तोमा॑ आसन्प्रति॒धयः॑ कु॒रीरं॒ छन्द॑ ओप॒शः । सू॒र्याया॑ अ॒श्विना॑ व॒राग्निरा॑सीत्पुरोग॒वः ॥ ८ ॥

(१) **स्तोमाः**=प्रभु के स्तोत्र ही **प्रतिधयः**=(प्रतिधि=food) भोजन **आसन्**=थे। जिस प्रकार अन्न का भोजन शरीर की पुष्टि का कारण बनता है, उसी प्रकार प्रभु के स्तोत्र इसकी अध्यात्म पुष्टि का कारण बनते हैं। **छन्दः**=वासनाओं से बचानेवाले (छद् अपवारणे) वेद-मन्त्र ही इसके **कुरीरम्**=शिरोवस्त्र व **ओपशः**=शिरोभूषण थे। इनके द्वारा ही उसके मस्तिष्क की शोभा थी। (२) इस **सूर्यायाः**=सूर्या के **अश्विना**=माता-पिता **वरा**=इसके साथी का वरण (चुनाव) करनेवाले थे। उन्होंने सूर्या के जीवनसंगी के ढूँढ़ने का काम प्रारम्भ किया। उनके इस कार्य में **अग्निः**=ज्ञानी ब्राह्मण ही **पुरोगवः**=इनका अगुआ, पथप्रदर्शक **आसीत्**=था। इनका कुलपुरोहित इनको इस कार्य में मदद करनेवाला हुआ। वस्तुतः इनके लड़कियों के आचार्य ही अग्नि हैं। वे इनके शिक्षक होने के कारण इनके गुण-कर्म-स्वभाव से परिचित होने से ठीक चुनाव कर पाते हैं। वे आचार्य परामर्श देते हैं। उस परामर्श के अनुसार माता-पिता देखभाल करते हैं और अन्त में सन्तानों की स्वीकृति होने पर ये सम्बन्ध परिपक्व हो जाते हैं।

भावार्थ—स्तोत्र ही सूर्या के भोजन बने। वेद-मन्त्र 'शिरोवस्त्र व शिरोभूषण' हुए। अब माता-पिता ने ज्ञानी आचार्य की सहायता से इस सूर्या के जीवन-साथी को ढूँढना प्रारम्भ किया।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्याविवाहः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'सूर्या' का 'सोम' के साथ विवाह

सोमो॑ वधू॒युर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा । सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥ ९ ॥

(१) पत्नी को 'सूर्या' बनना चाहिए तो पति को 'सोम' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। पति सोम का रक्षण करता हुआ सोमशक्ति का पुत्र हो, इस सोमशक्ति के रक्षण से वह सौम्य स्वभाव का भी हो। यह **सोमः**=सोमशक्ति का रक्षक सौम्य स्वभाव का युवक **वधूयुः अभवत्**=वधू की कामनावाला हुआ। जब यह वधू की कामनावाला हुआ तो **उभा अश्विना**=दोनों माता-पिता **वरा**=उसके साथी का चुनाव करनेवाले **आस्ताम्**= हुए। (२) सूर्या के माता-पिता युवक की तलाश में थे, सोम के माता-पिता भी योग्य युवति की खोज कर रहे थे। **अग्नि**=ज्ञानी आचार्य ने उनका पथप्रदर्शन किया। उसके सुझाव पर **यत्**=जब **सूर्या पत्ये शंसन्तीम्**=पति का शंसन (इच्छा) करनेवाली हुई तब **सूर्याम्**=उस सूर्या को **सविता**=सूर्यतुल्य इसके पिता ने इसे **मनसा**=पूरे दिल से सोम के लिये **अददात्**=दे दिया। इस प्रकार सूर्या का सोम के साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

भावार्थ—'युवक पत्नी की कामनावाला हो, युवति पति की कामनावाली' तो उनके माता पिता को उनके विवाह सम्बन्ध का आयोजन कर देना चाहिए।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्याविवाहः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वरण में मन व मस्तिष्क का स्थान

मनो॑ अस्या॒ अन॑ आसी॒द् द्यौरा॑सीदु॒त च्छ॒दिः । शु॒क्राव॑न॒ड्वाहा॑वास्तां॒ यदया॑त्सू॒र्या गृ॒हम् ॥ १० ॥

(१) **अस्याः**=इस सूर्या का, **यद्**=जब कि यह **सूर्या**=सावित्री **गृहम्**=अपने घर को, उस

घर को जिसका कि उसने निर्माण करना है **अयात्**-गई, उस समय **मनः**-मन ही **अनः**-रथ **आसीत्**-था। अपने मनोरथ पर आरूढ़ होकर यह पतिगृह को गई। अर्थात् पतिगृह को इच्छापूर्वक प्रसन्नता से गई। माता-पिता ने इससे बिना स्वीकृति लिये इसका सम्बन्ध नहीं कर दिया। (२) उस समय मन तो रथ था, **उत**-और **द्यौः**-मस्तिष्क (मूर्ध्नो द्यौः) **छदिः आसीत्**-छत थी। उस रथ का रक्षक मस्तिष्क था। केवल हृदय की भावुकता के कारण यह सम्बन्ध न हो गया था, यह सम्बन्ध मस्तिष्क से, अर्थात् सब बातें सोच-विचार कर ही किया गया था। हृदय के ऊपर मस्तिष्क की स्थिति इस बात को सुव्यक्त कर रही है कि हमें भावना से बुद्धि को अधिक महत्त्व देना है। (३) इस मनोमय रथ की छत मस्तिष्क बना तो **शुक्रौ**-गतिशील व दीप्त (शुक् गतौ, शुच् दीप्तौ) कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ इस रथ के **अनड्वाहौ**-वृषभ **आस्ताम्**-थे। इसकी कर्मेन्द्रियाँ कर्म-निपुण होती हुई इसे सशक्त बना रही थी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में कुशल होती हुई, इसे ज्ञानदीप्त कर रही थी।

भावार्थ—पति के चुनाव में सूर्या भी सहमत थी। यह सम्बन्ध, भावुकता के कारण न होकर, सोच समझकर किया गया था। सूर्या की इन्द्रियों की शक्ति का समुचित विकास हो चुका था।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय

ऋक्सामाभ्याम॒भिहि॑तौ गावौ॑ ते साम॒नावि॑तः। श्रोत्रं॑ ते च॒क्रे आ॑स्तां दि॒वि पन्था॑श्चराच॒रः ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के मनोमय रथ में जुते हुए **ते गावौ**-वे ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप वृषभ **ऋक्सामाभ्याम्**-विज्ञान व उपासना से **अभिहितौ**-प्रेरित हुए-हुए थे, अर्थात् इन्द्रियों के सब व्यवहारों में विज्ञान व उपासना का समन्वय था। इसका प्रत्येक कार्य 'ज्ञान व श्रद्धा' के मेल से हो रहा था। इसीलिए ये इन्द्रिय रूप वृषभ **सामनौ**-बड़ी शान्तिवाले होकर **इतः**-गति कर रहे थे। भाव यह है कि सूर्या ज्ञान व श्रद्धा से सम्पन्न होकर शान्तभाव से सब कार्यों को करती थी। (२) **श्रोत्रम्**-कान ही **ते चक्रे**-रथ के वे चक्र **आस्ताम्**-थे। 'चक्र' गति का प्रतीक है, 'श्रोत्र' सुनने का। सूर्या सुनती थी और उसके अनुसार करती थी और उसका यह **चराचरः**-खूब क्रियाशील (भृशंचरति) **पन्थाः**-जीवन का मार्ग **दिवि**-ज्ञान में आश्रित था। अर्थात् सूर्या की सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती थीं। वह किसी प्रकार के रूढ़िवाद में फँसी हुई न थी।

भावार्थ—'सूर्या' ज्ञान व श्रद्धा से युक्त होकर शान्तभाव से ज्ञानपूर्वक निरन्तर क्रियामय जीवनवाली है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'प्राण-अपान-व्यान' की ठीक स्थिति

शुची॑ ते च॒क्रे या॒त्या व्या॒नो अक्ष॒ आह॑तः। अनो॑ मन॒स्मयं॑ सू॒र्यारो॑हत्प्रय॒ती पति॑म् ॥ १२ ॥

(१) **पतिं प्रयती**-पतिगृह की ओर जाती हुई सूर्या **मनस्मयं अनः**-सूर्या मन से बने रथ पर, मनोरथ पर **आरोहत्**-आरूढ़ हुई। तो उस समय **यात्याः**-जाती हुई सूर्या के रथ के **ते चक्रे**-वे चक्र **शुची**-वे पवित्र प्राणापान ही थे, और उन प्राणापान रूप चक्रों में **व्यानः**-व्यान **अक्षः**-अक्ष (axle) के रूप में **आहतः**-लगा हुआ था। 'प्राणापानौ पवित्रे' तै० ३।३, ४।४। प्राणापान ही शुचि व पवित्र हैं। ये यदि रथ के पहिये हैं तो कान उन चक्रों का अक्ष है। ''भूः' इति प्राणः, 'भुवः' इति अपानः, 'स्वः' इति व्यानः' इन ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्दों में 'भूः भुवः स्वः' ही प्राण अपान व व्यान हैं। यही त्रिलोकी है। अध्याय में 'भूः' शरीर है, 'भुवः' हृदयान्तरिक्ष है,

'स्वः' मस्तिष्करूप द्युलोक है। सूर्या के ये तीनों ही लोक बड़े ठीक हैं। इनको ठीक बना करके वह मनोमय रथ पर आरूढ़ हुई है और पतिगृह की ओर चली है।

भावार्थ—सूर्या के 'प्राण-अपान-व्यान' ठीक कार्य करनेवाले हैं, अतएव वह पूर्ण स्वस्थ व उल्लासमय मनवाली है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गोदान

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥ १३॥

(१) **सूर्यायाः**=सूर्या का **वहतुः**=दहेज (गौ के रूप में दिये जानेवाला सगण) **प्रागात्**=आज गया है, **सविता**=सूर्या के पिता ने **यम्**=जिसको **अवासृजत्**=दिया है। **अघासु**=मघा-नक्षत्र में **गावः**=ये दी जानेवाली गौवें **हन्यन्ते**=(हन् गतौ) भेजी जाती हैं और **अर्जुन्योः**=फल्गुनी नक्षत्र में **पर्युह्यते**=कन्या का विवाह कर दिया जाता है। (२) मघा-नक्षत्रवाली पूर्णिमा माघी कहलाती है और फल्गुनी नक्षत्रवाली पूर्णिमा फाल्गुनी। माघी पूर्णिमावाला मास माघ मास है और फाल्गुनी पूर्णिमावाला फाल्गुन। सो विवाह से पूर्व एक मास पूर्व यह गोदान विधि सम्पन्न हो जाती है। यह गौ इसलिए दी जाती है कि गुरुकुल में तपःकृश युवक अब दूध इत्यादि का प्रयोग करके आप्यायित शरीरवाला हो जाए।

भावार्थ—विवाह अर्थात् कन्यादान से एक मास पूर्व गोदान विधि सम्पन्न कर दी जाए।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

युवक द्वारा नये माता-पिता का वरण

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरावंवृणीत पूषा॥ १४॥

(१) **यत्**=जिस समय **अश्विना**=लड़के के माता-पिता (पति-पत्नी) **सूर्यायाः**=सूर्या के **वहतुम्**=विवाह के दहेज को **पृच्छमानौ**=चाहते हुए (पूछते हुए-ask for) **त्रिचक्रेण**=तीन चक्रों (चक्करों) से **अयातम्**=आते हैं। उस समय **वाम्**=आप दोनों के **तत्**=उस कार्य को **विश्वे देवाः**=सब देव-समझदार लोग, साथ आये हुए अनुभवी वृद्ध सज्जन **अनु अजानन्**=अनुज्ञा दें। अर्थात् यह कार्य सुचारुरूपेण सम्पन्न हो जाए, किसी प्रकार का पारस्परिक लेन-देन का झगड़ा न हो। (२) और उस समय यह **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **पुत्रः**=वृत युवक **पितरौ अवृणीत**=कन्या के माता-पिता को माता-पिता के रूप में वरे। अर्थात् अपने माता-पिता की उपस्थिति में आज से वह इन वधू के माता-पिता को भी अपने माता-पिता के रूप में देखे। (३) विवाह कार्य में वरपक्ष के माता-पिता सामान्यतः तीन चक्कर लगाते हैं। पहले चक्कर में तो वे कन्यापक्ष के लोगों के विषय में व कन्या के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए किसी परिचित मित्र के यहाँ चुपके से आते हैं। उस समय अन्य कोई व्यक्ति उनके साथ नहीं होता। ये गुप्तरूप से बातों को जानकर लौट जाते हैं। अब सम्बन्ध ठीक हो जाने पर 'वस्तु' के लिये दूसरा चक्कर लगता है। इस समय बिरादरी के व नगर के अन्य सज्जन भी साथ होते हैं। तीसरा चक्कर विवाह कार्य के लिये होगा। मन्त्र में 'त्रिचक्रेण' शब्द से इन चक्करों का संकेत हुआ है।

भावार्थ—जब वर के माता-पिता वहुत को लेने के लिये आते हैं तो उनके साथ अन्य व्यवहार कुशल व्यक्ति (देव) भी होते हैं। वे सारे कार्य को सुन्दरता से पूर्ण करा देते हैं। इस समय युवक अपने भावी श्वश्रूश्वशुर को माता-पिता के रूप में वरता है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्याविवाहः ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सम्बन्ध पक्का करानेवाले 'मूल पुरुष'

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप। क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १५ ॥

(१) **यद्**=जब **शुभस्पती**=सब शुभ कर्मों का रक्षण करनेवाले युवक के माता-पिता **सूर्यां वरेयम्**=सूर्या के वरण के लिये **उप अयातम्**=यहाँ समीप प्राप्त हुए तो **वाम्**=आप दोनों का **एकं चक्रम्**=यह पहला चक्र (चक्कर) **क्व**=कहाँ हुआ था? आप पहले यहाँ आकर कहाँ ठहरे थे। **देष्ट्राय**=सूर्या के विषय में विविध निर्देशों को पाने के लिये **क्व तस्थथुः**=आप किनके यहां ठहरे। (२) यह प्रश्न विवाह में उपस्थित सब देव (=सज्जन) वर के माता-पिता से पूछते हैं। उन्हें उत्कण्ठा होती है कि इस सम्बन्ध को करवाने में किन सज्जन का मुख्य स्थान है। इन्होंने किन से आकर सूर्या के विषय में विविध जानकारी प्राप्त की? कोई न कोई व्यक्ति इस प्रकार माध्यम बनता ही है। सूर्या के ग्राम का कोई ऐसा व्यक्ति जो वरपक्ष के माता-पिता का भी परिचित होता है, वही इस कार्य को ठीक से सम्पन्न कर पाता है। सब से पूर्व करके माता-पिता आकर इन्हीं के पास ठहरते हैं। इनके आने का उस समय सामान्यतः औरों को पता नहीं लगता। यह पूछताछ का कार्य गुप्तरूप से ही कर लेना ठीक समझा जाता है। इसके बाद में होनेवाले चक्र (चक्कर) तो सब के ज्ञान का विषय बनेंगे ही। जब विवाह के समय बरात में सब देव (सज्जन) आते हैं, तो उनकी यह जानने की इच्छा स्वाभाविक होती है कि 'पहले-पहले आपको किनसे सब बातों की जानकारी हुई'? बस यही प्रश्न प्रस्तुत मन्त्र का विषय है।

भावार्थ—विवाह में उपस्थित होने पर सब देव उन सज्जन के विषय में वर के माता-पिता से पूछते हैं कि 'आप पहले पहल आकर कहाँ ठहरे। किनसे आपको सब बातों का ज्ञान हुआ'?

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रथम चक्र व पिछले दो चक्र

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः। अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥ १६ ॥

(१) हे **सूर्ये**! **ते**=तेरे विषय में **द्वे चक्रे**=लगनेवाले दो चक्रों (चक्करों) को तो **ब्रह्माणः**=सर्वज्ञानी पुरुष **ऋतुथा**=उस-उस समय के अनुसार **विदुः**=जानते ही हैं। दहेज (बहुत) के लेने के लिये आनेवाला चक्र और विवाह के लिये आनेवाला चक्र तो सबको पता लगता ही है। (२) **अथ**=परन्तु **एकं चक्रम्**=पहला चक्र, जब कि वरपक्षवाले पूछताछ के लिये अपने किसी मित्र के यहाँ आकर ठहरे, **यद् गुहा**=जो चक्र संवृत-सा है (गुह संवरणे) **तद्**=उस चक्र को तो **अद्धातयः**=उस चक्र के ज्ञाता **इत्**=ही, अर्थात् उस चक्र में हिस्सा लेनेवाले ही **विदुः**=जानते हैं। उस समय वर के माता-पिता व उनके वे मित्र, जिनके कि यहाँ आकर प्रथम चक्र में वे ठहरे, वे ही इस चक्र के विषय में जानते हैं।

भावार्थ—विवाह प्रसंग में सर्वप्रथम जानकारी के लिये लगाया गया चक्र गुप्त ही होता है। दहेज व विवाह के लिये लगनेवाले चक्र तो सब कोई जानते ही हैं।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्याविवाहः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वरपक्षवालों के लिये प्रस्थान काल में 'नमस्कार'

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च। ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः ॥ १७ ॥

(१) अब विवाह सम्पन्न हो जाने पर जब सूर्या पतिगृह की ओर जाने के लिये रथ पर आरूढ़ हो जाती है तो विदा देते हुए कन्या पक्षवाले सब व्यक्ति सर्वप्रथम **'सूर्यायै'**=सूर्या के लिये **नमः**

अकरम्-नमस्कार करते हैं। सूर्या को यही प्रेरणा देते हैं कि तूने इस कुल व उस कुल की लाज रखने के लिये शुभ व्यवहार ही करना है। तेरा व्यवहार ही हमारे मानापमान का कारण बनेगा, सो बड़ा ध्यान करना। नमस्करणीय बने रहना। (२) **देवेभ्यः**=अब बरात के साथ आये देवों के लिये **नमः प्रकरम्**=हम नमस्कार करते हैं। आपने इस सब प्रसंग की शोभा बढ़ाकर हमें कृतकृत्य किया। (३) **मित्राय वरुणाय च**=वर के माता-पिता के लिये, जो कि स्नेह व निर्द्वेषता की भावना से ओतप्रोत हैं, उनके लिये तो हम नमस्कार करते ही हैं। वे तो हमारे लिये सदा नमस्करणीय होंगे ही। इन नव दम्पती में वे स्नेह व अद्वेष को भरने का ध्यान करेंगे। (४) इनके अतिरिक्त **ये भूतस्य प्रचेतसः**=जो प्राणियों के प्रकृष्ट ध्यान करनेवाले देव हैं **तेभ्यः**=उन सब देवों के लिये **इदं नमः अकरम्**=इस नमस्कार को करते हैं। सब देव इन नव दम्पती का भी रक्षण करें। सब देवों का अनुग्रह इनकी समृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—कन्या पक्षवाले 'सूर्या' के प्रस्थान के समय सूर्या को नमस्कार करते हुए सबको नमस्कार पूर्वक विदा देते हैं।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सौमार्कौ ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

नव दम्पती का कार्य विभाग

पूर्वापरं चरतो मायैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टं ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥ १८॥

(१) घर में पहुँचकर **एतौ**-ये दोनों **शिशू**=अपनी बुद्धि को स्वाध्याय के द्वारा तीव्र बनानेवाले युवक और युवति **मायया**=अपने प्रज्ञान के द्वारा **पूर्वापरं चरतः**=(पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रं) ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करते हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान का सम्पादन करके अब ये गृहस्थ में प्रवेश करते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम समुद्र था। उसे तैरकर ये द्वितीय समुद्र में आते हैं। (२) इस **अध्वरम्**=गृहस्थयज्ञ में ये **क्रीडन्तौ**=क्रीड़क की मनोवृत्ति बनाकर **परिभातः**=सब गतियाँ करते हैं। क्रीड़क की मनोवृत्ति के होने पर कष्ट नहीं होते। कष्टों को ये हँसते हुए सहन कर लेते हैं। इस वृत्ति के अभाव में मुसीबत ही मुसीबत लगने लगती है। गृहस्थ को 'अध्वर' इसलिए कहा है कि इसमें यथासंभव अहिंसा व पवित्रता को बनाये रखना है। (३) इन पति-पत्नी में **अन्यः**=एक पति तो **विश्वानि भुवना**=घर में रहनेवाले सब प्राणियों का **अभिचष्टे**=ध्यान करता है (looks after)। पति का कार्य रक्षण है। घर में सबकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने का कर्त्तव्य पति का होता है। (४) **अन्यः**=गृह नाटक का दूसरा मुख्य-पात्र पत्नी **ऋतून् विदधत्**=ऋतुओं को (a period fouonrable for conception) गर्भाधान के लिये उचित समयों को धारण करती हुई **पुनः जायते**=फिर पुत्र के रूप में जन्म लेती है। पत्नी का कार्य उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देना है। पति ने उस सन्तान के रक्षण की पूर्ण व्यवस्था करनी है।

भावार्थ—समझदार पति-पत्नी क्रीड़क की मनोवृत्ति से गृहस्थ को सुन्दरता से निभाते हैं। पत्नी उत्तम सन्तान को जन्म देती है तो पति उसके रक्षण का उत्तरदायित्व लेता है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—चन्द्रमाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पति

नवोंनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ १९॥

(१) मानव स्वभाव कुछ इस प्रकार का है कि वह एक चीज से कुछ देर बाद ऊब जाता है। 'गृहस्थ में पति-पत्नी परस्पर ऊब न जाएँ' इस दृष्टिकोण से **जायमानः**-अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ पति **नवः नवः भवति**-सदा नवीन बना रहता है, उसका जीवन पुराणा-सा हुआ नहीं प्रतीत होता। उसका ज्ञान प्रतिदिन बढ़ता चलता है, स्वभाव को वह अधिकाधिक परिष्कृत बनाता है। कार्यक्षेत्र को कुछ व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है। (२) यह **अह्नां केतुः**-दिनों का प्रकाशक होता है। अर्थात् दिनों को प्रकाशमय बनाता है। अधिक से अधिक स्वाध्याय के द्वारा प्रकाशमय जीवनवाला होता है। (३) **उषसां अग्रं एति**-उषाओं के अग्रभाग में आता है, अर्थात् बहुत सवेरे उठकर क्रियामय जीवनवाला बनता है। और **आयन्**-गतिशील होता हुआ **देवेभ्यः**-देवों के लिये **भागम्**-हिस्से को **विदधाति**-विशेषरूप से धारण करनेवाला होता है। अर्थात् यज्ञों को करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होता है। (५) **चन्द्रमाः**-आह्लादमय मनोवृत्तिवाला होता हुआ **दीर्घं आयुः**-दीर्घ जीवन को **प्रतिरते**-खूब विस्तृत करता है। मन की प्रसन्नता उसे दीर्घ जीवनवाला बनाती है।

भावार्थ—स्व-शक्तियों का विकास करता हुआ अपनी नवीनता बनाए रखता है, (ख) स्वाध्याय द्वारा अपने दिनों का प्रकाशमय बनाता है, (ग) बहुत सवेरे उठकर क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाता है, (घ) यज्ञों को करके यज्ञशेष का ही सेवन करता है, (ङ) प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता हुआ दीर्घजीवनवाला होता है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पत्नी

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ २० ॥

(१) पत्नी इस गृहस्थरूप रथ में आरूढ़ हो। 'इस रथ को वह कैसा बनाये' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे **सूर्ये**-सविता की पुत्रि! तू **आरोह**-इस गृहस्थ-रथ में आरूढ़ हो। जो रथ **सुकिंशुकम्**-उत्तम प्रकाशवाला है। अर्थात् पत्नी ने भी स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान के प्रकाश को उत्तरोत्तर बढ़ाना है। **शल्मलिम्**-(शल्-to agitate) जिस रथ से कम्पित करके मल को अलग कर दिया गया है। ज्ञान से राग-द्वेषरूप मल दूर होते ही हैं। **विश्वरूपम्**-उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का जो विरूपण करनेवाला है। अर्थात् सदा प्रभु के ध्यान की वृत्तिवाला पत्नी ने होना है। **हिरण्यवर्णम्**- देदीप्यमान वर्णवाला हो। स्वास्थ्य के कारण यह चमकता हो। **सुवृतम्**-उत्तम वर्जनवाला है। पत्नी ने सदा कर्मों को उत्तम ढंग से करना है। **सुचक्रम्**-यह गृहस्थ रथ उत्तम चक्रवाला है। पत्नी ने इस गृहस्थ में सदा उत्तम कर्मों को करना है। (२) इस प्रकार के गृहस्थ रथ पर आरोहण करती हुई पत्नी से कहते हैं कि तू इस **वहतुम्**-गृहस्थ रथ को **पत्ये**-पति के लिये **अमृतस्य लोकम्**-नीरोगता का स्थान व **स्योनम्**-सुखकर **कृणुष्व**-बना। पत्नी के व्यवहार पर ही इस बात का निर्भर करता है कि घर में नीरोगता व सुख बना रहे। अधिक भोग-प्रवणता का न होना मौलिक बात है और उसके साथ भोजनाच्छादन की व्यवस्था के ठीक होने पर सुख ही सुख बना रहता है।

भावार्थ—पत्नी घर को अमृतता व कल्याण का स्थान बनाये। इसके लिये वह ज्ञान-प्रवण-वासनाओं को दूर फेंकनेवाली, प्रभु-स्मरण की वृत्तिवाली स्वस्थ-सद्व्यवहारवाली व उत्तम कर्मों में लगी हुई हो।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

पति व पिता का कर्त्तव्य-विभाग

उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येऽ३षा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे।
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥ २१ ॥

(१) जब कन्या विवाहित होकर चली जाती है तो कन्या के पिता के लिये कहते हैं कि अब **अतः**=इस कन्या की ओर से **उत् ईर्ष्व**=बाहर (out=उत्) गतिवाले होइये। अर्थात् इस कन्या के विषय में बहुत न सोचते रहिये। **एषा**=यह **हि**=निश्चय से **पतिवती**=अब प्रशस्त पतिवाली है। वह पति ही इसकी रक्षा आदि के लिये उत्तरदायी है। (२) पिता तो सदा यही निश्चय करें कि **विश्वावसुम्**=उस सबके बसानेवाले प्रभु को **नमसा**=नम्रतापूर्वक **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **ईडे**=स्तुति करता हूँ। प्रभु को सबका बसानेवाला समझें, प्रभु इस कन्या के निवास को भी उत्तम बनाएँगे। (३) पिता के लिये कहते हैं कि अब आप **अन्याम्**=दूसरी कन्या के **इच्छ**=रक्षणादि की इच्छा करिये। जो कन्या **पितृषदम्**=पितृकुल में ही विराजमान है, पर **व्यक्ताम्**=प्रादुर्भूत यौवन के चिह्नोंवाली है। (४) **जनुषा**=आपके यहाँ जन्म लेने के कारण **स**=वह **ते भागः**=आपका कर्त्तव्य भाग है। विवाहित कन्या का रक्षण तो पति करेगा। इस अविवाहित का रक्षण आपने करना है। **तस्य विद्धि**=उस अपने कर्त्तव्य भाग को समझिये।

भावार्थ—विवाहित कन्या का हर समय ध्यान न करके पिता को उसकी दूसरी बहिन का ही ध्यान करना चाहिए। विवाहित कन्या के लिये प्रभु से प्रार्थना करनी ही उचित है कि वे उसके जीवन को सुन्दर बनाये।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

विवाहित के लिये प्रार्थना, अविवाहित का ध्यान

उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा। अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं१ सं जायां पत्या सृज ॥ २२ ॥

(१) **अतः**=इस विवाहित कन्या को चिन्ता से **उत् ईर्ष्व**=तू ऊपर उठ। तू तो यही प्रार्थना कर कि हे **विश्वावसो**=सबके बसानेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **नमसा**=नम्रता के साथ **ईडामहे**=स्तुत करते हैं। (२) अब इस विवाहित कन्या के भार को पति की सुबुद्धि पर छोड़कर आप **अन्याम्**=दूसरी **प्रफर्व्यम्**=(प्रफर्वी=a woman having excellent hips or going in a graceful wey) बृहन्नितम्ब-हंसवारणगामिनी युवति कन्या को **इच्छ**=रक्षित करने की इच्छा करिये और उसे **जायाम्**=पत्नी के रूप में **पत्ये**=पति के लिये **सं सृज**=संसृष्ट करिए, पिता को चाहिए कि विवाहित कन्या के विषय में बहुत दखल न देते रहें, प्रभु पर विश्वास रखें कि वे उसके पति को सुबुद्धि देंगे और सब कार्य ठीक से चलेगा। पिता अधिक हस्ताक्षेप करते रहें तो पतिगृहवालों को यह ठीक नहीं लगता और वह युवति भी वस्तु-स्थिति को न समझती हुई छोटी-छोटी बातों से रुष्ट हो पितृमुखापेक्षी बनी रहती है। पति-पत्नी के प्रेम में कमी आ जाती है।

भावार्थ—'विवाहित कन्या के लिये केवल प्रार्थना करना और अविवाहित की पूरी चिन्ता करना' यह माता-पिता का कर्त्तव्य है।

ऋषि:—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशी:प्राया ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

विवाहिता के लिये प्रार्थना का स्वरूप

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात्सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥ २३ ॥

(१) गत मन्त्र में कहा था कि विवाहिता कन्या के लिये पिता प्रभु से प्रार्थना करें। उस प्रार्थना को स्वरूप यह हो कि हमारी कन्या **अनृक्षरा:**=कण्टकरहित कुटिलता से शून्य **पन्था:**=मार्ग से चलनेवाली हो। **येभि:**=जिनके कारण **सखाय:**=उसके पति के अन्य मित्र भी **वरेयम्**=हमारी अन्य कन्या के वरण के लिये **न:**=हमारे समीप **यन्ति**=गति करते हैं। हमारी विवाहिता कन्या के उत्तम व्यवहार को देखकर दूसरों की भी इच्छा इस रूप में होगी कि हमें भी इसी कुल की कन्या मिल सके तो ठीक है। (२) हम भी यह चाहते हैं कि हमारी कन्या को **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) जितेन्द्रिय **सं भग:**=उत्तम ऐश्वर्यशाली पुरुष **सं भिनीयात्**=सम्यक् शास्त्रविधि के अनुसार ले जानेवाला हो और हे **देवा:**=सब देवो! इन युवक-युवति का **जास्पत्यम्**=पति-पत्नी भाव **सं सुयमम्**=मिलकर उत्तम शासन व नियमवाला हो। हमारा **जास्पति**=(son-in-lew) धर्मपुत्र अपने जास्पत्य को, धर्मपुत्रत्व को अच्छे प्रकार से निभाये।

भावार्थ—विवाहित कन्या का व्यवहार इतना उत्तम हो कि अन्य लोग भी हमारे कुल की कन्या को चाहे उन्हें भी हमारे कुल से कन्या के वरण की कामना हो। हमें हमारी कन्याओं के लिये जितेन्द्रिय ऐश्वर्यशाली पति प्राप्त हों।

ऋषि:—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशी:प्राया ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

संस्कार समाप्ति पर नव विवाहित पति का पत्नी के प्रति कथन

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥ २४ ॥

(१) वर वधू से कहता है कि **त्वा**=तुझे **वरुणस्य**=वरुण के **पाशात्**=जाल से, बन्धन से **प्रमुञ्चामि**=प्रकर्षेण छुड़ाता हूँ। पिता वरुण हैं। वरुण 'पाशी' है। पिता भी सन्तानों को नियम पाश में बाँध करके रखते हैं। सन्तान को श्रेष्ठ बनाने के लिये यह आवश्यक ही है। इस वरुण के पाश से वर ही आकर उसे छुड़ाता है **येन**=जिस पाश से **सुशेव:**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **सविता**=प्रेरक पिता ने **त्वा अबध्नात्**=तुझे बाँधा हुआ था। पिता का यह कर्त्तव्य ही है कि वह सन्तानों को नियमपाश में बाँधकर चलें। कन्याओं को सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक ही होता है। (२) पिता कहते हैं कि अब इधर पाश से छुड़ाकर मैं तुझे **ऋतस्य योनौ**=ऋत के गृह में अर्थात् जिस घर में सब चीजें ऋतपूर्वक होती हैं, **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में अर्थात् जहाँ सब कार्य शुभ ही होते हैं उस घर में **पत्या सह दधामि**=पति के साथ धारण कराता हूँ। तू अपने पति के साथ घर में प्रेम से रहना, वहाँ ऋत और सुकृत का पालन करना। अपने घर में सब कार्यों को ऋत के साथ करना, ठीक समय व ठीक स्थान पर करना तथा तेरे सब कार्य पुण्य हों।

भावार्थ—पति कन्या को पितृगृह के सब बन्धनों से छुड़ाकर अपने घर में ले जाता है। वहाँ इसने पिता के उपदेश के अनुसार सब कार्य ऋतपूर्वक सुकृतमय करने हैं।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सुपुत्रा-सुभगा

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ २५ ॥

(१) वर कन्यापक्षवालों से कहता है कि मैं आपकी इस कन्या को **इतः**-इधर से **प्रमुञ्चामि**-प्रकर्षेण मुक्त कर रहा हूँ न **अमुतः**-उधर से नहीं। **अमुतः**-उस तरफ तो **सुबद्धां करम्**-मैं इसे सुबद्ध कर रहा हूँ। अर्थात् इस घर से मैं इसे ले जा रहा हूँ। यह अब उस घर में सुबद्ध होकर उसे उत्तम बनाने का ध्यान करेगी। (२) कन्या के पिता वर से कहते हैं कि—हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय **मीढ्वः**-सब सुखों का सेचन करनेवाले युवक बस ऐसा करना कि **यथा इयम्**-जिस से यह **सुपुत्रा**-उत्तम पुत्रोंवाली तथा **सुभगा**-उत्तम ऐश्वर्यवाली **असति**-हो। इसे पुत्र के अभाव में असफलता अनुभव होती रहेगी और धन के अभाव में चिन्ता बनी रहेगी। ऐसा जीवन तो बड़ा दुःखी हो जाएगा। तूने इन्द्र बनना, जितेन्द्रिय बनना। इस से तुम्हारी शक्तियाँ ठीक बनी रहेंगी। इस अपनी पत्नी पर सुखों की वर्षा करना तेरा कर्त्तव्य है। इसमें तूने प्रमाद न करना।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय व पत्नी को सुखी रखनेवाला हो। उसे वह सुपुत्रा व सुभगा बनाये।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पिता का उपदेश

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २६ ॥

(१) पतिगृह को जाते समय पिता कन्या को अन्तिम उपदेश देता है कि **पूषा**-पोषण करनेवाला यह पति **हस्तगृह्य**-पाणिग्रहण करके, यथाविधि तेरे हाथ का ग्रहण करके **त्वा**-तुझे **इतः नयतु**-यहाँ से अपने घर ले जाये। इस समय **अश्विना**-तेरे धर्मपिता व धर्ममाता **त्वा**-तुझे **रथेन**-रथ के द्वारा **प्रवहताम्**-घर की ओर ले जानेवाले हों। (२) तू **गृहान् गच्छ**-पतिगृह की ओर जानेवाली हो, **यथा**-जिससे तू **गृहपत्नी असः**-वहाँ जाकर गृहपत्नी बन पाये। तूने गृह की पत्नी बनना है, सारे गृह के रक्षण के उत्तरदायित्व को अपने कन्धे पर लेना है। घर के सारे प्रबन्ध का भार उठाना है। इसके लिये आवश्यक है कि **वशिनी**-अपनी सब इन्द्रियों को वश में करनेवाली **त्वम्**-तू **विदथम्**-ज्ञानपूर्वक समझदारी से **आवदासि**-सब बात करनेवाली हो। तेरी सब बातें बड़े सोच-विचार के साथ हों। तेरी प्रत्येक बात का घर पर प्रभाव पड़ना है। सो अपना नियन्त्रण करती हुई, समझदारी से सब बात करती हुई सच्चे अर्थों में गृहपत्नी बनना।

भावार्थ—गृहपत्नी के लिये आवश्यक है कि—(क) सब इन्द्रियों को वश में करके चले तथा (ख) सब बातें समझदारी से करे।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम सन्तान व गार्हपत्य

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥ २७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वशिनी बनने पर **इह**-इस जीवन में **प्रजया**-उत्तम सन्तान के द्वारा **ते**-तेरा **प्रियम्**-आनन्द **समृध्यताम्**-वृद्धि को प्राप्त हो और **अस्मिन् गृहे**-इस घर में

गार्हपत्याय-घर के रक्षणात्मक कार्य के लिये **जागृहि**-तू सदा जागरित रह। पत्नी की सफलता के दो ही मूल सूत्र हैं—(क) एक तो वह उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो। सन्तान के बिना घर वीरान-सा लगता है और पति-पत्नी के परस्पर प्रेम में भी कमी आ जाती है। (ख) दूसरी बात यह है कि वह सदा सावधान व जागरित हो। घर का किसी प्रकार से नुकसान न होने दे। अपने गार्हपत्य रूप कार्य को पूर्ण सावधानी से करनेवाली हो। तभी घर समृद्ध होता है। (२) इस गृहस्थ में **एना पत्या**-इस पति के साथ **तन्वं सं सृजस्व**-तू अपने शरीर व रूप को एक करके, तू उसकी अर्धाङ्गिनी ही बन जा। तुम दोनों अब दो न रहकर एक हो जाओ। और इस प्रकार परस्पर मेल से सुन्दर गृहस्थ को बिताकर **अधा**-अब **जिव्री**-जरावस्था को प्राप्त करने पर **विदथम्**-ज्ञान को **आवदाथः**-उच्चारित करनेवाले होवो। अर्थात् तुम्हारा सारा गृहस्थ सुन्दरता से बीते। बड़ी उमर में पहुँचकर तुम ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनो। गृहस्थ के साथ ही तुम्हारा जीवन समाप्त न हो जाये।

भावार्थ—एक युवति गृहपत्नी बनने पर उत्तम सन्तान की प्राप्ति के आनन्द को अनुभव करे और घर के कार्यों में सदा जागरूक रहे।

ऋषिः—सूर्या सावित्री॥ देवता—नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥
स्वरः—गान्धारः॥

अनुराग तथा क्रियाशीलता

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते। एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते॥ २८॥

(१) (पूर्वं नीलंपश्चात् लोहितं इति नील लोहितं) ब्रह्मचर्याश्रम में जो हृदय सांसारिक रंगों में न रंगा जाकर बिल्कुल नीरंग (=कृष्ण)-सा था अब गृहस्थ में आने पर वह **लोहित**-प्रेम की कुछ लालिमावाला **भवति**-होता है। 'अनुराग' शब्द कुछ लालिमा के भाव को व्यक्त कर रहा है। इस युवति का हृदय अब बिल्कुल प्रेमशून्य, ठण्डा-ही-ठण्डा नहीं है। ऐसा होने पर तो यह पति के जीवन को बड़ी उदासवाला बना देती। यह पति के प्रेम की पूर्ण प्रतिक्रियावाली होती है। (२) इसके जीवन में **कृत्यासक्तिः**-कर्मों के प्रति रुचि **व्यज्यते**-प्रकट होती है। यह कर्मों में बड़ी दिलचस्पी लेती है, अकर्मण्यवाला इसका जीवन नहीं। (३) इन दो बातों के होने पर, अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय तथा कर्मों में रुचिवाली जब यह युवति होती है तो **अस्याः**-इसके **ज्ञातयः**-सब रिश्तेदार-सम्बन्धी **राधन्ते**-बढ़ते हैं, अर्थात् सबको बड़ी प्रसन्नता होती है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह कि **पतिः**-इसके पति **बन्धेषु बध्यते**-स्नेहपाशों से इसके साथ बद्ध हो जाते हैं। अर्थात् पति को पत्नी पर पूर्ण प्रेम होता है।

भावार्थ—वधू प्रेममय हृदय से तथा अपनी क्रियाशीलता से सभी को अपनानेवाली होती है और पति के पूर्ण प्रेम को प्राप्त कर पाती है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री॥ देवता—वधूवासः संस्पर्शनिन्दा॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

गृहपत्नी के चार गुण

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु। कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम्॥ २९॥

(१) नव विवाहित वधू से कहते हैं कि तू **शामुल्यम्**-(शम, उल्दाहे) ऐसी बातों को जो शान्ति का दहन कर देती हैं **परादेहि**-दूर कर दे। कभी ऐसा वाक्य न बोल जो घर में अशान्ति का कारण बने। (२) तू 'व्यये चामुक्तहस्तया' इस मनु वाक्य के अनुसार व्यय में अमुक्त-हस्ता होती हुई भी **ब्रह्मभ्यः**-ज्ञानी ब्राह्मणों के लिये **वसु विभजा**-धन को देनेवाली हो, अर्थात् घर

में दान की वृत्ति को नष्ट न होने देना। (३) एषा=ऐसी गृहपत्नी ही कृत्या=बड़ी क्रियाशील होती हुई पद्वती=उत्कृष्ट पाँवोंवाली होती हुई, अर्थात् लेटे न रहनेवाली भूत्वी=होकर जाया=उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देनेवाली पतिं आविशते=पति के हृदय में प्रवेश करती है, अर्थात् पति के हृदय में इसके लिये प्रेम उत्पन्न होता है।

भावार्थ—पत्नी का पहला गुण यह है कि शान्तिभंग का कोई कार्य न करें। दूसरा यह कि दानवृत्तिवाली हो। तीसरे क्रियाशील हो। चौथे उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देनेवाली बने।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—वधूवासः संस्पर्शनिन्दा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पति ने घर में ही नहीं बैठे रहना

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया। पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते ॥ ३० ॥

(१) एक युवक जिसका कि तनूः=शरीर रुशती=देदीप्यमान होता है, वह यत्=यदि पतिः=गृहस्थ में प्रवेश करने पर, पति बनने पर वध्वः वाससा=वधू के वस्त्रों से स्वं अंगम्=अपने अङ्गों को अभिधित्सते=आच्छादित करना चाहता है, अर्थात् पत्नी के वस्त्र पहनकर घर पर ही बैठा रहता है। पत्नी के साथ गपशप ही मारता रहता है तो उसका शरीर अमुया पापया=उस पापवृत्ति से अश्रीरा भवति=बिना श्री के हो जाता है, शोभाशून्य हो जाता है। (२) वधू के वस्त्रों को पहनकर घर में ही बैठे रहने का भाव प्रेमासक्त होकर अकर्मण्य बन जाने से है। विवाहित होने पर भी एक युवक हृदय-प्रधान होकर अपने कर्त्तव्यों को उपेक्षित न कर दे। पत्नी के प्रति आसक्ति उसे कर्त्तव्य विमुख न बना दे। ऐसा होने पर भोग-प्रधान होकर नष्ट-श्रीवाला हो जाता है।

भावार्थ—नव विवाहित युवक को चाहिये कि भोग-प्रधान जीवनवाला न बन जाये। हर समय घर में ही न बैठा रहे।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—यक्ष्मनाशिनी दम्पत्योः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

नीरोगता

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु। पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ ३१ ॥

(१) गत मन्त्र में उल्लेख था कि पति पत्नी के प्रति आसक्त होकर भोग-प्रधान जीवनवाला न बन जाये। भोग-प्रधान जीवन से रोगों के आ जाने की आशंका है। सो कहते हैं कि वध्वः=इस वधू के चन्द्रं वहतुम्=इस आह्लादमय वैवाहिक जीवन में ये यक्ष्माः=जो रोग जनात्=इस पति से अनुयन्ति=अनुक्रमेण आ जाते हैं, यज्ञियाः देवाः=आदर के योग्य, घरों में समय-समय पर आनेवाले अतिथि तान्=उन बातों को पुनः=फिर नयन्तु=दूर ले जायें यतः आगताः=जिन कारणों से ये रोग आये थे। (२) विद्वान् अतिथि आकर उन व्यवहारों को ज्ञानोपदेश से दूर करने का प्रयत्न करें, जिन कारणों से कि रोग आ जाते हैं।

भावार्थ—विद्वान् अतिथि ही यज्ञिय देव हैं। ये समय-समय पर घरों में आकर ज्ञानोपदेश से हमारे जीवनों को नीरोग बनाते हैं।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

चोर आदि के भय का न होना

मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ३२ ॥

(१) ये=जो परिपन्थिनः=चोर आदि विरोधी व्यक्ति दम्पती=इन पति-पत्नी को

आसीदन्ति-समीपता से प्राप्त होते हैं वे मा विदन्-मत प्राप्त हों। मार्ग में या घर पर चोर आदि का भय न हो। (२) सुगेभिः-सुखकर गमनों से दुर्गम्-कठिनता से गन्तव्य प्रदेशों को अतीताम्-लाँघ जाएँ और अरातयः-शत्रु अपद्रान्तु-दूर ही रहें, दूर भाग जाएँ।

भावार्थ—मार्ग में या घर पर इन पति-पत्नी को शत्रुओं का भय न हो।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वधू का स्वागत

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन ॥ ३३ ॥

(१) जब बरात लौटती है और घर पर पहुँचती है, उस समय सभी परिचित पड़ोसी वधू दर्शन के लिये उपस्थित होते हैं और वर सब से कहता है कि इयं वधूः-यह वधू सुमंगलीः-उत्तम मंगल स्वभावोंवाली है समेत-आप सब इकट्ठे होवें और पश्यत-इसे देखें। (२) आकर अस्यै-इसके लिये सौभाग्यं दत्वाय-सौभाग्य के आशीर्वाद को देकर अथ-अब अस्तम्-अपने-अपने घरों को विपरेतन-वापिस जाइये। आपका आशीर्वाद इसके सौभाग्य के वर्धन को करनेवाला हो।

भावार्थ—सब परिचित बन्धु पड़ोसी आकर नव वधू को सौभाग्य का आशीर्वाद दें।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—उरोबृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

पत्नी रसवती kitchen को संभाले

तृष्टमेतत् कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे। सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति ॥ ३४ ॥

(१) घर में आने पर वधू का सर्वमहान् कर्त्तव्य घर को सम्हालना है, घर में भी रसोई का प्रबन्ध सुन्दरता से करना है। रसोई के प्रबन्ध पर ही घर के सब व्यक्तियों के स्वास्थ्य का निर्भर है। वह अन्नों के विषय में यह पूरा ध्यान करे कि—(क) एतत् तृष्टम्-यह गर्म होने के कारण अत्यन्त प्यास को पैदा करनेवाला है, (ख) एतत् कटुकम्-यह कटु है, काटनेवाला है, (ग) एतत् अपाष्ठवत्-यह फोकवाला है, (घ) विषवत्-यह विषैले प्रभाव को पैदा करनेवाला है, सो एतत् न अत्तवे-यह खाने के लिये ठीक नहीं है। इस प्रकार यह वधू भोजन का पूरा ध्यान करे। (२) पति को भी चाहिए कि कुछ विशाल हृदयवाला हो, पत्नी की मनोवृत्ति को पूरी तरह समझे। समझकर इस प्रकार से वर्ते कि पत्नी का जी दुःखी न हो। इस सूर्याम्-ज्ञानदीप्त क्रियाशील वधू को यः-जो ब्रह्मा-बड़े हृदयवाला ज्ञानी पुरुष विद्यात्-ठीक प्रकार से समझे सः इत्-वह ही वाधूयं अर्हति-इस वधू प्राप्ति के कर्म के योग्य है। नासमझ पति-पत्नी को कभी प्रसन्न नहीं रख सकता।

भावार्थ—वधू पाक-स्थान की अध्यक्षता करती हुई न खाने योग्य अन्नों को घर से दूर रखे। पति भी पत्नी को समझता हुआ अपने व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रखे।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'आशसन-विशसन-विकर्तन'

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्। सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ॥ ३५ ॥

(१) (क) आशसनम्-घर में चारों ओर शासन, अर्थात् घर के सब व्यक्तियों से कार्यों को ठीक ढंग से कराना, (ख) विशसनम्-विशिष्ट इच्छाओंवाला होना, अर्थात् घर में उत्कृष्ट इच्छाओं से घर को उन्नत करने का ध्यान करना अथो-और (ग) अधिविकर्तनम्-कपड़ों को

विविधरूपों में काटने आदि का काम करना, **सूर्यायाः**=सूर्या के **रूपाणि**=इन रूपों को **पश्य**=देखिये। अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार जैसे सूर्या भोजन की व्यवस्था को अपने अधीन रखती है, उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार सूर्या घर का समुचित शासन करती है, उत्कृष्ट इच्छाओंवाली होती हुई घर को उन्नत करती है तथा कपड़ों के सीने आदि के काम को भी स्वयं करती है। (२) **ब्रह्मा**=घर के निर्माण करनेवाला समझदार पति **तु**=तो **तानि**=सूर्या के उन कार्यों को **शुन्धति**=शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। अर्थात् उनमें जो थोड़ी बहुत कमी हो उसे उचित परामर्श देकर ठीक करने के लिये यत्नशील होता है।

भावार्थ—गृहपत्नी (क) घर का शासन करती है, (ख) नये-नये initiatives को लेकर घर को उन्नत करती है, (ग) वस्त्रों के काटने सीने आदि के काम को स्वयं करती है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'भग-अर्यमा-सविता-पुरन्धि-देवाः'

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ ३६ ॥

(१) पति पत्नी से कहता है कि मैं **सौभगत्वाय**=सौभाग्य के लिये, गृह को सुभग सम्पन्न बनाने के लिये **ते हस्तं गृह्णामि**=तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ। तेरे साथ मिलकर मेरे द्वारा यह घर सौभाग्यवाला हो। **यथा**=जिससे **मयापत्या**=मुझ पति के साथ इस घर को सौभाग्य सम्पन्न बनाती हुई तू **जरदष्टिः असः**=जरावस्था का व्यापन करनेवाली हो। इस सुभग गृह में उत्तम जीवनवाले हम दीर्घजीवन को प्राप्त करें। (२) **भगः, अर्यमा, सविता, पुरन्धिः, देवाः**=भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि और देवों ने **त्वा**=तुझे **गार्हपत्याय**=गृहपतित्व के लिये, गृह के कार्य को सम्यक् चलाने के लिये **मह्यम्**=मेरे लिये **अदुः**=दिया है। अर्थात् तेरे माता-पिता ने यह देखकर कि—(क) मैं धन को उचित रूप में कमानेवाला हूँ (भगः), (ख) काम-क्रोधादि शत्रुओं का शिकार नहीं होता (अर्यमा), (ग) निर्माणात्मक कार्यों में अभिरुचिवाला हूँ (सविता), (घ) पालक बुद्धि से युक्त हूँ (पुरन्धिः), (ङ) उत्तम गुणों को अपनाये हुए हूँ (देवाः)। यह सब कुछ देखकर ही उन्होंने तेरे हाथ को मेरे हाथ में दिया है।

भावार्थ—पति को ऐश्वर्य कमानेवाला, कामादि को वश में करनेवाला, निर्माणरुचि, पालक बुद्धिवाला व दिव्य गुणों को धारण करनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—चित्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'उत्तम सन्तान की कामनावाले' पति-पत्नी

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ ३७ ॥

(१) हे **पूषन्**=अपनी शक्तियों का उचित पोषण करनेवाले तथा परिवार का समुचित पोषण करनेवाले युवन्! तू **तां शिवतमाम्**=उस अत्यन्त मंगलमय स्वभाववाली पत्नी को **एरयस्व**=प्रेरित करनेवाला हो। पति में उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिये कामना हो और पत्नी में उस भावना की कुछ कमी हो तो सन्तान कभी सुन्दर व स्वस्थ नहीं उत्पन्न होते। इसलिए पति को चाहिए कि पत्नी को भी प्रेरणा दे और पत्नी में भी उस भावना के उदय होने पर ही पति-पत्नी सन्तान प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। उस पत्नी को तू प्रेरणा देनेवाला हो **यस्याम्**=जिसमें **मनुष्याः**=विचारशील

पति **बीजम्**-शक्ति को **वपन्ति**-स्थापित करते हैं। यह पत्नी में शक्ति का स्थापन भूमि में बीज को बोने के समान है। (२) पत्नी वही ठीक है **या**-जो **उशती**-उत्तम सन्तान की कामनावाली होती हुई **नः**-हमारे लिये **ऊरू विश्रयाते**-ऊरुओं को खोलनेवाली होती है। भोग की वृत्ति से इन क्रियाओं के होने पर 'धर्मपत्नीत्व' नष्ट हो जाता है। **यस्याम्**-जिसमें हम भी **उशन्तः**-उत्तम सन्तान की कामनावाले होते हुए ही **शेपं प्रहराम**-जननेन्द्रिय को प्राप्त कराते हैं। सन्तान की कामना से यह बीजवपन 'वीर्य-दान' कहलाता है। भोग के होने पर यही 'वीर्य-विनाश' हो जाता है।

भावार्थ—पति 'पूषा' हो, पत्नी 'शिवतमा'। दोनों उत्तम सन्तान की कामनावाले होकर ही परस्पर सम्बद्ध हों। यह सम्बन्ध शक्तिक्षय का कारण न बनेगा।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अग्नि के द्वारा 'सम्बन्ध'

तुभ्य॑मग्ने॒ पर्य॑वहन्त्सू॒र्यां व॑ह॒तुना॑ स॒ह। पुनः॒ पति॑भ्यो जा॒यां दा अ॑ग्ने प्र॒जया॑ स॒ह ॥ ३८ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **सूर्याम्**-इस सूर्या को इसके माता-पिता **वहतुना सह**-सम्पूर्ण दहेज के साथ **अग्रे**-पहले **तुभ्यम्**-तेरे लिये **पर्यवहन्**-प्राप्त कराते हैं। माता-पिता को अपनी कन्या को दूसरे घर में भेजते हुए मन में कुछ आशंका का होना स्वाभाविक ही है। वे प्रभु से कहते हैं कि हम तो इसे आपको ही सौंप रहे हैं, आपने ऐसी कृपा करना कि यह ठीक स्थान पर ही जाए। (२) हे **अग्ने**-परमात्मन्! हमने इस कन्या को आपको सौंप दिया है। **पुनः**-फिर आप ही अब इन कन्याओं को **पतिभ्यः**-योग्य पतियों के लिये **जायाः दाः**-पत्नी के रूप में दीजिये और ऐसी कृपा करिये कि यह **प्रजया सह**-प्रजा के साथ हो, उत्तम सन्ततिवाली हो। (३) यहाँ 'अग्नि' शब्द आचार्यों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। माता-पिता अपने सन्तानों के आचार्यों पर इस उत्तरदायित्व को डालते हैं कि 'हमने तो आपको सौंप दिया है। आप ही अब योग्य पतियों को सौंपने की व्यवस्था कीजिये'। इस व्यवस्था में आचार्य उन सन्तानों के गुण-दोषों को अधिक अच्छी तरह जानने के कारण अधिक ठीक सम्बन्ध करा पाते हैं।

भावार्थ—कन्याओं के विवाह सम्बन्ध आचार्यों के माध्यम से होने पर सम्बन्ध के अनौचित्य की आशंका नितान्त कम हो जाती है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सम्बन्ध के ठीक होने पर 'दीर्घजीवन'

पुनः॒ पत्नी॑म॒ग्निर॑दा॒दायु॑षा स॒ह वर्च॑सा। दी॒र्घायु॑रस्या॒ यः पति॒र्जीवा॑ति श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ३९ ॥

(१) **अग्निः**-आचार्य, जिसे कि कन्या के माता-पिता ने कन्या के सम्बन्ध का कार्यभार सौंपा था, **पुनः**-फिर **पत्नीम्**-पत्नी को पति के लिये **अदात्**-देता है। वह उस पत्नी को **आयुषा वर्चसा सह**-आयुष्य और वर्चस (=शक्ति) के साथ पति के लिये प्राप्त कराता है। पत्नी दीर्घायुष्य व वर्चस्वाली बनती है। (२) **अस्याः**-इस पत्नी का **यः पतिः**-जो पति है वह भी **दीर्घायुः**-दीर्घजीवनवाला होता है और **शतं शरदः**-सौ वर्ष **जीवाति**-जीनेवाला होता है। आचार्य ठीक सम्बन्ध कराके इन पति-पत्नी के दीर्घजीवन का कारण बनता है।

भावार्थ—पति-पत्नी के ठीक सम्बन्ध पर इनके दीर्घजीवन का निर्भर है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'सोम-गन्धर्व-अग्नि-मनुष्यजा'

सोमः॑ प्रथ॒मो वि॑विदे गन्ध॒र्वो वि॑विद॒ उत्त॑रः। तृ॒तीयो॑ अ॒ग्निष्टे॒ पति॑स्तु॒रीय॑स्ते मनुष्य॒जाः ॥ ४० ॥

(१) सब से प्रथमः=पहले सोमः=सोम विविदे=इस कन्या को प्राप्त करता है। अर्थात् कन्या के माता-पिता सब से पहली बात तो यह देखते हैं कि पति 'सोम' है या नहीं। पति का स्वभाव सौम्य है या नहीं। (२) फिर इस कन्या को गन्धर्वः='गां वेदवाचं धारयति' ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला पति प्राप्त करता है। यह उत्तरः=अधिक उत्कृष्ट होता है। 'सौम्यता' यदि पति का पहला गुण है तो 'ज्ञान की वाणियों को धारण करना' उसका दूसरा गुण है। (३) तृतीयः=तीसरे स्थान पर अग्निः=प्रगतिशील मनोवृत्तिवाला ते पतिः=तेरा पति है। अर्थात् तेरा पति वह है जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला है। जिसमें कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं उसने क्या उन्नति करनी? (४) तुरीयः=चौथा ते पतिः=तेरा पति वह है जो कि मनुष्यजाः=मनुष्य की सन्तान है, अर्थात् जिसमें मानवता है। जिसका स्वभाव दयालुतावाला है, क्रूरतावाला नहीं।

भावार्थ—पति में निम्न विशेषताएँ आवश्यक हैं—(क) सौम्यता, (ख) ज्ञान, (ग) प्रगतिशीलता, (घ) मानवता।

ऋषिः—सूर्या सावित्री॥ देवता—सूर्या॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पत्नी के साथ मिलकर धन व पुत्रों की प्राप्ति

सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्रये। रयिं च पुत्राँश्चादादुग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ ४१॥

(१) सोमः=सोम, जिसके लिये कन्या के माता-पिता ने अपनी कन्या को देने का निश्चय किया हुआ था, गन्धर्वाय=गन्धर्व के लिये ददत्=देनेवाला होता है। अर्थात् यदि सौम्यता के साथ ज्ञानयुक्त पति प्राप्त हो जाता है तो फिर सोम के साथ सम्बन्ध न करके इसी गन्धर्व के साथ सम्बन्ध करते हैं। गतमन्त्र के शब्दों में यह 'उत्तर' होता है। (२) गन्धर्वः=यह ज्ञानी अग्नये=प्रगतिशील मनोवृत्तिवाले के लिये ददत्=देनेवाला होता है। अर्थात् यदि सौम्यता और ज्ञान के साथ 'प्रगतिशीलता' का गुण भी मिल जाये तो वह पति 'उत्तम' होता है। यह अग्निः=प्रगतिशीलता के गुणवाला व्यक्ति भी अथो=अब इमाम्=इसको मह्यं अदात्=मुझ मानव के लिये देनेवाला होता है और वह मेरे लिये रयिं च=धन को प्राप्त कराता है च=और इस पत्नी के द्वारा पुत्रान=पुत्रों को वह मुझे प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—'सौम्य' पति ठीक है, सौम्य से अधिक उत्कृष्ट 'ज्ञानी' है, उससे भी उत्कृष्ट 'प्रगतिशील स्वभाववाला' है। इसमें मानवता-दयालुता हो तो वह इसकी शोभा को और अधिक बढ़ा देती है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री॥ देवता—सूर्या॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

गृह में ही आनन्द का अनुभव

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ४२॥

(१) पति-पत्नी को आशीर्वाद देते हुए प्रभु कहते हैं कि इह एव स्तम्=तुम दोनों इस घर में ही निवास करनेवाले बनो। मा वियौष्टम्=तुम वियुक्त मत हो जाओ। तुम्हारा परस्पर का प्रेम सदा बना रहे। विश्वं आयुः=पूर्ण जीवन को व्यश्नुतम्=तुम प्राप्त करो। (२) पुत्रैः=पुत्रों के साथ नप्तृभिः=पौत्रों के साथ क्रीडन्तौ=खेलते हुए तुम स्वे गृहे=अपने घर में मोदमानौ=आनन्दपूर्वक निवास करो। क्रीड़क की मनोवृत्ति बनाकर वर्तने से मनुष्य उलझता तो नहीं पर आनन्द में कमी नहीं आती। इससे विपरीत अवस्था में उलझ जाता है और अपने आनन्द को खो बैठता है। (३) यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति परिस्थितिवश वानप्रस्थ बनने की क्षमता नहीं रखता। वह घर में ही रहे। पर घर में पुत्र-पौत्रों में रहता हुआ उनके साथ क्रीडन करनेवाला हो, आसक्तिवाला

नहीं।

भावार्थ—पति-पत्नी का सम्बन्ध अटूट है। ये सदा मिलकर चलें, इनका वियोग न हो। पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए ये उनमें उलझें नहीं।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'पति' पत्नी से कहता है—

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४३ ॥

(१) **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु **नः प्रजां आजनयतु**=हमारी सन्तान को उत्पन्न करे। प्रजापति की कृपा से हमें उत्तम सन्तान प्राप्त हो। **अर्यमा**=हमारे सब शत्रुओं का नियमन करनेवाला प्रभु **आजरसाय**=वृद्धावस्था पर्यन्त **समनक्तु**=हमें संगत करनेवाला हो। 'अर्यमा' शब्द का बोध यहाँ इस रूप में है कि कामादि शत्रुओं का नियमन करते हुए हम दीर्घजीवनवाले हों और हमारा साथ दीर्घकाल तक बना रहे। (३) **अदुर्मंगलीः**=सब अमंगलों से रहित हुई-हुई तू **पतिलोकं आविश**=इस पतिलोक में प्रवेश कर। तेरे आने से इस घर का मंगल सदा बढ़े ही, किसी प्रकार से घर का अमंगल न हो। तू **नः**=हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले सब मनुष्यों के लिये **शं भव**=शान्ति को देनेवाली हो और **चतुष्पदे**=चार पाँववाले गवादि पशुओं के लिये भी तू **शम्**=शान्ति को करनेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी वही ठीक है जो कि उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो और जिसके कारण घर में मंगल की वृद्धि हो।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पति की कामना

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४४ ॥

(१) गत मन्त्र के प्रसंग में ही पति कहता है कि हे पत्नि! तू **अघोरचक्षुः**=कभी भी आँख में क्रोधवाली न हो और इस प्रकार **अ-पति-घ्नी एधि**=पति को न मारनेवाली हो। पत्नी सदा क्रोधी स्वभाव की हो और उसकी आँख से क्रोध ही टपकता रहे तो पति के आयुष्य में बड़ी कमी आ जाती है। संसार संघर्ष से परेशान पति घर में आता है और प्रसन्नवदना पत्नी से स्वागत को प्राप्त करता है तो उसका सारा कष्ट समाप्त हो जाता है। पर यदि पत्नी भी क्रोध में आगबबूला हुई बैठी हो तो फिर पति का कल्याण नहीं। (२) हे पत्नि! तू घर में **पशुभ्यः शिवा**=गवादि पशुओं के लिये भी **शिवा**=कल्याण करनेवाली हो। **सुमनाः**=सदा उत्तम मनवाली और परिणामतः **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस्वाली हो। मन विलासमय होने पर वर्चस्विता का सम्भव नहीं होता। (३) उत्तम मनवाली व वर्चस्विनी होती हुई तू **वीरसूः**=वीर सन्तानों को जन्म दे। वीर सन्तानों को जन्म वही दे पाती है जिसके कि मन में किसी प्रकार का अशुभ विचार न हो, वासना के अभाव में जो वर्चस्विनी हो। (४) **देवकामा**=वासनाओं से ऊपर उठने के लिये तू सदा उस देव की कामनावाली हो। प्रभु प्राप्ति का विचार मनुष्य को वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। **स्योना**=तू सभी के लिये सुख को देनेवाली हो। **नः**=हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिये

तो तू शं भव=शान्ति को देनेवाली हो ही, चतुष्पदे शम्=गवादि पशुओं के लिये भी शान्ति को देनेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी (क) क्रोधशून्य हो, (ख) उत्तम मनवाली व वर्चस्विनी हो, (ग) वीर सन्तानों को जन्म दे, (घ) प्रभु प्राप्ति की कामनावाली हो, (ङ) सबके लिये शान्ति का कारण बने।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वर के प्रति माता-पिता का कथन

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४५ ॥

(१) हे इन्द्र=इन्द्रियों को वश में करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! मीढ्वः=हे सब सुखों के सेचन करनेवाले पुरुष! त्वम्=तू इमाम्=इसको सुपुत्राम्=उत्तम पुत्रोंवाली और उनके द्वारा सुभगम्=उत्तम भाग्यवाली कृणु=कर। सामान्यतः अपुत्रा को अभाग्यवाली ही कहा जाता है। पत्नी का सौभाग्य माता बनने में ही है। सन्तान सफलता का प्रतीक है, सन्तान का अभाव असफलता का। (२) अस्याम्=इस पत्नी में तू दश=दस पुत्रान्=पुत्रों को आधेहि=स्थापित कर और पतिम्=पति को अर्थात् अपने को एकादशं कृधि=ग्यारहवाँ कर। दस पुत्र, ग्यारहवाँ पति एवं वैदिक मर्यादा में अधिक से अधिक दस सन्तानों का विधान है।

भावार्थ—पति को इन्द्र=जितेन्द्रिय होना चाहिए। वह पत्नी पर सुखों का वर्षण करता हुआ उसे सुपुत्रा-सुभगा बनाए।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सम्राज्ञी

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ४६ ॥

(१) पत्नी को घर में आकर घर का समुचित प्रबन्ध करना है। उससे कहते हैं कि यहाँ तू परायापन अनुभव न करना। परायेपन की बात तो दूर रही तू श्वशुरे=श्वशुर में सम्राज्ञी भव=सम्राज्ञी बन। उनके सब कार्यों के नियमित रूप से चलने की व्यवस्था कर। (सम्=सम्यक्, राज्=to regrlete)। इसी प्रकार श्वश्र्वाम्=श्वश्रू के विषय में सम्राज्ञी भव=सम्राज्ञी हो। (२) ननान्दरि=ननद के विषय में सम्राज्ञी भव=सम्राज्ञी हो और अधिदेवृषु=सब देवरों में भी सम्राज्ञी=तू सम्राजी हो। यहाँ शासन या हुकूमत की भावना उतनी नहीं है जितना उनके कार्यों की व्यवस्था की उत्तमता से उनके रञ्जन का भाव है।

भावार्थ—पत्नी ने घर में सबके कार्यों की समुचित व्यवस्था करके सभी का रञ्जन करना है।

ऋषिः—सूर्या सावित्री ॥ देवता—सूर्या ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पति-पत्नी के हृदयों की एकता

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥ ४७ ॥

(१) विश्वे देवाः=सब देव नौ=हमारे हृदयानि=हृदयों को समञ्जन्तु=संगत करें। दिव्य गुणों की वृद्धि पारस्परिक प्रेम को बढ़ाने का प्रथम साधन है। आपः=जल सम्=(अञ्जन्तु)=हमारे

हृदयों को संगत करें। हृदयैक्यता के लिये आवश्यक है कि पति-पत्नी पानी की तरह शान्त मस्तिष्कवाले तथा मधुरस्वभाववाले हों। पानी स्वभावत: शीतल है, ये भी ठण्डे मिजाज के हों। पानी मधुर है, ये भी मधुर स्वभाववाले बनें। (२) **मातरिश्वा**=वायु-शरीरस्थ प्राण, **सम्**=इनके हृदयों को मिलानेवाला हो। प्राणसाधना के द्वारा प्रेम का अभिवर्धन होता है। **धाता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु **सम्**=इनको परस्पर एक करे। प्रभु-स्मरण की वृत्ति पवित्रता के संचार के द्वारा प्रेम को बढ़ाती है। (३) **देष्ट्री**=जीवन के कर्त्तव्यों का निर्देश करनेवाली वेदवाणी **उ**=भी **नौ**=हमारे **संदधातु**=हृदयों का सन्धान करनेवाली हो। वेदवाणी के अनुसार कर्त्तव्यों का पालन करने पर परस्पर प्रेम में कभी कमी नहीं आती।

भावार्थ—पति पत्नी के हृदयों की एकता के लिये आवश्यक है कि—(क) वे दिव्यगुणों को अपने में बढ़ाएँ, (ख) जल की तरह शान्त व मधुर बने, (ग) प्राणसाधना करें, (घ) प्रभु-स्मरण की वृत्तिवाले हों, (ङ) वेदवाणी के अनुसार जीवन को बनाएँ।

यह सारा सूक्त गृहस्थ के सब पहलुओं पर बड़ी सुन्दरता से प्रकाश डालता है। अगले सूक्त के ऋषि 'इन्द्र, इन्द्राणी, व वृषाकपि' हैं, 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं, इनका उपासन करनेवाला ऋषि भी 'इन्द्र' है। 'इन्द्राणी' प्रकृति व प्रभु का सामर्थ्य है, उसकी ओर झुकनेवाली ऋषिका भी 'इन्द्राणी' है। इनके सन्तान के तुल्य जीव 'वृषाकपि' है, जो शक्तिशाली है और वासनाओं को कम्पित करके दूर भगानेवाला है, वस्तुत: वासनाओं को कम्पित करके दूर भगाने के कारण ही वह शक्तिशाली बना है 'वृषाकपि' हुआ है। सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है—

[८६] षडशीतितमं सूक्तम्

ऋषि:—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च॥ देवता—वरुण:॥ छन्द:—पङ्क्ति:॥ स्वर:—पञ्चम:॥

प्रभु मित्रता में आनन्द

वि हि सोतो॒रसृ॑क्षत॒ नेन्द्रं॑ दे॒वम॑मंसत ।
यत्राम॑दद्वृ॒षाक॑पिर॒र्यः पु॒ष्टेषु॒ मत्स॑खा॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥ १ ॥

(१) **हि**=निश्चय से **सोतो:**=ज्ञान के उत्पन्न करने के हेतु से **वि असृक्षत**=विशेषरूप से इन इन्द्रियों का निर्माण हुआ है। परन्तु सामान्यत: ये तत्त्व ज्ञान की ओर न झुककर विषयों की ओर भागती हैं। **देवं इन्द्रम्**=उस प्रकाशमय प्रभु का **न अमंसत**=मनन नहीं करती। 'पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'। (२) ये इन्द्रदेव व प्रभु वे हैं **यत्र**=जिनमें स्थित हुआ-हुआ **वृषाकपि:**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला (कपि) शक्तिशाली (वृषा) पुरुष **अमदत्**=आनन्द का अनुभव करता है। यह वृषाकपि **अर्य:**=स्वामी बनता है, इन्द्रियों का दास नहीं होता। **पुष्टेषु**=अंग-प्रत्यंग की शक्तियों का पोषण करने पर **मत्सखा**=(माद्यति इति मत्) उस आनन्दमय प्रभु रूप मित्रवाला होता है। (३) यह **इन्द्र:**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तर:**=सबसे उत्कृष्ट हैं। एक ओर सारा संसार हो, दूसरी ओर प्रभु, तो ऐसी स्थिति में ये प्रभु ही वरने के योग्य हैं? 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' आत्म प्राप्ति के लिये सारी पृथिवी को त्यागना ही ठीक है। नचिकेता ने बड़े-से-बड़े ऐश्वर्यों के प्रलोभन को आत्म प्राप्ति के लिये छोड़ दिया। प्रभु मिल गये तो सब कुछ प्राप्त हो ही जाता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए दी गई हैं। इनके द्वारा तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हुए हमें वृषाकपि बनकर प्रभु मित्रता में आनन्द का अनुभव करना चाहिए।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पादनिचृत्पङ्क्तिः ॥
स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु प्राप्ति के लिये आतुरता

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥

हे इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप हि=निश्चय से जब परा-धावसि=दूर होते हैं, अर्थात् जब वृषाकपि को आपका दर्शन नहीं होता तो आप वृषाकपेः=इस वृषाकपि के अतिव्यथिः=अति व्यथित करनेवाले होते हैं। प्रभु-दर्शन के अभाव में वृषाकपि आतुरता का अनुभव करता है। उसे प्रभु-दर्शन के बिना शान्ति कहाँ? (२) प्रभु संकेत करते हुए कहते हैं कि सोमपीतये=तू सोम के रक्षण के लिये यत्नशील हो। यही प्रभुदर्शन का साधन है। अन्यत्र=अन्य चीजों में, अर्थात् सोमपान=वीर्यरक्षण न करके अन्य चीजों में लगे रहने से अह=निश्चयपूर्वक तू नो प्रविन्दसि=उस प्रभु को नहीं प्राप्त कर पाता है। प्रभु प्राप्ति का एक ही मार्ग है—'वीर्य-रक्षण'। इस वीर्य की ऊर्ध्वगति से मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उस समय सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। ये इन्द्रः=प्रभु ही विश्वस्मात् उत्तरः=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं। इन्हीं को प्राप्त करने में आत्मकामता है।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिये हमें आतुरता हो और हम सोमपान=वीर्यरक्षण करते हुए अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

हरितो मृगः

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदु न्वर्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! अयं वृषाकपिः=यह वृषाकपि त्वाम्=आपकी प्राप्ति का लक्ष्य करके किं चकार=क्या करता है? यही तो करता है कि हरितः=यह इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाला बनता है। विषयों में जानेवाली इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकता है और मृगः=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला बनता है, आत्मनिरीक्षण करता हुआ अपने दोषों को देखता है। (२) यह आत्मनिरीक्षण करनेवाला और विषयों से अपनी इन्द्रियों को प्रत्याहृत करनेवाला वृषाकपि वह है यस्या=जिसके लिये आप अर्यः=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी होते हुए वा उ=निश्चय से नु=अब पुष्टिमत् वसु=पुष्टिवाले धन को अथवा पोषण के लिये पर्याप्त धन को इरस्यसि इत्=देते ही हैं। ये प्रभु इन्द्रः=परमैश्वर्यशाली हैं, विश्वस्मात् उत्तरः=सब से उत्कृष्ट हैं। 'इस प्रभु की शरण में आने पर पोषक धन की प्राप्ति न हो' यह सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हम आत्मनिरीक्षण करें, इन्द्रियों के विषयों से प्रत्याहृत करें। प्रभु हमें पोषक धन प्राप्त कराएँगे ही।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥
स्वरः—पञ्चमः ॥

'वराह' से मेल (वराहावतार-दर्शन)

यमि॒मं त्वं वृ॒षाक॑पिं प्रि॒यमि॑न्द्राभि॒रक्ष॑सि ।
श्वा न्व॑स्य जम्भिष॒दपि॒ कर्णे॑ वराह॒युर्विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥ ४ ॥

(१) हे इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! यम्=जिस इमम्=इस प्रियम्=अपने कर्मों से आपको प्रीणित करनेवाले अपने हरितत्व और मृगत्व के द्वारा यह प्रभु का प्रिय बनता है॥ वृषाकपिम्=वृषाकपि को त्वम्=आप अभिरक्षसि=शरीर में रोगों से तथा मन में राग-द्वेष से बचाते हो, नु=अब ऐसा होने पर श्वा=(मातरिश्वा) वायु, अर्थात् प्राण अस्य=इसके जम्भिषत्=सब दोषों को खा जाता है। प्राणसाधना से इसके सब दोष दूर हो जाते हैं। 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'=प्राणायामों से दोषों को दग्ध कर दे। जैसे 'सत्य-भामा' को 'भामा' कहने लगते हैं इसी प्रकार यहाँ 'मातरिश्वा' को 'श्वा' कहा गया है। मातरिश्वा वायु है, अध्यात्म में यह प्राण है। प्राणसाधना से दोष दूर होते ही हैं, मानो प्राण सब दोषों को खा जाते हैं। (२) इतना ही नहीं, कर्णे=(कृ विक्षेपे) चित्तवृत्ति के विक्षेप के होने पर यह प्राण वराहयुः अपि=(वरंवरं आहन्ति=प्रापयति) उस श्रेष्ठता को प्राप्त करानेवाले प्रभु से मेल करानेवाले भी हैं। चित्तवृत्ति जब विक्षिप्त हो जाती है उस समय प्राणायाम से इस विक्षेप को दूर करके मन का निरोध होता है और इस प्रकार प्राण हमें उस प्रभु से मिलाते हैं, जो कि 'वराह' हैं, सब वर पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। ये इन्द्रः= प्रभु विश्वस्मात् उत्तरः=सब से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षण प्राप्त होने पर प्राणसाधना से हम सब दोषों को दूर करके प्रभु से मेलवाले होते हैं।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पादनिचृत्पङ्क्तिः ॥
स्वरः—पञ्चमः ॥

विषयदोष-दर्शन

प्रि॒या त॒ष्टानि॑ मे क॒पिर्व्य॑क्ता॒ व्य॑दूदुषत् ।
शिरो॒ न्व॑स्य राविषं॒ न सु॒गं दु॒ष्कृते॑ भुवं॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥ ५ ॥

(१) प्रकृति कहती है कि मे=मेरे से तष्टानि=बनाये गये व्यक्ता=(adorned, decorated) अलंकृत प्रिया=देखने में बड़े प्रिय लगनेवाले इन विषयों को कपिः=यह 'वृषा-कपि' व्यदूदुषत्=दूषित करता है, इन विषयों के दोषों को देखता हुआ इनमें फँसता नहीं। (२) प्राकृत मनुष्य इन विषयों के दोषों को न देखता हुआ इनमें आसक्त हो जाता है, नु=उस समय प्रकृति अस्य शिरः=इसके सिर को राविषम्=तोड़-फोड़ देती है। यह प्रकृति कभी भी दुष्कृते=अशुभ कर्म करनेवाले के लिये न सुगं भुवम्=सुखकर गमनवाली नहीं होती। वस्तुतः प्रकृति-प्रवण हो जाना ही गलती है। इन्द्रः=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही विश्वस्मात्=सबसे उत्तरः=उत्कृष्ट हैं। उन्हीं की ओर चलना श्रेष्ठ है। प्रकृति के भोग तो प्रारम्भ में रमणीय लगते हुए भी परिणाम में विषतुल्य हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक विषय-दोष दर्शन करता हुआ उनमें फँसता नहीं। दूसरा व्यक्ति इनमें फँसकर अशुभ मार्ग पर चलता है, उसके लिये प्रकृति ही अन्त में घातक हो जाती है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥
स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रकृति का आकर्षण

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार विषयदोष-दर्शन करनेवाले वृषाकपि से इन्द्राणी (=प्रकृति) कहती है कि **मत्**-मेरे से **सु-भसत्-तरा**-अधिक उत्तम दीप्तिवाली **स्त्री न**-स्त्री नहीं है और **न**-ना ही **सु-याशुतरा**-(या+आशु) अधिक उत्तमता से प्राप्त होनेवाली व भोगों को प्राप्त करानेवाली है **भुवत्**-है। **न**-ना ही **मत्**-मेरे से अधिक **प्रतिच्यवीयसी**-प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनेवाली है और **न**-ना ही **सक्थि**-आसक्तिपर्वक **उद्यमीयसी**-स्थिति को उन्नत करनेवाली है। '**सक्थि**' शब्द सच् धातु से बनकर आसक्ति व प्रेम के भाव को प्रकट कर रहा है। प्रकृति चमकती है '**सुभसत्**', विविध भोगों को प्राप्त कराती है (सु-याशु), सबकी ओर आती है (प्रतिच्यवीयसी) और सांसारिक स्थिति को ऊँचा कर देती है (सक्थि उद्यमीयसी) (२) मेरा पति **इन्द्रः**-परमैश्वर्यवान् प्रभु भी तो **विश्वस्मात् उत्तरः**-सबसे उत्कृष्ट है। सो इस वृषाकपि का मेरे में दोष देखना तो ठीक नहीं। मेरे प्रति उसका आकर्षण होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रकृति चमकती है। उसकी ओर आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'माता', न कि 'स्त्री'

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति ।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ७ ॥

(१) वृषाकपि उत्तर देता हुआ कहता है कि **उवे अम्ब**-हे मातः! हे **सुलाभिके**-सब उत्तम लाभों को प्राप्त करानेवाली! **अङ्ग**-प्रिय मातः! **यथा इव भविष्यति**-जैसा आप कहती हो वैसा ही होगा। अर्थात् आप 'सुभसत्तरा, सुयाशुत्तरा-प्रतिच्यवीयसी-सक्थि उद्यमीयसी' ही हैं। आपके पुत्र के नाते **मे**-मेरी **भसत्**-दीप्ति, **मे सक्थि**-मेरा माता-पिता के प्रति प्रेम (आसक्ति) अथवा अन्यों के प्रति स्नेह तथा **मे शिरः**-मेरा उन्नति के शिखर पर पहुँचना **विहृष्यति इव**-विशिष्ट प्रसन्नता-सा वाला होता है। (२) यह तो आप ठीक ही कहती हो कि **इन्द्रः**-वे प्रभु **विश्वस्मात्**-सबसे **उत्तरः**-अधिक उत्कृष्ट हैं। मुझे भी उस प्रभु को पाने के लिये सब कुछ छोड़ना स्वीकार है। (३) यहाँ वृषाकपि प्रकृति को '**अम्ब**'=इस रूप में सम्बोधन करता हुआ यही संकेत करता है कि प्रकृति मेरी स्त्री नहीं अपितु माता है, उपभोग्य न होकर आदरणीय है, मैंने उससे आवश्यक सहायता प्राप्त करनी है। इस भावना के होने पर ही प्रकृति 'सुलाभिका' होती है और प्रकृति को इस रूप में देखनेवाला ही दीप्ति व प्रेम को प्राप्त करके उन्नति के शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—प्रकृति को हम माता समझकर चलें, नकि स्त्री।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वृषाकपि की प्रशस्यता

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने ।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ८ ॥

(१) इन्द्र इन्द्राणी से कहता है कि हे **सुबाहो**-उत्तम बाहुओंवाली, **स्वङ्गुरे**-उत्तम अंगुलियोंवाली, **पृथुष्टो**-विशाल केश-समूहवाली **पृथुजाघने**-विशाल जघनोंवाली तुम **किम्**-वृषाकपि के प्रति क्यों रुष्ट होती हो। **नः**-मुझ **शूरपत्नि**-शूर की पत्नी होती हुई **त्वम्**-तू **किम्**-क्यों **वृषाकपिम्**-वृषाकपि के प्रति **अभ्यमीषि**-क्रोध करती है? (२) तू सुन्दर है, आकर्षक है, तेरा अंग-प्रत्यंग मनोहर है। ऐसा होने पर भी तेरा पुत्र वृषाकपि तेरे प्रति मातृभावना रखता हुआ तेरा समुचित आदर करता है। इस से बढ़कर प्रशंसनीय क्या बात हो सकती है कि हमारा पुत्र वृषाकपि कितनी उत्कृष्ट वृत्तिवाला है। (३) इतना तो तूने भी कहा है कि मेरा पति **इन्द्रः**-इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**-सबसे उत्कृष्ट है। सो तुझे इसी बात पर गर्व होना चाहिए कि हमारा लड़का सचमुच 'वृषाकपि' है, वासनाओं को कम्पित करके शक्तिशाली बननेवाला है।

भावार्थ—प्रकृति रूप स्त्री अत्यन्त आकर्षक है, पर वह प्रभु की पत्नी है। जीव की तो वह माता ही है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च॥ देवता—वरुणः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रकृति अवीरा नहीं

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।

उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ९॥

(१) 'प्रकृति इतनी आकर्षक है और फिर भी वृषाकपि उससे आकृष्ट नहीं हुआ' यह देखकर प्रकृति क्रुध-सी होती है और कहती है कि **अयं शरारुः**-यह सब वासनाओं का संहार करनेवाला (प्रकृति की दृष्टि में शरारती) **माम्**-मुझे **अवीरां इव अभिमन्यते**-अवीर-सा मानता है। मैं अवीर थोड़े ही हूँ **उत अहम्**-निश्चय से मैं तो **वीरिणी अस्मि**-उत्कृष्ट वीर पुत्रवाली हूँ। **इन्द्रपत्नी**-इन्द्र की पत्नी हूँ, **मरुत् सखा**-ये मरुत्-प्राण मेरे मित्र हैं और यह तो सब कोई जानता ही है कि मेरा पति **इन्द्रः**-इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**-सबसे उत्कृष्ट हैं। 'ऐसी स्थिति में यह वृषाकपि मेरा निरादर करे' यह कैसे सहन हो सकता है? (२) यहाँ 'इन्द्रपत्नी' कहकर प्रकृति स्वयं अपने पक्ष को शिथिल कर लेती है। वृषाकपि उसे इन्द्रपत्नी जानकर ही तो अपनी माता के रूप में देखता है। 'मरुत् सखा' शब्द भी बड़ा महत्त्व रखता है। इन मरुतों-प्राणों ने ही उसे वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाकर इस आकर्षण में फँसने से बचाया है। एवं इन्द्राणी के मित्र ही वृषाकपि को वृषाकपि बनाते हैं। प्रकृति वीरिणी है, प्रकृति का पुत्र वृषाकपि भी वीर बनता है और प्रलोभन में फँसने से बचता है।

भावार्थ—प्रकृति वीर है। उसका पुत्र वृषाकपि वीर बनकर प्रकृति का सच्चा आदर करता है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च॥ देवता—वरुणः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

युद्धों में व यज्ञों में

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १०॥

(१) **पुरा**-पहले उत्कृष्ट युग में, धर्म का ह्रास होने से पूर्व **नारी**-पत्नी **होत्रम्**-यज्ञ के प्रति **सं गच्छति स्म**-पति के साथ मिलकर जाती थी **समनं वाव**-अथवा युद्ध के प्रति जाती थी। पत्नी 'धर्मपत्नी' थी, वह पति के साथ यज्ञों व युद्धों में सहायक होती थी, 'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च भजामो

विवमीश्वरम्' इस प्रकार युद्धों और यज्ञों से वे दोनों उस सर्वव्यापक ईश को भजते थे। (२) यह पत्नी घर में **ऋतस्य वेधाः**-सब सब ठीक कार्यों का विधान करती थी, यज्ञादि की किया करती थी। परिणामतः **वीरिणी**-वीर सन्तानोंवाली होती थी। यही **इन्द्रपत्नी**-जितेन्द्रिय पुरुष की पत्नी **महीयते**-महिमा को प्राप्त करती है। ऐसी ही नारियों का आदर होता है। इनकी दृष्टि में **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**-सबसे उत्कृष्ट होते हैं ये इस इन्द्र का ही पूजन करती हैं। (३) स्त्री अपने को आकर्षक बनाने की अपेक्षा धार्मिक व वीर बनाने का ध्यान करे। उसकी वृत्ति वैषयिक न हो।

भावार्थ—वही धर्मपत्नी है जो कि यज्ञों व युद्धों में पति की सहायिका बनती है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रकृति का अजर सौभाग्य

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ११ ॥

(१) **इन्द्राणीम्**-इन्द्राणी को **आसु नारिषु**-इन नारियों में **अहम्**-मैं **सुभगाम्**-सबसे अधिक सौभाग्यवाली **अश्रवम्**-सुनता हूँ। क्योंकि **अस्याः**-इसका **पतिः**-स्वामी 'इन्द्र' **अपरं चन**-अन्य पतियों के समान **जरसा**-बुढ़ापे से **हि**-निश्चय पूर्वक **न मरते**-मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाता। इन्द्र अजरामर हैं, सो इनकी पत्नी 'इन्द्राणी' का सौभाग्य भी अजरामर बना रहता है। **विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः**-इस अजरामरता के कारण प्रभु सबसे उत्कृष्ट हैं। (२) प्रभु 'इन्द्र' हैं, 'इन्द्राणी' प्रकृति है, यह प्रभु की पत्नी के समान है। प्रकृति का यह कितना सौभाग्य है कि जहाँ अन्य व्यक्तियों के जरा से समाप्त हो जाने के कारण अन्य नारियों का सौभाग्य सामयिक ही होता है, वहाँ प्रकृति का सौभाग्य 'अक्षुण' बना रहता है। इस प्रकृति को अपने इस सौभाग्य का गौरव अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ—'प्रकृति' का सौभाग्य पति प्रभु के अजर होने से सदा अजर बना रहता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सृष्टि निर्माण जीव के लिये

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १२ ॥

(१) प्रभु प्रकृति से कहते हैं कि **इन्द्राणि**-हे प्रकृति! **अहम्**-मैं **सख्युः**-इस मित्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०' **वृषाकपेः**-वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले और अतएव शक्तिशाली इस वृषाकपि के **ऋते**-बिना **न रारणे**-इस सृष्टिरूप क्रीड़ा को नहीं करता हूँ। यह सृष्टिरूप क्रीड़ा इस मित्र जीव के लिये ही तो है। आप्तकाम होने से मुझे इसकी आवश्यकता नहीं, जड़ता के कारण तुझे (प्रकृति को) इसकी जरूरत नहीं। जीव इसमें साधन-सम्पन्न होकर उन्नत होता हुआ मोक्ष तक पहुँचता है। (२) वह जीव **यस्य**-जिसकी **इदम्**-यह **अप्यं हविः**-रेतःकण सम्बन्धी हवि **प्रियम्**-इसे प्रीणित करनेवाली होती है और इसके शरीर को कान्ति प्रदान करती है तथा **देवेषु गच्छति**-सब इन्द्रियरूप देवों में जाती है। रेतःकणों का रक्षण करना ही शरीर में इस 'अप्य हवि' को आहुत करना है। यह हवि शरीर को कान्त बनाती है और सब इन्द्रियों को सशक्त बनाती है। (२) इस अप्य हवि के द्वारा सब शक्तियों का वर्धन करके यह जीव अनुभव

करता है कि इन्द्रः=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु विश्वस्मात् उत्तरः=सब से अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभु इस सृष्टि का निर्माण जीव के लिये करते हैं। भोगों में न फँसकर जब यह शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करता है, तो प्रभु को पहचान पाता है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

आत्मा की पत्नी बुद्धि

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १३ ॥

(१) हे प्रकृति! तू **वृषाकपायि**=इस वृषाकपि की माता है। वृषाकपि का उत्कर्ष इसी में है कि वह माता को माता के रूप में देखे और इससे सहायता लेता हुआ इसके भोगों में आसक्त न हो। **रेवति**=हे प्रकृति तू तो ऐश्वर्य-सम्पन्न है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य का स्रोत तू है, तू ऐश्वर्य ही है। **सुपुत्रे**-यह वृषाकपि तेरा उत्तम पुत्र है। **आद् उ**-और अब **सुस्नुषे**-हे प्रकृति! तू उत्तम स्नुषावाली है। वृषाकपि तेरा पुत्र है और उस वृषाकपि की पत्नी 'बुद्धि' है। यह बुद्धि तेरी स्नुषा हुई। इस बुद्धि के द्वारा चलता हुआ वृषाकपि ही तो अपने जीवन को उत्तम बना पाता है। (२) यह वृषाकपि उन्नत होता हुआ अपने पिता के अनुरूप बनकर 'इन्द्र' ही बन जाता है। यह **इन्द्रः**=इन्द्र **ते**=तेरे प्राकृतिक आहार से उत्पन्न हुए-हुए, **उक्षणः**=(उक्ष सेचने) शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले वीर्यकणों को **घसत्**=खाता है, इन्हें अपने शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह उसके लिये **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाली **काचित् करम्**=निश्चय से सुख को देनेवाली **हविः**=हवि होती है, इसकी वह शरीर यज्ञ में आहुति देता है। यही वीर्य का भक्षण है। इस हवि के सेवन से वह अत्यन्त तीव्र बुद्धि होकर उस प्रभु का दर्शन करता है जो **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट है।

भावार्थ—वीर्यरूप हवि की शरीराग्नि में ही आहुति देना सच्चा जीवनयज्ञ है इस यज्ञ को करनेवाला प्रभु को 'पुरुषोत्तम' रूप में देखता है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

परिपाक

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १४ ॥

(१) **उक्षणः**=शरीर में शक्ति का सेचन करनेवाले वीर्यकणों को **हि**=निश्चय से **मे**=मेरे **पञ्चदश**=पन्द्रह-दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण **साकम्**=साथ-साथ **पचन्ति**=परिपक्व करते हैं। विषय व्यावृत्त इन्द्रियों तथा प्राणायाम द्वारा सिद्ध किये हुए प्राण वीर्यकणों को शरीर में ही परिपक्व करने होते हैं। वीर्यकणों के परिपाक के द्वारा ये **विंशतिम्**=माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार एकोनविंशति मुखोंवाले बीसवें इस आत्मा को भी परिपक्व करते हैं आत्मिक शक्ति के विकास का आधार भी ये इन्द्रियाँ व प्राण बनते हैं। (२) **उत**=और **अहम्**=मैं **अद्मि**=इन वीर्यकणों को शरीर में खाने का प्रयत्न करता हूँ। **इत्**=निश्चय से **पीवः**=मैं हृष्ट-पुष्ट बनता हूँ ये सुरक्षित वीर्यकण **मे**=मेरी **उभाकुक्षी**=दोनों कुक्षियों को **पृणन्ति**=(protect) सुरक्षित करते हैं। इन कणों के रक्षण से गुर्दे इत्यादि की बीमारियाँ नहीं होती। (३) इस स्वस्थ अवस्था में मैं उस प्रभु का स्मरण कराता हूँ जो **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली होते हुए **विश्वस्मात् उत्तरः**=सब से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—विषय-व्यावृत्त इन्द्रियों व प्राणसाधना से वीर्य का परिपाक होकर आत्मिक शक्ति का विकास होता है, प्रसंगवश यह वीर्य का परिपाक गुर्दे आदि के कष्टों से भी हमें बचाता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

तिग्मशृंग वृषभ

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥

(१) वे प्रभु **तिग्मशृंगः वृषभः न**-तेज सींगोंवाले वृषभ के समान हैं। जैसे वृषभ एक मार्ग-विघातक को अपने तेज सींगों के द्वारा दूर कर देता है, उसी प्रकार प्रभु हमारे शत्रुओं को दूर करनेवाले हैं। स्थानान्तर में प्रभु को 'अश्वं न त्वा वारवन्तं'=बालोंवाले घोड़े से उपमित किया है। घोड़ा पूँछ से जैसे मखियों को दूर हटा देता है, उसी प्रकार प्रभु हमारी वासनाओं को दूर करते हैं। ये वृषभ के समान प्रभु **यूथेषु अन्तः**=जीव समूह के अन्दर **रोरुवत्**=खूब गर्जना कर रहे हैं। हृदयस्थरूपेण प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं। उस प्रेरणा के अनुसार चलने पर हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। (२) हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=आपका **मन्थः**=मन्थन-चिन्तन **हृदे शम्**=हृदय के लिये शान्ति का देनेवाला होता है। **यम्**=जिस **ते**=तेरे मन्थन व विचार को **भावयुः**=भक्तिभाव से युक्त उपासक **सुनोति**=अपने में उत्पन्न करता है। और सदा इस रूप में सोचता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सब से उत्कृष्ट हैं। प्रभु को सर्वोत्कृष्ट रूप में देखनेवाला ही प्रभु का उपासक बनता है। उस समय प्रभु उसे सदा प्रेरणा देते हैं और उसके शत्रुओं को दूर करते हैं।

भावार्थ—उपासक के लिये प्रभु तिग्मशृंग वृषभ के समान रक्षक होते हैं।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ध्यान व ज्ञान

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से रक्षित होकर जो व्यक्ति प्रभु के ध्यान में लगता है और **यस्य**=जिसका **सक्थि**=(सच समवाये) प्रभु से मेलवाला और अतएव **कपृत्**=अपने में आनन्द का पूरण करनेवाला मन **अन्तरा**=अन्दर ही **आरम्बते**=स्थिर होता है, आशय करता है, **न स ईशे**=वह ही ईश नहीं है। अपितु **स इत् ईशे**=वह भी ईश है **निषेदुषः**=नम्रता से आचार्य चरणों में बैठनेवाले **यस्य**=जिसका **रोमशम्**=(रोमशि शेते, 'सामानि यस्य लोमानि') साम मन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**=विकसित होता है, अर्थात् जिसका मन ऋचाओं व यजुषों का अध्ययन करके साम मन्त्रों में आकर निवास करता है, दूसरे शब्दों में जिसका मन सम्पूर्ण ज्ञान में अवस्थित होता है। (२) जैसे ध्यान महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार ज्ञान भी महत्त्वपूर्ण है। 'ध्यानी ही ईश बनता है' ऐसी बात नहीं। ज्ञानी भी उतना ही ईश बनता है। 'विद्याभ्यसनं व्यसनं, विद्याभ्यास उत्तम व्यसन हैं। यह मनुष्य को संस्कार के विषयों से बचानेवाला है। ध्यान में मनुष्य मन में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है तो ज्ञान में भी मानव मन को पवित्र बनाकर आनन्दित करने की शक्ति है। यह ज्ञानी यह अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—जहाँ ध्यानी मन का ईश बनता है, वहाँ ज्ञानी भी मन का ईश हो जाता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञान व ध्यान

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्याई कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥

(१) गत मन्त्र की भावना को ही क्रम बदलकर कहते हैं कि **न स ईशे**-वह ही ईश नहीं है, **निषेदुषः**-आचार्य चरणों में नम्रता से बैठनेवाले **यस्य**-जिसका **रोमशम्**-(सामानि यस्य लोमानि) साम मन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**-ज्ञान के दृष्टिकोण से अधिकाधिक विकसित होता चलता है। **स इत्**-वह भी **ईशे**-ईश है **यस्य**-जिसका **सक्थि**-प्रभु से मेलवाला **कपृत्**-परिणामतः अपने में आनन्द को भरनेवाला मन **अन्तरा**-अन्दर ही **आरम्बते**-स्थिर होता है, अन्तःस्थित हुआ-हुआ मन प्रभु का आश्रय करता है और अनुभव करता है कि **इन्द्रः**-ये प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**-सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं। (२) ज्ञान से वासनाओं को विदग्ध करके तो मनुष्य बनता ही है, ईश बनने के लिये ध्यान भी उतना ही सहायक है। ध्यान से मनुष्य मन को वशीभूत करके सम्पूर्ण संसार के आनन्दों को उस प्रभु प्राप्ति के आनन्द की तुलना में तुच्छ समझने लगता है।

भावार्थ—जहाँ ज्ञान मनुष्य को विषयों के सात्त्विक रूप का दर्शन कराके उनसे ऊपर उठाता है, वहाँ ध्यान भी प्रभु प्राप्ति के आनन्द को देकर वैषयिक आनन्द को तुच्छ कर देता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अपराधीनता

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हुतं विदत् ।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशाली प्रभो! आपका **अयम्**-यह पुत्र **वृषाकपिः**-वासनाओं को कम्पित करनेवाला और अतएव शक्तिशाली सन्तान **परस्वन्तम्**-पराधीन को, इन्द्रियों के अधीन हुए-हुए पुरुष को **हतं विदत्**-(विद् ज्ञाने) मृत जानता है। इन्द्रियों की अधीनता मृत्यु का ही कारण बनती है। इन्द्रियों को जीतकर ही हम आनन्दमय जीवन को बिता सकते हैं। (२) यह जितेन्द्रिय पुरुष **असिम्**-(असु क्षेपणे) वासनाओं को दूर फेंकने को, **सूनाम्**-(षू प्रेरणे) प्रभु की प्रेरणा को, इस प्रेरणा से ही तो वह निरन्तर वासनाओं को दूर करने के लिये यत्नशील होता है, **नवं चरुम्**-(नु स्तुतौ, चर भक्षणे) वासनाओं को न उत्पन्न होने देने के लिये ही स्तुत्य भोजन को, राजस व तामस भोजनों को छोड़कर सात्त्विक आहारों को और **आत्**-इनके बाद **एधस्य**-ज्ञानदीप्ति के **आचितम्**-समन्तात् व्याप्तिवाले **अनः**-शरीर-रथ को **विदत्**-प्राप्त करता है (विद् लाभे)। (३) ऐसे व्यक्ति ही अनुभव करते हैं कि **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**-सबसे अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों की पराधीनता नाश का मार्ग है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दास व आर्य का विवेक

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्　　　।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १९ ॥

(१) वृषाकपि कहता है कि **अयम्**-यह मैं **विचाकशत्**-(कश् to sound) प्रभु के नामों का उच्चारण (जप) करता हुआ **एमि**-आता हूँ, अपने कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। मैं अपने जीवन में **दासम्**-(दसु उपक्षये) नाशक वृत्ति को तथा **आर्यम्**-श्रेष्ठ वृत्ति को **विचिन्वन्**-विविक्त करता हुआ गति करता हूँ। दास वृत्तियों को छोड़ता हुआ आर्य वृत्तियों को अपनाता हूँ। (२) **पाकसुत्वनः**-जीवन के परिपाक के लिये उत्पन्न किये गये सोम का (पाकाय सुतस्य) **पिबामि**-मैं पान करता हूँ। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने से सब शक्तियों का सुन्दर परिपाक होता है। इस परिपाक से मैं **धीरम्**-उस ज्ञान देनेवाले प्रभु को **अभि अचाकशम्**-प्रातः-सायं स्तुत करता हूँ कि **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**-सारे संसार से अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—सोम का शरीर में पान होने पर जीवन की शक्तियों का उत्तम परिपाक होता है। यह व्यक्ति ही प्रभु का स्तवन व दर्शन करता है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

संसार-मरीचिका

धन्व च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना　　　।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २० ॥

(१) यह संसार एक मृगतृष्णा के दृश्य के समान है। **धन्व च**-यह मरुस्थल तो है ही, जैसे मरुस्थल में एक मृग पानी की कल्पना करके प्यास बुझाने के लिये उधर भागता है, परन्तु उस स्थान पर पहुँचने पर वहां पानी को न पाकर रेत को ही पाता है और दूरी पर फिर पानी के दृश्य को देखता है और ऊधर भागता है। इस प्रकार यह मरीचिका उसकी शक्ति को छिन्न-भिन्न करती चलती है, **यत् कृन्तत्रं च**-यह काटनेवाली तो है ही और फिर **ता**-वे मरीचिका के दृश्य **कतिस्वित्**-कितने ही **योजना**-योजनों तक **वि**-(वि तत) विस्तृत हैं। इन योजनों में भागता-भागता वह मृग जैसे मर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य के लिये संसार के विषय **धन्व च**-मरुस्थल के समान हैं **च**-और **यत्**-जो **कृन्तत्रम्**-उसकी शक्तियों को छिन्न करनेवाले हैं और **ता**-ये विषय जीवनयात्रा में न जाने **कति स्वित् योजना**-कितने ही योजन चलते-चलते हैं। अन्त में ये मनुष्य को भ्रान्त करके समाप्त कर देते हैं। (२) हे **वृषाकपे**-शक्तिशाली और वासनाओं को कम्पित करनेवाले जीव! तू इन विषय-मरीचिकाओं में न उलझकर **नेदीयसः**-अपने अत्यन्त समीप निवास करनेवाले प्रभु के **अस्तम्**-गृह को **एहि**-आ। हृदय ही प्रभु का गृह है विषय व्यावृत्त होकर हम अन्तर्मुख यात्रा करते हुए उस हृदय में स्थित होने के लिये यत्नशील हों। **गृहान् उप**-इन प्रभु गृहों के हम समीप रहनेवाले बनें और यह अनुभव करें कि **इन्द्रः**-परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**-सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—संसार की मरीचिका में कोसों भटकते रहने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि हम हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्वप्र-नंशनः (नींद से उठ बैठना)

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्नंनशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २१ ॥

(१) हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले वृषाकपि! तू **पुनः**=फिर **एहि**=घर में प्राप्त हो। इधर-उधर भटकने की अपेक्षा तू मन को निरुद्ध करके हृदय में आत्मदर्शन करनेवाला हो। प्रभु कहते हैं कि मैं और तू मिलकर **सुविता**=उत्तम कर्मों को **कल्पयावहै**=करनेवाले हों। जीव प्रभु की शक्ति का माध्यम बनें, जीव के माध्यम से प्रभु शक्ति उत्तम कर्मों को सिद्ध करनेवाली हो। (२) जीव इस दुनिया की चमक में अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है और अपने लक्ष्य को वह भूला-सा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह सो सा गया हो। अब **स्वप्नंशनः**=इस नींद को समाप्त करनेवाला तू अपने लक्ष्य का स्मरण करता है और **अस्तं एषि**=फिर से घर में आता है। **पुनः**=फिर **पथा**=ठीक मार्ग से चलता हुआ हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करता है और अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—इस संसार में हमें सोये नहीं रह जाना। जागकर लक्ष्य की ओर बढ़ना है। प्रभु की शक्ति का माध्यम बनकर सदा उत्तम कर्मों को करना है।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'उदङ्', नकि 'पुल्वघ-मृग-जनयोपन'

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २२ ॥

(१) हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले शक्तिशाली जीव! **यद्**=जब **उदञ्चः**=(उत अञ्च्) लोग उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले होते हैं तभी ये **गृहं अजगन्तन**=घर को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोक ही वस्तुतः इस जीव का घर है। उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति इस गृह को प्राप्त करते हैं। (२) परन्तु हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्यः**=वह **पुल्वघ**=बहुत पापोंवाला **मृगः**=सदा विलास की वस्तुओं को खोजनेवाला (मृग अन्वेषणे) मौज की तलाश में रहनेवाला व्यक्ति **क्व**=कहाँ इस ब्रह्मलोक रूप गृह में आ पाता है? **जनयोपनः**=लोगों को पीड़ित (युप्) करनेवाला **कं अगन्**=किसको प्राप्त करता है? अर्थात् यह **जनयोपन**=अपनी मौज के लिये औरों को मिटानेवाला पुरुष इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करता। उन्नति के मार्ग पर चलनेवाला पुरुष ही जान पाता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हम 'उदङ्' बनें। 'पुल्वघ-मृग-जनयोपन' न बनें।

ऋषिः—वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मानवी की महिमा

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हमें 'उदङ्' बनना है, 'पुल्वघ' नहीं। यह तभी हो सकता है जब कि हमारी बुद्धि स्थिर रहे। यह बुद्धि मानो मनु की सन्तान है, इसका इसीलिए 'मानवी' यह नाम

हो गया है। यह 'मानवी' ही मानव की पत्नी है, उसकी शक्ति है और उसका कल्याण करनेवाली है। यह **ह**-निश्चय से **पर्शुः** नाम-पर्शु इस नामवाली है, यह वासनाओं के लिये सचमुच कुल्हाड़े के समान है (an axe, hetehet) बुद्धि के ठीक कार्य करने पर मनुष्य वासनाओं में नहीं फँसता। (२) यह बुद्धि मनुष्य को वासनाओं से ऊपर उठाकर सभी इन्द्रियों व सभी प्राणों को ठीक रखती है। दसों इन्द्रियों व दसों प्राणों को (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) विकसित शक्तिवाला करने के कारण यह बुद्धि इन बीस सन्तानोंवाली हैं, **साकम्**-साथ-साथ **विंशतिम्**-इन बीस को यह **ससूव**-उत्पन्न करती है। (३) हे **भल**-सर्वद्रष्टः प्रभो! (भल् to see) **त्यस्याः**-उस बुद्धि का **भद्रं अभूत्**-भला हो **यस्याः**-जिसका, हमारी इन वासनाओं के कारण होती हुई दुर्गति को देखकर **उदरं आमयत्**-पेट पीड़ावाला हुआ, अर्थात् जिसको हमारी दुर्गति अखरी। हमारी दुर्गति को देखकर जिसने अच्छा नहीं महसूस किया और हमारी सहायता के लिये सन्नद्ध होकर इन वासनाओं का विनाश किया और अनुभव कराया कि **इन्द्रः**-प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**-सर्वोत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—अन्ततः बुद्धि ही कल्याण करती है, यही मानवी है। यह मानव की पत्नी है और उसकी वासनाओं को दूर करके उसे प्रभु की महिमा का दर्शन कराती है।

यह सारा सूक्त एक ही भावना को हमारे हृदयों पर अंकित करता है कि प्रभु सर्वोत्कृष्ट हैं। प्रभु प्रवणता ही बुद्धिमत्ता है। इन्द्राणी व प्रकृति को माता समझना नकि पत्नी। ऐसा समझनेवाला ही वृषाकपि बनता है। यह मानवी (बुद्धि) का सखा बनकर वासनाओं से अपना रक्षण करता है। यह रक्षण करनेवाला 'पायु' ही अगले सूक्त का ऋषि है। अपने में शक्ति को भर सकने के कारण यह 'भारद्वाज' है। राक्षसी वृत्तियों को दूर करनेवाला 'रक्षोहा' प्रगतिशील 'अग्नि' इस अग्रिम सूक्त का विषय व देवता है। यह प्रार्थना करता है कि—

[८७] सप्ताशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'रक्षोहा' प्रभु

र॒क्षो॒हणं॑ वा॒जिन॒मा जि॑घर्मि मि॒त्रं प्रथि॑ष्ठ॒मुप॑ यामि॒ शर्म॑।
शिशा॑नो अ॒ग्निः क्रतु॑भि॒: समि॑द्धः॒ स नो॒ दिवा॒ स रि॒षः पा॑तु॒ नक्त॑म्॥ १ ॥

(१) **रक्षोहणम्**-हमारी राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले, **वाजिनम्**-शक्तिशाली, **मित्रम्**-हमें मृत्यु व पापों से बचानेवाले, **प्रथिष्ठम्**-अत्यन्त विस्तारवाले प्रभु को **आजिघर्मि**-मैं अपने में दीप्त करता हूँ। प्रभु को अपने हृदय में देखने का प्रयत्न करता हूँ और **शर्म उपयामि**-आनन्द को प्राप्त होता हूँ। प्रभु का आभास भी आनन्द का अनुभव कराता है। जितना-जितना हम प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं उतना-उतना हमारा जीवन आनन्दमय होता जाता है। (२) **शिशानः**-हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म करते हुए **अग्निः**-वे प्रभु अग्रेणी हैं, हमें निरन्तर आगे ले चल रहे हैं। **क्रतुभिः**-संकल्पों व यज्ञादि उत्तम कर्मों के द्वारा **समिद्धः**-वे प्रभु हमारे में दीप्त होते हैं। प्रभु दर्शन के लिये संकल्प आवश्यक है और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होना आवश्यक है। **स**-वे प्रभु **नः**-हमें **दिवा**-दिन में और **स**-वे प्रभु **नक्तम्**-रात्रि में **रिषः**-हिंसा से **पातु**-बचाएँ। प्रभु हमारा रक्षण करनेवाले हों। प्रभु ही 'रक्षोहा' हैं, वे ही हमें इन राक्षसी वृत्तियों का शिकार होने से बचाएँगे।

भावार्थ—वे प्रभु 'रक्षोहा' हैं, हमारी बुद्धियों को तीव्र करके, ज्ञान के द्वारा वे हमें अशुभ वृत्तियों का शिकार होने से बचाते हैं।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानाग्नि में पाप का भस्म होना

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।

आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन् ॥ २ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **समिद्धः**=गत मन्त्र के अनुसार क्रतुओं द्वारा दीप्त होने पर **अयोदंष्ट्रः**=तीक्ष्ण दंष्ट्राओंवाले आप **अर्चिषा**=अपनी ज्ञान ज्वाला से **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाली इन राक्षसी वृत्तियों को **उपस्पृश**=समीपता से स्पर्श करते हुए भस्म कर देते हैं। आपके द्वारा सब अशुभ वृत्तियाँ दूर की जाती हैं। (२) आप **मूरदेवान्**=(दिव्-व्यवहारे) मूढ़तापूर्ण व्यवहारवालों को **जिह्वया**=ज्ञान ज्वाला के द्वारा (flame) **आरभस्व**=(to form) उत्तम जीवनवाला बनाइये। **क्रव्यादः**=मांस-भक्षण करनेवालों को **वृक्त्वी**=इन अशुभ कर्मों से पृथक् करके **आसन्**=अपने मुख में, उपासना में **अपिधत्स्व**=धारण करिये। ज्ञान को प्राप्त करके हमारी वृत्ति अशुभ कर्मों से, मांस-भक्षणादि से हटें और हम शुभ कर्मों में प्रवृत्त हों। उन कर्मों को हम कभी न करें जिनसे औरों की हानि करके अपनी मौज को प्राप्त करने की भावना हो।

भावार्थ—ज्ञान ज्वाला से अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। उपासना के द्वारा जीवन की पवित्रता होती है।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्म व क्षत्र के द्वारा काम-क्रोध का विनाश

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।

उतान्तरिक्षे परि याहि राजञ्जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ३ ॥

(१) हे **उभयाविन्**=ब्रह्म और क्षत्र-ज्ञान व शक्ति दोनों से सम्पन्न प्रभो! हे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमन् प्रभो! **उभा**=हमारे दोनों शत्रुओं को, काम-क्रोध को (तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ) **दंष्ट्रा उपधेहि**=अपनी दाढ़ों में धारण करिये, अर्थात् ज्ञान को देकर हमारी कामवासना को समाप्त करिये और हमें शक्ति-सम्पन्न करके क्रोध से ऊपर उठाइये। ज्ञानाग्नि काम को दग्ध करती है और शक्ति मनुष्य को क्रोध से ऊपर उठाती है। हे प्रभो! आप **शिशानः**=हमारी बुद्धि को तीव्र करते हुए **अवरं परं च**=इस काम को और कामोत्पन्न क्रोध को (कामात् क्रोधोऽभिजायते) **हिंस्रः**=नष्ट करनेवाले होते हैं। काम को यहाँ अवर कहा है। यह हीनता का कारण होता है, क्रोध को 'पर' कहने का कारण यही है कि यह काम से उत्पन्न होता है, पीछे होने के कारण यह 'पर' है। (२) हे **राजन्**=हमारे जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले ज्ञानदीप्त प्रभो! **उत**=और आप **अन्तरिक्षे**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **परियाहि**=परितः गति करनेवाले होइये। आपका निवास हमारे हृदय में हो और वहाँ **यातुधानान्**=हमें पीड़ित करनेवाली वासनाओं को **जम्भैः**=अपनी दंष्ट्राओं से **अभिसन्धेहि**=युक्त करिये। अर्थात् इन सब वासनाओं को आप नष्ट करिये।

भावार्थ—प्रभु 'ब्रह्म और क्षत्र' की चरमसीमा हैं। वे ज्ञान के द्वारा हमारे 'काम' को तथा शक्ति के द्वारा 'क्रोध' को नष्ट करें।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रेरणा व ज्ञान का प्राप्त कराना

यज्ञैरिषूः संनर्ममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ध्येषाम् ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! अथवा राष्ट्र की अग्रगति को करनेवाले राजन्! आप **यज्ञैः**=उत्तम कर्मों से **इषूः**=प्रेरणाओं को **संनममानः**=प्रेरित कराते हुए और **अशनिभिः**=(a mester) आचार्यों के द्वारा **वाचा**=ज्ञान की वाणियों से **शल्यान्**=(any caure of heart rendive griey) हृदयवेधी भावनाओं को **दिहानः**=बढ़ाते हुए, **ताभिः**=उन प्रेरणाओं से तथा ज्ञान-वाणियों से **यातुधानान्**=प्रजा पीड़कों को **हृदये विध्य**=हृदय में विद्ध करिये। इनके हृदयों में ही इनके अपने काम चुभने लगे। इन्हें औरों के उत्तम कर्मों से ऐसी प्रेरणा मिले कि ये यातुधानत्व को छोड़कर पवित्र कर्मों की ओर झुक जाएँ और ज्ञान की वाणियाँ इनके हृदयों में इस प्रकार की तीव्र वेदना को उत्पन्न करें कि इनका हृदय तीव्र प्रायश्चित की भावनावाला हो उठे। (२) इस प्रकार इन्हें पापों के प्रति तीव्र वेदनावाला करके **एषाम्**=इनकी **प्रतीचः बाहून्**=पापकर्म में प्रवृत्त (turned away=धर्ममार्ग से दूर गई हुई) बाहुओं को **भङ्ग्धि**=तोड़ दे। पाप कर्म करने की इनमें हिम्मत ही न रहे।

भावार्थ—राजा उत्तम कर्मों के द्वारा तथा ज्ञान प्रसाद के द्वारा यातुधानों के हृदय में ऐसी शुभ पैदा करे कि वे पापकर्म से घृणा करनेवाले बनकर, उनके लिये प्रायश्चित करके, पवित्र हो जाएँ।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यातुधान का परिवर्तन

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम् ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले राजन्! **यातुधानस्य**=इस प्रजापीड़क के **त्वचम्**=सम्पर्क को **भिन्धि**=तोड़ दे। इसे अपने साथियों से अलग कर दे। अलग होने पर यह अपने जीवन के मार्ग के विषय में ठीक सोच सकता है। (२) **हिंस्राशनिः**=(हिंस्रः चासौ अशनिः=master) अज्ञान को नष्ट करनेवाला अध्यापक **हरसा**=वासनाओं को विनष्ट करने की शक्ति से **एनं हन्तु**=इस यातुधान को प्राप्त हो (हन् गतौ)। वह ज्ञान देकर इसे अधर्म मार्ग से हटानेवाला हो। (३) हे **जातवेदः**=ज्ञानी पुरुष! तू **पर्वाणि**=(knots) इसकी वासना ग्रन्थियों को **प्रशृणीहि**=प्रकर्षेण नष्ट करनेवाला बन। ज्ञान के द्वारा तू इसे वासनामय जगत् से ऊपर उठा। तू उसे इस प्रकार का ज्ञान दे कि यह **क्रविष्णुः**=औरों के मांस की इच्छावाला **क्रव्यात्**=मांस-भक्षक पुरुष औरों के नाश में लगा हुआ पुरुष **वृक्णम्**=छेदों व दोषों को **विचिनोतु**=अपने से पृथक् करनेवाला हो। यह औरों के विनाश पर अपने आमोद के भवन को न खड़ा करे।

भावार्थ—यातुधान को राजा उसके साथियों से अलग करे। ज्ञानी उसे ज्ञान देने के लिये प्राप्त हो और ज्ञान देकर उसकी वासना-ग्रन्थियों को विनष्ट करे।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान द्वारा वासना विनाश

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदुस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।
यद्वान्तरिक्षे पथिभिः पतन्तं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ६ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **इदानीम्**=अब **यत्र**=जहाँ भी **तिष्ठन्तम्**=ठहरे हुए, प्रसुप्त अवस्था में पड़े हुए हिंसक विचार को (यातुधान को) **उत वा**=अथवा **चरन्तम्**=गति करते हुए, अर्थात् जागरित अवस्था में कार्य करते हुए अशुभ विचार को **पश्यसि**=देखते हैं आप **तम्**=उसको **विध्य**=नष्ट करिये। हमारे जागरित व प्रसुप्त सभी अशुभ विचार विनष्ट हो जाएँ। (२) **यद् वा**=अथवा **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **पथिभिः पतन्तम्**=नाना मार्गों से गति करते हुए, विविधरूपों में प्रकट होते हुए **तम्**=इस यातुधान को **अस्ता**=सुदूर फेंकनेवाले आप **शिशानः**=हमारी बुद्धियों को तीव्र करते हुए **शर्वा**=नाशक शक्ति के द्वारा **विध्य**=बींध डालिये। आपकी कृपा से विविध रूपों में हृदय के अन्दर उठनेवाला अशुभ भाव विनष्ट हो जाए।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और अशुभ भाव विनष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अपरिपक्वता को दूर करनेवाली ज्ञान की वाणियाँ

उतालब्धं स्पृणुहि जातवेद आलेभानादृष्टिभिर्यातुधानात्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्क्षास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! गत मन्त्र के अनुसार आप मेरी बुद्धि को तीव्र करिये **उत**=और **आलेभानात्**=पकड़ लेनेवाले **यातुधानात्**=पीड़ा के कारणभूत राक्षसी भाव से **आलब्धम्**=पकड़े हुए मुझे आप **ऋष्टिभिः**=(ऋष गतौ, ऋषि दर्शनात्) क्रियाशीलता व ज्ञानरूप अस्त्रों के द्वारा **स्पृणुहि**=रक्षित करिये। मैं ज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ होकर तथा क्रियाशील बनकर अपने को वासनाओं का शिकार होने से बचाऊँ। (२) **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **शोशुचानः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए आप मुझे भी इस ज्ञान दीप्ति को प्राप्त कराने के द्वारा **पूर्वः**=(पृ पालनपूरणयोः) मेरा पालन व पूरण करनेवाले होते हुए **निजहि**=इन राक्षसी भावों को नष्ट कर दीजिये। (३) **आमादः**=(आम अद्) कच्चेपन को समाप्त कर देनेवाली **एनीः**=उज्ज्वल-शुभ्र **क्ष्विङ्क्षाः**=ज्ञान की वाणियाँ **तम्**=उस राक्षसी भाव को **अदन्तु**=खा जाएँ।

भावार्थ—हमारे अशुभ भाव दूर होकर हमारे जीवनों में शुद्ध भावों का वर्धन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ हमारी अपरिपक्वता को दूर कर दें। परिपक्व विचारों के बनकर हम इन अशुभ वासनाओं में न फँस जाएँ।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान के द्वारा उत्कृष्ट जीवन का निर्माण

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यो यातुधानो य इदं कृणोति।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः यातुधानः**=जो औरों को पीड़ा पहुँचानेवाला है, **यः इदं कृणोति**=जो इस जगत् को हानि पहुँचाता है या इस लोक के प्राणियों की हिंसा करता है, **सः**

यतमः=वह जो भी है तम्=उसको इह=यहाँ प्र ब्रूहि=प्रकर्षेण उपदेश दीजिये। (२) हे यविष्ठ=अधिक से अधिक बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! तम्=उसे समिधा=ज्ञान की दीप्ति के द्वारा आरभस्व=(to form) श्रेष्ठ बल दीजिये। एनम्=इसको नृचक्षसः=(नॄन् चष्टे-looks after men) प्रजा का पालन करनेवाले राजा की चक्षुषे=आँख के लिये रन्धय=(anahe subject to) वशीभूत करिये। राष्ट्र में राजा इन मनुष्यों पर दृष्टि रखे और इन्हें प्रजा विध्वंस के कार्यों से रोक कर, धीमे-धीमे ज्ञान प्रदान के द्वारा इनके सुधार का प्रयत्न करे।

भावार्थ—प्रभु यातुधानों को प्रेरणा देकर परिवर्तित जीवनवाला बनाते हैं। इन्हें राजा के वशीभूत करके इनका सुधार करते हैं।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राज कर्त्तव्य

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः॥ ९॥

(१) हे अग्ने=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू तीक्ष्णेन चक्षुषा=बड़ी तीव्र दृष्टि से यज्ञं रक्ष=यज्ञ की रक्षा कर। इस राष्ट्रयज्ञ को यातुधानों के द्वारा किये जानेवाले विध्वंस से बचा। (२) हे प्रचेतः=प्रकृष्ट ज्ञानवाले राजन्! वसुभ्यः=उत्तम निवासवालों के लिये, जीवन को उत्तमता से बितानेवालों के लिये तू इस राष्ट्रयज्ञ को प्राञ्चं प्रणय=सदा अग्रगतिवाला कर। यह राष्ट्र निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाला हो और यातुधानों से विपरीत वसुओं के लिये स्वयं उत्तम जीवन बितानेवालों तथा औरों को उत्तम जीवन बिताने देने वालों के लिये इस राष्ट्र को तू उन्नत कर। वसुओं को यहाँ उन्नति के सब साधन प्राप्त हों। (३) हे नृचक्षः=प्रजाओं का ध्यान करनेवाले राजा रक्षांसि हिंस्रम्=राक्षसी वृत्तियों को समाप्त करने के स्वभाववाले, अभिशोशुचानम्=बाहर व अन्दर दीप्तिवाले, बाहर स्वास्थ्य के तेज से सम्पन्न और अन्दर ज्ञान ज्योति से दीप्त त्वा=तुझको यातुधाना=ये प्रजा-पीड़क मा दभन्=हिंसित करनेवाले न हों। तुझे ये अपने दबाव में न ला सकें।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य यही है कि वह राष्ट्रयज्ञ के विघ्न का ही यातुधानों को दूर करे। यातुधानों को दूर करके वसुओं के लिये उन्नति के साधनों को प्राप्त कराये।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिविध दण्ड

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥ १०॥

(१) हे राजन्! नृचक्षाः=प्रजाओं का पालन करनेवाला तू विक्षु=प्रजाओं में रक्षः=राक्षसी वृत्तिवाले के परिपश्य=सब ओर देखनेवाला हो। राष्ट्र में जहाँ भी कोई राक्षसी वृत्तिवाला व्यक्ति हो, वह तेरी आँख से ओझल न हो जाए। तस्य=उस राक्षस के त्रीणि=तीन अग्रा=प्रमुख दोषों को प्रतिशृणीहि=तू एक-एक करके समाप्त करनेवाला हो। राष्ट्र में सब अपराधों के मूल में 'काम, क्रोध तथा लोभ' ही होते हैं। इन तीनों मूल कारणों को तू समाप्त करनेवाला बन। ज्ञान को देकर तू इन्हें काम आदि से ऊपर उठानेवाला हो। (२) हे अग्ने=राष्ट्र की अग्रगति के साधक राजन्! तस्य=उसके पृष्टीः=आधारभूत (baching वाली) स्थानों लोगों को तू हरसा=अपनी तेजस्विता के द्वारा शृणीहि=नष्ट कर डाल। तेरे राष्ट्र में कोई व्यक्ति इन राष्ट्र के अपराधियों के सहायक (पृष्ठ)

न बनें। अपने घरों पर इन्हें ठहरने का अवसर न दें। (३) हे राजन्! तू **यातुधानस्य**-इस प्रजा-पीड़क के **मूलम्**-मूल को, पाप कर्म की आधारभूत वृत्ति को **त्रेधा**-तीन प्रकार से **वृश्च**-कष्ट डाल। सबसे प्रथम 'वाग् दण्ड' के द्वारा, 'फिर ऐसा न करना' इस प्रकार समझाने के द्वारा इसकी वृत्ति को दूर करने का प्रयत्न करे। ऐसा न होने पर 'धिग् दण्ड' का करे, 'इतने कुलीन होकर ऐसा करते हो' इत्यादि वाक्यों से इसका संतक्षण करके इसे पाप से रोके। अन्त में अर्थदण्ड (जुरमाना) व वध दण्ड को देकर इसकी अशुभ वृत्ति को समाप्त करे।

भावार्थ—राजा यातुधानों को ज्ञान देकर 'काम-क्रोध-लोभ' का शिकार होने से बचाये। इसको पनाह देनेवालों को भी ताड़ित करे। यातुधान को क्रमशः 'वाग् दण्ड, धिग् दण्ड, अर्थदण्ड और वध दण्ड' के द्वारा पाप कर्म से निवृत्त करने के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अध्यापन व उपदेश द्वारा परिवर्तन

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि वृङ्धि ॥ ११ ॥

(१) हे **अग्ने**-राष्ट्र के अग्रेणी राजन्! **यः**-जो **यातुधानः**-प्रजा-पीड़क व्यक्ति **अनृतेन**-अनृत से **ऋतं हन्ति**-ऋत को नष्ट करता है, वह **त्रिः**-तीन बार **ते**-तेरे **प्रसितिम्**-बन्धन में **एतु**-प्राप्त हो। प्रथम बार उसे 'वाग्दण्ड' देकर छोड़ दिया जाए। दूसरी बार उसके लिये 'धिग्दण्ड' का प्रयोग हो। फिर तीसरी बार 'अर्थदण्ड व वधदण्ड' के योग्य उसे समझा जाये। (२) हे **जातवेदः**-राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाले राजन्! **तम्**-उस यातुधान को **अर्चिषा**-ज्ञान की ज्वाला से **स्फूर्जयन्**-दीप्त करते हुए (स्फुर्ज्=to sline) **गृणते समक्षम्**-स्तोता व उपदेष्टा के सामने **एनम्**-इसको **निवृङ्धि**-निश्चय से पवित्र करने का प्रयत्न कर (वृणक्ति to purify)। इस मन्त्र भाग से यह स्पष्ट है कि राजा ने जेल में इन अपराधियों के सुधार का पूर्ण प्रयत्न करना है और इस प्रयत्न में मुख्य बात यह है कि जेल में उनके ज्ञान के मापक को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जाये और वहाँ उपदेष्टा की व्यवस्था करके इनके जीवन को पवित्र करने का प्रबन्ध हो। 'अध्यापन व उपदेश' अपराधी की मनोवृत्ति को परिवर्तित करने में बड़े सहायक होंगे।

भावार्थ—कैदियों के लिये अध्यापन व उपदेश की व्यवस्था करके उनके जीवन को परिवर्तित करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिव्य ज्योति से यातुधानत्व का दहन

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजं येन पश्यसि यातुधानम्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ १२ ॥

(१) हे **अग्ने**-राष्ट्र के अग्रेणी राजन्! तू **तद् चक्षुः**-उस आँख को **रेभे**-(talker) बहुत बोलनेवाले पर भी **प्रतिधेहि**-रख, **येन**-जिस आँख से तू **शफारुजम्**-राष्ट्र वृक्ष के मूल पर कुठाराघात करनेवाले (शफ-root of a tree) **यातुधानम्**-प्रजापीड़क को **पश्यसि**-देखता है। राजा को यातुधानों पर तो दृष्टि रखनी ही चाहिए, इनके अतिरिक्त बहुत बोलनेवालों पर भी उसे दृष्टि रखनी है। ये रेभ प्रजा के बहकाने में समर्थ हो जाते हैं और उन्हें मार्ग से भटका देते हैं। (२) हे राजन्! तू **अथर्ववत्**-एक अडिग पुरुष की तरह (न थर्वति) **दैव्येन**-दिव्यगुणों की

उत्पत्ति के लिये हितकर **ज्योतिषा**=ज्ञान से इस **सत्यं धूर्वन्तम्**=सत्य की हिंसा करते हुए **अचितम्**=नासमझ यातुधान को **न्योष**=(नि ओष) नितरां दग्ध करनेवाला हो (उष दाहे)। ज्ञान के द्वारा इसके यातुधानत्व को समाप्त करके इसे पवित्र जीवनवाला बना दीजिये।

भावार्थ—राजा ज्ञान प्रसार के द्वारा यातुधानों के यातुधानत्व को समाप्त करके उन्हें दैवी वृत्तिवाला बनाये।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पति-पत्नी व मित्रों को कटु शब्दों के लिये वाग्दण्ड

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=राजन्! **यद्**=जो **अद्य**=आज **मिथुना**=पति-पत्नी परस्पर **शपातः**=एक दूसरे को आकृष्ट करनेवाले होते हैं, परस्पर अपशब्द बोल बैठते हैं और क्रोध में आकर राजाधिकरण में (न्यायालय में) आते हैं। (२) **यत्**=जो **रेभाः**=बहुत बोलने के स्वभाववाले मित्र **वाचः**=वाणी के **तृष्टम्**=(hoarse, rugged, harsh, pungent) कटुता को **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, अर्थात् बात-बात में तेजी में आ बैठते हैं और कड़वे शब्दवाले बैठते हैं और राजाधिकरण में आते हैं। (३) इन **यातुधानान्**=एक दूसरे को पीड़ित करनेवालों को **तया**=उस वाणी से **हृदये विध्य**=हृदय में विद्ध कर **या**=जो वाणी **मन्योः**=कुछ भी विचारशील पुरुष के **मनसः**=मन के लिये **शरव्या जायते**=वाण समूह बन जाती है। अर्थात् इन व्यक्तियों के हृदय में वे शब्द चुभते हैं और उनके अन्दर कुछ आत्मग्लानि पैदा करते हैं और उन्हें अपने कर्म के लिये पश्चात्तापयुक्त करते हैं। (४) पति-पत्नी परस्पर कुछ कटु बोल बैठें और यदि मित्र आपस में लड़ पड़ें तो राजा को उन्हें वाग्दण्ड देकर उस बात के लिये कुछ शर्मिन्दा कर देना ही ठीक है। उन्हें इस प्रकार धिकृत कर देना कि वे कुछ अपने दिलों में हो गई गलती को महसूस करें और आगे से वैसी गलती न करने का सङ्कल्प करें।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर कटु शब्द बोल बैठें या मित्र परस्पर तेजी में अशुभ शब्द बोल जाएँ तो राजा उन्हें वाग्दण्ड द्वारा भविष्य में वैसा न करने के लिये प्रेरित करे।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'तप, तेज व ज्योति' से पाप का दूर करना

परां शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपो अभि शोशुचानः॥ १४॥

(१) **तपसा**=तप के द्वारा **यातुधानान्**=पीड़ा के देनेवालों को **पराशृणीहि**=सुदूर विनष्ट कर। जिस समय जीवन में तप की कमी आती है, भोगवृत्ति बढ़ती है, उसी समय मनुष्य औरों को पीड़ित करनेवाला बनता है। यदि प्रजा में तपस्या की भावना बनी रहे, तो उनके जीवनों में 'यातुधानत्व' आता ही नहीं। (२) हे **अग्ने**=राजन्! **हरसा**=(ज्वालितेन तेजसा द० १३।४१) तेजस्विता के द्वारा **रक्षः**=राक्षसी वृत्तिवालों को **पराशृणीहि**=सुदूर विशीर्ण करनेवाले होइये। तेजस्विता अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करनेवाली है। तेजस्वी पुरुष रमण व मौज की वृत्ति से ही ऊपर उठ जाता है, सो उसे औरों के क्षय करने का विचार ही नहीं उठता। (३) **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वाला से **मूरदेवान्**=मूर्खतापूर्ण व्यवहार करनेवालों को **पराशृणीहि**=नष्ट करिये। ज्ञान के

प्रसार के द्वारा मूर्खता के नष्ट होने पर सब व्यवहार विवेक व सभ्यता के साथ होने लगते हैं। (४) हे राजन्! **अभि शोशुचानः**=आन्तरिक व बाह्य पवित्रता को करता हुआ अथवा प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या दोनों की दीप्ति को करता हुआ तू **असुतृपः**=केवल अपने प्राणों के तृप्त करने में लगे हुए लोगों को **परा**=दूर कर। आत्मविद्या इन्हें केवल निजू प्राणतृप्ति से ऊपर उठाये। ये जीवन का लक्ष्य 'आत्म-प्राप्ति' को बनाकर केवल प्राणपोषण की प्रवृत्ति से ऊपर उठनेवाले हों। यद्यपि ये 'असुतृप' समाज को इतनी हानि नहीं पहुँचाते जितनी कि 'यातुधान, रक्षस् व मूरदेव' पहुँचाते हैं, तथापि सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति के लिये ऐसे लोगों का न होना आवश्यक ही है।

भावार्थ—तप के द्वारा यातुधानत्व का विनाश हो, तेजस्विता से राक्षसीवृत्ति का विलोप हो और ज्ञान-प्रसार से मूरदेवत्व का मरण हो। प्रकृतिविद्या के साथ आत्मविद्या के उपदेश से मनुष्य असुतृप ही बने रहने से ऊपर उठें।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

हम 'वाचास्तेन' न बनें

परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु तृ॒ष्टाः।
वा॒चास्ते॑नं॒ शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न्विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑ ॥ १५ ॥

(१) **अद्य**=आज **देवाः**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले विद्वान् **वृजिनम्**=पाप को **पराशृणन्तु**=दूर शीर्ण करें। ज्ञान की प्राप्ति से पापवृत्ति दूर हो। राष्ट्र में राजा ज्ञान-प्रसार का पूर्ण ध्यान करे। इस ज्ञान-प्रसार से ही पापवृत्ति विनष्ट होगी। (२) **तृष्टाः**=अत्यन्त कटु **शपथाः**=(शप आक्रोशे) अभिशाप **एनम्**=इस कटु शब्द बोलनेवाले को ही **प्रत्यग् यन्तु**=वापिस प्राप्त हों। समझदार मनुष्य गालियों का उत्तर गालियों में नहीं देता और इस प्रकार अपशब्द बोलनेवाले के पास ही उसके अपशब्द लौट जाते हैं। और वस्तुतः **वाचास्तेनम्**=(अनृत वचनं सा०) वाणी की चोरी करनेवाले, अर्थात् अनृत व कटु शब्द बोलनेवाले इस व्यक्ति को उसके वचन ही **शरवः**=शरतुल्य होकर **मर्मन् ऋच्छन्तु**=मर्मस्थलों में प्राप्त हों। (३) इस वाचास्तेन को जहाँ अपने शब्द ही पीड़ाकर हों, वहाँ यह **यातुधानः**=औरों को पीड़ित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के (विशति सर्वत्र) **प्रसितिं एतु**=बन्धन को प्राप्त हो। वेद में अन्यत्र कहा है कि 'ये ते पाशा वरुण सप्त-सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विष्पिता सर्वे अनतं वरुणम्' वरुण के पाश अनृतभाषण करनेवाले को बाँधनेवाले हों। यह वाचास्तेन पशु-पक्षियों की योनियों में भटकता हुआ, देर में फिर कभी मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। अपने जीवनकाल में भी अपने वचनों से स्वयं कष्ट को प्राप्त करता है।

भावार्थ—ज्ञान से पाप दूर होता है। ज्ञानी अपशब्दों को न लेकर बोलनेवाले के प्रति ही उनको लौटा देता है।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रूरता को रोकना

यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातु॒धानः॑।
यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने॒ तेषां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒सापि॑ वृश्च ॥ १६ ॥

(१) हे **अग्ने**=राजन्! **तेषाम्**=उनके **शीर्षाणि**=सिरों को **हरसा**=अपने ज्वलित तेज से **वृश्च**=तू छिन्न करनेवाला हो। अर्थात् इनको उचित दण्ड देकर उनके अपवित्र कार्यों से उन्हें रोक। सबसे प्रथम उसको रोक **यः**=जो **पौरुषेयेण**=पुरुष सम्बन्धी **क्रविषा**=मांस से **समङ्क्ते**=अपने

को संगत करता है। नर-मांस के वर्धन की कामना करता है। (२) यः-जो अश्व्येन-घोड़े के मांस से अपने को संगत करता है घोड़े के मांस को खाता है अथवा घोड़े को दिन-रात जोते रखकर अपने भोग बढ़ाने का यत्न करता है। यः यातुधानः-जो औरों को पीड़ित करनेवाला पशुना-अन्य पशुओं से, अन्य पशुओं को पीड़ित करके अपने धन को बढ़ाना चाहता है, गधे आदि पर अधिक बोझ लादकर अपनी अतिरिक्त आजीविका सिद्ध करने के लिये यत्नशील होता है। (३) और यः-जो अघ्न्यायाः-अहन्तव्य गौ के क्षीरम्-दूध को भरति-दोहने की बजाय पीड़ित करके हरना चाहता है (हरति-भरति)। बछड़े को भी उचित मात्रा में दूध न देकर जो सारे दूध को ले लेने की कामना करता है उसे राजा दण्ड देकर इस अपराध से रोके। मनुष्यों पर, घोड़ों पर, अन्य पशुओं पर तथा गौवों पर होनेवाली क्रूरता को दूर करना यह राज कर्त्तव्य है।

भावार्थ—राजनियम ऐसा हो कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों पर, घोड़े व अन्य पशुओं पर व गौवों पर क्रूरता न कर सके।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गोपीड़क को दण्ड

संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मन् ॥ १७ ॥

(१) हे नृचक्षः-मनुष्यों का ध्यान करनेवाले प्रजापालक राजन्! यातुधानः-गौ को पीड़ित करके उसके दूध को छीननेवाला यातुधान उस्रियायाः-गौ का जो संवत्सरीणं पयः-वर्षभर में मिलनेवाला दूध है तस्य मा आशीत्-उसका भोजन न करे। उस यातुधान को वर्षभर गौ का दूध पीने को न मिले। वह गौ की सेवा करे, पर उसे गौ के दूध से वञ्चित रखा जाये। क्रूरता से दुग्धहरण का यही समुचित दण्ड है। (२) यतमः-जो भी यातुधान अग्ने-हे राजन्! पीयूषम्-अभिनव पय को शुरू-शुरू में स्तनों से बाहर आनेवाले दूध को जो वस्तुतः बछड़े का भाग है, उस दूध को तितृप्सात्-अपनी तृप्ति का साधन बनाने की इच्छा करता है तम्-उस प्रत्यञ्चम्-प्रतिकूल मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति को अर्चिषा-ज्ञान ज्वाला से मर्मन्-मर्मस्थल में विध्य-तू विद्ध करनेवाला बन। उसे तू इस प्रकार के शब्दों में समझाने का प्रयत्न कर कि 'बच्चे भूखे बैठे हों और मात-पिता मजे से खा रहे हों', तो क्या यह दृश्य माता-पिता की मानवता का सूचक है! इसी प्रकार गौ का बछड़ा तरसता रह जाये और तुम गौ के अधस् से एक-एक बूंद दूध को निकालने का प्रयत्न करो तो यह कहाँ तक ठीक है? इस प्रकार उसे ज्ञान दिया जाए कि यह उसके हृदय में घर कर जाये। उसे अपना अपराध मर्मविद्ध करने लगे।

भावार्थ—पीड़ा देकर गोदुग्ध हरण करनेवाले को वर्षभर दूध न मिल सकने का दण्ड दिया जाये।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विष नकि दूध

विषं गवां यातुधाना: पिबन्त्वा वृश्च्यन्तामदितये दुरेवा:।
परैनान्देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥ १८ ॥

(१) यातुधानाः-गत मन्त्र में वर्णित पीड़ित करके गौवों के दूध को निकालनेवाले यातुधान लोग गवाम्-गौवों के विषम्-विष को पिबन्तु-पीयें। वस्तुतः जब गौवों को पीड़ित किया जाता

है तो उनके दूध आदि में विष की उत्पत्ति हो ही जाती है। सो इस विषैले दूध को पीनेवाले लोग, दूध क्या पीते हैं, विष को ही पीते हैं। **अदितये**=अदिति शरीर के अखण्डन व स्वास्थ्य के लिये दूध आदि का अतिमात्र प्रयोग करनेवाले ये यातुधान **दुरेवाः**=गलत मार्ग पर चलते हुए **आवृश्च्यन्ताम्**=छिन्न स्वास्थ्यवाले किये जायें। इन्होंने अपने गलत कर्मों के कारण दूध न पीकर विष ही पिया है। (२) **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **एनान्**=इन लोगों को **पराददातु**=स्वास्थ्यभंग आदि अनुभवों को प्राप्त कराके इन अपकर्मों से पृथक् करे। ये लोग दूध के साथ **ओषधीनां भागम्**=ओषधियों के सेवनीय अंश को **पराजयन्ताम्**=(लभन्ताम्) प्राप्त करनेवाले हों। 'पयः पशूनाम्, रसमोषधीनाम्' इस मन्त्र भाग के अनुसार दूध व ओषधिरस दोनों का ही प्रयोग हितकर है। इस अवस्था में दूध को अनुचित प्रकार से प्राप्त करने की आवश्यकता भी न रहेगी।

भावार्थ—गौ को पीड़ित करके प्राप्त किया गया दूध विषमय हो जाता है। उसका प्रयोग ठीक नहीं।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-प्रसार व यातुधानत्व का अन्त

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान्क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १९ ॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू **सनात्**=चिरकाल से **यातुधानान्**=इन प्रजा व पशुओं के पीड़कों को **मृणसि**=पीड़ित करता है। **त्वा**=तुझे **पृतनासु**=संग्रामों में **रक्षांसि**=ये राक्षसी वृत्ति के लोग **न**=नहीं **जिग्युः**=जीत पाते। (२) तू **क्रव्यादः**=इन मांस-भक्षकों को **सहमूरान्**=जड़ समेत **अनुदह**=भस्म कर दे। इनको जड़ समेत भस्म करने का भाव यह है कि 'ये न तो मांस खायें और ना ही इनकी मांस खाने की रुचि रह जाए। विषय, जायें, तो विषयरस भी जाये। **ते**=आपके **दैव्यायाः हेत्याः**=दिव्य वज्र से, प्रकाशमय वज्र से **मा मुक्षत**=कोई भी यातुधान मुक्त न रह जाए। ज्ञान प्रकाश के फैलने से उनका यातुधानत्व व क्रव्यादपना ही समाप्त हो जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ज्ञान प्रसार के द्वारा यातुधानत्व को समाप्त करे।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अघशंस-दहन

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तात्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्।
प्रति ते ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ २० ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **अधरात्**=नीचे से **उदक्तात्**=ऊपर से अर्थात् दक्षिण से तथा उत्तर से, **त्वम्**=आप **पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **पुरस्तात्**=सामने से अर्थात् पश्चिम से और पूर्व से **रक्षा**=रक्षित करिये। (२) **शोशुचतः**=सर्वत्र पवित्रता का व दीप्ति का संचार करनेवाले **ते**=आपके **ते**=वे **अजरासः**=कभी जीर्ण न होनेवाले **तपिष्ठाः**=अत्यन्त सन्तापक दण्ड **अघशंसम्**=पाप का शंसन करनेवाले को **दहन्तु**=भस्म कर दे। आपकी फैलाई हुई ज्ञानरश्मियों से इनकी अघशंसन की वृत्ति समाप्त हो जाए। ये ठीक मार्ग को देखकर अशुभ मार्ग से विमुख हो जाएँ। राजा को भी यही चाहिए कि राष्ट्र में सत्य ज्ञान के प्रसार की ऐसी व्यवस्था करे कि लोग अशुभ बातों का शंसन न करते रहें।

भावार्थ—प्रभु हमें सब ओर से रक्षित करें। प्रभु का प्रकाश व प्रभु से दिये जानेवाले दण्ड

अशुभ के शंसन की वृत्ति को समाप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रक्षण व पूर्ण-जीवन

प॒श्चात्पु॒रस्ता॑दध॒रादु॒दक्ता॑त्क॒विः काव्ये॑न॒ परि॑ पाहि राजन्।
सखे॑ सखा॑यम॒जरो॑ जरि॒म्णेऽग्ने॒ मर्ताँ॒ अम॑र्त्य॒स्त्वं नः॥ २१॥

(१) हे **राजन्**=ज्ञानदीप्त प्रभो! अथवा ब्रह्माण्ड के नियमित (reguleted) करनेवाले प्रभो! आप **कविः**=क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी हैं। आप **काव्येन**=इस वेदरूप अजरामर काव्य के द्वारा (पश्यदेवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **पश्चात् पुरस्तात्**=पीछे व आगे से, पश्चिम व पूर्व से **अधरात् उदक्तात्**=नीचे व ऊपर से, दक्षिण व उत्तर से हमें **परिपाहि**=रक्षित करिये। आपके इस काव्य की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम सदा सुरक्षित जीवन बिता पायें। (२) हे **सखे**=मित्र प्रभो! आप **सखायम्**=अपने सखा मुझको रक्षित करिये। 'मित्र' मित्र का रक्षण करता ही है, मित्र का मित्रत्व है ही यह कि वह रक्षण करता है 'प्रमीतेः त्रायते'। (३) हे **अग्ने**=सब रोगों व पापों से बचाकर आगे ले चलते हुए **त्वम्**=आप **न**=हमें **अजरः**=अजर-जरारहित होते हुए **जरिम्णे**=पूर्ण जरावस्थावाले दीर्घजीवन के लिये प्राप्त कराइये। **अमर्त्यः**=आप अमर्त्य हैं। हम **मर्तान्**=मरणधर्मा अपने मित्रों को आप पूर्ण जीवनरूप अमरता को प्राप्त करानेवाले हों। आपके मित्र बनकर हम पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें वेदरूप काव्य के द्वारा पाप से बचाकर पूर्ण जीवन प्राप्त करायें।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु का धारण

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्रं॑ सहस्य धीमहि। धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम्॥ २२॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सहस्य**=शत्रुओं का मर्षण करनेवालों में उत्तम प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने में धारण करते हैं, जो आप **पुरम्**=(पृ पालनपूरणयोः) हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। हमारे शरीर आपकी कृपा से ही रोगों से आक्रान्त नहीं होते और हमारे मन न्यूनताओं से रहित रहते हैं। **विप्रम्**=ज्ञान को देकर आप हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। ज्ञान से सब वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं और इस प्रकार हमारे मन निर्मल हो जाते हैं। **धृषद्वर्णम्**=आपके गुणों का वर्णन व नामों का उच्चारण ही हमारे शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, (२) हे प्रभो! आपको हम **दिवे दिवे**=प्रतिदिन धारण करते हैं। उन आपको जो **भङ्गुरावताम्**=हमारा भंग करनेवाली राक्षसी वृत्तियों के **हन्तारम्**=नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण हमारी अशुभवृत्तियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

व्यापक ज्ञान व सूर्यवत् गति

वि॒षेण॑ भङ्गु॒राव॑तः॒ प्रति॑ ष्म र॒क्षसो॑ दह। अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ तपु॑रग्राभिर्ऋ॒ष्टिभिः॑॥ २३॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप **विषेण**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक ज्ञान के द्वारा **भङ्गुरावतः**=हमारी शक्तियों का भंग करनेवाली **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को **प्रति दह स्म**=निश्चय से एक-एक करके भस्म कर दीजिये। ज्ञानाग्नि से वासनाएँ जल जाती हैं। (२) **तिग्मेन शोचिषा**=तीव्र ज्ञान की ज्योति से तथा **तपुः अग्राभिः**=(तपुः=the sun) सूर्य है अग्रभाग में

जिनके ऐसी **ऋष्टिभिः**-(ऋष् गतौ) गतियों से हमारी राक्षसी वृत्तियों का दहन करिये। सूर्य को सन्मुख रख के अर्थात् सूर्य को आदर्श मानकर की जानेवाली गतियाँ 'तपुरग्रा ऋष्टियाँ' हैं। 'सूर्याचन्द्रमसाविव'-सूर्य और चन्द्रमा की तरह नियमित गतियों से अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—व्यापक व दीप्त ज्ञान से तथा सूर्य की तरह नियमित गति से हम अशुभवृत्तियों का दहन करनेवाले हों।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तीव्र बुद्धि व नाम-स्मरण

प्रत्यग्ने मिथुना दह यातुधाना किमीदिना। सं त्वा शिशामि जागृह्यदब्धं विप्र मन्मभिः ॥ २४ ॥

(१) हमारे जीवनों में 'काम-क्रोध' प्रायः साथ-साथ चलते हैं, 'कामात् क्रोधोऽभिजायते', क्रोध तो पैदा ही काम से होता है। इसी प्रकार 'लोभ मोह' का द्वन्द्व है। जिस भी वस्तु का लोभ होता है, उसी के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है। 'मद मत्सर' भी द्वन्द्वात्मक हैं, जब मद होता है तभी मत्सर भी आता है। हे **अग्ने**-प्रकाशमय प्रभो! इन **मिथुना**-द्वन्द्वभूत **किमीदिना**-'किम् इदानीम् अद्यः' 'अब क्या खायें और अब क्या खायें' इस वृत्तिवाले **यातुधाना**-औरों को पीड़ित करनेवाले राक्षसी भावों को **प्रतिदह**-भस्म कर दीजिये। (२) जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**-तुझे **संशिशामि**-तीव्र बुद्धिवाला करता हूँ, **जागृहि**-तू जाग और इन वासनाओं को आक्रमण का अवसर ही न दे। उनके आक्रमण होने पर भी इस तीव्र बुद्धि से उनको भस्म करनेवाला बन। हे **विप्र**-अपना पूरण करनेवाले जीव! मैं तुझे **मन्मभिः**-ज्ञानपूर्वक किये गये इन स्तवनों के द्वारा **अदब्धम्**-अहिंसित बनाता हूँ। जो भी प्रभु का नामस्मरण करता है, उसके अर्थ का चिन्तन करता है, वह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—तीव्र बुद्धि से, सदा सावधान रहने से तथा समझ के साथ प्रभु नामस्मरण से हम वासनाओं का विनाश करें।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

हृदय में प्रभु-स्थापन द्वारा रिक्तता का न होने देना

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि विश्वतः प्रति। यातुधानस्य रक्षसो बलं वि रुज वीर्यम् ॥ २५ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **रक्षसः हरः बलम्**-राक्षसीभावों के हरणात्मक तेज को **हरसा**-अपने तेज से **विश्वतः प्रति**-सब ओर से **प्रति शृणीहि**-नष्ट करिये। काम आदि आसुरभाव अत्यन्त प्रबल हैं, परन्तु प्रभु के तेज के सामने इनका तेज तुच्छ हो जाता है। (२) इस **यातुधानस्य**-पीड़ा का आधान करनेवाले **रक्षसः**-राक्षसीभाव के **वीर्यम्**-सामर्थ्य को **विरुज**-विशेषरूप से भग्न कर दीजिये। आपके तेज को धारण करके हम आसुरभावों के तेज को नष्ट करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का हृदयों में धारण करें। परिणामतः हमारे हृदय रिक्त न होंगे और उनमें आसुरभावों के लिये स्थान ही न होगा।

सारे सूक्त में भिन्न-भिन्न प्रकार से यही कहा गया है कि हम प्रभु का धारण करेंगे तो हमारे राक्षसीभाव स्वतः नष्ट हो जाएँगे। इन राक्षसीभावों को नष्ट करके मनुष्य उत्कृष्ट मूर्धावाला ज्ञानी अथवा उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ 'मूर्धन्वान्' बनता है। यह अंग-प्रत्यंगों में रसवाला होने के कारण 'आंगिरस' होता है। तथा सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनकर 'वामदेव्य' कहलाता है। यही अगले सूक्त का 'ऋषि' है। यह प्रार्थना करता है कि—

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम का धारण

हुविष्पान्तम॒जरं स्व॒र्विदि॑ दिवि॒स्पृश्याहु॑तं जुष्ट॑म॒ग्नौ।
तस्य॒ भर्म॑णे॒ भुव॑नाय दे॒वा धर्म॑णे॒ कं स्व॒धया॑ पप्रथन्त ॥ १ ॥

(१) शरीर में प्रभु वैश्वानर अग्नि के रूप से रहते हैं। इस वैश्वानर अग्नि में, शरीर में उत्पन्न होनेवाले 'सोम' की आहुति दी जाती है, तो सोम का शरीर में ही रक्षण हो जाता है। इस रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों, (ख) ज्ञान की वृद्धि में सदा लगे रहें और (ग) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों। इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **स्वर्विदि**=(स्वृ शब्दे) स्तुति शब्दों को (विद लाभे) प्राप्त करनेवाले, अर्थात् प्रभु का स्तवन करनेवाले, **दिविस्पृशि**=प्रकाश में स्पर्श करनेवाले, अर्थात् प्रकाशमय जीवनवाले, **अग्नौ**=गतिशील (अगि गतौ) पुरुष में **आहुतम्**=जिसकी आहुति दी जाती है और **जुष्टम्**=जो प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता है, वह **हविः**=यह सोमरूप हवि **पान्तम्**=शरीर का रक्षण करनेवाली है, **अजरम्**=कभी भी जीर्ण न होने देनेवाली है (न जरा यस्मात्)। सोम के शरीर में ही आहुत करने के द्वारा हम शरीर का रोगों से बचाव कर पाते हैं और इस शरीर में जीर्णता को नहीं आने देते। (२) **तस्य**=उस सोमरूप हवि के **भर्मणे**=भरण के लिये, **भुवनाय**=उत्पादन के लिये तथा **धर्मणे**=धारण के लिये **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **स्वधया**=आत्मतत्त्व के धारण के द्वारा **कम्**=सुख को **पप्रथन्त**=विस्तृत करते हैं। सोम के रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) प्रभु का स्मरण करें। यह प्रभु-स्मरण हमें विलास के मार्ग पर जाने से बचाता है। प्रभु-स्मरण के अभाव में विलास की वृत्ति बढ़कर विनाश ही विनाश हो जाता है। (ख) साथ ही प्रसन्न रहना भी आवश्यक है। शोक, क्रोध, ईर्ष्यादि वृत्तियाँ भी सोम के विनाश का कारण बनती हैं। इसीलिए ब्रह्मचारी के लिए क्रोध, शोक आदि का त्याग आवश्यक है।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण ही उसे नीरोग व अजर बनाता है। इसके रक्षण के लिए आवश्यक है कि (क) प्रभु का स्मरण करें, (ख) ज्ञान प्राप्ति में लगे रहें, (ग) सदा क्रियाशील बने रहें।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्ग का प्रारम्भ

गी॒र्णं भुव॑नं॒ तम॒साप॑गूळ्हमा॒विः स्व॑रभवज्जा॒ते अ॒ग्नौ।
तस्य॑ दे॒वाः पृ॑थि॒वी द्यौरु॒तापोऽर॑णय॒न्नोष॑धीः स॒ख्ये अ॑स्य ॥ २ ॥

(१) सृष्टिकाल की समाप्ति पर **गीर्णम्**=निगल लिया गया, अर्थात् कारणरूप में चला गया यह **भुवनम्**=सारा जगत् **तमसा अपगूढम्**=अन्धकार से आवृत हो जाता है, 'तमस्' नामवाली प्रकृति में छिप जाता है। फिर प्रलयकाल की समाप्ति पर **अग्नौ जाते**=प्रभु की तप रूप अग्नि के प्रकट होने पर **स्वः**=(इदं सर्वम् सा०) यह सम्पूर्ण संसार **आविः अभवत्**=प्रादुर्भूत हो जाता है। 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'। प्रलयकाल समाप्त होता है और अग्नि नामवाले प्रभु अपनी तप की अग्नि से इस सारे ब्रह्माण्ड को उस प्रकृति में से प्रादुर्भूत कर देते हैं। (२) **तस्य अस्य**=उस अग्नि नामक इस प्रभु की **सख्ये**=मित्रता में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अरणयन्**=आनन्द

का अनुभव करते हैं। **पृथिवी**=यह पृथिवीलोक, **द्यौः**=द्युलोक **उत**=तथा **आपः**=अन्तरिक्षलोक और **ओषधीः**=पृथिवी में उत्पन्न होनेवाली ये ओषधियाँ **अरणयन्**=(प्रीतिं कृतवन्तः) प्रीति को उत्पन्न करनेवाली होती हैं। देववृत्तिवाले लोग प्रभु के सान्निध्य में आनन्द का अनुभव करते हैं और इन देवों को सब लोक व ओषधियाँ आनन्दित करती हैं। प्रभु-भक्त के लिये प्रभु का बनाया हुआ यह संसार सुन्दर ही सुन्दर है। इस में सब चीजों का मर्यादित प्रयोग करता हुआ यह भक्त स्वस्थ, सबल व सुन्दर जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—प्रकृति गर्भ में गया हुआ संसार, सर्ग के आदि में प्रभु की तप की अग्नि से फिर प्रादुर्भूत हो जाता है। देववृत्ति के पुरुष प्रभु-उपासन में आनन्द का अनुभव करते हुए संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में आनन्द को पाते हैं।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का उपासन

देवेभिर्न्विषितो यज्ञियेभिरग्निं स्तोषाण्यजरं बृहन्तम्।
यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम् ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार उत्पन्न हुई-हुई इस सुन्दर सृष्टि में देववृत्ति का पुरुष चाहता है कि **यज्ञियेभिः**=आदर के योग्य (यज=पूजा) **देवेभिः**='मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव' उत्तम माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों से **नु**=निश्चयपूर्वक **इषितः**=प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ मैं **अग्निम्**=इस अग्रेणी प्रभु को **स्तोषाणि**=स्तुति करनेवाला बनूँ जो अग्नि **अजरम्**=कभी जीर्ण होनेवाला नहीं, **बृहन्तम्**=जो सदा वर्धमान है। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करूँ **यः**=जो **भानुना**=अपनी ज्ञानदीप्ति से, अपने तप से 'यस्य ज्ञानमयं तपः' **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **आततान**=विस्तृत करते हैं। उस प्रभु का मैं स्तवन करूँ जो **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी को तथा **अन्तरिक्षम्**=इनके बीच में स्थित इस अन्तरिक्षलोक को **भानुना**=दीप्ति से **आततान**=व्याप्त करता है। यहाँ अर्थ में 'भानुना' और 'आततान' शब्दों की पुनरावृत्ति करनी होती है। प्रभु इन लोकों को अपने तप व ज्ञान से बनाते हैं और इन्हें प्रकाश से परिपूर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—देवताओं से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करते हुए हम सृष्टि निर्माता प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रथम-होता

यो होतासीत्प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येना वृणानाः।
स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार देवों से प्रेरणा को प्राप्त करके मैं उस प्रभु का उपासन करता हूँ **यः**=जो **प्रथमः होता**=सर्वमहान् होता **आसीत्**=है। उस प्रभु ने ही इस सृष्टि यज्ञ को विस्तृत किया है। इस सृष्टियज्ञ को करके वे प्रभु ही हमें सब पदार्थों व उन्नति के लिये आवश्यक साधनों के देनेवाले हैं। ये प्रभु **देवजुष्टः**=देवों से प्रीतिपूर्वक उपासित होते हैं। (२) प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **आवृणानाः**=वरण करते हुए लोग **आज्येन**=ज्ञान की दीप्ति से **समाञ्जन्**=अपने को सम्यक् अलंकृत करते हैं। 'आज्य=घृत व दीप्ति' ये पर्यायवाची शब्द हैं। अञ्ज् धातु कान्तिवाचक

है, उससे बना 'आज्य' शब्द यहाँ ज्ञान की कान्ति व दीप्ति का संकेत कर रहा है। ज्ञान के द्वारा ही प्रभु प्राप्य हैं, सूक्ष्म बुद्धि से ही प्रभु दर्शन होता है। (३) स-वह **जातवेदाः**-सर्वज्ञ **अग्निः**-अग्रेणी प्रभु ही **अकृणोत्**-इस सारे संसार को बनाते हैं, **यत्**-जो **पतत्रि**-उड़नेवाला है, अर्थात् पक्षी, **इत्वरम्**-जो ज़मीन पर गतिवाला है, अर्थात् सर्प आदि, **स्थाः**-जो स्थावर है, अर्थात् वृक्ष आदि और जो **जगत्**-जंगम मनुष्य आदि प्राणी हैं इन सबको वे प्रभु बनाते हैं। (४) **श्वात्रम्**-(शीघ्रम् सा०) प्रभु इस सम्पूर्ण संसार को शीघ्र ही बना डालते हैं (in no time)। समय तो उसको लगता है जिसके ज्ञान व जिसकी शक्ति में कुछ अल्पता हो। श्वात्रं शब्द का अर्थ 'श्विगतौ' से यह भी है यह सारा संसार बड़ी तीव्रगति में है, यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं। यह संसार है, जगत् है (सृ गतौ, गम् गतौ) जरान है (ओहाङ् गतौ), world (वर्ल्ड) हैं, यहाँ सब कुछ whirling motion (व्हर्लिङ मोशन) में है, चक्राकार गति में है।

भावार्थ—प्रभु ने इस गतिमय संसार को बनाया है, हम ज्ञान की ज्योति को बढ़ाकर इस प्रभु का ही वरण करें।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनन, स्वाध्याय व स्तवन

यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्धन्नतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन।
तं त्वाहेम मतिभिर्गीर्भिरुक्थैः स यज्ञियो अभवो रोदसिप्राः ॥ ५ ॥

(१) हे **जातवेदः**-सर्वज्ञ! **अग्ने**-अग्रेणी प्रभो! **यत्**-जो आप **रोचनेन सह**-ज्ञान की दीप्ति के साथ **भुवनस्य मूर्धन्**-इस ब्रह्माण्ड के शिखर पर **अतिष्ठः**-स्थित होते हैं। अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के शिरोमणि हैं, इसके शासक हैं और सभी को ज्ञान दे रहे हैं। **तं त्वा**-उन आपको **मतिभिः**-मननों के द्वारा, **गीर्भिः**-ज्ञान की वाणियों के द्वारा **उक्थैः**-स्तोत्रों के द्वारा, अर्थात् हृदय में चिन्तन, मस्तिष्क में ज्ञान व वाणी में स्तुतिवचनों के धारण के द्वारा **अहेम**-प्राप्त होती हैं। प्रभु ब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ हैं, उनको प्राप्त करने के लिये मनन (मतिभिः) स्वाध्याय (गीर्भिः) तथा स्तवन (उक्थैः) आवश्यक है। (२) **सः**-वे आप **यज्ञियः**-पूजा के योग्य **अभवः**-हैं। **रोदसिप्राः**-द्यावापृथिवी का पूरण करनेवाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, कण-कण में आपकी सत्ता है।

भावार्थ—संसार के संचालक प्रभु की प्राप्ति 'मनन, स्वाध्याय व स्तवन' से होती है। वे प्रभु ही पूजा के योग्य हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सब क्रियाओं के प्रवर्तक' प्रभु

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥ ६ ॥

(१) **भुवः मूर्धा**-इस उत्पन्न जगत् का शिरोमणि **अग्निः**-अग्रेणी प्रभु **नक्तम्**-(न अक्तम्-न व्यक्तम्) अव्यक्त है, इन बाह्य इन्द्रियों का वह विषय नहीं बनता। (२) यह **प्रातः उद्यन्**-प्रातः उदय होता हुआ **सूर्यः**-सूर्य **ततः जायते**-उसी से होता है। उस प्रभु की ज्योति से ही सूर्यादि सब पिण्ड ज्योतिर्मय होते हैं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। (३) वे प्रभु 'सूर्यादि को ही ज्योति प्राप्त कराते हों' ऐसी बात नहीं, सब बुद्धिमान् व्यक्तियों को बुद्धि के देनेवाले भी वे ही हैं। वह **तूर्णिः**-त्वरा से सब कार्यों को करनेवाले, **प्रजानन्**-प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु ही **यज्ञियानाम्**-प्रभु

से संगतिकरण में उत्तम पुरुषों (यज संगतिकरण) की **एताम्**-इस **मायाम्**-प्रज्ञा को **उ तु**-निश्चय से ही **चरति**-करते हैं, अर्थात् अपने सम्पर्क में आनेवाले यज्ञिय पुरुषों को प्रभु ही प्रज्ञा प्राप्त कराते हैं। (४) 'ज्ञानियों को ज्ञान ही प्रभु दे रहे हों' सो बात नहीं, अन्य सब **यत्**-जो **अपः**-कार्य हैं, उनको भी प्रभु ही **चरति**-करते हैं। वैश्वानर अग्नि के रूप में प्राणियों के शरीर में स्थित होकर भोजन का पाचन भी तो वे ही करते हैं।

भावार्थ—वे अव्यक्त प्रभु संसार के संचालक हैं। वे ही सूर्य को उदित करते हैं, उपासकों को प्रज्ञा प्राप्त कराते हैं, अन्य सब ब्रह्माण्ड में होनेवाली क्रियाओं को वे ही करते हैं।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा ॥ **देवता**—सूर्यवैश्वानरौ ॥ **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

मधुर शब्द तथा यज्ञशेष का सेवन

दृशेन्यो यो महिना समिद्धोऽरोचत दिवियोनिर्विभावा।
तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ॥ ७ ॥

(१) वे प्रभु **दृशेन्यः**-दर्शनीय हैं, सुन्दर ही सुन्दर होने से दर्शन के योग्य तो हैं ही, इसलिए भी वे दर्शन के योग्य हैं कि उनके दर्शन होने पर ही यह 'जन्म-मरण-चक्र' समाप्त होता है। वे प्रभु दर्शनीय हैं **यः**-जो **महिना समिद्धः**-अपनी महिमा से दीप्त हैं, उस प्रभु की महिमा प्रत्येक पदार्थ में प्रकट हो रही है। वे **दिवियोनिः**-सदा ज्ञान में निवास करनेवाले **विभावा**-विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु **अरोचत**-सदा देदीप्यमान हैं, सहस्रों सूर्यों की दीप्ति भी प्रभु की दीप्ति को उपमित नहीं कर सकती। (२) **तस्मिन् अग्नौ**-उस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **विश्वे**-सब **तनूपाः**-अपने शरीरों का रक्षण करनेवाले **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **सूक्तवाकेन**-मधुर शब्दों के उच्चारण के साथ **हविः**-यज्ञशेष को **आजुहवुः**-अपने में आहुत करते हैं। अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) शरीर को स्वस्थ रखा जाए, (ख) वृत्ति को दिव्य बनाया जाए, (ग) मधुर ही शब्दों का प्रयोग हो और (घ) हम सदा त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाले बनें। इस हवि के सेवन से ही तो प्रभु का सच्चा उपासन होता है।

भावार्थ—मानव जीवन का उद्देश्य यही है कि प्रभु का दर्शन करके मोक्ष प्राप्त किया जाए। मोक्ष प्राप्ति के लिये साधन ये हैं—(क) शरीर को नीरोग रखना, (ख) दैवी सम्पत्ति का अर्जन, (ग) मधुर शब्दों का ही उच्चारण और (घ) हवि का स्वीकार=त्यागपूर्वक अदन।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा ॥ **देवता**—सूर्यवैश्वानरौ ॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

'यज्ञ' शरीर का रक्षक है

सूक्तवाकं प्रथममादिदग्निमादिद्धविरजनयन्त देवाः।
स एषां यज्ञो अभवत्तनूपास्तं द्यौर्वेद तं पृथिवी तमापः ॥ ८ ॥

(१) **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष **प्रथमम्**-सबसे पहले **सूक्तवाकम्**-मधुर शब्दों के प्रयोग को **अजनयन्त**-अपने में प्रकट करते हैं, सदा मधुर शब्दों को ही बोलते हैं। (२) **आत् इत्**-अब इसके बाद **अग्निं अजनयन्त**-अग्निहोत्र के लिए अग्नि को समिद्ध करते हैं। **आत् इत्**-और अब यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप में **हविः**-दानपूर्वक अदन को **अजनयन्त**-अपने में विकसित करते हैं। इस प्रकार इस हवि के सेवन से ये प्रभु का उपासन करते हैं 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। (३) **एषाम्**-इन देववृत्तिवाले पुरुषों का **स यज्ञः**-वह यज्ञ **तनूपाः अभवत्**-इनके शरीरों का रक्षण करनेवाला होता है। यज्ञ से इनके शरीर नीरोग बने रहते हैं। यज्ञ से वायुशुद्धि होकर नीरोगता

प्राप्त होती ही है और यज्ञशेष का सेवन स्वयं अपने में अमृत होता है। यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति से मनुष्य कभी अतिमुक्त नहीं होता। (४) **तम्**=उस यज्ञ को इन्हें **द्यौः**=द्युलोक **वेद**=प्राप्त कराता है **तम्**=उस यज्ञ को **पृथिवी**=पृथिवी प्राप्त कराती है और **तम्**=उस यज्ञ को **आपः**=अन्तरिक्षलोक प्राप्त कराता है। अध्यात्म में **द्यौः**=मस्तिष्क है, **पृथिवी**=शरीर है तथा **अन्तरिक्ष**=हृदय व मन है। एवं इनका मस्तिष्क, इनका शरीर व इनका हृदय इन्हें इस यज्ञ में रुचिवाला करता है। ये ज्ञान, शक्ति व संकल्प से यज्ञ में प्रवृत्त हो जाते हैं।

भावार्थ—मधुर शब्दों के प्रयोग, यज्ञ के करने व हवि के सेवन की वृत्ति से देव प्रभु का दर्शन करते हैं। ये ज्ञान, शक्ति व संकल्प पूर्वक यज्ञों को करते हैं और यह यज्ञ इनको नीरोग बनाता है।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ **देवता**—सूर्यवैश्वानरौ ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

'निर्माता व प्रकाशक' प्रभु

यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा।
सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा ॥ ९ ॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **यं अग्निम्**=जिस अग्रेणी प्रभु को **अजनयन्त**=अपने हृदयों में आविर्भूत करते हैं, दिव्यवृत्ति को बनाकर जिस प्रभु का हृदय-मन्दिर में दर्शन करते हैं। **यस्मिन्**=जिस प्रभु प्राप्ति के निमित्त **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **आजुहवुः**=सर्वथा हवि का सेवन करते हैं, हवि सेवन के द्वारा ही प्रभु का अर्चन होता है और यह अर्चक ही प्रभु का दर्शन कर पाता है। (२) **सः**=वे प्रभु ही **अर्चिषा**=अपनी ज्ञानदीप्ति से **ऋजूयमानः**=सरलता से सब कार्यों को करते हुए **पृथिवीम्**=अन्तरिक्ष को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **महित्वा**=अपनी महिमा से **अतपत्**=दीप्त करते हैं। प्रभु ही इन सब लोक-लोकान्तरों को बनाते हैं, वे ही इन्हें प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन देवों को होता है। ये देव सदा हवि का सेवन करते हैं। ये प्रभु ही सब लोकों को बनाते व प्रकाशित करते हैं।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ **देवता**—सूर्यवैश्वानरौ ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

ज्ञान व उपासना का समन्वय

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥ १० ॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति को अपनानेवाले पुरुष **हि**=निश्चय से **दिवि**=प्रकाश में स्थित हुए-हुए **स्तोमेन**=स्तुतियों के द्वारा **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **अजीजनन्**=अपने हृदयों में आविर्भूत करते हैं। ज्ञान व उपासना के समन्वय से ही देवों को प्रभु दर्शन होता है। उस प्रभु का ये दर्शन करते हैं जो प्रभु **शक्तिभिः**=शक्तियों के द्वारा **रोदसिप्राम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक का पूरण व व्यापन कर रहे हैं, जिस प्रभु की शक्ति द्युलोक व पृथ्वीलोक में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। (२) **तं उ**=उस प्रभु को ही ज्ञानी लोग **त्रेधा**=तीन प्रकार से, पृथ्वी में अग्नि रूप से, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से तथा द्युलोक में आदित्य रूप से **अकृण्वन्**=करते हैं। इसे अग्नि विद्युत् व आदित्य में देव प्रभु की शक्ति को ही कार्य करता हुआ देखते हैं। (३) वे प्रभु ही **कं भुवे**=आनन्द की उत्पत्ति के लिये सब प्राणियों की प्रसन्नता के लिये **विश्वरूपाः**=विविध रूपोंवाली **ओषधीः**=ओषधियों

को पचति=परिपक्क करते हैं। यदि हम इन ओषधियों के गुणों का ज्ञान प्राप्त करके इनका ठीक प्रयोग करते रहें तो शरीर में कभी भी दोषों की उत्पत्ति न हो, और हमारा जीवन सदा सुखमय बना रहे। हम अज्ञानवश इन वानस्पतिक पदार्थों का ठीक उपयोग नहीं करते और कष्ट में पड़ जाते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व उपासना के समन्वय से हम प्रभु का दर्शन करें। उस प्रभु की शक्ति ही सर्वत्र कार्य कर रही है, क्या अग्नि में, क्या विद्युत् में और क्या सूर्य में। वे प्रभु ही हमारे सुख के लिये विविध ओषधियों को परिपक्क करते हैं।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञिय देवों को प्रभु-दर्शन

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ॥ ११ ॥

(१) **यदा**=जब **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इस **सूर्यम्**=सबको कर्मों की प्रेरणा देनेवाले, **आदितेयम्**=अदिति के पुत्र को, अर्थात् **अदिति**=स्वास्थ्य (अ+खण्डन) के द्वारा दर्शनीय अथवा अदीनता व दिव्यगुणों के द्वारा दर्शनीय प्रभु को **यज्ञियासः**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश के होने पर **अदधुः**=धारण करते हैं। (२) यहाँ प्रभु को अदिति का पुत्र इसलिए कहा है कि जैसे पुत्र की उत्पत्ति पिता से होती है इसी प्रकार प्रभु का दर्शन अदिति से होता है। अदिति का अर्थ है—(क) स्वास्थ्य तथा (ख) अदीना देवमाता। प्रभु के दर्शन के लिये स्वास्थ्य का ठीक रखना आवश्यक है, साथ ही अदीनतापूर्वक दिव्यगुणों को धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु का दर्शन यज्ञिय देवों को होता है। उत्तम कर्मों को करना ही यज्ञिय बनना है तथा दैवी सम्पत्ति के वर्धन से हम देव बनते हैं। ये यज्ञिय देव ज्ञान के प्रकाश के होने पर प्रभु-दर्शन कर पाते हैं। एवं हाथों में यज्ञ हों, मन में दैवी वृत्ति हो, मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो, तो मनुष्य प्रभु का धारण करनेवाला बनता है। (३) **यदा**=जब **मिथुनौ**=घर में पति-पत्नी शिक्षणालय में शिष्य और आचार्य, राष्ट्र में राजा प्रजा ये दोनों **चरिष्णू**=खूब क्रियाशील होते हैं, आलस्य से शून्य होते हैं, **आत् इत्**=तब ही **विश्वा भुवनानि**=सब लोग **प्रापश्यन्**=उस प्रभु को प्रकर्षेण देखनेवाले बनते हैं। प्रभु-दर्शन की सब से बड़ी योग्यता 'आलस्यशून्यता' ही है। जब सब मिलकर राष्ट्र को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं, शिक्षणालय व घर को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं, तभी प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्मोंवाले, देववृत्तिवाले व ज्ञान को प्रकाश को प्राप्त करनेवाले बनकर प्रभु-दर्शन के अधिकारी बनें।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अन्धकार के निवारक' प्रभु

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन् ॥ १२ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के द्वारा प्रभु-दर्शन करनेवाले **देवाः**=दिव्य वृत्तिवाले विद्वान् पुरुष **विश्वस्मा भुवनाय**=सब लोकों के लिये **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **अकृण्वन्**=उपदेश करते हैं, जो प्रभु **वैश्वानरम्**=सब प्राणियों का हित करनेवाले हैं और

अह्नाम्-(अ-हन्) आत्महनन न करनेवालों के **केतुम्**-प्रज्ञापक हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के अनुसार आत्महनन न करनेवाले व्यक्ति वे हैं जो कि—(क) प्रभु की सर्वव्यापकता का विचार करते हैं (ईशा वास्यमिदं सर्वम्), (ख) त्यागपूर्वक उपभोग करते हैं (त्यक्तेन भुञ्जीथाः), (ग) लालच नहीं करते (मा गृधः), (घ) धन किसका है? इस प्रश्न को बारम्बार अपने में पैदा करते हैं (कस्य स्विद्धनम्), (ङ) सदा क्रियाशील होते हैं (कुर्वन्नेवेह कर्माणि)। इन लोगों के लिये वे प्रभु आत्मज्ञान प्राप्त कराते हैं। (२) देव लोग उस आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं **यः**-जो **विभातीः उषसः**-इन देदीप्यमान उषाकालों को **आततान**-विस्तृत करते हैं और **अर्चिषा**-ज्ञान की ज्वालाओं (प्रकाशों) के साथ **यन्**-गति करते हुए **तमः**-अन्धकार को **उ**-निश्चयपूर्वक **अप ऊर्णोति**-दूर करते हैं। जिस प्रकार उषा प्रकाश को लाती है और अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु का प्रकाश होते ही सम्पूर्ण अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। इस प्रभु का ज्ञान ही हितकर है। इस प्रभु की विश्वव्यापकता का स्मरण हमें मार्ग-भ्रष्ट होने से बचाता है।

भावार्थ—उस प्रभु का हमें देवों से ज्ञान प्राप्त हो जो प्रभु की 'अग्नि' हैं, 'वैश्वानर' हैं, अन्धकार को दूर करनेवाले हैं।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'कवि-यज्ञिय-देव'

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥ १३॥

(१) **कवयः**-क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी, **यज्ञियासः**-यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले, **देवाः**-देववृत्ति के पुरुष उस **अग्निम्**-अग्रेणी प्रभु को **अजनयन्**-अपने में प्रादुर्भूत करते हैं, हृदय देश में उसके दर्शन करते हैं। उस प्रभु का दर्शन करते हैं जो **वैश्वानरम्**-सब नरों का हित करनेवाले हैं। **अजुर्यम्**-कभी जीर्ण होनेवाले नहीं अजर व अमर हैं। **नक्षत्रम्**-(नक्ष् to go, to corre near) गतिशील हैं व सबको समीपता से प्राप्त हैं, सर्वव्यापक हैं। **प्रत्नम्**-सनातन हैं, **अमिनत्**-न हिंसा करनेवाले व न हिंसित होनेवाले हैं। **चरिष्णु**-प्रलयकाल के समय सबको चर जानेवाले, अपने में निगीर्ण कर लेनेवाले हैं। (२) **यक्षस्य**-आत्मा को इन्द्रियों के साथ जोड़नेवाले इस मन के अध्यक्ष हैं। मन संसार की किसी भी वस्तु में स्थिर नहीं हो पाता, परन्तु यदि कभी इस परमात्मा की ओर आता है तो इस प्रकार इसमें उलझता है कि अपनी तीव्र गति से चलता हुआ भी इसके ओर छोर को नहीं पा पाता और उससे फिर निकल नहीं पाता ऐसी स्थिति में ही इसका विषयों में भटकना रुकता है। **तविषम्**-ये प्रभु महान् हैं, **बृहन्तम्**-वर्धमान हैं। प्रभु अपनी विशालता से सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त किया हुआ है और वे प्रभु सब गुणों से बढ़े हुए हैं, वस्तुतः सब गुणों की चरमसीमा हैं, सब गुण उनमें निरतिशयरूप में हैं। इस प्रभु का ही देव हृदय में साक्षात्कार करते हैं।

भावार्थ—हम कवि यज्ञिय व देव बनकर प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

समीप से समीप, दूर से दूर

वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः।
यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात्॥ १४॥

(१) हम वैश्वानरम्-सब मनुष्यों के हित करनेवाले, विश्वहा दीदिवांसम्-सदा ज्ञान से दीप्त, अग्निम्-अग्रेणी, कविम्-क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु को अच्छा-लक्ष्य करके मन्त्रैः-मन्त्रों के द्वारा वदामः-स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं, इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी सब मनुष्यों के हित में प्रवृत्त होते हैं (वैश्वानर), ज्ञान से दीप्त बनने का प्रयत्न करते हैं (विश्वहा दीदिवांसम्), आगे बढ़ने के लिये यत्नशील होती हैं (अग्नि), तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं (कवि), (२) उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं यः-जो महिम्ना-अपनी महिमा से उर्वी-इन विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक को परिबभूव-to surround) आच्छादित किये हुए हैं, (to teke core of) इन लोकों का रक्षण करते हैं और (to govern) इनका शासन करते हैं। वे देवः-प्रकाशमय प्रभु उत अवस्तात्-क्या तो समीप, उत परस्तात्-और क्या दूर, सर्वत्र विद्यमान हैं 'तद्दूरे तद्वन्तिके' 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च'।

भावार्थ—हम उन प्रभु का ही स्तवन करते हैं, जिन्होंने इन विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक को आच्छादित किया हुआ है।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दो मार्ग (देवों का, मर्त्यों का)

द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ १५॥

(१) अहम्-मैं पितृणाम्-(पा रक्षणे) धर्म का रक्षण करनेवालों के द्वे स्रुती-दो मार्गों को अशृणवम्-सुनता हूँ, एक मार्ग तो देवानाम्-देवों का है, उत-और दूसरा मार्ग मर्त्यानाम्-मनुष्यों का है। शास्त्रविहित कर्मों को सामान्य मनुष्य विविध कामनाओं से प्रेरित होकर करते हैं। वेदों के अर्थवाद उन्हें उन-उन यज्ञों के प्रति रुचिवाला बनाते हैं। इन सकाम कर्मों को करते हुए वे स्वर्ग को अवश्य प्राप्त करते हैं। परन्तु 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वे सकाम कर्मों में रत पुरुष विशाल स्वर्गलोक का उपभोग करके फिर से मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ये नाना कामनाओं से आन्दोलित होनेवाले मर्त्य 'गतागतं कामकामा लभन्ते'-आने और जाने के चक्र में फँसे रहते हैं। (२) इन सामान्य मनुष्यों से भिन्न वे देववृत्ति के पुरुष हैं, जो ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करके, इन सांसारिक कामनाओं में न उलझते हुए अपने नियत कर्मों को कर्त्तव्य भावना से करते हैं। अपने कर्त्तव्य पर ही बल देते हैं, फल पर नहीं। ये देववृत्ति के पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले होते हैं। (३) इस प्रकार इदं विश्वम्-यह सब यत्-जो पितरं मातरं च अन्तरा-द्युलोक व पृथ्वीलोक के मध्य में होनेवाले मनुष्य हैं, भिन्न-भिन्न लोकों में जन्म लेनेवाले मनुष्य हैं, वे सबके सब एजत्-गति करते हुए ताभ्याम्-उन दो मार्गों से ही समेति-गति करते हैं। एक सकाम कर्म मार्ग है, दूसरा निष्काम कर्म मार्ग। निचली श्रेणी के धर्मात्माओं का मार्ग सकाम है, उपरलों का निष्काम।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि मर्त्यों के 'सकाम कर्म मार्ग' से ऊपर उठकर देवों के निष्काम कर्म मार्ग से गतिवाले हों।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शीर्षतो जातं, मनसा विमृष्टम्

द्वे स॒मीची॑ बिभृत॒श्चर॑न्तं शी॒र्ष॒तो जा॒तं मन॑सा॒ विमृ॑ष्टम्।
स प्र॒त्यङ्विश्वा॒ भुव॑नानि तस्था॒वप्र॑युच्छन्त॒रणि॒र्भ्राज॑मानः ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित 'पितरं मातरं च'-द्युलोक व पृथ्वीलोक **द्वे**-दोनों **समीची**-(सं अञ्च्) मिलकर उत्तम गतिवाले हैं। ये दोनों लोक एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। पृथ्वीलोक का पानी वाष्पीभूत होकर द्युलोक को भरता है और द्युलोक से वृष्टि होकर पृथ्वीलोक का पूरण होता है। इस प्रकार ये दोनों सम्यक् उत्तम गतिवाले होते हुए **बिभृतः**-उस प्रभु को धारण करते हैं। जो प्रभु **चरन्तम्**-निरन्तर क्रियाशील हैं, **शीर्षतः जातम्**-मस्तिष्क से जिनका प्रादुर्भाव होता है, सूक्ष्म बुद्धि से ही तो प्रभु का दर्शन होता है 'बुद्धि' युक्ति के द्वारा इस संसार रूप कार्य के कर्त्ता के रूप में प्रभु को देखती है। वे प्रभु **मनसा विमृष्टम्**-मन से विमृष्ट होते हैं 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'। इस द्युलोक व पृथ्वीलोक के अन्तर्गत एक-एक वस्तु में उस प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। (२) **स**-वे प्रभु **विश्वा भुवनानि**-सब लोगों के **प्रत्यङ्**-(imher imterior) अन्दर **तस्थौ**-स्थित हैं। पृथ्वी आदि सब लोकों के अन्दर भी वे उनकी गतियों का नियमन करते हुए स्थित हैं। (३) सब प्राणियों के हृदय में स्थित हुए-हुए वे प्रभु **अप्रयुच्छन्**-कभी भी प्रमाद नहीं करते। हृदयस्थरूपेण वे प्रभु हमें सदा प्रेरणा देते रहते हैं। **तरणिः**-वे ही हमें वासनाओं से तराते हैं, प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके ही वासनाओं को जीत पाते हैं। **भ्राजमानः**-वे प्रभु दीप्त हैं, ज्ञान से दीप्त वे प्रभु अपने उपासकों के लिये भी इस दीप्ति को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथ्वीलोक में सर्वत्र प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है, मन से ही प्रभु का विमर्श होता है सब प्राणियों के अन्दर स्थित हुए-हुए वे प्रभु सभी का नियमन कर रहे हैं।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु द्वारा यज्ञ की प्रेरणा

यत्रा॒ वदे॑ते॒ अव॑रः॒ पर॑श्च यज्ञ॒न्योः॑ कत॒रो नौ॒ वि वे॑द।
आ शे॑कु॒रित्स॑ध॒माद॒ं सखा॑यो॒ नक्ष॑न्त य॒ज्ञं क इ॒दं वि वो॑चत् ॥ १७ ॥

आचार्य व शिष्य मिलकर यज्ञ करते हैं तो उस समय **यत्रा**-जब **अवरः**-यह ज्ञान के दृष्टिकोण से अवर शिष्य **परः च**-और ज्ञान के दृष्टिकोण से यह आचार्य परस्पर **वदेते**-बातचीत करते हैं कि **यज्ञन्योः**-यज्ञ का प्रणयन करनेवाले **नौ**-हम दोनों को **कतरः**-कौन **विवेद**-इस यज्ञ को प्राप्त कराता है। यज्ञ का ज्ञान देनेवाला कौन है? (२) उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि **कः**-वे आनन्दमय प्रभु **इदं विवोचत्**-यह कहते हैं कि **यज्ञं नक्षन्तः**-यज्ञ को प्राप्त होते हुए **सखायः**-मेरे सखा जीव **इत्**-निश्चय से **सधमादम्**-मेरे साथ स्थिति के आनन्द को **आशेकुः**-प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञ की प्रेरणा देते हैं इस यज्ञ से ही प्रभु प्राप्ति का आनन्द उपलब्ध होता है।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सृष्टि विषयक प्रश्न

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् ॥ १८ ॥

(१) गत मन्त्र में यज्ञ की प्रेरणा का उल्लेख था। उस यज्ञ के साथ सम्बद्ध अग्नि आदि के विषय में शिष्य आचार्य से प्रश्न करता है कि **कति अग्नयः**=अग्नियाँ कितनी हैं? इसी प्रकार **सूर्यासः कति**=सूर्य कितने हैं? क्या यही एक सूर्य है या इसी प्रकार अन्य भी सूर्य हैं? **उषासः कति**=उषाकाल कितने हैं? **उ**=और **आपः**=अन्तरिक्ष लोक व जल कितने हैं? (२) ये सारे प्रश्न ब्रह्माण्ड की रचना से सम्बद्ध हैं। इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन ही है। 'को अद्धावेद, क इह प्रवोचत्, कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः'=यह विविध सृष्टि कैसे हो गई! कौन इसे साक्षात् जानता है और कौन इसका प्रतिपादन कर सकता है? ये सब प्रश्न तो मनुष्य के ज्ञान से परे की चीजें हैं। सो विद्यार्थी कहता है कि हे **पितरः**=ज्ञान देनेवाले आचार्यो! मैं **वः**=आपके प्रति **उपस्पिजम्**=स्पर्धायुक्त होकर **न वदामि**=इन प्रश्नों को नहीं कह रहा हूँ। मैं तो हे **कवयः**=क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी आचार्यो! **विद्मने**=ज्ञान प्राप्ति के लिये ही **वः पृच्छामि**=आपसे इस प्रकार के प्रश्न कर रहा हूँ। जिससे इन प्रश्नों के तत्त्वज्ञान से **कम्**=सुख का विस्तार हो सके। (३) हमें परस्पर इसी प्रकार के प्रश्नोत्तरों से ज्ञान को बढ़ाकर जीवन को सुखी बनाना चाहिए। प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर इससे पूर्व ८।५८।२ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवेषाः सर्वमिदं वियात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'। वस्तुतः एक ही अग्नि है जो नाना प्रकार से समिद्ध होती है। एक ही सूर्य है, जो सम्पूर्ण विश्व में प्रभाववाला हो रहा है। एक ही उषा इस सारे जगत् को दीप्त करती है। निश्चय से एक परमात्मा ही इस सब में व्याप्त हो रहा है। एक ही अग्नि स्थानभेद व कार्यभेद से मिलकर नामोंवाली हो जाती है। एक ही सूर्य महीनों के भेद से व सौर लोकों के भेद से भिन्न-भिन्न नामवाला होता है। उषा भी एक ही होती हुई भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होती है। (४) इस प्रकार के प्रश्नों को विद्यार्थी जिज्ञासा के भाव से करता है और ज्ञान प्राप्त करके प्रभु की महिमा के स्मरण से प्रभु के अधिक समीप होता हुआ अपने जीवन को पवित्र व आनन्दमय बना पाता है।

भावार्थ—अग्नि, सूर्य, उषा आदि का ज्ञान प्राप्त करके हम प्रभु के अधिक समीप प्राप्त हों। इस प्रकार अपने जीवनों को पवित्र व सुखी बना पायें।

ऋषिः—मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा ॥ देवता—सूर्यवैश्वानरौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सन्ध्या-हवन

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३ वसते मातरिश्वः।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ॥ १९ ॥

(१) हे **मातरिश्वः**=मातृ गर्भ में बढ़नेवाले जीव! (मातरि श्वयति) अथवा सृष्टि-निर्माता प्रभु में स्थित होकर गति करनेवाले जीव! **सुपर्ण्यः**=रात्रियाँ **यावत् मात्रम्**=ज्यूँ ही **उषसः**=उषा के **प्रतीकम्**=मुख को **न वसते**=आच्छादित नहीं करती, अर्थात् ज्यूँ ही रात्रि का अन्धकार समाप्त होता है और उषा का प्रादुर्भाव होता है, **तावत्**=ज्यूँ ही **ब्राह्मणः**=ज्ञानी पुरुष **होतुः**=इस सृष्टियज्ञ

के होता प्रभु के अवरः=नीचे निषीदन्=नम्रता से बैठता हुआ, अर्थात् प्रभु का ध्यान करता हुआ और इस प्रकार उप आयन्=प्रभु के समीप आता हुआ यज्ञं दधाति=यज्ञ को धारण करता है। (२) ज्ञानी पुरुष उषा के होते ही नम्रतापूर्वक प्रभु का स्मरण करता है और प्रभु स्मरण के अनन्तर यज्ञ में प्रवृत्त होता है। यह यज्ञ श्रेष्ठतम कर्मों का प्रतीक है। एवं संक्षेप में यह प्रभु को याद करता है और उत्तम कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष वही है जो प्रभु स्मरण पूर्वक उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहे।

सारे सूक्त में यही भाव ओतप्रेत है कि मनुष्य उत्तम कर्मों में व्याप्त रहे। यह उत्तम कर्मों को करनेवाला 'रेणु'=बनता है (री गतौ) इस गति के द्वारा ही यह प्रभु का आलिंगन करनेवाला होता है (री श्लेषणे)। यही अगले सूक्त का ऋषि है। इसकी यही कामना है कि मैं प्रभु का स्तवन करूँ, उस प्रभु का जो मुझे सदा उत्तम कर्मों में प्राप्त कराते हैं।

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

नृतम-प्रकाशमय-अनन्त महिम

इन्द्रं स्तवा नृतमं यस्य मह्ना विबबाधे रोचना वि ज्मो अन्तान्।
आ यः पप्रौ चर्षणीधृद्वरोभिः प्र सिन्धुभ्यो रिरिचानो महित्वा ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **स्तवा**=मैं स्तुत करता हूँ। जो प्रभु **नृतमम्**=सर्वोत्तम नेता हैं, हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देते हुए सदा सन्मार्ग का दर्शन कराते हैं। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ **यस्य**=जिसकी **मह्ना**=महिमा से **रोचना**=(परेषां तेजांसि सा०) काम-क्रोधादि शत्रुओं के तेज को **विबबाधे**=एक उपासक बाधित कर पाता है। प्रभु का स्मरण ही उपासक को इतना शक्तिशाली बनाता है कि वह काम-क्रोधादि को जीतने में समर्थ हो जाता है। (३) उस प्रभु की उपासना करता हूँ **यः**=जो **वरोभिः**=अन्धकार के निवारक तेजों से **ज्मः**=पृथिवी के **अन्तान्**=प्रान्तभागों को भी **आपप्रौ**=पूरण करनेवाले हैं। प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले हैं। इस प्रकाश के द्वारा ही वे **चर्षणीधृत्**=सब कामशील मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। वे प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **सिन्धुभ्यः प्ररिरिचानः**=समुद्रों से भी अतिरिक्त हैं। सब समुद्र प्रभु की महिमा को सीमित नहीं कर पाते।

भावार्थ—वे प्रभु सर्वोत्तम नेता हैं, प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, अनन्त महिमावाले हैं।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीत्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्यों के सूर्य प्रभु

स सूर्यः पर्युरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा।
अतिष्ठन्तमपस्यं१ न सर्गं कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान ॥ २ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **सूर्यः**=(सुवति) सबको प्रेरित करनेवाले हैं। ये प्रभु ही **इन्द्रः**=सब शक्ति के कर्मों को करनेवाले हैं (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य नि०)। ये **उरु**=अनन्त **वरांसि**=अन्धकार निवारक तेजों को तेजोमय सूर्यादि पिण्डों को **परि आववृत्यात्**=चारों ओर गति दे रहे हैं, उसी प्रकार गति दे रहे हैं **इव**=जैसे **रथ्या चक्रा**=एक रथ के चक्रों को गति दी जाती है। (२) वे प्रभु सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्डों को तो गति दे ही रहे हैं, इसी प्रकार वे **अतिष्ठन्तम्**=इस कभी न रुकनेवाले **अपस्यं न**=सदा कर्ममय के समान, अर्थात् सतत क्रियाशील **सर्गम्**=सृष्टि प्रवाह को

भी वे प्रभु चक्राकार गति दे रहे हैं। इस सृष्टि में वे **कृष्णा तमांसि**=अत्यन्त काले अन्धकारों को **त्विष्या**=दीप्ति से **जघान**=नष्ट करनेवाले हैं। हृदयों में प्रभु का प्रकाश होते ही वासनाओं से जनित घना अन्धेरा समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु विशाल ज्योतिर्मय पिण्डों को रथ-चक्रों के समान गति दे रहे हैं। सृष्टिचक्र को भी वे ही चला रहे हैं और हमारे हृदयों के वासनाजनित अन्धकार को भी वे ही अपनी दीप्ति से नष्ट करते हैं।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविच्छिन्न उपासना

समानमस्मा अनपावृदर्च क्ष्मया दिवो असमं ब्रह्म नव्यम्।
वि यः पृष्ठेव जनिमान्यर्य इन्द्रश्चिकाय न सखायमीषे ॥ ३ ॥

(१) **अस्मा**=इस प्रभु के लिये **अनपावृत्**=(अपगतिरहितं सा०) अपगति से रहित रूप में, अर्थात् बीच में विच्छेद न हो जानेवाले रूप में **समानम्**=सदा समानरूप से **अर्च**=अर्चना करनेवाला हो। उस प्रभु की अर्चना करनेवाला हो, जो प्रभु **क्ष्मया दिवः असमम्**=पृथ्वी व द्युलोक के समान नहीं हैं, अर्थात् पृथ्वी व द्युलोक से अत्यन्त महान् हैं। **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए हैं, सब गुणों की चरमसीमा हैं। प्रत्येक गुण उस प्रभु में निरतिशय रूप से है। इसीलिए वे प्रभु **नव्यम्**=अत्यन्त स्तुति के योग्य हैं। (नु स्तुतौ) (२) वे प्रभु **अर्यः**=स्वामी हैं, सारे ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं, सब जीवों का भी नियन्त्रण करनेवाले हैं। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **यः**=जो प्रभु हैं वे **जनिमानि**=सब मनुष्यों को **पृष्ठा इव**=अपनी पीठों के समान (backbone) **चिकाय**=जानते हैं। जीव न हों तो प्रभु को जाने ही कौन? जैसे राजा का आधार प्रजा पर है, प्रजा न हो तो राजा क्या? इसी प्रकार जीवों के अभाव में प्रभु की स्थिति है। जीव ही प्रभु को जानते हैं और उसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। जीव ही प्रभु के पृष्ठ-पोषक हैं। वे प्रभु भी **सखायम्**=अपने मित्रभूत इस जीव को **न ईषे**=(ईष् to kill) नष्ट नहीं होने देते। जो जीव प्रभु का उपासक बनता है, वह प्रभु ज्ञान का प्रसार करता है और प्रभु इस उपासक को काम-क्रोधादि से हिंसित होने से बचाते हैं।

भावार्थ—हमें सदा प्रभु का उपासन करना चाहिए। उपासना में विच्छेद न हो। प्रभु हमें नष्ट होने से बचाएँगे।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अधिकाधिक स्तवन

इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥ ४ ॥

(१) मैं **सगरस्य बुध्नात्**=(सगर=अन्तरिक्ष नाम नि० १।३) हृदयान्तरिक्ष के मूल से, हृदय के अन्तस्तल से **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **अनिशितसर्गाः**=(अतनूकृत विसर्गाः सा०) न शिथिल हुई-हुई **गिरः**=स्तुति वाणियों को तथा **अपः**=कर्मों को **प्रेरयम्**=प्रेरित करता हूँ। अर्थात् मेरी वाणी अधिकाधिक प्रभु का स्तवन करनेवाली होती है और मैं जो कर्म करता हूँ सब प्रभु के अर्पण करनेवाला होता हूँ। (२) उस प्रभु का मैं अधिकाधिक स्तवन करता हूँ **यः**=जो **अक्षेणेव चक्रिया इव**=धुरे axle से पहियों की तरह **विष्वक् शचीभिः**=सर्वत्र व्याप्त होनेवाले

प्रज्ञानों व कर्मों से **पृथिवीम्**-पृथिवी को **उत**-और **द्याम्**-द्युलोक को **तस्तम्भ**-थामते हैं, इनका धारण करते हैं। प्रभु उपासक के भी मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीर रूप पृथिवी को धारण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण ज्ञान व शक्ति के स्रोत प्रभु ही हैं, वे ही हमारे मस्तिष्क को ज्योतिर्मय तथा शरीर को शक्ति-सम्पन्न करते हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करता हूँ। सब कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पित करता हूँ। प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं।

ऋषिः—रेणुः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शत्रुओं से आक्रान्त न होना

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जीवन बनाने के लिये सोमरक्षण ही साधन है। सो सोम के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि **सोमः**-यह सोम **आपान्तमन्युः**-(आ-पान्त-मन्युः) सर्वतः ज्ञान का रक्षण करनेवाला है। रक्षित हुआ-हुआ सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के कारण यह सोम 'आपान्तमन्यु' है। (२) **तृपलप्रभर्मा**-तृप्ति के कारणभूत पोषणवाला है। शरीर में रक्षित सोम सब अंग-प्रत्यंगों का पोषण करता है और इस प्रकार तृप्ति व प्रसन्नता के अनुभव का कारण होता है। सब पोषणों को प्राप्त कराके यह **धुनिः**-रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला होता है। **शिमीवान्**-शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मोंवाला है, नीरोग व सशक्त बनाकर यह सोम हमें शान्त व सक्रिय बनाता है। **शरुमान्**-यह काम-क्रोधादि वासनाओं शीर्ण करनेवाला है। **ऋजीषी**-(driving away) सब अवाञ्छनीय तत्त्वों को दूर करनेवाला है। (२) **सोमः**-उल्लिखित गुणोंवाला यह सोम **विश्वानि वनानि**-सब उपासकों को **अतसाः**-(अत सातत्यगमने, सन् संभक्तौ) प्राप्त होनेवाला व सेवित करनेवाला होता है। प्रभु की उपासना से मनुष्य सोम का रक्षण कर पाता है। उपासना वासना को नष्ट करती है। वासना के नाश से सोम का रक्षण होता है। (३) इस प्रकार सोम का पान करनेवाले **इन्द्रम्**-इस जितेन्द्रिय पुरुष को **अर्वाग्**-(within) इस शरीर व हृदय के अन्दर **प्रतिमानानि**-(An advessary) शत्रु न **देभुः**-हिंसित नहीं कर पाते। इसके शरीर पर रोग आधिपत्य नहीं कर पाते और इसके हृदय को वासनाएँ मलिन नहीं कर पाती।

भावार्थ—उपासना के द्वारा हम सोम का रक्षण करें। यह सोम हमें रोगों व वासनारूप शत्रुओं से बचाएगा।

ऋषिः—रेणुः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दृढ़ शत्रुओं का भी नाश

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि॥ ६॥

(१) **यस्य सोमः अक्षाः**-(अश् to pervnde) जिसके जीवन में सोम, न नष्ट होकर, शरीर में ही व्याप्त होनेवाला होता है, उसे न **द्यावापृथिवी**-न द्युलोक, ना ही पृथिवीलोक, न **धन्व**=न मरुस्थल, न **अन्तरिक्षम्**-न यह जलवाष्पों से पूर्ण अन्तरिक्ष और न **अद्रयः**-न पर्वत (देभुः) हिंसित करते हैं। ('देभुः' क्रिया उपरले मन्त्र से आवृत्त होती है)। अर्थात् सोम का रक्षण होने पर सर्वत्र स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसे मरुस्थल में गरमी नहीं लगती और पर्वतों पर ठण्डक

नहीं सताती। आकाश में इसका दिल धड़कने नहीं लगता और पृथ्वी पर इसे भारीपन नहीं महसूस होता। सुरक्षित सोम इसे सर्वत्र स्वस्थ रखता है। (२) यत्=जब अस्य=इसके रक्षण से उत्पन्न होनेवाला मन्युः=ज्ञान अधिनिधीयमानः=आधिक्येन स्थापित होता है तो यह सोम रक्षक पुरुष वीडु=दृढ़-अत्यन्त प्रबल भी वासनारूप शत्रुओं को शृणाति=शीर्ण करनेवाला होता है और स्थिराणि=शरीर में दृढ़ मूल हुए-हुए भी रोगों का रुजति=भंग करनेवाला होता है। यह सोम ही वह 'मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र' है जो सब अवाञ्छनीय तत्त्वों को दूर भगा देता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से सर्वत्र स्वास्थ्य ठीक रहता है। वासनाएँ भी दूर होती हैं, रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

काम-विध्वंस

जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला पुरुष वृत्रम्=ज्ञान की आवरणभूत वासना को इस प्रकार जघान=नष्ट करता है, इव=जैसे कि स्वधितिः=कुल्हाड़ा वना=वनों को नष्ट कर डालता है। (२) इसी प्रकार यह सोमरक्षक पुरुष पुरः रुरोज=शत्रुओं की पुरियों का भंग करता है, न=उसी प्रकार जैसे कि एक राजा पृथ्वी का विदारण करके सिन्धून् अरदत्=नहरों को बना डालता है। पृथ्वी का विलेखन करके जैसे नदी प्रवाह चलता है इसी प्रकार यह असुर पुरियों का विदारण करके ही तो देवगृहों का अपने में स्थापन करता है। काम अपना अधिष्ठान इन्द्रियों में बनाता है, क्रोध मन में तथा लोभ बुद्धि में। असुरों के ये तीन अधिष्ठान ही उनकी तीन पुरियाँ हैं। इनका विदारण यह सोमी करता है। (३) गिरिम्=यह सोमी अविद्या पर्वत को (पाँच पर्वोंवाली होने से अविद्या पर्वत है) बिभेद=विनष्ट करता है, उसी प्रकार आसानी से इव=जैसे कि इत्=निश्चय से नवं कुम्भम्=अभी ताजे बने घड़े को। जो घड़ा अभी बना ही है, न सूखा है, न पका है, उसका तोड़ना जैसे कुछ कठिन नहीं, इसी प्रकार सोमी के लिये अविद्या पर्वत को तोड़ना कठिन नहीं। (४) इस अविद्या पर्वत को विदीर्ण करके इन्द्रः=यह जितेन्द्रिय पुरुष स्वयुग्भिः=आत्मतत्त्व से मेलवाली प्रत्याहार द्वारा विषय व्यावृत्त इन्द्रियों से गाः=ज्ञान की वाणियों को आ अकृणोत=अपने में समन्तात् करनेवाला होता है, अर्थात् खूब ही ज्ञान का अपने में वर्धन कर पाता है।

भावार्थ—सोम का रक्षक वृत्र को (वासना को) नष्ट करता है, काम-क्रोध-लोभ के किलों को तोड़ देता है, अविद्या पर्वत को गिरा देता है और विषयव्यावृत्त इन्द्रियों से खूब ही ज्ञान का वर्धन करता है।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्नेह-निर्द्वेषता व प्रभु मित्रता

त्वं ह त्यदृणया इन्द्र धीरोऽसिर्न पर्व वृजिना शृणासि।
प्र ये मित्रस्य वरुणस्य धाम युजं न जना मिनन्ति मित्रम् ॥ ८ ॥

(१) हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष! त्वम्=तू ह=निश्चय से त्यत्=उस ऋणयाः=(ऋणः जलः रेतस्) रेतस् को प्राप्त होनेवाला है अतएव धीरः=ज्ञान में रमण करनेवाला है (धियि रमते)। इस

ज्ञान में रमण के कारण ही तू वृजिना-पापों को इस प्रकार शृणासि-शीर्ण करता है इव-जिस प्रकार असिः-तलवार पर्व-जोड़ों को चीर डालती है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है, ज्ञान से पापवृत्ति समाप्त होती है। (२) ये सोमरक्षक वे जनाः-व्यक्ति होते हैं ये-जो मित्रस्य-मित्र के, वरुणस्य-वरुण के धाम-तेज को न प्रमिनन्ति-हिंसित नहीं करते। ये सबके साथ स्नेह करनेवाले होते हैं, (मित्र) ये किसी के साथ द्वेष को नहीं करते (वरुण)। इस स्नेह व निर्द्वेषता के परिणामरूप ये तेजस्वी बनते हैं। द्वेष की भावना मनुष्य को निस्तेज बनानेवाली है। ये व्यक्ति युजं मित्रम्-उस सदा साथ रहनेवाले मित्र प्रभु को (न प्रमिनन्ति) हिंसित नहीं करते। अर्थात् ये सदा उस प्रभु का स्तवन करते हैं। उस प्रभु को मित्र के रूप में देखते हैं। इस प्रभु रूप मित्र के कारण ही इनकी शक्ति सदा बनी रहती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। सब के साथ स्नेह व निर्द्वेषता से चलें। सोम का रक्षण करते हुए अशुभ वृत्तियों को अपने से दूर रखें।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दुरेव पुरुषों का नाश

प्र ये मित्रं प्रार्यमणं दुरेवाः प्र संगिरः प्र वरुणं मिनन्ति।
न्यमित्रेषु वधमिन्द्र तुम्रं वृषन्वृषाणमरुषं शिशीहि ॥ ९ ॥

(१) ये-जो दुरेवाः-दुष्ट गमनों (=आचरणों) वाले मित्रम्-मित्र देवता को प्रमिनन्ति-हिंसित करते हैं, अर्थात् मित्रता (=स्नेह की भावना) का विलोप करते हैं। इसी प्रकार जो अर्यमणम्-अर्यमा देव को प्र (मिनन्ति)-नष्ट करते हैं, (अरीन् यच्छति) कामादि शत्रुओं के जीतने के भाव को नष्ट करते हैं। संगिरः-उत्तम ज्ञानप्रद वाणियों व स्तुति वाणियों का प्र (मिनन्ति)-नाश करते हैं, अर्थात् जो स्वाध्याय व स्तवन को छोड़ देते हैं, वरुणम्-वरुण देवता को प्र (मिनन्ति)-नष्ट करते हैं, अर्थात् निर्द्वेषता के भाव से दूर होकर द्वेषमय जीवनवाले हो जाते हैं। उन अमित्रेषु-अमित्रों पर, स्नेहरहित जनों पर अपने को पाप व मृत्यु से न बचानेवालों पर, हे इन्द्र-सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले प्रभो! वृषन्-शक्तिशाली प्रभो! वधम्-उस नाशक अस्त्र को, वज्र को शिशीहि-तीक्ष्ण करिये जो तुम्रम्-गतिशील है (Impelling) वृषाणम्-धर्म की ओर प्रेरित करनेवाला है व शक्तिशाली बनानेवाला है और अरुषम्-आरोचमान-प्रकाशमय है। इस प्रकार का यह वज्र 'ज्ञान' ही है। इनके ज्ञान को बढ़ाकर इन की अशुभ वृत्तियों को दूर करिये। राजा को भी राष्ट्र में इस ज्ञानवज्र के द्वारा दुष्टता को दूर करने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञानरूप वज्र के द्वारा दुष्ट आचरणवाले पुरुषों की दुष्टता को दूर किया जाये।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चराचर के ईश प्रभु

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥ १० ॥

(१) वे इन्द्रः-परमैश्वर्यशाली प्रभु ही दिवः-द्युलोक के ईशे-ईश हैं, इन्द्रः-ये परमैश्वर्यशाली प्रभु ही पृथिव्याः-इस पृथिवी के ईशे-ईश हैं। इन्द्रः-ये इन्द्र ही अपाम्-जलों के और इन्द्रः-इन्द्र ही इत्-निश्चय से पर्वतानाम्-पर्वतों के ईश हैं। (२) इस प्रकार वे प्रभु सम्पूर्ण जगत् के तो ईश हैं ही। वे इन्द्रः-परमैश्वर्यशाली प्रभु वृधाम्-शारीरिक शक्तियों का विकास करनेवाले

जीवों के ईश हैं। और **इन्द्रः**-ये इन्द्र **इत्**-निश्चय से **मेधिराणाम्**-मेधा बुद्धि से सम्पन्न लोगों के भी ईश हैं। एवं जड़-चेतन दोनों के प्रभु ही ईश हैं। (३) **इन्द्रः**-ये परमैश्वर्यशाली प्रभु **क्षेमे**-प्राप्त वस्तुओं के रक्षण के निमित्त **हव्यः**-पुकारने योग्य हैं। प्रभु ही हमारी व हमारी वस्तुओं की रक्षा करनेवाले हैं। वे **इन्द्रः**-परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **योगे**-अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए **हव्यः**-पुकारने योग्य हैं। प्रभु ही योगक्षेम के साधक हैं।

भावार्थ—जड़-जगत् के ईश प्रभु हैं, चेतन जगत् के भी वे ही ईश हैं। योगक्षेम को प्राप्त करानेवाले वे ही हैं।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिक्कालाद्यनवच्छिन्न प्रभु (काल व देश से असीमित)

प्राक्तुभ्य इन्द्रः प्र वृधो अहभ्यः प्रान्तरिक्षात्प्र समुद्रस्य धासेः।
प्र वातस्य प्रथसः प्र ज्मो अन्तात्प्र सिन्धुभ्यो रिरिचे प्र क्षितिभ्यः ॥ ११ ॥

(१) **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **अक्तुभ्यः**-रात्रियों से **प्रवृधः**-अत्यन्त बढ़े हुए हैं और **अहभ्यः**-दिनों से भी **प्र (वृधः)**-बढ़े हुए हैं। ये सनातन काल से चले आ रहे दिन और रात प्रभु को सीमित नहीं कर पाते। (२) काल की तरह देश भी प्रभु को सीमित करने में समर्थ नहीं। **अन्तरिक्षात् प्र (वृधः)**-वे प्रभु अन्तरिक्ष से बढ़े हुए हैं। अन्तरिक्ष उन्हें अपने में सीमित नहीं कर सकता। **समुद्रस्य धासेः**-समुद्र के धारक स्थान से भी **प्र**-वे प्रभु बढ़े हुए हैं। **वातस्य प्रथसः**-वायु के विस्तार से भी वे **प्र (वृधः)**-बढ़े हुए हैं। **ज्मः अन्तात्**-पृथिवी के अन्तों से भी **प्र (वृधः)**-वे प्रभु बढ़े हुए हैं। **सिन्धुभ्यः**-इन बहनेवाली नदियों से **प्र**-वे बढ़े हुए हैं और **क्षितिभ्यः**-इन लोकों में निवास करनेवाली सब प्रजाओं से भी वे **प्र (वृधः)**-बढ़े हुए हैं।

भावार्थ—यह काल व देश प्रभु को सीमित नहीं कर पाते। वे दिक्काल से अवच्छिन्न नहीं हैं।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान प्रकाश रूप वज्र

प्र शोशुचत्या उषसो न केतुरसिन्वा ते वर्ततामिन्द्र हेतिः।
अश्मेव विध्य दिव आ सृजानस्तपिष्ठेन हेषसा द्रोघमित्रान् ॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**-सब आसुर वृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभो! तेरी **केतुः**-ज्ञानरश्मियाँ **शोशुचत्या उषसः**-वे चारों ओर दीप्ति को फैलाती हुई उषा के समान हैं। उषा के होते ही जैसे अन्धकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार हे प्रभो! आपकी प्रेरणा हृदयान्धकार को नष्ट करनेवाली होती है। **ते हेतिः**-तेरा यह ज्ञानवज्र **असिन्**-भेदनरहित होकर **प्रवर्तताम्**-प्रवृत्त हो। इस ज्ञानवज्र का प्रभाव अवश्य होता ही है। (२) **दिवः**-ज्ञान के प्रकाशों को **आसृजानः**-समन्तात् पैदा करता हुआ तू **अश्मा इव**-पत्थर की तरह **विध्य**-इन दुरेव पुरुषों को अशुभ आचरणवाले व्यक्तियों को **विध्य**-विद्ध करनेवाला हो। जैसे पत्थर से एक दुष्ट पुरुष का नाश कर दिया जाता है (stoned to death), इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा उसकी दुष्टता को समाप्त करके भी दुष्ट पुरुष का अन्त कर दिया जाता है। (३) **तपिष्ठेन**-अत्यन्त दीप्त **हेषसा (हेत्या)**-शब्दमय वज्र से ज्ञानात्मक वज्र से **द्रोघमित्रान्**-मित्र द्रोहियों को भी तू बींधनेवाला हो। ज्ञान के द्वारा उनकी मित्रद्रोह की अशुभ भावनाओं को तू विनष्ट कर।

भावार्थ—दुष्ट को पत्थर से मारकर नष्ट करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि ज्ञान प्रसार द्वारा उसकी दुष्टता को दूर कर दिया जाए।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर

अन्वह मासा अन्विद्वनान्यन्वोषधीरनु पर्वतासः।
अन्विन्द्रं रोदसी वावशाने अन्वापो अजिहत जायमानम्॥ १३ ॥

(१) **अह**=निश्चय से **मासाः**=ये संवत्सर के बारह महीने **इन्द्रं अनु अजिहत**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को अनुकूलता में गति करते हैं। सम्पूर्ण कालचक्र प्रभु की शक्ति से प्रेरित हो रहा है। (२) **इत्**=निश्चय से **वनानि**=ये सब वन उस प्रभु के **अनु**=पीछे गति कर रहे हैं। **ओषधीः अनु**=सब ओषधियाँ उसके ही पीछे गति कर रही हैं। **पर्वतासः अनु**=ये पर्वत भी उस प्रभु के पीछे गतिवाले हैं। (३) **वावशाने**=प्राणिमात्र का हित चाहनेवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी **इन्द्रं अनु**=उस प्रभु के पीछे गतिवाले होते हैं। और (४) **जायमानम्**=कण-कण में अपनी महिमा के रूप में प्रादुर्भूत हुए-हुए उस प्रभु को **आपः**=सब प्रजाएँ **अनु अजिहत**=अनुगमन करती हैं।

भावार्थ—काल-जड़ जगत् व चेतन प्राणी सब प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर प्रभु का अनुगमन करते हैं।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापी का अन्त

कर्हि स्वित्सा त इन्द्र चेत्यासदघस्य यद्भिनदो रक्ष एषत्।
मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते ॥ १४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब आसुरवृत्तियों को समाप्त करनेवाले प्रभो! **ते**=आपकी **सा**=वह **चेत्या**=ज्ञान देनेवाली, चेतानेवाली शक्ति **कर्हिस्वित्**=कब **असत्**=प्रकट होगी? **यद्**=जो **अघस्य**=पाप का **भिनदः**=विदारण कर देती है, जो **एषत्**=(आ ईषत्, ईष् to kill) चारों ओर घात-पात करते हुए **रक्षः**=राक्षसी वृत्तिवाले पुरुष को नष्ट कर देती है। (२) हे प्रभो! आपकी उस शक्ति से आहत हुए-हुए **यत्**=जो **मित्रक्रुवः**=(मित्राणां क्रूरस्य कर्मणः कर्तारः सा०) मित्रों के साथ क्रूरता से वर्तनेवाले लोग **अमुया पृथिव्या**=उस पृथिवी से **आपृक्**=संपृक्त होकर **शयन्ते**=उसी प्रकार शयन करते हैं **न**=जिस प्रकार **शसने**=वध्यस्थल में **गावः**=पशु। वध्यशाला में वध को प्राप्त पशु जैसे भूमि का आलिंगन करके शयन करते हैं, उसी प्रकार मित्रद्रोही विनष्ट हो जाते हैं। प्रभु का ज्ञानरूप वज्र इनकी मित्रद्रोह की भावना को समाप्त कर देता है। उस भावना की समाप्ति के साथ मित्रद्रोही पुरुष मित्रद्रोही नहीं रह जाता। मित्रद्रोही का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञानवज्र पाप को, नाशक राक्षसों को तथा मित्रद्रोहियों को समाप्त कर देता है।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुधार के लिए पृथक्करण व ज्ञान देना

शत्रूयन्तो अभि ये नस्ततस्रे महि व्राधन्त ओगणास इन्द्र।
अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्तां सुज्योतिषो अक्तवस्ताँ अभि ष्युः ॥ १५ ॥

(१) ये जो **शत्रूयन्तः**=शत्रु के समान आचरण करते हुए **नः**=हमें **अभितस्त्रे**=इधर-उधर उत्त्रास करते हैं, **महि व्राधन्तः**=हमें महान् पीड़ा पहुँचाते हैं, हमारी बहुत बाधाओं का कारण बनते हैं, **ओगणासः**=संघ (gang) बनाकर अपना पीड़ा पहुँचाने का कार्य करते हैं। हे **इन्द्र**=प्रभो! वे **अमित्राः**=सबका अहित चाहनेवाले लोग **अन्धेन तमसा सचन्ताम्**=अन्धतमस् से, घने अन्धेरे से युक्त हों। अर्थात् उन्हें समाज से पृथक् करके कारागार में अलग कमरे में रखा जाये। और वहाँ उनके **अभि**=दोनों और **सुज्योतिषः अक्तवः**=उत्तम ज्योतिवाली ज्ञान की रश्मियाँ **स्युः**=हों। अर्थात् उन्हें प्रातः-सायं दोनों समय उत्तम ज्ञान प्राप्त कराया जाए। इस ज्ञान के द्वारा उनकी वृत्ति को ठीक करने का प्रयत्न किया जाए। (२) सुधार के लिये आवश्यक है कि उसको पहले वातावरण से अलग किया जाए। इसी दृष्टिकोण से यहाँ कहा गया है कि वे अन्धतमस् से युक्त हों। एकदम उन्हें अलग करके रखा जाए, उनका संसार परिवर्तित ही हो जाए। इसके बाद उन्हें प्रातः-सायं ज्ञान देने का प्रयत्न किया जाए। दिन में विविध कार्यों में व्यापृत रखा जाए। ज्ञान के द्वारा उनके जीवन में पवित्रता के संचार का यत्न हो।

भावार्थ—औरों को हिंसित व विघ्नित करनेवाले लोगों को समाज से पृथक् करके सुधारने के लिए यत्न हो। उन्हें प्रतिदिन ज्ञान को देने की व्यवस्था की जाए ताकि उनकी प्रवृत्तियाँ परिवर्तित हो जाएँ।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ, स्तवन व सम्मिलित-प्रार्थना

पुरूणि हि त्वा सवना जनानां ब्रह्माणि मन्दन्गृणतामृषीणाम्।
इमामाघोषन्नवसा सहूतिं तिरो विश्वाँ अर्चतो याह्यर्वाङ् ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्रों के अनुसार शान्त सामाजिक वातावरण में **हि**=निश्चय से **जनानाम्**=लोगों के **पुरूणि सवना**=पालन व पूरण करनेवाले यज्ञ **त्वा**=हे प्रभो! आपको **मन्दन्**=हर्षित करते हैं। इसी प्रकार **गृणताम्**=स्तवन करते हुए **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **ब्रह्माणि**=स्तोत्र भी आपको आनन्दित करते हैं। अर्थात् शान्त वातावरण में लोग यज्ञों व प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। इन अपने कार्यों से वे प्रभु के प्रिय बनते हैं। (२) इस समय ये लोग **अवसा**=रक्षण के हेतु से **इमाम्**=इस **सूहितम्**=(congregetional preyes) सामूहिक प्रार्थना को, मिलकर की जानेवाली प्रार्थना को **आघोषन्**=उच्चारण करते हैं। इस सम्मिलित प्रार्थना से वे अपने वातावरण को पवित्र बनाते हैं। (३) आप इन **विश्वान् अर्चतः**=सब उपासकों को **तिरः**=गुप्तरूप में **अर्वाङ्**=हृदयाकाश के भीतर **याहि**=प्राप्त होइये। ये उपासक अपने हृदयों में आपके प्रकाश को देख पायें।

भावार्थ—'यज्ञ, स्तवन व सम्मिलित प्रार्थनाएँ' हमें प्रभु के प्रकाश को देखने योग्य बनाती हैं।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विश्वामित्र ही प्रभु-भक्त है

एवा ते वयमिन्द्र भुञ्जतीनां विद्याम सुमतीनां नवानाम्।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो विश्वामित्रा उत त इन्द्र नूनम् ॥ १७ ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार 'यज्ञ-स्तुति व सम्मिलित प्रार्थना' को अपनाते हुए **वयम्**=हम हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते**=आपकी **भुञ्जतीनाम्**=हमारा पालन

करनेवाली **नवानाम्**-(नु स्तुतौ) स्तुति के योग्य-प्रशंसनीय **सुमतीनां विद्याम**-सुमतियों को जानें। अर्थात् हमें वह उत्तम बुद्धि प्राप्त हो जो उत्तमता से पालन करनेवाली हो। (२) **अवसा**-रक्षण के हेतु से **गृणन्तः**-आपका स्तवन करते हुए हम **वस्तोः**-(propesty possession wealth) निवास के लिये आवश्यक धन को **विद्याम**-प्राप्त करें। (३) **उत**-और **विश्वामित्राः**-सबके साथ स्नेह से वर्तते हुए हम **नूनम्**-निश्चय से हे **इन्द्र**-परमात्मन्! **ते**-आपके ही हों। प्रभु-भक्त व प्रभु प्रिय वही होता है जो किसी से द्वेष नहीं करता 'सर्वभूत हिते रताः'।

भावार्थ—हमें प्रभु से सुबुद्धि प्राप्त हो, धन प्राप्त हो और हम सबके प्रति स्नेहवाले होकर प्रभु के हो जाएँ।

ऋषिः—रेणुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुसंहार व धन प्राप्ति

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ १८॥

(१) **शुनम्**-उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **हुवेम**-पुकारते हैं जो **मघवानम्**-सब ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाले हैं **इन्द्रम्**-परमैश्वर्यवाले हैं। **अस्मिन् भरे**-इस जीवन संग्राम में **नृतमम्**-हमारा उत्तम नेतृत्व करनेवाले हैं। **वाजसातौ**-शक्ति प्राप्ति के निमित्त की जानेवाली हमारी प्रार्थनाओं को **शृण्वन्तम्**-जो सुनते हैं। (२) उस परमात्मा को जो **ऊतये**-हमारे रक्षण के लिए **उग्रम्**-हमारे शत्रुओं के लिए उग्र हैं, अत्यन्त तेजस्वी हैं। और **समत्सु**-संग्रामों में **वृत्राणि घ्नन्तम्**-ज्ञान के आवरणभूत काम आदि शत्रुओं को नष्ट कर रहे हैं। तथा जो हमारे लिये इन शत्रुओं को नष्ट करके **धनानाम्**-धनों के **सञ्जितम्**-सम्यक् विजेता हैं। इन धनों के द्वारा हम उत्तम जीवन को बितानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के नेतृत्व में हम शत्रुओं को जीतकर उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

इस सूक्त के प्रारम्भ में भी प्रभु को 'नृतम' शब्द से स्मरण किया है। (१) अन्तिम मन्त्र में भी इसी 'नृतम' शब्द का प्रयोग हुआ है। (२) इस प्रभु के नेतृत्व में चलने के कारण ही तो इसका ऋषि 'रेणु' कहलाया है (री गतौ) प्रभु के नेतृत्व में चलता हुआ यह प्रभु का आलिंगन करता है। (री श्लेषणे) यह प्रभु की तरह ही 'नारायण' बन जाता है, यही 'नारायण' अगले सूक्त का ऋषि है। प्रभु की तरह ही यह 'सर्वभूतहिते रत' होता है, नर-समूह का अयन (शरण-स्थान) बनता है। यह प्रभु का स्मरण करता हुआ कहता है—

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सहस्रशीर्षा पुरुष

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥

(१) वह प्रभु **पुरुषः**-'पुरि वसति' ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करते हैं। 'पुरिशेते'-इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन करते हैं। 'पुनाति-रुणद्धि-स्यति' इस ब्रह्माण्डरूप नगरी को वे पवित्र करते हैं, इसे वे नष्ट होने से बचाने के लिये आवृत किये रहते हैं और अन्त में इसका प्रलय करते हैं (षोऽन्तकर्मणि)। (२) वे पुरुष **सहस्रशीर्षा**-अनन्त सिरोंवाले हैं, **सहस्राक्षः**-अनन्त आँखोंवाले हैं, **सहस्रपात्**-अनन्त पाँववाले हैं। सब ओर उनके सिर आँखें व पाँव हैं। इन इन्द्रियों से रहित

होते हुए भी इन इन्द्रियों की शक्ति उनमें सर्वत्र है। (३) स-वे प्रभु **भूमिम्**-इस 'भवन्ति भूतानि यस्यां' प्राणियों के निवास-स्थानभूत ब्रह्माण्ड को **सर्वतः वृत्वा**-सब ओर से आच्छादित करके अपने एक देश में इस सारे ब्रह्माण्ड को धारण करके **दशाङ्गुलम्**-इस दशांगुल-परिमाण जगत् को **अति अतिष्ठत्**-लांघ करके ठहरे हुए हैं। अनन्त-सा प्रतीत होनेवाला भी यह ब्रह्माण्ड उस अनन्त प्रभु की तुलना में एकदम सान्त ही है। उस प्रभु की तुलना में यह सारा ब्रह्माण्ड एक तरबूज के समान ही है (दशांगुल-watermelen)। (४) 'दशांगुल' शब्द हृदयदेश के लिए भी प्रयुक्त होता है। वे प्रभु सबके हृदयों में निवास करते हुए उन सब हृदयों से ऊपर उठे हुए हैं। (५) यह ब्रह्माण्ड पञ्चसूक्ष्मभूत व पञ्चस्थूलभूतों से बना हुआ होने से भी 'दशांगुल' कहलाता है। प्रभु इस ब्रह्माण्ड को लाँघकर रह रहे हैं।

भावार्थ—वे पुरुष विशेष प्रभु 'अनन्त सिरों, आँखों व पाँव' वाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को आवृत करके इसको लाँघकर रह रहे हैं। प्रभु की तुलना में यह ब्रह्माण्ड दशांगुल-मात्र ही है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'भूत-भाव्य-अमृत' के ईशान

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

(१) **पुरुषः**-इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन व निवास करनेवाले प्रभु **एव**-ही **इदं सर्वम्**-इन सारे प्राणियों के **ईशानः**-शासित करनेवाले हैं। उन प्राणियों के **यद्**-जो **भूतम्**-कर्मानुसार जन्म को ग्रहण कर चुके हैं। **यत् च**-और जो **भव्यम्**-समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे। इन प्राणियों के भी वे प्रभु ईश हैं। (२) इन भूत भाव्य प्राणियों के तो वे प्रभु ईश हैं ही, **उत**-और **अमृतत्वस्य ईशानः**-वासनाओं के क्षय से अमरपद को प्राप्त प्राणियों के भी वे ईश हैं। इन्हें भी परामुक्ति के काल की समाप्ति पर प्रभु की व्यवस्था के अनुसार जन्म धारण करना होता है। ये अमृत पुरुष वे हैं **यत्**-जो **अन्नेन**-उस अन्न नामक प्रभु से अन्न नामक प्रभु का आश्रय करने से, **अतिरोहति**-जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। प्रभु अन्न हैं 'अद्यतेऽन्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'। इस प्रभु को अन्न इसलिए भी कहते हैं कि 'आ-नम्' अन्ततः सब इनकी ओर झुकते हैं। इस अन्न का आश्रय करके जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जानेवाले व्यक्ति भी प्रभु के शासन से ऊपर नहीं हो पाते।

भावार्थ—वे प्रभु 'भूत-भाव्य व अमृत' सभी के ईशान हैं।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

(१) **अस्य**-इस पुरुष की **एतावान् महिमा**-इतनी महिमा है। सारा ब्रह्माण्ड उनके एकदेश में है और सब 'भूत-भाव्य-अमृत' प्राणियों के वे ईश हैं। इस सारे ब्रह्माण्ड में तथा सब प्राणियों में प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है, सूर्यादि पिण्डों को वे ही ज्योति दे रहे हैं, तो बुद्धिमानों की बुद्धि भी वे ही हैं, और तेजस्वियों का तेज भी वे ही हैं। (२) वे **पुरुषः**-ब्रह्माण्डनगरी में निवास करनेवाले प्रभु **अतः ज्यायान् च**-इस ब्रह्माण्ड से बड़े हैं, यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एकदेश में ही स्थित है। प्रभु की तुलना में यह विशाल ब्रह्माण्ड दशांगुल मात्र है। **विश्वाभूतानि**-ये सारे प्राणी **अस्य पादः**-इस प्रभु के चतुर्थांश में ही हैं। यह सारा जन्म-मरण चक्र इस चतुर्थांश में ही चल रहा है। **अस्य त्रिपाद्**-इस प्रभु के तीन अंश तो **दिवि**-अपने द्योतनात्मक रूप में

अमृतम्=अमृत हैं। उन तीन अंशों में यह जीवों के जन्म ग्रहण व शरीर को छोड़नेरूप मृत्यु का व्यवहार नहीं होता, सो उस त्रिपात् को यहाँ 'अमृत' कहा गया है।

भावार्थ—सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़े हैं। यह ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एकदेश में ही है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'गति का आदि स्रोत प्रभु'

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

(१) **त्रिपात् पुरुषः**=त्रिपात् पुरुष **ऊर्ध्वः उदैत्**=इस चराचर जगत् से ऊपर उठा हुआ है। **अस्य**=इस पुरुष का **पादः**=एक अंश ही **पुनः**=तो **इह अभवत्**=यहाँ इस ब्रह्माण्ड में होता है। सम्पूर्ण संसार का व्यवहार इस एक अंश में ही चल रहा है, प्रभु के तीन अंश तो इस व्यावहारिक संसार से ऊपर ही हैं। (२) इस **साशनानशने**=अशन सहित और अशनरहित संसार दो भागों में बँटा हुआ है, यही चराचर कहलाता है। इस चराचर संसार में **ततः**=उस प्रभु से ही **विष्वङ्**=(विषु अञ्च्) विविध दिशाओं में गति करनेवाला या विविध योनियों में प्रविष्ट होकर गति करनेवाला यह सारा संसार **व्यक्रामत्**=विविध गतियोंवाला होता है। सम्पूर्ण संसार की गति के स्रोत वे प्रभु ही हैं। (३) **अभि**=ये सारे प्राणी अन्ततः उस प्रभु की ओर ही चल रहे हैं। सबका अन्तिम लक्ष्य वह प्रभु ही है। वहाँ पहुँचकर ही यात्रा का अन्त होता है।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसार की गति के स्रोत वे प्रभु ही हैं। यह ब्रह्माण्ड उस प्रभु की ओर ही चल रहा है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

विराट् की उत्पत्ति

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

(१) **ततः**=उस निमित्त कारणभूत पुरुष से **विराट् अजायत**=एक देदीप्यमान पिण्ड आविर्भूत किया गया। इसी पिण्ड को मनु ने 'हैम अण्ड' नाम दिया है। यही सांख्य में 'महत्' शब्द से कहा गया है। (२) **विराजः अधि पूरुषः**=उस विराट् पिण्ड का अधिष्ठातृरूपेण वह पुरुष था। प्रभु की अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। (३) **सः**=वह विराट् पिण्ड **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **अत्यरिच्यत**=संसार के किसी भी पदार्थ से अधिक दीप्तिवाला हुआ। मनु ने इसे 'सहस्रांशु सम प्रभ'=सूर्य के समान प्रभावाला कहा है। (४) **पश्चात्**=अब विराट् की उत्पत्ति के बाद **भूमिम्**=प्राणियों के निवास-स्थानभूत लोकों को उस अध्यक्ष ने बनाया। प्राणियों के सशरीर होने से पहले इन लोकों का बनना आवश्यक ही है। (५) **अथ उ**=और अब, इन लोकों के बन जाने के पश्चात् **पुरः**=शरीर बनाये गये। शरीरों को 'पुरः' नाम इसलिए देते हैं कि 'पूर्यन्ते सप्त धातुभिः'=ये सप्त धातुओं से पूर्ण हैं।

भावार्थ—पहले 'विराट्' की उत्पत्ति होती है। इस विराट् से लोक-लोकान्तर बनते हैं और फिर प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु-भक्त व ऋतुओं का पाठ

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

(१) **यत्**=जब **हविषा**=(हु दाने) हविरूप-त्याग के पुञ्ज **पुरुषेण**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु से **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **यज्ञम्**=संगतिकरण व सम्बन्ध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं, तो **अस्य**=इस प्रभु से मेलवाले व्यक्ति के लिये **वसन्तः आज्यम्**=वसन्त ऋतु आज्य **आसीत्**=हो जाती है, **ग्रीष्मः**=ग्रीष्म ऋतु **इध्मः**=इध्म होती है और **शरत् हविः**=शरद् ऋतु हवि हो जाती है। (२) वसन्त ऋतु इस व्यक्ति के लिये प्रभु की महिमा को व्यक्त करनेवाली बन जाती है (आज्य-अञ्ज्-व्यक्त करना)। चारों ओर वनस्पतियों के नवपल्लव पुष्प व फल इसके लिए प्रभु-दर्शन के द्वार बन जाते हैं। (३) ग्रीष्म ऋतु इसके लिए इध्म व दीप्ति का प्रतीक हो जाती है। जैसे ग्रीष्म में सूर्य प्रचण्डरूप में चमक रहा होता है, उसी प्रकार यह उपासक प्रभु की अत्यन्त ज्योतिर्मय ज्ञानदीप्ति की कल्पना करता है। (४) इस प्रभु-भक्त के लिए सब पत्तों व पुष्पों को शीर्ण करती हुई शरद् भी हवि का संकेत बन जाती है। शरद् से यह हविरूप बनना सीखता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त के लिए वसन्त प्रभु महिमा को दर्शाती है, ग्रीष्म प्रभु की ज्ञानदीप्ति का संकेत करती है और शरत् इसे त्याग का पाठ पढ़ाती है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

देव-साध्य व ऋषि

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

(१) **तम्**=उस **यज्ञम्**=उपासनीय संगतिकरण योग्य व समर्पणीय प्रभु को **बर्हिषि**=वासनाओं का जिसमें से उद्बर्हण कर दिया गया है ऐसे हृदय में **प्रौक्षन्**=प्रकर्षेण सिक्त करते हैं। हृदयरूप क्षेत्र को प्रभु-चिन्तनरूप जल से सिक्त करते हैं। (२) उस प्रभु को जो **पुरुषम्**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले हैं। और जो **अग्रतः जातम्**=पहले से ही विद्यमान हैं। 'उन प्रभु को किसी ने बनाया हो, ऐसी बात नहीं है,' वे तो अनादि व स्वयम्भू हैं। (३) **तेन**=उस प्रभु से **अयजन्त**=वे व्यक्ति अपना मेल करते हैं **ये**=जो **देवाः**=देववृत्ति के हैं, जिनके मन दिव्यगुणों की सम्पत्तिवाले हैं। **साध्याः** (**साध्नुवन्ति परकार्याणि**)=जो सदा औरों के कार्यों को सिद्ध ही करते हैं, बिगाड़ते नहीं। **च**=और जो **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति देवों को, साध्यों को व ऋषियों को होती है, उन्हें जो 'उपासना, कर्म व ज्ञान' तीनों का अपने में समन्वय करते हैं।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

दूध, अन्न व पशु

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

(१) **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=संगतिकरण योग्य, **सर्वहुतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभु से **पृषदाज्यम्**=('अन्नं वै पृषदाज्यम्' 'पयः पृषदाज्यम्' श० ३।८।४।८। 'पशवो वै पृषदाज्यम्' तै० १।६।३।२) अन्न, दूध व पशु **सम्भृतम्**=इन सबका सम्भरण किया गया। प्रभु ने हमारे जीवन के लिए गौ आदि पशुओं को बनाया जिनके द्वारा हमें दूध प्राप्त हुआ तथा कृषि आदि के द्वारा अन्न के मिलने का सम्भव हुआ। (२) प्रभु ने **तान्**=उन सब **पशून् चक्रे**=पशुओं का निर्माण किया। **वायव्यान्**=जो वायु में उड़नेवाले थे, **आरण्यान्**=वनों में रहनेवाले थे **च**=और **ये**=जो **ग्राम्याः**=ग्राम में पालतू पशुओं के रूप में रहनेवाले थे। (३) यहाँ मनुष्यों से भिन्न सभी प्राणियों को 'पशु' शब्द से स्मरण किया है, ये 'पश्यन्ति' केवल देखते हैं, मनुष्य की तरह मनन नहीं कर पाते। ये सब मनुष्य के जीवन में किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं। सर्प विष का भी

औषधरूपेण प्रयोग होता है, मस्तिष्क का बल भी वमन विरोध में काम आता है। ज्ञानवृद्धि के साथ हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि ये सब पशु हमारे लिए सहायक हैं। प्रभु की कृपा का अन्त नहीं। वे सर्वहुत् हैं, सब कुछ देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवन के धारण के लिए दूध, अन्न, व पशुओं को प्राप्त कराया है। ये पशु दूध आदि देकर व कृषि आदि कार्यों में सहायक होकर, हमारे लिए उपयोगी होते हैं।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ऋक्-साम-अथर्व-यजु

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

(१) **तस्माद्**-उस **यज्ञात्**-पूज्य **सर्वहुतः**-सब कुछ देनेवाले प्रभु से **ऋचः**-ऋचाएँ **जज्ञिरे**-प्रादुर्भूत हुईं। 'ऋच् स्तुतौ' धातु के अनुसार ये वे मन्त्र हैं जिनमें कि सब पदार्थों के गुणधर्मों का वर्णन है। सब प्रकृति सम्बद्ध विद्याएँ इन ऋचाओं का विषय हैं। (२) उस प्रभु से **सामानि**-साम मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। ये वे मन्त्र हैं जो आत्मा की उपासना के साथ सम्बद्ध हैं। इसी से सामवेद का नाम ही उपासना वेद हो गया है। (३) **तस्मात्**-उस प्रभु से **छन्दांसि**-छन्द, अथर्व के मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। इन्हें 'छन्द' इसलिए कहा गया है कि ये मुख्यरूप से 'छद अपवारणे' रोगों व युद्धों का अपवारण करते हैं। (४) **तस्मात्**-उस प्रभु से ही **यजुः**-यज्ञों के प्रतिपादक यजुर्वेद के मन्त्र भी प्रादुर्भूत हुए। इन यज्ञों के द्वारा ही जीव ने इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस्य को सिद्ध करना है।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में 'ऋग्, यजु, साम व अथर्व' का प्रकाश किया। इनके द्वारा क्रमशः प्रकृतिविद्या, कर्मविज्ञान, उपासना व रोगचिकित्सा युद्धविद्या का उपदेश दिया।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

गौ-घोड़ा-मनुष्य-अजा अवि

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

(१) **तस्मात्**-उस प्रभु से ही **अश्वाः**-घोड़ों को **अजायन्त**-जन्म दिया गया। **ये के च**-जो कोई भी **उभयादतः**-दोनों ओर दाँतोंवाले पशु थे उन्हें प्रभु ने उत्पन्न किया। **गावः**-गौवें भी **ह**-निश्चय से **तस्मात्**-उस प्रभु से ही **जज्ञिरे**-उत्पन्न हुईं। (२) **तस्मात्**-उस प्रभु से ही **अजावयः**-अजा और **अवि**-बकरी व भेड़ **ज्जाताः**-उत्पन्न की गईं। गौवें और घोड़े मनुष्य के दक्षिण हस्त थे तो ये भेड़ व बकरी उसके वामहस्त बने। इस प्रकार मनुष्य केन्द्र में है। उसके एक ओर गौ और घोड़ा तथा दूसरी ओर भेड़ व बकरी हैं। 'तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः-पुरुषोऽजावयः'। (३) गौ दूध देकर मनुष्य का पोषण करती हुई उसके बुद्धि विकास का भी कारण बनती है। घोड़ा उसके 'क्षत्रियत्व' के विकास में सहायक होता है। अजा व अवि पशम व ऊन प्राप्त कराके उसके वाणिज्य में सहयोग देती हैं। इस प्रकार मानव-जीवन के साथ बहुत समीपता से सम्बद्ध हैं।

भावार्थ—प्रभु ने घोड़ा, गौ, अजा, अवि आदि उपकारक पशुओं को जन्म दिया।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु धारण से क्या लाभ?

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

(१) **यत्**-जब **पुरुषम्**-संसार नगरी में निवास शयन, करनेवाले प्रभु को 'देव-साध्य व

ऋषि' **व्यदधुः**-अपने में विशेषरूप से धारण करते हैं तो वे **कतिधा**-कितने प्रकार से **व्यकल्पयन्**-(विक्लृप्)-अपने को विशिष्ट परामर्शवाला बनाते हैं। प्रभु के धारण करनेवाले में अन्य पुरुषों से क्या विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है? (२) **अस्य मुखं किम्**-इसका मुख्य क्या हो जाता है? क्या यह अन्य पुरुषों की तरह ही बोलचालवाला नहीं होता? **कौ बाहू**-इसके बाहु क्या हो जाते हैं? इसके बाहु क्या सामान्य लोगों की तरह कार्य करनेवाले नहीं होते? **का ऊरू**-इसकी जाँघें क्या हो जाती हैं? अथर्व के अनुसार इसका मध्यभाग-पेट क्या हो जाता है? **पादा (का) उच्येते**-इसके पाँव क्या कहाते हैं? इसकी चाल-ढाल और लोगों से किस दिशा में भिन्न होती है?

भावार्थ—यदि प्रभु के धारण के बाद भी हमारे जीवनों में कोई विशेषता न आये, तो प्रभु धारण की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती। इसी कारण यह प्रश्न है कि प्रभु धारण से क्या परिवर्तन होता है? अगले मन्त्रों में इसी प्रश्न का विस्तृत उत्तर है—

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

(१) गत मन्त्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अस्य**-इस प्रभु को धारण करनेवाले का **मुखम्**-मुख **ब्राह्मणः आसीत्**-ब्राह्मण हो जाता है, इसका मुख ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रवचन करनेवाला बन जाता है यह मुख से ज्ञान का प्रसार करता है, अपशब्दों के बोलने का वहाँ प्रसंग ही कहाँ? (२) इस प्रभु को धारण करनेवाले की **बाहू**-भुजाएँ **राजन्यः कृतः**-क्षत्रिय बन जाती हैं। लोक-रञ्जनात्मक कर्मों को करती हुई वे राजन्य हो जाती हैं 'सो ऽरज्यत ततो राजन्यो ऽजायत'। यह बाहुओं से औरों का रक्षण ही करता है नकि नाश। (३) **यत्**-जो **अस्य**-इसकी **ऊरू**-जाँघें हैं **तत्**-वे **वैश्यः**-वैश्य **अजायत**-हो जाती हैं। यहाँ ऊरू 'मध्य भाग' का प्रतीक हैं। जैसे यह पेट रुधिरादि को उत्पन्न करके अंग-प्रत्यंग का पालन करता है इसी प्रकार यह धनार्जन करके सभी के हित में उसका विनियोग करता है। (४) **पद्भ्याम्**-पाँवों से यह **शूद्रः**-शूद्र **अजायत**-हो जाता है। 'शु+उत्+र' यह शीघ्रता से उत्कृष्ट गतिवाला होता है। इसके सब कार्य शूद्र की तरह सेवात्मक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धारण करनेवाला मुख से एक सच्चे ब्राह्मण की तरह ज्ञान देनेवाला होता है। बाहुओं से एक क्षत्रिय की तरह रक्षण करनेवाला बनता है। मध्य भाग से एक वैश्य की तरह धनार्जन करके सभी का पालन करता है। पाँवों से इसकी सब गतियाँ एक सच्चे शूद्र की तरह सेवात्मक होती हैं।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'चन्द्र, सूर्य, इन्द्र-अग्नि, वायु'

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥

(१) **मनसः**-मन के दृष्टिकोण से यह प्रभु को धारण करनेवाला **चन्द्रमाः जातः**-चन्द्रमा हो जाता है। 'चदि आह्लादे' से चन्द्र शब्द बनता है। यह प्रभु-भक्त सदा आह्लादमय मनवाला होता है। 'मनः प्रसाद' से सदा यह स्मितवदन दिखता है। (२) **चक्षोः**-चक्षु से **सूर्यः अजायत**-यह सूर्य बन जाता है। सूर्य जैसे अन्धकार को दूर करनेवाला है, इसी प्रकार इसकी चक्षु इसके अज्ञानान्धकार को सदा दूर करनेवाली बनती है। यह आँख सब पदार्थों को सूक्ष्मता से देखती हुई

इसके तत्त्वज्ञान का साधन बनती है। (३) मुखात्-मुख से यह इन्द्रः च अग्निः च-इन्द्र और अग्नि बनता है। मुख के दो कार्य हैं 'खाना और बोलना' पहले कार्य के दृष्टिकोण से यह जितेन्द्रिय बनता है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही इन्द्र है। जितेन्द्रिय होता हुआ यह स्वाद के लिए न खाकर केवल शरीरधारण के लिए खाता है। दूसरे कार्य के दृष्टिकोण से यह अग्नि बनता है, इसके मुख से निकले हुए शब्द अग्नि होते हैं, आगे ले चलनेवाले होते हैं, सबको उत्साहित करनेवाले होते हैं। (४) प्राणाद्-प्राण के दृष्टिकोण से, जीवन के दृष्टिकोण से यह वायुः अजायत-वायु हो जाता है। 'वा गतौ' वायु चलती है, इसका जीवन भी बड़ा क्रियाशील होता है।

भावार्थ—प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन में ये बातें होती हैं—(क) मन: प्रसाद, (ख) प्रकाशमय दृष्टि, (ग) जितेन्द्रियता व उत्साहमय वाणी, (घ) क्रियाशीलता।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'अन्तरिक्ष-द्यौः-भूमिः-दिशः'

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षं शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्तत।

प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ अ॑कल्पयन्॥ १४॥

(१) नाभ्याः-नाभि शरीर का केन्द्र है, इस नाभि के दृष्टिकोण से अन्तरिक्षं आसीत्-यह अन्तरिक्ष होता है 'द्युलोक' एक सीमा है, 'पृथिवी' दूसरी सीमा है। 'अन्तरिक्ष' इनके (अन्तराक्षि) बीच में है। यह प्रभु-भक्त सीमाओं पर न जाता हुआ सदा मध्य में रहता है। यह मध्य मार्ग ही इसके शरीर के केन्द्र को ठीक रखकर इसे पूर्ण स्वस्थ बनाता है। (२) शीर्ष्णः-सिर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह द्यौः-आकाश समवर्तत-हो जाता है जैसे द्युलोक नक्षत्रों से चमकता है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है। जैसे द्युलोक सूर्य ज्योति से देदीप्यमान है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क आत्मज्ञान के सूर्य से चमकता है। (३) यह पद्भ्याम्-पाँवों के दृष्टिकोण से भूमिः-भूमि बनता है। 'भवन्ति भूतानि यस्यां' इस व्युत्पत्ति से भूमि सभी को निवास देनेवाली है। इसकी 'पद गतौ' पाँव से होनेवाली सारी गति औरों के निवास का ही कारण बनती है। (४) यह श्रोत्रात्-श्रोत्र के दृष्टिकोण से 'दिशः'-दिशाएँ ही हो जाता है। 'प्राची-प्रतीची-अवाची-उदीची' ये चार दिशाएँ हैं। यह कानों से इनके उपदेश को सुनता है और 'प्राची' के उपदेश को सुनकर (प्र अञ्च्) आगे बढ़ता है, 'प्रतीची' से (प्रति अञ्च्) इन्द्रियों के प्रत्याहरण का पाठ पढ़ता है, अवाची (अव अञ्च्) से नम्रता का पाठ पढ़ता है और उदीची से (उद् अञ्च्) सदा उन्नति का उपदेश लेता है। ये प्रभु-भक्त तथा-मन्त्र वर्णित प्रकार से आचरण करते हुए लोकान्-शरीर के अंग-प्रत्यंगों को अकल्पयन्-शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त मध्य मार्ग में चलते हैं, मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाते हैं। इनकी गति औरों के निवास का कारण बनती है तथा ये दिशाओं से उपदेश को ग्रहण करके आगे बढ़ते हैं, इन्द्रियों को प्रत्याहृत करते हैं, नम्रता को धारण करते हैं और सदा उन्नति के मार्ग पर चलते हैं।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सात मर्यादों का पालन

स॒प्तास्या॑सन्परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।

दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम्॥ १५॥

(१) यद्-जब देवाः-देववृत्ति के पुरुष यज्ञम्-प्रभु के साथ मेल को (यजः संगतिकरण) तन्वानाः-विस्तृत करते हुए बढ़ाते हुए, पुरुषम्-जबर्दस्त पौरुषवाले पशुम्-काम-क्रोधरूप पशु

को अबध्नन्-बाँध लेते हैं, पूरी तरह से वश में कर लेते हैं, तो अस्य-इस यज्ञविस्तारक-पशुबन्धक पुरुष के सप्त-'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'-'दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सातों ऋषि परिधयः आसन्-परिधि हो जाते हैं। परिधि हो जाने का भाव यह है कि वे सब मर्यादा में चलनेवाले होते हैं। वेद में सात ही मर्यादाओं का उल्लेख है 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः०'। इन सातों मर्यादाओं का यह पालन करता है। (२) सातों मर्यादाओं के पालन का ही यह परिणाम होता है कि इसके जीवन में त्रिः सप्त-त्रिगुणित सात अर्थात् इक्कीस समिधः-दीप्तियाँ कृताः-उत्पन्न हो जाती हैं (are created)। इसके शरीर की इक्कीस शक्तियाँ दीप्त हो उठती हैं।

भावार्थ—प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाला व्यक्ति सातों मर्यादाओं का पालन करता है और अपनी सब शक्तियों को दीप्त करनेवाला होता है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ से यज्ञ का यजन

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त देवास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥ १६ ॥

(१) प्रभु यज्ञ हैं, पूज्य हैं, संगतिकरण योग्य हैं और समर्पणीय हैं। 'बड़ों का आदर करना, बराबरवालों से मिलकर प्रेम से चलना तथा देना' यह त्रिविध कर्म यज्ञ है। यज्ञेन-इस 'बड़ों के आदर, परस्पर प्रेम व दान' रूप यज्ञात्मक कर्म से यज्ञ-उस उपास्य प्रभु को देवाः-देववृत्ति के पुरुष अयजन्त-उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना यज्ञान्तर्गत इन्हीं तीन कर्मों से होती है। वस्तुतः तानि-वे तीन कर्म ही प्रथमानि धर्माणि आसन्-मनुष्य के प्रमुख कर्त्तव्य (first and foremost duties) थे। (२) इन कर्मों के द्वारा महिमानः-(मह पूजायाम्) प्रभु-पूजन करनेवाले नाकम्-उस सुखमय मोक्ष लोक का सचन्त-सेवन करते हैं, यत्र-जहाँ-जिस मोक्षलोक में वे व्यक्ति सन्ति-निवास करते हैं जो पूर्वे-अपना पालन व पूरण करनेवाले हैं, साध्याः-(साधयन्ति परकार्याणि) दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं, तथा देवाः-सदा काम-क्रोधादि को जीतने की कामना करते हैं (विजिगीषा-दिव्) और ज्योतिर्मय जीवन बिताते हैं (द्युति-दिव्)।

भावार्थ—प्रभु का उपासन यज्ञ से होता है, यज्ञ ही प्रमुख कर्त्तव्य है, प्रभु-पूजक मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष को प्राप्त करके 'नारायण' सा ही हो जाता है।

इस पुरुष सूक्त का निचोड़ यही है कि प्रभु अनन्त ज्ञानवाले हैं उस ज्ञान से वे इस सुन्दर सृष्टि का निर्माण करते हैं। हम प्रभु को धारण करते हुए एक-एक अंग को शक्तिशाली बनाएँ। सदा यज्ञों द्वारा उस प्रभु का उपासन करते हुए हम भी प्रभु जैसे बन जाएँ। यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाला यह 'वीतं हव्यं येन'-यज्ञशेष का सेवन करनेवाला 'वैतहव्य' बनता है तथा अरुणः-तेजस्विता की लालिमावाला होता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु को याद करता है—

अष्टमोऽनुवाकः

[९१] एकनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

जागते हुओं से स्तूयमान 'प्रभु'

सं जागृविद्भिर्जरमाण इध्यते दमे दमूना इषयन्निळस्पदे।
विश्वस्य होता हविषो वरेण्यो विभुर्विभावा सुषखा सखीयते॥ १॥

(१) **जागृवद्भिः**=जागनेवालों से जो अपने कर्त्तव्यों को अप्रमत्त होकर कर रहे हैं और सो नहीं गये, उनसे **जरमाणः**=स्तुति किया जाता हुआ यह प्रभु **समिध्यते**=सम्यक् दीप्त होता है। ये प्रभु अप्रमत्तभाव से कर्त्तव्य कर्मों को करने के द्वारा अर्चन करनेवालों के हृदयों में दीप्त होते हैं। (२) वे प्रभु **दमे**=इस शरीर रूप गृह में **दमूनाः**=(fire) अग्नि के समान हैं। ये प्रभु **इडः पदे**=वाणी के स्थान में, अर्थात् वेदवाणी में **इषयन्**=प्रेरणा को प्राप्त करा रहे हैं। वेदवाणी में हमारे कर्त्तव्य मात्र की प्रेरणा दे दी गयी है हम प्रभु की उस वाणी को पढ़ते हैं और वह वाणी हमारे कर्मों की हमें प्रेरणा देती हैं। (३) **विश्वस्य हविषः होता**=सम्पूर्ण हवि के, हव्य पदार्थों के वे देनेवाले हैं (हु दाने)। प्रत्येक उत्तम पदार्थ उस प्रभु ने ही प्राप्त कराया है। आकाश में शब्द को, वायु में मधुर स्पर्श को, अग्नि में तेज को, जल में रस को तथा पृथिवी में पुण्य गन्ध को स्थापित करनेवाले वे ही हैं। (४) **वरेण्यः**=ये प्रभु ही वरणीय हैं। प्रभु के वरण से सब योगक्षेम तो स्वयं प्राप्त हो ही जाता है। (५) ये प्रभु **विभुः**=सर्वव्यापक हैं, **विभावा**=विशिष्ट सामर्थ्यवाले हैं तथा **सखीयते**=सखित्व को चाहनेवाले जीव के लिए **सुषखा**=उत्तम मित्र हैं। पूर्ण निस्वार्थ मित्र प्रभु ही हैं। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने से वे अपने मित्रों के सब हितों को सिद्ध कर पाते हैं।

भावार्थ—अप्रमत्तभाव से कर्तव्यपालन करते हुए हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही सच्चे मित्र हैं, वे ही वरणीय हैं।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दर्शतश्रीः 'प्रभु'

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव।
जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्योऽ विशंविशम्॥ २॥

(१) **स**=वे प्रभु **दर्शतश्रीः**=दर्शनीय शोभावाले हैं, हिमाच्छादित पर्वतों में, समुद्रों में, पृथिवी में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। वे प्रभु **गृहे गृहे**=प्रत्येक घर में **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर आनेवाले हैं। यह हमारा ही दोष है कि हम उस प्रभु का स्वागत करने को तैयार नहीं होते। (२) (तक्वन्=rushing forwald, श्री गतौ) वे प्रभु **तक्वीः इव**=तीव्रगति से आनेवाले की तरह **वने वने**=(वन=संभक्तौ) प्रत्येक उपासक में **शिश्रिये**=आश्रय करते हैं, प्रत्येक उपासक में प्रभु का निवास है। (३) **जन्यः**=सब लोगों का हित करनेवाला वह प्रभु **जनं जनम्**=किसी भी मनुष्य को **न अतिमन्यते**=(विसृज्य न गच्छति सा०) छोड़ नहीं जाता। उस प्रभु की कृपादृष्टि सब पर रहती है। (४) **विश्यः**=सब प्रजाओं का हित करनेवाला वह प्रभु **विशः आक्षेति**=समन्तात् सब प्रजाओं में निवास करता है। वे प्रभु **विशं विशं**=(आक्षेति) प्रत्येक प्रजावर्ग को शासित करते हैं। प्रभु के शासन का उल्लंघन न कर सकने से सब प्रजाएँ कर्मानुसार

दिये दण्ड को भोगती हुई विविध योनियों में जन्म लेती हैं।

भावार्थ—संसार में सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखती है। वे प्रभु सब प्राणियों में निवास करते हैं, सबका शासन करते हैं।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सुदक्ष-सुक्रतु-कवि'

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित्।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **दक्षैः**=बलों से **सुदक्षः**=आप उत्तम बलवाले हो। तथा **क्रतुना**=प्रज्ञान व बुद्धि से **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञान व बुद्धिवाले **असि**=हैं। तथा **काव्येन**=इस वेदरूप अजरामर काव्य से (पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **कविः**=क्रान्तदर्शी व क्रान्तप्रज्ञ **असि**=हैं, **विश्ववित्**=सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान देनेवाले हैं। (२) **वसुः**=आप सर्वत्र बसनेवाले व सबको बसानेवाले हैं। **वसूनाम्**=निवास के लिये आवश्यक सब साधनों के व धनों के **त्वं एकः इत्**=आप अकेले ही **क्षयसि**=मालिक हैं (to be master of)। उन वसुओं के आप मालिक हैं **यानि**=जिन वसुओं का **द्यावा च पृथिवी च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **पुष्यतः**=पोषण करते हैं। संसार के अन्तर्गत सब वसुओं के मालिक वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही बलवान् व बुद्धिमान् हैं। वे ही सब ज्ञानों के देनेवाले हैं। तथा वे प्रभु ही सब वसुओं का पोषण करनेवाले हैं।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु का निवास कहाँ?

प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः।
आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः ॥ ४ ॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **प्रजानन्**=प्रकृष्टरूप से ज्ञानवाले होते हुए आप **तव योनिम्**=अपने निवासभूत (योनि=गृह) **ऋत्वियम्**=(ऋतु=light, splendine) प्रकाशमय और **इडायाः पदे**=वेदवाणी के आधार में **घृतवन्तम्**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्तिवाले हृदयदेश में **आसदः**=आसीन होते हो। एक उपासक का निर्मल हृदय ही आपका निवास-स्थान है। वह हृदय जो प्रकाशमय है और वेदवाणी को अध्ययन से निर्मल व ज्ञानदीप्त बना है। (२) हे प्रभो! **ते**=आपकी **एतयः**=प्राप्तियाँ (एतिः=arrinal) **उषसां इव**=उषाओं के आगमनों की तरह **आचिकित्रे**=जानी जाती हैं। जिस प्रकार उषा के आने पर सदा अन्धकार दग्ध हो जाता है (उष दाहे) इसी प्रकार हृदय में प्रभु के आसीन होने पर वासनाओं का सब अन्धकार समाप्त हो जाता है। (३) हे प्रभो! आपके आगमन **अरेपसः**=सब दोषों को दूर करनेवाली **सूर्यस्य रश्मयः इव**=सूर्य की किरणों के समान हैं। जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करती हैं उसी प्रकार हृदय में प्रभु की प्राप्ति से शक्ति का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु का वास निर्मल व ज्ञानदीप्त हृदयों में होता है। यह प्रभु का वास सब वासनान्धकार को विनष्ट कर देता है और हमारे जीवनों में प्राणशक्ति का संचार करता है।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सात्त्विक आहार

तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः।
यदोषधीरभिसृष्टो वनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमास्ये॥५॥

(१) हे अग्ने! **तव**=आपकी **श्रियः**=शोभाएँ **वर्ष्यस्य**=वृष्टि करनेवाले मेघ की **विद्युतः इव**=विद्युतों के समान **चित्राः**=अद्भुत **चिकित्रे**=जानी जाती हैं। आपकी शोभाएँ **उषसां केतवः न**=उषा की रश्मियों के समान हैं। जैसे विद्युत् में छेदन-भेदन शक्ति है इसी प्रकार प्रभु की उपस्थिति सब वासनाओं को छिन्न कर देती है। जैसे उषा के प्रकाश की किरणें अन्धकार को दूर कर देती हैं, उसी प्रकार प्रभु की उपस्थिति अज्ञानान्धकार को भगा देती है। (२) इस प्रभु की उपस्थिति हमारे हृदयों में होती कब है? **यद्**=जब, हे उपासक! तू **ओषधीः अभि**=ओषधियों की ओर **सृष्टः**=प्रेरित (send forth) होता है, अर्थात् ओषधियाँ ही तेरा भक्ष्य होती हैं, **च**=और **वनानि (अभिसृष्टः)**=(वनं=water) पानी की ओर प्रेरित होता है, पानी ही तेरा पेय बनता है। तू **स्वयं**=आप ही **आस्ये**=मुख में **अन्नं परिचिनुषे**=अन्न का ही परिचय प्राप्त करता है, अन्न को ही खाता है, उसी को स्वाद को जानता है। वस्तुतः प्रभु प्राप्ति के लिये 'सादे वानस्पतिक भोजन व पानी का ही ग्रहण' करना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु दर्शन के लिए सात्त्विक आहार के द्वारा बुद्धि का सात्त्विक बनाना आवश्यक है।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ओषधि-आपः

तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः।
तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा॥६॥

(१) प्रभु को यहाँ 'गर्भं ऋत्वियम्' (ऋतु=light, splendous) 'प्रकाशमय गर्भ' कहा है, यही भाव 'हिरण्यगर्भ' शब्द से भी व्यक्त होता है। सब ज्योतिर्मय पदार्थ उस प्रभु के गर्भ में हैं, सो प्रभु 'ऋत्विय-प्रकाशमय-गर्भ' हैं। **तम्**=उस **ऋत्वियं गर्भम्**=प्रकाशमय गर्भ को, उस हिरण्यगर्भ को **ओषधीः**=ओषधियाँ **दधिरे**=धारण करती हैं। अर्थात् ओषधियों वनस्पतियों के भोजन से सात्त्विक बुद्धिवाला पुरुष ही हृदय में प्रभु को धारण करनेवाला बनता है। (२) **तम् अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को **मातरः आपः**=मातृवत् हित करनेवाले जल **जनयन्त**=प्रादुर्भूत करते हैं। इन जलों के प्रयोग से निर्मल व शुद्ध हृदय में प्रभु का सक्षात्कार होता है। 'सादा खाना, पानी पीना' यह सात्त्विकता का कारण बनता है और इस सात्त्विकता के कारण हम प्रभु का दर्शन करते हैं। (३) **तम्**=उस **समानम्**=(सम्यक् आनयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले प्रभु को **वनिनः**=वन में होनेवाली **वीरुधः**=ये लताएँ **इत्**=ही **सुवते**=जन्म देती हैं, प्रादुर्भूत करती हैं। **च**=और **विश्वहा**=सदा **अन्तर्वतीः**=फल-बीजों को धारण करनेवाली लताएँ (सुवते)=उस प्रभु को हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत करती हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिये वानस्पतिक भोजन व जल का ही प्रयोग आवश्यक है।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अजीर्णशक्तिता

वातोपधूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे।
आ ते यतन्ते रथ्योऽयथा पृथक्शर्धांस्यग्ने अजराणि धक्षतः ॥ ७ ॥

(१) **वातोपधूतः**-(वात-प्राण) प्राणायाम के द्वारा जिसने वासनाओं को कम्पित करके दूर कर दिया है और अपने वासनाशून्य हृदय में **इषितः**-जिसने प्रभु प्रेरणा को प्राप्त किया है। इस प्रेरणा को प्राप्त करके **यत्**-जो **वशान् अनु**-इन्द्रियों को वश में करने के अनुसार **तृषु**-शीघ्र **अन्ना**-अन्नों का **वेविषद्**-व्यापन करता हुआ, अर्थात् सात्त्विक अन्नों को ही खाता हुआ, **वितिष्ठसे**-विशेषरूप से स्थित होता है। (२) ऐसा होने पर **ते**-तेरे **रथ्यः**-ये शरीररूप रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्व **यथा-पृथक्**-जिस-जिस कार्य के लिए वे उद्दिष्ट हैं, उस-उस कार्य में **आयतन्ते**-सब प्रकार से यत्नशील होते हैं। कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को ठीक से करती हैं, और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहती हैं। (३) इस प्रकार इन्द्रियों को ठीक से स्वकार्य में प्रवृत्त रहने पर, हे **अग्ने**-प्रगतिशील जीव! **धक्षतः**-वासनाओं का दहन करनेवाले तेरी **शर्धांसि**-शक्तियाँ **अजराणि**-जीर्ण होनेवाली नहीं होती।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारामलों को दूर कर के प्रभु प्रेरणा को सुनें। सात्त्विक अन्न खाएँ, इन्द्रियों को स्वकार्य में प्रवृत्त रखें और इस प्रकार अजीर्ण शक्तिवाले बनें।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

बुद्धि व ज्ञान के दाता प्रभु

मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम्।
तमिदर्भे हविष्या समानमित्तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत् ॥ ८ ॥

(१) **तं इत्**-उस प्रभु को ही **वृणते**-उपासक वरते हैं। जो प्रभु **मेधाकारम्**-हमारे में मेधा का सम्पादन करनेवाले हैं, **विदथस्य**-ज्ञान को **प्रसाधनम्**-सिद्ध करनेवाले हैं। इस प्रकार बुद्धि और ज्ञान के द्वारा **अग्निम्**-हमें आगे ले चलनेवाले हैं, **होतारम्**-उन्नति के लिए सब आवश्यक साधनों को देनेवाले हैं। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को **परिभूतमम्**-अधिक से अधिक परिभूत करनेवाले हैं। (२) **तं मतिम्**-उस ज्ञानस्वरूप प्रभु को **इत्**-ही **अर्भे**-छोटे **हविषि**-यज्ञ में और उसे ही **महे**-महान् यज्ञ में (वृणते) वरण करते हैं। उस प्रभु से ही इन यज्ञों के साधन के लिए हम प्रार्थना करते हैं। **सं आनम्**-सम्यक् आनित-प्रणित करनेवाले प्रभु की ही प्रार्थना करते हैं, **त्वत् अन्यं न**-तेरे से भिन्न की नहीं। आपकी प्रार्थना करते हुए हम इन यज्ञों को आपसे ही होता हुआ जानते हैं, हमें इनके करने का गर्व नहीं होता।

भावार्थ—सब यज्ञ उस प्रभु से ही हो रहे हैं, वे ही हमें बुद्धि व ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

हविष्मान्-मनु-वृक्तबर्हिष्

त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेषु वेधसः।
यद्देवयन्तो दधति प्रयांसि ते हविष्मन्तो मनवो वृक्तबर्हिषः ॥ ९ ॥

(१) **वेधसः**-ज्ञानी पुरुष **अत्र**-यहाँ **विदथेषु**-ज्ञानयज्ञों में, हे **अग्ने**-परमात्मन्! **त्वां**

इत्-आपको ही वृणते-वरते हैं, प्रार्थना करते हैं। त्वायवः-आपको ही प्राप्त करने की कामना करते हैं। होतारम्-आपको ही वे सब आवश्यक चीजों का देनेवाला मानते हैं। (२) यत्-क्योंकि देवयन्तः-देव जो आप उन्हें अपनाना चाहते हुए वे प्रयांसि-उत्तम सात्त्विक अन्नों को व त्यागवृत्ति को दधति-धारण करते हैं, सो ते-वे हविष्मन्तः-उत्तम हविवाले बनते हैं, त्यागपूर्वक अदन करनेवाले होते हैं, मनवः-सदा विचारशील होते हैं और वृक्तबर्हिषः-वासनारूप घास-फूस को उखाड़ देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही वरण करें। त्याग की भावना को धारण करते हुए 'हविष्मान्-मनु व वृक्तबर्हिष्' बनें।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सप्त-होतृक यज्ञ का प्रणेता

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥१०॥

(१) हे अग्ने-परमात्मन्! ऋतायतः-यज्ञ को अपनाने की कामनावाले का होत्रम्-होतृ कार्य तव-आपका ही है यज्ञ करनेवाले के यज्ञ में होता का कार्य आप ही करते हो। यज्ञ में उपस्थित होता आप से ही शक्ति को प्राप्त करके अपना कार्य करता है। पोत्रं तव-पोता का भी कार्य आपका ही है। नेष्ट्रं तव-नेष्टा का भी कार्य आपका ही है त्वं इत्-आप ही अग्नित्-अग्नीध्र होते हो। प्रशास्त्रं तव-प्रशास्ता का कार्य भी आपकी ही शक्ति से होता है। त्वं अध्वरीयसि-अध्वर्यु का काम भी तो आप ही करते हैं। च ब्रह्मा असि-और ब्रह्मा भी आप ही हैं, च-और नः दमे-हमारे घर में गृहपतिः-गृहपति यजमान भी आप ही हो। (२) यजमान 'होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु व ब्रह्मा' इन सात होताओं से यज्ञ को प्रारम्भ करता है। इन सब में प्रभु शक्ति ही काम करती है और इस प्रकार यजमान का यह सप्तहोतृक यज्ञ निर्विघ्न होकर पूर्ण होता है। प्रभु शक्ति को ही काम करता हुआ जानकर यजमान गर्ववाला नहीं होता। एवं यह यज्ञ अहंकार शून्य होकर पूर्ण पवित्र व अबन्धनकारक हो जाता है।

भावार्थ—हम अपने घरों में होनेवाले यज्ञों का प्रणेता प्रभु को ही जानें।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'ज्ञान व धन' का दाता

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशदुत वा हविष्कृति।
तस्य होता भवसि यासि दूत्य१मुप ब्रूषे यजस्यध्वरीयसि॥११॥

(१) हे अग्ने-अग्रेणी प्रभो! यः मर्त्यः-जो मनुष्य तुभ्यं अमृताय-तुझ अमृत के लिए समिधा-ज्ञानदीप्ति के द्वारा दाशत्-अपना अर्पण करता है, उत वा-अथवा हविष्कृति-हवि के करने में, यज्ञादि उत्तम कार्यों में आपके प्रति अपना अर्पण करता है, तस्य-उसके होता भवसि-आप यज्ञसाधक द्रव्यों के देनेवाले होते हैं यह उक्ति प्रसिद्ध है—'spend and god will send'-यज्ञार्थ धनों के विनियुक्त करने पर प्रभु धन देते ही हैं। इस व्यक्ति के लिए प्रभु दूत्यं यासि-दूत कर्म को करते हैं, इसे प्रभु ज्ञान का सन्देश सुनाते हैं। (२) हे प्रभो! आप इसके प्रति उपब्रूषे-ज्ञान का प्रवचन करते हैं और यजसि-आवश्यक धनों को इसके लिए देते हैं (यज-दाने) (२) इस प्रकार ज्ञान और धन देकर हे प्रभो! आप ही अध्वरीयसि-इसके जीवनयज्ञ में अध्वर्यु

की तरह आचरण करते हैं। अर्थात् इसके जीवनयज्ञ को आप ही चलानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो ज्ञान को प्राप्त करता है और हवि का, दानपूर्वक अदन का यज्ञशेष के सेवन का स्वीकार करता है। प्रभु इसे खूब ज्ञान देते हैं, खूब ही धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

जप से 'ज्ञान शक्ति व प्रभु प्रियता' ही प्राप्ति

इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋचो गिरः सुष्टुतयः समग्मत।
वसूयवो वसवे जातवेदसे वृद्धासु चिद्वर्धनो यासु चाकनत्॥ १२ ॥

(१) **अस्मत्**-हमारे से **इमाः**=ये **मतयः**=मनन व विचार से युक्त **वाचः**=स्तुति वाणियाँ **अस्मै**-इस प्रभु के लिए **समग्मत**-संगत होती हैं, अर्थात् हम उस प्रभु के नाम का जप करते हैं (**वाचः**) और उस नाम के अर्थ का भावन-चिन्तन करते हैं। 'तज्जपः, तदर्थभावनम्'। (२) इस प्रकार उस प्रभु का स्तवन करने पर **ऋचः**=प्रकृति का ज्ञान देनेवाली ऋचाएँ, **गिरः**=जीव के कर्त्तव्यों का उपदेश देनेवाली यजूरूप वाणियाँ तथा **सुष्टुतयः**=उपासनात्मक साम मन्त्र आ **समग्मतः**'=सब प्रकार से हमारे साथ संगत होते हैं। हम 'ऋग्, यजु, साम' रूप त्रयी विद्या को प्राप्त करते हैं। (३) **वसूयवः**=वसुओं को अपने साथ मिलाने की कामनावाले हम **वसवे**=(वासयति इति वसुः) सबके बसानेवाले **जातवेदसे**=उस सर्वज्ञ प्रभु के लिए उन स्तुतियों को करते हैं, **यासु वृद्धासु चित्**=जिन स्तुतियों के बढ़े हुए होने पर निश्चय से वे प्रभु **वर्धनः**=हमारा वर्धन करनेवाले हैं और **चाकनत्**=(कामयते) हमारे पर प्रेम करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु तो सदा हमारा हित चाहते ही हैं, हमें उस हित को प्राप्त करने का पात्र बनने की आवश्यकता है।

भावार्थ—हम प्रभु के नाम का अर्थभावनपूर्वक जप करते हैं। इस जप से (क) हमारा ज्ञान बढ़ता है, (ख) हमारी शक्तियों का वर्धन होता है, (ग) हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अन्तस्तल से की जाती हुई स्तुति और प्रभु-सम्पर्क

इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयमस्मा उशते शृणोतु नः।
भूया अन्तरा हृद्यस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ १३ ॥

(१) **अस्मा उशते**=इस हमारे हित की कामना करनेवाले **प्रत्नाय**=सनातन पुरुष रूप प्रभु के लिए **इमाम्**=इस **नवीयसीम्**=अत्यन्त स्तुत्य **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **वोचेयम्**=मैं कहूँ। वे प्रभु **नः**=हमारी इस स्तुति को **शृणोतु**=सुनें। (२) यह स्तुति **अन्तरा हृदि**=हृदय के अन्तस्तल में होती हुई, अर्थात् दिल से की जाती हुई **अस्य निस्पृशे**=इस प्रभु के सम्पर्क के लिए **भूयाः**=(भूयात्) हो, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि **उशती**=सदा हित की कामना करती हुई **सुवासः**=उत्तम वस्त्रोंवाली **जाया**=पत्नी पति के हृदय में स्पर्श करनेवाली होती है।

भावार्थ—हम दिल से प्रभु का स्तवन करें। यह स्तुति प्रभु के लिए प्रिय हो। हमारा प्रभु से यह सम्पर्क करानेवाली है।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु प्राप्ति किनको ?

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः ।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये ॥ १४ ॥

(१) मैं **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए **हृदा**=श्रद्धा से **चारुं मतिम्**=ज्ञान का खूब ही वरण करनेवाली बुद्धि को **जनये**=उत्पन्न करता हूँ। इस सूक्ष्म बुद्धि से ही तो प्रभु का दर्शन होता है। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए श्रद्धापूर्वक आचार्यों के समीप रहकर स्वाध्याय करते हुए बुद्धि को सूक्ष्म बनाना ही मार्ग है। (२) उस प्रभु की प्राप्ति के लिए मैं मति को उत्पन्न करता हूँ जो **वेधसे**=सृष्टि के विधाता हैं। **कीलालपे**=हमारे शरीर में **कीलाल**=आपः–रेतःकणों का रक्षण करनेवाले हैं। प्रभु स्मरण से वासना विनष्ट होती है और वासना–विनाश से शरीर में इस रेतःशक्ति का रक्षण होता है। इस रेतःशक्ति को 'कीलाल' (कील+अल) इसलिए कहा है कि यह शरीर में (कील बन्धने) बद्ध होकर (अल–वारण) रोगों का वारण करती है। **सोमपृष्ठाय**=वे प्रभु 'सोम पृष्ठ' हैं, सौम्यता के आधार व पोषक हैं। जो व्यक्ति जितना–जितना प्रभु के समीप होता जाता है उतना–उतना सौम्य बनता जाता है 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'। एवं प्रभु के उपासन से मैं शक्ति का रक्षण करके नीरोग बनूँगा, सौम्य बनूँगा और निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हो पाऊँगा। (३) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये मैं बुद्धि को सूक्ष्म बनाता हूँ **यस्मिन्**=जिसमें **अश्वासः**=(अशू व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले लोग, **ऋषभासः**=शक्ति का सम्पादन करके आन्तर शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले (ऋष=to kill) **उक्षणः**=अपने को सुरक्षित वीर्य से सिक्त करनेवाले, **वशाः**=अपने को वश में करनेवाले तथा **मेषाः**=(to rival to contend) स्पर्धापूर्वक आगे बढ़नेवाले लोग **अव–सृष्टासः**=विषय–व्यावृत्त होकर (अव=away) भेजे हुए (seud forth) होते हैं, अर्थात् ये लोग विषयों में न फँसकर प्रभु की ओर चलनेवाले होते हैं। और अन्ततोगत्वा **आहुताः**=उस प्रभु के प्रति अर्पित होते हैं (हु दाने)। ये अपना प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम 'अश्व, ऋषभ, उक्षा, वश व मेष' बनकर प्रभु के प्रति चलें, उसके प्रति अपना अर्पण करें। वे प्रभु हमारी शक्ति का रक्षण करनेवाले, हमें सौम्यता को प्राप्त करानेवाले व हमारी सब शक्तियों का निर्माण करनेवाले हैं। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए हम श्रद्धा से ज्ञानोत्पादिनी बुद्धि को अपने में उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—अरुणो वैतहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

एषणा–त्रय–प्राप्ति

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः ।
वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥ १५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **आस्ये**=मुख में **हविः**=हवि **अहावि**=आहुत की जाती है। मैं आपकी पूजा के लिए सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता हूँ (हु दाने) 'कस्मै देवा हविषा विधेम'। मुख में हवि को मैं इस प्रकार डालता हूँ **इव**=जैसे कि **स्रुचि**=चम्मच में **घृतम्**=घृत को **इव**=और जैसे **चम्वि**=चमूपात्र में **सोमः**=सोम को। ये दोनों उपमाएँ यज्ञियक्षेत्र की हैं। भोजन को भी मैं यज्ञ का रूप देता हूँ। चम्मच में घृत को लेकर अग्नि में आहुत करते हैं, इसी प्रकार मुख में हविरूप भोजन को लेकर वैश्वानर अग्नि में भेजते हैं। सोम

को चमू द्वारा अग्नि में आहुत करते हैं, इसी प्रकार शरीर में भी सोम को (=वीर्य को) धारण करके ज्ञानाग्नि में आहुत करते हैं। (२) हे प्रभो! इस प्रकार हविरूप भोजन से आपका पूजन करने पर आप **अस्मे**=हमारे लिये निम्न तीन चीजों को **धेहि**=धारण कीजिये—(क) **वाजसनिं रयिम्**=उस धन को जो हमारे लिए अन्नों को प्राप्त करानेवाला है। भोजनाच्छादन के लिए आवश्यक धन की इच्छा ही उचित 'वित्तैषणा' है। इस एषणा को आप पूर्ण कीजिये। (ख) **प्रशस्तं सुवीरम्**=अपने कर्मों व योग्यताओं से प्रशंसनीय उत्तम पुत्र को प्राप्त कराइये। आपकी कृपा से हमारी सन्तान उत्तम व प्रशंसनीय हो। इस प्रकार हमारी पुत्रैषणा को आप पूर्ण करें। (ग) **बृहन्तम्**=सदा वृद्धि को प्राप्त करते हुए **यशसम्**=यश को हमें प्राप्त कराइये। हमारी उचित लोकैषणा भी पूर्ण हो।

भावार्थ—हम हवि के द्वारा प्रभु-पूजन करें। प्रभु हमें आवश्यक धन, प्रशस्त सन्तान व बढ़ता हुआ यश प्राप्त कराएँ।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभु के स्तवन व प्रभु प्राप्ति के लिए हवि के स्वीकार को प्रतिपादित कर रहा है। हवि का सेवन करनेवाला, ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला 'अरुण वैतहव्य' इसका ऋषि था। यह 'अरुण' अब 'मानव' विचारशील बन जाता है और 'शार्यात'-(शॄ हिंसायाम्, या प्रापणे) सब वासनाओं का हिंसन करता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। इसका कथन है कि—

[९२] द्विनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वासनाओं का शोषण

यज्ञस्य॑ वो र॒थ्यं॑ वि॒श्पतिं॑ वि॒शां होता॑रम॒क्तोरति॑थिं वि॒भाव॑सुम्।
शोच॒ञ्छुष्का॑सु॒ हरि॑णीषु॒ जर्भु॑रद् वृषा॑ के॒तुर्य॑ज॒तो द्याम॑शायत ॥ १ ॥

(१) **हरिणीषु**=चित्त का हरण करनेवाली इन्द्रिय वृत्तियों के **शुष्कासु**=शुष्क होने पर **शोचन्**=दीप्त होता हुआ पुरुष **जर्भुरत्**=उस प्रभु को धारण करता है। जो प्रभु **वः**=तुम्हारे **यज्ञस्य रथ्यम्**=जीवनरथ के वाहक हैं, जिस प्रभु से शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके जीवन की गाड़ी चलती है। **विशां विश्पतिम्**=जो सब प्रजाओं के पति हैं। **अक्तोः**=ज्ञान की किरणों के **होतारम्**=प्राप्त करानेवाले हैं। **अतिथिम्**=निरन्तर गतिशील व हमें प्राप्त होनेवाले हैं, हमारे अतिथि हैं। **विभावसुम्**=ज्ञानदीप्ति रूप धनवाले हैं। (२) इस प्रभु का धारण तभी होता है जब कि इन्द्रियों की विषयों से पराङ्मुखता को हम सिद्ध कर पाते हैं। इसको सिद्ध करनेवाला व्यक्ति **वृषा**=शक्तिशाली बनता है, **केतुः**=(कित निवासे रोगापनयने च) उत्तम निवासवाला व नीरोग बनता है। **यजतः**=प्रभु का पूजक, प्रभु से मेलवाला व यज्ञशील होता है। **द्यां अशायत**=(प्रतिशेते सा०) सदा प्रकाश में निवास करता है।

भावार्थ—चित्तवृत्तियों के निरोध से ही प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सर्व-रक्षक प्रभु

इ॒मम॑ञ्ज॒स्पामु॒भये॑ अकृण्वत ध॒र्माण॑म॒ग्निं वि॒दथ॑स्य॒ साध॑नम्।
अ॒क्तुं न य॒ह्वमु॒षसः॑ पु॒रोहि॑तं॒ तनू॒नपा॑तमरु॒षस्य॑ निंसते ॥ २ ॥

(१) **इमम्**-इस **अञ्जस्याम्**-(अञ्जसापाति) ठीक-ठीक रक्षण करनेवाले प्रभु को **उभये**-देव और मनुष्य दोनों ही, सकाम कर्म करनेवाले मर्त्य और निष्काम कर्म करनेवाले देव, **अकृण्वत**-अपने हृदयों में स्थापित करते हैं। उस प्रभु को जो **धर्माणम्**-धारण करनेवाले हैं, **अग्रिम्**-आगे और आगे ले चलनेवाले हैं, **विदथस्य साधनम्**-ज्ञान को सिद्ध करनेवाले हैं। (२) जो प्रभु **उषसः अक्तुं न**-उषाकाल की प्रकाश की किरण के समान हैं। उस प्रभु के आविर्भूत होते ही हृदय प्रकाश से चमक उठता है। **यह्वम्**-जो महान् हैं, अथवा 'यातश्च हूतश्च'-जो गाये जाते हैं और पुकारे जाते हैं. अन्ततोगत्वा सब उस प्रभु की ही शरण में जाते हैं। **पुरोहितम्**-जो प्रभु हमारे सामने (पुरः) आदर्श के रूप से स्थापित हैं (हितम्), अथवा जो सृष्टि से पहले ही विद्यमान हैं। **अरुषस्य**-(अ-रुष) क्रोधशून्य व्यक्ति के **तनू-न-पातम्**-शरीर को जो नहीं गिरने देनेवाले, उस प्रभु को सब देव व मनुष्य **निंसते**-(चुम्बयन्ति आश्रयन्ते सा०) आश्रय करते हैं।

भावार्थ—वह प्रभु सबका रक्षक, सबके हृदय में निवास करता है, उसकी शरण में रहना चाहिये।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु-स्तवन व सात्त्विक अन्न सेवन

बळस्य नीथा वि पणेश्च मन्महे वया अस्य प्रहुता आसुरत्तवे।
यदा घोरासो अमृतत्वमाशतादिज्जनस्य दैव्यस्य चर्किरन् ॥ ३ ॥

(१) **अस्य विपणेः**-इस अतिशयेन स्तुति के योग्य प्रभु के **नीथाः**-प्रणयन **बट्**-सत्य हैं, सो हम इस प्रभु का ही **मन्महे**-हम मनन व चिन्तन करते हैं। प्रभु के स्वरूप का चिन्तन ही वस्तुतः मार्गदर्शन कराता है। हमें प्रभु के अनुरूप ही 'दयालु व न्यायकारी' बनना है। (२) इस ठीक मार्ग पर चलाने के लिए आवश्यक है कि **अस्य**-इस प्रभु के **वयाः**-अन्न ही **प्रहुताः**-यज्ञों में विनियुक्त होने के बाद यज्ञशेष के रूप में **अत्तवे आसुः**-खाने के लिए हों। सात्त्विक अन्नों का ही हम प्रयोग करें और वह भी यज्ञशेष के रूप में। (३) इस प्रकार 'प्रभु के मनन व प्रभुदत्त अन्नों के सेवन' से **यदा**-जब **घोरासः**-(उग्रः घोर=noble) उत्कृष्ट चरित्रवाले **अमृतत्वम्**-अमृतत्व को **आशत**-प्राप्त करते हैं, जब ये सांसारिक विषयों के पीछे नहीं मरते तो **आत् इत्**-तब शीघ्र ही **दैव्यस्य जनस्य**-उस देव के मार्ग पर चलानेवाले लोगों के गुणों को **चर्किरन्**-(कृ-क्षिप्-प्रेरणे) अपने में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु चिन्तन करते हुए प्रभु के अनुरूप बनने का प्रयत्न करें, इसी को मार्ग समझें। सात्त्विक अन्नों को ही यज्ञशेष के रूप में खाएँ। विषयों की आसक्ति से ऊपर उठकर अपने में दिव्य गुणों को प्रेरित करें।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चराचर का शासक प्रभु

ऋतस्य हि प्रसितिर्द्यौरुरु व्यचो नमो मह्यरमतिः पनीयसी।
इन्द्रो मित्रो वरुणः सं चिकित्रिरेऽथो भगः सविता पूतदक्षसः ॥ ४ ॥

(१) **प्रसितिः**-सूर्यों व नक्षत्रों को प्रकर्षेण अपने में बाँधनेवाला द्युलोक, **उरु व्यचः**-विस्तृत

व्यापक अन्तरिक्ष तथा अरमतिः=पर्यन्तरहित जिसका कोई सिरा नहीं वह वृत्ताकार पनीयसी=प्रशंसनीय व सब व्यवहारों की साधिका (पन स्तुतौ व्यवहारे) यह पृथिवी हि=निश्चय से ऋतस्य=उस ऋत के प्रवर्तक ऋतस्वरूप प्रभु के प्रति नमः=नत होते हैं, ये सब उस प्रभु के शासन में चलते हैं। यह सारा ब्रह्माण्डचक्र उस प्रभु से ही चलाया जा रहा है। (२) इस ब्रह्माण्ड में निवास करनेवाले पूतदक्षसः=पवित्र बलोंवाले लोग भी संचिकित्रिरे=उस प्रभु को सम्यक्तया इस रूप में जानते हैं कि वह प्रभु इन्द्रः=परमैश्वर्यशाली है, मित्रः=सबके साथ स्नेह करनेवाला है, सभी को रोगों व पापों से बचानेवाला है। वरुणः=श्रेष्ठ है, वरणीय है, द्वेषनिवारक है और निश्चय से भगः=वह प्रभु भजनीय व सेवनीय है। सविता=सबका उत्पन्न करनेवाला व प्रेरक है।

भावार्थ—यह सारा चराचर संसार उस प्रभु के शासन में ही चल रहा है।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

नदियाँ, वायु व मेघ

प्र रुद्रेण यथिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभिः परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते ॥ ५ ॥

(१) यथिना=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले रुद्रेण=संसार के शासक प्रभु के भय से सिन्धवः=नदियाँ तिरः=टेढ़े-मेढ़े मार्ग से प्रयन्ति=प्रकर्षेण गति कर रही हैं। ये नदियाँ अरमतिम्=इस पर्यन्तरहित महीम्=पृथ्वी को दधन्विरे=धारण कर रही हैं। खेतों की सिंचाई का साधन बनकर ये नदियाँ ही अन्नोत्पत्ति का कारण बनती हैं और इस प्रकार पृथ्वीस्थ प्राणियों का धारण करती हैं। (२) परिज्मा=चारों ओर गतिवाला प्रभु येभिः=जिन मरुतों (=वायुवों) के द्वारा परियन्=चारों ओर गति करता हुआ उरुज्रयः=महान् वेगवाला जठरे=इस त्रिलोकी के मध्यभाग अन्तरिक्ष में रोरुवत्=मेघों के रूप में खूब गर्जना करता है और विश्वम्=इस संसार को उक्षते=वृष्टिजल से सिक्त करता है।

भावार्थ—प्रभु के शासन में नदियाँ चल रही हैं। प्रभु ही वायुवों व मेघों द्वारा अन्तरिक्ष में गर्जना कर रहे हैं। वे प्रभु ही वृष्टि द्वारा भूमियों को सिक्त करके अन्नोत्पादन योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्राण व प्राणों द्वारा प्रभु-दर्शन

क्राणा रुद्रा मरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः।
तेभिश्चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमेन्द्रो देवेभिरर्वशेभिरर्वशः ॥ ६ ॥

(१) मरुतः=प्राण क्राणाः=शरीर में सब कर्मों को (कुर्वाणाः) कर रहे हैं। ये रुद्राः=रोगों का विद्रावण करनेवाले हैं विश्वकृष्टयः=मनुष्य को पूर्ण बनानेवाले हैं (विश्वः कृष्टिः यैः) इनकी साधना से ही शरीर, मन व बुद्धि स्वस्थ होते हैं। दिवः श्येनासः=ये प्रकाश के द्वारा गति करनेवाले हैं। इनकी साधना से ज्ञान की दीप्ति होती है, उस ज्ञान के प्रकाश में सब क्रियाएँ बड़े ठीक ढंग से होती हैं। इस प्रकार ये प्राण असुरस्य=उस प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के निवास-स्थान बनते हैं। (२) तेभिः=उन प्राणों से ही इनकी साधना से ही, वरुणः=द्वेष का निवारण करनेवाला, मित्रः=सबके साथ स्नेह करनेवाला व (प्रमीतेः त्रायते) रोगों व पापों से ऊपर उठनेवाला, अर्यमा=दानशील अथवा (अदीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला इन्द्रः=जितेन्द्रिय पुरुष चष्टे=उस प्रभु का दर्शन करता है। (३) यह देवेभिः=उत्तम दिव्य व्यवहारवाले अर्वशेभिः=

इन्द्रियाश्वोंवाले प्राणों से **अर्वशः**-उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं। ये इन्द्रियाश्व उत्तम बनते हैं, गतिशील होते हैं और आत्मा के वश में होते हैं (अर् वश)।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'वरुण, मित्र, अर्यमा व इन्द्र' बनकर प्रभु-दर्शन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सूरो दृशीके, वृषणश्च पौंस्ये

इन्द्रे भुजं शशमानास आशत सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये।
प्र ये न्वस्यार्हणां ततक्षिरे युजं वज्रं नृषदनेषु कारवः ॥ ७ ॥

(१) **शशमानासः**-शशक (=खरगोश) के समान सदा प्लुतगतिवाले लोग, कर्मशील व्यक्ति **इन्द्रे**-उस परमात्मा में प्रभु के आधार में **भुजम्**-सब भोगों को **आशत**-प्राप्त करते हैं। अपने कर्मों में सदा लगे हुए व्यक्तियों का खान-पान प्रभु कृपा से चलता है वे प्रभु **दृशीके**-दर्शन में **सूरः**-सूर्य के समान हैं, 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' 'आदित्यवर्णम्'। **च**-और **पौंस्ये**-बल में **वृषणः**-सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। प्रभु की शक्ति कल्याण को ही करनेवाली है। (२) **ये**-जो **नु**-अब **अस्य अर्हणा**-इस प्रभु की पूजा के द्वारा इस प्रभु को **युजम्**-अपना साथी तथा **वज्रम्**-शत्रुसंहारक अस्त्र **प्रततक्षिरे**-बनाते हैं वे **नृषदनेषु**-(नरः कर्तृत्वेन सीदन्ति येषु तेषु यज्ञेषु सा०) 'विश्वेदेवाः यजमानश्च सीदत' यज्ञों व यज्ञों की साधन भूतयज्ञवेदियों में **कारवः**-कुशलता से कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—श्रमशील का योगक्षेम प्रभु चलाते हैं। वे प्रभु सूर्य की तरह दीप्त व शक्तिशाली हैं। इसकी पूजा से जीव शत्रुओं को जीतता है और यज्ञों को सिद्ध करता है।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सूर्य व मेघ

सूरश्चिदा हरितो अस्य रीरमदिन्द्रादा कश्चिद्भयते तवीयसः।
भीमस्य वृष्णो जठरादभिश्वसो दिवेदिवे सहुरिः स्तन्नबाधितः ॥ ८ ॥

(१) **सूरः चित्**-सूर्य भी **अस्य**-इस प्रभु की ही **हरितः**-इन किरणरूप अश्वों को **आरीरमत्**-चारों ओर क्रीड़ा कराता है। अर्थात् सूर्य की किरणें क्या हैं, ये तो प्रभु के प्रकाश की ही किरणें हैं। प्रभु के प्रकाश से ही तो ये प्रकाशित हो रही हैं। **इन्द्रात्**-उस परमैश्वर्यशाली **तवीयसः**-प्रवृद्ध शक्तिवाले प्रभु से ही **कश्चित्**-जो भी कोई है वह **आभयते**-समन्तात् भयभीत होता है 'भयादस्याग्निस्तपति, भयात्तपति सूर्यः, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। प्रभु के भय से ही 'अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु व मृत्यु' अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। (२) **भीमस्य**-उस अपनी तेजस्विता से भयंकर **वृष्णः**-शक्तिशाली, **अभिश्वसः**-चारों ओर जीवन का संचार करनेवाले प्रभु के **जठरात्**-विराट् शरीर के जठरभूत अन्तरिक्ष से **अबाधितः**-प्रबल वायु आदि से बाधित न हुआ-हुआ छिन्न-भिन्न न किया गया, **सहुरिः**-अन्न आदि के उत्पादन से कष्टों का मर्षण व पराभव करनेवाला मेघ **दिवेदिवे**-समय-समय पर **स्तन्**-गर्जना करता है। 'दिवे-दिवे' का शब्दार्थ 'अनुदिन-सदा' होता है, यहाँ 'समय-समय पर' यह भाव व्यक्त किया गया है। जब-जब आवश्यकता होती है, तब-तब यह बरसता है और प्रजाओं के भूख के कष्ट को दूर करने का साधन बनता है।

भावार्थ—सूर्य में प्रभु के ही प्रकाश की किरणें हैं और मेघ में वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति से जीवन का संचार करने की शक्ति प्रभु ही स्थापित करते हैं।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'रुद्र शिक्वस् क्षयद्वीर' प्रभु

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः ॥ ९ ॥

(१) **वः**=तुम्हारे **स्तोमम्**=स्तुति समूह को **अद्य**=आज **नमसा**=नमन के साथ **रुद्राय**=सब रोगों के द्रावण करनेवाले **शिक्वसे**=सर्वशक्तिमान्, **क्षयद्वीराय**=वीरों में निवास करनेवाले (क्षि=निवासे) प्रभु के लिए **दिदिष्टन**=अतिसृष्ट करो। नम्रतापूर्वक उस प्रभु का ही स्तवन करो। (२) जो **शिवः**=कल्याण को करनेवाला **स्ववान्**=अपनी शक्तिवाला, **स्वयशाः**=अपने कर्मों से यशस्वी प्रभु **येभिः**=जिन **एवयावभिः**=ऐसे ही गति करनेवाले **निकामभिः**=नितरां प्रिय ज्ञानियों के द्वारा **दिवः सिषक्ति**=ज्ञान से हमारा सेवन करता है, ज्ञान को प्राप्त कराके प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। ये ज्ञानी पुरुष 'एवयावा' होते हैं, बिना किसी अपने स्वार्थ के ऐसे ही गति करनेवाले होते हैं। वे केवल लोक-संग्रह के लिए गति करते हैं, प्रभु के ये दूत के समान होते हैं। ऐसे लोगों के द्वारा ही प्रभु हमारे में ज्ञान का स्थापन करते हैं। ये लोग प्रभु के ज्ञानी भक्त कहलाते हैं। ये बड़े प्रेम से ज्ञान का प्रसार करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही अपने ज्ञानी भक्तों के द्वारा हमारे ज्ञान का वर्धन करते हुए कल्याण करते हैं। वे प्रभु सब रोगों का द्रावण करनेवाले, सर्वशक्तिमान् व वीरों में निवास करनेवाले हैं।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

ते हि प्रजाया अभरन्त वि श्रवो बृहस्पतिर्वृषभः सोमजामयः।
यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद्देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र में 'येभिः' शब्द से जिनका संकेत हुआ था **ते**=वे **हि**=निश्चय से **प्रजायाः**=प्रजा के हित के दृष्टिकोण से **श्रवः**=ज्ञान, यश व अन्न को **वि अभरन्त**=विशेषरूप से धारित व पोषित करते हैं। **बृहस्पतिः**=ज्ञान का अधिपति ब्राह्मण प्रजा में **श्रवः**=ज्ञान को धारण करने का प्रयत्न करता है। **वृषभः**=शक्तिशाली क्षत्रिय प्रजा के हित के लिए **श्रवः**=यशस्वी कर्मों का धारण करता है। शत्रुओं से प्रजा का रक्षण करता हुआ कीर्ति को प्राप्त करता है। 'सोम' ओषधियों का राजा है, इन ओषधियों को जन्म देनेवाले **सोमजामयः**=कृषि द्वारा सोम आदि के उत्पादक वैश्य प्रजा के हित के दृष्टिकोण से **श्रवः**=अन्न का भरण करते हैं। (२) **प्रथमः**=प्रजाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान में स्थित **अथर्वा**=(अ+थर्व्) धर्ममार्ग से अविचलित पुरुष **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **विधारयत्**=प्रजाओं का विशेषरूप से धारण करता है। अथर्वा प्रजाओं में यज्ञों की भावना को जन्म देता है। ये यज्ञ प्रजाओं की समृद्धि का कारण बनते हैं। (३) **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) अपने जीवन का उचित परिपाक करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **दक्षैः**=अपनी शक्तियों के विकासों (to grow), वासनारूप शत्रुओं के संहार (to kill), संज्ञानपूर्वक परस्पर मिलकर कार्य करना (to aet wnyomably to and ther), योग्यता (to be competont) व गतिशीलता (to go, to move)

से संचिकित्रिरे=जाने जाते हैं। इस प्रकार के देव ही राष्ट्र में 'बृहस्पति' बनकर ज्ञान देते हैं, 'वृषभ' बनकर राष्ट्ररक्षा के कार्य में जुटते हैं और 'सोमजामि' बनकर कृषि द्वारा विविध ओषधि वनस्पतियों को उत्पन्न करते हैं। इन देवों में मुख्य पुरुष ही 'अथर्वा' बनकर यज्ञों से प्रजाओं का धारण करते हैं।

भावार्थ—'बृहस्पति' प्रजा का ज्ञान से 'वृषभ' शक्ति से 'सोमजामि' अन्न से, 'अथर्वा' यज्ञों से भरण करता है।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चराचर का व प्रभु का आदर

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे॥ ११॥

(१) **ते**=वे **हि**=निश्चय से **भूरिरेतसा**=बहुत शक्तिवाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **प्र अर्हिरे**=प्रकर्षेण पूजा के योग्य हैं। 'रेतस्' उदक को भी कहते हैं, तब 'भूरिरेतसा' का अर्थ है 'पालक जलवाले' (भूरि=भृ=धारण-पोषणयोः)। पृथ्वी का जल सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर जाता है और मेघरूप में होकर वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन का हेतु होता है और इस प्रकार प्रजाओं का पालन करता है। इसी कारण 'द्यावापृथिवी'=पिता व माता कहलाते हैं। इनका आदर करना यही है कि इसका उपयोग ठीक प्रकार से किया जाये। (२) **नराशंसः**=(नरश्चासौ आशंसः च) आगे ले चलनेवाला और ज्ञान को देनेवाला ज्ञानी ब्राह्मण, जो **चतुरंगः**=चारों अंगोंवाला है, अर्थात् जिसने ऋग्वेद से प्रकृति विज्ञान को, यजुर्वेद से जीव कर्त्तव्य ज्ञान को, साम से आत्मोपासना को तथा अथर्व से युद्ध विज्ञान व रोगविज्ञान को प्राप्त किया है, वह अग्नितुल्य (नराशंस) ब्राह्मण आदर के योग्य है। (३) ब्राह्मणों के बाद राष्ट्र में क्षत्रिय का स्थान है। **यमः**=राष्ट्र का नियमन करनेवाला और इस प्रकार **अदितिः**=(=अविद्यमाना दितिर्यस्यात्) राष्ट्र का खण्डन व नाश न होने देनेवाला यह क्षत्रिय राजा भी आदर के योग्य हैं। (४) **देवः**=राष्ट्र में सब व्यवहारों का साधक (दिव्=व्यवहार) **त्वष्टा**=विविध उपयोगी वस्तुओं का निर्माता (त्वक्ष्)। व्यवहार व निर्माण के द्वारा अर्जित **द्रविणोदाः**=धनों का दान करनेवाला, दान के कारण **ऋभुक्षणः**=महान् (महाजन) वैश्य भी आदर के योग्य है। (५) इन वैश्यों के बाद **रोदसी मरुतः**=इन द्यावापृथिवी के प्राणभूत ये श्रमिक भी आदर के ही योग्य हैं। इन शूद्रों से ही ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य अपने अपने कर्मों को सम्यक्तया कर पाते हैं, यह श्रमिक वर्ग उनके कार्यों में सहायक होता है। (६) अन्त में **विष्णु**=वह व्यापक प्रभु, जिसकी शक्ति ही चराचर में कार्य कर रही है, पूजा के योग्य है। प्रभु ही द्यावापृथिवी को, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व श्रमिक वर्ग को शक्ति के देनेवाले हैं।

भावार्थ—देव, त्वष्टा, द्रविणोदा, ऋभुक्षण, मरुत, विष्णु हमें शक्ति के देनेवाले हैं।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें

उत स्य न उशिजामुर्विया कविरहिः शृणोतु बुध्न्यो३ हवीमनि।
सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमीनहुषी अस्य बोधतम्॥ १२॥

(१) **उत**=और **स्यः**=वह **कवि**=क्रान्तदर्शी-सर्वज्ञ प्रभु, **अहिः**=कभी भी हीन न होनेवाला, **बुध्न्यः**=सबके मूल में विद्यमान-सर्वाश्रय प्रभु **नः**=हम **उशिजाम्**=मेधावियों की **हवीमनि**=पुकार के होने पर **उर्विया**=खूब ही **शृणोतु**=सुने। हम मेधावी बनकर प्रभु का आराधन करें, जिससे हमारी आराधना उस सर्वज्ञ, अहीन, सर्वाश्रय प्रभु के द्वारा अवश्य सुनी जाए। प्रभु सर्वज्ञ होने से हमारी आवश्यकता को हमारी अपेक्षा अधिक ठीक ही जानते हैं। 'अहीन' होने से वे हमारी प्रार्थना को पूर्ण करने की क्षमता रखते हैं। सर्वाश्रय होने से आधार देने योग्य को वे आधार देते ही हैं। (२) **दिविक्षिता**=द्युलोक में निवास करनेवाले, **विचरन्ता**=विभिन्न मार्गों में गति करते हुए **सूर्यामासा**=सूर्य और चन्द्र (चन्द्रमाः=माः) तथा **शमीनहुषी**=(शमी=कर्म) सब कर्मों की आधारभूत यह पृथिवी तथा (नह बन्धने) लोक-लोकान्तरों को अपने में बाँधनेवाला यह द्युलोक **धिया**=बुद्धि के द्वारा **अस्य**=हमारी इस प्रार्थना को **बोधतम्**=जानें। अर्थात् सूर्य, चन्द्र, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक सभी हमारे अनुकूल होकर हमारी बुद्धि को बढ़ानेवाले हों, जिस बुद्धि से हम अभीष्ट पुरुषार्थों को सिद्ध कर पायें।

भावार्थ—हम समझदार बनकर प्रभु का आराधन करें, प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें। सूर्य, चन्द्र, द्युलोक व पृथ्वीलोक हमारी बुद्धि को बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

आत्मा, वसुओं व वात की ओर

प्र नः॑ पू॒षा च॒रथं॑ वि॒श्वदे॑व्यो॒ऽपां नपा॑दवतु वा॒युरि॒ष्टये॑।
आ॒त्मानं॒ वस्यो॑ अ॒भि वात॑मर्चत॒ तद॑श्विना सुहवा॒ याम॑नि श्रुतम्॥ १३ ॥

(१) **विश्वदेव्यः**=सब देवों में उत्तम (विश्वेषु देवेषु साधुः) **पूषा**=पोषण करनेवाला यह सूर्य **नः**=हमारे **चरथम्**=इस शरीर रूप रथ को (chasiot) **प्र अवतु**=प्रकर्षेण रक्षित करे। यह सूर्य तो प्रजाओं का प्राण ही है 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (२) **अपां न पात्**=प्रजाओं का पतन न होने देनेवाला **वायुः**=यह गति के द्वारा सब अशुभ का हिंसन करनेवाला वायु **इष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिये अथवा **इष्टि**=यज्ञमय जीवन बिताने के लिए (अवतु=) रक्षण करे। (३) **आत्मानं अभि अर्चत**=हे मेरे प्राणापानो! (अश्विना) आत्मा का लक्ष्य करके तुम पूजा करनेवाले बनो। **वस्यः** (**अभि अर्चत**)=निवास के लिए आवश्यक जो भी श्रेष्ठ तत्त्व हैं उसका अर्चन करनेवाले बनो। **वातम्** (**अभि अर्चत**)=गति के द्वारा अशुभ के संहार की अर्चना करनेवाले बनो। (४) हे **सुहवा**=शोभन आह्वान व प्रभु के आराधनवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **यामनि**=इस जीवनयात्रा में **श्रुतम्**=हमारी प्रार्थना को सुनो। हम प्राणापानों से प्रभु का आराधन करें और इस प्रकार प्रकृति की ओर न झुककर आत्मतत्त्व की ओर झुकाववाले हों, विलास की वस्तुओं की ओर न झुककर वसुओं की ओर झुकें तथा अकर्मण्यता को छोड़कर वायु की तरह क्रियाशील हों।

भावार्थ—सूर्य व वायु हमारे शरीर-रथ का रक्षण करें। प्राणसाधना हमें आत्मप्रवण करे, वसुओं की प्राप्ति कराये तथा गतिशील बनाये।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

देवस्तवन द्वारा प्रभु स्तवन

वि॒शामा॒साम॑भ॒याना॑मधि॒क्षितं॑ गी॒र्भिरु॒ स्वय॑शसं गृणीमसि।
ग्ना॒भि॒र्विश्वा॑भि॒रदि॑तिमन॒र्वण॑म॒क्तोर्युवा॑नं नृ॒मणा॒ अधा॒ पति॑म्॥ १४ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार आत्मा की ओर चलनेवाली, अतएव **आसाम्**-इन **अभयानाम्**-निर्भय दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ 'अभय' से ही होता है। दैवी सम्पत्ति को अपने में बढ़ाकर ही तो हम प्रभु को अपने में आमन्त्रित करपाते हैं। **विशाम्**-प्रजाओं के **अधिक्षितम्**-अन्दर निवास करनेवाले, **उ**-और **स्वयशसम्**-अपने सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति आदि कर्मों से यशस्वी प्रभु को **गीर्भिः**-इन वेदवाणियों से **गृणीमसि**-स्तुत करते हैं। सब से पूर्व हम प्रभु का ही आराधन करते हैं। प्रभु की आराधना ही मनुष्य को निर्भय बनाती है। (२) इसके बाद, **विश्वभिः**-सब **ग्नाभिः**-देव-पत्नियों के साथ **अदितिम्**-उस प्रकृतिरूप अदीना देवमाता को हम (गृणीमसि) स्तुत करते हैं। प्रकृति से बननेवाले ये सूर्य, जल, पृथिवी, वायु आदि सब देव अपनी-अपनी शक्ति से युक्त हैं। ये शक्तियाँ ही उन देवों की 'पत्नी' कहलाती हैं। इन सबके साथ हम इस प्रकृति का स्तवन करते हैं। इनके गुणों का ज्ञान ही इन देवों का स्तवन होता है। (३) **अनर्वणम्**-इस ओषधियों में रस सञ्चार के द्वारा हमें हिंसित न होने देनेवाले **अक्तोः युवानम्**-रात्रि के साथ अपना मेल करनेवाले चन्द्रमा को हम स्तुत करते हैं। इस चन्द्रमा में प्रभु की महिमा को देखते हैं **नृमणाः**-(नृषु अनुग्राहकं मन्तो यस्य) मनुष्यों पर अनुग्राहक मनवाला जो आदित्य है उस आदित्य का हम स्तवन करते हैं। किस प्रकार उदय होकर यह सब में प्राणों का संचार करता है? (४) **अधा**-और अब इन सब देवों के स्तवन के साथ **पतिम्**-इन सब देवों के स्वामी प्रभु का स्तवन करते हैं। इन देवों के स्तवन से वस्तुतः प्रभु का ही स्तवन होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का, प्रभु की पत्नीरूप इस प्रकृति का, सब देवों का व देवों द्वारा फिर से प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषिः—शार्यातो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान के अनुसार मार्ग पर चलना (आगमदीपदृष्ट पथ में प्रवृत्ति)

रेभदत्र जनुषा पूर्वो अङ्गिरा ग्रावाण ऊर्ध्वा अभि चक्षुरध्वरम्।
येभिर्विहाया अभवद्विचक्षणः पाथः सुमेकं स्वधितिर्वनन्वति ॥ १५ ॥

(१) प्रभु अंगिरा हैं 'अगि गतौ'-सम्पूर्ण गति का स्रोत हैं। ये प्रभु सृष्टि से पूर्व होने के कारण 'पूर्वः अंगिराः' कहे गये हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में ये 'अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिराः' आदि मानस पुत्रों को जन्म देते हैं और उन्हें वेद के द्वारा सब पदार्थों का ठीक से ज्ञान दे देते हैं। **अत्र**-इस सृष्टि में **पूर्वः अंगिराः**-सृष्टि से पहले ही विद्यमान गति के स्रोत प्रभु **जनुषा**-जन्म से ही, जन्म के साथ ही **रेभत्**-वेद के शब्दों द्वारा सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराते हैं ज्ञान के बिना इन पदार्थों के ठीक प्रयोग का संभव ही नहीं है। (२) **ऊर्ध्वाः**-ज्ञान के दृष्टिकोण से उच्च स्थिति में पहुँचनेवाले **ग्रावाणः**-स्तोता लोग **अध्वरम्**-उस हिंसा से ऊपर उठे हुए यज्ञरूप प्रभु को **अभिचक्षुः**-देखनेवाले होतें हैं। ये स्तोता वे हैं **येभिः**-जिनसे **विचक्षणः**-वे सर्वद्रष्टा प्रभु **विहायाः**-आकाशवत् व्यापक व महान् **अभवत्**-होते हैं। जितना प्रभु की महिमा का गायन होता है, उतना ही प्रभु विस्तृत और विस्तृत होते जाते हैं। (३) यह प्रभु का स्तवन करनेवाला 'स्व-दितिः'-आत्मतत्त्व का धारण करनेवाला ज्ञानी **सुमेकं पाथः**-जिन जीवन का शोभन रूप में निर्माण करनेवाले मार्ग का **वनन्वति**-सेवन करता है, शुभ मार्ग पर चलता हुआ जीवन को उत्तम बनाता है।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में ही सब पदार्थों का ज्ञान देते हैं। उस ज्ञान के अनुसार शुभ मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति सदा कल्याण को सिद्ध करता है।

सम्पूर्ण सूक्त का मुख्य भाव यही है कि विचारशील बनकर वासनाओं का संहार करते हुए शुभ मार्ग पर ही चलना है। ऐसा ही व्यक्ति तान्वः=(तनु विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है, इसी कारण वह 'पार्थ्यः' कहलाता है (प्रथविस्तारे) पृथा का पुत्र। यह 'तान्व पार्थ्य' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह कहता है कि—

[९३] त्रिनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

तेभिः-एभिः

महिं द्यावापृथिवी भूतमुर्वी नारीं यह्वी न रोदंसी सदं नः।
तेभिर्नः पातं सह्यंस एभिर्नः पातं शूषणि॥ १ ॥

(१) हे **द्यावापृथिवी**-द्युलोक व पृथिवीलोक! तुम हमारे लिये **महि उर्वी**-खूब विस्तीर्ण होवो। द्युलोक 'मस्तिष्क' है, पृथिवीलोक 'शरीर'। हमारा मस्तिष्क विस्तृत ज्ञान से उज्ज्वल हो, और हमारा शरीर प्रचण्ड तेजस्विता से देदीप्यमान हो। हे **रोदसी**-द्यावापृथिवी! आन **नः**-हमारे लिये **सदम्**-सदा **यह्वी नारी न**-अपने गुणों के कारण महत्त्वपूर्ण स्त्री के समान होवो। जैसे पत्नी पति का पूरण करनेवाली बनती है, उसी प्रकार ये द्यावापृथिवी हमारा पूरण करनेवाले हों। द्युलोक ज्ञान की कमी को न रहने दे तथा पृथिवीलोक शक्ति व दृढ़ता का पूरण करनेवाला हो। (२) हे द्यावापृथिवी! आप **तेभिः**-उन मस्तिष्क की ज्ञानदीप्तियों से **नः**-हमें **सह्यसः**-कुचल डालनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं से **पातम्**-सुरक्षित करो। ज्ञानाग्नि में काम भस्म हो जाए तथा **एभिः**-इन शरीर की शक्तियों से **नः**-हमें **शूषणि**-बाह्य शत्रुओं के शोषण में **पातम्**-सुरक्षित करिये। हम इन पार्थिव शक्तियों से शत्रुओं का शोषण कर सकें। अध्यात्म शत्रुओं का नाश मस्तिष्क के ज्ञान द्वारा तथा बाह्य शत्रुओं का नाश शारीरिक शक्तियों के द्वारा हम करनेवाले बनें। अध्यात्म शत्रुओं के नाश से परलोक उत्तम होता है। बाह्य शत्रुओं के नाश से इहलोक अच्छा बनता है।

भावार्थ—ज्ञान से कामादि का तथा तेज से बाह्य शत्रुओं का हम विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

यज्ञ-स्तवन-स्वाध्याय

यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति। यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान्॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार कामादि शत्रुओं का तथा बाह्य शत्रुओं का पराभव करनेवाला **स मर्त्यः**-वह मनुष्य **यज्ञे यज्ञे**-प्रत्येक उत्तम कर्म में **देवान्**-देवों का **सपर्यति**-पूजन करता है। देवों का पूजन उत्तम कर्मों से ही होता है। प्रभु महादेव हैं, उनका पूजन तो यज्ञ से होता ही है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। वाय्वादि देवों के पूजन के लिए यह 'देवयज्ञ' (=अग्निहोत्र) किया जाता है। माता, पिता, आचार्यादि देवों का पूजन भी उत्तम कर्मों से ही होता है, हमारे उत्तम कर्मों से उन्हें प्रसन्नता होती है। (२) **यः**=जो व्यक्ति **सुम्नैः**=स्तोत्रों के साथ (सुम्न=hymn) **दीर्घश्रुत्तमः**=अधिक से अधिक (तम) अन्धकार निवारक (दीर्घ-दृ विदारणे) ज्ञानवाला बनता है, अर्थात् जो भी निरन्तर स्तवन व स्वाध्याय में प्रवृत्त होता है, वही **एनान्**=इन देवों की **आविवासाति**=परिचर्या करता है। देवों का पूजन यही है कि हम स्तवन व स्वाध्याय को अपनाएँ।

भावार्थ—देव-पूजन 'यज्ञों' से तथा स्तवन व स्वाध्याय से होता है। वही सच्चा उपासक है जिसके हाथ यज्ञों में प्रवृत्त हैं, हृदय में सुम्न (स्तोत्र) हैं तथा मस्तिष्क स्वाध्याय से दीप्त है।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

देवों के लक्षण

विश्वेषामिरज्यवो देवानां वार्महः। विश्वे हि विश्वमहसो विश्वे यज्ञेषु यज्ञियाः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार देवों का पूजन करनेवाला भी देव बनता है। सो देवों के लक्षण प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं। ये देव **विश्वेषाम्**=शरीर में साधनरूप से प्राप्त करायी गयी इन्द्रियों के, मन के व बुद्धि के इन शरीर में प्रविष्ट सब साधनों के ये **इरज्यवः**=स्वामी होते हैं, इनके वशीकरण से ही तो सब साध्यों को ये सिद्ध कर पाते हैं। (२) इन साधनों के ठीक प्रयोग करने से ही **देवानाम्**=इन देवों का **महः वाः**=महान् वरणीय धन होता है। ये उचित साधनों से खूब ही ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। (३) **विश्वे हि**=ये सब देव निश्चय से **विश्वमहसः**=सम्पूर्ण तेजोंवाले होते हैं। (४) **विश्वे**=ये सब **यज्ञेषु यज्ञियाः**=सदा उत्तम यज्ञों में प्रवृत्त रहनेवाले होते हैं। उत्तम कर्मों में सदा व्यापृत रहते हैं।

भावार्थ—देवों के लक्षण ये हैं—(क) इन्द्रियों, मन व बुद्धि के ये स्वामी होते हैं (हृषीकेश), (ख) महान् वरणीय धन का अर्जन करते हैं, (ग) तेजस्वी होते हैं, (घ) यज्ञों में लगे रहते हैं, लोक संग्रहात्मक कर्म ही इनके यज्ञ बन जाते हैं।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अमृत के राजा

ते घा राजानो अमृतस्य मन्द्रा अर्यमा मित्रो वरुणः परिज्मा।
कद्रुद्रो नृणां स्तुतो मरुतः पूषणो भगः ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के विषय को ही प्रस्तुत मन्त्र में पूर्ण करते हुए कहते हैं कि **घा**=निश्चय से **ते**=वे देव **अमृतस्य**=अमरता के, रोगों द्वारा मृत्यु का ग्रास न होने के **राजानः**=(to be the feist, at the head) प्रथम अधिपति होते हैं। ये कभी रोगों का शिकार नहीं होते, 'अमरा निर्जरा देवाः'=ये देव जीर्ण नहीं होते और अतएव असमय की मृत्यु के शिकार नहीं होते। **मन्द्राः**=सदा प्रसन्न रहते हैं (cheerful) (२) **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं को वश में करते हैं। **मित्रः**=(मित्र स्नेह ने) सबके साथ स्नेह से वर्तते हैं। **वरुणः**=द्वेष का निवारण करते हैं। **परिज्मा**=वायु की तरह अपने कर्त्तव्यों में सदा गतिशील बने रहते हैं। **कद्रुद्रः**=(कु=कत्) कुत्सित भावों को प्रभु नाम-स्मरण से दूर भगाते हैं (रोरूयमाणः द्रावयति)। कुत्सित भावों को रुलानेवाले होते हैं (रोदयति) उन्हें अपने हृदय से निर्वासित करके बेघर कर देते हैं और इस प्रकार उन भावों के भाग्य में रोना ही रह जाता है। (३) इस प्रकार बनने के कारण ये लोग **नृणां स्तुतः**=मनुष्यों से स्तुति किये जाते हैं, लोगों में ये यशस्वी होते हैं। **मरुतः**=ऐसा बनने के लिए ये प्राणसाधना करनेवाले होते हैं। **पूषणः**=पोषण करनेवाले व **भगः**=ऐश्वर्यशाली होते हैं। वस्तुतः ये ऐश्वर्य के द्वारा भोगों में न फँसकर औरों का पोषण ही करते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर अमृतत्व के अधिपति हैं और सदा प्रसन्नता का अनुभव करें।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सूर्य व चन्द्र (उत्साह व शान्ति)=तेज व क्षमा

उत नो नक्तमपां वृषण्वसू सूर्यामासा सदनाय सधन्या।
सचा यत्साद्येषामहिर्बुध्नेषु बुध्न्यः ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र में देवों के लक्षण दिये गये हैं। देवों की यह भी विशेषता होती है कि वे अपने में 'तेजस्विता व क्षमा' इन दोनों ही तत्त्वों का समन्वय करते हैं। सूर्य से वे उग्रता व तेजस्विता का पाठ पढ़ते हैं, तो चन्द्रमा से वे शान्ति व क्षमा को सीखते हैं। दोनों ही आवश्यक हैं। 'कोई कम और कोई अधिक आवश्यक हो' ऐसी बात नहीं है। ये **सधन्या**-समान धन हैं। यहाँ मन्त्र में 'दिवा नक्तं' के स्थान में केवल 'नक्तं' का पाठ है, जैसे 'सत्यभामा' 'भामा' है। **उत**-और **नः**-हमारे में **नक्तम्**-दिन-रात **अपां वृषण्वसू**-प्रजाओं के लिए धन का वर्षण करनेवाले **सूर्यामासा**-सूर्य प्रकाश और चन्द्र आह्लाद **सधन्या**-समान धनवाले होते हुए, अर्थात् एक समान मनुष्य को धन्य बनानेवाले, इतना ही नहीं, परस्पर मिलकर मनुष्य को धन्य बनानेवाले **सदनाय**-निवास के लिए हों। हमारे में जैसे सूर्य का निवास हो, उसी प्रकार चन्द्रमा का। हम तेजस्विता व क्षमा दोनों को धारण करें। हम केवल उग्र ही उग्र न हों, केवल शान्त ही शान्त न हों। उग्रता व शान्ति का अपने में समन्वय करें। (२) **यत् एषाम्**-जब इन दोनों के जीवनों में **सचा**-इन सूर्य और चन्द्र का मेल होता है तो **अहिर्बुध्नेषु**-अहीन आधारवाले, न नष्ट होनेवाले, प्रकृति जीव व परमात्मा में **बुध्न्यः**-सर्वोत्तम आधारभूत प्रभु **सादि**-स्थित होते हैं। हम अपने जीवनों में सूर्य व चन्द्र का मेल करें, तो हमें अवश्य प्रभु की प्राप्ति होगी, यहाँ 'नित्यो नित्यानां' की तरह ही 'अहिर्बुध्नेषु बुध्न्यः' ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वे प्रभु अक्षरों में भी अक्षर अथवा 'परम अक्षर' हैं। (३) सूर्य हमारे में 'चक्षु' रूप से रहता है और चन्द्रमा 'मन' के रूप में हम चक्षु आदि इन्द्रियों को सशक्त व निर्मल बनाएँ और मन को सदा प्रसादयुक्त रखने का प्रयत्न करें। यही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम सूर्य की तरह तेजस्वी हों, चन्द्रमा की तरह शान्त व आह्लादमय तभी हमें प्रभु का आधार प्राप्त होगा।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रेगिस्तान के पार

उत नो देवावश्विना शुभस्पती धामभिर्मित्रावरुणा उरुष्यताम्।
महः स राय एषतेऽति धन्वेव दुरिता ॥ ६ ॥

(१) **उत**-और **नः**-हमारे लिए **अश्विनौ देवौ**-प्राणापान हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले हों (दिव्-विजिगीषा)। हम प्राणसाधना के द्वारा इन सब शत्रुओं को नष्ट कर सकें। वस्तुतः ये प्राणापान इस प्रकार हमारे दोषों को दग्ध करके **शुभस्पती**-शुभ के रक्षक हैं। अशुभ को ये दूर करते हैं और शुभ का रक्षण करते हैं। (२) काम-क्रोधादि को जीतकर हम राग-द्वेषादि से ऊपर उठते हैं। इनसे ऊपर उठकर हम सबके प्रति स्नेह करनेवाले 'मित्र' तथा किसी से द्वेष न करनेवाले 'वरुण' बनते हैं। ये **मित्रावरुणा**-स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **धामभिः**-तेजस्विताओं के द्वारा **उरुष्यताम्**-हमारा रक्षण करें। द्वेष से मनुष्य अन्दर ही अन्दर जलता रहता है और उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। (३) इस प्रकार शक्ति का रक्षण करके **स**-वह प्राणसाधक पुरुष **महः रायः**-महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य को **आ ईषते**-सर्वथा प्राप्त होता है और **दुरिता अति**-सब दुरितों व दुर्गतियों को इस प्रकार पार कर जाता है **इव**-जैसे **धन्वा**-कोई पथिक रेगिस्तान को पार कर जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अशुभ वृत्तियों का नाश होकर शुभवृत्तियों का विकास होता है। ईर्ष्या-द्वेषादि से ऊपर उठकर मनुष्य तेजस्वी बनता है। शुभ ऐश्वर्यों को प्राप्त करके दुर्गतियों को

पार कर जाता है। इस साधक के लिए सांसारिक विषय मरुस्थल के समान हो जाते हैं।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

नीरोगता व दिव्यभाव

उत नो रुद्रा चिन्मृळतामश्विना विश्वे देवासो रथस्पतिर्भगः।
ऋभुर्वाज ऋभुक्षणः परिज्मा विश्ववेदसः ॥७॥

(१) उत=और रुद्रा=सब रोगों का द्रावण करनेवाले अश्विना=प्राणापान नः=हमारे लिए चित्=निश्चय से मृडताम्=सुख को देनेवाले हों। इसी प्रकार विश्वेदेवासः=सब दिव्यगुण हमें सुखी करनेवाले हों। 'शरीर व मन' दोनों का स्वास्थ्य हमें सुख का देनेवाला हो। शरीर में रोग न हों, मन में ईर्ष्या आदि अदिव्य भाव न हों। (२) रथस्पतिः=शरीररूप रथ का रक्षक, इस शरीर का अधिष्ठातृदेव हमें सुखी करे। भगः=सेवनीय ऐश्वर्य हमारी आवश्यकताओं को पूर्ण करके हमें सुखी करे। (३) ऋभुः=(ऋतेन भाति) सत्य ज्ञान से चमकनेवाला व यज्ञों से दीप्त होनेवाला ज्ञानी ब्राह्मण ज्ञान को देकर हमारे सुख की वृद्धि का कारण बने। वाजः=शक्ति का पुञ्ज क्षत्रिय भी रक्षण के द्वारा हमारा कल्याण करे। ऋभुक्षणः=(उरुक्षण: नि०) बड़े-बड़े निवास-स्थानोंवाले परिज्मा नः=(परिज्मानः) चारों ओर गति करनेवाले, व्यापार के लिए इधर-उधर जानेवाले विश्ववेदसः=सम्पूर्ण धनों का अर्जन करनेवाले वैश्य लोग भी हमारा कल्याण करें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम शरीर में नीरोग व मन में दिव्य भावोंवाले बनें। शरीर का ध्यान करें, इसके लिए आवश्यक धन का अर्जन करें। राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब उत्तम हों।

सूचना—'ऋभुक्षणः' के साथ 'परिज्मा' शब्द सम्भवतः 'चारों ओर गति करनेवाले' शूद्र के लिए हो। वैश्य और शूद्र मिलकर ही धनार्जन करते हैं। ठीक-ठीक तो यह है कि वैश्याधिष्ठित शूद्र धनार्जन करता है (laboxr-लभ्)।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उपासक का अतिमानव रूप

ऋभुर्ऋभुक्षा ऋभुर्विधतो मद आ ते हरी जूजुवानस्य वाजिना।
दुष्टरं यस्य साम चिदृधग्यज्ञो न मानुषः ॥८॥

(१) ऋभुक्षाः=वे महान् प्रभु ऋभुः=(ऋतेन भाति) अपने सत्यस्वरूप से देदीप्यमान हैं। विधतः=इस प्रभु को उपासक का मदः=हर्ष ऋभुः=यज्ञों से दीप्त होता है, अर्थात् प्रभु का उपासक आनन्द का अनुभव करता है और उसे यज्ञों में ही आनन्द मिलता है। (२) हे प्रभो! जूजुवानस्य=निरन्तर गति देनेवाले ते=आपके दिये हुए ये हरी=इन्द्रियरूप अश्व आवाजिना=सब प्रकार से शक्तिशाली होते हैं। एक व्यक्ति आपकी प्रेरणा में चलता है तो उसकी ये इन्द्रियाँ क्षीणशक्ति न होकर सबल ही बनी रहती हैं। (३) हे प्रभो! आप तो वे हैं यस्य=जिनकी साम=उपासना चित्=भी दुष्टरम्=शत्रुओं से अभिभूत नहीं हो पाती। आपके उपासक को काम-क्रोधादि शत्रु दबा नहीं सकते। (४) आपके उपासक का यज्ञः=यज्ञ भी ऋधक्=पृथक् ही होता है, न मानुषः=सामान्य मनुष्यों से किये जानेवाले यज्ञ की तरह वह नहीं होता, उपासक का यज्ञ असाधारण व अलौकिक होता है। वस्तुतः इस उपासक में प्रभु की ही शक्ति काम कर रही होती है। उस शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर वह अतिमानव प्रतीत होता है।

भावार्थ—महान् प्रभु अपने सत्यस्वरूप में देदीप्यमान हैं। प्रभु का उपासक भी कामादि से

अभिभूत न होता हुआ अतिमानव यज्ञों को करने में समर्थ होता है।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अक्षरपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

न लज्जित होने योग्य जीवन

कृधी नो अह्रयो देव सवितः स च स्तुषे मघोनाम्।
सहो न इन्द्रो वह्निभिर्न्येषां चर्षणीनां चक्रं रश्मिं न योयुवे ॥ ९ ॥

(१) हे **सवितः देव**=प्रेरक प्रकाशमय प्रभो! **नः**=हमें **अह्रयः**=लज्जा से न झुके हुए मुखवाला करिये। आपकी प्रेरणा से प्रकाश को प्राप्त करके सदा मार्ग पर ही चलते हुए हमें अशुभ कर्मों के कारण लज्जित न होना पड़े। हे प्रभो! आप ही **मघोनां स्तुषे**=ऐश्वर्यशालियों में स्तुत होते हैं। सर्वमहान् ऐश्वर्य आपका ही है। वस्तुतः आपसे ही सब ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। (२) **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **वह्निभिः**=शरीर के सब कार्यों के वाहक इन मरुतों के द्वारा **एषां चर्षणीनां नः**=इन श्रमशील हम मनुष्यों के साथ **सहः**=शत्रुधर्षक बल को **नियोयुवे**=निश्चय से मिश्रित करता है। उसी प्रकार मिश्रित करता है, **न**=जैसे कि **चक्रम्**=इस शरीरचक्र को तथा **रश्मिम्**=मनरूप लगाम को, प्रभु शरीररूप रथ को देते हैं। इस रथ में इन्द्रियाश्वों के नियमन के लिए मनरूप लगाम को देते हैं। इस मनरूप लगाम के द्वारा ही बुद्धि रूप सारथि इन्द्रियाश्वों को नियंत्रित करता है। इस नियन्त्रण के अनुपात में ही हमारे अन्दर 'सहस्' का विकास होता है। इस सहस् से कामादि शत्रुओं का पराभव करके हम शुभ मार्ग का ही आक्रमण करते हैं, हमें अपने कार्यों के कारण कभी लज्जित नहीं होना पड़ता।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपकी प्रेरणा में चलते हुए ऐसा जीवन बिताएँ जो हमारी यशोवृद्धि का कारण हो।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

धन व सात्त्विक अन्न

ऐषु द्यावापृथिवी धातं महदस्मे वीरेषु विश्वचर्षणि श्रवः।
पृक्षं वाजस्य सातये पृक्षं रायोत तुर्वणे ॥ १० ॥

(१) हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **अस्मे**=हमारे **एषु**=इन **वीरेषु**=वीर सन्तानों में **महत्**=महान् आदरणीय (मह पूजायाम्) **विश्वचर्षणि**=सम्पूर्ण संसार के पदार्थों के तत्त्वज्ञान को दिखलानेवाले **श्रवः**=ज्ञान को **आधातम्**=स्थापित करिये। सारा संसार हमारे सन्तानों के लिए ज्ञान प्राप्ति की अनुकूलता को प्राप्त कराये। 'द्युलोक' शरीर में मस्तिष्क हैं और 'पृथिवीलोक' शरीर। मस्तिष्क की दीप्ति व शरीर का स्वास्थ्य तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक ही हैं। (२) **वाजस्य सातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **पृक्षम्**=अन्न को **आधातम्**=स्थापित करें। हमें वह अन्न प्राप्त हो जो शक्ति का वर्धन करनेवाला हो। **उत**=और **राया**=धन के साथ **पृक्षम्**=उस अन्न को प्राप्त कराइये जो **तुर्वणे**=शीघ्रता से शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला हो। धन के कारण हम व्यसनों में न फँस जाएँ। धन के साथ हम सात्त्विक अन्नों का ही प्रयोग करें जिससे सात्त्विक वृत्तिवाले बने रहकर हम कामादि शत्रुओं का सदा पराभव करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें सब पदार्थों के तत्त्वज्ञान को देनेवाला ज्ञान प्राप्त हो। हम सात्त्विक अन्नों व धनों से युक्त होकर कामादि शत्रुओं को पराभूत करें।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—न्याङ्कुसारिणीबृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु से ज्ञान की प्राप्ति

एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्ट्वं कूचित्सन्तं सहसावन्नभिष्टये सदा पाह्यभिष्टये। मेदतां वेदता वसो॥ ११॥

(१) हे सहसावन् इन्द्र-शक्ति के पुञ्ज परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! अस्मयुः-हमारे हित की कामनावाले त्वम्-आप कूचित् सन्तम्-कहीं ही होनेवाले, अर्थात् एक आध व्यक्ति को ही प्राप्त होनेवाले एतम्-इस शंशम्-ज्ञान को अभिष्टये-हमारे इष्ट की सिद्धि के लिए सदा पाहि-हमेशा सुरक्षित करिये। सामान्यतः संसार में सभी अज्ञानी ही बने रहते हैं। कोई व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है। इस ज्ञान को प्राप्त करके ही हम अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं। यह ज्ञान ही वस्तुतः हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है जिससे कि हम वासनाओं का संहार कर पाते हैं। हम 'सहसावान्' बनते हैं। यह ज्ञान ही परमैश्वर्य है, हमें यह 'इन्द्र' बनाता है। (२) हे वसो-ज्ञान को देकर हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! अभिष्टये-इष्ट प्राप्ति के लिए मेदताम्-स्नेह करनेवालों का वेदता-आप ध्यान करिये। आपकी कृपा दृष्टि हम स्नेह करनेवालों पर सदा बनी रहे। आपकी कृपा से ही हमारे सब अभीष्ट पूर्ण होंगे।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराएँ जिससे हम भी प्रभु की तरह 'सहसावान् व इन्द्र' बन पाएँ। सबके प्रति स्नेह करते हुए हम प्रभु की कृपा के पात्र हों।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दीप्तगमन का साधन 'स्तोम'

एतं मे स्तोमं तना न सूर्ये द्युतद्यामानं वावृधन्त नृणाम्। संवननं नाश्व्यं तष्टेवानपच्युतम्॥ १२॥

(१) एतम्-इस मे-मेरे से किये जानेवाले स्तोमम्-स्तुति समूह को सब देव वावृधन्त-बढ़ानेवाले हों। उस प्रकार बढ़ानेवाले हों न-जैसे कि सूर्ये-सूर्य में तना-रश्मिजाल को सूर्य में जैसे रश्मियाँ विस्तृत हो रही हैं इसी प्रकार मेरे जीवन में प्रभु के स्तोत्र विस्तृत हों, मैं निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनूँ। यह स्तोम द्युतद्यामानम्-दीप्तगमनवाला हो, इसके द्वारा मुझे मार्ग भली-भाँति दिखे। मेरे जीवनमार्ग को यह रोशन करनेवाला हो। प्रभु को सर्वज्ञ रूप में स्मरण करता हुआ मैं भी ज्ञान में रुचिवाला बनूँ। प्रभु को दयालु रूप में देखता हुआ मैं भी दया करनेवाला बनूँ। (२) यह स्तोम नृणां संवननम्-मनुष्यों का सम्यक् सेवनीय है (वन संभक्तौ) अथवा यह मनुष्यों को विजयी बनानेवाला है (वन्=win) विजय का यह साधन है। यह स्तोम क्या है, यह तो विजय के साधन के समान है। (३) इव-जैसे तष्टा-बढ़ई अनपच्युतम्-अपच्युत न होनेवाले दृढ़ तथा अश्व्यम्-अश्वों के लिए उत्तम रथ को बनाता है इसी प्रकार हम स्तोम को बनानेवाले हों। यह हमारा स्तोम भी च्युतिरहित हो, स्तुति विच्छिन्न न हो जाए तथा यह स्तुति हमारे इन्द्रिय रूप अश्वों को उत्तम बनानेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन मुझे अन्तः शत्रुओं से संघर्ष में विजयी बनाता है।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

स्तुति-धन-ज्ञान

वावर्त येषां राया युक्तैषां हिरण्ययी। नेमधिता न पौंस्या वृथेव विष्टान्ता॥ १३॥

(१) येषाम्-जिन उपासकों की स्तुति वावर्त-विशेषरूप से प्रवृत्त होती है, एषाम्-इनकी वह स्तुति राया युक्त-धन से युक्त होती हुई हिरण्ययी-ज्योतिर्मयी होती है, हित रमणीय होती

है। स्तुति के साथ धन का मेल होने पर मस्तिष्क में किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती और इस प्रकार इन उपासकों को ज्ञान की दीप्ति प्राप्त होती है, यह ज्ञान दीप्ति हितकर होती हुई रमणीय है। 'धन' शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है, तो 'स्तुति' मानस भोजन बनती है तथा 'ज्ञान' (हिरण्य) मस्तिष्क को उज्ज्वल करता है। (२) न=जैसे नेमधिता=संग्राम में पौंस्या=बल विष्टान्ता=(विष् व्याप्तौ) व्याप्तावसान होते हैं, अन्त तक पहुँचानेवाले होते हैं, हमें विजयी बनाते हैं। इसी प्रकार यह धन व हिरण्य से युक्त स्तुति भी वृथा इव=अनायास ही बिना किसी अन्य परिश्रम के विष्टान्त होती है, हमें जीवन के लक्ष्य के अन्त तक पहुँचाती है। (३) धन से पृथ्वीलोक का विजय करते हैं, धन के ठीक प्रयोग से शरीर के स्वास्थ्य को सिद्ध करते हैं। स्तुति के द्वारा हृदयान्तरिक्ष के नैर्मल्य को सिद्ध करते हैं, स्तुति के द्वारा हृदयान्तरिक्ष में उमड़नेवाले वासना मेघों को छिन्न-भिन्न कर पाते हैं। ज्ञान के द्वारा मस्तिष्क रूप द्युलोक को दीप्त करके हम ब्रह्मलोक में पहुँचनेवाले बनते हैं। इस प्रकार धन व ज्ञान से युक्त स्तुति हमारे लिए विष्टान्त बनती है।

भावार्थ—हमारी स्तुति धन से युक्त होकर हमारे ज्ञान के वर्धन का कारण बने और इस प्रकार हम जीवन के लक्ष्य के अन्त तक पहुँचनेवाले हों।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'दुःशीम-पृथवान-वने-राम-असुर-मघवान्'

प्र तद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम्॥ १४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि तद्=उस गतमन्त्र के हिरण्य=हितरमणीय ज्ञान को दुःशीमे=सब बुराइयों को शान्त करनेवाले में, सब वासनाओं को जीतनेवाले में पृथवाने=वासनाओं को जीतकर शक्तियों का विस्तार करनेवाले में और इस प्रकार वेने=अपने जीवन को कान्त व सुन्दर बनानेवाले में प्रवोचम्=कहता हूँ। (२) इस ज्ञान का मैं रामे=भक्ति में रमण करनेवाले में अथवा संसार की सब क्रियाओं को एक क्रीड़क की मनोवृत्ति से करनेवाले में (रम् क्रीडायाम्), असुरे=प्राणशक्ति में रमण करनेवाले में (असुषु रमते)=प्राणायामादि द्वारा प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले में तथा मघवत्सु=(मघ=ऐश्वर्य तथा यज्ञ 'मख') ऐश्वर्यशाली तथा अपने ऐश्वर्य का यज्ञों में विनियोग करनेवालों में प्र अवोचम्=प्रवचन करता हूँ। (३) इस ज्ञान को प्राप्त करके इस ज्ञान के अनुसार ये=जो पञ्च=पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण पंचक को (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-हृदय) शता=सौ के सौ वर्ष तक युक्त्वाय=शरीररूप रथ में ठीक प्रकार से जोतकर पथा=मार्ग से चलते हुए अस्मयु=हमारी प्राप्ति की कामनावाले होते हैं, एषाम्=इनका विश्रावि=श्रव (=यश) चारों ओर फैलता है।

भावार्थ—हम 'दुःशीम, पृथवान, वने, राम, असुर व मघवान्' बनें जिससे प्रभु के ज्ञान का हमारे लिये प्रवचन हो।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

तान्वः-पार्थ्यः-मायवः

अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च ।
सद्यो दिदिष्ट तान्वः सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः सद्यो दिदिष्ट मायवः ॥ १५ ॥

(१) नु=अब गतमन्त्र के अनुसार दुःशीम आदि बनकर प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करनेवाला,

अत्र=इस जीवन में **तान्वः**=शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाला **इत्**=निश्चय से **सप्तः**=शीघ्र ही **सप्त च सप्ततिं च**=सात और सत्तर, अर्थात् सतहत्तर नाड़ीचक्रों के केन्द्रों को **अधिदिदिष्ट**=याचित करता है। इन केन्द्रों के ठीक रहने पर ही वस्तुतः शरीर के स्वास्थ्य का निर्भर है। (२) **पार्थ्यः**=मानस शक्तियों का विस्तार करनेवाला भी इन्हीं को ही **सद्यः**=शीघ्र (अधि) **दिदिष्ट**=आधिक्येन याचित करता है। इन केन्द्रों के विकृत होने पर मनुष्य अस्थिर मनवाला हो जाता है। (३) **मायवः**=अपने साथ ज्ञान का सम्पर्क करनेवाला पुरुष भी **सद्यः**=शीघ्र ही इन सतहत्तर केन्द्रों के स्वास्थ्य की (अधि) **दिदिष्ट**=याचना करता है। इनके विकृत होते ही मस्तिष्क विकृत हो जाता है और मनुष्य पागल बन जाता है।

भावार्थ—शरीर में सतहत्तर नाड़ीचक्र केन्द्रों के ठीक होने के द्वारा हम 'तान्व-पार्थ्य व मायव' बनें। शरीर, मन व बुद्धि तीनों के स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिए इन केन्द्रों का ठीक होना आवश्यक है।

सम्पूर्ण सूक्त 'तान्व, पार्थ्य व मायव' बनने के साधनों पर सुन्दरता से प्रकाश डाल रहा है। अगला सूक्त 'अर्बुद-काद्रवेय-सर्प' ऋषि का है—'अर्बुद' (अर्व हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाला है। वासनाओं के संहार के लिये यह 'काद्रवेय' (कदि आह्वाने) प्रभु का आह्वान करनेवाला बनता है, प्रभु का प्रातः-सायं आराधन करता है और 'सर्पः'=(सृ गतौ) गतिशील बना रहता है। यह कहता है कि—

[९४] चतुर्नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अद्रि-पर्वत-आशु व सोमी

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ॥ १ ॥

(१) **एते**=ये मन्त्र के देवता 'ग्रावाणः'=उपदेष्टा लोग (गृशब्दे) **प्रवदन्तु**=प्रकर्षेण ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें और उनके पीछे **वयम्**=हम भी **प्रवदाम**=उन वाणियों का प्रकर्षेण उच्चारण करें। ज्ञान प्राप्ति का वस्तुतः यही तो ठीक क्रम है कि गुरु बोलें और उनके पीछे विद्यार्थी उसी प्रकार उच्चारण करें। **वदद्भ्यः**=उच्चारण करते हुए **ग्रावभ्यः**=गुरुओं के लिए **वाचं वदता**=वाणी को बोलो। गुरु पढ़ाएँ, विद्यार्थी सुनाएँ। शिक्षा में यह प्रतिदिन के पाठ का सुनना अत्यन्त आवश्यक है। (२) एवं जहाँ हम आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें, वहाँ **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **श्लोकं घोषम्**=(श्लोकः यशसि) यशोगानात्मक शब्दों का **भरथा**=भरण करें। प्रभु के यशोगान के करनेवाले हों। यह यशोगान तभी होता है **यत्**=जब **अद्रयः**=हम आदरणीय बनते हैं, ऐसे ही कर्म करते हैं जो हमें आदर का पात्र बनाते हैं। **पर्वताः**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले बनते हैं, न्यूनताओं को दूर करके अच्छाइयों को अपने में भरते हैं। **साकं आशवः**=मिलकर कर्मों में व्याप्त होनेवाले होते हैं (अश् व्याप्तौ), देवों की तरह परस्पर मिलकर एक लक्ष्य से प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यभाग को सुन्दरता से करते हैं। **सोमिनः**=अपने में सोम (वीर्य) शक्ति का रक्षण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु का सच्चा यशोगान व स्तवन यही है कि हम 'अद्रि, पर्वत, आशु व सोमी' बनें।

भावार्थ—आचार्यों से उच्चारित शब्दों का उच्चारण करते हुए हम ज्ञान को प्राप्त करें तथा 'अद्रि, पर्वत, आशु व सोमी' बनकर प्रभु का यशोगान करें।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

आचार्यों के चार गुण

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः ।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत ॥ २ ॥

(१) एते-ये ग्रावाणः-उपदेष्टा लोग शतवत् सहस्रवत्-सैंकड़ों व सहस्रों शिष्योंवाले होते हुए वदन्ति-ज्ञानोपदेश को कहते हैं और हरितेभिः-हरित-अशुष्क-सरस आसभिः-मुखों से अभिक्रन्दन्ति-प्रातः-सायं (क्रदि आह्वाने) प्रभु का आह्वान करते हैं, प्रभु से प्रार्थना करते हैं। आचार्य ज्ञान देते हैं और प्रभु का आराधन करते हैं। (२) विष्ट्वी-(कर्मनाम नि० २।१, कृत्वा नि० ११।१६) कर्मों को करके ग्रावाणः-स्तुति करनेवाले वे लोग कर्मों द्वारा प्रभु की अर्चना करनेवाले ये आचार्य सुकृत्यया-उत्तम कर्मों के द्वारा सुकृतः-पुण्यशील होते हुए पूर्वे-उन्नतिपथ पर सब से आगे बढ़नेवाले अथवा अपना पूरण करनेवाले बनकर (पृ पूरणे) चित्-निश्चय से होतुः-उस सब पदार्थों के देनेवाले प्रभु के अद्यं हविः-खाने योग्य यज्ञशेषरूप पदार्थों का ही आशत-सेवन करते हैं। अपने कर्त्तव्य पालन के द्वारा प्रभु-स्तवन करते हैं और यज्ञशेष को ही खाते हैं।

भावार्थ—आचार्य (क) ज्ञान देते हैं, (ख) रस वाणी से प्रभु का स्तवन करते हैं, (ग) कर्मों को करते हुए प्रभु के सच्चे स्तोता बनते हैं, (घ) यज्ञशेष का सेवन करते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अति सात्त्विक भोजन व माधुर्य

एते वदन्त्यविदन्नना मधु न्यूङ्खयन्ते अधि पक्व आमिषि ।
वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सतस्ते सूभर्वा वृषभाः प्रेमराविषुः ॥ ३ ॥

(१) एते-ये आचार्य वदन्ति-ज्ञानोपदेश करते हैं और ज्ञानोपदेश करते हुए अना-मुख से मधु अविदन्-मधु को प्राप्त करते हैं। मधुर शब्दों में ही ज्ञान देते हैं। कभी क्रोध से कटु शब्द नहीं बोलते। (२) अधिपक्वे आमिषि-(the fleshy past of a fruit) पूर्ण परिपक्व फलों के गूदे का भोजन होने पर ये आचार्य न्यूङ्खयन्ते-(make beantiful ckeruering purpes or right) अपने जीवन को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। वानप्रस्थ होने के कारण इनका भोजन वन्य कन्द फल मूल ही होते हैं। इस सात्त्विक भोजन से इनका जीवन भी सात्त्विक ही बनता है। (३) अरुणस्य-आरोचमान फलों से चमकते हुए, वृक्षस्य-वृक्ष की शाखाम्-शाखा को, शाखा पर लगनेवाले फलों को बप्सतः-खाते हुए ते-वे आचार्य सूभर्वाः-उत्तम भोजनों से अपना भरण करनेवाले और अतएव वृषभाः-शक्तिशाली होते हुए ईम्-निश्चय से प्र अराविषुः-खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—आचार्य लोग मधुर शब्दों में ज्ञान देते हैं। इनके माधुर्य का रहस्य इस बात में है कि ये सात्त्विक भोजन करते हैं और प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु स्तवन से पृथ्वी को गुञ्जित करना

बृहद्वदन्ति मदिरेण मन्दिनेन्द्रं क्रोशन्तोऽविदन्ना मधु।
संरभ्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषुराघोषयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः ॥ ४ ॥

(१) ये लोग बृहद् वदन्ति=खूब ही ज्ञानोपदेश करते हैं। मदिरेण=हर्ष से परिपूर्ण-उल्लासमय मन्दिना=(shihing) दीप्त शब्दों से इन्द्रं क्रोशन्तः=परमैश्वर्यवाले प्रभु को पुकारते हुए अना=मुख से मधु अविदन्=मधु को प्राप्त करते हैं सदा मधुर ही शब्दों को बोलते हैं। प्रभु का स्तवन करनेवाला सभी को प्रभु पुत्र जानता हुआ कड़वा बोल ही नहीं सकता। (२) ये धीराः=ज्ञानी पुरुष संरभ्या=प्रभु का आश्रय करके स्व-सृभिः=आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली गतियों से अनर्तिषुः=जीवन के नृत्य को करते हैं। प्रभु की प्रेरणाओं के अनुसार ही चलते हैं। (३) प्रभु प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ये पृथिवीम्=इस पृथिवी को उपब्दिभिः=प्रभु के स्तवन के शब्दों से आघोषयन्तः=आघोषित करनेवाले होते हैं। इनके आश्रम प्रभु के गुणगान के शब्दों से गूँज उठते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष मधुर शब्दों में प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु गुणगान से पृथ्वी को गुँजा देते हैं। इनके सारे काम इन्हें प्रभु की ओर ले जानेवाले होते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सुपर्ण-कृष्ण-इषिर-सूर्यश्वित्'

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
न्य१ङ्नि यन्त्युपरस्य निष्कृतं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्वितः ॥ ५ ॥

(१) सुपर्णाः=उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाले, शरीर को रोगों से बचानेवाले तथा मन की न्यूनताओं को दूर करके उसका पूरण करनेवाले, ज्ञानी पुरुष वाचं अक्रत=इस ज्ञान की वाणी को अपना करने का प्रयत्न करते हैं, स्वाध्याय के द्वारा इसे समझने के लिये यत्नशील होते हैं। इसी दृष्टिकोण से ये द्यवि उप=उस प्रकाशमय प्रभु की उपासना करते हैं। आ-खरे=समन्तात् आकाश की तरह व्यापक होकर गति देनेवाले (री गतौ) प्रभु में ये कृष्णाः=अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच लेनेवाले, प्रत्याहृत करनेवाले इषिराः=गतिशील लोग अनर्तिषुः=इस जीवन के नृत्य को करते हैं। इनकी सब क्रियाएँ प्रभु में स्थित होकर होती हैं। इनके जीवन-नाटक का सूत्रधार प्रभु होता है। (२) न्यङ् नियन्ति=नीचे नम्र होकर ये निश्चय से चलते हैं। इनकी सब क्रियाएँ नम्रता के साथ होती हैं। उपरस्य=मेघ के निष्कृतम्=निश्चित कार्य को ये (नियन्ति) प्राप्त होते हैं। जैसे मेघ ऊपर जल को धारण करनेवाला होता है इसी प्रकार ये भी शक्ति का ऊपर धारण करनेवाले बनते हैं, ऊर्ध्वरेता बनते हैं। (३) इस प्रकार मेघ का अनुकरण करते हुए ये पुरुरेतः=पालक व पूरक शक्ति को दधिरे=अपने में धारण करते हैं। इस शक्ति के धारण से ये लोग सूर्यश्वितः=सूर्य के समान प्रकाश से श्वेत व उज्ज्वल हो उठते हैं। सुरक्षित रेतःशक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और ये लोग ज्ञान ज्योति से चमकनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक 'सुपर्ण, कृष्ण, इषिरर व सूर्यश्वित्' होते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सतत-स्मरण

उग्राइव प्रवहन्तः समायमुः साकं युक्ता वृषणो बिभ्रतो धुरः ।
यच्छ्वसन्तो जग्रसाना अराविषुः शृण्व एषां प्रोथथो अर्वतामिव ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के सुपर्ण **उग्राः इव**=अत्यन्त तेजस्वियों के समान होते हैं। **प्रवहन्तः**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए **सं आयमुः**=सम्यक्तया अपना नियमन करते हैं। **साकं युक्ताः**=मिलकर एक लक्ष्य से कार्य में जुटे हुए ये लोग **वृषणः**=शक्तिशाली होते हैं और **धुरः बिभ्रतः**=कार्य धुराओं को धारण करनेवाले कार्य धुरन्धर बनते हैं। (२) **यत्**=क्योंकि ये **श्वसन्तः**=श्वास प्रश्वास लेते हुए तथा **जग्रसानाः**=खाते पीते हुए **अराविषुः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं सो **एषां प्रोथथः**=इनके मुखों से उसी प्रकार ये प्रभु के नाम **शृण्वे**=सुने जाते हैं **इव**=जैसे कि **अर्वताम्**=घोड़ों के मुख से हिनहिनाने का शब्द सुनाई पड़ता है। शक्तिशाली घोड़ा खूब तीव्रगति से चलता है और रुकने पर हिनहिनाता है। ये सुपर्ण भी खूब उग्र बनकर कार्य करते हैं। बीच-बीच में कार्य विश्रामों के समय प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं। खाते, पीते व श्वासप्रश्वास लेते हुए ये प्रभु का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त तेजस्वी, संयमी व मिलकर कार्य करनेवाले होते हैं। ये खाते, पीते व श्वास लेते हुए भी प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं, सदा प्रभु स्मरणवाले होते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दस

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो सतत प्रभु स्मरण करते हैं वे अपनी दसों इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करके इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले बनते हैं। इनके लिये हमें चाहिए कि **अर्चत**=पूजा करनेवाले बनें। इनकी अर्चना करते हुए हमें भी इन जैसा बनने की प्रेरणा प्राप्त होगी और हम भी जितेन्द्रिय बनकर प्रभु के सच्चे उपासक हो सकेंगे। (२) किनके लिये पूजा करें? **दशावनिभ्यः**=(अव रक्षणे) जो दसों इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। **दशकक्ष्येभ्यः**=(कक्ष्या= उदरबन्धनरज्जु) जो दसों इन्द्रियों रूप अश्वों को उदरबन्धनरज्जु से बाँधनेवाले हैं, अर्थात् जो सब इन्द्रियों को संयम में रखनेवाले हैं। **दशयोक्त्रेभ्यः**=दस जोतोंवाले हैं। प्रत्येक इन्द्रिय को बाँधने के लिए रस्सी से युक्त हैं। **दश योजनेभ्यः**=दस योजनोंवाले हैं, प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने उद्दिष्ट कार्य में लगानेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति में लगाते हैं तो कर्मेन्द्रियों को उत्तम यज्ञादि कर्मों में व्यापृत रखते हैं। (३) इन दस इन्द्रियाश्वों को काबू रखने के लिये जो **दश अभीशुभ्यः**=दस ही लगामोंवाले हैं। यद्यपि मनरूप लगाम एक है, तथापि प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध रूप में दस लगामों की यहाँ कल्पना है। इन दस लगामोंवाले **अजरेभ्यः**=कभी जीर्ण न होनेवाले व्यक्तियों के लिये अर्चन करो। इन्द्रियों को काबू न करने पर विषयों में फँसने से ही तो जीर्णता आती है। उनके लिये तुम अर्चना करो जो **दश धुरः**=दस धुराओं को तथा **दश युक्ताः**=इन शरीर-रथ में जुते हुए दस घोड़ों को **वहद्भ्यः**=वहन कर रहे हैं। शरीर में जुते दश इन्द्रियाश्वों को ठीक प्रकार से चलाते हुए ये व्यक्ति दस कार्यभारों का वहन करते हैं। इस कार्यभारों को ठीक प्रकार

से वहन करने के द्वारा ही ये प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पीयूष-सेवन

ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम्।
त ऊं सुतस्य सोम्यस्यान्धसोंऽशोः पीयूषं प्रथमस्य भेजिरे ॥ ८ ॥

(१) **ते**=गत मन्त्र के वे अर्चनीय 'दशावनि' पुरुष **अद्रयः**=आदरणीय होते हैं। **दशयन्त्रासः**=दसों इन्द्रियों का ठीक प्रकार से नियमन करते हैं। इस नियमन के कारण ही तो वे आदरणीय होते हैं और इस नियमन के लिए वे **आशवः**=शीघ्रता से कार्यों में व्यापनवाले होते हैं। सदा कार्यों में लगे रहते हैं। यह कार्यतत्परता ही उन्हें विषयों में फँसने से बचाती है। **तेषाम्**=इन पुरुषों का **हर्यतम्**=अत्यन्त कान्त, सुन्दर व चाहने योग्य **आधानम्**=आधार **पर्येति**=सब ओर गया हुआ है, अर्थात् सर्वव्यापक वह कान्त प्रभु ही इनका आधार होता है। उस प्रभु में स्थित हुए-हुए ये अपने कार्यों में लगे रहते हैं। (२) **ते**=वे नियतकर्मों में नित्यतत्पर पुरुष **उ**=निश्चय से **सुतस्य**=शरीर में रस रुधिरादि क्रम से उत्पन्न हुए-हुए **सोम्यस्य**=सोम (=वीर्य) सम्बन्धी **प्रथमस्य**=सर्वोत्कृष्ट **अंशोः**=प्रकाश की किरणभूत **अन्धसः**=भोजन के **पीयूषम्**=अमृत का **भेजिरे**=सेवन करते हैं। वीर्य का रक्षण ही इनका अमृत भोजन हो जाता है। यह इनके अन्दर ज्ञान की किरणों के प्रकाश का हेतु बनता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों का नियमन करके आदरणीय जीवनवाले बनें। प्रभु ही हमारे आधार हों। सोम को अमृत जानकर हम उसे रक्षित करनेवाले हों।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वर्धते-प्रथते-वृषायते

ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेंऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते ॥ ९ ॥

(१) **ते**=वे गत मन्त्र के अनुसार सोम को अमृत जानकर सेवित करनेवाले **सोमादः**=सदा सोम्य भोजनों को खानेवाले और अतएव इन भोजनों से उत्पन्न सोम शक्ति (=वीर्य शक्ति) को अपने अन्दर ग्रहण करनेवाले ये व्यक्ति **इन्द्रस्य हरी**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के इन्द्रियाश्वों को **निंसते**=चुम्बित करनेवाले होते हैं। अर्थात् ये इन्द्रियरूप अश्वों को अपने वश में कर पाते हैं। (२) इस जितेन्द्रियता के कारण **अंशुं दुहन्तः**=सोम का दोहन (=अपने में पूरण) करते हुए ये व्यक्ति **गवि अध्यासते**=ज्ञान की वाणी में अधिष्ठित होते हैं। सोम के रक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और वेद को समझनेवाले उसके अधिपति (master) बनते हैं। (३) **तेभिः**=इन जितेन्द्रिय पुरुषों से **दुग्धम्**=अपने में पूरित किये गये **सोम्यं मधु**=सोमरूप सारभूत वस्तु को **पपिवान्**=पीनेवाला, अपने अन्दर ही व्याप्त करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला पुरुष **वर्धते**=बढ़ता है, इसका ज्ञान उत्तरोत्तर विकसित होता है। **प्रथते**=यह विस्तारवाला होता है, इसका मन उदार होता है। **वृषायते**=यह शक्तिशाली की तरह आचरण करता है (वृषा इव आचरति) अथवा निर्बलता को परे फेंककर शक्ति-सम्पन्न हो जाता है (अवृषः वृषो भवति)।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। ज्ञानी बनता है, उदार मनवाला होता है और सशक्त शरीर को धारण करता है।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अहिंसित व चारु जीवन

वृषा वो अंशुर्न किला रिषाथनेळावन्तः सदुमित्स्थनाशिताः ।
रैवत्येव महसा चारवः स्थन यस्य ग्रावाणो अजुषध्वमध्वरम् ॥ १० ॥

(१) **यस्य**=जिसके तुम **ग्रावाणः**=(स्तोतारः) स्तुति करनेवाले होते हो वह **अंशुः**=सोम **वः**=तुम्हारा **वृषा**=शक्ति का देनेवाला होता है। सोम के गुणों का स्मरण करनेवाले लोग सोम का धारण करते हैं। धारित हुआ-हुआ यह सोम उन्हें शक्तिशाली बनाता है। इस सोम का धारण करने से **किल**=निश्चयपूर्वक तुम **न रिषाथन**=हिंसित नहीं होते हो। तुम्हारे पर रोग आक्रमण नहीं कर पाते। (२) शरीर में स्वस्थ होते हुए तुम **इळावन्तः**=प्रशस्त वेदवाणीवाले बनकर, अर्थात् उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके **सदं इत्**=सदा ही **आशिताः**=तृप्त **स्थन**=होते हो। ज्ञानतृप्त हुए-हुए आप लोग विषयों की आकांक्षावाले नहीं होते। (२) **रैवत्याः इव**=धन से सम्पन्न से हुए-हुए आप **महसा**=तेजस्विता से **चारवः**=सुन्दर जीवनवाले **स्थन**=हो। ये लोग धन में उलझते तो नहीं, परन्तु निर्धन भी नहीं होते। अनिर्धनता इन्हें घृतलवणतण्डुलेन्धन चिन्ता से मुक्त रखती है और धन का अतिशय इन्हें धन के रक्षणादि में ही लोग ये रखकर गुलाम नहीं बना लेता। इस धन के द्वारा तुम **अध्वरं अजुषध्वम्**=यज्ञ का सेवन करनेवाले होते हो।

भावार्थ—सोम का रक्षक शरीर में सशक्त व सदा ज्ञानतृप्त रहता है। उचित धन के साथ तेजस्वी होता हुआ यह धन के द्वारा यज्ञों का सेवन करनेवाला होता है।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कुचलनेवाला-न कुचला जाता हुआ 'चारवः' की व्याख्या

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः ।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के सोमरक्षक पुरुष **चारवः**=सुन्दर जीवनवाले होते हैं। उस सुन्दर जीवन ही की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि ये **तृदिला**=(tread upon, trample upon) कामादि शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं, **अतृदिलासः**=उन शत्रुओं से ये कुचले नहीं जाते। इसी कारण **अद्रयः**=आदरणीय जीवनवाले होते हैं **अश्रमणाः**=ये कार्य करते हुए थक नहीं जाते, कार्यों में ये आनन्द का अनुभव करते हैं। **अशृथिताः**=कभी शिथिल नहीं होते, शतशः विघ्न भी इन्हें ढीला नहीं कर पाते। **अमृत्यवः**=ये रोगादि के कारण असमय में मृत्यु का शिकार नहीं होते। **अनातुराः**=मन में किसी प्रकार की आतुरता-व्याकुलता से रहित होते हैं, **अजराः स्थ**=सदा अजीर्ण शक्ति होते हैं। (२) अजीर्ण शक्ति होते हुए ये **अमविष्णवः**=(अमगतौ, विष्-व्याप्तौ) व्यापक कर्मोंवाले होते हैं, सदा कर्मों में व्याप्त रहते हैं। कर्मों में व्याप्त रहने के कारण **सुपीवसः**=खूब हृष्ट-पुष्ट होते हैं। (३) **अतृषिताः**=सांसारिक विषयों की तृषा से ये ऊपर उठ जाते हैं, इन विषयों की इन्हें प्यास नहीं रहती। **अतृष्णजः**=सब सांसारिक ऐश्वर्यों की स्पृहा से भी ये दूर होते हैं। धनवाले होते हुए भी ये धन के भाँति लालचवाले नहीं होते।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुषों का जीवन मन्त्र वर्णित प्रकार से अत्यन्त सुन्दर बनता है।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पितरः

ध्रुवा एव वः पितरो युगेयुगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः ॥ १२ ॥

(१) वः=तुम्हारे में पितरः=सोमरक्षण के द्वारा पितृपद को प्राप्त हुए-हुए लोग ध्रुवाः एव=ध्रुव वृत्ति के ही होते हैं। ये अपनी मर्यादाओं व व्रतों को कभी नहीं तोड़ते। क्षेमकामासः=सब प्रजाओं के क्षेम की कामनावाले होते हुए ये लोग युगे युगे=समय-समय पर सदसः न=सभाओं की तरह युञ्जते=इकट्ठे होते हैं। जैसे सभाओं में लोग एकत्रित होते हैं, इसी प्रकार ये प्रजाहित की बातों को सोचने के लिए परस्पर मिलकर बैठते हैं। (२) इस प्रकार उत्तम कार्यों में लगे हुए ये लोग अजुर्यासः=कभी जीर्ण नहीं होते। कर्म से इनकी शक्ति बनी रहती है। इन कर्मों को करते हुए ये हरिषाचः=प्रभु से मेलवाले होते हैं। मेलवाले ही क्या? हरिद्रवः=निरन्तर उस प्रभु की ओर चलनेवाले होते हैं। वस्तुतः इन लोकहित के कर्मों को करते हुए ये व्यक्ति प्रभु की सच्ची उपासना को करते हैं। (३) इन कर्मों के साथ ये प्रभु के नामों के उच्चारण से द्यां पृथिवीम्=द्युलोक व पृथ्वीलोक आशुश्रवुः=शब्दायमान कर देते हैं। ये पितर सदा प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं। यह प्रभु नामोच्चारण उनके सामने लक्ष्य दृष्टि को उपस्थित करता है और उन्हें अशुभ वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाली ढाल बन जाता है।

भावार्थ—पितर वे हैं जो धर्ममार्ग पर स्थित हुए-हुए लोकहित की कामना से परस्पर मिलकर विचार करते हैं और प्रभु नाम स्मरण करते हुए निरन्तर प्रभु की ओर बहते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'न मिनन्ति बप्सतः'

तदिद्वदन्त्यद्रयो विमोचने यामन्नञ्जस्पाइव घेदुपब्दिभिः।
वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः पृञ्चन्ति सोमं न मिनन्ति बप्सतः ॥ १३ ॥

(१) अद्रयः=(these who adore) उपासक लोग इत्=निश्चय से तद् वदन्ति=उस प्रभु के नामों का ही उच्चारण करते हैं। यह नामोच्चारण ही उनके विमोचने=विषयों से विमोचन में निमित्त बनता है। इस नामोच्चारण के कारण ही वे विषयों में फँसने से बचे रहते हैं। उपब्दिभिः=इन प्रभु के नामोंच्चारणों से इत् घा=ही निश्चय से ये व्यक्ति यामन्=इस जीवन मार्ग में अञ्जस्पा इव=अपने को ठीक-ठीक रक्षित करनेवाले होते हैं। (अञ्जसापान्ति) (२) इव=जैसे धान्याकृतः=धान्य आदि को उत्पन्न करनेवाले बीज वपन्तः=बीज का वपन (=बोना) करते हैं, इसी प्रकार ये प्रभु नाम-स्मरण करनेवाले लोग गुणों के बीजों को अपने हृदयक्षेत्र में बोते हैं और इस गुणवर्धन के द्वारा हृदयक्षेत्र को सुन्दर बनाते हुए ये लोग सोमं पृञ्चन्ति=उस सोम का, शान्त प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं। (३) ये बप्सतः=भोजनों को करते हुए न मिनन्ति=कभी हिंसा नहीं करते। हिंसालभ्य, मांसादि भोजनों से ये दूर रहते हैं। ये अपने दाँतों को अथर्व के शब्दों में यही प्रेरणा देते हैं कि चावल, जौ, उड़द व तिल का सेवन करो, यही तुम्हारा रमणीयता के लिए भाग नियत है। तुमने हिंसा नहीं करनी, हिंसालभ्य भोजन से दूर ही रहना है।

भावार्थ—उपासक प्रभु का स्मरण करते हैं, यह स्मरण उन्हें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। अपने में गुणों के बीजों को बोते हुए प्रभु से सम्पर्कवाले होते हैं।

ऋषिः—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अद्रयः चायमानाः'

सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीळयो न मातरं तुदन्तः ।
वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषां वि वर्तन्तामद्रयश्चायमानाः ॥ १४ ॥

(१) **सुते**-(सुतं-सवः-यागः) यज्ञों में तथा **अध्वरे**-हिंसारहित निर्माण के कार्यों में **वाचम्**-प्रभु की स्तुति वाणी को **अधि अक्रता**-आधिक्येन करनेवाले होते हैं। प्रभु का खूब ही स्मरण करते हैं, यह प्रभुस्मरण ही इन्हें इन यज्ञों व हिंसारहित कर्मों में सफलता के लिए शक्ति प्राप्त कराता है। (२) ये इन कार्यों को करते हुए **क्रीडयः**-क्रीड़ा करनेवाले होते हैं। सब कार्यों को क्रीड़क की मनोवृत्ति से करते हैं (sportsman like spisit)। यही तो दैवत्य है ('दिव् क्रीडायाम्')। ये अपने व्यवहारों से **मातरम्**-वेदमाता को **न तुदन्तः**-पीड़ित नहीं करते। वेद के निर्देशों के अनुसार ही सब कार्यों को करनेवाले होते हैं। (३) इनकी आत्मप्रेरणा यही होती है कि **सुषुवुषः**-उस संसार को जन्म देनेवाले प्रभु की **मनीषाम्**-बुद्धि को **वि**-विशेषरूप से **सुमुञ्च**-(मुंच् put on) अच्छी प्रकार धारण कर। प्रभु की दी हुई इस वेदवाणी के द्वारा ये अपनी बुद्धि का परिष्कार करते हैं। ऐसे ये **अद्रयः**-उपासक **चायमानाः**-(observe, see, discesn) संसार को तात्त्विक दृष्टि से देखते हुए, इसकी आपातरम्यता में न उलझकर इसकी असलीयत को देखते हुए **वि वर्तन्ताम्**-विविध व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं। इनके सब व्यवहार आसक्ति से ऊपर उठकर होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करें, क्रीड़क की मनोवृत्ति को अपनाकर वेदानुसार क्रियाओं में प्रवृत्त हों। प्रभु की बुद्धि को धारण करें। संसार को तात्त्विक दृष्टि से देखते हुए कार्यों को करें।

सम्पूर्ण सूक्त 'प्रभु-स्मरण के साथ क्रियाओं को करने' की भावना से ओतप्रोत है। इसी प्रकार हम वासनाओं का संहार करनेवाले 'अर्बुद' बनते हैं, प्रभु को पुकारनेवाले 'काद्रवेय' होते हुए, निरन्तर क्रियाशील 'सर्प' होते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति ही गृहस्थ होने पर 'पुरुरवा ऐड' व 'उर्वशी' होते हैं। **पुरुरवाः**-खूब ही प्रभु के स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाला, **ऐड**-(इडायाः अयम्)=वेदवाणी को अपनानेवाला अथवा (इडा=अन्न) अन्न को जुटानेवाला। पति को अन्न जुटानेवाला होना ही चाहिए। पत्नी 'उर्वशी' है 'उरु वशोयस्याः'=अपने पर खूब काबू पानेवाली और अतएव घर पर पूर्ण नियन्त्रण रखनेवाली। इसीलिए तो पत्नी 'साम्राज्ञी' है। अगला सूक्त इन्हीं का है। पहले 'पुरुरवा' कहते हैं—

अथाष्टमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

[९५] पञ्चनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पति की कामना

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु ।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन् ॥ १ ॥

(१) **हये**-(हयति to worship) हे उपासना की वृत्तिवाली, **जाये**-उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली, **घोरे**=उदात्त चरित्रवाली तू **मनसा तिष्ठ**=पूरे दिल से इस घर में रहनेवाली हो। पत्नी की तीन विशेषताएँ 'हये-जाये-घोरे' इन सम्बोधनों से सुव्यक्त हो रही हैं। इसने अब माता-पिता

का स्मरण न करते हुए इस पतिगृह में पूरे दिल से स्थित होना है। यही तो इसका वास्तविक घर है, पहला घर तो इसकी माता का घर था। उस घर को माताजी ने बनाया था, इसे अब यह स्वयं बनाएगी। (२) नु-अब हम वचांसि-परस्पर की बातों को मिश्रा कृणवावहै-एक दूसरे से मिश्रित करनेवाले हों। घर के विषय में सब बातें सोच लें। भोजनादि की व्यवस्था को सलाह करके ठीक-ठाक कर लें, यह बातचीत थोड़े बहुत विनोद (relaxation) का भी साधन बनती ही है। (३) नौ-हमारे एते मंत्राः-ये प्रभु की स्तुति के साधनभूत मन्त्र अनुदितासः न-अनुचरित न हों। हम मिलकर प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करें। ये मन्त्र परतरे चन अहन्-जीवन के पिछले दिनों में भी, वृद्धावस्था में भी, प्रारम्भ के रोमान्स के वर्षों के बीत जाने पर भी मयः करन्-हमारा कल्याण करनेवाले हों। ये मन्त्र हमारे लिये मार्गदर्शक हों, यह स्तवन हमारे में शक्ति व उत्साह का संचार करनेवाला हो।

भावार्थ—पति चाहता है कि पत्नी (क) उपासना की वृत्तिवाली, (ख) उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली तथा (ग) उदात्त स्वभाववाली हो। पति-पत्नी घर के विषय में सलाह करके चलें। प्रातः-सायं प्रभु-स्मरण अवश्य करें।

ऋषिः—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा एळ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पत्नी की कामना

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वातइवाहमस्मि ॥ २ ॥

(१) पत्नी उत्तर देती हुई कहती है कि तव एता वाचा-आपकी इस घर के प्रबन्ध के विषय की बातों से अहं किं कृणवा-मैं क्या करूँगी? मैं अनपढ़ थोड़े ही हूँ? ऋतु के अनुसार भोजनादि की व्यवस्था को मैं स्वयं समझती हूँ। उषसाम्-उषाकालों के भी अग्रिया इव-आगे चलनेवाली-सी मैं प्राक्रमिषम्-प्रकृष्ट पुरुषार्थ में लग जाती हूँ। बातों का मुझे अवकाश भी कहाँ है? (२) पुरूरवः-खूब ही प्रभु का स्मरण करनेवाले आप घर के बाहर की व्यवस्था को सम्भालनेवाले होइये। घर के संचालन के लिए धनार्जन आपने करना है, सो घर पर बैठकर क्या भोजन बनाना है और क्या नहीं ऐसी बातों आपको शोभा भी तो नहीं देती। हाँ, अपना कार्य करने के बाद पुनः-फिर अस्तं परेहि-घर में आप वापिस आनेवाले होइये। वहाँ से इधर-उधर क्लब आदि में जाने का कार्यक्रम न रखिये। (३) अपनी अनुपस्थिति में मेरी रक्षा की भी आपने चिन्ता नहीं करनी। अहम्-मैं तो वात इव-वायु की तरह दुरापना अस्मि-किसी भी अशुभाचरण पुरुष से कठिनता से प्राप्त करने योग्य हूँ। कोई भी मेरा धर्षण नहीं कर सकता। मैं नाजुक न होकर 'उताहमस्मि संजया'-वीर हूँ, सदा जीतनेवाली हूँ। मैं अपनी रक्षा ठीक से कर सकूँगी। इधर से निश्चिन्त होकर आपने अपना कार्य ठीक से करनेवाला बनना।

भावार्थ—पत्नी प्रातः से ही घर के कार्यों में व्यस्त हो जाए। वह गृहकार्यों के लिए इतनी समझ रखती हो कि पति को कुछ कहने की आवश्यकता न हो। वह वीर हो स्वयं अपनी रक्षा कर सके। पति अवकाश मिलते ही घर पर आएँ, क्लब आदि में मनोरञ्जन को न ढूँढ़ें।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पत्नी के द्वारा प्रेम पूर्ण स्वागत का महत्त्व

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥ ३ ॥

(१) उर्वशी ने यह तो कह दिया कि 'कार्य समाप्ति पर एकदम घर ही आना'। पर साथ ही यह जो संकेत किया कि कार्य संलग्न होने से बातचीत की उसे फुर्सत नहीं। सो पति घर पर आकर करे भी क्या? दिनभर के कार्यभार से थका-मादा वह घर पर पहुँचे, वहाँ उसके साथ मधुर शब्दों में कोई बात भी न करे तो उसका जीवन स्वभावतः नीरस (dull and dreary) हो जाता है। वह कहता है कि इस स्थिति को प्राप्त एक क्षत्रिय नवयुवक के **इषुधेः**-तर्कस से **इषुः**-बाण **श्रिये**-शत्रुविजय रूप श्री की प्राप्ति के लिए **असना न**-(असु क्षेपणे) फेंकने के लिए नहीं होता। अर्थात् वह पत्नी के शीत स्वागत (cold reception) से उत्पन्न उस मानस विक्षोभ के कारण शत्रुओं पर बाणवर्षा नहीं कर पाता। (२) इसी प्रकार यदि वह वैश्य युवा होता है तो **रंहिः**-पहले अत्यन्त वेगवान् होता हुआ भी अब शैथिल्य के कारण **गोषाः**-गवादि धनों को प्राप्त करनेवाला अथवा **शतसाः**-सैकड़ों धनों को प्राप्त करनेवाला **न**-नहीं होता। उसे धन कमाने में उत्साह नहीं रहता। पत्नी का प्रेमपूर्ण व्यवहार ही उसके उत्साह को कायम रख सकता है। (३) यदि ऐसा युवक ब्राह्मण होता है तो कहता है कि **अ-वीरे**-(यज्ञाग्नि=वीर) यज्ञाग्नि से रहित **क्रतौ**-यज्ञों में **न विदविद्युतन्**-यज्ञाग्नियाँ दीप्त नहीं होती। अर्थात् उसका 'यजन-याजन' का उत्साह मन्द पड़ जाता है। (४) इस प्रकार के शूद्र युवक भी **धुनयः**-आलस्य को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाले होते हुए भी **उरा**-इस विस्तृत कार्यक्षेत्र में **मायुम्**-स्वामी से दी जाती हुई आज्ञा के शब्द को **न चितयन्त**-नहीं जान पाते। विक्षिप्त मनवाला होने के कारण उन्हें आवाज ही नहीं सुनाई पड़ती। सारे कार्य को वे अनमनेपन से ही करते हैं। (५) इस सबका भाव स्पष्ट है कि पत्नी को घर पर वापिस आये पति का पूर्ण प्रेम से स्वागत करना चाहिए। उनके कार्यों के विषय में बातचीत के द्वारा पूरी रुचि दिखानी चाहिए। कठिनताओं का हल सुझाते हुए उन्हें उत्साहित करना चाहिए। पति को यह अनुभव हो कि वह संसार में अकेला नहीं, कोई उसका साथी है। उसके सुख-दुःख में हिस्सा बटानेवाला उसका कोई अभिन्न मित्र भी है।

भावार्थ—घर पर पत्नी से प्राप्त कराया गया प्रेमपूर्ण स्वागत पति के जीवन में उत्साह का संचार करता है। पति को इस स्वागत से अपना अकेलापन नहीं खलता।

ऋषिः—उर्वशी॥ देवता—पुरूरवा एळः॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उर्वशी का 'स्वागतम्' विचार

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन॥ ४॥

(१) 'पुरुरवा' की गत मन्त्र की बात को सुनकर उर्वशी अपने मन में उषा को सम्बोधन करती हुई इस प्रकार से कहती है कि मुझे केवल पति का ही तो ध्यान नहीं करना, सास-ससुर के सुख को भी तो देखना है। वस्तुतः इन सास-ससुर के तो खान-पान का भी तो बहुत ध्यान करना पड़ता है। ये एक बार तो रजकर खा ही नहीं पाते, उन्हें तो थोड़ा-थोड़ा भोजन कई बार देना होता है और वह भी गरम। ठण्डे का तो उनके लिए चबाना व पचाना ही कठिन हो जाए। उर्वशी कहती है कि हे **उषः**-उषे! तेरे आते ही **सा**-वह मैं **श्वशुराय**-सास व ससुर के लिए (श्वश्रूश्च श्वशुरश्च=श्वशुरौ) **वसुवयः**-निवास के लिए जीवन धारण के लिए उत्तम अन्न को **दधती**-धारण करती हुई होती हूँ। उनके लिए मुझे भोजनादि की व्यवस्था करनी होती है। सो उनके कमरे में ही मेरा बहुत-सा समय बीत जाता है। (२) ऐसा होते हुए भी **यदि**-अगर ये पतिदेव **वष्टि**-चाहते हैं तो मैं **अन्तिगृहात्**-उस समीप के कमरे से (antiechambes) **अस्तम्**-उनकी

गृह कक्षा को ननक्षे-जाती हूँ, यस्मिन् चाकन्-जिसमें कि वे मुझे चाहते हैं। परन्तु होता तो यही है कि मैं दिवानक्तम्-दिन-रात वैतसेन-(cane, stiek) दण्ड से श्नथिता-ताड़ित होती रहती हूँ। कभी ये किसी बात से झाड़ देते हैं, कभी किसी बात से। संसार संघर्षजनित क्रोध को भी ये मेरे पर ही निकालने की करते हैं। इन्हें यह अच्छी तरह पता तो है कि मैं हर समय इनके पास नहीं बैठ सकती, इन वृद्धों की भी तो सेवा करनी ही है।

भावार्थ—उर्वशी अपने मन में सोचती है कि मुझे पति के पास बैठकर बात करने का अवकाश ही कहाँ है। मुझे अन्तिगृह में स्थित सास-ससुर का भी तो ध्यान करना है। ये तो व्यर्थ में ही दिन-रात खीझकर मेरे पीछे डण्डा लेकर पड़े रहते हैं।

ऋषिः—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा एळ ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उर्वशी का (प्रकाशम्) प्रकट उत्तर

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।

पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्व१स्तदासीः ॥ ५ ॥

(१) हे **पुरूरवः**-खूब प्रभु का स्तवन करनेवाले पतिदेव! क्या आप ही **अह्नः त्रिः**-दिन में कम से कम तीन बार **मा**-मुझे **वैतसेन**-वेत्रदण्ड से **श्नथयः स्म**-ताड़ित ही करते हो, **उत स्म**-या निश्चय से **अव्यत्यै मे**-(अवि अती, अत सातत्यगमने) कभी भी इधर-उधर न जानेवाली मेरे लिए घर पर रहकर ठीक से कार्यों में लगी रहनेवाली के लिए **पृणासि**-कुछ मधुर शब्दों से सुख को देनेवाले भी होते हो। (२) उठते ही 'यह करो, यह लाओ' इन शब्दों से आफत-सी कर देना, ऑफिस आदि जाते समय भी 'ये चीज यहाँ क्यों पड़ी है ? क्या मुफ्त में आयी है ?' आदि शब्दों से झाड़ना, फिर वापिस आने पर 'झटपट करो न' आदि शब्दों से मुझे भी उतावली-सा कर देना, यही यहाँ 'तीन बार ताड़ना' शब्द से संकेतित हुआ है। पति को पत्नी के बोझ का ध्यान करते हुए उसके कार्यों की आलोचना न करना ही ठीक है। (३) उर्वशी कहती है कि हे पुरुरवः! मैं तो **ते केतं अनु**-आपके ज्ञान की बात को सुनने के बाद **आयम्**-आपकी संगिनी बनकर इस घर में आयी। **वीर**-हे वीर पुरुषोचित कर्मों के करनेवाले पुरुरवः! **तदा**-तब, जब कि मैंने आपके ज्ञान की चर्चा सुनी, तो **मे तन्वः**-मेरे शरीर के **राजा आसीः**-आप राजा हो गये थे। मैंने मन से अपने को आपके प्रति सौंप दिया था। मुझे आपके इस प्रकार क्रुद्ध हो जाने का ज्ञान न था। प्रभु स्तवन करनेवाला वीर पुरुष क्रोध कर भी कैसे सकता है ? (४) उर्वशी के इस प्रकार कहने का पुरुरवा पर सुन्दर प्रभाव पड़ता है और पुरुरवा कहते हैं—

भावार्थ—उर्वशी पति से कहती है कि आप तो यूँही क्रोध करने लगते हो। मैं क्या इधर-उधर कभी व्यर्थ में जाती हूँ ? काम में ही तो लगी रहती हूँ। मैंने जरा बात नहीं की तो क्या प्रलय आ गयी ? आप 'पुरुरवः' हैं, 'वीर' हैं, सो क्यों क्रोध करना ?

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पत्नी की विशेषताएँ

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्रदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः।

ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त ॥ ६ ॥

(१) उर्वशी के क्रोध को शान्त करते हुए पुरुरवा कहते हैं कि हे उर्वशि! तुम तो मेरे लिये वह हो **या**-जो (क) **सुजूर्णिः**-(सुजवा सा०) उत्तम वेगवाली, अर्थात् शीघ्रता से कार्यों को

कर देनेवाली है अथवा पूर्ण जरावस्था तक साथ देनेवाली है। (ख) **श्रेणिः**=(श्रि-सेवायाम्) सदा मेरी सेवा में तत्पर है, मेरे वृद्ध माता-पिता की सेवा भी तो मेरी ही सेवा है। (ग) **सुम्ने आपिः**=मेरे स्तोत्रों में तुम मेरा साथ देनेवाली मित्र हो। तुम भी तो मेरे साथ मिलकर प्रभु-स्तवन करती हो, सो तुम्हें भी अपना मानस स्वास्थ्य ठीक रखना है, क्रोध नहीं करना। (घ) **ह्रदे चक्षुः न**=(deep watess) अचानक मेरे गहरे पानी में पड़ जाने पर, मुसीबत आ जाने पर तुम आँख के समान हो। उस कष्ट से निकलने के लिए मार्ग को सुझानेवाली हो। और ऐसी होवो भी क्यों ना? तुम तो **ग्रन्थिनी चरण्युः**=मेरे साथ ग्रन्थि-बन्धनवाली होकर निरन्तर चलनेवाली हो। और इस प्रकार मेरे सुख को अपना सुख व मेरे दुःख को अपना दुःख समझनेवाली हो। (२) **ताः**=उल्लिखित प्रकार से वर्णित गुणोंवाली गृहिणियाँ ही **अञ्जयः**=गृह की भूषण होती हैं **अरुणयः**=ये तेजस्विनी होती है और **न स्तुतः**=मार्ग से कभी विचलित नहीं होतीं। मार्ग से विचलित न होने के कारण ही, **धेनवः गावः न**=दुधार गौवों के समान **श्रिये**=घर की भी वृद्धि के लिए होती है। जैसे दुधार गौवों से घर की शोभा बढ़ती है, इसी प्रकार इन गृहिणियों से भी शोभा की वृद्धि होती है। ऐसा बने रहने के लिए ये **अनवन्त**=सदा प्रभु का स्तवन करनेवाली होती हैं (नु स्तुतौ) और गतिशील होती हैं (नव गतौ)।

भावार्थ—पुरूरवा आदर्श पत्नी के गुणों का चित्रण करते हुए उर्वशी के क्रोध को शान्त करते हैं।

ऋषिः—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा एळ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ग्नाः-नद्यः-स्वगूर्ताः

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः।
महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्धयन्दस्युहत्याय देवाः॥ ७॥

(१) उर्वशी कहती हैं कि हे **पुरूरवः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले पतिदेव! **यत्**=जब **त्वा**=आपको **देवाः**=सब देव **महे रणाय**=महत्त्वपूर्ण इस अध्यात्म संग्राम के लिए, काम-क्रोधादि से चलनेवाले संग्राम के लिए **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं और **दस्युहत्याय**=दास्यव वृत्तियों के नाश के लिए समर्थ करते हैं तो उस समय इस प्रकार **अस्मिन्**=इस पति के **संजायमाने**=सम्यक् विकास-वाला होने पर **आसत**=पत्नियाँ भी ठीक से घर में बैठती हैं, अर्थात् घर में स्थिर होकर रहती हैं। पति के क्रोधादि के वशीभूत होने पर पत्नी का घर पर रहना कुछ कठिन-सा हो जाता है। (२) इस प्रकार शान्त वातावरण में रहती हुई ये पत्नियाँ **ग्नाः**=देवपत्नियाँ होती हैं, इनका ज्ञान प्राप्ति की ओर झुकाव होता है व्यर्थ की गपशप में न पड़कर ये खाली समय को स्वाध्याय में बिताती हैं। यह स्वाध्याय उनमें दिव्यता की वृद्धि का कारण बनता है। पति देव बनेगा, तो पत्नी देवपत्नी होगी ही। **उत**=और इस प्रकार की पत्नियाँ **ईम्**=निश्चय से **अवर्धन्**=पति की भी वृद्धि का कारण बनती हैं। **नद्यः**=(नदिः=स्तोता) ये प्रभु स्तवन की वृत्तिवाली होती हैं और **स्वगूर्ताः**=अपने कार्यों में उद्यमनवाली बनती हैं, अपने सब कार्यों को श्रम से करती हुई उन कार्यों में ही आनन्द का अनुभव लेती हैं।

भावार्थ—पति क्रोधी न हों तो पत्नी 'स्वाध्यायशील-स्तवन की वृत्तिवाली व स्वकर्मनिपुण' बनती है। इससे घर सुन्दर बनता है, वह बढ़ता चलता है।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रियाशीलता को न छोड़ना

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे।
अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन्रथस्पृशो नाश्वाः ॥ ८ ॥

(१) पुरुरवा कहते हैं कि स्त्री को भी अपना सौम्य मानुषरूप छोड़ना नहीं चाहिए। इसके छोड़ने पर पुरुष उसको कितनी भी अनुकूलता का सम्पादन करने का प्रयत्न करे, वो पुरुष से दूर ही हटती जाती हैं (उससे बिदक-सी जाती हैं। **यदा**=जब **आसु**=इन स्त्रियों के **आकम्**=(आ सातत्यगमने) निरन्तर क्रियाशीलता के स्वभाव को **जहतीषु**=छोड़ते हुए होने पर और इस प्रकार आराम व विषयों में फँस जाने पर **अमानुषीषु**=अमानुष व क्रूर स्वभाववाला हो जाने पर **मानुषः**=एक मनुष्य **सचा**=इनके साथ रहनेवाला होकर, इनका जीवन सखा बनकर **सिषेवे**=सब प्रकार से इनकी सेवा करता है, तो भी यह स्त्री **भुज्युः**=तृण चरती हुई **तरसन्ती न**=मृगी के समान **मत्**=मेरे से **अप स्म**=डरकर दूर भागती है। **ताः**=वे तो इस प्रकार **अत्रसन्**=उद्विग्न होकर दूर हटने की करती हैं **न**=जैसे कि **रथस्पृशः अश्वाः**=रथ का स्पर्श करनेवाले **अश्वाः**=घोड़े। रथ में जोते जाते हुए घोड़े बिदक उठते हैं। इसी प्रकार ये स्त्रियाँ कार्य के उपस्थित होने पर उद्विग्न हो उठती हैं। वे कार्य न करके आराम में रहती हैं, क्रोध के स्वभाववाली होकर पुरुष के लिए परेशानी का कारण बनती हैं।

भावार्थ—स्त्री क्रियाशील बनी रहकर क्रोध आदि से ऊपर उठी रहे। तभी वह पति के साथ अनुकूलता से चल पाती है।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'पति का प्रेम' व 'पत्नी का उत्साह'

यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते।
ता आतयो न तन्वः शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दन्दशानाः ॥ ९ ॥

(१) उर्वशी कहती है कि **यदा**=जब **मर्तः**=मनुष्य **अमृतासु**=वैषयिक वस्तुओं के पीछे न मरकर केवल पति के प्रेम को चाहनेवाली **आसु**=इन पत्नियों में **निस्पृक्**=निःशेषेण (adhese) सम्पर्कवाला होता है, जब वह **क्षोणीभिः**=(क्षु शब्दे)=(वाग्भिः सा०) वाणियों से, **न**=इसी प्रकार **क्रतुभिः**=कर्मों से या संकल्पों से **संपृङ्क्ते**=पत्नी के साथ ही सम्पर्कवाला होता है, अर्थात् 'मनसा वाचा कर्मणा' वह पत्नी का ही हो जाता है, और जब उसका प्रेम किसी अन्य स्त्री के लिए नहीं होता, तब **ताः**=वे पत्नियाँ **आतयः न**=आति नामक सुन्दर पंखोंवाले पक्षी के समान **स्वाः तन्वः शुम्भत**=अपने शरीरों को शोभित करती हैं। वे प्रसन्न मनोवृत्तिवाली होती हैं और यह प्रसन्नता उनकी वेशभूषा में प्रकट होती है। 'आतयः' शब्द में क्रियाशीलता की भी भावना है। उनका जीवन खूब उत्साहपूर्वक कर्मों में लगा हुआ होता है। पति का प्रेम उनके जीवन में स्फूर्ति का संचार करता है। (२) ये **दन्दशानाः**=जिह्वा से ओष्ठप्रान्तों को काटते से हुए **अश्वासः न**=शक्तिशाली घोड़ों के समान **क्रीडयः**=सारे कार्यों को क्रीड़क की मनोवृत्ति से करनेवाली होती हैं। शक्तिशाली घोड़ा आलस्यमय स्थिति में खड़ा नहीं रह सकता। ये गृहिणियाँ भी उस प्रेम के वातावरण में शक्ति व स्फूर्ति का अनुभव करती हैं और पूर्ण उत्साह से गृहकार्यों में व्यापृत रहती हैं।

भावार्थ—पति का पूर्ण प्रेम प्राप्त करने पर पत्नी का हृदय उत्साह से पूर्ण होता है और स्फूर्ति-

सम्पन्न होकर ये गृह कार्यों में व्याप्त होती हैं।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम पुत्र व माता का दीर्घ-जीवन

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥ १० ॥

(१) पुरूरवा कहते हैं पति का प्रेम पूर्णतया पत्नी के लिए होना चाहिए। पत्नी को भी चाहिए कि वह पति के लिए काम्य (=इष्ट) कर्मों को करती हुई पति के लिए प्रिय बने। दोनों के पारस्परिक प्रेम के होने पर ही इष्ट सन्तान की उत्पत्ति होगी, यही पत्नी के दीर्घजीवन का भी मार्ग है। प्रेम के अभाव में प्रसूति कष्ट से माता के जीवन का भी खतरा उत्पन्न हो सकता है। **या**-जो **उर्वशी विद्युत् न**-बिजली की तरह **पतन्ती**-शीघ्रता से गति करती हुई **मे**-मेरे लिए **काम्यानि अप्या**-वाञ्छनीय कर्मसाध्य पदार्थों को **भरन्ती**-प्राप्त कराती हुई है, वह **उ**-निश्चय से उस सन्तान को **जनिष्ट**-जन्म देती है जो **अपः**-कर्मशील है, **नर्यः**-लोकहितकारी होता है अथवा नरों में उत्तम बनता है और **सुजातः**-उत्तम विकासवाला होता है। (२) ऐसे उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली **उर्वशी**-अपने पर पूर्ण संयमवाली (उरु वशो यस्याः) बालक की माता भी **दीर्घं आयुः**-दीर्घ जीवन को **प्रतिरत**-विस्तृत करनेवाली होती है।

भावार्थ—पति पत्नी के लिए पूर्ण प्रेम के होने पर सन्तान उत्तम होती है, माता को भी दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा एळः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पत्नी की बातों को उपेक्षित न करना

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि ॥ ११ ॥

(१) उर्वशी अपने दोहद काल के समय (pregnancy) अपने मातृकुल में चली जाती है। स्पष्ट है कि पुरूरवा से वह प्रसन्न नहीं। पुरूरवा उसे लिवा लाने के लिए आते हैं। तो उर्वशी उपालम्भ देती हुई कहती है कि मैं **विदुषी**-गर्भिणी अवस्था की सब बातों को खूब समझती हुई **समस्मिन् अहन्**-सब दिनों **त्वा**-आपको **अशासम्**-आवश्यक बातें कहती रही, आवश्यक चीजों को जुटाने का संकेत करती रही। (२) मैं यह समय-समय पर कहती ही रही कि आप **इत्था**-इस प्रकार वर्तने से **हि**-निश्चयपूर्वक **गोपीथ्याय**-(गो-भूमि) भूमिरूप स्त्री की रक्षा के लिए (पीथं-रक्षणम्), जिस भूमि में मनुष्य बीज का वपन करते हैं, उसकी रक्षा के लिए, **जज्ञिषे**-होते हैं। हे पुरूरवः! यह भी मैंने आपको कहा कि इस प्रकार आप **तत् मे ओजः**-मेरे उस ओज को, शक्ति को **दधाथ**-स्थिरता से धारण करनेवाले होते हैं। (३) मैंने यह सब कुछ कहा, परन्तु आपने **मे न अशृणोः**-मेरी बात को नहीं सुना। आपने मेरी बातों को मूर्खतापूर्ण समझा और ध्यान नहीं दिया। सो अब **अभुक्**-न पालन करनेवाले **किं वदासि**-क्या व्यर्थ में कहते हैं! ये सब बातें व्यर्थ हैं, अब मेरा विचार यहीं रहने का है।

भावार्थ—दोहदकाल में पत्नी की इच्छाओं का विशेषरूप से पूरण आवश्यक है। सामान्यतः 'पत्नी को गृह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कभी परेशानी न उठानी पड़े' यह पति का आवश्यक कर्त्तव्य है।

ऋषि:—पुरूरवा ऐळ: ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

सन्तानों का पितृगृह में ही जन्म लेना

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन्।
को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत्॥ १२॥

(१) पुरूरवा कहते हैं कि **कदा**-कब **सूनुः**-पुत्र **जातः**-उत्पन्न हुआ-हुआ **पितरं इच्छात्**-पिता को चाहता है? वस्तुत: यह बात स्वाभाविक है कि वह पितृकुल में उत्पन्न होगा तो पिता के प्रति स्नेहवाला होगा। पर मातृकुल में उत्पन्न होने पर उसका स्नेह कुछ 'नाना नानी' से अधिक हो जाएगा। (२) यह सन्तान **विजानन्**-कुछ ज्ञानवाला होने पर, अपने माता-पिता के कुछ फटाव को अनुभव करता हुआ, **चक्रन्**-दिल ही दिल में क्रन्दन करता हुआ यह **अश्रु न वर्तयत्**-यह आँसू ही न बहाता रहे। इस सब बात का ध्यान करते हुए उर्वशी को पतिगृह में चले ही आना चाहिए। (३) **अध**-अब **यद्**यदि **अग्निः श्वशुरेषु दीदयत्**-मेरे पुत्र के संस्कारों के समय दीप्त होनेवाली अग्नि मेरे श्वशुर कुलों में ही दीप्त हो, तो यह **कः**-आनन्द वृद्धि का कारणभूत पुत्र भी **समनसा**-समान व संगत मनवाले भी **दम्पती**-पति पत्नी को **वियूयोत्**-पृथक् कर देनेवाला हो जाएगा। सो यही ठीक है कि तुम मेरे साथ चली चलो। और अपने ही घर में यह हमारा सन्तान हो।

भावार्थ—यदि सन्तान बच्चे के पिता के श्वशुर कुल में जन्म लेंगे तो उनका प्रेम नाना-नानी की ओर ही रहेगा।

ऋषि:—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा ऐळ: ॥ छन्द:—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

सन्तान पर अधिकार पिता का

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्ये शिवायै।
प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः॥ १३॥

(१) गत मन्त्र की बात सुनकर उर्वशी कहती है कि **प्रति ब्रवाणि**-मैं आपकी बात का उत्तर इन शब्दों में देती हूँ कि यह आपका पुत्र **चक्रन्**-क्रन्दन करता हुआ **अश्रु न वर्तयते**-आँसू नहीं बहायेगा। यदि रोयेगा तो **आध्ये शिवायै**-किसी आध्यात शिव वस्तु के लिए ही तो रोयेगा। उस वस्तु की इसे यहाँ कमी न रहेगी और यह रोयेगा क्यों? (२) और यह भी है कि **यत्**-जो **ते**-आपका **अस्मे**-हमारे पास ऋण के रूप में है **तत्**-उसे **ते**-तेरे प्रति **प्रहिनवा**-मैं अवश्य भेज दूँगी। आपका पुत्र आपके पास पहुँच जाएगा। **अस्तं परेहि**-आप घर को लौट जाइये। हे **मूर**-नासमझी की बात करनेवाले! आप अब **मा**-मुझे **नहि आपः**-नहीं प्राप्त कर सकते।

भावार्थ—यदि पति पत्नी जुदा ही हो जाते हैं, तो सन्तान पिता की ही है।

ऋषि:—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा ऐळ: ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

पुरुरवा की शपथें (नारी का समादर)

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥ १४॥

(१) उर्वशी की गत मन्त्रोक्त अन्तिम बात को सुनकर पुरुरवा शपथ खाकर अपनी निर्दोषता को प्रमाणित करता है। उसका अभिप्राय यह है कि व्यर्थ में कुछ भ्रान्ति (गलतफहमी) हो गई

है। वास्तव में कोई ऐसी बात ही नहीं। वह कहता है कि यदि मैंने तुम्हारी बातों पर जानबूझकर ध्यान न दिया हो तो **अद्य**-आज **सुदेवः**-तुम्हारे साथ उत्तम क्रीड़ा करनेवाला भी **अनावृत्**-आवरण से रहित हुआ-हुआ, सिर छुपाने के स्थानभूत गृह से रहित हुआ-हुआ **प्रपतेत्**-भटकनेवाला है। मेरे भाग्य में भटकना ही भटकना लिखा हो। (२) **उ**-और **परमां परावतं गन्तवा**-(दूरादपि दूरदेशं गन्तुं-महाप्रस्थानयात्रां कर्तुं) वह व्यक्ति दूर से दूर देश में जानेवाला हो अर्थात् महाप्रस्थान यात्रा को करनेवाला बने। (३) **अधा**-अब यह व्यक्ति **निर्ऋतेः उपस्थे**-दुर्गति की गोद में **शयीत**-सोनेवाला हो। अधिक से अधिक दुर्गति को प्राप्त हो। (४) **अध**-और **एनम्**-इसे **रभसासः**-बड़े जबर्दस्त, खूँखार **वृकाः**-भेड़िये **अद्युः**-खा जाएँ। जानबूझकर तुम्हारा यदि मैंने अपमान किया हो तो मुझे भूखे भेड़िये अपना भोजन बना डालें। इस प्रकार शपथपूर्वक अपनी निर्दोषता को कहता हुआ पुरुरवा उर्वशी को अनुनीत करना चाहता है।

भावार्थ—पत्नी का तिरस्कार करनेवाला (क) भटकता है, (ख) मृत्यु को प्राप्त होता है, (ग) दुर्गति को भोगता है, (घ) भूखे भेड़ियों का भोजन बनता है।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उर्वशी का उपालम्भ

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥ १५ ॥

(१) पुरुरवा की शपथें सुनकर उर्वशी कहती है कि हे **पुरुरवाः**-बहुत बात करनेवाले (रु शब्दे) **मा मृथाः**-आप मरिये नहीं। **मा प्रपप्तः**-दुर्गति में भी न गिरिये। **उ**-और **त्वा**-आपको **अशिवासः**-अकल्याणकारी **वृकासः**-भेड़िये **माक्षन्**-मत खायें। आपको ऐसी आपत्तियाँ क्यों आयें? (२) कुछ उपालम्भ के स्वर में उर्वशी कहती है कि **स्त्रैणानि सख्यानि**-स्त्रियों की मित्रताएँ तो **वै**-निश्चय से **न सन्ति**-होती ही नहीं। 'एता-ये तो **हृदयानि**-हृदय **सालावृकाणाम्**-बन्दरों के हैं, अर्थात् अत्यन्त चंचल हैं' ये शब्द उर्वशी अपने हृदय की ओर इशारा करती हुई कहती है। (३) वस्तुतः उर्वशी को कहीं से ऐसा सुन पड़ा कि पुरुरवा ऐसा कहते थे कि 'स्त्रियों की क्या मित्रता, ये तो बड़े चञ्चल हृदय की होती हैं'। बस तभी से उर्वशी का मन फट गया। अन्य घटनाएँ भी उसे इसी विचार की पोषक प्रतीत हुईं और वह अपने मातृगृह को चली गई।

भावार्थ—'पत्नी के विषय में किसी अन्य व्यक्ति से आलोचनात्मक शब्द कहना' वैमनस्य का सबसे बड़ा कारण होता है।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भोजनाच्छादन की कमी

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादिवेदं तातृपाणा चरामि ॥ १६ ॥

(१) मूलभूत बात को कहने के बाद उर्वशी अन्य बातों को भी कह डालती है। **यद्**-यद्यपि **मर्त्येषु**-मनुष्यों के एकत्रित होने के स्थलों में (=उत्सवों में) मैं कपड़ों के ठीक न होने से **विरूपा**-हीनरूपवाली होती हुई, भद्दी प्रतीत होती हुई **अचरम्**-विचरती रही, तो भी मैं **चतस्रः शरदः रात्रीः अवसम्**-पूरे चार वर्षों के दिनों वहाँ पतिगृह में रहती रही। (२) **घृतस्य स्तोकम्**-घी का थोड़ा-सा अंश और वह भी **अह्नः सकृत्**-दिन में एक बार **आश्नाम्**-मैं खाती

रही। तात् एव=(तेन एव) उतने से ही तातृपाणा=तृप्त-सी हुई-हुई इदं चरामि=मैं इस घर में विचरती रही इन सब बातों को तो मैंने सहा। परन्तु बदनामी को सहना कठिन हुआ, सो यहाँ चली आई।

भावार्थ—पति को पत्नी के लिए भोजनाच्छादन की समुचित व्यवस्था का तो व्रतरूप में पालन करना चाहिए।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरुरवा का उत्तर

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥ १७ ॥

(१) पुरूरवा उर्वशी की बातों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि मैं **वसिष्ठः**=वाणी पर पूर्ण प्रभुत्व को रखनेवाला मुँह से व्यर्थ की बातों को न निकालनेवाला, **उर्वशीम्**=तुझ उर्वशी को, अपने पर नियन्त्रण रखनेवाली को **उप शिक्षामि**=अपने समीप कर सकने की कामना करता हूँ (शक्तिः सन्नन्तः)। तू तो **अन्तरिक्ष-प्राम्**=मेरे हृदयान्तरिक्ष का पूरण करनेवाली है, मेरे हृदय तेरे सिवाय किसी और के लिए स्थान नहीं। **रजसः विमानीम्**=तू मेरे रञ्जन व अनुराग का विशेषरूप से निर्माण करनेवाली है। तेरे विषय में मैं कुछ अशुभ शब्द कहूँ यह सम्भव ही कैसे हो सकता है? तुझे ऐसी बातों पर विश्वास न करना चाहिए। (२) **त्वा**=तुझे **सुकृतस्य**=उत्तम मार्ग से कमाये हुए धन का **रातिः**=देनेवाला यह पुरूरवा **उपतिष्ठात्**=उपस्थित हो। अर्थात् खान-पान-भोजनाच्छादन की समस्या तो इस स्थिति में पैदा ही नहीं हो सकती। मैं तो कमानेवाला ही हूँगा, जोड़ना खर्चना तो होगा ही तुम्हारा काम। सो **निवर्तस्व**=अब लौट चलो। **मे हृदयं तप्यते**=मैं सचमुच दिल में बड़ा सन्तप्त हूँ। इस सारी बात का ध्यान करके तुम्हें लौट ही चलना चाहिए।

भावार्थ—पति को पत्नी ही प्रिय हो। वह कमाने और पत्नी खर्चे व जोड़े। इस प्रकार दोनों घर को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा ऐळः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

घर को स्वर्ग बनाना

इति त्वा देवा इम आहुरैळ यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे ॥ १८ ॥

(१) हे **ऐड**=इडा अर्थात् वेदवाणी को अपनानेवाले पुरुरवः! **इमे देवाः**=ये मेरे माता-पिता आदि देव **त्वा**=आपको **इति आहुः**=यह ही तो कहते हैं कि 'व्यर्थ की बदनामी न की जाये और खान-पान आदि की परेशानी न हो'। आपने वही ध्यान रखना कि **यथा**=जिससे **ईम्**=निश्चयपूर्वक **एतद् भवसि**=आप ऐसे ही होते हो। अर्थात् आप जैसा इस समय कह रहे हैं, उन बातों को आप फिर भूल न जाएँ। यह भी स्मरण ही रखना चाहिए कि **मृत्युबन्धुः**=(भवसि) आप मृत्यु को बान्धनेवाले होते हो। अर्थात् उचित व्यवस्था के द्वारा रोगादि को घर से दूर रखते हो। परस्पर वैमनस्य के होने पर तो चिन्ता के कारण ही शरीर रोगी रहने लगता है। (२) पति-पत्नी परस्पर प्रेमवाले होते हुए नीरोग जीवनवाले होते हैं और तब उनके सन्तानों पर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है उर्वशी कहती है कि **ते प्रजा**=आपकी सन्तान **देवान्**=देवों का **हविषा यजाति**=हवि के द्वारा उपासन करती है। देवयज्ञ की वृत्तिवाली बनकर घर के वातावरण को बड़ा पवित्र बनाती है।

उ=और उस समय त्वं अपि=आप भी स्वर्गे=स्वर्ग में मादयासते=आनन्द का अनुभव करते हैं। घर स्वर्ग-सा बन जाता है और वहाँ सुख ही सुख होता है।

भावार्थ—पति-पत्नी के जीवन में सामञ्जस्य के होने पर ही सन्तान यज्ञिय वृत्तिवाली होती है और घर स्वर्गतुल्य बना रहता है।

इस सम्पूर्ण सूक्त में 'पति-पत्नी का कैसे समन्वय हो सकता है, किन बातों से परस्पर वैमनस्य हो जाता है, पति का क्या कर्त्तव्य है' इत्यादि बातों का जीवित जागरित रूप में सुन्दर वर्णन हुआ है। यदि हम जीवन को सुन्दर बना पाएँगे, तो प्रभु का वरण करनेवाले 'बरु' बनेंगे यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह सबके दुःखों का निवारण करनेवाला बनने से 'सर्व हरि' है, इन्द्र का सच्चा उपासक होने से 'ऐन्द्र' है। यह प्रभु का आराधन करता हुआ कहता है—

[९६] षण्णवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु से दिये गये 'इन्द्रियाश्व'

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म्।

घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिरः॑ ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! मैं महे विदथे=इस महान् ज्ञानयज्ञ में ते=आपके इन मेरे लिए दिये हुए हरी=कर्मेन्द्रिय-पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकरूप अश्वों को प्रशंसिषम्=प्रशंसित करता हूँ। ये अश्व सचमुच इस शरीर-रथ को खैंचकर लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाने में अद्भुत क्षमता रखते हैं। एक-एक इन्द्रियाश्व की रचना अद्भुत ही है। (२) मैं वनुषः=मेरे कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले ते=आप से हर्यतम्=अत्यन्त कमनीय मदम्=मद व हर्ष को प्रवन्वे=प्रकर्षेण माँगता हूँ। मुझे आपकी प्राप्ति का अवर्णनीय आनन्द अनुभव करने का अवसर प्राप्त हो। (३) यः=जो आप घृतं न=घृत के समान हरिभिः=इस इन्द्रियाश्वों के द्वारा चारु=सौन्दर्य को सेचते=हमारे में सिक्त करते हैं। घृत शरीर में आंतों की शुष्कता को दूर करके कोष्ठबद्धता को नष्ट करता है तथा जाठराग्नि को दीप्त करता है, इसी प्रकार प्रभु ज्ञानाग्नि के द्वारा वासना के मलों को दग्ध कर देते हैं और मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञान-सूर्य से दीप्त करते हैं। उस हरिवर्पसम्=सूर्यसम ज्योतिर्मय त्वा=आपको गिरः आविशन्तु=हमारी स्तुति-वाणियाँ प्राप्त हों। हम वेदवाणियों द्वारा आपका स्तवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु ने हमें अद्भुत इन्द्रियरूप अश्व प्राप्त कराये हैं। इनके द्वारा हमारा जीवन सुन्दर बनता है। उस प्रभु का ही हम स्तवन करें।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रकाशयुक्त बल

हरिं॒ हि योनि॑म॒भि ये स॒मस्व॑रन्हि॒न्वन्तो॒ हरी॑ दि॒व्यं यथा॒ सदः॑।

आ यं पृ॒णन्ति॒ हरि॑भि॒र्न धे॒नव॒ इन्द्रा॑य शू॒षं हरि॑वन्तमर्चत ॥ २ ॥

(१) ये=जो भी उपासक हि=निश्चय से उस योनिम्=सबके मूल उत्पत्ति-स्थान हरिम्=सबके दुःखों का हरण करनेवाले प्रभु के समस्वरन्=नामों का उच्चारण करते हैं, वे इस प्रकार हरी=इन्द्रियाश्वों को हिन्वन्तः=प्रेरित करते हैं यथा=जिससे दिव्यं सदः=उस प्रकाशमय प्रभु के स्थान को (Divere seat) प्राप्त होते हैं। उस दिशा में ही इनके इन्द्रियाश्व प्रेरित होते हैं, जिस

दिशा में चलते हुए वे इस प्रकाशमय स्थान को प्राप्त करानेवाले बनते हैं। (२) नः च-और यम्-जिसको (न इति चार्थे) धेनवः-ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियाँ हरिभिः-ज्ञान की रश्मियों से पृणन्ति-(delight) प्रसन्न करती हैं, अर्थात् जो वेदवाणियों का अध्ययन करता है और उन वाणियों से ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके आनन्द का अनुभव करता है। उस इन्द्राय-(इन्द्रस्य सा०) जितेन्द्रिय पुरुष के हरिवन्तम्-प्रशस्त ज्ञानरश्मियोंवाले शूषम्-शत्रु शोषक बल को अर्चत-सत्कृत करो। इसके प्रकाशमय बल के अर्चन से हमारे में भी इसके मार्ग पर चलने की वृत्ति उत्पन्न होगी और उस मार्ग पर चलते हुए हम भी प्रकाशयुक्त बल को प्राप्त करनेवाले होंगे।

भावार्थ—हम उन व्यक्तियों के प्रकाशमय बल का अर्चन करें जो (क) प्रभु को 'हरि योनि' नाम से स्मरण करते हैं, (ख) अपने इन्द्रियाश्वों को प्रभु के दिव्य-स्थान की ओर प्रेरित करते हैं, (ग) ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियों की ज्ञानरश्मियों में आनन्द अनुभव करते हैं। वस्तुतः इन वाणियों में आनन्द अनुभव करने के कारण ही वे ज्ञान व बल को प्राप्त कर सकते हैं।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

हरिमन्युसायक

सो अ॒स्य॒ वज्रो॒ हरि॑तो॒ य आ॑य॒सो हरि॒र्निका॑मो॒ हरि॒रा गभ॑स्त्योः।

द्यु॒म्नी सु॑शि॒प्रो हरि॑मन्युसायक॒ इन्द्रे॒ नि रू॒पा हरि॑ता मिमिक्षिरे॥ ३॥

(१) सः-वह अस्य-इस जितेन्द्रिय पुरुष का यः-जो वज्रः-क्रियाशीलतारूप वज्र है, वह हरितः-सूर्य-किरणों के समान इसे उज्ज्वल बनानेवाला है (हरित्-a horse of the sun), आयसः-लोहे के समान दृढ़ शरीरवाला करता है। (२) इस क्रियामय जीवन में हरिः-सब दुःखों का हरण करनेवाला प्रभु ही निकामः-इसके लिए नितरां चाहने योग्य होता है। ये कर्त्तव्य बुद्धि से कर्मों को करता है, सब सांसारिक फलों की कामना से ऊपर उठा हुआ 'अ-क्रतु' बनता है, एक मात्र प्रभु प्राप्ति के संकल्पवाला होता है। परिणामतः इसके लिए वे हरिः-दुःखों का हरण करनेवाला प्रभु आगभस्त्योः-हाथों में ही होते हैं, हस्तामलकवत् हो जाते हैं, प्रत्यक्ष होते हैं। (२) यह व्यक्ति द्युम्नी-ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है, सुशिप्रः-(शिप्रो हनू नासिके वा नि०) उत्तम जबड़ों व नासिकावाला होता है। खूब चबाकर खाता है तथा प्राणायाम को नियम से करता है। परिणामतः पूर्ण स्वस्थ जीवनवाला बनता है। (३) हरिमन्यु-हरि का, प्रभु का, मन्यु-ज्ञान ही इसका शत्रुओं का अन्त करनेवाला सायक-बाण बनता है। इस इन्द्रे-जितेन्द्रिय पुरुष में हरितारूपा-सब तेजस्वीरूप निमिमिक्षिरे-निश्चय से सिक्त होते हैं। यह सूर्य-किरणों के समान चमकता है। इसके सब अंग-प्रत्यंग दीप्त व ज्योतिर्मय बने रहते हैं।

भावार्थ—क्रियाशील पुरुष तेजस्वी दृढ़ शरीर व अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। प्रभु का ज्ञान ही इसका शत्रु-संहारक बाण बनता है।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

हरिम्भरः

दि॒वि न के॒तुरधि॑ धायि हर्य॒तो वि॒व्यच॒द्वज्रो॒ हरि॑तो॒ न रंह्या॑।

तु॒दद॒हिं हरि॑शिप्रो॒ य आ॑य॒सः स॒हस्र॑शोका अभवद्धरिम्भ॒रः॥ ४॥

(१) दिवि केतुः न-द्युलोक में सूर्य की किरणों के समान (केतु-a ray of light) दिवि-इस उपासक के मस्तिष्करूप द्युलोक में हर्यतः-कमनीय केतुः-(antellect) बुद्धि व

प्रज्ञान अधि धायि=आधिक्येन धारण होता है। (२) वज्रः=इसकी क्रियाशीलता विव्यचत्=विस्तृत होती है, जो क्रियाशीलता रंह्या=वेग के दृष्टिकोण से हरितः न=सूर्याश्वों के समान होती है। सूर्य के अश्व जैसे अत्यन्त वेगवाले हैं, इसी प्रकार यह सब क्रियाओं को स्फूर्ति से करनेवाला होता है। (३) अहिं तुदत्=जैसे सूर्य अहि, अर्थात् मेघ को तुदत्=छिन्न-भिन्न करता है, इसी प्रकार यह वासना को (आहन्ति) नष्ट करता है। हरिशिप्रः=इसके हनू व नासिका इसके दुःखों का हरण करनेवाले होते हैं हितकर भोजनों को यह चबाकर खाता है और प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। इससे यह वह बनता है यः=जो आयसः=लोहे का हो, अत्यन्त दृढ़ शरीरवाला होता है तथा हरिम्भरः=दुःखनाशक प्रभु का अपने हृदयक्षेत्र में पोषण करनेवाला यह सहस्रशोकाः अभवत्=शतशः दीप्तियोंवाला होता है। इसका जीवन बड़ा दीप्त बनता है।

भावार्थ—मस्तिष्क में ज्ञान को तथा हाथों में क्रियाशीलता को धारण करके हम प्रभु का अपने में पोषण करनेवाले होते हैं। प्रभु पोषण से जीवन दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अनन्त ऐश्वर्यवाले प्रभु

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्य१मसामि राधो हरिजात हर्यतम्॥ ५॥

(१) हे इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन्! हरिकेशः=दुःखहरण की साधनभूत प्रकाशमय किरणोंवाले प्रभो! पूर्वेभिः=अपना पूरण करनेवाले, मानस न्यूनताओं को दूर करनेवाले यज्वभिः=यज्ञशील पुरुषों से उपस्तुतः=स्तुति किये जाने पर त्वं त्वम्=आप और आप ही अहर्यथाः=उन उपासकों को प्राप्त होते हो। त्वं हर्यसि=आप ही उनके हित की कामना करते हो। (२) हे हरिजात=प्रकाश की किरणों से प्रादुर्भूत होनेवाले प्रभो! तव=आपका ही यह विश्वम्=सम्पूर्ण उक्थ्यम्=प्रशंसनीय हर्यतम्=कमनीय असामि=पूर्ण (न अधूरा) राधः=ऐश्वर्य है। आपके ऐश्वर्य से ही ऐश्वर्य-सम्पन्न होकर हम अपने कार्यों को सिद्ध कर पाते हैं (राध संसिद्धौ)।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं। प्रभु का ऐश्वर्य पूर्ण है।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

यज्ञशीलता व सोमधारण

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे॥ ६॥

(१) ता=वे प्रभु से दिये गये हर्यता=गतिशील हरी=इन्द्रियाश्व मदे=आनन्द प्राप्ति के निमित्त रथेः=इस शरीर-रथ में इन्द्रम्=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को वहतः=धारण कराते हैं, जो वज्रिणम्=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले हैं मन्दिने=आनन्दमय हैं तथा स्तोभ्यम्=स्तुति के योग्य हैं। वस्तुतः जब हमारी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ हमें प्रभु की ओर ले चलती हैं तो हमारा जीवन क्रियामय बनता है, हमें आनन्द व हर्ष की प्राप्ति होती है और हम स्तुत्य जीवनवाले होते हैं। (२) अस्मै=इस हर्यते=कान्त व गतिशील इन्द्राय=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए पुरूणि सवनानि=पालनात्मक व पूरणात्मक यज्ञ होते हैं। यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है, ये यज्ञ ही हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले हैं। (३) इस इन्द्राय=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए ही हरयः=सब रोगों का हरण करनेवाले सोमाः=सोमकण दधन्विरे=धारण किये जाते हैं। इन

सोमकणों के धारण से ही हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञशील हों और सोमकणों का शरीर में ही रक्षण करें।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

हरिवान् प्रभु की प्राप्ति

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन्हरयो हरी तुरा।

अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे ॥ ७ ॥

(१) **कामाय**=काम्य प्रभु की प्राप्ति के लिए **हरयः** (सोमाः)=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम (वीर्यकण) **अरं दधन्विरे**=खूब ही धारण किए जाते हैं। ये **हरयः**=दुःख हरणकारी सोमकण **तुरा हरी**=त्वरा से युक्त इन इन्द्रियाश्वों को **स्थिराय**=उस स्थिर-कूटस्थ प्रभु के लिए **हिन्वन्**=प्रेरित करते हैं। सोमकणों के धारण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, दीप्त ज्ञानाग्नि से प्रभु का दर्शन होता है। (२) **यः**=जो व्यक्ति **अर्वद्भिः**=विघ्नों को विनष्ट करके आगे बढ़नेवाले **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक उपासन को **ईयते**=प्राप्त होता है **सः**=वह **अस्य कामम्**=इसके चाहने योग्य **हरिवन्तम्**=प्रकाश की किरणोंवाले उस प्रभु को **आनशे**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करें। शक्तिशाली इन्द्रियों को प्रभु की उपासना में प्रवृत्त करें। तो हम अवश्य उस कमनीय प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दुरितों से दूर

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत।

अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥ ८ ॥

(१) **तुरस्पेये**=(तूर्णं पातव्ये) शीघ्रता से अन्दर ही पीने के योग्य इस सोम के पीने पर **यः**=जो यह **हरिपाः**=(प्राणो वै हरिः कौ० १७।१) प्राणशक्ति का रक्षण करनेवाला पुरुष है, वह **हरिश्मशारुः**=(श्मनि श्रितम्) सब मलों का हरण करनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धिवाला होता है। इसकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब निर्मल होती हैं। **हरिकेशः**=यह दीप्त ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है। **आयसः**=शरीर में लोहवत् दृढ़ होता है। (२) **यः**=जो **अर्वद्भिः**=सब विघ्नों के समाप्त करके आगे बढ़नेवाले **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **वाजिनीवसुः**=(food) अन्नरूप धनवाला होता है, निवास के लिए आवश्यक अन्न का ही प्रयोग करता है यह व्यक्ति अपने इन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **विश्वादुरिता**=सब दुरितों के **अतिपारिषत्**=पार ले जानेवाला होता है। इसकी इन्द्रियाँ दुरितों से दूर होकर सुवितों को ही अपनानेवाली होती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों से निवास के लिए आवश्यक अन्नों का ही ग्रहण करें, तो दुरितों से दूर होकर, हम सोम का पान करनेवाले होंगे और 'हरिश्मशारु, हरिकेश व आयस' बनेंगे।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

इन्द्रियों का मार्जन

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः।

प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ॥ ९ ॥

(१) यस्य-जिसके हरिणी-(ऋक् सामे वा इन्द्रस्य हरी श० १।१) ऋक् और साम—विज्ञान व भक्ति स्रुवा इव-दो स्रुवों के समान, यज्ञपात्रों के समान विपेततुः-विशिष्ट गतिवाले होते हैं, अर्थात् जिसके जीवन में विज्ञान व भक्ति का समन्वय होता है। (२) यस्य-जिसके शिप्रे-हनू और नासिका वाजाय-शक्ति वृद्धि के लिए होते हुए हरिणी-रोगों व वासनाओं का हरण करनेवाले होकर दविध्वतः-रोगों व वासनाओं को कम्पित करते हैं। 'हनू' भोजन का ठीक चर्वण करते हुए, ठीक पाचन के द्वारा, शक्ति वृद्धि का कारण होते हैं। इस प्रकार इनके ठीक कार्य करने से सामान्यतः रोग नहीं आते। नासिका के ठीक कार्य करने पर प्राणायाम के द्वारा वासनाओं का विनाश होता है। इससे चित्तवृत्ति का निरोध होकर मन आधिशून्य बना रहता है। (३) इस वासनाशून्य मन के होने पर हर्यतस्य-अत्यन्त कान्त, कमनीय, मदस्य-आनन्द के कारणभूत अन्धसः-सोम का पीत्वा-पान करके, सोम को शरीर में ही व्याप्त करके इस कृते चमसे-संस्कृत शरीर में (शरीर को 'तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' कहा है) यद्-जो हरी-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हैं उनको मर्मृजत्-शुद्ध कर डालता है। सोम के शरीर में रक्षण से इन्द्रियों की भक्ति दीप्त हो उठती है।

भावार्थ—दो यज्ञपात्रों की तरह हमारे जीवनयज्ञ में विज्ञान व भक्ति का मेल हो। हमारे इन्द्रियाँ हमारी नीरोगता के साधन हों। हमारी नासिका निर्वासनता का साधक बनें (प्राणायाम द्वारा) सोमपान द्वारा, इस संस्कृत शरीर में हमारी इन्द्रियाँ दीप्तशक्तिवाली हों।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मही-धिषणा-ओजः

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद्वयो दधिषे हर्यतश्चिदा॥ १०॥

(१) उत-और हरिवान्-प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष हर्यतस्य-गतिशील-कान्त (हर्य गतिकान्त्योः) प्रभु के पस्त्योः-द्यावापृथिवी सम्बन्धी सद्म-घर को इस प्रकार अचिक्रदत् स्म-निश्चय से प्राप्त होता है, न-जैसे अत्यः-निरन्तर गतिशील अश्व वाजम्-संग्राम को प्राप्त होता है। इस शरीर में द्युलोक मस्तिष्क है तथा स्वस्थ शरीर ही पृथ्वी है। प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष इस शरीर में आकर जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। (२) इसकी मही चित्-(मह पूजायाम्) निश्चय से उपासना की मनोवृत्तिवाली धिषणा-बुद्धि ओजसा-ओजस्विता के साथ हर्यत् हि-उस प्रभु की ओर ही चलनेवाली होती है। इसका हृदय उपासनावाला, मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाशवाला, तथा शरीर ओजस्वी होता है। इस प्रकार इन तीनों उन्नतियों को करनेवाला यह पुरुष प्रभु की ओर गतिवाला होता है। (२) इस हर्यतः-प्रभु की ओर गतिवाले पुरुष के वयः-आयुष्य को चित्-निश्चय से बृहद् आदधिषे-खूब ही आप धारण करते हैं।

भावार्थ—जीवन को हम संग्राम समझें। 'पूजा, बुद्धि व ओजस्विता' के सम्पादन के द्वारा हम प्रभु की ओर चलें। प्रभु हमारे आयुष्य का धारण करेंगे।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वेदवाणी के घर का प्रादुर्भाव

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय॥ ११॥

(१) हे प्रभो! आप अपनी **महित्वा**=महिमा से **रोदसी**=इस द्यावापृथिवी में **आहर्यमाणः**=सर्वत्र गतिवाले हैं। एक-एक पदार्थ में आपकी महिमा का दर्शन होता है। (२) इस द्यावापृथिवी व लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके **नु**=अब आप **नव्यं नव्यम्**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) कर्म का उपदेश देनेवाले (नव गतौ) **मन्म**=ज्ञान को **हर्यसि**=प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञान **प्रियम्**=तृप्ति व प्रीति का कारण बनता है। (३) हे **असुर**=ज्ञान को देकर वासनाओं को सुदूर क्षिप्त करनेवाले प्रभो! (अस्यति) आप **हरये**=प्रकाश की किरणोंवाले **सूर्याय**=निरन्तर गतिशील पुरुष के लिए **गोः**=इस वेदवाणी के **हर्यतम्**=कान्त, चाहने योग्य **पस्त्यम्**=गृह को **प्र आविष्कृधि**=प्रकर्षेण आविर्भूत करते हैं। जो भी व्यक्ति 'हरि व सूर्य' बनता है, प्रभु उसके लिए इस वेदवाणी के घर को प्रकाशित कर देते हैं।

भावार्थ—हम स्वाध्यायशील व क्रियाशील होंगे तो वेद के तत्त्वार्थ को समझनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वेन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दशोणि यज्ञ का स्वीकार

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम्॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिशिप्रम्**=हरणशील हैं हनू व नासिका जिसकी जबड़े तो भोजन का खूब चर्वण करके रोगों को दूर करनेवाले हैं तथा नासिका प्राणायाम के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करनेवाली है। इस प्रकार ये हनू व नासिका दोनों ही 'हरि' हैं। **त्वा**=इस तुझ हरिशिप्र को, **हर्यन्तम्**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाले को **जनानाम्**=लोगों की **प्रयुजः**=प्रकृष्ट योगवृत्तियाँ **रथे**=इस शरीर रथ पर **आवहन्तु**=धारण करनेवाली हों। इन प्रयुजों से ही तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनेगा। (२) इन योगवृत्तियों को तू अवश्य धारण कर, **यथा**=जिससे तू **प्रतिभृतस्य**=प्रतिदिन तेरे में पोषित होनेवाले **मध्वः**=सोम का, सब भोजनों के सारभूत मधुतुल्य सोम का **पिबा**=पान करनेवाला हो। (३) तू **सधमादे**=प्रभु प्राप्ति के द्वारा प्रभु के साथ (सह) मिलकर आनन्द अनुभव करने के निमित्त **दशोणिम्**=(ओणि=protection) दसों इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले अथवा (ओणि=removing) दसों इन्द्रियों को विषयों से अपनीत करनेवाले **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म की **हर्यन्**=कामना करनेवाला हो, श्रेष्ठतम कर्म की ओर तू चलनेवाला हो। (हर्य गतिकान्त्योः)।

भावार्थ—मनुष्य योगवृत्तिवाला बने, सोम का धारण करे, प्रभु प्राप्ति के आनन्द के लिए दसों इन्द्रियों के रक्षक यज्ञ को करनेवाला हो, अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में लगा रहे।

ऋषिः—बरुः सर्वहरिर्वेन्द्रः ॥ देवता—हरिस्तुतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम का पान

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषञ्जठर आ वृषस्व॥ १३ ॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तूने **पूर्वेषाम्**=इन पालन व पूरण करनेवाले **सुतानाम्**=उत्पादित सोमों का **अपाः**=पान किया है। **अथ उ**=और निश्चय से **इदं सवनम्**=यह सोम का उत्पादन **केवलं ते**=शुद्ध तेरे ही उत्कर्ष के लिए है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मधुमन्तं सोमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले इस सोम को **ममद्धि**=(पिब आस्वादय सा०) पीनेवाला बन। हे **वृषन्**=शक्तिशालिन्! तू **सत्रा**=सदा **जठरे**=अपने अन्दर **आवृषस्व**=इस

सोम का सेचन करनेवाला बन। यही मार्ग है, सब प्रकार के उत्कर्ष का। इसी सोम के पान से उन्नति करते-करते अन्त में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—हम सोम का पान करें। इसी से अन्त में हम प्रभु-दर्शन करनेवाले बनेंगे।

सूक्त का भाव यह है कि हम सोम का पान करके सब रोगों व अन्य कष्टों का निवारण करनेवाले बनें। 'यह सोम ओषधि वनस्पतियों का ही सारभूत होना चाहिए' इस संकेत को करता हुआ अगला सूक्त 'ओषधयः' देवता का है। इन ओषधियों वनस्पतियों के द्वारा उत्पन्न सोम के रक्षण से शरीर में सब रोगों का निराकरण करनेवाला 'भिषक्' प्रस्तुत सूक्त का ऋषि है। यह 'आथर्वण' है, चित्तवृत्ति को न डाँवाडोल होने देनेवाला है, यह आथर्वण ही तो सोम का रक्षण कर पाता है। यह कहता है कि—

[९७] सप्तनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ओषधियों के १०७ धाम

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ १ ॥

(१) **याः**=जो **ओषधीः**=ओषधियाँ **पूर्वाः**=शरीर का पालन करनेवाली व न्यूनताओं को दूर करके पूरणता को पैदा करनेवाली, **त्रियुगम्**=(त्रिषु युगेषु सा०) वसन्त, ग्रीष्म व शरद् में **पुरा**=इस शरीररूप पुर् के हेतु से **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **जाताः**=उत्पन्न हुई हैं। **अहम्**=मैं **नु**=निश्चय से **बभ्रूणाम्**=तेजों को, शक्तियों को **मनै**=विचार का विषय बनाता हूँ। (२) देव ओषधि वनस्पति का सेवन करते हैं, ओषधियों का परिपाक का समय सामान्यतः 'वसन्त, ग्रीष्म व शरद्' ही है। प्रभु ने इन ओषधियों में शरीर के पोषक सभी तत्त्वों की स्थापना की है। इन ओषधियों के तेज यहाँ १०७ भागों में विभक्त हुए हैं। मनुष्य के शरीर में मर्मस्थलों की संख्या भी यही है। ये ओषधियाँ सब मर्मस्थलों को नीरोग रखनेवाली हैं। इनके ठीक प्रयोग से सामान्यतः मनुष्य को १०७ वर्ष का जीवन प्राप्त करना ही चाहिए।

भावार्थ—ओषधियाँ देव शरीरों को सब प्रकार से स्वस्थ रखनेवाली हैं।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मातृतुल्य ओषधियाँ

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः। अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥ २ ॥

(१) हे **अम्ब**=मातृवत् हितकारिणी ओषधियो! **वः**=तुम्हारे **धामानि**=तेज **शतम्**=सैंकड़ों हैं। **उत**=और **वः**=तुम्हारे **रुहः**=प्रादुर्भाव-विकास **सहस्रम्**=हजारों ही हैं। **अधा**=अब **शतक्रत्वः**=सैंकड़ों शक्तियोंवाली **यूयम्**=तुम **मे**=मेरे **इमम्**=इस शरीर को **अगदम्**=रोगशून्य **कृत**=करो। (२) हजारों प्रकार की ओषधियाँ हैं। सबके अन्दर अद्भुत शक्तिदायक तत्त्व निहित हैं। इनके ठीक सेवन से शरीर नीरोग बना रहता है। वस्तुतः ये ओषधियाँ वनस्पतियाँ मातृवत् हितकारिणी हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ अपने तेजों से हमारे शरीरों को नीरोग करती हैं।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

रोग-विनाश

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः। अश्वाइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥ ३ ॥

(१) **ओषधीः**=हे ओषधियो! **प्रति मोदध्वम्**=तुम खूब विकसित होवो, **पुष्पवतीः**=फूलोंवाली होवो तथा **प्रसूवरीः**=फलोंवाली होवो। (२) **इव**=जिस प्रकार **अश्वाः**=घोड़े संग्राम में विजयी होते हैं, इसी प्रकार **वीरुधः**=ये फैलनेवाली लताएँ **सजित्वरीः**=सदा रोगों को जीतनेवाली **पारयिष्ण्वः**=तथा सब रोगों से पार करनेवाली हैं। घोड़े संग्राम में विजयी होते हैं, इसी प्रकार ये ओषधियाँ रोगों से संग्राम में विजय प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—ओषधियों के फल-फूल सभी रोगों को नष्ट करने में सहायक होते हैं। 'ओषधीः' शब्द का अर्थ ही रोगदहन करनेवाली है।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उत्कर्ष की प्राप्ति

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे। सनेयमश्वं गां वासं आत्मनं तव पूरुष ॥ ४ ॥

(१) **'ओषधीः इति'**=ये जो ओषधियाँ हैं, वे **मातरः**=मातृतुल्य हैं। माता जैसे बालक का हित करनेवाली है, उसी प्रकार ये ओषधियाँ हित करनेवाली हैं। वस्तुतः ये हमारे जीवन का निर्माण करनेवाली हैं। **तद्**=सो **वः**=तुम्हें **देवीः**=दिव्यगुणों को पैदा करनेवाली तथा सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाली (विजिगीषा), इस प्रकार **उपब्रुवे**=कहता हूँ। (२) हे **पूरुष**=इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करनेवाले प्रभो! मैं **तव**=आपकी इन ओषधियों के प्रयोग से **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को, **वासः**=इस शरीररूप वस्त्र को तथा **आत्मनम्**=मन को **सनेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ। (३) वानस्पतिक भोजनों का समुचित प्रयोग हमारी इन्द्रियों, शरीर व मन को अवश्य उत्कृष्ट बनाएगा।

भावार्थ—ये वनस्पतियाँ 'माताएँ' व 'देवियाँ' हैं। इनका प्रयोग हमारे उत्कर्ष का कारण बनता है।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वानस्पतिक भोजन+गोदुग्ध

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ५ ॥

(१) हे ओषधियो! **वः**=आपका **अश्वत्थे**=(न श्वः तिष्ठति) इस अस्थिर शरीर में निवास होता है, अर्थात् इस शरीर के निमित्त ही वस्तुतः आपका निर्माण हुआ है। **वः**=आपका यह **वसतिः**=शरीर में निवास **पर्णे**=पालन व पूरण के निमित्त **कृता**=किया गया है। मुख्य रूप से इस शरीर को नीरोग रखने के लिए ही इनका प्रयोग होता है। (२) **यत्**=जब **किल**=निश्चय से **गोभाजः इत्**=गोदुग्ध का सेवन करनेवाली ही **असथ**=होती हो तो **पूरुषम्**=इस ब्रह्माण्ड पुरी में निवास करनेवाले प्रभु का **सनवथ**=सम्भजन करनेवाली होती हो। यदि एक व्यक्ति इन ओषधि वनस्पतियों के साथ गोदुग्ध का सेवन करनेवाला होता है, तो उसकी चित्तवृत्ति शान्त बनकर प्रभु की ओर झुकाववाली होती है।

भावार्थ—हम ओषधि वनस्पतियों व गोदुग्ध का ही सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भिषक्

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ६ ॥

(१) **यत्र**=जिस पुरुष में **ओषधीः**=ओषधियाँ **समग्मत**=इस प्रकार संगत होती हैं, **इव**=जैसे

कि राजानः समितौ=राजा लोग किसी समिति में एकत्रित होते हैं, स विप्रः=वह रोगी के शरीर का ओषधि प्रयोग से विशेष रूप से पूरण करनेवाला (वि+प्र) भिषग्=वैद्य उच्यते=कहलाता है। (२) यह वैद्य इन ओषधियों का ज्ञान रखने के कारण, इनके ठीक प्रयोग से रक्षोहा=रोगकृमियों का विध्वंस करता है तथा अमीवचातनः=रोगों को नष्ट कर डालता है। समिति में एकत्रित हुए-हुए राजा जैसे किसी उत्पन्न हुई-हुई समस्या को दूर करने का विचार करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी वैद्य उत्पन्न-उत्पन्न हुए रोग को दूर करने के लिए विविध ओषधियों का विचार करता है।

भावार्थ—विविध ओषधियों के गुण दोषों को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष ही वैद्य कहलाता है। यह 'रक्षोहा-अमीवचातन' होता है।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'अश्वावती-सोमावती-ऊर्जयन्ती-उदोजस्'

अ॒श्वा॒व॒तीं सो॑माव॒तीमू॒र्जय॑न्ती॒मुदो॑जसम्। आवि॑त्सि॒ सर्वा॒ ओष॑धीर॒स्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र का वैद्य इस रूप में सोचता है कि मैं उस ओषधि को आवित्सि=सर्वथा प्राप्त करता हूँ (विद् लाभे) जो अश्वावतीम्=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाली है, इन्द्रियों की शक्ति को जो ठीक बनाये रखती हैं। सोमावतीम्=जो शरीर में सौम्यशक्ति को पैदा करनेवाली है। आग्नेय शक्ति को पैदा करनेवाले पदार्थ शरीर में कुछ क्षोभ को पैदा करते हैं, उनकी प्रतिक्रिया कभी ठीक नहीं होती। मैं उस ओषधि को प्राप्त करता हूँ जो ऊर्जयन्तीम्=बल व प्राणशक्ति का संचार करनेवाली है। तथा उदोजसम्=उत्कृष्ट ओजस्विता को प्राप्त कराती है। 'ओजस्' वह तत्त्व है, जो शरीर की शक्तियों के उत्कर्ष का कारण बनता है। (२) सर्वाः ओषधीः (आवित्सि)=मैं उन सब ओषधियों को प्राप्त करता हूँ, जो अस्मै अरिष्टतातये=इस रोगी के लिए अहिंसा का विस्तार करनेवाली होती हैं। ये ओषधियाँ इसे नीरोग बनाकर पूर्ण आयुष्य में पहले शरीर से पृथक् नहीं होने देती। 'मा पुरा जातो मृथाः'=यह पुरुष पूर्ण आयुष्य को भोग करके ही जाता है।

भावार्थ—ओषधियाँ 'अश्वावती, सोमावती, ऊर्जयन्ती व उदोजस्' हैं।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अध्यात्म सम्पत्ति

उच्छुष्मा॒ ओष॑धीनां॒ गावो॒ गो॒ष्ठादि॑वेरते। धनं॑ सनि॒ष्यन्ती॑नामा॒त्मानं॒ तव॑ पूरुष ॥ ८ ॥

(१) इव=जिस प्रकार गावः=गौवें गोष्ठात्=गोष्ठ से उदीरते=बाहर आती हैं, इसी प्रकार ओषधीनाम्=ओषधियों के शुष्माः=शत्रुशोषक बल उदीरते=उद्गत होते हैं। इन ओषधि वनस्पतियों में वह शक्ति है जो हमारे शत्रुभूत रोगकृमियों को समाप्त कर देती है। (२) हे पुरुष=प्रभो! हमारे में उन ओषधियों के शुष्म उद्गत हों जो तव=आपके आत्मानं धनम्=अपने धन को सनिष्यन्तीनाम्=देनेवाली हैं। अर्थात् जो आत्मतत्त्वरूप धन को प्राप्त कराती हैं। पाँचवें मन्त्र में कहा था कि इनके सेवन से चित्तवृत्ति प्रभु-प्रवण होती है, चित्तवृत्ति को प्रभु-प्रवण करके ये आत्मतत्त्व रूप धन को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ रोगकृमिनाशक बल से तो युक्त हैं ही। ये चित्तवृत्ति को प्रभु-प्रवण करके आत्मिक धन का भी लाभ कराती हैं।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इष्कृति से निष्कृति का जन्म

इष्कृ॑ति॒र्नाम॑ वो मा॒ताथो॑ यू॒यं स्थ॒ निष्कृ॑तीः। सी॒राः प॑तत्रि॒णीः स्थ॒न यदा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥ ९ ॥

(१) हे ओषधियो! **वः माता**=आपको जन्म देनेवाली यह भूमि माता **इष्कृतिः नाम**='इष्कृति' नामवाली है। यह सब **इष्**=वाञ्छनीय अन्नों को **कृति**=उत्पन्न करनेवाली है। इन इष्ट अन्नों को उत्पन्न करने के कारण ही इसका नाम 'इष्कृति' है। (२) **अथ उ यूयम्**=पर आप तो हे ओषधियो! **निष्कृतीः स्थ**=रोगों को शरीर से बाहर करनेवाली हो। माता 'इष्कृति', उसकी सन्तान 'निष्कृति'। इस प्रकार यहाँ विरोधाभास अलंकार है। 'वस्तुतः यहाँ विरोध हो' ऐसी बात तो है ही नहीं। 'इष्कृति' का अर्थ है 'वाञ्छनीय अन्नों को उत्पन्न करनेवाली' और 'निष्कृति' का भाव है 'रोगों को बाहर निकालनेवाली'। (३) हे ओषधियो! **यदा**=जब आप **आमयति**=(आमयत् का सप्तमी एक वचन) रोगयुक्त पुरुष में **सीराः** (नदी=नाड़ी नि० ४।१९।८)=नाड़ियों में **पतत्रिणीः**=गति करनेवाली **स्थन**=होती है। तब **निष्कृथ**=रोग को बाहर कर देती हो। नाड़ियों में गति करने का भाव यही है कि रुधिर में पहुँच जाना। यही आधुनिक युग में इञ्जक्शन्स का भाव होता है।

भावार्थ—'इष्कृति' से उत्पन्न होती हुई भी ये ओषधियाँ 'निष्कृति' हैं।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः॥ देवता—ओषधीस्तुतिः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

रोग-मोषण

अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेनइव व्रजमक्रमुः। ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो३ रपः॥ १०॥

(१) **विश्वः**=ये शरीर में प्रवेश करनेवाली और रुधिर के साथ मिलकर **परिष्ठाः**=शरीर में चारों ओर स्थित होनेवाली ओषधियाँ **व्रजम्**=रोगसमूह पर **अति अक्रमुः**=अतिशयेन आक्रमण करती हैं, रोगों पर पादक्षेप (लात मारना) करती हैं (trample upon tham)। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **स्तेनः**=चोर **व्रजम्**=गोष्ठ पर (cow pen) आक्रमण करता है। वह चोर गौवों को चुरा ले जाता है, ये ओषधियाँ रोगों को चुरा ले जाती हैं। (२) वस्तुतः **ओषधीः**=ये ओषधियाँ, **यत् किञ्च**=जो कुछ **तन्वः रपः**=शरीर का दोष होता है उसे **प्राचुच्यवुः**=प्रच्युत कर देती हैं, शरीर से दोषों को निकाल देती हैं। शरीर के दोषों का दहन करने के कारण ही तो इनका नाम 'ओषधि' है (उष दाहे)।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर से दोषों को क्षरित कर देती हैं। ये ओषधियाँ मानो रोगों को चुरा लेती हैं।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः॥ देवता—ओषधीस्तुतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

यक्ष्म की आत्मा का नाश

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥ ११॥

(१) **यद्**=जो **वाजयन्**=(रुग्णं बलिनं कुर्वन् सा०) रोगी के अन्दर शक्ति का संचार करता हुआ मैं **इमाः**=इन **ओषधीः**=ओषधियों को **हस्ते**=हाथ में **आदधे**=धारण करता हूँ, तो **यक्ष्मस्य**=रोग का **आत्मा**=आत्मा **नश्यति**=नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार नष्ट हो जाता है **यथा**=जैसे **जीवगृभः**=(जीवानां ग्राहकात्) व्याध के **पुरा**=सामने जीव नष्ट हो जाता है। (२) वस्तुतः ज्ञानी वैद्य ओषधि को हाथ में लेता है, त्यूँ ही रोगी का आधा रोग भाग जाता है, रोग की आत्मा चली जाती है, रोग मर-सा जाता है। (३) रोगी को ठीक करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शक्ति को कायम रखा जाए। शक्ति गयी, तो ठीक होने का प्रश्न ही नहीं रहता।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य के हाथ में ओषधि लेते ही रोग मृत-सा हो जाता है। यह वैद्य रोगी के अन्दर वाज (बल) का संचार करके उसे जीवित कर देता है।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

यक्ष्म विबाधन

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ १२ ॥

(१) हे **ओषधीः**=ओषधियो! **यस्य**=जिस पुरुष के **अङ्गं अङ्गम्**=अंग-अंग में तथा **परुः परुः**=पर्व-पर्व में **प्रसर्पथ**=तुम गति करती हो, **ततः**=वहाँ-वहाँ से **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाधध्वे**=बाधित करके दूर करती हो। ओषधि का ओषधित्व है ही यह कि यह दोष का दहन कर देती है। (२) ये इस प्रकार दोषों का दहन कर देती हैं, **इव**=जैसे कि **उग्रः**=तेजस्वी **मध्यमशीः**=राष्ट्ररूपी शरीर के मध्य में स्थित होनेवाला राजा राष्ट्र शरीर के उस-उस अंग व पर्व में होनेवाले दोषों को दूर करता है।

भावार्थ—शरीर में पहुँचकर ओषधियाँ दोषों का दहन करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

त्रिविध-दोष-विनाश

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना। साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥ १३ ॥

(१) शरीर में रोग 'वात, पित्त व कफ' के विकार के कारण होते हैं। वातिक विकार से उत्पन्न रोगों का निर्देश प्रस्तुत मन्त्र में 'वातस्य ध्राज्या' इन शब्दों से हो रहा है। श्लेष्यजन्य रोगों का संकेत 'किकिदीविना' शब्द से हुआ है। श्लेष्मावरुद्ध कण्ठजन्य ध्वनि का अनुकरण 'किकि' शब्द है, उस ध्वनि के साथ दीप्त होनेवाला यह श्लेष्यजन्य रोग है। 'चण भक्षणे' से बना हुआ 'चाण' शब्द भस्मक आदि पैत्रिक रोगों का वाचक है। इन रोगों में अति पीड़ा के होने पर मनुष्य 'हा मरा' इस प्रकार चीख पड़ता है। उस पीड़ा का वाचक 'निहाका' शब्द है। (२) हे **यक्ष्म**=रोग! तू **चाषेण**=पित्त विकार से होनेवाले राक्षसी भूखवाले भस्मकादि रोगों के **साकम्**=साथ **प्रपत**=इस शरीर से दूर हो जा। **किकिदीविना**=कफजन्य रोग के साथ तू यहाँ से नष्ट हो जा। **वातस्य ध्राज्या**=वात की गति व व्याप्ति जनित रोगों के **साकम्**=साथ तू इस शरीर से दूर हो। तथा **निहाकया**=प्रबल पीड़ा के **साकम्**=साथ **नश्य**=तू इस शरीर से अदृष्ट हो जा।

भावार्थ—औषध प्रयोग से पित्त, कफ व वात जनित सब विकार दूर हों। रोगजनित प्रबल पीड़ा भी दूर हो।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ओषधियों का परस्पर मेल

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत। ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ १४ ॥

(१) हे ओषधियो! **वः**=तुम्हारे में से **अन्या**=एक **अन्याम्**=दूसरी को **अवतु**=रक्षित करनेवाली हो। अर्थात् एक ओषधि से होनेवाले अनिष्ट प्रभाव को दूसरी ओषधि दूर करे। **अन्या**=एक **अन्यस्या उप**=दूसरी के समीप होती हुई **अवत**=रक्षा को करे। अर्थात् एक दूसरे से मिलकर वे अधिक गुणकारी हो जाएँ। सम्भवतः एक ओषधि का पान होता है, तो यह सहायक ओषधि अनुपान के रूप में होती है। (२) **ताः सर्वाः**=वे सब ओषधियाँ **संविदानाः**=परस्पर संज्ञान (=मेल) वाली होती हुई **मे**=मेरे **इदं वचः**=इस वचन को **प्रावता**=प्रकर्षेण रक्षित करनेवाली हों। 'ये ओषधियाँ गुणकारी हैं' इस वचन का ओषधियाँ रक्षण करें, अर्थात् सचमुच रोग को दूर करके वे उक्त वचन की तथ्यता को ही प्रमाणित करें। 'इन ओषधियों का वाञ्छनीय

प्रभाव न हो' ऐसी बात न हो।

भावार्थ—ओषधियाँ परस्पर मिलकर एक दूसरे के अवाञ्छनीय प्रभाव को दूर करती हुई, रोग का उन्मूलन करनेवाली हों।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

बृहस्पति-प्रसूत ओषधियाँ

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥

(१) **याः**=जो ओषधियाँ **फलिनीः**=फलवाली हैं, **याः अफलाः**=जो नहीं फलवाली हैं, जिन पर फल नहीं लगते, **अपुष्पाः**=जो बिना फूलवाली हैं, **याः च**=और जो **पुष्पिणीः**=फूलवाली हैं। इस प्रकार सामान्यतः ये चार भागों में विभक्त हुई-हुई हैं। (२) **बृहस्पति-प्रसूताः**=प्रभु से उत्पन्न की गई, तथा उत्कृष्ट ज्ञानी वैद्य से प्रेरित की गई **ताः**=वे ओषधियाँ **नः**=हमें **अंहसः**=कष्ट से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। ज्ञानी वैद्य से प्रयुक्त की गई ये ओषधियाँ हमें नीरोग करनेवाली हों। 'नीम हकीम खतरे जान' इस लोकोक्ति से स्पष्ट है कि ज्ञानी वैद्य से ही इनके प्रयोग को जानना चाहिए। अन्यथा इनका अवाञ्छनीय प्रभाव हो जाने की आशंका रहेगी।

भावार्थ—चतुर्विध ओषधियों का प्रयोग ज्ञानी वैद्य की प्रेरणा से ही करना चाहिए।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शपथ्य, वरुण्य, यम व पड्वीश

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत। अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ १६ ॥

(१) ये ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=(शप आक्रोशे) आक्रोश के जनक रोगों से, उन पैत्तिक विकारों से जिनसे कि पीड़ित हुआ-हुआ मनुष्य उटपटांग बोलता है, **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। इन ओषधियों के समुचित प्रयोग से मेरा पैत्तिक विकार शान्त हो। (२) **अथ उ**=और अब **वरुण्यात् उत**=वरुण्य रोग से भी ये मुझे मुक्त करें। वरुण जलाधिष्ठातृदेव है। एवं वरुण्य रोग कफजनित रोग हैं। वस्तुतः जलों के अनिष्ट प्रयोग से ही प्रायः इनकी उत्पत्ति होती है। (३) **अथ उ**=अब निश्चय से **यमस्य पड्वीशात्**=(अयं वै यमः योऽयंपवते) इस सबका नियन्त्रण करनेवाली वायु के पादबन्धन से भी ये ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। वात विकार होने पर पाँव आदि जकड़े से जाते हैं। गठिया आदि रोगों में मनुष्य के पैरों में बेड़ी-सी पड़ जाती है। इस पादबन्धन से ये ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। (४) **सर्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=आँख, कान, नाक, मुख आदि देवों में होनेवाले दोषों से ये ओषधियाँ हमें छुड़ायें। ये सब इन्द्रियाँ देव हैं, नेत्र 'सूर्य' है, श्रोत्र 'दिशाएँ' हैं, वाणी 'अग्नि' है।

भावार्थ—इस प्रकार इन सब देवों में उत्पन्न हो जानेवाली न्यूनताओं को ये औषध दूर करें।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

द्युलोक से ओषधियों का पतन

अवपतन्तीरवदन्दिव ओषधयस्परि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ १७ ॥

(१) **ओषधयः**=ये ओषधियाँ **दिवः**=द्युलोक (आकाश) से **अवपतन्तीः**=वृष्टिजल के साथ नीचे गिरती हुई **परि अवदन्**=चारों ओर परस्पर बात करती हैं कि **यं जीवं अश्नवामहै**=जिस जीव को हम प्राप्त होती हैं, जिस जीव के शरीर में हमारा व्यापन होता है, **स पूरुषः**=वह पुरुष **न रिष्याति**=रोगों से हिंसित नहीं होता। (२) वृष्टिजल के साथ ओषधियाँ मानो आकाश से ही

भूमि पर पहुँचती हैं। 'पर्जन्यादन्न संभव:'=पर्जन्य से ही तो सब अन्नों का सम्भव होता है। ये ओषधियाँ सब दोषों का दहन करके हमें रोगों से असमय मरने नहीं देती।

भावार्थ—द्युलोक से आकर ओषधियाँ हमें रोगों से हिंसित नहीं होने देती।

ऋषि:—भिषगाथर्वण: ॥ देवता—ओषधीस्तुति: ॥ छन्द:—विराडनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

हृदय की शान्ति

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे॥ १८॥

(१) **या:**=जो **ओषधी:**=ओषधियाँ **सोमराज्ञी:**='सोम' नामक राजावाली हैं (सोम ओषधीनामधिराज: गो० उ० १।१७), **बह्वी:**=(बंह्) शक्ति को देनेवाली हैं तथा **शतविचक्षणा:**=शतवर्षपर्यन्त हमारा ध्यान करनेवाली हैं, अथवा सैंकड़ों प्रकार से हमारा पालन करनेवाली हैं (चक्ष्) **तासाम्**-उन ओषधियों में **त्वम्**-तू हे सोम! **उत्तमा असि**-सर्वश्रेष्ठ है। **कामाय अरम्**-इस प्रस्तुत रोग को दूर करने की हमारी कामना को पूर्ण करने के लिए समर्थ है और इस प्रकार रोग को दूर करके **हृदे शम्**-हृदय के लिए शान्ति को देनेवाली है। (२) ओषधियाँ उस-उस रोग को दूर करके शान्ति का विस्तार करनेवाली हैं। ओषधियों का राजा सोम है। सोमलता के अतिरिक्त 'सोम' का अर्थ चन्द्र भी लिया जा सकता है। चन्द्र को भी 'ओषधीश' कहते ही हैं, यह चन्द्र ही सब ओषधियों में रस का सञ्चार करता है।

भावार्थ—ओषधियाँ रोग को दूर करती हैं, हृदय के लिए शान्तिकर होती हैं।

ऋषि:—भिषगाथर्वण: ॥ देवता—ओषधीस्तुति: ॥ छन्द:—विराडनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

शक्ति का संपादन

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु। बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम्॥ १९॥

(१) **या:**=जो **ओषधी:**=ओषधियाँ **सोमराज्ञी:**=सोमलता नामक राजा वाली हैं, वे **पृथिवीं अनुविष्ठिता:**=इस पृथिवी पर, पृथ्वी से शक्ति व गुणों को प्राप्त करके विशेषरूप से स्थित हैं। पृथिवी के भेद से भी ओषधियों के गुणों में अन्तर आ ही जाता है। (२) हे ओषधियो! आप **बृहस्पति-प्रसूता:**=ज्ञानी वैद्य से प्रेरित की जाकर **अस्यै**=इस रुग्णशरीर के लिए **वीर्यं संदत्त**=शक्ति को देनेवाली होवो। ओषधियाँ शरीर में शक्ति को पैदा करके रोगों को नष्ट करनेवाली हों।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषि:—भिषगाथर्वण: ॥ देवता—ओषधीस्तुति: ॥ छन्द:—विराडनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

अनातुरता

मा वो रिषत्खनिता यस्मै चाहं खनामि वः। द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्॥ २०॥

(१) ओषधियाँ पर्वत-प्रदेशों में प्राय: उत्पन्न होती हैं। कई ओषधियाँ इस प्रकार की भी हैं कि उनका रस व दूध खोदनेवाले की त्वचा पर पड़कर कुछ अशान्ति का कारण बन सकता है। सो इनके खोदने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। इसलिए कहते हैं कि हे ओषधियो! **व: खनिता**=तुम्हारा खोदनेवाला **मा रिषत्**=हिंसित न हो। **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **व:**=आपको **खनामि**=खोदता हूँ वह भी हिंसित न हो। (२) इस ओषधि के प्रयोग से **अस्माकम्**-हमारे **द्विपद्**-दो पाँववाले मनुष्यादि तथा **चतुष्पद्**-चार पाँववाले पशु **सर्वम्**-सब **अनातुरं अस्तु**-रोगों की व्याकुलता से रहित हों।

भावार्थ—ओषधियों के समुचित प्रयोग से हम सब अनातुर=नीरोग हों।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

समीपस्थ व दूरस्थ ओषधियाँ

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः । सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ २१ ॥

(१) **याः च**-जो ओषधियाँ **इदम्**-हमारे इस ओषधि स्तवन को **उपशृण्वन्ति**-समीपता से सुनती हैं, अर्थात् जो समीप प्रदेश में ही उपलभ्य हैं, **याः च**-और जो **दूरं परागताः**-दूर प्रदेशों में प्राप्य हैं। **सर्वाः**-वे सब **वीरुधः**-ओषधियाँ **संगत्य**-एक दूसरे से मिलकर, एक दूसरे के अवाञ्छनीय प्रभाव को दूर करके अधिक गुणकारी होती हुई **अस्यै**-इस रुग्ण शरीर के लिए **वीर्यम्**-शक्ति को **संदत्त**-दें। (२) ओषधियाँ परस्पर मिलकर अधिक गुणकारी हो जाती हैं। एक की तीव्रता को दूसरी कुछ मन्द करनेवाली हो जाती है, और इस प्रकार रुग्ण शरीर के लिए सह्य बन जाती है। ये ओषधियाँ शक्ति को उत्पन्न करके मनुष्य को नीरोग बनाती हैं।

भावार्थ—समीप में व दूर स्थान में प्राप्त होनेवाली सब ओषधियाँ हमारे लिए मिलकर शक्ति का संपादन करनेवाली हों।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ज्ञानी के परामर्श से ओषधि-प्रयोग

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि ॥ २२ ॥

(१) ओषधियों का राजा सोम है। १८ तथा १९ मन्त्र संख्या पर इन्हें 'सोमराज्ञीः' कहा गया है। ये **ओषधयः**-ओषधियाँ मानो **राज्ञा सोमेन सह**-इस अपने राजा सोम के साथ **संवदन्ते**-संवाद करती हुई कहती हैं कि **राजन्**-हे सोमलते! **यस्मै**-जिसकी रोगी के लिए **ब्राह्मणः**-एक ज्ञानी वैद्य **कृणोति**-हमें करता है **तम्**-उस रोगी को **पारयामसि**-हम रोग से पार करनेवाली होती हैं। (२) औषध के ठीक प्रभाव के लिए आवश्यक है कि इनका प्रयोग एक ज्ञानी वैद्य द्वारा ही करवाया जाए। ज्ञान की कमी के होने पर इनका समुचित प्रयोग न होकर हानि की भी संभावना है ही।

भावार्थ—ओषधियों का प्रयोग ज्ञानी पुरुष के परामर्श से ही होना चाहिए।

ऋषिः—भिषगाथर्वणः ॥ देवता—ओषधीस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

रोगों को पादाक्रान्त करना

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः । उपस्तिरस्तु सोऽ३स्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ २३ ॥

(१) हे **ओषधे**-सोमलते! **त्वं उत्तमा असि**-तू ओषधियों में सर्वोत्तम है, **वृक्षाः**-अन्य सब वनस्पतियाँ **तव**-मेरी **उपस्तयः**-(attendamts, followors) अनुगामिनी हैं, सायण के शब्दों में अधःशायी हैं। तू मुख्य है, अन्य सब तेरे से नीचे हैं। (२) तेरे समुचित प्रयोग का हमारे जीवनों पर यह परिणाम हो कि **यः**-जो **अस्मान्**-हमें **अभिदासति**-अपने अधीन करना चाहता है, **सः**-वह **अस्माकम्**-हमारे **उपस्तिः**-अधःशायी **अस्तु**-हो। जो रोग हमारे पर प्रबल होना चाहता है, वह हमारे से पादाक्रान्त किया जा सके।

भावार्थ—सोम सब ओषधियों में उत्तम है, सब ओषधियाँ उसके नीचे हैं। इसके प्रयोग से हम रोगों को नीचे कर सकें।

यह सूक्त ओषधि वनस्पतियों को समुचित्त प्रयोग से पूर्ण स्वस्थ बनने का उपदेश कर रहा है। इन ओषधियों का उत्पादन पर्जन्य से वृष्टि होकर ही होता है 'पर्जन्यादन्न संभवः'। सो अगले

सूक्त में वृष्टि की कामना की गई है। यह 'वृष्टिकाम' देवापि है, दिव्य गुणों के साथ मित्रता को करनेवाला है 'देवा: आपयो यस्य'। यह वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए शिव संकल्पों के सैन्य को प्रेरित करता है सो 'आर्ष्टिषेण' कहलाता है (ऋष् गतौ)। इस 'आर्ष्टिषेण देवापि' को प्रभु निर्देश करते हैं कि—

[९८] अष्टनवतितमं सूक्तम्

ऋषि:—देवापिरार्ष्टिषेण: ॥ देवता—देवा: ॥ छन्द:—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

'देवापि' बनना

बृह॑स्पते॒ प्रति॑ मे दे॒वता॑मिहि मि॒त्रो वा॒ यद्वरु॑णो॒ वासि॑ पू॒षा।
आ॒दि॒त्यैर्वा॒ यद्वसु॑भिर्म॒रुत्वा॒न्त्स प॒र्जन्यं॒ शन्त॑नवे वृषाय ॥ १ ॥

(१) हे **बृहस्पते**=इस बृहती वेदवाणी का स्वाध्याय के द्वारा रक्षण करनेवाले देवापि! तू **मे**=मेरे **देवताम्**=देवताओं के प्रति **इहिम्**=प्रति जानेवाला हो। तू इन देवताओं से अपने अन्दर दिव्य भावों का वर्धन करनेवाला बन। (२) तू इस बात का ध्यान कर कि **मित्र: वा असि**=तू निश्चय से सबके साथ स्नेह करनेवाला बनता है। **यद्**=जब तू **वरुण: वा असि**=निश्चय से द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। इस प्रकार स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर **पूषा**=तू अपना सच्चा पोषण करता है। (३) **यत्**=जब तू **आदित्यै वा**=(आदानात् आदित्य:) निश्चय से आदान की वृत्तियों के हेतु से तथा **वसुभि:**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के हेतु से **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला होता है, प्राणसाधना को करता है। इस प्राणसाधना से तू आदित्यों व वसुओंवाला तो होता ही है, पर उन्नति करते-करते तू धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँचता है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ **स**=वह तू **शंतनवे**=शान्ति के विस्तार के लिए **पर्जन्यं वृषाय**=पर्जन्य को (वर्षय) वृष्टि करनेवाला बना। (४) ऊँची से ऊँची स्थिति में पहुँचनेवाला यह ऊर्ध्वादिक् का अधिपति 'बृहस्पति' है। धर्ममेघ समाधि में होनेवाले 'वर्षं इषव:' आनन्द वृष्टि के बिन्दु ही इस मार्ग पर इसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरक होते हैं। वस्तुत: राष्ट्र में इस प्रकार की वृत्तिवाले पुरुषों की स्थिति ही वृष्टि के भी ठीक से होने का कारण बनती है। 'निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु' यह प्रार्थना तभी पूर्ण होती है। (५) इस ऊँची स्थिति में पहुँचने का रहस्य 'मरुत्वान्' बनने में है। प्राणसाधना से हमारी वृत्ति सदा सद्गुणों व ज्ञान के ग्रहण की बनती है, हम 'आदित्य' बनते हैं 'आदान करनेवाले' सूर्य जैसे सब जगह से शुद्ध जल का ही अपनी किरणों द्वारा ग्रहण करता है, इसी प्रकार हम अच्छाइयों को ही लेते हैं बुराइयों को नहीं। प्राणसाधना का दूसरा परिणाम यह है कि हमारे शरीर में स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्त्वों का उत्पादन होता है, हम वसुओंवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनानेवाले बृहस्पति बनकर मित्रता-निर्द्वेषता-पुष्टि-गुणादानवृत्ति तथा वसुमत्ता को अपनाने के हेतु से प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँचकर आनन्द की वर्षा का अनुभव करते हुए शान्ति को प्राप्त हों।

ऋषि:—देवापिरार्ष्टिषेण: ॥ देवता—देवा: ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

प्रभु की ओर

आ दे॒वो दू॒तो अ॑जि॒रश्चि॑कि॒त्वान्त्वद्दे॑वापे अ॒भि माम॑गच्छत्।
प्र॒ती॒ची॒नः प्रति॒ मामा व॑वृत्स्व॒ दधा॑मि ते द्यु॒मतीं॒ वाच॑मा॒सन् ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'मरुत्वान्' बनने पर हमारा जीवन बड़ा उत्तम बनता है। प्रभु कहते

हैं कि हे **देवापे**-देवों को अपना मित्र बनानेवाले देवापि! तू **देव:**-(दिव् क्रीडा) संसार के सब व्यवहारों को क्रीड़क की मनोवृत्ति से करनेवाला बना है। **दूत:**-तूने अपने को तपस्या की अग्नि में संतप्त किया है। **अजिर:**-(agile) बड़े क्रियाशील जीवनवाला तू हुआ है। **चिकित्वान्**-ज्ञानी बना है। अब **त्वद्**-तेरे से **मां अभि**-मेरी ओर **आ अगच्छत्**-सर्वथा स्तुतिवचन प्राप्त होनेवाले हों, अर्थात् तू निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। तू अपनी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि को मेरे में लगानेवाला बन, विषय-प्रवण न होकर तू आत्म-प्रवण हो। (२) **प्रतीचीन:**-इस प्रकार इन्द्रियों को प्रत्याहृत करनेवाला (प्रति अञ्च्-प्रति आहर) **मां प्रति**-मेरी ओर **आववृत्स्व**-आनेवाला हो। (३) जब हम प्रभु की ओर चलते हैं तो प्रभु कहते हैं कि मैं **ते आसन्**-तेरे मुख में **द्युमती**-ज्योतिर्मयी **वाचम्**-वाणी को **दधामि**-धारण करता हूँ। हम इन्द्रियों को प्रत्याहृत करके प्रभु की ओर चलते हैं और जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते हैं उतना-उतना प्रभु के ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलते हैं, प्रभु हमें ज्ञान देते हैं।

ऋषि:—देवापिरार्ष्टिषेण: ॥ देवता—देवा: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

मधुर प्रकाशमय जीवन

अ॒स्मे धे॑हि द्यु॒मतीं॒ वाच॑मा॒सन्बृह॑स्पते अनमी॒वामि॑षि॒राम्।
यया॑ वृ॒ष्टिं शन्त॑नवे॒ वना॑व दि॒वो द्र॒प्सो मधु॑माँ॒ आ वि॑वेश ॥ ३ ॥

(१) देवापि प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **बृहस्पते**-वेदवाणी के पति प्रभो! आप **अस्मे आसन्**-हमारे मुखों में **द्युमतीं वाचम्**-इस ज्योतिर्मयी वाणी को **धेहि**-धारण कीजिए। जो वाणी **अनमीवाम्**-सब प्रकार के रोगों को दूर करनेवाली है तथा **इषिराम्**-सदा उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली है। (२) उस वाणी को हमारे में धारण कीजिए **यया**-जिससे कि हम गृह का निर्माण करनेवाले पति-पत्नी भी **शन्तनवे**-शान्ति के विस्तार के लिए **वृष्टिम्**-आनन्द की वर्षा को **वनाव**-प्राप्त करनेवाले हों। वेदवाणी से उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करके संयमी जीवनवाले बनकर योगमार्ग में प्रगति करते हुए धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँच पाएँ। (३) यह **द्रप्स:**-(drsps) सोमकण जो **दिव:**-ज्ञान की ज्योति का साधनभूत है तथा **मधुमान्**-जीवन को अत्यन्त माधुर्ययुक्त बनानेवाला है, यह **आविवेश**-हमारे शरीर में ही चारों ओर प्रविष्ट होनेवाला हो। शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर यह हृदय को माधुर्य से तथा मस्तिष्क को दीप्ति से भर दे।

भावार्थ—हमारे मुख में ज्योतिर्मयी वाणी हो, हम योगमार्ग में आगे बढ़ते हुए धर्ममेघ समाधि तक पहुँचें। सोमरक्षण के द्वारा मधुर व प्रकाशमय जीवनवाले हों।

ऋषि:—देवापिरार्ष्टिषेण: ॥ देवता—देवा: ॥ छन्द:—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

ऐश्वर्य की प्राप्ति

आ नो॑ द्र॒प्सा मधु॑मन्तो विश॒न्त्विन्द्र॑ दे॒ह्यधि॑रथं स॒हस्र॑म्।
नि षी॑द हो॒त्रमृ॑तु॒था य॑जस्व दे॒वान्दे॑वापे ह॒विषा॑ सपर्य ॥ ४ ॥

(१) देवापि प्रार्थना करता है कि **न:**-हमारे में **मधुमन्त:**-जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **द्रप्सा:**-सोमकण **आविशन्तु**-हमारे शरीरों में ही चारों ओर प्रविष्ट होनेवाले हों। हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप हमें **अधिरथम्**-इस शरीर-रथ में **सहस्रं देहि**-शतश: धनों को प्राप्त कराइये। (२) देवापि की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु उसे इसकी प्राप्ति के लिए साधनभूत

बातों का निर्देश करते हुए कहते हैं कि—(क) **होत्रं निषीद**=स्तुति (होत्र=....) में तू आसीन होनेवाला हो, सदा उपासना तुझे प्रिय हो। (ख) **ऋतुथा यजस्व**=ऋतुओं के अनुसार तू यज्ञों को करनेवाला बन। (ग) तथा **देवापे**=हे देवों को अपना मित्र बनानेवाले जीव! तू **देवान्**=देवों का **हविषा**=दानपूर्वक अदन करने के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **सपर्य**=पूजन करनेवाला हो। यज्ञों (पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ) के द्वारा देवों को तृप्त करके ही तू सदा खानेवाला बन। इन प्रसन्न हुए-हुए देवों से ही तुझे वाञ्छनीय ज्ञान की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—जीवन में वास्तविक ऐश्वर्य को पाने के लिए आवश्यक है कि हम—प्रभु-स्तवन करें, (२) यज्ञशील हों, (३) यज्ञशेष के सेवन की वृत्तिवाले बनकर देवों को आदृत करनेवाले बनें।

ऋषिः—देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तर समुद्र से अधर समुद्र की ओर दिव्य जलों का प्रवाह

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या अंसृजद्वर्ष्या अभि॥ ५॥

(१) 'ऋष' धातु 'नष्ट करना' इस अर्थ की वाचक है। 'वासनाओं को नष्ट करनेवाली है इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप सेना जिसकी' वह व्यक्ति 'आर्ष्टिषेण' है। यह **आर्ष्टिषेणः**= आर्ष्टिण **ऋषिः**=वासनाओं का संहार करनेवाला बनकर **होत्रं निषीदन्**=(होत्रम्) स्तवन में व यज्ञों में आसीन होता है। इस स्तवन व यज्ञशीलता से **देवापिः**=(देवाः आपयो यस्य) देवों का मित्र बनकर **देवसुमतिं चिकित्वान्**=देवों की कल्याणी मति को जाननेवाला होता है। देवों के सम्पर्क में आकर उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता है। माता, पिता व आचार्य आदि देव उसके ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं। (२) **सः**=वह आर्ष्टिषेण देवापि **उत्तरस्मात् (समुद्रात्)**=उत्कृष्ट ज्ञान समुद्रभूत आचार्यों से **अधरं समुद्रं अभि**=इस निचले समुद्र की ओर, अर्थात् अपनी ओर **दिव्याः अपः**=इन प्रकाशरूप अलौकिक ज्ञान जलों को **असृजत्**=प्रवाहित करता है। ये ज्ञानजल **वर्ष्याः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं, ज्ञानजलों के आधार होने के दृष्टिकोण से आचार्य 'उत्तर समुद्र' है और विद्यार्थी 'अधर समुद्र'। आचार्य से विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त होता है, यही उत्तर समुद्र से अधर समुद्र की ओर जल का बरसना है। ये ज्ञानजल दिव्य हैं, प्रकाशमय होने से अलौकिक हैं और सुखों का वर्षण करनेवाले होने से 'वर्ष्य' हैं।

भावार्थ—हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को वासनाओं के संहार के लिए प्रेरित करें। आचार्यों के सम्पर्क में आकर ज्ञानजलों के समुद्र बनने का यत्न करें।

ऋषिः—देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान व दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु

अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभिर्निवृता अतिष्ठन्।
ता अंद्रवन्नार्ष्टिषेणेन सृष्टा देवापिना प्रेषिता मृक्षिणीषु॥ ६॥

(१) **अस्मिन्**=इस उत्तर स्मिन् **समुद्रे अधि**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान समुद्र प्रभु में **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों से **निवृताः**=निरुद्ध (surrounded enclased) **आपः**=ज्ञानजल **अतिष्ठन्**=स्थित हैं। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज तो हैं ही, साथ ही वे दिव्यगुणों के आधार हैं। (२) **ताः**=वे ज्ञानजल **आर्ष्टिषेणेन**='इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के द्वारा वासनाओं का संहार करनेवाले से **सृष्टाः**=उत्पन्न

किये हुए अव्रवन्=गतिवाले होते हैं, अर्थात् इसे खूब क्रियाशील बनाते हैं। ये ज्ञानजल देवापिना=देव हैं मित्र जिसके उस देवापि से मृक्षिणीषु=(मज् शुद्धौ) परिशुद्ध हृदय-स्थलियों में प्रेषिताः=प्रेषित (=प्रेरित) होते हैं। देवापि योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय करके अपने हृदय को दीप्त करता है। इस दीप्त हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है। यही उत्कृष्ट ज्ञान-समुद्र से ज्ञानजलों का प्रवाह कहलाता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान व दिव्यगुणों के पुञ्ज हैं। देवापि अपने हृदय को पवित्र बनाकर इन ज्ञानजलों को अपनी ओर प्रवाहित करता है।

ऋषिः—देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दया से दीप्त

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥ ७ ॥

(१) **यत्**=जब **देवापिः**=देवों को अपना मित्र बनानेवाला यह 'देवापि' (क) **शन्तनवे**=शान्ति के विस्तार के लिए **पुरोहितः**=सब से अग्र-स्थान में स्थित होता है, शान्ति विस्तार के कर्म में सर्वप्रमुख होता है। (ख) **होत्राय वृतः**=यह स्तवन व यज्ञ के लिए ही वरण किया गया होता है। सदा यज्ञों व स्तवनों में ही प्रवृत्त रहता है। (ग) **कृपयन्**=(to pity) सब पर दया करता हुआ **अदीधेत्**=(दीधी tto sluire) दीप्त हो उठता है। (२) इस प्रकार के जीवनवाले **अस्मा**=इस देवापि के लिए **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी परमात्मा **वृष्टिवनिम्**=आनन्द की वृष्टि को प्राप्त करानेवाले **देवश्रुतम्**=सब देवों के ज्ञान को देनेवाली **वाचम्**=वाणी को **अयच्छत्**=देता है। वेदवाणी के अन्दर सूर्यादि सब देवों का ज्ञान उपलब्ध होता है। यह ज्ञान इन सब पदार्थों के ठीक प्रयोग के द्वारा हमारे लिए सुखों का वर्षण करनेवाला है। प्रभु देवापि के लिए इस ज्ञान को देते हैं।

भावार्थ—हम शान्ति विस्तार के कर्मों में प्रमुख हों, यज्ञों व स्तवनों में प्रवृत्त रहें, सब पर दया करते हुए दीप्त हों। प्रभु हमें वह ज्ञान देंगे जो हमारे लिए सुखों का वर्षण करनेवाला होगा।

ऋषिः—देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शुशुचान

यं त्वां देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम् ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यं त्वा**=जिन आपको **देवापिः**=देवों को मित्र बनानेवाला, **शुशुचानः**=अपने को पवित्र करनेवाला, **आर्ष्टिषेणः**='इन्द्रियों, मन व बुद्धि' की सेना को वासनारूप शत्रुओं के संहार के लिए भेजनेवाला **मनुष्यः**=विचारशील पुरुष **समीधे**=समिद्ध करता है। (२) **सः**=वे आप **विश्वेभिः देवैः**=सब देवों से **अनुमद्यमानः**=प्रसन्न किये जाते हुए **वृष्टिमन्तं पर्जन्यम्**=आनन्द की वर्षा करनेवाले समाधि स्थिति के मेघ को **ईरया**=प्रेरित करिये। उस मेघ से आनन्द की वृष्टि को कराइये। (३) जब मनुष्य 'उत्तम माता, पिता व आचार्य' आदि देवों के सम्पर्क में आता है तो उसका ज्ञान बढ़ता है और उसका जीवन पवित्र होता है। यह वासनाओं का संहार करता हुआ, प्रभु-दर्शन के योग्य बनता है। इन देववृत्ति के पुरुषों से स्तुति किये जाते हुए प्रभु इन्हें आनन्द की वृष्टि का अनुभव कराते हैं।

भावार्थ—देवापि बनकर अपने जीवनों को पवित्र करते हुए हम आनन्द की वृष्टि का अनुभव करें।

ऋषिः—देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जीवन-यज्ञ

त्वां पूर्व ऋषयो गीर्भिरायन्त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे।
सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप याहि ॥ ९ ॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! (पुरु=बहुत) पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे प्रभो! (पृपालनपूरणयोः) **त्वाम्**=आपको **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **ऋषयः**=ज्ञानी पुरुष **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **आयन्**=प्राप्त होते हैं। **विश्वे**=इस संसार में प्रविष्ट होनेवाले व्यक्ति **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के होने पर **त्वाम्**=आपको प्राप्त होते हैं। (२) हे प्रभो! आपको प्राप्त होने पर **अस्मे**=हमें **अधिरथानि**=इस शरीररूप रथ में **सहस्राणि**=हजारों ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। इसलिए हे **रोहिदश्व**=तेजस्वी वृद्धिशील इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **नः यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ में **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त होइये। आपकी कृपा से ही तो हमारा यह जीवनयज्ञ पूर्ण होना है। 'कर्णाविमी नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात होताओं से ही तो यह जीवनयज्ञ चलता है। इन सातों को आपने ही तेजस्विता प्राप्त करानी है।

भावार्थ—ज्ञान व यज्ञ प्रभु प्राप्ति के साधन हैं। प्रभु के प्राप्त होने पर ही हमारा जीवनयज्ञ निर्विघ्नता से पूर्ण होना है।

ऋषिः—देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानवृष्टि

एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एतानि नवतिः नव**=ये जीवन के ९९ वर्ष **त्वे आहुतानि**=आप में अर्पित हुए हैं। **अधिरथा**=इस शरीररूप रथ में **सहस्रा**=जो शतशः ऐश्वर्य हैं, वे भी आपके प्रति अर्पित हैं। वस्तुतः ये सब आपके ही दिये हुए हैं, सो आपके ही हैं। (२) हे **शूर**=हमारे वासनारूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **तेभिः**=उन ऐश्वर्यों के द्वारा **पूर्वीः तन्वः**=जिनका पालन व पूरण किया गया है, ऐसे इन शरीरों को **वर्धस्व**=आप बढ़ाइये। वासनाओं के विनष्ट होने पर शरीर की शक्तियों का वर्धन होता ही है। (३) **इषितः**=प्रार्थना किये हुए आप **नः**=हमारे लिए **दिवः वृष्टिम्**=ज्ञान की वर्षा को **रिरीहि**=प्रदान कीजिए। इस ज्ञान के द्वारा ही हमारे कर्म पवित्र होंगे। और हम इन पवित्र कर्मों से निरन्तर उन्नति को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन व सब शरीरस्थ ऐश्वर्य प्रभु के लिए अर्पित हों। वासनाओं का विनाश करने के द्वारा प्रभु हमारा वर्धन करें तथा हमारे लिए ज्ञान का वर्षण करें।

ऋषिः—देवापिरार्ष्टिषेणः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवयान मार्ग तथा देवों का आश्रय

एतान्यग्ने नवतिं सहस्रा सं प्र यच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम्।
विद्वान्पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि ॥ ११ ॥

(१) हे **अग्ने**-अग्रेणी प्रभो! **एतानि**-इन **नवतिम्**-नब्बे जीवन के वर्षों को तथा **सहस्रा**-हजारों ऐश्वर्यों को **वृष्णे**-इस शक्तिशाली **इन्द्राय**-जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भागम्**-सेवनीय अंश के रूप में **संप्रयच्छ**-दीजिए। (२) **विद्वान्**-सर्वज्ञ होते हुए आप **ऋतुशः**-ऋतुओं के अनुसार **देवयानान् पथः**-देवयान मार्गों को **धेहि**-हमारे लिए स्थापित करिये। हम आपकी प्रेरणा को प्राप्त करके सदा देवयान मार्गों पर चलनेवाले हों। और **दिवि**-ज्ञान के प्रकाश के निमित्त **देवेषु**-उत्तम माता, पिता, आचार्य आदि देवों में **औलानम्**-(suppost) आश्रय को **अपि**-भी **धेहि**-धारण करिये। उत्तम माता, पिता व आचार्य आदि देवों के आश्रय को पाकर हम ज्ञान के प्रकाश को पानेवाले हों। माता हमें प्रारम्भिक ज्ञान को देनेवाली हों, हमारी रुचि को ज्ञान-प्रवण करनेवाली हो। पिता से हमें लौकिक इतिहासादि का ज्ञान प्राप्त हो तथा आचार्यों से हम विज्ञान को प्राप्त करके प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखनेवाले हों।

भावार्थ—हमें दीर्घजीवन व जीवन के लिए आवश्यक ऐश्वर्य प्राप्त हों। हम देवयान मार्ग पर चलनेवाले हों। उत्तम माता, पिता व आचार्य के आश्रय में रहकर उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करें।

सूचना—वेद में सामान्यतः १०० वर्ष के जीवन की प्रार्थना है। ९०, १० वर्ष यह १०० वर्ष सामान्य है। 'भूयश्च शरदः शतात्' सौ से अधिक वर्ष जीवें।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रोगों व वासनाओं का विनाश

अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध।
अस्मात्समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह॥ १२॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **मृधः**-हमारा हिंसन करनेवाली वासनाओं को **बाधस्व**-आप बाधित करिये। **दुर्गहा**-दुःखेन गाहितव्य (=आलोडनीय) शत्रु पुरों को **वि**-(बाधस्व) बाधित करिये। 'काम, क्रोध व लोभ' से 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में बनाए गये इन असुरों के नगरों को आप विध्वस्त करिये। **अमीवाम्**-रोगों को **अपसेध**-हमारे से दूर करिये तथा **रक्षांसि अप (सेध)**-रोगकृमियों का निषेध करिये। (२) इस प्रकार हमें शरीर व मन से स्वस्थ करके **अस्मात्**-इस **दिवः**-ज्ञान के **बृहतः समुद्रात्**-विशाल समुद्र से **अपाम्**-ज्ञानजलों के **भूमानम्**-बाहुल्य को **नः**-हमारे लिये **इह**-यहाँ इस जीवन में **उपसृज**-समीपस्थ होते हुए उत्पन्न करिये। आपकी कृपा से हम स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को खूब बढ़ा सकें।

भावार्थ—हम वासनाओं व रोगों से अपना रक्षण कर सकें। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करें।

सूक्त का विषय यही है कि हम ज्ञान को बढ़ाकर जीवन को पवित्र बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों। अगले सूक्त का ऋषि वासनाओं का उद्गिरण करनेवाला 'वम्र' है, यह वासनाओं को विशेषरूप से खोदनेवाला 'वैखानस' है। यह कहता है कि—

[९९] नवनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अद्भुत आनन्दप्रद ज्ञान की प्राप्ति

कं नश्चित्रमिषण्यसि चिकित्वान्पृथुग्मानं वाश्रं वावृधध्यै।
कत्तस्य दातु शवसो व्युष्टौ तक्षद्वज्रं वृत्रतुरमपिन्वत्॥ १॥

(१) हे प्रभो! **चिकित्वान्**-ज्ञानी होते हुए आप नः=हमारे लिए **कम्**-आनन्द को देनेवाले **चित्रम्**-चेतानेवाले ज्ञान को **इषण्यसि**-आप प्रेरित करते हैं। जो ज्ञान **पृथुग्मानम्**-(पृथुभावं प्राप्नुवन्तं) पृथुभाव को विस्तार को प्राप्त करनेवाला है, जिस ज्ञान को प्राप्त करके हम संकुचित व अनुदार नहीं रहते, जो ज्ञान हमें विशाल बनानेवाला है। **वाश्रम्**-जो स्तुति के योग्य व प्रशंसनीय है। **वावृधध्यै**-जो ज्ञान वर्धन के लिये होता है, जिस ज्ञान को प्राप्त करके हम उन्नत ही उन्नत होते चलते हैं। (२) **तस्य**-उस प्रभु का **दातु**-दान **कम्**-आनन्दप्रद है। **शवसः व्युष्टौ**-बल के उदय होने (व्युष्टि=dawn=उषा) के निमित्त अथवा (व्युष्टि-prospesity) बल के ऐश्वर्य के निमित्त वे प्रभु **वज्रं तक्षत्**-क्रियाशीलता रूप वज्र को बनाते हैं और इस वज्र के द्वारा **वृत्रतुरम्**-वासनारूप शत्रु को हिंसित करनेवाले को **अपिन्वत**-प्रीणित करते हैं अथवा आनन्द से सींचते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। शक्ति के ऐश्वर्य को प्राप्त कराने के लिए क्रियाशीलता रूप वज्र को प्राप्त कराते हैं। इस वज्र से वासना का संहार होने पर ही तो शक्ति मिलती है।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञान-विज्ञान' से युक्त होकर 'उपासना'

स हि द्युता विद्युता वेति साम पृथुं योनिमसुरत्वा ससाद।
स सनीळेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **सः**-वह 'वृत्रतूः' व्यक्ति **हि**-निश्चय से **द्युता विद्युता**-ज्ञान-विज्ञान के साथ **साम वेति**-उपासनात्मक मन्त्रों व स्तोत्रों को प्राप्त होता है। ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करता है और स्तवन को करनेवाला होता है। (२) **असुरत्वा**-(असु क्षेपणे) वासनारूप शत्रुओं के दूर फेंकने के द्वारा यह **पृथुं योनिम्**-उस विशाल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **ससाद**-आसीन होता है। वस्तुतः प्रभु में आसीन होने से ही यह पूर्णरूपेण वासनाओं का पराभव कर पाता है। (३) **स**-वह **सनीळेभिः**-अपने साथ समान नीडवाले इन प्राणों के द्वारा **प्र सहानः**-शत्रुओं का पूर्णरूप से मर्षण करता है। प्राणसाधना इसे इस योग्य बनाती है कि यह कामादि का पराभव कर सके। प्राणों से टकराकर ये वासनाएँ इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे कि पत्थर से टकराकर मट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। (४) **अस्य सप्तथस्य**-इस पाँच ज्ञानेन्द्रियों व मन का अपने साथ वर्षण करने करनेवाले (मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति) सातवें जीवन के **ऋते**-व्यवस्थित जीवन के होने पर, अनृत से दूर होकर ऋत में चलने पर **मायाः**-प्रज्ञान **भ्रातुः न**-अपने बड़े भाइ प्रभु की तरह होते हैं, (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०) प्रभु की तरह यह भी ज्ञान से चमक उठता है। 'भ्रातुः' शब्द का अर्थ 'संसार का भरण करनेवाला प्रभु' भी किया जा सकता है। इस प्रभु की तरह यह वासनाओं का पराभव करनेवाला व्यक्ति भी ज्ञान-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—हम ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करके प्रभु के उपासक बनें। प्रभु में आधीन होने पर हम वासनाओं का विनाश कर पाएँगे। उस समय ही वस्तुतः ऋतमय जीवनवाले बनकर हम ज्ञान से चमकेंगे।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सन्मार्ग का आक्रमण

स वाजं यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत्॥ ३॥

(१) **सः**=वह गत मन्त्र का उपासक **अप-दुष्पदा**=दुष्टाचार से रहित (अप) पुण्यमार्ग से **यन्**-गति करता हुआ **वाजं याता**=शक्ति को प्राप्त करता है। **स्वर्षाता**=प्रकाश की प्राप्ति के निमित्त **सनिष्यन्**=संभजन करता हुआ **परिषदत्**=आसीन होता है। यह प्रभु-भजन उसके हृदय को प्रकाश प्राप्त कराता है। (२) **अनर्वा**=वासनाओं से हिंसित न होता हुआ **यत्**=जब यह **शतदुरस्य**=सैंकड़ों द्वारोंवाले इस असुर सम्राट् 'वृत्र' के **वेदः**=धन व ऐश्वर्य को **घ्नन्**-नष्ट करता है तो **शिश्नदेवान्**-अ-ब्रह्मचर्य से चलनेवालों को **वर्पसा अभिभूत्**=(आवरकेण बलेन) अभिभूत कर लेनेवाले बल से पराजित करता है। जितेन्द्रिय अजितेन्द्रियों को पराजित करनेवाला होता है।

भावार्थ—सन्मार्ग से चलते हुए हम शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—वम्रो वैखानसः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—आसुरीस्वराडार्चीनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

दीप्ति व दिव्य पदार्थों की ओर

स यह्व्यो३ऽवनीर्गोष्वर्वा जुहोति प्रधन्यासु सस्त्रिः।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः ॥ ४ ॥

(१) **सः**=वह गोषु **अर्वा**=ज्ञान की वाणियों में गति करनेवाला **यह्व्यः**=(महतीः) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अवनी**=रक्षा के साधनभूत (आपः सा०) रेतःकणों को (आपः=रेतः=वीर्यम्) **आजुहोति**=अपनी ज्ञानाग्नि में आहुत करता है। इन रेतःकणों के रक्षण से ही बुद्धि सूक्ष्म होती है और सूक्ष्मता के अनुपात में ही यह बुद्धि तत्त्वदर्शन करनेवाली होती है। (२) इन रेतःकणों को अपने अन्दर सुरक्षित करके यह व्यक्ति **प्रधन्यासु**=अपने जीवन को प्रकृष्ट धन्यता प्राप्त करानेवाली क्रियाओं में **सस्त्रिः**=निरन्तर गतिशील होता है। **यत्र**=जिन क्रियाओं में **द्रोण्यश्वासः**=(द्रुत व्यापनाः सा०) द्रुत गति से व्याप्त होनेवाले ये इन्द्रियाश्व **अपादः**=बिना पाँवोंवाले होते हुए भी **अरथाः**=रथ से रहित होते हुए भी **युज्यासः**=अपने-अपने कार्यों में उत्तमता से लगे हुए **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति तथा **वाः**=वरणीय पदार्थों के प्रति **ईरते**=गतिवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त कराती हैं, तो कर्मेन्द्रियाँ उत्कृष्ट यज्ञादि कर्मों में लगकर स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करानेवाली बनती हैं।

भावार्थ—हम महत्त्वपूर्ण सोमरूप जलों को शरीर में ही सुरक्षित करके दीप्ति व दिव्य पदार्थों को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—वम्रो वैखानसः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

अप्रशस्तता से दूर

स रुद्रेभिरशस्तवार ऋभ्वा हित्वी गयमारेअवद्य आगात्।
वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नमभीत्यारोदयन्मुषायन् ॥ ५ ॥

(१) **सः**=वह 'वम्र'=वासनाओं का उद्‌गिरण करनेवाला मन्त्र का ऋषि **रुद्रेभिः**=प्राणों के द्वारा, प्राणसाधना के द्वारा **अशस्त-वारः**=सब अशुभों का निवारण करनेवाला होता है। अशुभों का निवारण करके यह **'ऋभ्वा'**=(ऋतेन भाति) ऋत से दीप्त होता है। अनृत से यह दूर होकर ऋत से चमक उठता है। (२) **गयम्**=इस शरीररूप गृह को **हित्वी**=धारण करके **आरे अवद्यः**=सब निन्द्य कर्मों से दूर होता हुआ यह **आगात्**=सम्पूर्ण गति को करनेवाला होता है। 'गयम्' का अर्थ (honsehold) 'गृहस्थ' भी होता है। अपने गृहस्थ को सम्यक् धारण करता हुआ यह निन्द्य कर्मों से ऊपर उठकर प्रभु की ओर जानेवाला होता है। (३) इस **वम्रस्य**=वम्र के

मिथुना-दोनों द्यावापृथिवी, मस्तिष्क तथा शरीर **विवव्री**-विशिष्टरूपवाले होते हैं, ऐसा **मन्ये**-मैं मानता हूँ। गत मन्त्र के अनुसार इसका मस्तिष्क 'घृतं'-ज्ञानदीप्ति को लिए हुए होता है और शरीर 'वा:'-सब वरणीय शक्तियों से सम्पन्न होता है। (४) वह वम्र **अन्नं अभि इत्य**-अन्न की ही ओर जाकर, अर्थात् अन्न का ही सेवन करता हुआ, **मुषायन्**-(to hust, inywe kill) सब वासनाओं का संहार करता हुआ इन आसुरभावों को **अरोदयत्**-रुलाता है। देर तक एक स्थान में रहकर आज उन्हें यहाँ से जाना पड़ रहा है।

भावार्थ—हम आसुरताओं से दूर होकर गृहस्थ को सुन्दरता से निभाएँ। वानस्पतिक पदार्थों को सेवन करते हुए वासनाओं से दूर रहें'।

ऋषि:—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'षडक्ष त्रिशीर्षा' दास का वध

स इहासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयोअग्रया हन्॥ ६॥

(१) **सः**-गत मन्त्र में वर्णित 'वम्र' **इत्**-निश्चय से **पतिः**-अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि का स्वामी होता हुआ **तुवीरवम्**-बढ़-चढ़कर बोलनेवाले मेरे समान कौन है 'ईश्वरोहम्' मैं ही तो ईश्वर हूँ इस प्रकार शेखी बघारनेवाले **दासम्**-आसुरभाव का **दन्**-दमन करता हुआ **षडक्षम्**-'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व छठा मन' इन छह आँखोंवाले **त्रिशीर्षाणम्**-'काम, क्रोध, लोभ' रूप तीन सिरोंवाले इस दास को **दमन्यत्**-कुचलनेवाला होता है। (२) **नु**-अब **त्रितः**-'काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को तैर जानेवाला **अस्य**-इस प्रभु के **ओजसा वृधानः**-ओज से बढ़ता हुआ, **अयो अग्रया**-लोह सूचिकावत् तीक्ष्ण अग्रभागवाली **विपा**-बुद्धि से **वराहम्**-उस सब श्रेष्ठ पदार्थों के प्राप्त करानेवाले प्रभु को **हन्**-प्राप्त होता है (हन् गतौ)। 'काम-क्रोध-लोभ' के कारण 'शरीर, मन व बुद्धि' की दुर्गति हो जाती है। इन कामादि को तैरनेवाला शरीर, मन व बुद्धि को शक्ति-सम्पन्न बनाता है और तीव्र बुद्धि से प्रभु-दर्शन कर पाता है।

भावार्थ—हम 'षडक्ष त्रिशीर्षा' दास का दमन करके तीव्र बुद्धि के द्वारा प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषि:—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुर-पुर-विध्वंस

स द्रुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसान आ साविषदर्शसानाय शरुम्।
स नृतमो नहुषोऽस्मत्सुजातः पुरोऽभिनदर्हन्दस्युहत्ये॥ ७॥

(१) **सः**-वे प्रभु **द्रुह्वणे**-(द्रुह जिघांसायाम्) हमें मारने की कामना करनेवाले काम-क्रोधादि को (वन्-win) पराजित करनेवाले **मनुषे**-विचारशील पुरुष के लिए **ऊर्ध्वसानः**-उत्कृष्ट प्रदेश को प्राप्त करानेवाले हैं। **अर्शसानाय**-इन काम-क्रोधादि शत्रुओं की हिंसा करनेवाले के लिए वे प्रभु ही **शरुम्**-शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले वज्र को **आसाविषत्**-सर्वथा उत्पन्न करते हैं। इस विचारशील पुरुष को वे वह वज्र प्राप्त कराते हैं, जिससे कि वह इन सब शत्रुओं का संहार कर पाता है। (२) **सः**-वे प्रभु ही **नृतमः**-हमारे सर्वोत्तम नेता हैं, **नहुषः**-हम सबको एक दूसरे के साथ बाँधनेवाले हैं। हम सबके पिता होते हुए वे हमें परस्पर भ्रातृ-बन्धन में बाँधते हैं। (३) **अस्मान् सुजातः**-हमारे हृदयों में उत्तमता से प्रादुर्भूत हुए-हुए वे प्रभु, **अर्हन्**-हमारे से पूज्य होते हुए **दस्युहत्ये**-काम-क्रोधादि दास्यव वृत्तियों के साथ चलनेवाले संग्राम में **पुरः अभिनत्**-इन

शत्रु-पुरियों का विध्वंस करते हैं। काम ने इन्द्रियों में, क्रोध ने मन में तथा लोभ ने बुद्धि में जो अपना किला बनाया है, प्रभु उन सबको विध्वस्त कर देते हैं। इन तीनों पुरियों के विध्वंस को करनेवाले वे प्रभु 'त्रिपुरारि' हैं। इनको विध्वस्त करके वे प्रभु हमारे उन्नति मार्ग को निर्विघ्न कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वह वज्र प्राप्त कराते हैं जिससे कि हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराजय कर सकें। वे असुर-पुरियों का विध्वंस करके हमें उन्नतिपथ पर आगे ले चलते हैं।

ऋषिः—वम्रो वैखानसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्दु का उपासन

सो अ॒भ्रियो॒ न यव॑स उद॒न्यन्क्षया॑य गा॒तुं वि॒दन्नो॑ अ॒स्मे।
उप॒ यत्सीद॒दिन्दुं॒ शरी॑रैः श्ये॒नोऽयो॑पाष्टिर्ह॒न्ति॒ दस्यू॑न् ॥ ८ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु, **न**=जिस प्रकार **अभ्रियः**=मेघसमूह **यवसे**=भूमि में घास आदि की उत्पत्ति के लिए **उदन्यन्**=जल को देने की कामनावाला होता है उसी प्रकार, **नः क्षयाय**=हमारे उत्तम निवास व गति के लिए **अस्मे**=हमारे लिये **गातुं विदत्**=मार्ग को **विदत्**=प्राप्त कराते हैं। इस मार्ग पर चलकर हम अपने निवास को उत्तम बना पाते हैं। (२) **यत्**=जिस समय एक उपासक **शरीरैः**=अपने 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' नामक सब शरीरों से **इन्दुम्**=उस शक्तिशाली प्रभु का **उपसीदत्**=उपासन करता है, अर्थात् इन सब शरीरों की क्रियाओं को प्रभु स्मरणपूर्वक करता है तो वह **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होता है तथा **अयः अपाष्टिः**=लोहे की एडीवाला होता हुआ, अर्थात् दृढ़ शरीरवाला होता हुआ **दस्यून्**=इन दस्युओं को **हन्ति**=नष्ट कर देता है। दास्यव वृत्तियों को अपने से दूर भगा देता है। लोहे की एड़ीवाला इन शब्दों का प्रयोग ऐसा संकेत करता है कि वह इन दस्युओं को ठोकर मारकर दूर कर देता है (kicks than away)।

भावार्थ—प्रभु हमें मार्गदर्शन कराते हैं, जिस पर कि चलकर हम उत्तम निवासवाले बन पाएँ। प्रभु की उपासना से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि हम दास्यव वृत्तियों को नष्ट करनेवाले होते हैं।

सूचना—प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करना, इन कार्यों को प्रभु की शक्ति से होता हुआ ही प्रभु की उपासना है।

ऋषिः—वम्रो वैखानसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु विध्वंस व लक्ष्य-प्राप्ति

स व्राध॑तः शव॒सा॒नेभि॑रस्य॒ कुत्सा॑य॒ शुष्णं॑ कृ॒पणे॒ परा॑दात्।
अ॒यं क॒विम॑नयच्छ॒स्यमा॑न॒मत्कं॒ यो अ॑स्य॒ सनि॑तो॒त नृ॒णाम् ॥ ९ ॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **व्राधतः**=(महतः) बड़े शक्तिशाली भी शत्रुओं को **शवसानेभिः**=शक्तिशाली आयुधों से (बलयाचरद्भिः आयुधैः सा०) **अस्य**=(असु क्षेपणे) परे फेंकिये। 'शवसानं' शब्द श्मशान के लिए भी आता है। इन शत्रुओं को आप श्मशान के हेतु से फेंकिये, अर्थात् इनका दहन ही कर दीजिए। (२) वे प्रभु **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले **कृपणे**=(to prty) सब भूतों पर दया करनेवाले व्यक्ति के लिए **शुष्णम्**=हमारा शोषण करनेवाले 'काम' नामक असुर को **परादात्**=(पराभूय खण्डितवान् सा०, दाप् लवने) खण्डित करके सुदूर विनष्ट करते हैं। (३) **अयम्**=ये प्रभु **शस्यमानम्**=स्तुति करते हुए **कविम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष को **अनयत्**=सुमार्ग पर ले

चलते हैं। उत-और नृणाम्-मनुष्यों में यः-जो अस्य-इस प्रभु के अत्कम्-कवच को सनिता-उपासित करता है व प्राप्त करता है उसे प्रभु लक्ष्य स्थान पर पहुँचाते हैं। (अत्कं=armous) प्रभु को कवच बना करके चलनेवाला आसुरवृत्तियों से पराजित नहीं होता। यह आगे बढ़ता हुआ लक्ष्य को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं और हमें लक्ष्य पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—वम्रो वैखानसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरुष-पशु

अयं दशस्यन्नर्येभिरस्य दुस्मो देवेभिर्वरुणो न मायी।
अयं कनीन ऋतुपा अवेद्यमिमीतारुं यश्चतुष्पात्॥ १०॥

(१) **अयम्**=यह प्रभु **दशस्यन्**=हम स्तोताओं के लिए सब उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने के हेतु से **नर्येभिः**=नर हितकारी इन प्राणों (मरुतों) के द्वारा **अस्य**=(अस्यति) सब वासनाओं को परे फेंकते हैं। इन वासनाओं के विनष्ट होने पर ही तो हमें ज्ञानादि का वास्तविक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। (२) **दस्मः**=सब वासनाओं का उपक्षय करनेवाले वे प्रभु **देवेभिः**=माता, पिता व आचार्य आदि देवों के द्वारा **वरुणो न**=हमारे लिए तमो निवारक आदित्य के समान होते हैं। आदित्य अन्धकार को दूर करता है, इसी प्रकार प्रभु उत्तम माता आदि देवों के द्वारा हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। (३) **अयम्**=यह **मायी**=प्रज्ञावान् प्रभु **कनीनः**=अत्यन्त दीप्त हैं (कन दीप्तौ)। हमारे जीवनों में ये प्रभु **ऋतुपाः अवेदि**=नियमित गति का रक्षण करनेवाले जाने जाते हैं। प्रभु के स्मरण के होने पर हमारे जीवन की गतियाँ बड़ी नियमित बनी रहती हैं। 'ऋतु' शब्द यहाँ नियमित गति का वाचक है। ऋतुएँ जैसे नियम से आती हैं, इसी प्रकार नियम से चलना भी 'ऋतु' है। प्रभु इसका हमारे में रक्षण करते हैं। (४) प्रभु **अरुम्**=उस न दान देनेवाले केवलादी पुरुष को **अमिमीत**=हिंसित करते हैं, **यः**=जो केवलादी पुरुष **चतुष्पात्**=पशु तुल्य है, 'द्विपात्' मनुष्य न होकर 'चतुष्पाद्' पशु ही है। केवल अपने लिए पशु ही जीते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम वासनाओं को दूर करें। माता, पिता व आचार्यों से ज्ञान को प्राप्त करके अन्धकार से दूर हों। प्रभु की रक्षा में हम खूब दानशील हों। केवलादी पुरुष पशु न बन जाएँ।

ऋषिः—वम्रो वैखानसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पिप्रु व्रज विदारण

अस्य स्तोमेभिरौशिज ऋजिश्वा व्रजं दरयद् वृषभेण पिप्रोः।
सुत्वा यद्यजतो दीदयद्गीः पुर इयानो अभि वर्पसा भूत्॥ ११॥

(१) **अयम्**=यह उपासक **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **औशिजः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाला अथवा मेधावी (नि० ३।१५) होता है। स्तुति से अशुभ वृत्तियाँ नष्ट होती हैं। ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के दूर होने पर ज्ञान दीप्त हो उठता है। **ऋजिश्वा**=यह व्यक्ति ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला (श्वि गतिवृद्ध्योः) होता है। उस **वृषभेण**=शक्तिशाली प्रभु के द्वारा यह **पिप्रोः**=पिप्रु के **व्रजम्**=व्रज व बाड़े को **दरयत्**=विदीर्ण करता है 'पिप्रु' वह आसुरवृत्ति है जिसके कारण यह अपने ही खजाने को भरने का ध्यान करता है, टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से धन को ही जुटाने में लगा रहता है (प्रा पूरणे)। यही लोभ है। यह लोभ बुद्धि में अपना अधिष्ठान (व्रज)

बनाकर बुद्धि पर परदा डाल देता है। प्रभु की उपासना से यह 'पिप्रु का व्रज' विदीर्ण होता है और बुद्धि चमक उठती है। (२) यह व्यक्ति **सुत्वा**=यज्ञशील होता है, हाथों से सदा यज्ञादि उत्तम कर्म करता रहता है। और **यद्**=जब यह **यजतः**=उस प्रभु का पूजन करनेवाला बनता है तो अपनी बुद्धि में **गीः**=ज्ञान की वाणियों को **दीदयत्**=दीप्त करता है। 'हाथों में यज्ञ, हृदय में प्रभु पूजा तथा बुद्धि में ज्ञान की वाणियाँ' इस पुरुष को दीप्त जीवनवाला बना देती हैं। यह **पुरः**=शत्रु-पुरियों के प्रति **इयानः**=जाता हुआ उनपर आक्रमण करता हुआ, **वर्पसा**=अपने तेजस्वी रूप से **अभिभूत्**=उनका अभिभव करनेवाला होता है शत्रु-पुरियों का विध्वंस करके अपने जीवन को यह दीप्त व सुखी बनाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम आसुर भावनाओं को दूर करके मेधावी, सरल गति, यज्ञशील, उपासक व ज्ञानी बनें।

ऋषिः—वम्रो वैखानसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

योगक्षेमावहो हरिः

एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्।
स इयानः करति स्वस्तिमस्मा इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः॥ १२॥

(१) हे **असुर**=हमारी वासनाओं को सुदूर फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) प्रभो! **एवा**=इस प्रकार **महः**=(महतः स्वर्गादिः) उत्कृष्ट स्वर्गादि लोकों की **वक्षथाय**=प्राप्ति के लिए (वह प्रापणे) **वम्रकः**=अपनी वासनाओं का उद्‌गिरण करनेवाला यह उपासक **पड्भिः**='वैश्वानरः प्रथमः पादः, तैजसः द्वितीयः पादः, प्राज्ञ स्तृतीयः पादः' इन शब्दों में वर्णित 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' रूप कदमों के द्वारा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के समीप **उपसर्पत्**=समीपता से प्राप्त होता है। हम वासनाओं को नष्ट करके सबके हित साधन की वृत्तिवाले बनते हैं, तेजस्वी होते हैं और ज्ञान का वर्धन करके प्रभु प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। (२) **सः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु इस वम्रक से 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' रूप पादों से **इयानः**=जाये जाते हुए **अस्मै**=इस वम्रक के लिए **स्वस्तिम्**=कल्याण को **करति**=करते हैं। **इषं ऊर्जम्**=इसके लिए अन्न व रस को प्राप्त कराते हैं। इस अन्न-रस के द्वारा **सुक्षितिम्**=इसे उत्तम निवास प्राप्त कराते हैं और **विश्वम्**=सब आवश्यक चीजों को **आभाः** (आ अभाः=अहाः) प्राप्त कराते हैं (आहरतु)।

भावार्थ—हम वासनाओं को विनष्ट करनेवाले वम्रक बनें। प्रभु हमें अन्न, रस व उत्तम निवास देंगे, सब आवश्यक चीजें प्राप्त कराएँगे।

सूक्त का मूल भाव वासनाओं को विनष्ट करनेवाला 'वम्रक' बनना ही है। यह वम्रक 'दुवस्यु' होता है, प्रभु का भक्त (dwotee) बनता है। प्रभु के अभिवादन व स्तवन में आनन्द लेने से यह 'वान्दनः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है कि—

अथ नवमोऽनुवाकः

[१००] शततमं सूक्तम्

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

दृढ़ता

इन्द्र दृह्य मघवन्त्वावदिद्भुज इह स्तुतः सुतपा बोधि नो वृधे।
देवेभिर्नः सविता प्रावतु श्रुतमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **त्वावद्**=अपने समान ही **दृह्य**=मुझे दृढ़ करिये। (२) **इह**=इस जीवन में **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **भुजे**=हमारे पालन के लिए होइये, **सुतपाः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का रक्षण करनेवाले आप **नः वृधे**=हमारी वृद्धि के लिए **बोधि**=(बुध्यस्व=भव सा०) ध्यान करिये। आपकी कृपा से हम सोम का रक्षण करनेवाले बनकर अपना रक्षण कर पाएँ। (३) **सविता**=वह सबका प्रेरक प्रभु **देवेभिः**=माता, पिता व आचार्य आदि देवों के द्वारा नः=हमारे **श्रुतम्**=ज्ञान का **प्रावतु**=रक्षण करें प्रभु कृपा से हमें उत्तम माता, पिता व आचार्य प्राप्त हों। इनके द्वारा हमारा ज्ञान उत्तरोतर बढ़ता जाए। (४) हे प्रभो! हम **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाली, सब उत्तमताओं की आधारभूत, **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता का **आवृणीमहे**=सब प्रकार से वरण करते हैं। स्वास्थ्य पर ही अन्य सब बातें आधारित हैं। सब उत्कर्षों का मूल यह स्वास्थ्य ही है। इसके अभाव में किसी भी प्रकार के उत्कर्ष का सम्भव नहीं। सो हम इस अदिति का ही आराधन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें दृढ़ बनाएँ। हमारे सोम का रक्षण हो। देवों के सम्पर्क में हम ज्ञान को प्राप्त करें। स्वस्थ हों।

सूचना—'आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे' यह मन्त्रभाग ग्यारह मन्त्रों तक आवृत्त होगा। दस बाह्यकरणों तथा एक अन्तःकरण को मिलाकर कुल ग्यारह करण हैं। इन सबके स्वास्थ्य का संकेत इस ग्यारह संख्या से हो रहा है। इसी में 'सुख' है, इन्द्रियों का ठीक होना। (ख=इन्द्रिय)

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'भर-वायु-शुचिपा-क्रन्ददिष्टि'

भरा॑य॒ सु भ॑रत भा॒गमृ॒त्विय॒ं प्र वा॒यवे॑ शु॒चि॒पे क्र॒न्ददि॑ष्टये।
गौर॑स्य॒ यः पय॑सः पी॒तिमा॑न॒श आ स॒र्वता॑ति॒मदि॑तिं वृणीमहे॥ २॥

(१) गत मन्त्र में प्रार्थना थी कि वह सविता देवों के द्वारा हमारे ज्ञान का रक्षण करे। उन देवों से प्रार्थना करते हैं कि हे देवो! आप **भराय**=अपना ठीक से पोषण करनेवाले, **वायवे**=गतिशील के लिए, **शुचिपे**=शुद्ध सोम का पान करनेवाले के लिए, वीर्य को अपने अन्दर ही सुरक्षित करनेवाले के लिए, **क्रन्दद् इष्टये**=यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रार्थना करनेवाले के लिए **ऋत्वियं भागम्**=उस-उस ऋतु व समय के अनुकूल भजनीय अंश का **सु प्रभरत**=अच्छी प्रकार खूब ही भरण कीजिए। मातृ-देवता से हमारे जीवन के प्रारम्भ में उत्तम चरित्र का भरण किया जाए। अब पितृदेव शिष्टाचार का हमारे में भरण करें और तब आचार्य अधिक से अधिक ज्ञान का हमें भक्षण कराएँ। इस प्रकार चरित्र आचार व ज्ञान को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को सुन्दर बना पाएँ। (२) उस मेरे लिए ये देव ऋत्विय भाग का भरण करनेवाले हों **यः**=जो मैं **गौरस्य पयसः**=शुद्ध दूध के **पीतिम्**=पान को **आनशे**=अपने जीवन में व्याप्त करता हूँ। अर्थात् जो मैं शुद्ध दूध का पीनेवाला बनता हूँ। दूध आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन जीवन में उन्नति के लिए आवश्यक है। इस दूध का सेवन करते हुए हम **सर्वतातिम्**=सब उत्तमताओं का विस्तार करनेवाली **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता का **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं।

भावार्थ—देवता हमें ऋत्वियभाग तभी प्राप्त करा पाते हैं जब कि हम 'भर, वायु, शुचिपा व क्रन्ददिष्टि' हों तथा शुद्ध दूध आदि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'ऋजूयन्'-यजमान-सुन्वन्

आ नो देवः सविता साविषद्वय ऋजूयते यजमानाय सुन्वते।
यथा देवान्प्रतिभूषेम पाकवदा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ३ ॥

(१) **नः**-हमारे लिए **देवः सविता**-दिव्यगुणों का पुञ्ज, प्रेरक (सू प्रेरणे) व उत्पादक (सु अभिषवे) प्रभु **वयः**-उत्कृष्ट अन्न को **आसाविषत्**-उत्पन्न करे। **ऋजूयते**-ऋजु-सरल-मार्ग से चलनेवाले, **यजमानाय**-यज्ञशील, **सुन्वते**-सोम का अपने में अभिषव (उत्पादन) करनेवाले के लिए सोमशक्ति (वीर्य-शक्ति) को अपने में सुरक्षित करनेवाले के लिए प्रभु **पाकवत्**-अत्यन्त प्रशंसनीय (praiseworthy) **वयः**-अन्न को दें, **यथा**-जिससे **देवान्**-दिव्यगुणों को **प्रतिभूषेम**-अपने में हम सुशोभित कर पायें। (२) अन्न की सात्त्विकता वृत्ति की सात्त्विकता का कारण बनती है। सात्त्विक अन्न के सेवन से हमारे में दिव्यगुणों का विकास होता है और हम इन दिव्यगुणों से अपने जीवन को सुशोभित कर पाते हैं। इस सात्त्विक अन्न के सेवन से हम **सर्वतातिम्**-सब दिव्यगुणों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**-स्वास्थ्य को **आवृणीमहे**-वरते हैं। स्वस्थ बनकर सभी उत्तम चीजों के प्राप्त करने के योग्य होते हैं।

भावार्थ—ऋजुमार्ग से चलते हुए, यज्ञशील बनकर, सोम के सम्पादन के द्वारा हम उत्कृष्ट अन्न का सेवन करते हुए अपने जीवन को दिव्यगुणों से अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु का अनुग्रह

इन्द्रो अस्मे सुमना अस्तु विश्वहा राजा सोमः सुवितस्याध्येतु नः।
यथायथा मित्रधितानि सन्दधुरा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ४ ॥

(१) **इन्द्रः**-वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **अस्मे**-हमारे लिए **विश्वहा**-सदा **सुमनाः अस्तु**-उत्तम मनवाले, अनुग्रहयुक्त चित्तवाले हों। प्रभु का अनुग्रह हमारे पर सदा बना रहे। वे **राजा**-सम्पूर्ण विश्व का शासन करनेवाले **सोमः**-शान्त प्रभु **नः**-हमारे **सुवितस्य**-उत्तम आचरण **अध्येतु**-स्मरण करें (to long, case for) ध्यान करें, अर्थात् प्रभु की हमारे पर ऐसी कृपा हो कि हम सदा उत्तम ही आचरण करनेवाले बनें। (२) **यथायथा**-जिस-जिस प्रकार **मित्रधितानि**-उस सबके मित्र प्रभु के द्वारा स्थापित गुणों को **सन्दधुः**-हम अपने में संहित करते हैं, उसी प्रकार हम **सर्वतातिम्**-सब गुणों का विस्तार करनेवाली **अदितिम्**-स्वास्थ्य की देवता को **आवृणीमहे**-सर्वथा वरते हैं।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम सदा सन्मार्ग से चलें। गुणों को धारण करते हुए हम स्वास्थ्य का वरण करें।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मन में स्तवन, शरीर में शक्ति

इन्द्र उक्थेन शवसा परुर्दधे बृहस्पते प्रतरीतास्यायुषः।
यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **उक्थेन**-स्तोत्रों के हेतु से तथा **शवसा**-बल के हेतु से **परुः**-पालन व पूरण करनेवाले अन्न के द्वारा हमारे अंगों को **दधुः**-धारण करते हैं। (परुः-अन्न

व्य०, परु:-limb)। **बृहस्पते**-हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **आयुषः**-जीवन के **प्रतरीता असि**-दीर्घ करनेवाले हैं। प्रभु हमारी वृत्ति को ऐसा बनाते हैं कि हम शरीर में शक्ति को धारण करनेवाले बनें और मन में स्तवन की वृत्ति को। इस प्रकार शरीर में व्याधियों से हम आक्रान्त नहीं होते तथा मन में आधियों के आक्रमण से बचे रहते हैं। यही दीर्घजीवन का मार्ग है। (२) वे प्रभु **यज्ञः**-पूजा के योग्य हैं, हमें सब कुछ देनेवाले हैं। **मनुः**-ज्ञान-विज्ञान के पुञ्ज हैं। **प्रमतिः**-हमें प्रकृष्ट बुद्धि के देनेवाले हैं। **नः पिता**-हमारे रक्षक हैं, **हि कम्**-निश्चय से सुखस्वरूप हैं। इनसे हम **अदितिम्**-उस स्वास्थ्य का **आवृणीमहे**-सर्वथा वरण करते हैं जो **सर्वतातिम्**-सब गुणों का विस्तार करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु हमारा धारण करते हैं, हमारे मनों में स्तवन की वृत्ति को तथा शरीर में शक्ति को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार हमारे दीर्घायुष्य को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दैव्यं सहः

इन्द्रस्य नु सुकृतं दैव्यं सहोऽग्निर्गृहे जरिता मेधिरः कविः।
यज्ञश्च भूद्विदथे चारुरन्तम आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ६ ॥

(१) **इन्द्रस्य**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सहः**-बल **नु**-निश्चय से **सुकृतम्**-उत्तम कर्मों को करनेवाला तथा **दैव्यम्**-दिव्यगुणों का उत्पादक है। प्रभु की उपासना से हमें वह बल प्राप्त होता है, जिससे कि हम उत्तम ही कर्म करते हैं और अपने में दैवी सम्पत्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। (२) **अग्निः**-वे अग्रेणी प्रभु **गृहे**-इस शरीररूप गृह में **जरिता**-(जरिता=गरिता नि० १।७) ज्ञान का उपदेश करनेवाले हैं। **मेधिरः**-बुद्धि को देनेवाले हैं। **कविः**-'कौति सर्वाः विद्याः' सब सत्य विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं। सर्वज्ञ होते हुए सब ज्ञानों को देते हैं। (२) **च**-और **यज्ञः**-वे सब कुछ देनेवाले प्रभु **विदथे**-ज्ञानयज्ञों में **चारुः**-(चारयति) हमें सब ज्ञानों का भक्षण करानेवाले हैं और **अन्तमः**-हमारे अन्तिकतम हैं। हमारे हृदयों में ही निवास करते हुए वे प्रभु हमारे लिए ज्ञानों को देनेवाले हैं। हृदयस्थरूपेण ही वे ज्ञान का प्रकाश करते हैं। इनसे हम **सर्वतातिम्**-सब गुणों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**-स्वास्थ्य को **आवृणीमहे**-सर्वथा वरते हैं। स्वास्थ्य ही 'धर्मार्थकाममोक्ष' सभी का आधार बनता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रच्छन्न व प्रकट दुष्टकृत से दूर

न वो गुहा चकृम भूरि दुष्कृतं नाविष्ट्यं वसवो देवहेळनम्।
माकिर्नो देवा अनृतस्य वर्पस आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ७ ॥

(१) हे **वसवः**-वसुओ! निवास के लिए आवश्यक तत्त्वो! हम **गुहा**-प्रच्छन्न देश में, अर्थात् हृदय में **वः**-आपका **भूरि दुष्कृतम्**-बहुत पाप व अपराध **न चकृम**-न करें। और **न**-ना ही **आविष्ट्यम्**-प्रकटरूप में होनेवाले **देवहेळनम्**-देवों के निरादर को करें। मन में (गुहा में) वसुओं के प्रति होनेवाला अपराध यही है कि वहाँ 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' आदि घातक तत्त्वों को स्थान देना। प्रकट रूप में देवों का तिरस्कार यह है कि सूर्यादि के सम्पर्क में जीवन को न बिताना। 'ऐसे मकान में रहना जहाँ कि सूर्य-किरणों व वायु का प्रवेश ठीक से न हो' यह देवों का तिरस्कार

है। न तो हम मन में वसुओं के विनाशक ईर्ष्यादि भावों को स्थान दे और ना ही सूर्यादि से असंपृक्त जीवन को बिताएँ, सदा खुले में रहने का ध्यान करें। (२) हे **देवा:**-देवो! इस प्रकार आपके विषय में प्रच्छन्न व प्रकट पापों से ऊपर उठने पर न:-हमें **अनृतस्य वर्पस:**-अनृतरूप की **माकि:**-प्राप्ति न हो। हमारा रूप सत्य व तेजस्वी हो। मन के दृष्टिकोण से ईर्ष्यादि से रहित तथा शरीर के दृष्टिकोण से तेजस्वीरूप ही सत्य रूप है। हम **सर्वतातिम्**-सब अच्छाइयों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**-स्वास्थ्य को **आवृणीमहे**-सर्वथा वरते हैं।

भावार्थ—मन में ईर्ष्यादि से ऊपर उठकर तथा खुले में जीवन बिताते हुए हम सत्यस्वरूपवाले हों।

ऋषि:—दुवस्युर्वान्दन: ॥ देवता—विश्वे देवा: ॥ छन्द:—विराड्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

सूर्य व पर्वत

अपामीवां सविता साविषन्न्य१ग्वरीय इदप सेधन्त्वद्रय:।
ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहदा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ८ ॥

(१) **सविता**-वह (सर्वोत्पादक प्रभु) प्राणशक्ति को उत्पन्न करनेवाला सूर्य **अमीवाम्**-रोग को **अपसाविषत्**-हमारे से दूर करे। गत मन्त्र की प्रेरणा के अनुसार जब हम सूर्यादि देवों का तिस्कार नहीं करते और अधिक से अधिक समय सूर्य-किरणों के सम्पर्क में बिताते हैं तो सूर्य अपनी किरणों से हमारे में प्राण-शक्ति का संचार करता है और हमारे रोगों को दूर करता है। **अद्रय:**-ये पर्वत भी **वरीय:** **इत्**-(उरुतरं सा०) बहुत बढ़े हुए भी रोग को **न्यक्**-(नीचीनं 'यथा स्यात् तथा' सा०) अभिभूत करके **अपसेधन्तु**-दूर कर दें। पर्वतों की वायु में ओजोन का अंश अधिक होने से वह रोगनाशक होती है। (२) इस प्रकार हम **सर्वतातिम्**-सब गुणों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**-स्वास्थ्य का **आवृणीमहे**-वरण करते हैं। उस स्वास्थ्य का, **यत्र**-जिसमें कि वह **मधुषुत्**-हमारे में सोम को जन्म देनेवाला **ग्रावा**-उपदेष्टा प्रभु **बृहत्** **उच्यते**-खूब ही स्तुति किया जाता है। प्रभु की उपासना से शरीर में सोम का (=वीर्य का) रक्षण होता है। इस सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हमारे ज्ञान की खूब ही वृद्धि होती है। वस्तुत: यह प्रभु का स्तवन स्वास्थ्य की स्थिरता का साधन बन जाता है। प्रभु-स्तवन के अभाव में वृत्ति वैषयिक हो जाती है और हम स्वास्थ्य को खो बैठते हैं।

भावार्थ—सूर्य नीरोगता को दे, पर्वतों की वायु रोग को दूर भगाये। हम स्वस्थ होकर प्रभुस्तवन करें।

ऋषि:—दुवस्युर्वान्दन: ॥ देवता—विश्वे देवा: ॥ छन्द:—पादनिचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

प्रभु-स्मरण व निर्द्वेषता

ऊर्ध्वो ग्रावा वसवोऽस्तु सोतरि विश्वा द्वेषांसि सनुतर्युयोत।
स नो देव: सविता पायुरीड्य आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ९ ॥

(१) हे **वसव:**-हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले वसुओ! **सोतरि**-अपने में सोम का (=वीर्यशक्ति) अभिषव करनेवाले मेरे में **ग्रावा**-वे उपदेष्टा प्रभु **ऊर्ध्व:** **अस्तु**-सर्वोत्कृष्ट हों। मैं सोम का अपने में रक्षण करूँ और सोम के रक्षण के द्वारा उस प्रभु को प्राप्त करनेवाला होऊँ। मेरे में प्रभु-स्मरण की भावना प्रमुख हो। (२) हे वसुओ! आप प्रभु-भावना को मेरे में सर्वोच्च स्थान देकर **विश्वा द्वेषांसि**-सब द्वेषों को, चाहे वे कितने ही **सनुत:**-अन्तर्हित हों, सूक्ष्मरूप से मेरे

मन में घर किये हुए हों, उन्हें युयोत=मेरे से पृथक् करो। सबको प्रभु का सन्तान जानते हुए मैं किसी से द्वेष करूँगा ही क्यों? (३) सः=वह सविता देवः=प्रेरक दिव्यगुणों का पुञ्ज प्रभु ही पायुः=हमारा रक्षक है और ईड्यः=स्तुति के योग्य है। उस प्रभु से हम सर्वतातिम्=सब गुणों का विस्तार करनेवाली अदितिम्=स्वास्थ्य की देवता को आवृणीमहे=सब प्रकार से वरते हैं। उस स्वास्थ्य को हम चाहते हैं, जो हमें सब दिव्यगुणों के देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्रवण होकर द्वेष से ऊपर उठें। प्रभु का ही स्मरण करें और पूर्ण स्वस्थ बनें।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पयः पशूनाम्, रसमोषधीनाम्

ऊर्जं गावो यवसे पीवो अत्तन ऋतस्य याः सदने कोशे अङ्ग्ध्वे।
तनूरेव तन्वो अस्तु भेषजमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ १०॥

(१) गावः=हे मेरी इन्द्रियो! आप यवसे=अपने से दोषों को दूर करने व शुभ को जोड़ने के लिए पीवः=शक्ति के देनेवाले (stout and strong बनानेवाले) ऊर्जम्=अन्न के रस को अत्तन=खाओ, ग्रहण करो। वो आप याः=जो ऋतस्य सदने=ऋत के निवास-स्थान में तथा ऋतस्य कोशे=ऋत के कोश में, अर्थात् प्रभु में (प्रभु ही सम्पूर्ण ऋत के आधार हैं, ऋत के कोश हैं) अङ्ग्ध्वे=(to go, to shine) जाती हैं और निर्मलता से चमक उठती हैं। सात्त्विक ओषधियों के रस को लेने पर वृत्ति भी सात्त्विक बनती है और इन्द्रियाँ विषय प्रवण न होकर प्रभु-प्रवण बनती हैं। प्रभु में स्थित होनेवाली ये इन्द्रियाँ चमक उठती हैं, इनमें किसी प्रकार की मलिनता नहीं रहती। (२) तनूः एव=गौ आदि पशुओं का दूध ही (जन्ये जनकशब्दः सा०, क्षीरमेव) तन्वः=हमारे शरीर का भेषजं अस्तु=औषध हो, अर्थात् हम गोदुग्ध के प्रयोग से सब रोगों का निवारण करनेवाले हों। इस प्रकार हम अन्न-रस व गोदुग्ध के प्रयोग से सर्वतातिम्=सब गुणों का विस्तार करनेवाली आदितिम्=स्वास्थ्य की देवता का आवृणीमहे=सर्वथा वरण करते हैं। स्वस्थ होकर ही तो हम 'धर्म, अर्थ, काम' को सिद्ध कर सकेंगे।

भावार्थ—हम ओषधियों के रस व गोदुग्ध के प्रयोग से वृत्ति को सात्त्विक बनाकर सब इन्द्रियों को प्रभु-प्रवण करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दिव्य ऊधस् की परिपूर्णता

क्रतुप्रावा जरिता शश्वतामव इन्द्र इद्भद्रा प्रमतिः सुतावताम्।
पूर्णमूधर्दिव्यं यस्य सिक्तय आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ ११॥

(१) इन्द्रः इत्=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही क्रतुप्रावा=(प्रा पूरणे) हमारे सब यज्ञात्मक कर्मों के पूरण करनेवाले हैं। जरिता=(गरिता) सब उत्तम कर्मों का उपदेश देनेवाले हैं। शश्वताम्=(शश् प्लुतगतौ) स्फूर्ति के साथ कार्यों के करनेवालों के अवः=वे रक्षक हैं। (२) सुतावताम्=(सोमवताम् सा०) सोम का, वीर्यशक्ति का सम्पादन करनेवालों की प्रमतिः=प्रकृष्ट बुद्धि सदा भद्रा=कल्याणकारिणी होती है। इनकी बुद्धि नाश की दिशा में न सोचकर सदा निर्माण की दिशा में ही सोचती है। (३) इन सोम के रक्षण करनेवालों का दिव्यं ऊधः=दिव्य ऊधस् पूर्णम्=पूर्ण होता है। गौ के दुग्धाधिकरण को सामान्यतः ऊधस् कहते हैं। यहाँ यह ऊधस् दिव्य है, प्रकाश

का अधिकरण है। सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों के ग्रहण के योग्य बन जाती है इस प्रमति (=सूक्ष्म बुद्धि) से इनका ज्ञान बढ़ता है और इनका यह विज्ञानमयकोश ज्ञानदुग्ध से परिपूर्ण हो जाता है। **यस्य**=जिस विज्ञानमयकोश के **सिक्तये**=ज्ञान द्वारा सेचन के लिए **सर्वतातिम्**=सब दिव्यताओं के विस्तार की कारणभूत **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता को **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे यज्ञों को पूर्ण करते हैं, हमें यज्ञों का उपदेश देते हैं। सोमरक्षण से बुद्धि तीव्र होती है, ज्ञान का कोश परिपूर्ण होता है। इस ज्ञानकोश को ज्ञान से सिक्त करने के लिए हम स्वास्थ्य का वरण करते हैं।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान के शिखर पर

चित्रस्ते भानुः क्रतुप्रा अभिष्टिः सन्ति स्पृधो जरणिप्रा अधृष्टाः।
रजिष्ठया रज्या पश्व आ गोस्तूतूर्षति पर्यग्रं दुवस्युः ॥ १२ ॥

(१) हे प्रभो! **ते भानुः**=आपका प्रकाश **चित्रः**=अद्भुत है अथवा चायनीय-पूजनीय है। **क्रतुप्राः**=यह ज्ञान हमारे सब यज्ञात्मक कर्मों का पूरक है। अतएव **अभिष्टिः**=यह ज्ञान अभ्येषणीय-चाहने योग्य है। (२) आपके **स्पृधः**=(स्पृध् संग्रामनाम नि० २।१७) संग्राम **सन्ति**=हैं, जो **जरणिप्राः**=स्तोताओं का पूरण करनेवाले हैं और **अधृष्टाः**=शत्रुओं से धर्षण के योग्य नहीं है। हृदयस्थली में काम, क्रोध, लोभ आदि के साथ चलनेवाले संग्राम अध्यात्म संग्राम हैं। एक स्तोता प्रभु-स्मरण के द्वारा प्रभु को ही इन से लड़ने के लिए आगे करता है। सो ये संग्राम प्रभु के संग्राम हो जाते हैं। प्रभु की शक्ति से कामादि शत्रुओं का धर्षण होता है। ये काम, क्रोधादि शत्रु प्रभु के स्तोता का धर्षण नहीं कर पाते। (३) यह **दुवस्युः**=प्रभु की परिचर्या करनेवाला **रजिष्ठया**=(ऋजुतम नि० ८।१९) अत्यन्त सरलता से युक्त **रज्या**=(रंज् to worship) उपासना के द्वारा **पश्वः**=उस सर्वद्रष्टा प्रभु की **गोः**=सर्वार्थ प्रतिपादि का ज्ञान की अधिष्ठानभूता वेदवाणी के (गमयति अर्थान्) **अग्रम्**=अग्रभाग तक, शिखर तक **परि आ तूतूर्षति**=सर्वथा त्वरा से पहुँचनेवाला होता है। प्रभु की उपासना से निर्मल जीवनवाला होकर, कामरूप आवरण को दूर करके दीप्त ज्ञानवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश अद्भुत है। उपासक प्रभु की उपासना से कामरूप आवरण को विनष्ट करके इस प्रकाश को प्राप्त करता है यह उपासक ज्ञान की वाणी के शिखर (अग्रभाग) तक पहुँचता है।

इस सूक्त की केन्द्रीभूत भावना यही है कि प्रभु की उपासना से काम को जीतकर हम सोम का रक्षण करें। इससे तीव्र बुद्धि बनकर हम ज्ञान के शिखर पर पहुँचनेवाले हों। यह ज्ञान के शिखर पहुँचनेवाला ही 'बुध' सोम का रक्षण करके ही यह बुध बन पाया है सो 'सौम्य' है। अगले सूक्त का ऋषि 'बुधः सौम्यः' ही है। ज्ञान प्राप्ति के कारण यह सौम्य व विनीत है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप निम्न है—

[१०१] एकोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—बुध: सोम्य: ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वर:—धैवत: ॥

'अग्नि, उषा व इन्द्र' का आराधन

उद् बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः।
दधिक्रामग्निमुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे नि ह्वये वः॥ १॥

(१) सखाय:=परस्पर सखा बनकर, मित्रभाववाले होकर समनस:=समान मनवाले होते हुए, विरोधी भावनाओं से रहित हुए-हुए उद् बुध्यध्वम्=उत्कृष्ट ज्ञानवाले बनो। परस्पर का विरोध सारी शक्ति को एक दूसरे को हानि पहुँचाने में ही नष्ट कर देता है। परस्पर मैत्रीभाववाले होने पर हम शक्ति को ज्ञान प्राप्ति में लगाते हैं। (२) तुम बहव:=बहुत से व्यक्ति सनीडा:=समान नीडवाले, एक घर में रहनेवाले अग्निम्=अग्नि को सं इन्ध्वम्=अग्निकुण्ड में दीप्त करो। अर्थात् मिल करके अग्निहोत्र करो। प्रात: का अग्निहोत्र सायं तक और सायं का अग्निहोत्र प्रात: तक तुम्हें सौमनस्य को प्राप्त करायेगा। यह उत्तम मन ज्ञान प्राप्ति के लिए अनुकूल होगा। (३) इस दधिक्रां अग्निम्=(दधत् क्रामति) धारण के हेतु से रोगकृमियों पर आक्रमण करनेवाली इस अग्नि को च=तथा देवीम्=प्रकाशमयी उषसम्=उषा को अवसे=रक्षण के लिए निह्वये=मैं पुकारता हूँ। इन्द्रावत:=इन्द्रवाले व:=तुम सब देवों को भी रक्षण के लिए पुकारता हूँ। प्रकृति के सब सूर्यादि पिण्ड तेंतीस भागों में विभक्त हुए-हुए तेंतीस देव कहलाते हैं। चौंतीसवें 'महादेव' हैं, ये ही देवराज्=इन्द्र हैं। इन्द्र के साथ इन सब देवों को मैं रक्षण के लिए पुकारता हूँ। अग्निहोत्र के द्वारा अग्नि की उपासना करता हूँ, प्रात: प्रबुद्ध होकर उषा के स्वागत के द्वारा उषा की उपासना करता हूँ तथा प्रभु के स्तवन के द्वारा प्रभु का प्रिय होता हूँ। ये अग्नि उषा व प्रभु, अन्य देवों के द्वारा, मेरा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम परस्पर विरोध से ऊपर उठकर ज्ञान प्राप्ति में लगें। घरों में मिलकर अग्निहोत्र करें। बहुत सवेरे जागकर उषा का स्वागत करनेवाले हों। प्रभु का आराधन करें।

ऋषि:—बुध: सोम्य: ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्द:—त्रिष्टुप्॥ स्वर:—धैवत: ॥

स्तवन व यजन

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्र णयता सखायः॥ २॥

(१) मन्द्रा=आनन्द को प्राप्त करानेवाले स्तोत्रों को तुम कृणुध्वम्=करो। प्रभु-स्तवन में आनन्द का अनुभव करो। (२) धिय:=प्रज्ञानों व कर्मों का आतनुध्वम्=विस्तार करो। वस्तुत: प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि ज्ञानपूर्वक कर्मों में हम व्यापृत रहें। (३) नावम्=इस शरीररूप नाव को अरित्रपरणीम्=ज्ञान व कर्मरूप आयुओं के द्वारा भवसागर से पार करनेवाली कृणुध्वम्=करो। शरीर को 'सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहे सं०' इस मन्त्र में नाव से उपमित किया है, इस नाव के ज्ञान और कर्म ये ही दो चप्पू हैं। (४) इष् कृणुध्वम्=प्रेरणा को अपने अन्दर उत्पन्न करो। अन्त:स्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनो। आयुधा अरं कृणुध्वम्=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि रूप उपकरणों को अलंकृत करो। (५) इन सुसंस्कृत उपकरणों के द्वारा सखाय:=परस्पर मित्रभाव से वर्तते हुए तुम यज्ञं प्राञ्चं प्रणयता=यज्ञ को आगे-आगे ले चलो। यज्ञ की वृत्ति तुम्हारी बढ़ती चले। इन्द्रियों, मन व बुद्धि से हम यज्ञ को ही सिद्ध करनेवाले हों, श्रेष्ठतम कर्म

ही इनके साध्य हों।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से हम अपनी बुद्धियों को संस्कृत करें। शरीर को नाव बनाएँ, ज्ञान व कर्म इसके चप्पू हों। प्रभु प्रेरणा को सुनें। इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अलंकृत करें। इनके द्वारा यज्ञात्मक कर्मों को सिद्ध करें।

ऋषिः—बुधः सौम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

योगांगों का अनुष्ठान

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ ३॥

(१) (सीरा नदी नाम नि० ४।१९।८ सीराः नाड्यः १।१७४।९ द०) **सीराः युनक्त**=नाड़ियों को निरुद्ध प्राणों से युक्त करो। प्राणायाम करते हुए प्राणों को उस-उस नाड़ी में रोकने का प्रयत्न करो। **युगा वितनुध्वम्**=योग के अंगों को अपने जीवन में विशेषरूप से विस्तृत करो। (२) इन योगांगों के अनुष्ठान से **कृते**=संस्कृत किये हुए **इह योनौ**=इस शरीररूप क्षेत्र में **बीजं**=सब भूतों के बीजभूत प्रभु को **वपत**=स्थापित करो। (३) ऐसा करने पर **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **नः**=हमारे लिए **सभराः**=भरण-पोषण से युक्त **श्रुष्टिः**=(hearing) ज्ञान का श्रवण **असत्**=हो। इस हृदय में प्रभु को स्थापित करें, प्रभु हमें हृदयस्थरूपेण वेदज्ञान को प्राप्त कराएँगे। (४) इस प्रकार **सृण्यः**=यह गतिशील जीव **इत्**=निश्चय से **पक्वं नेदीयः**=उस पूर्ण परिपक्व प्रभु के समीप **एयात्**=(आ इयात्) सर्वथा प्राप्त हो।

भावार्थ—(क) प्राणायाम के अभ्यासी होकर इडा आदि नाड़ियों में हम प्राण-निरोध करें, (ख) योगांगों का अनुष्ठान करें, (ग) संस्कृत क्षेत्र (शरीर) में प्रभु का दर्शन करने के लिए यत्नशील हों, (घ) वेदज्ञान को प्राप्त करें, (ङ) गतिशील होकर प्रभु के समीप हों।

ऋषिः—बुधः सौम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धीरत्व की प्राप्ति

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥ ४॥

(१) **कवयः**=ज्ञानी पुरुष **सीराः युञ्जन्ति**=नाड़ियों को निरुद्ध प्राणों से युक्त करते हैं। भिन्न-भिन्न नाड़ियों में प्राणों का निरोध करते हैं। **युगा**=योगांगों को **पृथक्**=एक-एक करके **वितन्वते**=विशेषरूप से विस्तृत करते हैं। (२) इस प्रकार योग का अभ्यास करते हुए ये **देवेषु**=देवों के विषय में **सुम्नया**=स्तुति के द्वारा (praise) **धीराः**=ज्ञान में रमण करनेवाले होते हैं। सुम्न का अर्थ fowone व protection भी है, कृपा तथा रक्षण। देवों की कृपा व देवरक्षण से ये ज्ञानी बन जाते हैं।

भावार्थ—हम विविध नाड़ियों में प्राणनिरोध करें। योगांगों के अनुष्ठान में तत्पर हों। देव-स्तवन के द्वारा ज्ञानी बनें।

ऋषिः—बुधः सौम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु-स्मरण व व्रत-धारण

निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातन। सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्॥ ५॥

(१) **आहावान्**=प्रभु की पुकारों को, आराधनाओं को **निः कृणोतन**=निश्चय से करनेवाले बनो। **वरत्रा**=व्रत की रज्जुओं को **संदधातन**=धारण करो, अर्थात् व्रतों के बन्धनों में अपने को

बाँधो। (क) प्रभु का स्मरण करें, (ख) जीवन को व्रती बनाएँ। (२) वयम्-हम उस प्रभु को सिञ्चामहा-अपने में सिक्त करें, जो अवतम्-हम सबके रक्षक हैं, उद्रिणम्-ज्ञान जल से परिपूर्ण हैं, सुषेकम्-हमें आनन्द से सिक्त करनेवाले हैं, अनुपक्षितम्-कभी क्षीण व नष्ट होनेवाले नहीं है।

भावार्थ—जीवन का आनन्द इसी में है कि हम प्रभु-स्मरणपूर्वक व्रतों का पालन करनेवाले बनें।

ऋषिः—बुधः सोम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अक्षीण-जीवन

इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्॥ ६॥

(१) मैं अपने अन्दर प्रभु को सिञ्चे-सिक्त करता हूँ। प्रभु की भावना से अपने को ओत-प्रोत करने का प्रयत्न करता हूँ। उस प्रभु को जो इष्कृताहावम्-जिसकी पुकार हमारे में प्रेरणा को करनेवाली है। जब प्रभु को दयालु इस रूप में मैं पुकारता हूँ तो मुझे भी दयालु बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अवतम्-जो प्रभु मेरा रक्षण करनेवाले हैं, मुझे वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। सुवरत्रम्-(शोभना वरत्रयस्य) जिनका स्मरण मुझे उत्तम व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला है, प्रभु-स्मरण से जीवन व्रती बना रहता है। सुषेचनम्-जीवन को व्रती बनाकर वे मेरे जीवन को आनन्द से सिक्त करते हैं, (२) वे प्रभु उद्रिणम्-ज्ञान के जलवाले हैं और अक्षितम्-ज्ञानजल से सिक्त करके मुझे नष्ट नहीं होने देते (अविद्यमानं क्षितं यस्मात्)। इन प्रभु को मैं अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करता हूँ। इनका यह स्मरण मुझे प्रेरणा देता है, इस प्रेरणा से मेरा रक्षण होता है, मेरा जीवन व्रती बनता है और आनन्द सिक्त होता है। इस हृदयस्थ प्रभु से ज्ञानजल को पाकर मैं अक्षीण जीवनवाला बनता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु-स्मरण करता हूँ, यह प्रभु-स्मरण मुझे अक्षीण जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—बुधः सोम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वस्तिवाट्-रथ

प्रीणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम्॥ ७॥

(१) अश्वान् प्रीणीत-इन्द्रियाश्वों को प्रीणित करो। नैर्मल्य के द्वारा इन्हें प्रसन्नतायुक्त करो। हितं जयाथ-इन प्रसन्न इन्द्रियों के द्वारा हितकर वस्तु का विजय करो। रथम्-इस शरीर-रथ को इत्-निश्चय से स्वस्तिवाहम्-कल्याण की ओर ले जानेवाला कृणुध्वम्-करो। इन्द्रियाँ निर्मल व सबल हों, शरीर स्वस्थ हो। स्वस्थ इन्द्रियों व स्वस्थ शरीर से हम हित व कल्याण को सिद्ध करें। (२) हे उपासको! तुम उस प्रभु को सिञ्चता-अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करो जो प्रभु द्रोणाहावम्-प्रेरणा (द्रु गतौ) देनेवाली पुकारवाले हैं, जिनके नामों का स्मरण हमें अपने कर्त्तव्यों का स्मरण कराता है। अवतम्-जो रक्षण करनेवाले हैं। वस्तुतः निरन्तर कर्त्तव्यों का स्मरण कराते हुए वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। (२) अश्मचक्रम्-प्रभु-स्मरण से हमारा यह शरीर-चक्र पत्थर के समान दृढ़ बनता है। अंसत्र कोशम्-(अंसत्राणां कोशा) वे प्रभु कवचों के कोश हैं। अर्थात् प्रभु प्रत्येक प्राणी के लिए कवच बनते हैं और उसे रक्षित करनेवाले होते हैं। नृपाणम्-इस प्रकार वे प्रभु नरों के रक्षक हैं, आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष प्रभु से रक्षणीय होते हैं। आलसियों को प्रभु-रक्षण नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाएँ, शरीर-रथ को कल्याण के मार्ग पर ले चलें। प्रभु को हृदयक्षेत्र में सिक्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—बुधः सोम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आयसी पूः

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्॥ ८॥

(१) **व्रजं कृणुध्वम्**=बाड़े को बनाओ। जैसे बाड़े में गौवों को निरुद्ध करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियरूप गौवों को इस बाड़े में निरुद्ध करने का प्रयत्न करो। प्रभु नाम-स्मरण से हृदय वह 'व्रज' बन जाता है जिसमें कि मन व इन्द्रियें निरुद्ध रहती हैं। **सः**=वह व्रज **हि**=ही **वः**=तुम **नृपाणः**=प्रणतिशील व्यक्तियों का रक्षक है। (२) **बहुला**=अनेक **पृथूनि**=विस्तीर्ण **वर्म**=कवचों को **सीव्यध्वम्**=सींओ। ये कवच तुम्हारा रक्षण करनेवाले हों। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'=वस्तुतः ब्रह्म ही हमारा आन्तर **वर्म**=कवच है। ये कवच हमारे सब कोशों का रक्षण करते हैं। इन कवचों से रक्षित होकर हमारे ये कोश 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु व सहस्' से परिपूर्ण होते हैं। (३) इस प्रकार कवचों से अपने को सुरक्षित करके **पुरः**=इन शरीररूप पुरियों को **आयसीः**=लोहमयी, अर्थात् दृढ और **अधृष्टाः**=रोगादि से अधर्षणीय **कृणुध्वम्**=करो। **वः**=तुम्हारा सोम का, वीर्य का **चमसा**=आधारभूत यह शरीररूप पात्र **मा सुस्रोत्**=चूनेवाला न हो। सोम इसके अन्दर सुरक्षित रहे। **तम्**=उस पात्र को **दृंहता**=दृढ़ बनाओ। वीर्य-रक्षण से ही तो इसने दृढ़ बनना है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को निरुद्ध करें। प्रभु नामस्मरण को अपना कवच बनाएँ। हमारे शरीर लोहवत् दृढ़ हों। सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—बुधः सोम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

यज्ञिया धीः

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह।
सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥ ९॥

(१) हे **देवाः**=विद्वानो! मैं **वः**=आपकी **यज्ञियाम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित होनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **आवर्ते**=अपने में आवृत्त करता हूँ। उस बुद्धि को जो **यजताम्**=आदरणीय है और **इह**=इस जीवन में **यज्ञियाम्**=हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाली है, **देवीम्**=प्रकाशमय है। इस बुद्धि के द्वारा हमारा जीवन प्रकाशमय होता है और हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) **सा**=वह बुद्धि **नः**=हमें **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **दुहीयत्**=उसी प्रकार हमें पूर्ण करे, **इव**=जैसे **यवसा गत्वी**=घास के लिए जाकर **सहस्रधारा**=शतशः पुरुषों का धारण करनेवाली **मही**=महनीय व पूजनीय **गौः**=गौ **पयसा**=दूध से हमारा पूरण करती है।

भावार्थ—हमें देवों की पवित्र बुद्धि प्राप्त हो जो हमें ज्ञानदुग्ध से पूर्ण करनेवाली हो।

ऋषिः—बुधः सोम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दश व्रत बन्धनरूप रज्जुएँ

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।
परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त॥ १०॥

(१) सब दु:खों के हरण करने के कारण प्रभु 'हरि' कहलाते हैं। **हरिम्**=दु:खहर्ता प्रभु को **तु**=निश्चय से **आसिञ्च**=अपने में सिक्त करने का प्रयत्न कर। **ईम्**=निश्चय से **अश्मन्मयीभिः**=(अश् व्याप्तौ) उस सर्वव्यापक प्रभु के प्राचुर्यवाली **वाशीभिः**=वाणियों से **द्रोः उपस्थे**=इस गतिशील मन के मध्य में **तक्षत**=उस प्रभु की भावना को निर्मित करो, अर्थात् हृदय में प्रभु का ही चिन्तन करो। चित्तवृत्ति का निरोध करके प्रभु का चिन्तन करने का प्रयत्न करो। (२) **दश कक्ष्याभिः**=दस संख्यावाली रज्जुओं से, अर्थात् दस इन्द्रियों से सम्बद्ध दस व्रतरूप बन्धनों से **परिष्वजध्वम्**=प्रभु का आलिंगन करनेवाले बनो। **उभे धुरौ**=दोनों ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **वह्निं प्रति**=उस संसार शकट के वहन करनेवाले प्रभु के प्रति **युनक्त**=युक्त करो। सब इन्द्रियाँ अपने व्यवहारों से तुम्हें प्रभु के समीप ले जानेवाली हों। इन्द्रिय रूप अश्व व्रतबन्धन रूप रज्जुओं से बद्ध होने पर प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर ही चलते हैं।

भावार्थ—हृदय में हम प्रभु का स्मरण करें। मन में ज्ञान की वाणियों को स्थापित करने का प्रयत्न करें। इन्द्रियों को व्रतबन्धन में बाँधकर प्रभु से आलिंगन करनेवाले हों।

ऋषिः—बुधः सोम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्स-खनन

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्॥ ११॥

(१) **उभे धुरौ**=दोनों धुराओं का **वह्निः**=वहन करनेवाला, इहलोक व परलोक के अभ्युदय व नि:श्रेयस दोनों को प्राप्त करनेवाला, **आपिब्दमानः**=(पिब्दनाः पेष्टुमर्हाणि शत्रुमैनानि द० ६।४६।६ पर) वासनारूप शत्रुओं का पेषण करता हुआ **द्विजानिः**=सरस्वती व लक्ष्मीरूप दो पत्नियोंवाला (श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०) अथवा ब्रह्म व क्षत्र-ज्ञान और बल दोनों का विकास करनेवाला **अन्तःयोना इव**=उस सबके उत्पत्ति-स्थान ब्रह्म में घर की तरह **चरति**=विचरण करता है। (२) **वनस्पतिम्**=(वनस्=loreliness, glory, wealth) सब सौन्दर्यों यशों व धनों के स्वामी उस प्रभु को **वने**=उपासना के होने पर **आस्थापयध्वम्**=अपने हृदय मन्दिर में स्थापित करो, **नि सुदधिध्वम्**=निश्चय से उस प्रभु को अपने में धारित करो। प्रभु के भावन को हृदय में सदा धारण करो। ऐसा करनेवाले ही **उत्सम् अखनन्त**=अपने अन्दर आनन्द के स्रोत को खोदनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक ही अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—बुधः सोम्यः ॥ देवता—विश्वे देवा ऋत्विजो वा ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

आत्मक्रीड (आत्मरति)

कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये।

निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये॥ १२॥

(१) हे **नरः**=मनुष्यो! वे प्रभु **कपृत्**=तुम्हारे जीवन में सुख का पूरण करनेवाले हैं। उस **कपृथम्**=आनन्द के पूरक प्रभु को ही **उद्धातन**=उत्कर्षेण धारण करो। **चोदयत**=उस प्रभु को ही अपने हृदयों में प्रेरित करो। सर्वभावेन उस प्रभु का ही भावन करो। **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **खुदत**=उसी में क्रीडा करो आत्मक्रीड व आत्मरति बनो। (२) 'अदिति' स्वास्थ्य की देवता है (अ+दिति=खण्डन)। 'निष्टि' अर्थात् विनास अदिति की सपत्नी (शत्रु) है। उस निष्टि

को 'गिरति' निगल जाने के कारण अदिति ही 'निष्टिग्री' है प्रभु को इसका पुत्र कहा है जैसे बल के पुञ्ज प्रभु के लिए 'सहसः पुत्रम्' का प्रयोग होता है। उस **निष्टिग्रयः पुत्रम्**-अदिति के पुत्र, अदिति के पुतले-मूर्त्तिमान् अदिति प्रभु को **ऊतये**-रक्षा के लिए **आच्यावय**-सब प्रकार से प्राप्त कर। प्रभु के धारण से मनुष्य पूर्ण स्वस्थ बनता है, उसे न केवल शारीरिक अपितु मानस स्वास्थ्य भी प्राप्त होता है। (३) **इह**-इस जीवन में **सोमपीतये**-शरीर में सोमशक्ति के रक्षण के लिए हे **सबाधः**-वासनारूप शत्रुओं के बाधन के साथ विचरनेवाले लोगों **इन्द्रम्**-उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को (आच्यावय) प्राप्त करो। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही तो तुम इन शत्रुओं का बाधन कर सकोगे।

भावार्थ—प्रभु का हम धारण करें, भावन करें। प्रभु में ही क्रीडा करनेवाले हों। उस प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम वासनारूप शत्रुओं का विदारण कर पाएँगे।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की ओर चलने का वर्णन कर रहा है। योगांगों के अनुष्ठान से हम शरीर को स्वस्थ व मन को निर्मल बनाकर प्रभु की ओर चलें। अन्ततः आत्मक्रीड हों। ऐसा बनने के लिए हम 'मुद्गलः' (ओषधयो वै मुदः श० ९।४।१।७) ओषधि वनस्पतियों का ही सेवन करनेवाले हों और अपने इन्द्रियाश्वों को 'मर्म' तेजस्विता से पूर्ण बनाकर 'भार्म्यश्वः' बनें। यह 'मुद्गल भार्म्यश्व' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रभु से निवेदन करता है कि—

[१०२] द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—पादनिचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

शरीर रथ का रक्षण

प्र ते रथं मिथूकृतमिन्द्रोऽवतु धृष्णुया। अस्मिन्नाजौ पुरुहूत श्रवाय्ये धनभक्षेषु नोऽव ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके इस **मिथूकृतम्**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों से युक्त किये हुए **रथम्**-शरीर रथ को **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय पुरुष **धृष्णुया**-शत्रुओं के धर्षण के द्वारा **प्र अवतु**-प्रकर्षेण रक्षित करे। वासनाओं के आक्रमण से ही यह रथ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। वासनाओं को नष्ट करके इन्द्र प्रभु से दिये गये इस रथ का रक्षण करनेवाला होता है। (२) **अस्मिन्**-इस **श्रवाय्ये**-प्रशंसनीय, हमारे जीवन को यशस्वी बनानेवाले **आजौ**-वासनाओं के साथ चलनेवाले संग्राम में हे **पुरुहूत**-बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! आप **धनभक्षेषु**-धनों के सेवनों में **नः**-हमारा **अव**-रक्षण कीजिए। इस वासनामय संसार में धन आवश्यक भी है, साथ ही भयों का कारण भी है। इन धनों के सेवन में हम गलती कर बैठते हैं। यह धन ही वासनाओं का मूल बन जाता है। वासनाओं को जीतकर हम धन के स्वामी बने रहें, दास न बन जाएँ।

भावार्थ—वासनाओं के धर्षण के द्वारा हम शरीर रथ का रक्षण करनेवाले हों। प्रभु-स्मरण के द्वारा वासना-संग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मुद्गलानी द्वारा रथ-संचालन

उत्स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत्सहस्रम्।
रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना ॥ २ ॥

(१) जीव 'मुद्गल' है, तो उसकी पत्नीरूप बुद्धि 'मुद्गलानी' है। आत्मा शरीर रथ का स्वामी है, तो बुद्धि इस रथ का सारथि है। **यत्**-जब यह बुद्धि **अधिरथम्**-इस रथ में स्थित होकर

सहस्रम्=शतशः वासनाओं को **अजयत्**=जीतती है तो **वातः**=प्राण **अस्याः**=इसके **वासः**=आच्छादन व आवरणभूत वासनारूप वस्त्र को **उद्वहति स्म**=दूर करता है। प्राणसाधना से काम का विनाश होता है। यह काम ही बुद्धि पर परदा-सा पड़ा हुआ होता है। इस परदे के हट जाने से ज्ञान चमक उठता है। (२) इस ज्ञान की दीप्ति में ही प्रभु का आभास मिलता है। सो **गविष्टौ**=उस प्रभु के गवेषण में **मुद्गलानी**=ओषधि वनस्पतियों का सेवन करनेवाले जीव की पत्नी रूप बुद्धि **रथीः**=शरीर रथ की संचालिका **अभूत्**=होती है। (३) जब बुद्धि प्रभु के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त होती है तो **इन्द्रसेना**=इस जितेन्द्रिय पुरुष की सेना=अर्थात् इन्द्रियाँ प्राण, मन व बुद्धि **भरे**=इस अध्यात्म-संग्राम में **कृतं व्यचेत्**=सफलता से प्राप्त होनेवाले फल का चयन करे, अर्थात् विजयी बने।

भावार्थ—बुद्धि प्रभु-दर्शन में प्रवृत्त होती है, तो हमारी इन्द्रियाँ, मन व प्राण वासनाओं का पराजय करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

त्रिगुणातीत

अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः। दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम्॥ ३ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=शत्रु विनाशक प्रभो! **जिघांसतः**=हमारे हनन की कामना करते हुए **अभिदासतः**=(दसु उपक्षये) हमारा **उपक्षय**=विनाश करनेवाले वासनारूप शत्रु के **वज्रम्**=वज्र को **अन्तः यच्छ**=बीच में ही रोकनेवाले होइये। इस शत्रु का हमारे पर आक्रमण न हो पाये। (२) **दासस्य वा**=चाहे हमें नष्ट करनेवाले दास का **वधम्**=हनन साधन आयुध हो **वा**=अथवा **आर्यस्य**=श्रेष्ठ का **सनुतः**=अन्तर्हित रूप में प्रभुज्यमान आयुध हो उसे **यवय**=हमारे से पृथक् करिये। 'तमस् व रजस्' यदि दास हैं तो 'सत्त्व' आर्य है। 'तमस्' प्रमाद, आलस्य व निद्रा के द्वारा आक्रमण करता है और रजस्, लोभ व तृष्णा के द्वारा आक्रमण करता है। सत्त्वगुण भी ज्ञान व सुख के द्वारा हमें बाँधता है। प्रभु की कृपा से हम इन सब बन्धनों से ऊपर उठें, त्रिगुणातीत बनें। रजस् व तमस् से ऊपर उठने के लिए सत्त्व को अपनाएँ और इस प्रकार नित्य सत्त्वस्थ होकर अन्ततः सत्त्वगुण से भी ऊपर उठें।

भावार्थ—हम दासरूप तमस् व रजस् के तथा आर्यरूप सत्व के बन्धन से ऊपर उठें।

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उदक-ह्रद का पान

उद्नो ह्रदमपिबज्जर्हृषाणः कूटं स्म तृंहदभिमातिमेति।
प्र मुष्कभारः श्रव इच्छमानोऽजिरं बाहू अभरत्सिषासन्॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार तामस व राजस बन्धनों से ऊपर उठने पर यह साधक **उद्नः**=उदक की **ह्रदम्**=झील को **अपिबत्**=अपने अन्दर पीनेवाला होता है। रेतःकण ही शरीर में उदक बिन्दु हैं (आपः रेतो भूत्वा०)। 'वीर्य कोश' ही उदकह्रद है। उसके पान का अभिप्राय है 'उसकी ऊर्ध्वगति करना'। प्राणायाम के द्वारा जब यह ऊर्ध्वरेता बनता है तो इस वीर्य के रुधिर में व्याप्त हो जाने पर यह उस उदकह्रद को अपने अन्दर पी लेता है। ऐसा करने पर **जर्हृषाणः**=यह बड़ी प्रसन्नतावाला होता है। शरीर व मन के स्वस्थ होने से यह आह्लादमय होता है। अपने जीवन में से **कूटम्**=छल छिद्र को **तृंहत् स्म**=निश्चय से विनष्ट कर देता है। **अभिमातिम्**=अभिमान आदि शत्रुओं पर **एति**=आक्रमण करता है। (२) **प्र मुष्कभारः**=(मुष्क-muscle) बड़े सुगठित शरीर

को (muscular body) धारण करनेवाला होता है (मुष्कं बिभर्ति)। श्रव: इच्छमान:=ज्ञान को चाहनेवाला होता है, ज्ञान रूचि बनता है। सिषासन्-(संभक्तुमिच्छन्) प्रभु के सम्भजन की कामना करता हुआ यह साधक अजिरम्=शीघ्र ही (क्षिप्रं सा०) बाहू-(बाह् प्रयत्ने) दोनों प्रयत्नों का अभरत्-धारण करनेवाला होता है। यहाँ दोनों प्रयत्नों का संकेत 'मुष्कभार: व श्रवइच्छमान:' शब्दों से हुआ है शरीर में बल व मस्तिष्क में ज्ञान का सम्पादन ही उभयविध प्रयत्न है। यही ब्रह्म व क्षत्र का अपने में समन्वय करना है। एक स्वस्थ ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। इससे शरीर को सबल व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएँ। यही प्रभु का उपासन है।

ऋषि:—मुद्गलो भार्म्यश्व: ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

उपासना से शक्ति-सम्पन्नता

न्य॑क्रन्दयन्नुपयन्त॑ एनममेहयन्वृषभं मध्य॑ आजेः।
तेन॒ सूभ॑र्वं शतवत्स॒हस्रं॒ गवां॒ मुद्ग॑लः प्र॒धने॑ जिगाय॥ ५॥

(१) एनम्=इस वृषभम्=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु को उपयन्तः= समीपता से प्राप्त होते हुए, अर्थात् प्रभु का उपासन करते हुए नि अक्रन्दयन्=खूब ही उस प्रभु का आह्वान करते हैं। आजे: मध्ये=इस जीवन संग्राम के मध्य में प्रभु (को) अमेहयन्=शक्ति का वर्षण कराते हैं। उपासना से उपासक अपने को प्रभु की शक्ति से सिक्त करता है। इसी शक्ति से ही तो वह संग्राम में विजय को प्राप्त करेगा। (२) तेन=अपने में उस प्रभु शक्ति के सेचन के द्वारा मुद्गल:=यह ओषधि वनस्पतियों का सेवन करनेवाला प्रधने=संग्राम में उत्कृष्ट ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्तभूत संग्राम में गवां जिगाय=इन्द्रियरूप गौवों का विजय करता है। इस प्रकार विजय करता है जिससे कि सूभर्वम्-(भर्वति अत्तिकर्मा नि० २।८) ये इन्द्रियाँ उत्तम ही भोजनवाली होती हैं, इनका भरण उत्तमता से होता है। शतवत्-ये सौ वर्षोंवाली होती हैं, अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त इनकी शक्ति जीर्ण नहीं होती। सहस्रम्-(सहस्) ये प्रसन्नता से परिपूर्ण होती हैं अथवा सहस्रों कार्यों को सम्पन्न करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति से हम अन्त: शत्रुओं का पराजय करके जितेन्द्रिय बनते हैं। उससे इन्द्रियाँ उत्तम विषयों में विचरती हैं (सु+भर्व्), शतवर्षपर्यन्त शक्तिशाली बनी रहती हैं और हम उत्साह व उल्लास सम्पन्न बने रहते हैं।

ऋषि:—मुद्गलो भार्म्यश्व: ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्द:—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

मुद्गलानी की प्राप्ति

क॒कर्द॑वे वृष॒भो यु॒क्त आ॑सी॒दवा॑वची॒त्सार॑थिरस्य के॒शी।
दु॒धेर्यु॒क्तस्य॒ द्रव॑तः स॒हान॑स ऋ॒च्छन्ति॑ ष्मा नि॒ष्पदो॑ मुद्ग॒लानी॑म्॥ ६॥

(१) वृषभ:=वह शक्तिशाली प्रभु ककर्दवे=अन्त:शत्रुओं के हिंसन के लिए युक्त: आसीत्=योग के द्वारा संबद्ध किया हुआ था। योगांगों के अनुष्ठान से उस प्रभु का हमने उपासन किया। उस समय केशी=ज्ञानरश्मियोंवाला अस्य सारथि:=जीव के शरीर रथ का संचालक वह प्रभु अवावचीत्-खूब ही उसे सन्मार्ग के उपदेश का देनेवाला हुआ। योगयुक्त होने पर वह प्रभु हृदयस्थरूपेण हमें ज्ञानोपदेश देते ही हैं। (२) इस ज्ञानोपदेश के होने पर दुधे:=इस दुर्धर-कठिनता से धारण करने योग्य, द्रवत:-इधर-उधर दौड़ते हुए, अनसा सह-इस शरीररथ के साथ

युक्तस्य-युक्त हुए-हुए मन के निष्पदः-(पद् गतौ) गतिशून्य करनेवाले, स्थिर करनेवाले अभ्यासी लोग मुद्गलानीम्-'मुद्गल' जीव की पत्नीरूप इस बुद्धि को ऋच्छन्ति स्म-अवश्य प्राप्त होते हैं। मन के स्थिर होने पर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' प्राप्त होती है। मानस स्थिरता बुद्धि प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु के साथ सम्पर्क होने पर सब वासनाओं का संहार हो जाता है। मानस स्थिरता के होने पर बुद्धि का विकास होता है।

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान शक्ति व जितेन्द्रियता

उत प्रधिमुदंहन्नस्य विद्वानुपांयुनग्वंसंगमत्र शिक्षन्।
इन्द्र उदांवत्पतिमघ्न्यानामरंहत पद्याभिः ककुद्मान्॥ ७॥

(१) उत-और विद्वान्-ज्ञानी पुरुष अस्य प्रधिम्-इस ब्रह्माण्ड के प्रकृष्ट धारक अथवा प्रधिभूत प्रभु को उद् अहन्-(हन् गतौ) उत्कर्षेण प्राप्त होता है। चक्र जिस प्रकार प्रधि के द्वारा सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड प्रभु के द्वारा सुरक्षित है। इस प्रभु की प्राप्ति के लिए ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। (२) अत्र-इस जीवन में शिक्षन्-(शक्-सन्) अपने को शक्तिशाली बनाने की कामनावाला वंसगम्-वननीय (=सुन्दर) गतिवाले प्रभु को उपायुनक्-अपने साथ समीपता से जोड़ता है। प्रभु की प्राप्ति सबल को होती है, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'-निर्बल से ये प्रभु प्राप्त होने योग्य नहीं। प्रभु प्राप्ति के लिए जहाँ ज्ञान की आवश्यकता है, वहाँ शक्ति का भी उतना ही महत्त्व है। 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है (३) इन्द्रः-जितेन्द्रिय पुरुष अघ्न्यानां अहन्तव्य-न नष्ट करने योग्य, सदा अध्ययन के योग्य ज्ञान की वाणियों के पतिम्-स्वामी प्रभु को उद् आवत्-उत्कर्षेण प्राप्त होता है (अव् गतौ)। प्रभु प्राप्ति के लिए जहाँ ज्ञान व शक्ति का सम्पादन आवश्यक है, वहाँ जितेन्द्रियता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः जितेन्द्रियता ही ज्ञान व शक्ति का मूल है। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना जितेन्द्रियता का साधन हो जाता है। (४) इस प्रकार पद्याभिः-ज्ञान, शक्ति व जितेन्द्रियता के मार्गों से चलता हुआ ककुद्मान्-शिखरवाला, अर्थात् उन्नति पर्वत के शिखर पर पहुँचनेवाला व्यक्ति अरंहत-तीव्र गति से प्रभु की ओर बढ़ता है। मस्तिष्क का विकास करता हुआ यह ज्ञानशिखर पर पहुँचता है। मन का विकास करता हुआ जितेन्द्रियों का अग्रणी बनता है। शरीर का विकास करता हुआ शक्ति का पुञ्ज बनता है। इस प्रकार इसका उन्नति पर्वत ज्ञान, शक्ति व जितेन्द्रियतारूप तीन शिखरोंवाला होता है। यही व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी, जितेन्द्रिय व शक्ति-सम्पन्न बनकर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-भक्त के लक्षण

शुनमंष्ट्राव्यंचरत्कपर्दी वंरत्रायां दार्वानह्यमानः।
नृम्णानि कृण्वन्बहवे जनाय गाः पंस्पशानस्तविंषीरधत्त॥ ८॥

(१) अष्ट्रावी-चाबुकवाला, व्रतरूप प्रतोद से इन्द्रियरूप गौवों को हाँकनेवाला, कपर्दी-(क-पर्+द) सुख की पूर्ति को देनेवाला, अर्थात् अधिक से अधिक औरों के जीवनों को सुखी बनानेवाला व्यक्ति शुनम्-उस सुखस्वरूप प्रभु की ओर व्यचरत्-विशेषरूप से चलनेवाला होता है। प्रभु को

प्राप्त करनेवाला (क) इन्द्रियों को व्रतों के बन्धन में बाँधना है तथा (ख) औरों के लिए सुख को प्राप्त कराने का प्रयत्न करता है। (२) (ग) यह दारु-इस अन्ततः विदीर्ण करने योग्य शरीर को दारु-'दृ', शरीर-शृ) वरत्रायाम्-व्रतरज्जु में आनह्यमानः-समन्तात् बाँधनेवाला होता है। इन व्रतों के बन्धनों के बिना उच्छृंखल क्रियाओंवाला यह शरीर उन्नति का साधन नहीं होता। (३) (घ) यह प्रभु-भक्त बहवे जनाय-बहुत लोगों के लिए नृम्णानि कृण्वन्-धनों व सुखों को करनेवाला होता है। धनों का उपभोग स्वयं अकेले में नहीं कर लेता, यह औरों के साथ बाँट करके ही धनों का उपभोग करता है। यह इस बात को अच्छी तरह समझता है कि 'केवलाघो भवति केवलादी'। (४) (ङ) गाः पस्पशानः-यह ज्ञान की वाणियो का देखनेवाला होता है और तविषीः-बलों को अधत्त-धारण करता है। ज्ञान और बल का अपने जीवन में समन्वय करके चलता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त के लक्षण निम्न हैं—(क) जितेन्द्रियता, (ख) औरों को सुखी करने का प्रयत्न, (ग) शरीर को व्रत बन्धनों में बाँधना, (घ) सबके साथ बाँट करके खाना, (ङ) स्वाध्यायशीलता, (च) शक्ति-सम्पन्न।

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्तिशाली को प्राप्त होनेवाले प्रभु

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥ ९ ॥

(१) इमम्-इस तम्-उस प्रसिद्ध प्रभु को पश्य-देख। जो प्रभु वृषभस्य युञ्जम्-शक्तिशाली को अपने साथ जोड़नेवाले हैं, जो शक्तिशाली को प्राप्त होते हैं। काष्ठायाः-दिशाओं के मध्ये-मध्य में शयानम्-निवास करनेवाले द्रुघणम्-संसार वृक्ष को नष्ट करनेवाले प्रभु को (पश्यः) देख। वे प्रभु सब दिशाओं में सर्वत्र व्याप्त हैं, इन प्रभु की उपासना से मनुष्य इस संसार वृक्ष को काट पाता है। प्रभु संसार वृक्ष को छिन्न करके हमारी मुक्ति का साधन बनते हैं। (२) उस प्रभु को देख येन-जिससे पृतनाज्येषु-संग्रामों में मुद्गलः-ओषधि वनस्पतियों का सेवन करनेवाला प्रभु-भक्त शतवत्-सौ वर्ष तक ठीक चलनेवाली सहस्रम्-प्रसन्नता से युक्त गवाम्-इन्द्रियों को जिगाय-जीतता है। प्रभु-भक्ति से इन्द्रियों की शक्ति सौ वर्ष तक ठीक बनी रहती है, इन्द्रियाँ प्रसन्न व निर्मल बनी रहती हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्तिशाली को अपने साथ जोड़ते हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर संसार वृक्ष के छेदन से हमारे मोक्ष का कारण बनते हैं। इस प्रभु के उपासन से हम इन्द्रियों का विजय कर पाते हैं।

ऋषिः—मुद्गलो भार्म्यश्वः ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अपापविद्ध प्रभु

आरे अघा को न्वि१त्था ददर्श यं युञ्जन्ति तम्वा स्थापयन्ति।
नास्मै तृणं नोदुकमा भरन्त्युत्तरो धुरो वहति प्रदेदिशत् ॥ १० ॥

(१) अघा आरे-वे प्रभु पापों से दूर हैं, शुद्ध व अपापविद्ध हैं। कः-कौन नु-अब इत्था-इस प्रकार ददर्श-उस प्रभु को देखता है, यम्-जिसको कि युञ्जन्ति-चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा मन से युक्त करते हैं तं उ-और उसको ही आस्थापयन्ति-अपने हृदय मन्दिरों में स्थापित करते हैं। इस प्रकार विरल योगी ही उस पूर्ण पवित्र प्रभु का दर्शन करते हैं। पवित्र बने बिना उस

पवित्र प्रभु के दर्शन का सम्भव भी तो नहीं। (२) **अस्मै**-इस प्रभु के लिए **न तृणं आभरन्ति**-न तो तृण को प्राप्त कराते हैं, **न उदकम्**-और ना ही उदक को। प्रभु के उपासन के लिए किन्हीं भी अर्घ्य द्रव्यों की आवश्यकता नहीं है। विशेषत: प्रभु-पूजन के लिए धन अपेक्षित नहीं, पत्र पुष्पादि से ही प्रभु प्रीणित किये जा सकते हैं। अपेक्षित वस्तु तो पवित्रता है। वे प्रभु **उत्तर:**-इस भवसागर से तरानेवाले हैं। **प्रवेदिशत्**-हमारे लिए निरन्तर कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए वे प्रभु **धुर: वहति**-सब लोक-लोकान्तरों की धुराओं का वहन करते हैं। सम्पूर्ण गति का स्रोत प्रभु ही हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अपापविद्ध हैं। कोई विरल पवित्र व्यक्ति ही प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषि:—मुद्गलो भार्म्यश्व: ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्द:—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

आत्मदर्शन

परिवृक्तेव पतिविद्यमानट् पीप्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन्।
एषैष्या चिद्रथ्या जयेम सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम् ॥ ११ ॥

(१) 'बुद्धि' (मुद्गल) पत्नी है और 'आत्मा' पति है। जिस समय बुद्धि **परिवृक्ता इव**-(cleaned, eleared, purified) वासना के आवरण से रहित होकर पवित्र-सी हो जाती है, उस समय यह **पतिविद्यम्**-अपने पतिरूप आत्मतत्त्व के ज्ञान को **आनट्**-व्याप्त करनेवाली होती है। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:'-सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही आत्मा का दर्शन होता है। **पीप्याना**-उस समय यह बुद्धि सब दृष्टिकोणों से आप्यायन (वर्धन) वाली होती है। (२) आत्मा भी उस समय प्राणसाधनादि के द्वारा **कूचक्रेण सिंचन् इव**-(कु-पृथिवी) इस पृथिवी रूप शरीर के मूलाधार चक्र से, इस स्थान पर स्थित वीर्यकोश के जल से सम्पूर्ण शरीर को खींचता हुआ-सा होता है। वीर्य को सारे शरीर में व्याप्त करता है। इन रेत:कणों की ऊर्ध्वगति से सारे रुधिर में इन्हें व्याप्त करना ही सेचन है। (२) **एषा**-यह बुद्धि **एष्या**-सर्वथा चाहने योग्य होती है। **चिद्**-निश्चय से **रथ्या**-यह शरीर रथ का उत्तमता से संचालन करनेवाली बनती है 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'। इसके द्वारा हम **सुमंगलं जयेम**-उत्तम मंगलों का विजय करनेवाले हों। **सातम्**-(pleasuse, delight) हमारा आनन्द **सिनवत्**-(सिनं body) उत्तम शरीरवाला **अस्तु**-हो। अर्थात् हमें पूर्ण स्वस्थ शरीर का आनन्द प्राप्त हो। वस्तुत: शरीर को रेत:कणों से सिक्त करने का प्रथम परिणाम यह है कि—(क) बुद्धि सूक्ष्म होती है। इससे (ख) शरीर का संचालन उत्तम होता है, (ग) सब मंगल ही मंगल होता है, (घ) आनन्द का अनुभव होता है और (ङ) स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शुद्ध बुद्धि से आत्मा का दर्शन होता है। इस स्थिति में रेत:कणों की ऊर्ध्वगति होती है। बुद्धि परिष्कृत होकर शरीर का उत्तम संचालन होता है। आनन्द का अनुभव होता है। पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

ऋषि:—मुद्गलो भार्म्यश्व: ॥ देवता—द्रुघण इन्द्रो वा ॥ छन्द:—निचृद्बृहती ॥ स्वर:—मध्यम: ॥

चक्षुष: चक्षु:

त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुष:।
वृषा यदाजिं वृषणा सिषाससि चोदयन्वध्रिणा युजा ॥ १२ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार आत्मदर्शन करनेवाली बुद्धि आत्मदर्शन करती हुई कहती है कि

हे इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! त्वम्=आप विश्वस्य जगतः=सम्पूर्ण जगत् की चक्षुषः=आँख की चक्षुः असि=आँख हो। वे 'सूर्यः चक्षुर्भूत्वा०' सूर्य ही चक्षु का रूप धारण करके सब प्राणियों की आँखों में रह रहा है, सो सूर्य सम्पूर्ण जगत् की चक्षु है। इस चक्षु का भी चक्षु वे प्रभु हैं। सूर्य को भी दीप्ति देनेवाले प्रभु ही तो हैं। (२) यह बुद्धि प्रभु को जगत् की चक्षु के भी चक्षु के रूप में देखती है तो अपने पति आत्मा को कहती है कि वृषा=शक्तिशाली होता हुआ तू यत्=जब वध्रिणा=(वध्री=वरत्रा=रज्जु) व्रतबन्धन में बद्ध युजा=इस अपने साथी मन के द्वारा वृषणा=शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को चोदयन्=प्रेरित करता है, तो आजिं सिषासिसि=इस संसार-संग्राम को प्राप्त करने की कामनावाला होता है (सन्=to oblain) इस संसार-संग्राम में मन को वश में करके जब हम मनरूप लगाम से इन इन्द्रियाश्वों को चलाते हैं तो अवश्य विजयी होते हैं।

भावार्थ—बुद्धि से हम प्रभु को सब संसार को दीप्ति देनेवाले के रूप में देखते हैं, और आत्मा को मन के द्वारा इन्द्रियाश्वों को प्रेरित कर युद्ध विजेता के रूप में।

सम्पूर्ण सूक्त आत्मदर्शन के भाव को प्रकट कर रहा है। आत्मदर्शन करनेवाला इस संसार-संग्राम में विजेता बनता है। यह विजेता 'अद्वितीय विजेता' है, अनुपम योद्धा है (matchless wnslior) यह युद्ध विजयी बनकर पिता प्रभु का दर्शन करता है, प्रभु का हो जाता है। सो यह 'ऐन्द्रः' (इन्द्रस्यायम्) कहलाने लगता है। 'अप्रतिरथ ऐन्द्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१०३] त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

एक आदर्श उपासक का जीवन

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥ १॥

उपासक के लक्षण कहते हैं—

(क) **आशुः**=यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है, इसमें ढील नहीं होती। इसका जीवन स्फूर्तिमय होता है।

(ख) **शिशानः**=(शो तनूकरणे) यह निरन्तर अपनी बुद्धि को तीव्र करने में लगा है। इस तीव्र बुद्धि ने ही तो इसे प्रभु-दर्शन कराना है। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।

(ख) **वृषभः**=यह वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। परमात्मा के सम्पर्क में आकर क्या यह निर्बल रहेगा?

(घ) **न भीमः**=भयंकर नहीं होता। शक्ति है, परन्तु सौम्यता। इसकी शक्ति परपीड़न के लिए थोड़े ही है।

(ङ) **घनाघनः**=यह कामादि शत्रुओं का बुरी तरह से हनन करने में लगा है।

(च) **चर्षणीनां क्षोभणः**=मनुष्यों में क्रान्तिकारी विचार देकर—इसने उथल-पुथल मचा दी है।

(छ) **संक्रन्दनः**=(क्रदि आह्वाने) सदा प्रभु का आह्वान कर रहा है। जहाँ प्रभु का नाम घोषित होता है, वहाँ काम थोड़े ही आता है?

(ज) अनिमिषः-एक पलक भी नहीं मारता—ज़रा भी नहीं सोता, सदा सावधान alert है, सोएगा तो वासनाओं का आक्रमण न हो जाएगा? पुष्पधन्वा, पुष्पसायक, पञ्चबाण (काम) अपने पाँच बाणों से पाँचों इन्द्रियों को मुग्ध करने का प्रयत्न करता है। यही उसका क्लोरोफार्म सुँघाना है, जिसने सूँघ लिया वह काम का शिकार हो गया। यह उपासक तो जागरूक है।

(झ) एकवीरः-यह अद्वितीय वीर है तभी तो इसने इन प्रबल वासनाओं से संग्राम किया है—मोर्चा लिया है।

(ञ) इन्द्रः-यह सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है और

(ट) शतं सेना साकम् अजयत्-वासनाओं की सैकड़ों सेनाओं को एकसाथ ही जीत लेता है अथवा उस प्रभु को साथी बनाकर इन वासनाओं की सेना को जीतता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हममें उपासक के ये ग्यारह लक्षण घट जाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

युधिष्ठिर

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्संहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ २॥

वासनाओं को जीतना सुगम तो क्या असम्भव-सा प्रतीत होता है। इनके साथ युद्ध करनेवाला मनुष्य 'युधः' है। यह अपने को निरन्तर आगे प्राप्त कराने के कारण नरः-(नृ नये) है। यह अपने आत्मा, अर्थात् अपने को एक आदर्श उपासक के रूप में ढालता है और उस आत्मा से वासनाओं का पराभव करता है।

कैसी आत्मा से? (क) संक्रन्दनेन-सदा प्रभु का आह्वान करनेवाली आत्मा से। प्रभु के आह्वान ने ही तो इसे सबल बनाना है और वासनाओं को भयभीत करना है। (ख) अनिमिषेण-कभी पलक न मारनेवाले से। यह सदा अप्रमत्त रहता है। नाममात्र भी प्रमाद हुआ और वासनाओं का आक्रमण हुआ (ग) जिष्णुना-विजय के स्वभाववाले से। यह प्रभु का आह्वान करनेवाला अप्रमत्त जीतेगा नहीं तो क्या हारेगा? (घ) युत्कारेण-युद्ध करनेवाले से और (ङ) दुश्च्यवनेन-युद्ध से पराङ्मुख न किये जानेवाले से। यह इसलिए भी विजयी होता है कि यह युद्ध से कभी पराङ्मुख नहीं होता। (च) धृष्णुना-पराङ्मुख न होने के कारण शत्रुओं का धर्षण करनेवाले से। जो युधिष्ठिर (युधि+स्थिर) युद्ध में स्थिर रहनेवाला होता है वह अनन्त विजय को तो प्राप्त करता ही है। (छ) इषुहस्तेन-(इषु—प्रेरणा) प्रभु-प्रेरणा जिसने हाथ में ली हुई है, उससे। यह प्रभु की प्रेरणा को सुनता है और उसके अनुसार हाथों से कार्य करता है, इसलिए यह 'इषुहस्त' कहलाता है। (ज) वृष्णा-शक्तिशाली से। प्रभु के उपासक की आत्मा शक्ति-सम्पन्न तो होती ही है।

ऐसे इन्द्र से—आत्मा से ही नर जीता करता है। मन्त्र में कहते हैं कि तदिन्द्रेण-इस इन्द्र से जयत-शत्रुओं को जीत लो और तत् सहध्वम्-इस वासनाओं के समूह को पराभूत कर दो।

भावार्थ—हम अपने में युद्ध में स्थिर रहने की भावना को भरें और विजयी बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु प्रेरणा

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥ ३॥

सः=वह उपासक **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से और **सः**=वह **निषङ्गिभिः**=असङ्ग नामक शस्त्रों से (न=अ, नहीं, सङ्ग=आसक्ति) अनासक्ति से उपलक्षित=मुक्त हुआ-हुआ **वशी**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला **गणेन संस्रष्टा**=समाज के साथ मेल करनेवाला—एकाकी जीवन न बितानेवाला **सः**=वह **युधः**=वासनाओं से युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता उपासक **संसृष्टजित्**=सब संसर्गों को, विषय-सम्पर्कों को जीतनेवाला होता है। विषय-सम्पर्क को जीतकर ही यह **सोमपा**=सोम का पान करनेवाला होता है। **बाहुशर्धी**=सोमपान के कारण यह अपनी बाहुओं से पराक्रम करनेवाला होता है। इन्द्र ने इस सोम का पान करके ही तो कहा था कि 'भूमि को यहाँ रख दूँ या वहाँ रख दूँ।' सोम semen=शक्ति का पान—अपने अन्दर खपाना है। **उग्रधन्वा**=('प्रणवो धनुः') ओम् या प्रणव ही इसका धनुष है, इससे उग्र=उदात्त धनुष हो ही क्या सकता है? इस प्रणव के जप से ही इसने वासनाओं को विद्ध करना है।

यह **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला है (असु क्षेपण), परन्तु यह शत्रुओं को परे फेंकने की क्रिया '**प्रतिहिताभिः**'=प्रत्याहृताभिः=इन्द्रियों के वापस आहरण के द्वारा होती है। सामान्यतः शस्त्रों को फेंककर शत्रुओं को भगाया जाता है, परन्तु यहाँ इन्द्रियों को वापस लाकर शत्रुओं को परे फेंका जाता है। 'वापस करना और परे फेंकना' यह काव्य का विरोधाभास अलङ्कार है। उपासक का जीवन भी इस वर्णन के अनुसार काव्यमय है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अनासक्ति के द्वारा इस संसारवृक्ष का छेदन करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानी बनो

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑ अप॒बाध॑मानः।
प्र॒भ॒ञ्जन्त्सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेध्यवि॒ता रथा॑नाम्॥ ४॥

प्रभु जीव से कहते हैं **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप रथ के द्वारा **परिदीया**=चमकनेवाला बन (दी=to shine) और आकाश में उड़नेवाला बन, अर्थात् उन्नति की ओर चल। जीव ने उन्नत होने के लिए ज्ञानी बनना है, बिना ज्ञान के किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। यह बृहस्पति उन्नति करते-करते ऊर्ध्वादिक् का अधिपति बनता है। यह अपने शरीररूप रथ के द्वारा ऊर्ध्वगति करनेवाला बनता है (दी=to soar)। यह उन्नति की ओर चलता हुआ '**रक्षोहा**'=रमण के द्वारा (र) क्षय (क्ष) करनेवाली वृत्तियों का संहार करता है। इनका संहार करके ही यह अपनी ऊर्ध्वगति को स्थिर रख पाएगा। यह अपनी यात्रा में आगे बढ़ता है—**अमित्रान्**=द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानः**=दूर करता हुआ। ईर्ष्या-द्वेष से मन मृत हो जाता है—मन के मृत हो जाने पर उन्नति सम्भव कहाँ? हे बृहस्पते! तू **सेनाः**=इन वासनाओं के सैन्य को **प्रभञ्जन्**=प्रकर्षेण पराजित करता हुआ (रणे भङ्गः पराजयः) **प्रमृणः**=कुचल डाल। इस प्रकार **युधा**=इन वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **जयन्**=विजयी बनता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारे दिये हुए इन **रथानाम्**=रथों का **अविता**=रक्षक **एधि**=हो। इस रथ को तू इन राक्षसों, अमित्रों और वासना-सैन्यों का शिकार न होने दे। इसी प्रकार तू इस रथ के द्वारा 'ऊर्ध्वा दिक्' का अधिपति 'बृहस्पति' बन सकेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर इस रथ से यात्रा को ठीक रूप में पूर्ण करनेवाले बनें।

ऋषि:—अप्रतिरथ ऐन्द्र: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

जैत्र रथ—विजयी रथ

ब॒लवि॒ज्ञा॒यः स्थवि॑रः प्रवी॑रः सह॑स्वान्वा॒जी सह॑मान उ॒ग्रः ।
अ॒भिवी॑रो अ॒भिस॑त्वा सहो॒जा जैत्र॑मिन्द्र॒ रथ॒मा ति॑ष्ठ गो॒वित् ॥ ५ ॥

'प्रजापति', अर्थात् नेता को कैसा बनना चाहिए, यह इस मन्त्र में इन शब्दों में बतलाते हैं—

१. **बलविज्ञाय:**=तू बल के कारण प्रसिद्ध—known for shis vigour तथा

२. **गोवित्**=(गाव:=वेदवाच:) वेदवाणियों को जानने व प्राप्त करनेवाला बनकर **जैत्रं रथमातिष्ठ**=विजयशील रथ पर आरूढ़ हो। शरीर ही रथ है जो जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए दिया गया है। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए बल व ज्ञान दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं। बल रजोगुण का प्रतीक है और ज्ञान सत्त्वगुण का। केवल सत्त्व व केवल रज से नहीं, अपितु दोनों के समन्वय से ही सफलता मिलनी है। इसी बात को मन्त्र में ३.-४. **अभिवीर: अभिसत्वा**=इन शब्दों से पुन: कहा है, वीरता की ओर चलनेवाला और सत्त्व की ओर चलनेवाला। सत्त्व का लक्षण ज्ञान है। एवं, वीरता व ज्ञान का अपने में समन्वय करनेवाला ही विजयी बनता है। प्रारम्भ 'बलविज्ञाय:'=शक्ति से है और समाप्ति 'गोवित्'=ज्ञान से है। बल और ज्ञान=क्षत्र और ब्रह्म मिलकर हमें विजयी बनाएँगे। वीरता की ओर चलो—सत्त्वगुण की ओर चलो तथा

५. **स्थविर:**=स्थिर मति का बनना। डाँवाँडोल व्यक्ति कभी विजयी नहीं होता। ६. **प्रवीर:**=प्रकृष्ट वीर बनना, कायर नहीं। क्या कायर कभी जीतता है? ७. **सहस्वान्**=सहनशील= Tolerant बनें। छोटी-छोटी बातों से क्षुब्ध हो गये तो सफल न हो पाएँगे। ८.-९. **सहमान: उग्र:**=हम शत्रुओं का पराभव करनेवाले बनें, परन्तु उग्र=उदात्त बने रहें—कमीनेपन पर कभी न उतर आएँ और सबसे बड़ी बात यह कि १०. **सहौजा:**=हम एकता के बलवाले हों—हम परस्पर मिलकर चलें। सारा विज्ञान हमारा कल्याण तभी करेगा जब हम संज्ञानवाले होंगे। 'संघ में शक्ति है', इस तत्त्व को हम कभी भूल न जाएँ। घर में पति-पत्नी का मेल होता है तो वहाँ अवश्य सफलता उपस्थित होती है। ११. **वाजी**='Sacrifice'=त्यागवाला। त्याग के बिना विजय सम्भव नहीं—मेल भी सम्भव नहीं।

एवं, प्रस्तुत मन्त्र में विजय प्राप्ति के ११ तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। इनको अपनाकर हम सच्चे प्रजापति बनें।

भावार्थ—हमारे जीवन का एक सिरा शक्ति हो और दूसरा ज्ञान। इनके द्वारा हम यथार्थ प्रजापति बनें।

ऋषि:—अप्रतिरथ ऐन्द्र: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

इन्द्र बनो

गो॒त्र॒भिदं॑ गो॒विदं॒ वज्र॑बाहुं॒ जय॑न्त॒मज्म॑ प्र॒मृ॒णन्त॒मोज॑सा ।
इ॒मं स॑जाता॒ अनु॑ वीरयध्व॒मिन्द्रं॑ सखायो॒ अनु॒ सं र॑भध्वम् ॥ ६ ॥

प्रभु कहते हैं—हे सजाता:=समान जन्मवाले जीवो! **इयम्**=इस इन्द्र के **अनुवीरयध्वम्**=अनुसार तुम भी वीरतापूर्ण कर्म करो। इस इन्द्र के जो १. **गोत्रभिदम्**=(गोत्र=wealth) धन का विदारण करनेवाला है, अर्थात् हिरण्मय पात्र द्वारा डाले जानेवाले आवरण को सुदूर नष्ट करनेवाला है। २. **गोविदम्**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है। धन के लोभ को दूर करके ही ज्ञान प्राप्त होता

है। ३. **वज्रबाहुम्**-जिसकी बाहु में वज्र है, 'वज गतौ' से वज्र बनता है, 'बाहृ प्रयत्ने' से बाहु। वज्रबाहु की भावना यही है कि गतिशील होने के कारण जो सदा प्रयत्नशील है। ४. **अज्म जयन्तम्**-युद्ध को जीतनेवाला है। निरन्तर क्रियाशीलता ने ही इसे वासना-संग्राम में विजयी बनाया है। ५. **ओजसा प्रमृणन्तम्**-जो (क्रियाशीलता से उत्पन्न) ओज के द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं को कुचल रहा है। वस्तुत: इन पाँच विशेषताओंवाला व्यक्ति ही इन्द्र है और इस इन्द्र के समान जन्म लेनेवाले सभी को चाहिए कि वे भी इन्द्र के समान ही वीर बनें और संग्राम में शत्रुओं को कुचल डालें। प्रभु कहते हैं कि हे **सखाय:**-इन्द्र के समान ख्यानवाले जीवो! **इन्द्रम् अनु**-इस इन्द्र के अनुसार **संरभध्वम्**-दृढाङ्ग Robust बनो, बहादुरी का परिचय दो। इन्द्र असुरों का संहार करता है तुम भी उसके **सजात**-समान जन्मवाले **सखा**-समान ख्यान-(नाम)-वाले होते हुए क्या ऐसा न करोगे? इन्द्र के कर्म सदा बलवाले हैं। क्या तुम निर्बलता प्रकट करोगे? नहीं, तुम भी उसके अनुसार वीर बनो। जो इन्द्र ने किया है वह तुम भी कर सकते हो। तुम भी तो इन्द्र हो—तभी तो महेन्द्र (परमात्मा) के उपासक बने हो। प्रभु का उपासक कायर नहीं होता, अत: वीर बनो, बहादुरी का परिचय दो और वासनारूप शत्रुओं को कुचल डालो।

भावार्थ—हम इन्द्र हैं—हम असुरों का संहार करनेवाले हैं। धन के आकर्षण से हम ऊपर उठेंगे और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करेंगे।

नोट—यह इन्द्र भी तुम्हारे-जैसा ही एक मनुष्य है, **सजाता:**-तुम इसके समान जन्मवाले हो **सखाय:**-तुम इसके समान ख्यानवाले हो। एक ही योनि में तुमने जन्म लिया है, एक ही शिक्षणालय में तुमने शिक्षा पाई है, वह विजेता बना है—उसने धन के complex को जीत लिया है। तुम भी धन से तो नहीं, परन्तु धन के लोभ से ऊपर उठकर वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनो।

ऋषि:—अप्रतिरथ ऐन्द्र: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

कमाएँ पर जोड़े नहीं

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाळयुध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ७ ॥

इन्द्र:-इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**-धनों को **सहसा**-प्रसन्नतापूर्वक (with a smiling face) **अभिगाहमान:**-सर्वत: अवगाहन करता हुआ, अर्थात् सब सुपथों से प्राप्त करता हुआ **अदय:**-(देङ् रक्षणे) उन्हें अपने पास सुरक्षित रखनेवाला नहीं होता। क्या पेट, जो रुधिर बनता है, उस रुधिर को अपने पास रख लेता है? अपने पास न रखने से ही वह वस्तुत: स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार यह इन्द्र धनों को कमाता है, उनमें अवगाहन करता है=rolls in wealth, परन्तु उन्हें जोड़कर अपने पास नहीं रख लेता, इसीलिए तो वह प्रसन्न भी रहता है। **वीर:**-यह दानवीर बनता है। धन के प्रति आसक्ति न होने से यह कमाता है और देता है **शतमन्यु:**-यह सैकड़ों क्रतुओं व प्रज्ञानोंवाला होता है। धनों का यह यज्ञों व ज्ञानप्राप्ति में विनियोग करता है।

दुश्च्यवन:-यह अपने इस यज्ञ-मार्ग से सुगमता से हटाया नहीं जा सकता। धन का लोभ इसे अयज्ञिय नहीं बना पाता यह **पृतनाषाट्**-काम-क्रोधादि शत्रु-सेनाओं का पराभव करनेवाला होता है **अयुध्य:**-काम-क्रोधादि इसे कभी युद्ध में पराजित नहीं कर पाते।

यह इन्द्र **प्रयुत्सु**-इन उत्कृष्ट आध्यात्मिक संग्रामों में **अस्माकं सेना**-हमारी दिव्य गुणों की सेनाओं को **अवतु**-सुरक्षित करे। काम-क्रोधादि का पराजय हो, प्रेम व मित्रता की भावना की विजय हो।

भावार्थ—हम धन कमाएँ, परन्तु उसे जोड़ें नहीं, जिससे हमारे दिव्य गुण उसमें नष्ट न हो जाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवसेनाएँ और उनका सेनापति

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ८ ॥

देवसेनाएँ—दिव्य और आसुर गुणों को वेद में 'देवसेना' व 'असुरसेना' कहा गया है। ये देवसेनाएँ प्रबल होकर असुरों का पराजय करती हैं। क्रोध पर दया विजय पाती है, लोभ पर सन्तोष व दान, और काम प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है। **देवसेनानाम्**=इन देवसेनाओं के, **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों और आसुर भावनाओं का विदारण व भङ्ग कर रही हैं और **जयन्तीनाम्**=आसुरी वृत्तियों पर विजय पाती चलती हैं, **अग्रम्**=आगे **मरुतः यन्तु**=मरुत्—प्राणों की साधना करनेवाले मनुष्य चलें, अर्थात् ये देवसेनाएँ प्राण-साधना करनेवालों के पीछे चला करती हैं। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण होते हैं, मन का मैल नष्ट होता है और गन्दगी में उत्पन्न होनेवाले मच्छरों की भाँति अपवित्रता से जन्म लेनेवाली आसुर वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। एवं, स्पष्ट है कि मरुतों की प्राण-साधना देव-सेनाओं के विजय के लिए आवश्यक है।

आसाम्=इन विजयशील देव-सेनाओं का **नेता**=सेनापति **इन्द्रः**=इन्द्र है। इन्द्र है 'इन्द्रियों का अधिष्ठाता', जो इन्द्रियों का दास न होकर 'हृषीकेश' है। हृषीक=इन्द्रिय, ईश=स्वामी। देवराट् यह इन्द्र ही है। यदि जीभ ने चाहा और हमने खाया, आँख ने चाहा है और हमने देखा, कान ने चाहा और हमने सुना तब तो हम इन इन्द्रियों के दास बन जाएँगे, हम इन्द्र न रहेंगे।

देवसेना के प्रमुख व्यक्ति—इस देव सेना के **पुरः**=प्रथम स्थान में—अग्रस्थान में **एतु**=चलें। कौन?

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति=ज्ञान का स्वामी, देवताओं का गुरु, ज्ञानियों का भी ज्ञानी। दिव्य गुणों में ज्ञान का सर्वोच्च स्थान है। वास्तविकता तो यह है कि ज्ञान के अभाव में ही तो कामादि वासनाएँ पनपती हैं। ज्ञानाग्नि इन्हें भस्म कर देती है। कामादि को भस्म करके ज्ञान मनुष्य को पवित्र बनाता है। यह बृहस्पति ही ऊर्ध्वादिक् का अधिपति है। ज्ञान से ही मनुष्य अध्यात्म उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचता है। देव तो स्वयं दीप्त हैं औरों को ज्ञान-दीप्ति से द्योतित करते हैं। 'देवो दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'।

२. **दक्षिणा**=दिव्य गुणों की सेना में प्रथम स्थान ज्ञान का है और द्वितीय दान का तो तृतीय स्थान यज्ञ का है। यज्ञ की मौलिक भावना निःस्वार्थ कर्म है। देव यज्ञशील होते हैं, वे तो हैं ही 'हविर्भुक्'।

४. **सोमः**=सौम्यता चौथा देव है। सौम्यता यह चौथा होता हुआ भी सर्वाधिक महत्त्व रखता है। सारे दिव्य गुणों के होने पर भी यदि यह सौम्यता न हो तो वे सब दिव्य गुण अखरने लगते हैं।

सोम का दूसरा अर्थ semen=भी है। मनुष्य ने शक्ति का संयम करके ही दिव्य गुणों को विकसित करना है। यही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें, जिससे हममें दिव्य गुण उत्पन्न हों। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें, जिससे देवसेनाओं के सेनापति बनें। ज्ञान, दान, निःस्वार्थता व सौम्यता इन चार दिव्य गुणों को न भूलें।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों के तीन महारथी

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्धं उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ ९ ॥

देवताओं का जयघोष उठे—गत मन्त्र में प्राण-साधना तथा इन्द्रियों के वशीकरण के द्वारा देवसेनाओं की उत्पत्ति, उद्गति व प्रगति का उल्लेख हुआ था। वे असुरों पर विजय पाती हुई आगे बढ़ रही थीं। प्रस्तुत मन्त्र में विजय पानेवाली उन्हीं देवसेनाओं के जयघोष का वर्णन है—

१. **वृष्णः इन्द्रस्य**-शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले, जितेन्द्रिय—इन्द्रियों के अधिष्ठाता इन्द्र का तथा २. **राज्ञः वरुणस्य**-(well regulated) अति नियमित जीवनवाले वरुण का, जिसने सब बुराइयों का वारण किया है तथा ३. **आदित्यानां मरुताम्**-अपने अन्दर निरन्तर उत्तमता का ग्रहण करनेवाले (आदानात् आदित्यः) प्राण-साधक मरुतों का (मरुतः प्राणाः) **शर्धः**-बल **उग्रम्**-बड़ा उदात्त व तीव्र होता है।

इन्द्र का विशेषण वृषन् है—जो भी जितेन्द्रिय बनेगा वह अवश्य शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होगा।

वरुण श्रेष्ठ का विशेषण 'राज्ञः' है—उत्तम प्रकार से नियमित जीवनवाला। वस्तुतः नियमित जीवन ही हमें उत्तम बनाता है।

मरुत्—प्राण-साधना करनेवाले आदित्य हैं—अपने अन्दर निरन्तर दिव्यता का आदान कर रहे हैं। आदित्य अदिति-पुत्र हैं—'अदीना देवमाता' के पुत्र हैं। देवमाता इन दिव्य गुणरूप आदित्यों को जन्म देती है।

इन्द्र, वरुण व मरुतों का, जो देवताओं के तीन महारथी हैं, बल (शर्धः) बड़ा उदात्त (उग्रम्) होता है, इन महारथियों का अनुगमन करनेवाले **महामनसाम्**-विशाल मनवाले **भुवनच्यवानाम्**-भुवनों का भी त्याग कर देनेवाले, अर्थात् लोकहित के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करने के लिए उद्यत **देवानाम्**-देवताओं का **जयताम्**-जो सदा जय प्राप्त करनेवाले हैं, उनका **घोषः**-विजयघोष **उदस्थात्**-मेरे जीवन में सदा उठे, अर्थात् मेरे जीवन में सदा देवों का विजय हो और असुरों का पराजय।

यहाँ प्रसङ्गवश देवों की दो विशेषताओं का उल्लेख हुआ है एक तो वे 'विशाल मनवाले' होते हैं और दूसरा वे 'अधिक-से-अधिक त्याग के लिए उद्यत' होते हैं। विशाल हृदयता व त्याग के बिना कोई देव नहीं बन पाता।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ, वरुण बनूँ, मरुत् होऊँ। हृदय को विशाल बनाऊँ, सदा त्याग के लिए उद्यत रहूँ।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आयुधों का उद्धर्षण

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद् वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ १० ॥

आयुधों का तेज करना—प्रभु ने जीव को इस जीवन-संग्राम में विजयी बनाने के लिए मुख्यरूप से 'शरीररूप रथ, इन्द्रियरूप घोड़े तथा मन जिसमें बुद्धि भी सम्मिलित है' ये आयुध

प्राप्त कराये हैं। इन शस्त्रों के सदा तीक्ष्ण व कार्यक्षम रहने पर ही विजय-प्राप्ति सम्भव है। जिस योद्धा के अस्त्र जङ्ग खा जाते हैं वह कभी विजय प्राप्त नहीं किया करता। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु जीव को 'मघवन्' विजय व ऐश्वर्य=उच्च ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाला तथा 'वृत्रहन्'=वृत्रों ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले शत्रुओं को मारनेवाला—इन दो शब्दों से सम्बोधन करते हुए संकेत करते हैं कि यदि तूने सचमुच ऐश्वर्य प्राप्त करना है तो इन वृत्रों का विनाश कर। इनके विनाश के लिए अपने सभी आयुधों को चमकाये रख—इन्हें मलिन न होने दे। प्रभु कहते हैं कि हे **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले इन्द्र! तू **आयुधानि**=इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि आयुधों को **उद्धर्षय**=खूब दीप्त कर। **मामकानाम्**=मेरे भक्त बनकर रहनेवाले, प्रकृति में न उलझनेवाले **सत्वनाम्**=सत्त्वगुणवाले मेरे भक्तों के **मनांसि**=मन (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार=गौरव की भावना) **उत्**=उत्कृष्ट बनें—दीप्त हों। वस्तुतः मन व अन्तःकरण के अच्छा बने रहने का उपाय ही है कि मनुष्य प्रभु-भक्त बनने का प्रयत्न करे। प्रभुभक्ति से सत्त्वगुण की प्रबलता रहती है और सत्त्वगुण का उत्कर्ष मन को मलिन नहीं होने देता।

इन्द्रियाँ—प्रभु कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=काम का ध्वंस करनेवाले! **वाजिनाम्**=तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों के **वाजिनानि**=वेग **उत्**=उत्कृष्ट हों। काम ही तो सर्वमहान् रुकावट है—'वृत्र' है। इसके दूर हो जाने पर इन्द्रियरूप घोड़ों की शक्ति व वेग चमक उठता है।

शरीर—शरीर रथ है। यदि यह कभी रोगाक्रान्त नहीं होता, तो यह अवश्य अपनी जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता चलता है। प्रभु कहते हैं कि चाहिए तो यही कि **जयताम्**=विजयशील होते हुए **रथानाम्**=शरीररूप रथों के **घोषाः**=विजयघोष **उद्यन्तु**=ऊपर उठें—आकाश को गुँजा दें।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के लिए हमारे मन, इन्द्रिय व शरीररूप आयुध खूब दीप्त हों।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आस्तिक मनोवृत्ति व विजय

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ उ देवा अवता हवेषु॥ ११॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में चार बातें कही गयी हैं। पहली बात तो यह कि **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं व पताकाओं को ठीक प्रकार से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का **इन्द्रः**=परमात्मा हो, अर्थात् हम प्रभु को ही अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है। जब हम एक लक्ष्य बना लें तब प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। वस्तुतः संसार में प्रभु का आश्रय मनुष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता। आस्तिक मनुष्य प्रभु को सदा अपनाता है और किसी प्रकार से निरुत्साहित न हो अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है।

२. प्रभु से दूसरी प्रार्थना यह है कि **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं—अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश हैं **ताः**=वे निर्देश और प्रेरणाएँ ही **जयन्तु**=जीतें। प्रभु की प्रेरणा होती है कि 'उषाकाल हो गया, उठ बैठ। क्यों सो रहा है?' उसी समय एक इच्छा पैदा होती है कि कितनी मधुर वायु चल रही है, रात को नींद भी तो पूरी नहीं आई, दिन में सुस्ताते रहोगे, थोड़ा और सो ही लो। सामान्यतः यह इच्छा उस प्रेरणा को दबा

देती है और व्यक्ति सोया रह जाता है। इसी को हम वैदिक शब्दों में इस रूप में भी कहते हैं कि दैवी प्रेरणा को आसुर कामना दबा लेती है। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्रेरणाएँ ही विजयी हों—इच्छाएँ नहीं।

३. तीसरी प्रार्थना यह है कि **अस्माकम्**-हम आस्तिक वृत्तिवाले में **वीराः**-वीरता की भावनाएँ न कि कायरता की प्रवृत्ति **उत्तरे भवन्तु**-उत्कृष्ट हों—प्रबल हों। हम कायरता से कोई कार्य न करें। दबकर कार्य करना मनुष्यत्व से गिरना है। हमारे कार्य वीरता का परिचय दें।

४. हे **देवाः**-देवो! **अस्मान्**-हम आस्तिकों को **आहवेषु**-इन संग्रामों में **उ**-निश्चय से **अवत**-रक्षित करो। देव हमारे रक्षक हों। जब हम प्रभु में पूर्ण आस्था से चलेंगे, जब हम सदा अन्तःस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे, जब हम सदा वीरता के कार्य ही करेंगे तो क्यों देवताओं की रक्षा के पात्र न होंगे। जब मनुष्य अपनी वृत्ति को अच्छा बनाता है और पुरुषार्थ में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता तब वह देवों की रक्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—१. जीवन-लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें, २. हममें प्रेरणा की विजय हो न कि इच्छा की, ३. हम सदा वीरतापूर्ण कार्य करें और ४. हम सदा अध्यात्म-संग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—अप्रतिरथ ऐन्द्रः॥ देवता—अप्वा॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

लोभ (Desire of attainment) का परिणाम

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ १२॥

लोभ की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है। १. यह कम-से-कम प्रयत्न से अधिक-से-अधिक लेना चाहती है। २. यह प्रवृत्ति आवश्यकता को नहीं देखती। इसमें धन के प्रति लोभ (लुभ-Love)—एक प्रेम-सा होता है, जिसके कारण एक लोभी किसी अन्य बन्धु-बान्धव या प्राणी से प्रेम नहीं कर पाता। ३. इतना ही नहीं यह किसी अन्य की सम्पत्ति को देखकर जलता है—'इसके हृदय में उनके प्रति स्नेह न रहे', यही नहीं; यह उनके प्रति 'दुर्हृद्-अमित्र' हो जाता है और उनको नष्ट करने का प्रयत्न करता है, या स्वयं ही उस ईर्ष्याग्नि में जलता रहता है। एवं, लोभ ईर्ष्याजनक होता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अप्वे**-हे (आप्-प्राप्त करना) अधिक और अधिक धन को प्राप्त करने की इच्छा! तू **अमीषाम्**-इन तेरे शिकार बने हुए लोगों के **चित्तम्**-चित्त को **प्रतिलोभयन्ती**-प्रत्येक ऐश्वर्य के प्रति लुब्ध करती हुई **अङ्गानि गृहाण**-इनके अङ्गों को जकड़ ले—इनको अपने वश में कर ले। लोभाविष्ट हुआ-हुआ मनुष्य इस प्रकार धन का दास बन जाता है कि उसको धनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। वह धन के लिए अपने आराम को समाप्त कर देता है—वह धन के लिए अपने बन्धुत्व की बलि दे देता है—आत्मा-परमात्मा के स्मरण का तो प्रश्न ही नहीं रहता। एक ही शब्द उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सुनाई पड़ता है—धन-धन और धन। **परा इहि**-हे अप्वे! तू हमसे परे जा—हमारा पीछा छोड़। जो **अमित्राः**-किसी से स्नेह न करनेवाले लोग हैं उनका **अभि-प्र-इहि**-लक्ष्य करके तू खूब गतिशील हो, अर्थात् उन्हें तू प्राप्त कर। उन्हें ही तू **हृत्सु**-हृदयों में **शोकैः**-शोकाग्नियों से **निर्दह**-नितरां जलानेवाली बन। लोभी व ईर्ष्यालु पुरुषों के ही मन जलते रहें। हमपर तो तू कृपा कर, हमसे दूर रह और हमें जलानेवाली न हो।

ये **अमित्राः**-प्राणियों के प्रति स्नेहशून्य हृदयवाले लोग ही **अन्धेन तमसा**-इस अन्धी इच्छा

से (तमस्=Desire) सचताम्=संयुक्त हों। यह इच्छा अन्धी तो है ही। साध्य व साधन Ends व means का विचार न करती हुई यह साधन को ही साध्य समझ लेती है और परिणामत: धन की ही उपासक हो जाती है। धन की देवता भग तो अन्धी है—ये भी धन के पीछे अन्धे हो जाते हैं। अच्छा यही है कि इस अन्धी इच्छा से मुक्त होकर हम 'चक्षुष्मान्' बने रहें—अपने लक्ष्य को पहचानें और उसे प्राप्त करने के लिए अग्रसर हों। हे अप्वे! धनाहरणाभिलाषे! तू परेहि=कृपया हमसे परे ही रह।

भावार्थ—हम लोभ की भावना से ऊपर उठें, जिससे हृदयों में शोकाग्नि से सन्तप्त न होते रहें।

ऋषि:—अप्रतिरथ ऐन्द्र: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—विराडनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

उत्कृष्ट प्रयत्न=प्रशंसनीय श्रम

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु। उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥ १३ ॥

'नर' शब्द की भावना 'न-रम्'=इस संसार में ही न रम जाने की है। संसार में रहते हुए भी इसमें न फँसना—आवश्यकता से अधिक धन की भावना को अपने में दृढ़मूल न होने देनेवाला मनुष्य ही 'नर' है। ये लोग ही संसार में आकर आध्यात्ममार्ग में भी आगे बढ़ा करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि नर:=अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! (नृ नये) प्रेत=आगे बढ़ो, यह धन तुम्हारे जीवन-यात्रा के मार्ग में रुकावट बनकर न खड़ा हो जाए। जयत=इस विघ्न को जीत लो, बस यही तो सबसे बड़ा विघ्न है। इसका मोहक स्वरूप यह है कि ''इसके बिना तुम्हारी संसार-यात्रा नहीं चलेगी, नमक भी तो न मिल सकेगा। कोई बन्धु-बान्धव तुम्हें पूछेगा नहीं, समाज में तुम्हारी प्रतिष्ठा न होगी'', परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। धन सीमितरूप में सहायक है, लोभ को जन्म देकर यह महान् विघ्न बन जाता है। वेद कहता है कि इन्द्र:=वह सब ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु व:=तुम्हें शर्म यच्छतु=शरण दे। धन ने क्या शरण देनी। धनों के स्वामी के चरणों की शरण प्राप्त हो जाने पर इस तुच्छ धन का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

जब मनुष्य धन का दास नहीं रहता, तब उसे कभी भी टेढ़े-मेढ़े साधनों से नहीं कमाता। वेद का यही आदेश है कि व:=तुम्हारे बाहव:=प्रयत्न (बाहृ प्रयत्ने) उग्रा: सन्तु=उत्कृष्ट हों। वस्तुत: धन का दास न रहने पर मनुष्य कभी भी अन्याय्य मार्ग से इसका सञ्चय नहीं करता। वेद कहता है कि प्रभु की शरण पकड़ो—उत्कृष्ट श्रम करो यथा=जिससे तुम अनाधृष्या:=लोभादि से न कुचले जानेवाले असथ=हो जाओ। मनुष्य का यही ध्येय होना चाहिए कि वह कभी अन्याय से अर्थ का संचय करना न चाहे। यही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—हम आगे पढ़ें, लोभ को जीतें, प्रभु की शरण ग्रहण करें, उत्कृष्ट श्रम करते हुए ही धनार्जन करें।

[१०४] चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—अष्टको वैश्वामित्र: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

सोम का उत्पादन व रक्षण

असावि सोमः पुरुहूत तुभ्यं हरिभ्यां यज्ञमुप याहि तूयम्।
तुभ्यं गिरो विप्रवीरा इयाना दधन्विर इन्द्र पिबा सुतस्य ॥ १ ॥

(१) हे पुरुहूत=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! तुभ्यम्=आपकी प्राप्ति के लिए सोम:=सोम

असावि-उत्पन्न किया गया है। इस सोम के रक्षण से ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा आपका दर्शन होता है। वस्तुत: सोमरक्षण का सब से बड़ा लाभ यही है कि यह प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है। (२) हे प्रभो! आप **हरिभ्याम्**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के साथ **यज्ञम्**-हमारे जीवनयज्ञ को **उपयाहि**-समीपता से प्राप्त होइये। हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों। इनके द्वारा ही तो हम इस जीवनयज्ञ को पूर्ण कर सकेंगे। (३) **तुभ्यम्**-आपके प्राप्ति के लिए ही **विप्रवीरा:**-(विप्रा: वीरा: विशेषेण ईरयितार: या सा) ज्ञानी पुरुषों से विशेषरूप से प्रेरित की जानेवाली **इयाना:**-गमनशील क्रियाओं से युक्त **गिर:**-स्तुति वाणियाँ **दधन्विरे**-धारण की जाती हैं। ज्ञानी पुरुष प्रभु का स्तवन करते हैं, उन स्तुति वाणियों के अनुसार क्रियाशील होते हैं। यह क्रियामय स्तुति ही प्रभु प्राप्ति का साधन बनती है। (४) **इन्द्र**-हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुतस्य**-इस उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पिबा**-पान करिये। आपके स्तवन से ही वासनाओं का विनाश होता है और तभी सोम के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति के रक्षण से प्रभु प्राप्ति का सम्भव होता है। यह रक्षण भी प्रभु-स्तवन के द्वारा ही होता है। इसके रक्षण से इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है और जीवन-यज्ञ सुन्दरता से पूर्ण होता है।

ऋषि:—अष्टको वैश्वामित्र: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

क्रियामय स्तुतिशील जीवन

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥ २ ॥

(१) हे **हरिव:**-हे प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **इह**-इस हमारे जीवन-यज्ञ में **नृभि:**-उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **सुतस्य**-उत्पन्न किये गये, **अप्सु धूतस्य**-कर्मों में पवित्र किये गये (धू-shake off कम्पने-कम्पित करके जिससे मल को दूर कर दिया गया है), कर्मों में लगे रहने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और इस प्रकार सोम पवित्र बना रहता है, इस पवित्र सोम का **पिब**-पान कर। **जठरं पृणस्व**-इस सोम के द्वारा हमारे आभ्यन्तर को पूरित कर। हमारा शरीर सोम से व्याप्त हो। (२) हे **इन्द्र**-परमात्मन्! **यम्**-जिस सोमकणों को **अद्रय:**-(अद्रय: आदरणीया:-those who adore) उपासक लोग **तुभ्यम्**-आपकी प्राप्ति के लिए अपने जठर में **मिमिक्षु:**-सिक्त करते हैं, **तेभि:**-उनके द्वारा **उक्थवाह:**-स्तोत्रों के धारण करनेवाले के **मदम्**-हर्ष को **वर्धस्व**-आप बढ़ाइये। इस सोमरक्षण से सब अंगों की शक्ति का वर्धन होता है और परिणामत: पूर्ण स्वास्थ्य के आनन्द की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम कर्मों में लगे रहें (अप्सु धूतस्य) प्रभु के उपासक बनें (अद्रय:) उक्थों व स्तोत्रों के धारण करनेवाले हों (उक्थवाह:)।

ऋषि:—अष्टको वैश्वामित्र: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

उदात्त सत्य जीवन

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ ३ ॥

(१) हे **हर्यश्व**-(हरि-ray of light) प्रकाशमय इन्द्रियरूप अश्वोंवाले प्रभो! (प्रकाशमय इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले) **वृष्णे**-सब सुखों के वर्षक **तुभ्यम्**-आपके प्रति **प्रयै**-प्रगमन के

लिए **सुतस्य**-इस उत्पन्न हुए-हुए सोम की **उग्राम्**-हमारे जीवनों को उदात्त बनानेवाली तथा **सत्याम्**-हमारे जीवनों को सत्यमय बनानेवाली **पीतिम्**-पीति को, पान को **प्र इयर्मि**-प्रकर्षेण प्राप्त होता हूँ। मैं सोम का पान करता हूँ। यह सोमपान मुझे उदात्त व सत्य जीवनवाला बनाता है और अन्ततः प्रभु की प्राप्ति का साधन बनता है। (२) हे **इन्द्र**-ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **धेनाभिः**-ज्ञान की वाणियों से **इह**-इस जीवन में **मादयस्व**-हमें आनन्दित करिये। (३) आप **विश्वाभिः धीभिः**-सम्पूर्ण प्रज्ञानों से तथा **शच्या**-शक्ति से **गृणानः**-स्तूयमान हैं। सम्पूर्ण प्रज्ञान व शक्ति आपकी ही है। आपके तेज के अंश से ही जहाँ तहाँ प्रज्ञान व शक्ति का दर्शन होता है। बुद्धिमानों की बुद्धि आप हैं और बलवानों के बल भी आप ही हैं। आपने ही हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त करानी है। इस ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति का द्वार यह सोमपान होता है।

भावार्थ—मैं सोमपान द्वारा अपने जीवन को उदात्त व सत्य बनाऊँ। प्रभु की उपासना से ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उशिक् व ऋतज्ञ

ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिजं ऋतज्ञाः।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः ॥ ४ ॥

(१) हे **शचीवः**-सर्वशक्तिमन् **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **उशिजः**-मेधावी **ऋतज्ञाः**-ऋत के जाननेवाले, अपने जीवन में ऋत के अनुसार कार्य करनेवाले **मनुषः**-विचारशील लोग **तव**-आपकी **ऊती**-रक्षा के द्वारा आप से रक्षण को प्राप्त करके तथा **वीर्येण**-आपकी शक्ति से, अर्थात् आपसे शक्ति को प्राप्त करके **प्रजावत्**-सब शक्तियों के विकासवाले (प्रजन्-प्रादुर्भाव) **वयः**-जीवन को **दधानाः**-धारण करते हुए होते हैं। हम मेधावी बनने का प्रयत्न करें, ऋत के अनुसार कार्यों को करनेवाले हों। इससे हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होगा, प्रभु हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाएँगे। इस रक्षण व शक्ति से हमारे जीवन का उत्तम विकास होगा। (२) इस उत्तम विकास को प्राप्त करनेवाले उपासक **गृणन्तः**-प्रभु का स्तवन करते हुए **सधमाद्यासः**-प्रभु के साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **दुरोणे**-इस शरीर-गृह में, जिसमें से कि सब बुराइयों का (दुर्) अपनयन (ओण्) हुआ है, **तस्थुः**-स्थित होते हैं। शरीर में स्थित होने का भाव यह है कि इनकी चित्तवृत्ति इधर-उधर भटकती नहीं, ये सदा औरों को ही नहीं देखते रहते। मनोनिरोध के द्वारा अन्दर ही स्थित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण व शक्तिदान से हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। हम मेधावी व ऋत के पालन करनेवाले बनकर इस शरीर-गृह में स्तवन करते हुए व प्रभु के साथ आनन्द को अनुभव करते हुए स्थित होते हैं।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रणीतिभिः-सूनृताभिः

प्रणीतिभिष्टे हर्यश्व सुष्टोः सुषुम्नस्य पुरुरुचो जनासः।
मंहिष्ठामूतिं वितिरे दधानाः स्तोतारं इन्द्र तव सूनृताभिः ॥ ५ ॥

(१) **हर्यश्व**-प्रकाशमय इन्द्रियाश्वोंवाले **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुष्टोः**-सुष्ठ, स्तूयमान **सुषुम्नस्य**-उत्तम आनन्द व उत्तम धनवाले **पुरुरुचः**-अतिशयित (बहुत अधिक) ज्ञानदीप्तिवाले **ते**-आपके **प्रणीतिभिः**-प्रणयनों से, हृदयस्थ आपकी प्रेरणा के अनुसार चलने से **तव सूनृताभिः**-

आपकी इन वेद प्रतिपादित सूनृत वाणियों से **स्तोतारः जनासः**-स्तुति करनेवाले लोग **मंहिष्ठाम्**-(दातृतमां) अधिक से अधिक धनों के देनेवाली **ऊतिम्**-(Aid, assistamce, help) धनादि की सहायता को **वितिरे**-अर्थियों में, याचकों में वितरण के लिए **दधानाः**-धारण करते हुए होते हैं। (२) प्रभु का स्तवन दो प्रकार से होता है। एक तो प्रभु प्रेरणाओं के अनुसार चलने से (प्रणीतिभिः), दूसरे वेद की सूनृत वाणियों को अपनाने से। प्रभु सुषुम्न हैं, पुरुरुच् हैं। उपासक को भी आनन्दमयी मनोवृत्तिवाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अधिक से अधिक ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। (३) प्रभु जो भी धन हमें प्राप्त कराएँ, हम उस धन को वितरण व दान में विनियुक्त करें। धन का उद्देश्य अपने भोग-विलास के साधनों का बढ़ाना नहीं है।

भावार्थ—उस आनन्दमय ज्ञानदीप्त प्रभु की प्रेरणाओं के अनुसार चलें तथा सूनृत वाणियों का प्रयोग करें। प्रभु से प्राप्त कराये गये धन का दान में विनियोग करें।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान प्राप्ति व यज्ञों में लगे रहना

उप॒ ब्रह्मा॑णि हरिवो॒ हरि॑भ्यां॒ सोम॑स्य याहि पी॒तये॑ सु॒तस्य॑।
इन्द्र॑ त्वा य॒ज्ञः क्षम॑माणमानड् दा॒श्वाँ अ॑स्यध्व॒रस्य॑ प्रके॒तः॥ ६॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **हरिवः**-प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले! तू **सुतस्य सोमस्य पीतये**-शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति के रक्षण के लिए, अपने अन्दर ही इसके पान के लिए **हरिभ्याम्**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों से **ब्रह्माणि**-ज्ञान की वाणियों के **उपयाहि**-समीप आनेवाला हो। ज्ञान प्राप्ति के लिए उपयुक्त कर्मों में लगने पर ही सोम के रक्षण का सम्भव होता है। अन्यथा मन विलास की ओर जाता है और सोम का विनाश होता है। (२) हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष **क्षममाणं त्वा**-(क्षमूष् सहने, सह मर्षणे) काम-क्रोधादि शत्रुओं को कुचल देनेवाले तुझको **यज्ञः आनट्**-यज्ञ व्याप्त करनेवाला हो। वासनाओं को जीतकर तू यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रहे। **दाश्वान् असि**-तू खूब देनेवाला, त्याग की वृत्तिवाला है। **अध्वरस्य**-हिंसारहित कर्मों का तू **प्रकेतः**-प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। इन अध्वरों में सदा प्रवृत्त होनेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए ज्ञान प्राप्ति के कर्मों में व्यापृत रहना आवश्यक है। उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही हम वासनाओं को कुचल पाते हैं।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-स्तवन से शक्ति की प्राप्ति

स॒हस्र॑वाजमभिमाति॒षाहं॑ सु॒तेर॑णं म॒घवा॑नं सुवृ॒क्तिम्।
उप॑ भूषन्ति॒ गिरो॒ अप्र॑तीत॒मिन्द्रं॑ नम॒स्या ज॑रि॒तुः प॑नन्त॥ ७॥

(१) **गिरः**-स्तुति वाणियाँ **इन्द्रम्**-उस परमैश्वर्यवान् प्रभु को **उपभूषन्ति**-अलंकृत करती हैं, जो प्रभु **सहस्रवाजम्**-अपरिमित बलवाले हैं, **अभिमातिषाहम्**-काम-क्रोधादि हिंसक शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं, **सुते-रणम्**-इस उत्पन्न जगत् में सर्वत्र रममाण हैं अथवा सोम के उत्पादन के होने पर हमारे में रमण करनेवाले हैं, **सुवृक्तिम्**-शोभन स्तुतिवाले व अच्छी प्रकार हमारे पापों का वर्जन करनेवाले हैं, **अप्रतीतम्**-किन्हीं भी शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाले हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी अत्यधिक बलवाले होकर शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। (२) इसी

कारण **जरितुः**=स्तोता की **पनस्याः**=स्तुतियाँ **पनन्त**=उस प्रभु का स्तवन करती है। इन स्तवनों से ही स्तोता को शक्ति प्राप्त होती है और वह कामादि शत्रुओं का पराभव करता हुआ प्रभु का अधिकाधिक प्रिय होता जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। यह स्तवन हमें शक्ति देगा और हम शत्रुओं को पराभूत करके पवित्र व शान्त जीवन बितानेवाले होंगे।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवत्व-मनुष्यत्व

सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित्।
नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः ॥ ८ ॥

(१) **सप्त**=(सर्पणस्वभावाः सा०) गतिशील सर्पण के स्वभाववाले, **आपः**=रेतःकण **देवीः**=शरीर में रोगों के जीतने की कामनावाले हैं (विजिगीषा)। वीर्यकण रोगकृमियों को आक्रान्त करके नष्ट करते हैं। **सुरणाः**=ये शरीर में सुष्ठु रममाण होते हैं, शरीर की शोभा के कारण बनते हैं अथवा (रणशब्दे) उत्तम शब्द शक्ति का कारण होते हैं। इन सोमकणों के रक्षण से वाणी की शक्ति बड़ी ठीक बनी रहती है। **अमृक्ताः**=ये अहिंसित हैं, रोगकृमि इन्हें आक्रान्त नहीं कर पाते। (२) **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! ये सोमकण वे हैं, **याभिः**=जिनसे **सिन्धुं अतरः**=भवसागर को तू तैरनेवाला होता है। **पूर्भित्**=इस शरीररूप पुरी का भेदन करके, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ के तू कैवल्य को प्राप्त करता है। (३) तू इन रेतःकण रूप **नवतिं नव च**=९९ वर्ष पर्यन्त **स्रवन्ती स्रोत्याः**=बहनेवाली नदियों को **देवेभ्यः**=देवों के लिए **मनुषे च**=और विचार पुरुष के लिए **गातुम्**=जाने के लिए **विन्दः**=प्राप्त करता है। इन रेतःकणों के द्वारा तू देव व मनुष्य बनता है। हृदय में दिव्य गुणों के विकास के द्वारा तू देव बनता है और मस्तिष्क में विचारशीलता के द्वारा तू मनुष्य कहलाता है। इस देवत्व व मनुष्यत्व की ओर जाने के लिए ये रेतःकण साधन बनते हैं।

भावार्थ—शरीर में रक्षित हुए-हुए रेतःकण शरीर को शोभा वाला तथा रोगों से अहिंसित बनाते हैं। इनके रक्षण से हम दिव्यगुणोंवाले व विचारशील बनते हैं।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रेतःकणों के रक्षण में अप्रमाद

अपो महीरभिशस्तेरमुञ्चोऽजागरास्वधि देव एकः।
इन्द्र यास्त्वं वृत्रतूर्ये चकर्थ ताभिर्विश्वायुस्तन्वं पुपुष्याः ॥ ९ ॥

(१) **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **महीः**=इन महत्त्वपूर्ण **अपः**=रेतःकणों को **अभिशस्तेः**=(अभिशंस्=to attack) वासनाओं के आक्रमण से **अमुञ्चः**=मुक्त कर। **आसु अधि अजागः**=इनके विषय में तू खूब ही जाग, अप्रमत्त हो। तू इनके रक्षण से **देवः**=देव बनेगा, **एकः**=अद्वितीय होगा। गत मन्त्र के अनुसार सुरक्षित हुए-हुए ये रेतःकण हमें देव व मनुष् बनाते हैं, हमारे दिव्यगुणों को बढ़ाते हैं और हमें विचारशील बनाते हैं। (२) हे इन्द्र! **वृत्रतूर्ये**=वासना के संहार के होने पर **त्वम्**=तू **याः**=जिन रेतःकणों को **चकर्थ**=अपने अन्दर सुरक्षित करता है **ताभिः**=उनसे **विश्वायुः**=पूर्ण जीवनवाला होता हुआ तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **पुपुष्याः**=पुष्ट करनेवाला हो, इन रेतःकणों से ही शरीर का अंग-प्रत्यंग सशक्त बना रहता है।

भावार्थ—वासनाओं के आक्रमण से अपने को मुक्त करके जब हम रेतःकणों के विषय में अप्रमत्त होते हैं तो हम देवत्व को प्राप्त करके जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं, पूर्ण जीवनवाले बनकर

शरीर को पुष्ट करते हैं।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नीरोग

वी॒रेण्य॒: क्रतु॒रिन्द्र॑: सुश॒स्तिरु॒तापि॒ धेना॑ पुरुहू॒तमी॑ट्टे।
आर्द॑यद् वृ॒त्रमकृ॑णोदु लो॒कं स॑सा॒हे श॒क्रः पृत॑ना अभि॒ष्टिः ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार रेतःकणों के रक्षण के विषय में अप्रमत्त होने पर यह **वीरेण्यः**=अतिशयेन वीर बनता है। **क्रतुः**=शक्तिमान् व कर्मवान् होता है, शक्ति के कारण अकर्मण्यता से ऊपर उठता है। **इन्द्रः**=उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला होता है। **सुशस्तिः**=शोभन स्तुतिवाला होता है, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनता है। **उत अपि**=और निश्चय से **धेना**=इसकी वाणी **पुरुहूतम्**=उस बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभु को **ईट्टे**=उपासित करती है। (२) यह **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **आर्दयत्**=हिंसित करता है। **उ**=और **लोकं**=ज्ञान के प्रकाश को **अकृणोत्**=करता है। आवरण के हटने से इसका ज्ञान चमक उठता है। यह **शक्रः**=शक्तिशाली बनकर **अभिष्टिः**=शत्रुओं पर आक्रमणवाला होता हुआ (शत्रूणां अभिगन्ता सा०) **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **ससाहे**=अभिभूत करता है। शत्रु-सैन्यों को पराजय करके यह प्रभु का प्रिय होता है। यह विजय ही सदाचार है, पराजय अनाचार है।

भावार्थ—वासनारूप वृत्र का वध करके हम वीर व प्रकाशमय जीवनवाले बनें। यही प्रभु के प्रिय होने का मार्ग है।

ऋषिः—अष्टको वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भरे नृतमम्

शु॒नं हु॑वेम म॒घवा॑न॒मिन्द्र॑म॒स्मिन्भरे॒ नृत॑मं॒ वाज॑सातौ।
शृ॒ण्वन्त॑मु॒ग्रमू॒तये॑ स॒मत्सु॒ घ्नन्तं॑ वृ॒त्राणि॑ सं॒जितं॒ धना॑नाम् ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'वीरेण्य' बनकर हम **शुनम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। जो प्रभु **मघवानम्**=ऐश्वर्यवाले हैं, **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् हैं। **अस्मिन् भरे**=इस जीवन-संग्राम में **नृतमम्**=हमारे सर्वोत्तम नेता हैं। इस प्रभु को हम **वाजसातौ**=शक्ति प्राप्ति के निमित्त पुकारते हैं। (२) उन प्रभु को, जो **शृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हैं। **उग्रम्**=तेजस्वी हैं। **ऊतये**=हम अपने रक्षण के लिए इन्हें पुकारते हैं। जो प्रभु **समत्सु**=संग्रामों में **वृत्राणि घ्नन्तम्**=वासनाओं का संहार कर रहे हैं और **धनानां सञ्जितम्**=हमारे लिए विविध धनों को जीतनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु को ही पुकारें। वे हमें युद्ध में विजयी बनाकर ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त का केन्द्रीभूत विचार यही है कि मनोनिरोध से हम प्रभु की ओर झुकें, वासनाओं को नष्ट करके सोम का रक्षण करें। यह सोम ही हमें 'वीरेण्य' बनायेगा। इस सोम के रक्षण से रोगकृमियों का संहार करनेवाला 'कौत्स' है 'कुथ हिंसायाम्'। यह 'दुष्टात् प्रमीतेः जायते'=अपने को दुष्ट मृत्यु से बचानेवाला 'दुर्मित्र' है सभी के साथ उत्तमता से स्नेह करने के कारण 'सुमित्र' है (शोभनं मेद्यति)। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है कि—

[१०५] पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पिपीलिकामध्योष्णिकः ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सोम (वीर्य) रक्षण से सोम (प्रभु) दर्शन

कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः । दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ १ ॥

(१) हे **वसो**-हम सबके बसानेवाले प्रभो! **हर्यते**-(हर्य गतिकान्त्योः) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की गति के मूलस्रोत कान्तिमान् आपके लिए **कदा**-कब **स्तोत्रम्**-स्तोत्र को आ-सब प्रकार से **अवरुधत्**-अपने में निरुद्ध व स्थापित करनेवाला होता है? जब भी इन स्तोत्रों को अपने में निरुद्ध करनेवाला होता है तो **श्मशाः**-(श्मनि शेते=शरीर में शयन करनेवाला) यह जीव **वाः**-जलरूप वीर्यकणों को **अवरुधत्**-अपने शरीर में ही निरुद्ध करता है। प्रभु की उपासना से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। इस प्रकार यह वीर्य को अपने में निरुद्ध कर पाता है। (२) यह **दीर्घम्**-दीर्घकाल तक चलनेवाला, जीवन के तीनों सवनों में चलनेवाला (प्रातःसवन=प्रथम २४ वर्ष, माध्यन्दिन सवन=अगले ४४ वर्ष, तृतीय सवन=अन्तिम ४८ वर्ष) **सुतम्**-सोम का सम्पादन **वाताप्याय**-(वातेन आप्यते इति वाताप्यः=प्राणनिरोध के द्वारा प्राप्त होनेवाला प्रभु) प्रभु प्राप्ति के लिए होता है। उपासना से सोम का रक्षण होता है, रक्षित सोम प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन द्वारा वासनाओं से बचकर, सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण के द्वारा हम प्रभु का दर्शन करनेवाले होंगे।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेरर्वन्तानु शेपा । उभा रजी न केशिना पतिर्दन् ॥ २ ॥

(१) **यस्य**-जिस प्रभु के **हरी**-ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **सुयुजौ**-उत्तमता से इस शरीररथ में जोते गये हैं, **विव्रता**-जो अश्व विविध व्रतोंवाले हैं, **अर्वन्ता**-जो गतिशील हैं, **अनुशेपा**=जो अनुकूल तत्त्वों को निर्माण करनेवाले हैं (शेप्=पेशस् form)। **उभा रजी न**-दोनों अश्व रञ्जक सूर्य व चन्द्र के समान **केशिना**-प्रकाशमय रश्मियोंवाले हैं। (२) 'अनुशेपा' का अर्थ सायणाचार्य के अनुसार प्रशस्त शक्तिवाले है। इन इन्द्रियाश्वों की निर्बलता के होने पर जीवन-यात्रा की पूर्ति का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ये इन्द्रियाश्व शक्तिशाली हों और अपने-अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले हों। (३) **पतिः**=ऐसे इन्द्रियाश्वों का स्वामी वह प्रभु **दन्**-हमारे लिए इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराता हुआ (दन्=प्रयच्छन्) **वेः**-(to pervade or shine) सर्वत्र व्याप्त हो रहा है व दीप्त हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु हमें उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ जो उत्तमता से कार्यों में लगनेवाले व सूर्य और चन्द्र के समान दीप्त हों।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'इन्द्र' का लक्षण

अप योरिन्द्रः पापज आ मर्तो न शश्रमाणो बिभीवान् । शुभे यद्युयुजे तविषीवान् ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**-एक जितेन्द्रिय पुरुष **पापजे**-पाप से उत्पन्न धन के विषय में **अपयोः**-(अपयोजिता) अपने को पृथक् करनेवाला होता है। यह **मर्तः न**-युद्ध में प्राणों को त्यागनेवाले पुरुष के समान **आ शश्रमाणः**-खूब ही श्रम करनेवाला होता है। **बिभीवान्**-पापकर्म से सदा

डरनेवाला होता है। अथवा प्रभु के भय वाला होता है। (२) यत्=क्योंकि शुभे=शुभ कर्मों में ही युयुजे=युक्त होता है, इसलिए तविषीवान्=बलवाला होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष (क) पापज धन से अपने को पृथक् रखता है, (ख) श्रमशील होता है, (ग) प्रभु के भय में चलता है, (घ) शुभ कर्मों में व्यापृत होता है, (ङ) शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'इन्द्र' कौन है?

सचायोरिन्द्रश्चर्कृष आँ उपानसः सपर्यन्। नदयोर्विव्रतयोः शूर इन्द्रः॥ ४॥

(१) **आयोः सचा**=मनुष्य का सहायभूत औरों के साथ मिलकर चलनेवाला, **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **आचर्कृषे**=सब कार्यों का करनेवाला होता है। इसके कार्य औरों के विरोध में नहीं होते। उपानसः=(अनः उपगतवान्) यह आरूढ़स्थ होता है, शरीररूप रथ का अधिष्ठाता बनता है। **सपर्यन्**=प्रभु की पूजा करनेवाला होता है। वस्तुतः औरों के अविरोध से सतत कार्यों में लगे रहने से ही यह प्रभु का उपासन करता है। (२) **विव्रतयोः**=विविध व्रतोंवाले, भिन्न-भिन्न कार्यों को करनेवाले **नदयोः**=कार्यों के द्वारा प्रभु का स्तवन करनेवाले इन्द्रियाश्वों के **शूरः**=(शृ हिंसायाम्) सब दोषों को नष्ट करनेवाला यह **इन्द्रः**=सचमुच इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है (क) जो औरों से मिलकर चलता है, (ख) कर्मों में लगा रहता है, (ग) शरीर रथ का अधिष्ठाता होता है, (घ) प्रभु की पूजा करता है, (ङ) इन्द्रिय दोषों को दूर करता है, इसके इन्द्रियाश्व अपने-अपने कार्यों के द्वारा प्रभु-स्तवन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

केशवन्ता-व्यचस्वन्ता

अधि यस्तस्थौ केशवन्ता व्यचस्वन्ता न पुष्ट्यै। वनोति शिप्राभ्यां शिप्रिणीवान्॥ ५॥

(१) **वनोति**=वह शत्रुओं को हिंसित करता है (शत्रून् हिनस्ति) **यः**=जो **पुष्ट्यै**=शक्तियों के उचित पोषण के लिए **केशवन्ता**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **न**=(=च) और **व्यचस्वन्ता**=कर्मों के विस्तारवाले इन्द्रियाश्वों को **अधितस्थौ**=अपने द्वारा अधिष्ठित करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाश की रश्मियोंवाली हैं तो कर्मेन्द्रियाँ कर्मों के विस्तारवाली हैं। जो भी इन्द्रियों को अपने वश में करता है वह इनकी शक्तियों का उचित पोषण कर पाता है। (२) शत्रुओं को वह हिंसित करता है जो **शिप्राभ्याम्**=हनुओं व नासिका द्वारा **शिप्रिणीवान्**=प्रशस्त शिप्रोंवाला होता है। जबड़ों (हनु) के प्रशस्त होने का अभिप्राय यह है कि यह सात्त्विक अन्नों का ही मात्रा में सेवन करता है। नासिका के प्रशस्त होने का अभिप्राय यह है कि यह प्राणायाम का अभ्यासी बनता है। इस प्रकार 'शिप्रिणीवान्' बनकर यह सब काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का पराजय कर पाता है।

भावार्थ—काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराजय वह कर पाता है, जो (१) इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, (२) सात्त्विक अन्नों का मात्रा में सेवन करता है, (३) प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

ऋष्वौजाः

प्रास्तौदृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा । ऋभुर्न क्रतुभिर्मातरिश्वा ॥ ६ ॥

(१) **ऋष्वौजाः**-दर्शनीय बलवाला अथवा व्याप्त बलवाला **ऋष्वेभिः**-दर्शनीय व व्यापक (-उदारतावाले) कर्मों से **प्रास्तौत्**-प्रभु का स्तवन करता है। प्रभु की उपासना वस्तुतः उन्हीं कर्मों से होती है जो सुन्दर हैं, उदारता को लिए हुए हैं। (२) **शूरः**-यह काम-क्रोधादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाला **शवसा**-शक्ति के द्वारा **ततक्ष**-निर्माणात्मक कार्यों को करता है। यह **मातरिश्वा**-मातृगर्भ में बढ़नेवाला जीव **क्रतुभिः**-अपने कर्मों व प्रज्ञानों के द्वारा **ऋभुः न**-(उरु भाति) खूब देदीप्यमान प्रभु की तरह हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन सुन्दर व्यापक कर्मों के द्वारा होता है।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

हिरीमशः-हिरीमान्

वज्रं यश्चक्रे सुहनाय दस्यवे हिरीमशो हिरीमान् । अरुतहनुरद्भुतं न रजः ॥ ७ ॥

(१) **यः**-जो **सुहनाय**-(सुष्ठु हननीयाय) खूब ही हनन के योग्य **दस्यवे**-(दसु उपक्षये) नाश करनेवाली काम-क्रोधादि वृत्तियों के लिए, इन वृत्तियों को दूर करने के लिए, **वज्रम्**-(वज गतौ) क्रियाशीलतारूप वज्र को **चक्रे**-करता है। क्रियाशीलता के द्वारा इन अशुभ वृत्तियों को अपने से दूर रखता है। वह **हिरीमशः**-(हिरीमनि शेते) तेजस्विता व कान्ति में निवास करनेवाला होता है। **हिरीमान्**-वेगवाला होता है। वासनाओं के विनष्ट होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ चमक उठती हैं और यह ज्ञान की दीप्ति के कारण तेजस्वी व कान्त प्रतीत होता है। कर्मेन्द्रियों के शुद्ध होने पर यह वेगवाला होता है। (२) **अरुतहनुः**-(रुत=disease) नीरोग हनुवाला यह होता है, इसके हनु (=जबड़े) इस प्रकार मात्रा में भोजन करते हैं कि रोग का वहाँ प्रश्न ही नहीं पैदा होता। **न च**=और इसका **रजः**-रजोगुण **अद्भुतम्**-अद्भुत होता है। सत्त्वगुण के सम्मिश्रण के कारण इसका रजोगुण इसके अपकर्म का कारण नहीं होता। रजोगुण इसमें क्रियाशीलता को पैदा करता है, पर इसके जीवन को वासनामय नहीं बनाता।

भावार्थ—क्रियाशील पुरुष क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करके ज्योतिर्मय व वेगवाला होता है।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अब्रह्मा (स्तुतिरहित) यज्ञ की हीनता

अव नो वृजिना शिशीह्यृचा वनेमानृचः । नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग्जोषति त्वे ॥ ८ ॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**-हमारे **वृजना**-पापों को **अवशिशीहि**-हमारे से दूर करिये। **ऋचा**-स्तुति के द्वारा **अनृचः**-अस्तुत्य कर्मों को **वनेम**-पराजित करें। स्तुति करते हुए हम ऐसे कर्मों से दूर रहें जो स्तुति के योग्य नहीं हैं। (२) **अब्रह्मा**-(ब्रह्म-परिवृढं स्तोत्रं) स्तुतिरहित **यज्ञः**-यज्ञ **ऋधक्**-सचमुच **त्वे न जोषति**-तुझे प्रीणित करनेवाला नहीं होता। स्तुतिरहित यज्ञ में यज्ञकर्ता को गर्व हो जाने की आशंका है। ऐसा यज्ञ संगरहित न होने से सात्त्विक नहीं रहता। यज्ञ का अभिमान यज्ञ के उत्कर्ष को समाप्त कर देता है। यज्ञ के साथ स्तुति के होने पर उस यज्ञ को हम प्रभु से होता हुआ अनुभव करते हैं और इस प्रकार हमें यज्ञ का गर्व नहीं होता।

भावार्थ—स्तुति का फल यह है कि हमें उत्तम कर्मों का गर्व नहीं हो जाता, पाप हमारे से दूर रहता है।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

यज्ञाग्नि का उद्बोधन

ऊर्ध्वा यत्ते त्रेतिनी भूद्यज्ञस्य धूर्षु सद्मन्। सजूर्नावं स्वयशसं सचायोः ॥ ९ ॥

(१) **यत्**=जब **ते**=तेरी **त्रेतिनी**=यज्ञ की तीनों अग्नियाँ (गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि) **यज्ञस्य**=यज्ञ के **सद्मन्**=गृह में **धूर्षु**=(धुर्=wealth) ऐश्वर्यों के निमित्त **ऊर्ध्वा भूत्**=ऊपर होती हैं, अग्निकुण्ड में समिद्ध होकर उद्गत ज्वालावाली होती हैं, तो उस समय **आयोः सचा**=गतिशील व्यक्तियों का सहायभूत तू औरों के साथ मिलकर चलनेवाला तू **स्वयशसम्**=आत्मा के यशोगानवाली **नावम्**=इस शरीरूप नाव को **सजूः**=प्रभु के साथ प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। प्रभु का स्मरण करता है और इस शरीर को भवसागर से पार करने की साधनभूत नाव समझता है। (२) जो व्यक्ति इस शरीर को भवसागर के तरण के लिए साधनभूत नाव समझता है, वह यज्ञमय जीवनवाला होता है। यज्ञों को ही यह सब ऐश्वर्यों की प्राप्ति का साधन समझता है। 'यज्ञ इस लोक व परलोक दोनों के लिए हितकर हैं' ऐसा जानकर यह यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन करता है। इस नाव पर प्रभु के साथ बैठने का भाव यह है कि यह उस यज्ञ नाव को प्रभु से ही चलाया जाता हुआ अनुभव करता है और उन यज्ञों का गर्व नहीं करता।

भावार्थ—यज्ञरूप नाव सब अशिवों से पार ले जाकर हमें शिव स्थान पर पहुँचानेवाली है।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सोम का पात्र में सेचन

श्रिये ते पृश्निरुपसेचनी भूच्छ्रिये दर्विरेपाः। यया स्वे पात्रे सिञ्चस उत् ॥ १० ॥

(१) हमारे शरीर में जो सोमशक्ति उत्पन्न होती है, वह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है। इस प्रकार ज्ञानाग्नि के दीपन में उपयुक्त होकर यह शक्ति नष्ट नहीं होती। इसलिए यहाँ मन्त्र में 'पृश्नि' (ray of light) ज्ञानरश्मि को उपसेचनी=शरीर में सोम का सेचन करनेवाली कहा है। यह **उपसेचनी पृश्निः**=सोम का शरीर में ही सेचन करनेवाली ज्ञान की रश्मि **ते**=तेरी **श्रिये**=श्री के लिए **भूत्**=हो। सोम के शरीर में ही रक्षण से शरीर की शोभा का बढ़ना स्वाभाविक है। (२) **अरेपाः**=दोषशून्य **दर्विः**=कड़छी **श्रिये**=श्री के लिए हो। 'दोषशून्य कड़छी' का भाव यहाँ शुद्ध सात्त्विक भोजन से है। शुद्ध सात्त्विक भोजन ही शरीर में सोमरक्षण का साधन बनता है। राजस भोजन उत्तेजक होकर सोमरक्षण की अनुकूलता नहीं रखते। इसीलिए कहते हैं कि वह निर्दोष कड़छी **यया**=जिससे **स्वे पात्रे**=अपने इस शरीरूप पात्र में **उत् सिञ्चसे**=तू सोम का उत्सेचन करता है। यह सात्त्विक भोजन सौम्य कहलाता है, यह सोमरक्षण की अनुकूलता को लिए हुए है। ऐसे भोजनों से शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है। यह सोम शरीर की शोभा की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्यायशील बनें तथा सौम्य भोजनों को ही करनेवाले हों। ऐसा करने से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होकर शरीर की कान्ति बढ़ेगी।

ऋषिः—कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमित्र व दुर्मित्र

शतं वा यदसुर्य प्रति त्वा सुमित्र इत्थास्तौद्दुर्मित्र इत्थास्तौत्।
आवो यद्दस्युहत्ये कुत्सपुत्रं प्रावो यद्दस्युहत्ये कुत्सवत्सम् ॥ ११ ॥

(१) हे **असुर्य**-प्राणशक्ति का संचार करनेवालों में उत्तम प्रभो! **त्वा प्रति**-आपका लक्ष्य करके **सुमित्रः**-उत्तमता से स्नेह करनेवाला (शोभनं मेद्यति) सुमित्र **शतम्**-सौ वर्ष पर्यन्त **वा**-निश्चय से **इत्था**-सचमुच **अस्तौत्**-स्तवन करता है, आपके स्तवन से ही वस्तुतः वह प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर सुमित्र बन पाया है। **दुर्मित्रः**-(दुष्टात् प्रमीतेः त्रायते) अशुभ पापों से अपने को बचानेवाला **इत्था**-सचमुच **अस्तौत्**-आपका स्तवन करनेवाला हुआ है। आपके स्तवन के द्वारा ही तो वह पापों से बच पाया है। (२) हे प्रभो! आप **यद्**-क्योंकि **दस्युहत्ये**-इन दास्यव वृत्तियों के संहार में **कुत्सपुत्रम्**-(कुथ हिंसायाम्) कामादि के अतिशयेन हिंसन करनेवाले कुत्स के पुत्र को, मूर्त्तिमान् कुत्स को **आवः**-रक्षित करते हैं। **यत्**-क्योंकि आप **दस्युहत्ये**-इस दस्युहननरूप कार्य में **कुत्सवत्सम्**-इस कुत्स के पुत्र को **प्रावः**-प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। वस्तुतः आपके रक्षण से ही यह 'कुत्स' बन पाया है। आपके रक्षण के बिना इसके लिए वासनाओं के संहार का सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से वासना का संहार होकर सोमरक्षण का सम्भव होता है।

सम्पूर्ण सूक्त का मूल भाव यही है कि हम प्रभु-स्मरण करते हुए वासनाओं को विनष्ट करें और सोमरक्षण से जीवन को श्री सम्पन्न बनाएँ। ऐसा करनेवाले लोग **काश्यपः**-(पश्यकः) ज्ञानी होते हैं और 'भूतांशः' (भूत=प्राप्त, अंश्=विभक्त करना) प्राप्त धन का विभाग करनेवाले होते हैं। अगले सूक्त का ऋषि 'भूतांश काश्यप' ही है। इस प्रकार के जीवनवाले पति-पत्नी का 'अश्विनौ' नाम से सूक्त में इस प्रकार वर्णन है—

[१०६] षडुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सध्रीचीना

उभा उ नूनं तदिदर्थयेथे वि तन्वाथे धियो वस्त्रापसेव।
सध्रीचीना यातवे प्रेमजीगः सुदिनेव पृक्ष आ तंसयेथे ॥ १ ॥

(१) **उभा**-दोनों पति-पत्नी **उ नूनम्**-निश्चय से अब **तद् इत्**-(ओंतत् सत् इति निर्देशः ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः) उस प्रभु को ही **अर्थयेथे**-चाहते हैं। और **धियः**-ज्ञानों व कर्मों का इस प्रकार **वि तन्वाथे**-विशेषरूप से विस्तार करते हैं, **इव**-जैसे कि **अपसा**-(अपस्विनौ कुविन्दौ सा०) कर्मशील जुलाहे **वस्त्रा**-वस्त्रों को विस्तृत करते हैं। जुलाहे वस्त्र का ताना तानते हैं, ये पति-पत्नी ज्ञान व कर्म का ताना तानते हैं। (२) **सध्रीचीना**-ये सदा मिलकर चलनेवाले होते हैं। सत्संग आदि में साथ-साथ मिलकर आनेवाले होते हैं। इनमें से प्रत्येक **यातवे**-प्रभु प्राप्ति के लिए (या प्रापणे) **ईम्**-निश्चय से **प्र अजीगः**-खूब ही स्तुतियों का उच्चारण करनेवाला होता है। (३) इस प्रकार स्तवन की वृत्तिवाले ये पति-पत्नी **सुदिना इव**-उत्तम दिन-रात्रि के समान **पृक्षः**-परस्पर स्नेह सम्पर्क को **आतंसयेथे**-सर्वथा अलंकृत करते हैं। जैसे दिन और रात्रि परस्पर सम्बद्ध है, इसी प्रकार ये पति-पत्नी भी परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं,

इनमें भेद नहीं रहता।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर प्रभु की प्रार्थना करें, ज्ञान व कर्म का विस्तार करें, मिलकर प्रभु-स्तवन करें दोनों एक हों। पति-पत्नी की शोभा सध्रीचीन बनने में ही है।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

(अवपान से दूर न होना) उष्टारा

उष्टारेव फर्वरेषु श्रयेथे प्रायोगेव श्वात्र्या शासुरेथः।
दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु माप स्थातं महिषेवावपानात्॥ २॥

(१) **उष्टारा इव**-एक दूसरे की कामना करनेवालों के समान (वश्) **फर्वरेषु**-पूर्ण करने योग्य कार्यों में (पूरयितृषु सा०) **श्रयेथे**-परस्पर आश्रय करते हो। पति-पत्नी परस्पर प्रेमभाववाले हों, मिलकर पूर्ण करने योग्य कार्यों को करनेवाले हों। (२) **प्रायोगेव**-युद्ध के लिए प्रयोक्तव्य अश्वों के समान **श्वात्र्या**-(श्वात्रं=धनम्) धन के साधक होते हुए **शासुः**-वेदज्ञान का शंसन करनेवाले प्रभु के प्रति **एथः**-(आगच्छथः) आते हैं। पति-पत्नी संसार-संग्राम में मिलकर जुटे रहते हैं, जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन को जुटाते हुए प्रभु का उपासन करते हैं। वस्तुतः यह प्रभु का उपासन ही उन्हें शक्ति देता है और मार्ग भ्रष्ट नहीं होने देता। (३) **जनेषु**-लोगों में **यशसा**-अपने यशस्वी कार्यों से **हि**-निश्चयपूर्वक **दूता इव स्थः**-आप प्रभु के दूत से होते हो। आपके जीवन से लोगों को सत्कार्यों की प्रेरणा मिलती है। (४) इस प्रकार के दूत बन सकने के लिए आवश्यक है कि **महिषा इव**-(मह पूजायाम्) प्रभु के पूजक होते हुए आप **अवपानात्**-सोम के (=वीर्य के) शरीर में ही रक्षण करने से **मा अपस्थातम्**-दूर मत होवो। सदा शरीर में ही सोम का रक्षण करनेवाले बनो। यह सोमरक्षण ही आपके जीवन को यशस्वी बनाएगा।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर प्रेम से मिलकर चलते हुए कर्त्तव्य कर्मों का पूरण करें। उचित धन कमाते हुए प्रभु का स्तवन करें। अपने जीवन के द्वारा प्रभु का दूत बनें। ऐसा बनने के लिए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

साकं युजा

साकंयुजा शकुनस्येव पक्षा पश्वेव चित्रा यजुरा गमिष्टम्।
अग्निरिव देवयोर्दीदिवांसा परिज्मानेव यजथः पुरुत्रा॥ ३॥

(१) **शकुनस्य पक्षा इव**-पक्षी के दोनों पंखों की तरह आप **साकं युजा**-साथ-साथ मिलकर होनेवाले हो। पक्षी के दाएँ और बाएँ पंख अलग-अलग होते हुए भी मिलकर कार्य करते हैं। इसी प्रकार पति-पत्नी अलग-अलग होते हुए भी मिलकर गृहस्थ में उन्नत होते हैं। एक पंख से आकाश में उड़ने का सम्भव नहीं, इसी प्रकार अकेले के लिए गृहस्थ को उन्नत करने का सम्भव नहीं। (२) **चित्रा पश्वा इव**-चायनीय, ज्ञानयुक्त प्राणियों की तरह **यजुः**-यज्ञ को **आगमिष्टम्**-प्राप्त होवो। जैसे दो पशु मिलकर गाड़ी को खैंचते हुए गन्तव्य देश के प्रति जाते हैं इसी प्रकार पति-पत्नी ज्ञानयुक्त पशुओं की तरह होते हुए यज्ञादि कर्मों के प्रति आनेवाले हों। (३) **देवयोः**-दिव्यगुणों को अपनाने की इच्छावाले यजमान की **अग्निः इव**-अग्नि के समान **दीदिवांसा**-ये पति-पत्नी चमकनेवाले हों। जैसे अग्नि चमकती है, इस प्रकार पति-पत्नी भी तेजस्वी हों। इसके लिए 'देवयोः' शब्द सुन्दर संकेत कर रहा है कि वे दिव्य गुणों को अपनाने की कामनावाले बनें।

(४) **परिज्माना इव**=(परितः अजतः) सब कर्त्तव्य कर्मों की ओर जानेवाले ये पति-पत्नी **पुरुत्रा यजथः**=शतशः स्थानों में मिलकर यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर यज्ञात्मक कार्यों को करते हुए तेजस्विता को प्राप्त करें।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आपी

आपी वो अस्मे पितरेव पुत्रोग्रेव रुचा नृपतीव तुर्यै।
इर्येव पुष्ट्यै किरणेव भुज्यै श्रुष्टीवानेव हवमा गमिष्टम् ॥ ४ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे पति-पत्नी! **वः**=(युवां सा०) आप दोनों **अस्मे**=हमारे **आपी**=बन्धु होवो **इव**=जैसे **पुत्रा**=पुत्र **पितरा**=माता-पिता के प्रति बन्धुभूत होते हैं। (२) आप दोनों **उग्रा इव**=अपने तेज से उद्गूर्ण अग्नि और आदित्य के समान **रुचा**=(रोचमानौ) दीप्त होवो। **नृपती इव**=जैसे (नृणां पालयितारौ) मनुष्यों के रक्षक राजा संग्रामयुक्त सेना के लिए रक्षक होते हैं, उसी प्रकार **तुर्यै** (कर्मार्थं त्वरमाणायै)=कर्मों के लिए त्वरा करती हुई जनता के लिए आप भी रक्षक होवो। **इर्या इव** (इरा अन्नं तत् भवौ अन्नवन्तौ आढ्यौ)=अन्नवाले धनी पुरुषों की तरह **पुष्ट्यै**=अन्नादि के दान से औरों के पोषण के लिए होवो। **किरणा इव**=जैसे आग्नेय व आदित्य किरणें प्रकाश व उष्णता को देती हुई **भुज्यै**=पालन के लिए होती हैं उसी प्रकार पति-पत्नी सन्तानों के पालन के लिए हों। (३) **श्रुष्टीवाना इव**=शीघ्रता से युक्त अश्वों के समान तुम दोनों **हवम्**=मेरे आह्वान के प्रति **आगमिष्टम्**=आनेवाले होवो। अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनते हुए पति-पत्नी शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हो।

भावार्थ—पति-पत्नी प्रभु को अपना बन्धु समझें, प्रभु की प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्य करनेवाले हों।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वंसगा इव पूषर्या

वंसगेव पूषर्या शिम्बाता मित्रेव ऋता शतरा शातपन्ता।
वाजेवोच्चा वयसा घर्म्येष्ठा मेषेवेषा सपर्या३ पुरीषा ॥ ५ ॥

(१) आदर्श पति-पत्नी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**वंसगा इव**=वननीय, सुन्दर गतिवाले वृषभों की तरह **पूषर्या**=पुष्ट अवयवोंवाले, स्फीत अंग-प्रत्यंगोंवाले। **शिम्बाता**=(शिम्बेन दुःखानां तनूकरणेन हेतुना अततः) इनकी सब क्रियाएँ लोगों के दुःखों के दूर करने के हेतु से होती हैं। **मित्रा इव**=मित्रों की तरह **ऋता**=ऋतपूर्वक व्यवहारवाले **शतरा**=(शत+रा) शतशः धनों का दान करनेवाले, **शातपन्ता**=(शात=निशित, तीक्ष्णस्तुतिकौ) प्रभु की खूब स्तुति करनेवाले। (२) **वाजा इव**=शक्ति के पुञ्ज घोड़ों के समान **वयसा उच्चा**=आयुष्य के दृष्टिकोण से उत्कृष्ट, अर्थात् उचित पुष्टि को प्राप्त। **घर्म्येष्ठा**=तप में स्थित अथवा (घर्मं दीप्तमन्तरिक्षं) दीप्त हृदयान्तरिक्ष में स्थित, दीप्त हृदयवाले। **मेषा इव**=दो मेढ़ों के समान पुष्ट व गतिशील, **इषा सपर्या**=अन्न से परिचर्या करनेवाले, अर्थात् अन्न का यज्ञों में विनियोग करनेवाले और यज्ञशेष से **पुरीषा**=अपना पालन व पूरण करनेवाले।

भावार्थ—पति-पत्नी दृढ़ शरीरवाले, परदुःखहरण की क्रियाओंवाले, स्तुति की प्रवृत्तिवाले व यज्ञशेष से शरीर को पुष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जर्भरी तुर्फरीतू

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥ ६ ॥

(१) **सृण्या इव**-(द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च नि० १३।५) अंकुश दो कार्य करता है, एक मत्तगज को अवस्थापित करने का दूसरा अनिष्ट गतियों को रोकने का। इसी प्रकार ये पति-पत्नी **जर्भरी**=भरण करनेवाले होते हैं और **तुर्फरीतू**-शत्रुओं के हन्ता होते हैं, वाञ्छनीय तत्त्वों का पोषण करनेवाले और अवाञ्छनीयों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। (२) **नैतोशा इव**-(नितोशयति हन्ति) काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करनेवालों के समान **तुर्फरी**-(क्षिप्रहन्तारौ) शीघ्रता से शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले तथा **पर्फरीका**-(शत्रूणां विदारयितारौ) शत्रुओं के विदीर्ण करनेवाले हैं। अथवा पात्र व्यक्तियों को धन से पूर्ण करनेवाले हैं। (धनेन पूरयितारौ) (३) **उदन्यजा इव**-(उदकजे इव रत्ने सामुद्रे नि० १३।५) समुद्रोत्पन्न कान्तियुक्त निर्मल रत्नों के समान **जेमना**=जयशील व **मदेरू**-सदा हर्षयुक्त। (४) ऐसे पति-पत्नी जब माता-पिता बनते हैं तो **ता**-वे **मे**-मेरे **जरायु**-उस जरा से जीर्ण होनेवाले **मरायु**=मरणशील शरीर को **अजरम्**=अजीर्ण बनाते हैं। अर्थात् माता-पिता पूर्णरूपेण स्वस्थ शरीरवाले होते हैं तो सन्तान का भी शरीर शीघ्र जीर्ण व मृत हो जानेवाला नहीं होता।

भावार्थ—पति-पत्नी बड़े नियन्त्रित जीवनवाले होकर सदा विजयशील व प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हों, ऐसे पति-पत्नी अजीर्ण शक्ति सन्तान को जन्म देते हैं।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पज्रा-उग्रा

पज्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा।
ऋभू नापत्खरमज्रा खरज्रुर्वायुर्न पर्फरत्क्षयद्रयीणाम् ॥ ७ ॥

(१) **उग्रा**-तेजस्वी पति-पत्नी **पज्रा इव**-(प्रार्जित बलौ सा०) खूब सञ्चित बलवाले वीरों के समान (पादाभ्यां अभिभवन्तौ) पाँवों से शत्रुओं को कुचलते हुए, **चर्चरम्**-इस ढीले जोड़ोंवाले अतएव चरचर करते हुए **जारं**-जीर्ण **मरायु**-मरणयुक्त शरीर को **अर्थेषु**-गन्तव्य विषयों के निमित्त **क्षद्म इव**-उदक की तरह **तर्तरीथः**-(तारयथः) तरानेवाले होते हो। जैसे नाव द्वारा पानी को तैरकर मनुष्य प्राप्तव्य परले तट पर पहुँचता है इसी प्रकार ये **पज्रा**-शक्ति-सम्पन्न पति-पत्नी इस शरीर को नाव बनाकर संसार सागर को तैरते हैं और धर्मार्थ काम-मोक्षरूप अर्थों को सिद्ध करते हैं। (२) **ऋभू न**-जैसे ऋभुओं को, देव-शिल्पियों को स्वनिर्मित रथ प्राप्त होता है उसी प्रकार ऋत से देदीप्यमान इन पति-पत्नी को, जो **खरमज्रा**-(खटं मज्जयितारौ) अत्यन्त शुद्ध हृदयवाले हैं इन पति-पत्नी को वह शरीर-रथ **आपत्**-प्राप्त होता है जो **खरज्रुः**-तीक्ष्ण गति, अतिशयेन वेगवान् है, **वायु न**-यह रथ वायु के समान **पर्फरत्**-शक्तियों का अपने में पूरण करनेवाला है और **रयीणाम्**-सब ऐश्वर्यों का **क्षयत्**-निवास होता है (क्षि-निवासे)।

भावार्थ—शक्ति का संचय करनेवाले पति-पत्नी इस शरीर को नाव के समान बनाकर भवसागर को तैरते हैं और सब पुरुषार्थों को सिद्ध करते हैं। अपने को शुद्ध करनेवाले ये पति-पत्नी इस शरीर-रथ को शक्तियों से पूर्ण करते हैं और ऐश्वर्यों को निवास-स्थान बनाते हैं।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनन्या-जग्मी

घर्मेव मधु जठरे सनेरू भगेविता तुर्फरी फारिवारम्।
पतरेव चचरा चन्द्रनिर्णिङ् मनऋङ्गा मनन्याई न जग्मी॥ ८॥

(१) घर्मा इव-शक्ति के पुञ्ज बने हुए (घर्म=शक्ति की उष्णता) ये पति-पत्नी जठरे=अपने उदरों में मधु सनेरू-माधुर्ययुक्त हृदय सात्त्विक भोजनों का ही सेवन करनेवाले होते हैं। भगे अविता-ऐश्वर्य में स्थित हुए-हुए अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। अरं तुर्फरी-(अरं=अलम्) खूब ही शत्रुओं का हिंसन करनेवाले होते हैं। फारिवा-(फारिः आयुधम्, स्फुर to kill) उत्तम आयुधोंवाले हैं, अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को उत्तम बनाते हैं। (२) ये पति-पत्नी पतरा इव-पतनशील पक्षियों की तरह चचरा-संचरणशील हैं, इनका जीवन खूब क्रियाशील होता है। चन्द्रनिर्णिङ्-(निर्णिक्-रूपम्) आह्लादक रूपवाले हैं, सदा प्रसन्न मुख होते हैं। मन ऋङ्गा-मन के द्वारा अपना प्रसाधन करनेवाले होते हैं, अर्थात् विचारपूर्वक कार्यों को करते हुए ये अपने जीवन को सद्गुणों से सुशोभित करते हैं मनन्या न जग्मी-जैसे ये मनन में, विचारशीलता में उत्तम होते हैं, उसी प्रकार यज्ञादि उत्तम कर्मों के प्रति जानेवाले होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी को चाहिए कि शुद्ध सात्त्विक भोजन करें। विचारशील व क्रियाशील हों। सदा प्रसन्नमुख हों।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कर्णा-अंशा

बृहन्तेव गम्भरेषु प्रतिष्ठां पादेव गाधं तरते विदाथः।
कर्णेव शासुरनु हि स्मराथोंऽशेव नो भजतं चित्रमप्नः॥ ९॥

(१) बृहन्ता इव-बड़े अर्थात् उन्नत कदवाले पुरुषों की तरह गम्भरेषु-गम्भीर स्थानों में भी प्रतिष्ठाम्=प्रतिष्ठा को विदाथः=आप प्राप्त करते हो। बड़े कदवाले पुरुष गहरे जल में आधार को पा लेते हैं, आप भी दुष्प्रवेश स्थानों में भी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। संकट कालों में आप व्याकुल नहीं हो जाते हो। (२) तरते=तैरनेवाले के लिए इव-जैसे पादा-पाँव गाधम्=जल की गाधता को विदाथः=जनाते हैं। इसी प्रकार आप प्रत्येक कार्य की वस्तु-स्थिति को जाननेवाले होते हो। (३) कर्णा इव-जैसे कान उक्त शब्द को सुननेवाले होते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाले आप हि-निश्चय से शासुः=उस शासक प्रभु का स्मराथः=स्मरण करते हो। (४) अंशा इव=(अंश to divide) धनों का उचित संविभाग करनेवालों के समान नः=हमारे चित्रं अप्नः=अद्भुत कर्म का भजतः=आप आश्रय करते हो। प्रभु सदा देते हैं, ये प्रभु स्मरण करनेवाले व्यक्ति भी देनेवाले बनते हैं। प्रभु का सर्वाद्भुत आदरणीय कार्य यही है कि वे सब कुछ देते हैं। ये पति-पत्नी भी देनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी को चाहिए कि संकट में घबरायें नहीं। प्रत्येक कार्य की वस्तुस्थिति को समझें। प्रभु की वाणी को सुनें। सदा देनेवाले बनें।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आरंगरा-कीनारा

आ॒र॒ङ्ग॒रेव॒ मध्वेर॑येथे सार॒घेव॒ गवि॒ नी॒चीन॑बारे।
कीना॑रेव॒ स्वेद॑मासिष्विदा॒ना क्षामे॑वो॒र्जा सू॑यव॒सात्स॑चेथे॥ १० ॥

(१) **अरं गरा इव**-(अरं=शक्ति) शरीर में शक्ति के उत्पादन के लिए खानेवालों के समान **मधु आ एरयेथे**=माधुर्ययुक्त हृद्य भोजनों को ही आप अपने में प्रेरित करते हो। (२) **सारघा इव**=आप दोनों मधुमक्षिका के समान **गवि**=ज्ञान की वाणियों में सार को ग्रहण करनेवाले हो और **नीचीनबारे**=न्यग्भूत इन्द्रिय द्वारोंवाले हो। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'=ज्ञान से मनुष्य सदा नीचे देखता है, नम्र होता है। (३) **कीनारा इव**=दो किसानों की तरह **स्वेदं आसिष्विदाना**=पसीने को प्रक्षरित करनेवाले आप हो। अर्थात् आप काम के द्वारा आजीविका का उपार्जन करनेवाले हो। (४) **क्षामा इव**=(emancipated) क्षीणकाय भी आप, जिनपर बहुत मांस नहीं चढ़ गया ऐसे भी आप **सूयवस्यत्**=उत्तम भोजन से **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति से **सचेथे**=संगत होते हो। श्रम के कारण इनका शरीर बहुत चर्बीवाला नहीं, परन्तु उत्तम भोजन के कारण यह शक्तिशाली है। ये उत्तम भोजनवाले हैं, श्रम करते हैं, इस प्रकार इनका शरीर सबल है।

भावार्थ—पति-पत्नी सात्त्विक भोजन करें सारभूत ज्ञान को प्राप्त करके नम्र हों, गहरे पसीने की कमाईवाले हों, हलके परन्तु शक्तिशाली शरीरोंवाले हों।

ऋषिः—भूतांशः काश्यपः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तोम से वाज की प्राप्ति

ऋ॒ध्याम॒ स्तोमं॑ सनु॒याम॒ वाज॒मा नो॒ मन्त्रं॑ स॒रथे॒होप॑ यातम्।
यशो॒ न प॒क्वं मधु॒ गोष्व॒न्तरा भू॒तांशो॑ अ॒श्विनो॒: काम॑मप्राः ॥ ११ ॥

(१) **स्तोमं ऋध्याम**=हम सब स्तोम का वर्धन करें। खूब स्तुति करनेवाले हों। और इस स्तुति के द्वारा **वाजम्**=शक्ति को **सनुयाम**=प्राप्त करें। (२) इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि तुम **इह**=इस जीवन में **सरथा**=समान रथवाले होकर, परस्पर अभिन्न होकर **नः मंत्रम्**=हमारे से दिये गये इस वेद-ज्ञान को **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होवो। न (न इति चार्थे)-और **गोषु अन्तः पक्वम्**=गौवों के अन्दर उनके ऊधस् में ही परिपक्व **यक्षः**=(food) भोजन को, दुग्धरूप पूर्ण भोजन को **आ (गच्छतम्)**=प्राप्त होवो। (३) **भूतांशः**=इस उत्पन्न जगत् को जीवों के लिए विभक्त करनेवाला (भूत+अंश) वह प्रभु **अश्विनो**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले इन पति-पत्नी के **कामम्**=अभिलाषा का **अप्राः**=पूरण करता है।

भावार्थ—हम स्तुतिमय जीवनवाले होकर शक्ति का संवर्धन करें। मधुर गोदुग्ध का सेवन करनेवाले बनें।

सूक्त के प्रारम्भ में पति-पत्नी को 'सध्रीचीना'=सदा मिलकर चलनेवाला कहा है। (१) समाप्ति पर भी 'सरथा'=समान रथवाला बनने का उपदेश दिया है। ऐसे पति-पत्नी 'भूतांश'=प्राप्त धन को बाँटनेवाले हैं। इस संविभाग से ये दिव्य वृत्तिवाले व शक्तिशाली शरीरोंवाले 'दिव्य आंगिरस' बनते हैं। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं। 'दक्षिणा' ही देवता, अर्थात् सूक्त का विषय है—

[१०७] सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

महान् ऐश्वर्य का आविर्भाव (दक्षिणा का विशाल मार्ग)

आविर्भून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥ १ ॥

(१) **दक्षिणायाः**-दक्षिणा का, दानवृत्ति का उरुः **पन्थाः**-विशाल मार्ग **अदर्शि**-देखा जाता है। दान का मार्ग मनुष्य का कल्याण ही कल्याण करनेवाला है। सब से प्रथम तो **एषाम्**-इन दान की वृत्तिवाले पुरुषों का **महि**-महनीय **माघोनम्**-ऐश्वर्य **अविः अभूत्**-प्रकट होता है। दान से कभी ऐश्वर्य घटता नहीं, बढ़ता ही है। (२) दक्षिणा का दूसरा लाभ यह है कि **विश्वं जीवम्**-सब जीव, घर में प्रवेश करनेवाले सब प्राणी **तमसः**-अज्ञानान्धकार से **निरमोचि**-मुक्त हो जाते हैं। जहाँ दान की परिपाटी होती है, वहाँ लोभ की वृत्ति के न होने से दिमाग सुलझा हुआ रहता है। दान से मनोवृत्ति तामसी नहीं रहती। (३) इस दक्षिणा के मार्ग पर चलने से **पितृभिः**-माता, पिता, आचार्य आदि से **दत्तम्**-दी हुई **महि ज्योतिः**-महनीय ज्ञान की ज्योति **आगात्**-प्राप्त होती है। अर्थ में न फँसे हुओं को ही ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थासक्त पुरुष प्रकाश को नहीं देख पाता।

भावार्थ—दान का मार्ग विशाल है। इस मार्ग पर चलनेवालों को ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है और ज्ञान भी।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अश्व, हिरण्य व वस्त्र' का दान

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः ॥ २ ॥

(१) **दक्षिणावन्तः**-दान देनेवाले **दिवि**-द्युलोक में **उच्चा अस्थुः**-उच्च स्थान में स्थित होते हैं। इन्हें उत्कृष्ट लोक में जन्म प्राप्त होता है अथवा उत्कृष्ट ज्ञान के प्रकाश में स्थित होते हैं। (२) ये **अश्वदाः**-जो घोड़ों का दान करते हैं **ते**-वे **सूर्येण सह**-सूर्य के साथ होते हैं, इनका सूर्यलोक में जन्म होता है। **हिरण्यदाः**-स्वर्ण का दान करनेवाले **अमृतत्वम्**-अमृतत्व का **भजन्ते**-सेवन करते हैं, रोगों से इनकी असमय में ही मृत्यु नहीं हो जाती। (३) हे **सोम**-सौम्य स्वभाववाले पुरुष! तू यह स्मरण रख कि **वासोदाः**-उत्तम वस्त्रों के देनेवाले लोग **आयुः प्रतिरन्ते**-आयुष्य को बढ़ानेवाले होते हैं। वस्त्रादान मनुष्य को दीर्घजीवी बनाता है।

भावार्थ—अश्व, हिरण्य, वस्त्र आदि का दान मनुष्य को प्रकाशमय नीरोग व दीर्घजीवी बनाता है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

दान=दैवीपूर्ति

दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति।
अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति ॥ ३ ॥

(१) **दक्षिणा**=दान **दैवी पूर्तिः**=देव-सम्बन्धिनी पूर्ति है। जितना-जितना हम दान करते हैं, उतना-उतना उस देव का अपने में पूरण करते हैं। यह दान **देवयज्या**=उस देव का पूजन है अथवा उसके साथ संगतिकरण है। यह देवयज्या **कवारिभ्यः न**=(कु, ऋ गतौ) कुत्सित गतिवालों के लिए नहीं है। ये कुत्सित गतिवाले पुरुष न दान देते हैं और ना ही प्रभु की भावना को अपने में भर पाते हैं। **ते**=ये कवारि पुरुष **नहि पृणन्ति**=प्रभु को प्रीणित नहीं कर पाते (delight, please)। प्रभु की प्रसन्नता इसी में है कि प्रभु से दिये गये धन को हम प्रभु के प्राणियों के हित में प्रयुक्त करें। (२) **अथा**=सो अब **बहवः**=बहुत से वे **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुष **प्रयतदक्षिणासः**=पवित्र दान की वृत्तिवाले होते हैं। **अवद्यभिया**=पाप के भय से वे देते ही हैं। उन्हें यह विश्वास होता है कि धन का दान न करेंगे तो धनासक्त होकर पाप में फँस जाएँगे। इसलिए दान देते हुए ये लोग **पृणन्ति**=उस प्रभु को प्रीणित करते हैं।

भावार्थ—दानवृत्ति हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। अदानवृत्ति प्रभु से दूर ले जाती है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

शतधार हवि

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते हविः।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम् ॥ ४ ॥

(१) **नृचक्षसः**=(चक्ष् to look after) मनुष्यों का पालन करनेवाले **ते**=वे विद्वान् **हविः**=दानपूर्वक अदन को (हु दानादनयोः हविः) त्याग करके यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को **शतधारम्**=सैंकड़ों का धारण करनेवाली **वायुम्**=वायु की तरह प्राणशक्ति को देनेवाली **अर्कम्**=उपासना की साधनभूत **स्वर्विदम्**=प्रकाश व स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली **अभिचक्षते**=कहते हैं। त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से हम अपना ही पेट न भरते हुए सैंकड़ों का धारण करते हैं, यह त्यागपूर्वक अदन हमारे लिए वायु की तरह जीवनप्रद होता है, इससे हम प्रभु का आराधन करते हैं और यह हमें स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला है। (२) **ये**=जो भी व्यक्ति **पृणन्ति**=इस प्रकार दानवृत्ति से प्रभु को प्रीणित करते हैं, **च**=और **संगमे**=सबके एकत्रित होने के स्थानभूत यज्ञों में **प्रयच्छन्ति**=खूब दान देते हैं, **ते**=वे **दक्षिणाम्**=इस दान को **सप्तमातरम्**=सात से मापकर, अर्थात् सप्तगुणित रूप में **दुहते**=अपने में पूरित करते हैं। जितना देते हैं, वह सप्तगुणित होकर उन्हें प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दान से धन बढ़ता ही है, कम नहीं होता।

भावार्थ—दान 'शतधार, वायु, अर्क व स्वर्विद्' है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

दान व सर्वप्रथम स्थान

दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति ।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय ॥ ५ ॥

(१) **दक्षिणावान्**-देने की वृत्तिवाला पुरुष **प्रथमः हूतः**-सबसे प्रथम पुकारा जाकर **एति**-सर्वमुख होकर गति करता है। अर्थात् इस दानी पुरुष को सभा आदि में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त होता है। यह **दक्षिणावान्**-दानवाला पुरुष **ग्रामणीः**-ग्राम का नेता बनकर (-कौन्सिलर आदि बनकर) **अग्रम् एति**-सबके आगे-आगे चलता है। (२) **यः**-जो **प्रथमः**-सबसे पूर्व **दक्षिणाम्**-दानवृत्ति को **आविवाय**-(वी-प्रजनन) अपने में उत्पन्न व विकसित करता है **तं एव**-उसको ही **जनानाम्**-लोगों का **नृपतिं मन्ये**-राजा मानता हूँ। वस्तुतः ही वह इस दानवृत्ति से **नृ-पति**-मनुष्यों का पालन करनेवाला होता है।

भावार्थ—दान हमें सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कराता है। दानी पुरुष सच्चे अर्थों में नृपति=प्रजा का रक्षक है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

दान से यज्ञों का साधन

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ ६ ॥

(१) **यः**-जो **प्रथमः**-(प्रथ विस्तारे) अपने हृदय को अत्यन्त विशाल बनाता हुआ **दक्षिणया**-दानवृत्ति से **रराध**-सिद्धि को प्राप्त करता है, दान के द्वारा सब अशुभों को दूर करके शुभों को सिद्ध करता है। **तं एव**-उसको ही **ऋषिं आहुः**-ऋषि कहते हैं 'ऋष गतौ' सब कार्यों का करनेवाला जानते हैं। (२) यज्ञ में सब ऋत्विजों के कार्य इसकी दानवृत्ति से ही परिपूर्ण होते हैं। सो **तं उ**-उस दानी पुरुष को ही **ब्रह्माणम्**-ब्रह्मा कहते हैं, उसी को **यज्ञन्यम्**-यज्ञ का चलानेवाला 'अध्वर्यु' कहते हैं, **सामगाम्**-उसी को साम का गायन करनेवाला 'उद्गाता' जानते हैं और उसी को **उक्थशासम्**-उक्थों का (शस्त्रों का) शंसन करनेवाला 'होता' कहते हैं। यह दानी ही 'ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता व होता' है। (३) **सः**-वह दानी **शुक्रस्य**-उस ज्योतिर्मय प्रभु की **तिस्रः तन्वः वेद**-तीनों शरीरों को जानता है। प्रभु कृपा से इसके शरीर रूप पृथिवीलोक में तेजस्विता के रूप में अग्नितत्त्व होता है। इसके हृदयान्तरिक्ष में प्रसन्नता के रूप में चन्द्र का निवास होता है और इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्य का उदय होता है।

भावार्थ—दानी ही सब यज्ञों को सिद्ध करता है। यह प्रभु कृपा से शरीर में अग्नि को, हृदय में चन्द्र को व मस्तिष्क में सूर्य को प्राप्त करता है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

दक्षिणा से अभ्युदय

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् ।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥ ७ ॥

(१) दक्षिणा-दान की वृत्ति हमारे लिए अश्वं ददाति-घोड़ों को देती हैं। दक्षिणा-यह दान की वृत्ति गां ददाति-गौवों को देती है। दक्षिणा-यह दान हमें चन्द्रम्-चाँदी को देता है, उत-और यत् हिरण्यम्-जो स्वर्ण है अथवा हित-रमणीय है उस सबको देता है। (२) दक्षिणा-दान अन्नं वनुते-हमारे लिए अन्न का विजय करता है। इसलिए यः-जो नः-हम सबका आत्मा-आत्मा है, अर्थात् 'सर्वभूतान्तरात्मा' प्रभु है वह विजानन्-विशिष्ट ज्ञानवाला होता हुआ दक्षिणाम्-इस दानवृत्ति को वर्म कृणुते-हमारे लिए कवच के रूप में करता है। इस कवच से रक्षित हुए-हुए हम वासना के तीरों से घायल नहीं होते।

भावार्थ—दान अभ्युदय का कारण है और हमारे लिए कवच का काम देता है, यह हमें वासनाशरों से विद्ध नहीं होने देता।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दान व उभयलोक कल्याण

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति ॥ ८ ॥

(१) भोजाः-(भुज पालने) दान के द्वारा औरों का पालन करनेवाले लोग न मम्रुः-रोगादि से पीड़ित होकर असमय में मरते नहीं। यह दानवृत्ति इन्हें विषय विलास में फँसने से बचाती है और ये शरीर धारण के लिए ही भोजन करते हुए रोगाक्रान्त नहीं होते। अपने यशः शरीर से तो ये जीवित रहते ही हैं। ये भोज न्यर्थम्-निकृष्ट गति को (ऋ गतौः अर्थ) न ईयुः-नहीं प्राप्त होते। ह-निश्चय से भोजाः-ये पालन करनेवाले लोग न रिष्यन्ति-हिंसित नहीं होते, वासनाएँ इन्हें अपना शिकार नहीं बना पाती और न व्यथन्ते-ये रोगों व अन्य भयों से पीड़ित नहीं होते। (२) यह दक्षिणा-दानवृत्ति एभ्यः-इन दान देनेवालों के लिए एतत् सर्वम्-यह सब कुछ ददाति-देती है, इदम्-यह यत्-जो विश्वं भुवनम्-सब लोक है च-और जो स्वः-स्वर्गलोक है। अर्थात् दक्षिणा से इनका इहलोक व परलोक दोनों ही सुन्दर बनते हैं।

भावार्थ—दान से दोनों लोकों में कल्याण प्राप्त होता है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दान से गृह का सौन्दर्य

भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं१ या सुवासाः।
भोजा जिग्युरन्तःपेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति ॥ ९ ॥

(१) अग्रे-सब से आगे तो भोजाः-दानवृत्ति से औरों का पालन करनेवाले पुरुष सुरभिं योनिम्-बड़े सुगन्धिवाले घर को जिग्युः-जीतते हैं (सुरभि-shining, good, gistuous, wise) ये ऐसे घर को प्राप्त करते हैं जिसमें कि सब लोग स्वास्थ्य की दीप्तिवाले, उत्तम वृत्तिवाले व बुद्धिमान् होते हैं। (२) भोजाः-ये औरों का पालन करनेवाले पुरुष उस वध्वं जिग्युः-वधू को प्राप्त करते हैं या-जो सुवासाः-जो आर्यवेश (सु+वासस्) वाली होती हुई घर में सब के उत्तम निवास का कारण बनती है (सुष्ठु वासयति)। (३) भोजाः-ये भोज पुरुष सुरायाः-ऐश्वर्य के अन्तःपेयम्-घर के अन्दर पान को जिग्युः-जीतते हैं। इनके घर में ऐश्वर्य की कमी नहीं होती। परन्तु इस ऐश्वर्य

को यह अन्त:पेय बनाते हैं, क्लब आदि में उसका अपव्यय नहीं करते। (४) और अन्त में **भोजा:**=ये पुरुष उनको **जिग्यु:**=जीत लेते हैं, युद्ध में पराजित करनेवाले होते हैं **ये**=जो **अहूता:**=बिना युद्ध के लिए ललकारे गये हुए भी **प्रयन्ति**=धावा बोल देते हैं। अर्थात् आक्रमणात्मक युद्ध करनेवालों के ये पराजित करनेवाले होते हैं। जिस देश के व्यक्तियों में यह त्यागवृत्ति होगी वह देश कभी शत्रुओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—दान से घर अच्छा बनता है, देश स्वतन्त्र रहता है।

ऋषि:—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्द:—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

दान से यश व ऐश्वर्य

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या३ शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥ १०॥

(१) **भोजाय**=दान द्वारा औरों का पालन करनेवाले के लिए **आशुं अश्वम्**=शीघ्रगामी घोड़े को **संमृजन्ति**=परिचारक लोग सम्यक् अलंकृत करते हैं। अर्थात् इनके आने-जाने के लिए सवारी सदा तैयार रहती है। **भोगाय**=इस औरों का पालन करनेवाले पुरुष के लिए **शुम्भमाना**=शरीरावयवों से शोभमान तथा उत्तम वस्त्रादि से अलंकृत **कन्या**=युवति **आस्ते**=सेवा के लिए उपस्थित रहती है। अर्थात् इसके घर में परिचारिकाओं की कभी नहीं रहती। (२) **भोजस्य**=इस पालन करनेवाले का **इदम्**=यह **वेश्म**=घर **पुष्करिणी इव**=कमलों से अलंकृत सरसी के समान **परिष्कृतम्**=सुसज्जित होता है। यह इसका घर **देवमाना इव**=देवताओं से मापकर बनाए गये घर के समान **चित्रम्**=अद्भुत होता है।

भावार्थ—दानशील पुरुष को उत्तम सवारियाँ सेविकाएँ व सुसंस्कृत (अलंकृत) गृह प्राप्त होते हैं।

ऋषि:—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

सम्पत्ति व विजय

भोजमश्वा: सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणाया:।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोज: शत्रून्त्समनीकेषु जेता॥ ११॥

(१) **भोजम्**=दान द्वारा औरों का पालन करनेवाले को **सुष्ठुवाह:**=उत्तमता से वहन करनेवाले **अश्वा:**=घोड़े **वहन्ति**=वहन करते हैं। **दक्षिणाया:**=दान का **रथ:**=रथ **सुवृत् वर्तते**=(सुष्ठु चक्रादि वर्तनं यस्य) उत्तम चक्र आदि से युक्त होता है। अर्थात् दानी पुरुष का उत्तम रथ, उत्तम घोड़ों से जुता हुआ होता है। (२) **देवास:**=हे देवो! आप **भोजम्**=इस दानशील पुरुष को **भरेषु**=संग्रामों में **अवता**=रक्षित करते हो, आप से रक्षित हुआ-हुआ यह **भोज:**=दानशील पुरुष **समनीकेषु**=संग्रामों में **शत्रून् जेता**=शत्रुओं को जीतनेवाला होता है।

भावार्थ—दानशील पुरुष को सम्पत्ति व विजय प्राप्त होती है।

यह सूक्त दानकी महिमा को बहुत अच्छी प्रकार प्रतिपादित कर रहा है। दान से ऐश्वर्य बढ़ता है, विजय प्राप्त होती है, वासनाओं का विनाश होकर प्रभु की प्राप्ति होती है। धन का लोभ हो जाने पर इस दानवृत्ति में कमी आ जाती है। मनुष्य 'पणि'-सा बन जाता है, पणियाँ। 'पण व्यवहारे'

से बना यह पणि शब्द कह रहा है कि यह शुद्ध व्यवहारी पुरुष बन जाता है, अपने प्राणपोषण में ही फँसा हुआ यह 'असुर' कहलाता है (असुषु रमते)। इन्हें **देवशुनी**-देवताओं में वृद्धि को प्राप्त होनेवाली (श्वि-वृद्धौ) सरमा-गतिशील बुद्धि दान आदि के लिए प्रेरित करती है। अगले सूक्त में इन पणियों व सरमा का ही संवाद है—

[१०८] अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—पण्योऽसुराः ॥ देवता—सरमा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पणियों का प्रश्न

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥ १ ॥

(१) पणि कहते हैं कि **किं इच्छन्ती**-क्या चाहती हुई **सरमा**-यह सरणशीला बुद्धि **इदम्**-इस हमारे स्थान को **प्र आनट्**-प्रकर्षेण व्याप्त करनेवाली हुई है। इस सरमा का **अध्वा**-मार्ग **हि**-निश्चय से **दूरे**-सुदूर है, बड़ा लम्बा है और यह मार्ग **पराचैः**-(परा अञ्च्) विषयों से पराङ्मुख होनेवालों से ही **जगुरिः**-गन्तव्य है, जाने योग्य है। इस बुद्धि के मार्ग पर विषयों से निवृत्त हुए-हुए पुरुष ही चल सकते हैं। (२) हे सरमे! **अस्मे**-हम पणियों में, व्यवहारी पुरुषों में **का हितिः**-तेरा क्या प्रयोजन निहित है? **का परितक्म्य आसीत्**-किस प्रकार तेरा चारों ओर गमन हुआ (तक् गतौ)। **कथम्**-कैसे **रसाया**-इस रसमयी पृथिवी के **पयांसि**-विषयरूप जलों को **अतरः**-तू तैरी? बुद्धि पणियों में क्या परिवर्तन करना चाहती है? किस प्रकार वह उन्हें सांसारिक विषयों से ऊपर उठाकर प्रभु-प्रवण करने के लिए यत्नशील होती है?

भावार्थ—पणिक् वृत्ति में बुद्धि ही परिवर्तन को ला पाती है। यह बुद्धि का मार्ग लम्बा व विषय पराङ्मुख लोगों से ही गन्तव्य है।

ऋषिः—सरमा देवशुनी ॥ देवता—पणयः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बुद्धि द्वारा दिया जानेवाला 'सन्देश'

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि ॥ २ ॥

(१) सरमा उत्तर देती है कि मैं **इन्द्रस्य दूतीः**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की सन्देशवाहिका हूँ। **इषिता**-उसी से प्रेरित हुई-हुई मैं **चरामि**-गति करती हूँ। हे **पणयः**-पणिक् वृत्तिवाले पुरुषो! मैं **वः**-तुम्हारे लिए **महः**-अधिक महत्त्वपूर्ण **निधीन्**-कोशों को **इच्छन्ती**-चाहती हुई हूँ। बाह्य समृद्धियों की अपेक्षा आन्तर ज्ञान की सम्पत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैं तुम्हारे लिए उसी आन्तर ज्ञान सम्पत्ति को देने के लिए आई हूँ। (२) **तत्**-वह ज्ञानधन **नः**-हमें **अतिष्कदः**-अति तीव्र आक्रमण के करनेवाले **वृत्र** (-कामवासना) के **भियसा**-भय से **आवत्**-बचाता है। **तथा**-उस प्रकार से ही, अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही मैं **रसायाः**-इस रसमयी पृथिवी के **पयांसि**-विषय जलों को **अतरम्**-तैर गई हूँ। ज्ञान ही मनुष्य को विषयों में फँसने से बचाता है। बाह्य धन विषयों में फँसाने का कारण बनता है तो यह आन्तर धन हमें उन विषयों से बचाता है। बुद्धि पणियों को यही प्रभु का सन्देश देना चाहती है कि ज्ञान धन को महत्त्व दो, नकि इस बाह्य धन को।

भावार्थ—बुद्धि हमें यही सन्देश देती है कि 'ज्ञानधन को अपनाओ और विषयों से बचो'।

ऋषिः—पण्योऽसुराः ॥ देवता—सरमा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु रूप मित्र का धारण

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥ ३ ॥

(१) व्यवहारी पुरुष बुद्धि से प्रश्न करते हैं कि हे **सरमे**=सरणशील बुद्धि! वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला प्रभु **कीदृङ्**=कैसा है! **का दृशीका**=कैसा उसका स्वरूप है, वह कैसा दिखता है? अथवा उसकी दृष्टि कैसी है? हमारे लिए उसका दृष्टिकोण क्या है? उस परमात्मा का, **यस्य**=जिसकी **दूतीः**=सन्देशवाहिका बनी हुई तू **पराकात्**=सुदूर देश से **इदम्**=इस हमारे स्थान को **असरः**=प्राप्त हुई है। (२) **च**=और यदि वह इन्द्र **आगच्छात्**=हमें प्राप्त हो तो **एना मित्रं दधाम**=इस प्रभु को मित्र रूप से हम धारण करें। **अथा**=प्रभु को धारण करने पर वह **नः गवाम्**=हमारी इन्द्रियों को **गोपतिः**=उत्तम स्वामी व रक्षक **भवाति**=होता है। वस्तुतः बुद्धि का सबसे बड़ा उपयोग यही है कि वह हमें प्रभु को प्राप्त कराती है। ये प्रभु हमारी इन्द्रियों के स्वामी बनते हैं और हम इन्द्रियों को विषयों को शिकार होते हुए नहीं देखते।

भावार्थ—बुद्धि के सम्पर्क में हमारे में यह प्रश्न उठता है कि वे प्रभु कैसे हैं? हमें प्रतीत होता है कि वे प्रभु हमें प्राप्त हों, तो वे मित्रभूत प्रभु हमारी इन्द्रियों के रक्षक होंगे।

ऋषिः—सरमा देवशुनी ॥ देवता—पणयः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अहिंस्य 'हिंसक'

नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥ ४ ॥

(१) बुद्धि कहती है कि **अहम्**=मैं **तम्**=उस प्रभु को **दभ्यं न वेद**=हिंसनीय व दबाये जाने योग्य **न वेद**=नहीं जानती। उस प्रभु को प्रबल से प्रबल असुरभाव रूप शत्रु भी नष्ट नहीं कर सकता। **सः दभत्**=वे प्रभु इन सब असुरों का संहार करते हैं। वे प्रभु, **यस्य**=जिनकी कि **दूतीः**=सन्देशवाहिका मैं **पराकात्**=सुदूर देश से **इदम्**=यहाँ तुम्हारे स्थान पर **असरम्**=जाती हूँ। (२) **तम्**=उस प्रभु को **स्रवतः**=बहते हुए **गभीराः**=अत्यन्त गहरे ये सांसारिक विषयों के जल **न गूहन्ति**=आवृत नहीं कर पाते। इन विषयों का आक्रमण अल्पज्ञ जीव पर ही होता है, उस सर्वज्ञ प्रभु को ये विषय आच्छादित नहीं कर पाते। (३) हे **पणयः**=व्यवहारी पुरुषो! तुम तो **इन्द्रेण हताः**=उस प्रभु से नष्ट हुए-हुए, अर्थात् प्रभु की कृपा को न प्राप्त हुए-हुए **शयध्वे**=सो रहे हो। तुम्हें अपने हिताहित का ध्यान नहीं। प्रभु कृपा होने पर ही तुम जागोगे और वास्तविक कल्याण को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होवोगे।

भावार्थ—प्रभु अहिंस्य हैं। वे ही वासनाओं का हिंसन करते हैं।

ऋषिः—पण्योऽसुराः ॥ देवता—सरमा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विषयों से युद्ध करके इन्द्रियरूप गौवों को मुक्त करना

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ॥ ५ ॥

(१) पणि सरमा से कहते हैं कि—हे सुभगे=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली सरमे=सरणशील बुद्धि, दिवः अन्तान्=ज्ञान के अन्त भागों को परिपतन्ती=सब ओर से प्राप्त करती हुई, ज्ञान की चरमसीमा पर पहुँचने की इच्छा करती हुई, याः ऐच्छः=जिनको तूने चाहा है वे गावः इमाः= इन्द्रियाँ ये हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा ही मनुष्य अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ एक दिन ज्ञान के शिखर पर जा पहुँचता है। परन्तु यदि ये इन्द्रियाँ पणियों से चुरी ली जाएँ, अर्थात् यदि सारे समय सांसारिक व्यवहारों में ही पड़ी रहें और सांसारिक सम्पत्ति व भोगों का परिग्रह ही इनका उद्देश्य बन जाए तो फिर ज्ञान समाप्त हो जाता है। (२) पणि कहते हैं कि ते एनाः=तेरी इन इन्द्रियरूप गौवों को कः=कौन अयुध्वी=वासनाओं से युद्ध न करनेवाला पुरुष अवसृजात्=सांसारिक विषयों के बन्धन से छुड़ा सकता है। ये इन्द्रियाँ वस्तुतः बुद्धि की होनी चाहियें, परन्तु जब एक मनुष्य सांसारिक विषय वासनाओं से युद्ध नहीं करता तो ये इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं। (३) और यह भी बात है कि 'यह युद्ध कोई आसानी से जीता जा सके' ऐसी बात नहीं है। पणि कहते हैं कि उत=और अस्माकम्=हमारे अर्थात् हमारे पर पड़नेवाले भाषा में हम इस प्रकार का प्रयोग देखते हैं कि 'मेरा रोग बड़ा भयङ्कर है' इस वाक्य में मेरा का भाव है 'मेरे पर जिसका आक्रमण हुआ है' वह रोग बड़ा भयङ्कर है। इसी प्रकार यहाँ अस्माकम्=हमारे अर्थात् हमारे पर पड़नेवाले आयुधा=आयुध तिग्मा सन्ति=बड़े तेज हैं। कामदेव के धनुष व बाण फूलों के बेशक बने हैं, पर उनके आक्रमण से बचने का सम्भव किसी विरल व्यक्ति के लिए ही होता है। जो युद्ध में इनको जीत पाता है वही इन्द्रियरूप गौवों को 'पञ्चपर्वा अविद्यारूप पर्वत' की गुहा से मुक्त कर पाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करना है तो आवश्यक है कि इन्द्रियरूप गौवों को अविद्यापर्वत की गुहा से मुक्त करें। इसके लिए विषय वासनाओं से युद्ध करके उन्हें पराजित करना होगा।

ऋषिः—सरमा देवशुनी ॥ देवता—पणयः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु प्रेरणा के अभाव में पाप

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्॥ ६ ॥

(१) सरमा पणियों से कहती है कि हे पणयः=व्यवहारी लोगो! वः वचांसि=तुम्हारे ये वचन कि 'हमारे पर जिनका आघात होता है वे अस्त्र-शस्त्र बड़े तेज हैं' असेन्याः=ये सेना के योग्य नहीं हैं। प्रभु हमारे सेनापति हैं, हम तो प्रभु की सेना हैं, हमें प्रभु पर विश्वास रखते हुए अपने शत्रुओं से युद्ध करना है। हम इस युद्ध में हारेंगे क्यों? जो अनिषव्याः=(इषु+य-इषव्य) इषुओं के, प्रभु प्रेरणाओं के योग्य नहीं होते वे ही तन्वः=शरीर पापीः सन्तु=पापमय होते हैं। जो प्रभु प्रेरणाओं को सुननेवाले हैं, उनके पास तो ये प्रभु प्रेरणाएँ इषुओं=बाणों के रूप में होती हैं, इन बाणों से वे शत्रुओं का संहार कर पाते हैं। (२) इस प्रकार प्रभु प्रेरणारूप बाणों से सन्नद्ध होने पर वः पन्थाः=तुम्हारा मार्ग अधृष्टः=शत्रुओं से धर्षित न हुए-हुए एतवै अस्तु=लक्ष्य स्थान की ओर चलने के लिए हो। क्या बृहस्पतिः=सम्पूर्ण ज्ञानों के स्वामी वे प्रभु वः=तुम्हारी उभया=दोनों ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को न मृळात्=सुखी नहीं करते? बृहस्पति की कृपा के होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ वासनाओं का शिकार नहीं होती और हम ठीक मार्ग पर आगे बढ़ पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की कृपा के होने पर हम वासनारूप शत्रु-सैन्य को क्यों न जीत पाएँगे?

ऋषिः—पण्योऽसुराः ॥ देवता—सरमा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आन्तर धन 'गौवों-अश्वों व वसुओं' से बना है

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिन्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ ॥ ७ ॥

(१) पणि कहते हैं कि हे **सरमे**=सरणशील बुद्धि! **अयं निधिः**=यह आन्तर धन **अद्रिबुध्नः**=(अद्रिः पर्वतः बन्धको यस्य सा०) अविद्यारूप पर्वत से बद्ध-सा हुआ पड़ा है। अर्थात् अविद्या के कारण यह हमारे उत्थान का साधन नहीं बन रहा। यह निधि **गोभिः**=अर्थ की गमक ज्ञानेन्द्रियों से **अश्वेभिः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों से तथा **वसुभिः**=निवास के कारणभूत प्राणों से **न्यृष्टः**=नितरां व्याप्त है। इस आन्तर निधि में 'ज्ञानेद्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण' तीन मुख्य अंश हैं। (२) **तम्**=उस निधि को वे ही **पणयः**=व्यवहारी लोभ **रक्षन्ति**=रक्षित करनेवाले होते हैं **ये**=जो **सुगोपाः**=उत्तम गोप रक्षक प्रभुवाले होते हैं। वस्तुतः सब व्यक्ति गौवें के रूप में हैं तो प्रभु उनके गोप (=वाले) हैं। गोप से रक्षित व्यक्ति ही अपने धन की रक्षा करनेवाले होते हैं। अन्यथा वे स्वयं इस निधि के चोरों से अपने को बचा नहीं सकते। (३) पणि बुद्धि से कहते हैं कि हे बुद्धि! तू भी **रेकु पदम्**=इस प्रतिक्षण शत्रु के आक्रमण के भय की आंशकावाले स्थान पर **अलकम्**=व्यर्थ ही **आजगन्थ**=आ गई है। तेरे पर भी इन वासनारूप शत्रुओं का आक्रमण हुआ तो तेरा भी सुरक्षित रहना कठिन होगा। वासनाएँ तुझे भी भ्रष्ट कर डालेंगी।

भावार्थ—आन्तर धन 'ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राणों' से बना है। अविद्या इसे नष्ट करनेवाली है। प्रभु से रक्षित व्यक्ति ही इस धन की रक्षा कर पाते हैं।

ऋषिः—सरमा देवशुनी ॥ देवता—पणयः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आन्तर धन के रक्षक 'ऋषि'

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित् ॥ ८ ॥

(१) सरमा पणियों को उत्तर देती हुई कहती है कि **इह**=इस आन्तर ज्ञान निधि के रक्षण के मार्ग पर **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **आगमन्**=गति करते हैं। वे तत्त्वद्रष्टा जो **सोमशिताः**=सोम के द्वारा तीव्र किये गये हैं। सोम, अर्थात् वीर्य के रक्षण से जिनकी बुद्धि तीव्र बनी है। **अयास्यः**=जो अनथक है, (अ+यस्), **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला है और **नवग्वाः**=स्तुत्य गतिवाले हैं (नु स्तुतौ)। ये लोग आन्तर निधि के रक्षण के मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं। (२) **ते**=वे **एतम्**=इस **गोनां ऊर्वम्**=इन्द्रियरूप गौवें के समूह को **विभजन्त**=अविद्या पर्वत की गुहा से विभक्त (=पृथक्) करते हैं। सो **पणयः**=व्यवहारी लोगो! **अथ**=अब तुम **एतद् वचः**=इस वचन को कि 'रेकु पदमलकमाजगन्थ' 'हे बुद्धि! तू भी व्यर्थ ही इस शंकास्पद स्थान को आयी है' **इत्**=निश्चय से **वमन्**=उद्गीर्ण ही कर दें। अर्थात् भय की कोई बात नहीं। 'ऋषि, सोमशित्, अयास्य, अंगिरस् व नवग्व' वासनाओं को जीतकर आन्तर निधि का रक्षण करते हैं। वासनारूप शत्रु प्रबल हैं, परन्तु बुद्धि को प्रधानता देनेवाले व्यक्ति इनको जीतकर आन्तर धन का रक्षण करते हैं, अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों को ठीक रखने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियरूप गौवों का रक्षण 'ऋषि, सोमशित्, अयास्य, अंगिरस् व नवग्व' करते हैं।

ऋषिः—पण्योऽसुराः ॥ देवता—सरमा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बुद्धि का दूर न चले जाना

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥ ९ ॥

(१) हे सरमे-बुद्धि! त्वम्-तू एवा-इस प्रकार दैव्येन सहसा-देव के, प्रभु के सहस् से (giolence) प्रबल पीड़ा से प्रबाधिता-पीड़ित हुई-हुई आजगन्थ च-आई ही है। जब कभी जीवन में कोई प्रबल धक्का लगता है, तो उस समय बुद्धि विषयों से पराङ्मुख होकर प्रभु की ओर लौटने को करती है। (२) जो लोग आजतक सांसारिक व्यवहारों के अन्दर ही उलझे हुए थे, अब वे पणि भी कुछ आत्म-प्रवण होते हैं। वे बुद्धि से कहते हैं कि त्वा-तुझे स्वसारम्-(स्वं सारयति) आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाला कृणवै-करते हैं। अब पुनः-फिर मा गाः-हमारे से दूर जानेवाली न हो। तू हमारे में स्थिर बनी रहे। हे सुभगे-ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाली बुद्धि! अब अप-इन इन्द्रियों को अविद्याजनित विषय-वासनाओं से दूर करके ते-तेरे साथ गवाम्-इन इन्द्रियों का भजाम-सेवन करते हैं। अर्थात् सांसारिक विषयों में न फँसकर ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानार्जन को और कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों को हम करनेवाले बनते हैं। हमारी इन्द्रियों से होनेवाली सब क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक होती हैं।

भावार्थ—हमारे से बुद्धि दूर न चली जाये। हमारी सब क्रियाएं बुद्धिपूर्वक हों। यह बुद्धि हमें आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली हो।

ऋषिः—सरमा देवशुनी ॥ देवता—पणयः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र व घोर अंगिरस्

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र में पणियों ने बुद्धि से कहा था कि तुझे हम अपनी 'स्वसा' बनाते हैं, तू हमें आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली होगी (स्वं स्वरति सारयति)। बुद्धि उत्तर देती हुई कहती है कि अहम्-मैं भ्रातृत्वम्-(भृ) आत्मतत्त्व के भरण करने के भाव को न वेद-नहीं जानती। अर्थात् 'मैं अकेली तुम्हारे में आत्मतत्त्व के भाव का भरण कर सकूँगी' ऐसा मैं नहीं समझती। न-ना ही स्वसृत्वम्-आत्मतत्त्व की ओर ले चलने की शक्ति को (वेद) अनुभव करती हूँ। मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं तुम्हें आत्मतत्त्व की ओर ले चल सकूँगी। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुनाश्रुतेन'-केवल मेधा से आत्मा लभ्य नहीं है। (२) इन्द्रः-जितेन्द्रिय पुरुष च-और घोराः-उत्कृष्ट वृत्ति के अंगिरसः-अंगों को रसमय बनानेवाले स्वस्थ पुरुष ही इस भ्रातृत्व व स्वसृत्व को विदुः-जानते हैं। अर्थात् आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए जितेन्द्रियत्व व शरीर को स्वस्थ रखने की भावना आवश्यक है। केवल बुद्धि हमें आत्मतत्त्व तक न ले जा सकेगी। 'घोराः' शब्द भयंकर इसी अर्थ में प्रयुक्त समझा जाए तो अर्थ यह होगा कि वे अंगिरस् जो काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिए भयंकर हैं वे आत्मतत्त्व की ओर जानेवाले होते हैं। (३) बुद्धि कहती है कि मैं भी यदा-जब आयम्-इस आत्मतत्त्व की ओर आती हूँ तो ये 'इन्द्र' और 'घोर अंगिरस्' ही मे-मेरे लिए

गोकामाः-इन प्रशस्त इन्द्रियों की कामनावाले होते हुए **अच्छदयन्**-मुझे आच्छादित करते हैं, सुरक्षित करते हैं। जितेन्द्रिय तथा काम-क्रोधादि को जीतकर स्वस्थ रहनेवाला पुरुष ही बुद्धि को भी सुरक्षित करनेवाला होता है। सो हे **पणयः**-व्यवहारी पुरुषो! **अतः**-इस विषयों के मार्ग से **अप**-दूर **वरीयः**-उरुतर-विशाल आत्म प्राप्ति के मार्ग पर ही **इत**-चलो। यह वैषयिक मार्ग स्वार्थ पूर्ण व संकुचित है, आत्म प्राप्ति का मार्ग स्वार्थ से परे व विशाल है। आत्म प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'सर्वभूतहिते रत' बनता है।

भावार्थ—आत्म प्राप्ति केवल बुद्धि से नहीं होती। उसके लिए 'जितेन्द्रियता' तथा 'काम-क्रोधादि' का विजय करके स्वस्थ बनना भी आवश्यक है।

ऋषिः—सरमा देवशुनी ॥ **देवता**—पणयः ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

'बृहस्पति-विप्रः'

दूरमि॑त पणयो॒ वरी॑य॒ उद्गावो॑ यन्तु मिन॒तीर्ऋ॒तेन॑।
बृह॒स्पति॒र्या अवि॑न्द॒न्निगू॑ळ्हाः सोमो॒ ग्रावा॑ण॒ ऋष॑यश्च॒ विप्राः॑ ॥ ११ ॥

(१) हे **पणयः**-व्यवहारी लोगो! **दूरम्**-इस विषय-वासनाओं के मार्ग से दूर **वरीयः**-विशाल आत्म मार्ग की ओर **इत**-चलो। **गावः**-तुम्हारी ये इन्द्रियाँ **ऋतेन**-सत्य के द्वारा तथा यज्ञों में प्रवृत्त होने के द्वारा (ऋत, सत्य, यज्ञ) **मिनतीः**-सब अशुभों का हिंसन करती हुई **उद् यन्तु**-विषयों से बाहर होकर उत्कर्ष की ओर चलनेवाली हों। (२) वे इन्द्रियाँ उत्कर्ष की ओर चलनेवाली हों, **निगूळ्हाः**-अविद्या पर्वत से आच्छादित हुई-हुई **याः**-जिनको **बृहस्पतिः**-ज्ञान का पति ऊर्ध्वादिक् का अधिपति **अविन्दत्**-प्राप्त करता है। **सोमः**-सोम का, वीर्यशक्ति का रक्षण करके सोम का पुञ्ज बननेवाला इन्हें प्राप्त करता है। **ग्रावाणः**-प्रभु का स्तवन करनेवाले लोग इन्हें प्राप्त करते हैं। **ऋषयः**-तत्त्वद्रष्टा बनकर गतिशील रहनेवाले लोग इन्हें प्राप्त करते हैं, **च**-और **विप्राः**-(वि+प्रा) विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग इन्हें प्राप्त करते हैं। (३) इन इन्द्रियों को अपने अधीन रखनेवाले लोग ही जीवन-यात्रा को ठीक प्रकार से पूरा कर पाते हैं।

भावार्थ—हम 'बृहस्पति, सोम, ग्रावा, ऋषि व विप्र' बनकर इन्द्रियों को स्वाधीन करें, और सफलता से जीवन-यात्रा का पूर्ण करनेवाले हों।

मनुष्य संसार के व्यवहारों में ऐसा उलझता है कि प्रभु को भूल जाता है। विषयों का परिग्रह ही उसका जीवनोद्देश्य हो जाता है। उसकी इन्द्रियरूप गौवें अविद्या पर्वत की गुहा में कैद-सी हो जाती हैं। कभी कोई धक्का लगता है, चेतना आती है, और बुद्धि सोचने लगती है तो मनुष्य विषयों के मार्ग से हटकर आत्ममार्ग पर चलता है। यह अब 'ब्रह्म' बनता है, ब्रह्म का बनता है। इसकी क्रियाओं का केन्द्र विषय नहीं रहते। यह 'ऊर्ध्वनाभा'-उत्कृष्ट केन्द्रवाला बनता है। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला 'जुहूः' होता है। ब्रह्म को अपने में प्रादुर्भूत करनेवाला 'ब्रह्मजाया' कहलाता है अथवा ब्रह्म, अर्थात् वेदवाणी को यह अपनी जाया बनाता है 'परीमे गामनेषत'। इसकी क्रियाओं के केन्द्र सांसारिक विषय न होकर ज्ञान व प्रभु-दर्शन बनते हैं सो यह 'ऊर्ध्वनाभा' हो जाता है 'उत्कृष्ट केन्द्रवाला'। इसे 'सूर्य, जल, वायु' सभी प्रभु की महिमा का दर्शन कराते हैं—

[१०९] नवोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अकूपारः सलिलो मातरिश्वा

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीळुहरास्तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन॥ १ ॥

(१) जिस समय विषयों में क्रीड़ा करता हुआ पुरुष ब्रह्म को भूल जाता है, तो यह ब्रह्म विषयक किल्बिष व 'ब्रह्म किल्बिष' कहलाता है। इस **ब्रह्मकिल्बिषे**=ब्रह्म विषयक पाप के होने पर **ते**=वे **प्रथमाः**=देवताओं में प्रमुख स्थान रखनेवाले **अकूपारः**=(अकुत्सितपारः दूरपारः महागतिः) आदित्य, **सलिलः**=जल तथा **मातरिश्वा**=वायु **अवदन्**=उस ब्रह्म का उपदेश देते हैं। इन्हें देखकर उस विषय-प्रवण मनुष्य को भी प्रभु का स्मरण हो आता है, सूर्य-समुद्रों के जल व अन्तरिक्ष संचारी वायु इसे प्रभु की महिमा को करते प्रतीत होते हैं। द्युलोक का सूर्य-पृथ्वी के जल तथा अन्तरिक्ष का वायु तीनों ही उसे ब्रह्म का उपदेश करते हैं। (२) **ऋतेन प्रथमजाः**=प्रभु के तप से उत्पन्न ऋत से (ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत:) **प्रथमजाः**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले **उग्रः तपः**=अत्यन्त तेजस्वी दीप्त सूर्य, **मयोभूः**=कल्याण को देनेवाली वायु (वात आवातु भेषजं, शम्भु मयोभु नो हृदे १०।१८६।१) तथा **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल ये सब **वीडुहराः**=प्रबल तेजवाले हैं। (वीडु=strong)। इनके अन्दर उस-उस तेज को स्थापित करनेवाले वे प्रभु ही तो हैं। ये सब सूर्यादि प्रभु के तेज के अंश से ही तेजस्वी हो रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य, जल व वायु ये सब प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु ज्ञान व आश्रय देकर हमें आगे ले चलते हैं

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय॥ २ ॥

(१) जीव यद्यपि प्रभु को भूल जाता है तो भी प्रभु उसपर **अहृणीयमानः**=क्रोध नहीं करते (हृणीयते to be angey) प्रभु **राजा**=शासक हैं, परन्तु **सोमः**=अत्यन्त सौम्य हैं, शान्त हैं। ये **प्रथमः**=अधिक से अधिक विस्तारवाले सर्वव्यापक प्रभु इस व्यक्ति के लिए **ब्रह्मजायाम्**=इस वेदवाणीरूप पत्नी को **पुनः प्रायच्छत्**=फिर से प्राप्त कराते हैं। हृदयस्थरूपेण बारम्बार प्रेरणा के द्वारा ज्ञान को देते हैं। (२) वे प्रभु जो कि **वरुणः**=सब बुराइयों से निवारित करनेवाले, दूर करनेवाले **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु पाप से बचानेवाले हैं, **अन्वर्तिता**=रक्षा के लिए पीछे-पीछे आनेवाले **आसीत्**=हैं। जैसे एक चलने के प्रयत्न में कदम रखनेवाले छोटे बालक के साथ-साथ माता होती है जिससे यदि वह गिरने लगे तो वह उसे बचानेवाली हो, इसी प्रकार वे वरुण और मित्र प्रभु इसके साथ-साथ होते हैं और इसे गिरने से बचाते हैं। (३) वे **होता**=सब साधनों को देनेवाले **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **हस्तगृह्या**=हाथ में पकड़कर **निनाय**=मार्ग पर ले चलते हैं। माता बालक को अंगुली पकड़ाकर चलाती है, उसी प्रकार प्रभु इसे आश्रय देकर आगे ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु शासक होते हुए भी क्रोध नहीं करते। वे प्रेरणा व आश्रय देकर हमें आगे ले चलते हैं।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

स्वाध्याय से कष्ट निवारण

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥ ३॥

(१) जिस समय लोग परमात्मा-सी दी गई इस वेदवाणी को **इयं ब्रह्मजाया**-'यह ब्रह्म का प्रादुर्भाव व प्रकाश करनेवाली है' **इति**-इस प्रकार **चेत्**-यदि **अवोचन्**-उच्चारित करते हैं तो **अस्याः**-इस ब्रह्मजाया के **हस्तेन**-हाथ से, आश्रय से ही **आधिः**-सब दुःख (bane, curse, misery) **ग्राह्यः**-वश में करने योग्य होता है। हमने इस ब्रह्मजाया का हाथ पकड़ा और हमारे सब कष्ट दूर हुए। (२) **एषा**-यह ब्रह्मजाया **प्रह्ये**-(प्रहिताया) भेजे हुए **दूताय**-दूत के लिए **न तस्थे**-स्थित नहीं होती। अर्थात् इसे स्वयं न पढ़कर किसी और से इसका पाठ कराते रहने से ही पुण्य नहीं प्राप्त हो जाता। **क्षत्रियस्य**-एक क्षत्रिय का **राष्ट्रम्**-राष्ट्र भी तो **तथा**-उसी प्रकार **गुपितम्**-रक्षित होता है। राष्ट्र की रक्षा भी राजा स्वयं सावधान व जागरित होकर ही कर पाता है दूसरों को शासन सौंपकर भोग-विलास में पड़े रहनेवाला राजा कभी राष्ट्र को रक्षित नहीं कर पाता। इसी प्रकार वेदवाणी को स्वयं पढ़नेवाला ही वेद से लाभान्वित होता है। स्वयं अध्ययन ही जीवन को उन्नत करता है।

भावार्थ—स्वाध्याय मनुष्य ने स्वयं करना है। यह स्वाध्याय उसके सब कष्टों को दूर करेगा।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

देवों तथा ऋषियों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥ ४॥

(१) **पूर्वे देवाः**-सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'पूर्वे चत्वारः' अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा नामक देव तथा **सप्त ऋषयः**-सात ऋषि (महर्षयः सप्त) **एतस्याम्**-इस ब्रह्मजाया के विषय में, वेदवाणी के विषय में **अवदन्त**-परस्पर वार्ता करते हैं, आपस में मिलकर ज्ञान की ही चर्चा करते हैं। वे ऋषि **ये**-जो **तपसे**-तप के लिए **निषेदुः**-निश्चय से आसीन होते हैं, अर्थात् जो अपना जीवन तपस्यामय बिताते हैं। तपस्या के बिना ज्ञान प्राप्ति का सम्भव ही नहीं। (२) **ब्राह्मणस्य**-उस ज्ञान पुञ्ज प्रभु की **जाया**-यह वेदवाणीरूप पत्नी **उपनीता**-समीप प्राप्त करायी जाने पर **भीमा**-शत्रुओं के लिए भयंकर होती है। जब हम इसकी आराधना के द्वारा हृदय को प्रकाशमय करते हैं तो यह काम-क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंस करनेवाली होती है। उसके शत्रुओं के लिए यह भयंकर होती है जो **दुर्धाम्**-कठिनता से, तीव्र तप के द्वारा धारण करने योग्य इसको **परमे व्योमन्**-उत्कृष्ट हृदयाकाश में **दधाति**-धारण करता है। हम हृदयों में इसे धारित करते हैं तो यह हमारे शत्रुओं का विध्वंस कर देती है।

भावार्थ—देव तथा ऋषि तपस्या के द्वारा वेदवाणी को प्राप्त करते हैं। यह उनके शत्रुओं का विध्वंस करती है। वस्तुतः इसके धारण से ही देवत्व व ऋषित्व प्राप्त होता है।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्मचारी व गृहस्थ

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ ५ ॥

(१) ब्रह्मचारी-ज्ञान में विचरण करनेवाला, ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करनेवाला, विषः-व्यापक विज्ञानों को (विष व्याप्तौ) वेविषत्-व्याप्त करता हुआ चरति-गति करता है। इस आश्रम में वह अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान प्राप्ति के लिए ही सः-वह देवानाम्-देवों का एकं अंगम्-एक अंग भवति-हो जाता है। देव अंगी हैं, तो यह उनका अंग होता है। उनके प्रति अपने को गौण कर देता है, उनके कहने के अनुसार चलता है। 'मातृदेवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव'-माता, पिता व आचार्य उसके देव होते हैं। उनके आज्ञापालन में चलता हुआ यह उत्कृष्ट ज्ञानी बनता है। (२) तेन-उस देवताओं के अंग बनने से यह जायाम्-ब्रह्मजाया को, वेदवाणी को अन्वविन्दत्-प्राप्त करता है। वेदवाणी को प्राप्त करने के कारण ही यह 'बृहस्पतिः' (बृहत्याः पतिः)-बृहती वेदवाणी का पति बनता है। (३) यह उस ब्रह्मजाया को प्राप्त करता है, जो सोमेन नीताम्-(स+उमा=ब्रह्मविद्या) ब्रह्मविद्या से युक्त सौम्य स्वभाववाले आचार्य से प्राप्त करायी गयी है। उस प्रकार प्राप्त करायी गई है, न-जैसे देवाः-देव जुह्वम्-जुहू, अर्थात् यज्ञ-चमस को प्राप्त कराते हैं। देव यज्ञों की प्रेरणा को देते हुए जैसे हाथों में चम्मच का ग्रहण करते हैं, अर्थात् कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि उत्तम कर्मों को कराते हैं, उसी प्रकार सोम ब्रह्मजाया को प्राप्त कराके ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्रवण करते हैं। (४) प्रस्तुत मन्त्र में प्रसंगवश ब्रह्मचर्याश्रम व गृहस्थाश्रम का सुन्दर संकेत हुआ है। ब्रह्मचारी माता आदि देवों की अधीनता में चलता हुआ ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके बृहस्पति बनकर यह गृहस्थ बनता है और वेद के स्वाध्याय को न छोड़ता हुआ यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—हम ब्रह्मचर्याश्रम में खूब ज्ञान प्राप्त करें और गृहस्थ में यज्ञशील हों।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

वानप्रस्थ

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत। राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ ६ ॥

(१) देवाः-देववृत्ति के पुरुष, गृहस्थ की समाप्ति पर वै-निश्चय से पुनः-फिर अददुः-इस ब्रह्मजाया को औरों के लिए देनेवाले होते हैं। इस प्रकार वानप्रस्थ अपने पाठनरूप नियत कर्म को करता है। उत-और मनुष्याः-ये विचारशील पुरुष पुनः-फिर इस वेदवाणी को देते हैं। 'मत्वाकर्माणि सीव्यति' विचार करके ही कर्मों को करनेवाले ये लोग गृहस्थ से ऊपर उठते हैं और वनस्थ होकर स्वयं स्वाध्याय करते हुए औरों को ज्ञान देते हैं। (२) राजानः-बड़े व्यवस्थित (=regulated) जीवनवाले ये लोग सत्यम्-सत्य को कृण्वानाः-करते हुए, अर्थात् अपने जीवनों में सत्याचरणवाले होते हुए और सत्य प्रभु को प्रकट करते हुए ब्रह्मजायाम्-इस वेदवाणी को पुनः ददुः-फिर से औरों के लिए देने लगते हैं।

भावार्थ—वानप्रस्थ का मुख्य कार्य इस ज्ञान को औरों के लिए देना है। इस कार्य के लिए इन्हें 'देव, मनुष्य व राजा' बनना है। देववृत्ति का बनकर ये अपने को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करते हैं। मनुष्य बनकर विचारपूर्वक कर्म करते हैं और राजा बनकर ये अपने जीवन को बड़ा नियन्त्रित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

संन्यस्त

पु॒न॒र्दाय॑ ब्रह्मजा॒यां कृ॒त्वी दे॒वैर्नि॑किल्बि॒षम्। ऊर्जं॑ पृथि॒व्या भ॒क्त्वायो॑रुगा॒यमुपा॑सते ॥ ७ ॥

(१) वानप्रस्थ में, गत मन्त्र के अनुसार **ब्रह्मजायां पुनः दाय**=ब्रह्मजाया, अर्थात् वेदवाणी को फिर से औरों के लिए देकर तथा **देवैः**=दिव्य गुणों के धारण से **निकिल्बिषं कृत्वी**=अपने जीवन को पापरहित करके और **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर को **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **भक्त्वाय**=सेवन करके **उरुगायम्**=खूब ही गायन के योग्य प्रभु को **उपासते**=ये उपासन करते हैं। (२) संन्यासी के लिए आवश्यक है कि (क) वह अपने जीवन को दिव्य बनाए, पापशून्य उसका जीवन हो। इसके जीवन का ही तो औरों ने अनुकरण करना है। (ख) इसका शरीर स्वस्थ व सबल हो। बिना स्वास्थ्य व सबलता के यह भ्रमण क्या कर पाएगा? परिव्राजकत्व की सिद्धि के लिए शक्ति आवश्यक है, (ग) इस शक्ति को बनाये रखने के लिए ही यह निरन्तर उस 'उरुगाय' प्रभु का गायन करता है।

भावार्थ—शुद्ध तथा सशक्त जीवनवाले बनकर हम संन्यस्त हों। उस उरुगाय प्रभु का गायन करते हुए उसी की ओर लोगों को अभिमुख करें।

प्रस्तुत सूक्त में सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखते हुए ब्रह्मजाया के (वेदवाणी के) आराधन का उल्लेख है प्रसंगवश 'ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासी' के मौलिक कर्त्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है। यह 'जमदग्नि' बनता है, खानेवाली जाठराग्निवाला, अर्थात् ठीक पाचनशक्तिवाला, नीरोग तथा 'राम' होता है, रमण करनेवाला, क्रीड़ा की मनोवृत्ति से व्यवहारों को करनेवाला। यह निम्न प्रकार से आराधना करता है—

[११०] दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दूत-कवि-प्रचेता

समि॑द्धो अ॒द्य मनु॑षो दुरो॒णे दे॒वो दे॒वान्य॑जसि जातवेदः।
आ च॒ वह॑ मित्रमहश्चिकि॒त्वान्त्वं दू॒तः क॒विर॑सि॒ प्रचे॑ताः ॥ १ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अद्य**=आज **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **दुरोणे**=(दुर् ओण्) गृह में **समिद्धः**=दीप्त हुए-हुए आप **देवः**=प्रकाशमय होते हैं। उस मनुष् के शरीररूप इस गृह को आप द्योतित कर देते हैं। **देवान् यजसि**=उसके साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं। (२) **च**=और **चिकित्वान्**=ज्ञानी अथवा (कित निवासे रोगापनयने च) सब रोगों का अपनयन करके निवास को उत्तम बनानेवाले आप हैं। आप **मित्रमहः**=(प्रमीतेः त्रायते: महस्=light, lurtre) सब रोगों व पापों से बचानेवाले तेज को, प्रकाश को **आवह**=प्राप्त कराइये। **त्वं दूतः**=आप ही

ज्ञान के सन्देश को देनेवाले हैं। **कविः असि**=क्रान्तदर्शी-सर्वज्ञ हैं। **प्रचेताः**=प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवन को द्योतित कर दें। वे हमें ज्ञान का सन्देश देते हुए प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का उपदेश

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार आराधना करनेवाले 'राम' को प्रभु कहते हैं कि **तनूनपात्**-तू शरीर को न गिरने देनेवाला हो, तेरा स्वास्थ्य गिर न जाए। **ऋतस्य यानान्**=ऋत के, यज्ञ के व प्रभु के प्राप्त करानेवाले **पथः**=मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करता हुआ, इन्हीं ऋत के प्राप्ति हेतुभूत मार्गों पर चलता हुआ, हे **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले राम! तू **स्वदया**=जीवन को आनन्दमय बनानेवाला हो। (२) **च**=और **धीभिः**=उत्तम बुद्धियों व कर्मों के साथ **मन्मानि**=स्तोत्रों को **उत**=और **यज्ञम्**=यज्ञों को **ऋन्धन्**=समृद्ध करता हुआ **नः**=हमारे इस **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्म को **देवत्रा**=देवों की प्राप्ति के निमित्त **कृणुहि**=कर। अध्वरों के द्वारा तू अपने में दिव्य गुणों को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—हम स्वस्थ, ऋत प्राप्ति के हेतुभूत मार्गों पर चलनेवाले, मधुर, स्तवनशील, यज्ञों को अपनानेवाले तथा दिव्यगुणों की प्राप्ति के हेतुभूत हिंसारहित कर्मों को करनेवाले हों।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आजुह्वान-यजीयान्

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥

(१) **आजुह्वानः**=समन्तात् सब आवश्यक पदार्थों को देते हुए, हे प्रभो! आप **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हो, **वन्द्यः च**=और बन्दना के योग्य हो। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **वसुभिः**=अपने इस शरीर में निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए आप **आयाहि**=हमें प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हम 'वसु' बनें, आपके प्रिय हों, आपको प्राप्त हों। (३) **त्वम्**=आप **देवानाम्**=सब देवों में **यह्वः**=महान् हैं, **होता असि**=सब पदार्थों के देनेवाले व सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले हैं। (४) **सः**=वे आप **इषितः**=प्रार्थित हुए-हुए **एनान् यक्षि**=इन दिव्य गुणों को हमारे साथ संगत करिये। आप **यजीयान्**=यष्टतम हैं, सर्वाधिक पूज्य हैं। आपकी पूजा ही हमारे जीवनों को सुन्दर बनाती है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके उपासक हों, आप हमें दिव्यगुणों से संगत करें।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विशाल-हृदय

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

(१) **बर्हिः**-वासनाशून्य हृदय वही है जो **प्रदिशा**-प्रकृष्ट दिशा से **प्राचीनम्**-आगे और आगे चल रहा है (प्राग् अञ्च्)। वेद में दिये गये प्रभु के आदेशों के अनुसार चलनेवाला हृदय ही 'बर्हिः' है। **अस्याः पृथिव्याः**-इस पार्थिव शरीर के **वस्तोः**-उत्तम निवास के लिए यह हृदय **अह्नाम् अग्रे**-बहुत सवेरे-सवेरे **वृज्यते**-पापों से पृथक् किया जाता है। उषाकाल में प्रबुद्ध होकर प्रभु के आराधन से यह हृदय पवित्र बनाया जाता है। (२) यह **वरीयः**-उरुतर-विशाल-हृदय **उ**-निश्चय से **वि तरम्**-खूब ही **वि प्रथते**-फैलता है, विशाल होता है। यह विशाल हृदय **देवेभ्यः**-सब दिव्यगुणों के लिए होता है, विशालता के साथ दिव्यगुण पनपते हैं। यह विशाल हृदय **अदितये**-स्वास्थ्य के लिए (अ+दिति, दौ अवखण्डने) शरीर की शक्तियों के न खण्डित होने के लिए होता हुआ **स्योनम्**-सुखकर होता है। हृदय के विशाल होने पर शरीर भी स्वस्थ बना रहता है और इस प्रकार यह विशाल हृदय में दिव्यगुणों के विकास का कारण बनता है तो शरीर में यह स्वास्थ्य को देता है। इस प्रकार आधि-व्याधियों से ऊपर उठाकर यह हमें सुखी करता है।

भावार्थ—विशाल हृदयता दिव्यगुणों व स्वास्थ्य को विकसित करके हमें सुखी करती है।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा॥ देवता—आप्रियः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

इन्द्रिय द्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥ ५॥

(१) **न**-जिस प्रकार **जनयः**-पत्नियाँ **शुम्भमानाः**-उत्तम वस्त्रादि से शोभित हुई-हुई **पतिभ्यः**-पतियों के लिए **विश्रयन्ताम्**-विशेषरूप से सेवा करनेवाली होती हैं इसी प्रकार **देवीः द्वारः**-दिव्य गुणोंवाले इन्द्रिय-द्वार **उर्विया**-विस्तार के द्वारा, अपनी-अपनी शक्तियों के विस्तार से शोभित हुए-हुए **व्यचस्वतीः**-व्यापनवाले होकर, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का व्यापन करती हुई और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों का व्यापन करती हुई **विश्रयन्ताम्**-आत्मा का सेवन करनेवाली हों। (२) ये दिव्य इन्द्रिय द्वार **बृहतीः**-वृद्धिवाले हों। **विश्वं इन्वाः**-ये इन्द्रिय द्वारा सब शक्तियों का व्यापन करते हुए **देवेभ्यः**-देववृत्ति के पुरुषों के लिए **सुप्रायणाः भवत**-उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों। अपने-अपने कार्यों को अच्छी प्रकार करती हुई इन्द्रियाँ मनुष्य को देव बनानेवाली होती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को विकसित शक्तिवाला व उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बनाकर हम देव बनें।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा॥ देवता—आप्रियः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उषासानक्ता

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ ६॥

(१) **उषासानक्ता**-दिन और रात **सुष्वयन्ती**-(सुष्ठु सु अयन्ती) उत्तम गतिवाले होते हुए, **यजते**-देव-पूजनादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हुए, **उपाके**-(उप अञ्च्) प्रभु की उपासनावाले होकर **योनौ**-उस मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **अनिसदताम्**-सर्वथा नम्रतापूर्वक आसीन हों। दिन-रात का प्रभु में आसीन होने का भाव यह है कि हम सदा प्रभु का स्मरण करें, प्रभु को कभी भूलें नहीं। इनमें हम सदा उत्तम गतिवाले हों, यज्ञों में प्रवृत्त हों, उपासनामय जीवनवाले हों। (२)

ये दिन-रात हमारे लिए **दिव्ये**-प्रकाशमय हों। **योषणे**-हमें बुराइयों से पृथक् करनेवाले हों। **बृहती**-हमारी वृद्धि के कारण बनें **सुरुक्मे**-उत्तम तेज:कान्तिवाले हों। **शुक्रपिशम्**-वीर्य है निर्माण करनेवाला जिसका उस **श्रियम्**-श्री को **अधिदधाने**-आधिक्येन धारण करनेवाले हों।

भावार्थ—दिन-रात हमारी वृद्धि का ही कारण बनें। इनमें उत्तम कार्यों को करते हुए हम वीर्यरक्षण के द्वारा श्री-वृद्धि को करनेवाले हों।

ऋषि:—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रिय: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

दैव्या होतारा-प्राणापान

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योति: प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥

(१) ये प्राणापान **दैव्या**-उस देव द्वारा शरीर में स्थापित किये गये **होतारा**-होता हैं, ये ही वस्तुत: इस जीवनयज्ञ को चला रहे हैं। **प्रथमा**-शरीरस्थ देवों में इनका स्थान सर्वोपरि है। इनकी क्रिया की समाप्ति के साथ जीवनयज्ञ समाप्त हो जाता है। **सुवाचा**-ये उत्तम वाणीवाले हैं। प्राणापान की शक्ति पर ही वाणी की शक्ति निर्भर करती है। प्राणापान की क्षीणता से वाणी क्षीण हो जाती है। (२) ये प्राणापान **मनुष: यजध्यै**-विचारशील पुरुष के उस प्रभु के साथ मेल के लिए होते हैं (यज्=संगतिकरण)। (३) **यज्ञं मिमाना**-ये निरन्तर यज्ञों का निर्माण करनेवाले हैं। **विदथेषु प्रचोदयन्ता**-ज्ञानयज्ञों में प्रेरित करनेवाले हैं। प्राणापान की साधना से शक्ति व पवित्रता का सम्पादन होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा सदा उत्तम यज्ञात्मक कर्म होते रहते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ सदा ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहती हैं। (४) **कारू**-प्राणापान कलापूर्ण ढंग से सब कार्यों को करनेवाले हैं। इनकी शक्ति से सब कार्य सुन्दरता से होते हैं। ये प्राणापान **प्रदिशा**=प्रकृष्ट दिशा से, उत्तम मार्ग से **प्राचीनं ज्योति:**=(प्राग् अञ्चनं) उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले सनातन ज्ञान को **दिशन्ता**-हमें प्राप्त कराते हैं, हमारे लिए उस ज्ञान का उपदेश करते हैं। प्राणसाधना से अशुद्धिक्षय होकर अन्तर्ज्योति का प्रादुर्भाव होता है।

भावार्थ—प्राणापान हमें पवित्र कर्मोंवाला तथा उत्कृष्ट ज्ञानवाला बनाकर प्रभु से मिलाते हैं।

ऋषि:—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रिय: ॥ छन्द:—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

भारती-इडा-सरस्वती

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपस: सदन्तु ॥ ८ ॥

(१) **न: यज्ञम्**-हमारे जीवनयज्ञ में **भारती**=(भरत आदित्य:) आदित्य के समान देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति **तूयं एतु**-शीघ्रता से प्राप्त हो। हमारा जीवनयज्ञ ज्ञानसूर्य की ज्योति से दीप्त हो। (२) **मनुष्वत्**-एक ज्ञानी पुरुष को जैसा चाहिए, उस प्रकार **इह**-इस जीवनयज्ञ में **चेतयन्ती**-चेतना-संज्ञान को प्राप्त कराती हुई **इडा**-श्रद्धा भी हमें शीघ्रता से प्राप्त हो। 'ज्ञान' श्रद्धा को दीप्त करे, और 'श्रद्धा' ज्ञान को सौम्य बनाए। श्रद्धा के अभाव में जीवनयज्ञ की पवित्रता समाप्त हो जाती है। प्रकृति का ज्ञान भोगसाधनों को बढ़ाने में ही लगा रहता है। (३) भारती व इडा के साथ **'सरस्वती'**=सरस्वती भी हमें प्राप्त हो। 'सरस्वती' शब्द यहाँ प्रवाह (सरस्) से चलनेवाली संस्कृति व सभ्यता के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्य भाषा में यह 'शिष्टाचार' का प्रतिपादन कर

रही है। ये **तिस्रः देवीः**-तीनों ही देवताएँ **स्वपसः**-(सु अपस्) उत्तम कर्मोंवाली होती हुई **इदम्**-इस **स्योनम्**-सुखमय **बर्हिः**-वासनाशून्य हृदय में 'आसदन्तु' आसीन हों। 'भारती' हमारे मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है, तो 'इडा' मन को पवित्र बनाती है और 'सरस्वती' हमारे हाथों से होनेवाले कर्मों को उत्तम व सभ्यतापूर्ण बनानेवाली है, हमारे जीवनों में तीनों देवताओं का स्थान हो। ये हमें उज्ज्वलता, पवित्रता व उत्तमता को प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—'भारती, इडा व सरस्वती' हमारे जीवन-जगत् की तीन ज्योतियाँ हों।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्वष्टा का उपासन

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥

(१) **यः**-जो (त्वष्टा) संसार का निर्माता दीप्तिमान् प्रभु (त्वक्षतेर्वा निषतेर्वा) **इमे**-इन **विश्वा भुवनानि जनित्री**-सब लोकों को अपने में प्रादुर्भूत करनेवाली **द्यावापृथिवी**-द्यावापृथिवी को, द्युलोक व पृथिवीलोक को **रूपैः**-रूपों से **अपिंशत्**-अलंकृत करता है, सुन्दर बनाता है। हे ज्ञानिन्! **तं देवं त्वष्टारम्**-उस देदीप्यमान निर्माता दीप्तिमान् प्रभु को **अद्य**-आज **इह**-इस जीवन में **यक्षि**-संगत कर, उसका पूजन करनेवाला बन। (२) हे **होतः**-उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले जीव! **इषितः**-उस प्रभु से प्रेरित हुआ तू **यजीयान्**-अधिक से अधिक प्राणियों से मेल करनेवाला, यज्ञशील व **विद्वान्**-ज्ञानी बनेगा। वे प्रभु सब लोकों को सुरूप करते हैं, तेरे जीवन को भी उत्तम रूप से अलंकृत करेंगे। प्रभु की दीप्ति से तेरा जीवन भी दीप्त हो उठेगा।

भावार्थ—हम त्वष्टा के उपासक बनें। वे हमारे जीवन को दीप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'मधु-घृत-हव्य'

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥

(१) हे जीव! तू **त्मन्या**-स्वयं **देवानां पाथे**-देवताओं के मार्ग पर **समञ्जन्**-सम्यक् चलता हुआ (अञ्ज्=गतौ) **ऋतुथा**-समय के अनुसार **हवींषि**-हव्य पदार्थों को, यज्ञशेष रूप अमृत को ही **उप अवसृज**-प्रभु की उपासना के साथ अपने उदर में डालनेवाला हो। वस्तुतः इन हव्य पदार्थों के सेवन से ही वृत्ति सात्त्विक बनती है और हम देवों के मार्ग पर चलते हैं। (२) इन हव्य पदार्थों के सेवन से जीव **वनस्पतिः**-ज्ञान की रश्मियों का पति बनता है, **शमिता**-बड़े शान्त स्वभाव का होता है, **देवः**-देववृत्ति का बनता है, **अग्निः**-प्रगतिशील होता है। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि वे **मधुना-घृतेन**-मधु (शहद) व घृत के साथ **हव्यं स्वदन्तु**-हव्य पदार्थों को ही खानेवाले हों। सात्त्विक भोजन से ही जीवन सात्त्विक बनेगा।

भावार्थ—हम 'मधु, घृत व हव्य' पदार्थों का सेवन करते हुए सात्त्विक वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—जमदग्नी रामो वा ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञमय जीवन-यज्ञशेष का सेवन

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

(१) आचार्यकुल से जिस दिन समावृत होकर विद्यार्थी पुनः घर आता है उस दिन यह उसका द्वितीय जन्म कहलाता है। **जातः**-आचार्य गर्भ से आज द्वितीय जन्म को प्राप्त करनेवाला यह समावृत्त हुआ-हुआ युवक **सद्यः**-शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**-गृहस्थ यज्ञ को निर्मित करता है, गृहस्थ बनकर पञ्च महायज्ञों का करनेवाला होता है। **अग्निः**-यह प्रगतिशील होता है। आगे और आगे बढ़ता हुआ **देवानाम्**-देवों का **पुरोगाः**-अग्रगामी **अभवत्**-होता है। (२) ये **देवाः**-देववृत्तिवाले गृहस्थ पुरुष **अस्य होतुः**-इस सब पदार्थों के देनेवाले प्रभु की **प्रदिशि**-प्रकृष्ट प्रेरणा में, **ऋतस्य वाचि**-सत्यज्ञान की वाणी में, अर्थात् वेद के कथनानुसार **स्वाहाकृतम्**-यज्ञों में आहुत की गई **हविः**-हवि को **अदन्तु**-खाएँ। अर्थात् यज्ञ करके यज्ञावशिष्ट भोजन को ही करनेवाले हों। यह यज्ञशेष ही तो इन्हें अमर बनाएगा, रोगी न होने देगा। प्रभु ने वेद में जिन पदार्थों के ग्रहण करने का निर्देश किया है, हम उन्हीं पदार्थों को ग्रहण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारा गृहस्थ जीवन यज्ञमय हो। यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले हम अमरता (नीरोगता) का लाभ प्राप्त करें।

सूक्त की मूल भावना यही है कि हम प्रभु का उपासन करें, यज्ञमय जीवन बिताएँ, यज्ञशेष का सेवन करते हुए अमर (नीरोग) बनें। ऐसा होने पर ही यह सम्भव है कि हम 'पञ्चभूत तथा मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठों को दीप्त व निर्मल करके 'अष्टादंष्ट्र'-बने (दंश् to shine)। ऐसा बनेंगे तो हम निश्चय से अत्यन्त विशिष्ट रूपवाले 'वैरूप' होंगे। अगला सूक्त इस ऋषि 'अष्टादंष्ट्र वैरूप' का ही है—

[१११] एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अष्टादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनीषा का प्रभरण

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथायथा मतयः सन्ति नृणाम्।
इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः ॥ १ ॥

(१) हे **मनीषिणः**-बुद्धिमान् पुरुषो! **मनीषां प्रभरध्वम्**-मन को वश में करनेवाली (मनसः ईशित्रीम्) बुद्धि का **प्रभरध्वम्**-खूब ही भरण करो। इस प्रकार बुद्धि का भरण करो **यथा यथा**-जिससे कि उत्तरोत्तर **नृणम्**-मनुष्यों के **मतयः**-ज्ञान **सन्ति**-प्रादुर्भूत होते चलें। बुद्धि के बिना ज्ञानवृद्धि का सम्भव कहाँ? (२) इस प्रकार बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर ज्ञानवृद्धि को करते हुए हम **इन्द्रम्**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सत्यैः कृतेभिः**-सत्य कर्मों के द्वारा **एरयाम**-अपने अन्दर प्रेरित करनेवाले हों। वस्तुतः उत्तमता से किये गये कर्मों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है। **सः**-वे प्रभु **हि**-ही **वीरः**-विशिष्टरूप से हमारे काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। **गिर्वणस्युः**-स्तोताओं को हित को चाहनेवाले हैं तथा **विदानः**-ज्ञानस्वरूप हैं, उपासकों के जीवन को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हुए ज्ञान का सम्पादन करें। सत्यकर्मों द्वारा प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नियामक व धारक प्रभु

ऋतस्य हि सदसो धीतिरद्यौत्सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट्।
उदतिष्ठत्तविषेणा रवेण महान्ति चित्सं विव्याचा रजांसि ॥ २ ॥

(१) **ऋतस्य**=ऋत का, सब प्राकृतिक नियमों का तथा **सदसः**=सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठानभूत आकाश का **धीतिः**=धारक वह प्रभु **अद्यौत्**=सूर्य के समान देदीप्यमान है। प्रभु नियामक हैं व धारक हैं। (२) वे प्रभु **गार्ष्टेयः**=सकृत् प्रसूत होनेवाली इस प्रकृतिरूप गौ के स्वामी हैं। प्रकृति प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में एक सन्तत प्रयत्न में ही इस विकृतिरूप सृष्टि को जन्म दे देती है। इस संसार के पदार्थों के द्वारा वे प्रभु **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। ये प्रभु **गोभिः**=ज्ञानरश्मियों के साथ **सं आनट्**=सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। **तविषेण रवेण**=प्रभु के महान् शब्द से **उद् अतिष्ठत्**=यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उठ खड़ा होता है। प्रभु शब्द करते हैं और प्रकृति इस विकृति के रूप में आ जाती है। यही शब्द द्वारा सृष्टि का निर्माण है। (३) वे प्रभु इन **महान्ति चित्**=अत्यन्त महान्, विशाल भी **रजांसि**=लोकों को **संविव्याच**=व्याप्त कर रहे हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, सबके अन्दर व्याप्त होकर वे उन लोकों का नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के नियमों के व आधारभूत आकाश के धारक हैं। प्रभु के शक्तिशाली शब्दों से इन लोकों का निर्माण होता है। इन सब में वे व्याप्त हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जिष्णुः-अच्युतः

इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत्सूर्याय।
आन्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद्गोः पतिर्दिवः सनजा अप्रतीतः ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **किल**=निश्चय से **अस्य श्रुत्यै**=इसकी प्रार्थना को सुनने के लिए **वेद**=जानते हैं। अर्थात् 'प्रभु हमारी प्रार्थना को न सुनें' यह बात नहीं है। परन्तु मूर्खतावश की गई प्रार्थना को वह अनसुना कर देते हैं। उनको पूरा करके उन्हें हमारा विनाश थोड़े ही करना है? **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **जिष्णुः**=विजयशील हैं। हमें जो भी विजय प्राप्त होती है, वह प्रभु ही कराते हैं। **सूर्याय पथिकृत्**=इन सूर्य आदि पिण्डों के लिए वे ही मार्ग को बनाते हैं। चराचर सभी को प्रभु ही नियम में चला रहे हैं। (२) **आत्**=सृष्टि को बनाने के बाद एकदम ही वे प्रभु **मेनाम्**=इस ज्ञान देनेवाली मननीय वेदवाणी को **कृण्वन्**='अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदय में स्थापित करते हैं। **अच्युतः**=वे प्रभु किसी भी अधिक शक्तिशाली के द्वारा अपनी नियम व्यवस्था से च्युत नहीं किये जाते। वे प्रभु ही **गोः**=इस पृथिवी के तथा **दिवः**=द्युलोक के **पतिः**=स्वामी हैं। **सनजाः**=सदा से विद्यमान हैं। **अप्रतीतः**=किसी भी शत्रु से गन्तव्य नहीं है, अद्वितीय शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे लिए विजय को करते हैं। वे ही द्यावापृथिवी के स्वामी हैं। अनुपम शक्ति से चराचर का नियमन कर रहे हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

महान् अर्णव का शोषण (काम-विनाश)

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य व्रतामिनादङ्गिरोभिर्गृणानः।
पुरूणि चिन्नि तताना रजांसि दाधार यो धरुणं सत्यताता ॥ ४ ॥

(१) अंगिरोभिः-(अगि गतौ) गतिशील-क्रियामय जीवनवाले पुरुषों से गृणानः-स्तुति किया जाता हुआ इन्द्रः-सब शत्रुओं का विदारण करनेवाला प्रभु मह्ना-अपनी महिमा से महतः अर्णवस्य-इस विशाल समुद्र तुल्य काम (कामो हि समुद्रः) के व्रता-व्रतों को अमिनात्-हिंसित करता है। काम का व्रत 'मदनो मन्मथो भारः' इन नामों से ध्वनित हो रहा है। यह मनुष्य को (क) नशे में ले जाता है, (ख) उसकी चेतना को नष्ट करता है और (ग) उसे समाप्त कर देता है। (२) वे प्रभु चित्-निश्चय से पुरूणि-पालित व पूरित रजांसि-लोकों को नितताम-निश्चय से विस्तृत करते हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंग ही यहाँ लोक हैं। काम के विनाश के द्वारा प्रभु इन सब लोकों को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। इन लोकों में रोग व मलिनताओं का वास नहीं होता। (३) इस प्रकार प्रभु वे हैं यः-जो सत्यताता-सत्य का विस्तार होने पर धरुणम्-धारक बल को दाधार-हमारे में धारण करते हैं। इस धरुण को प्राप्त करके हम सुन्दर दीर्घ जीवनवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु काम समुद्र का शोषण करके हमारी शक्तियों का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

निर्माता व धारक प्रभु

इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम्।
महीं चिद् द्यामातनोत्सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कभीयान् ॥ ५ ॥

(१) इन्द्रः-यह परमैश्वर्यशाली प्रभु दिवः-द्युलोक का तथा पृथिव्याः-पृथिवीलोक का प्रतिमानम्-प्रतिमान है, बनानेवाला है। विश्वा सवना-सब लोकों को ये वेद-जानते हैं। प्रभु के ज्ञान से कुछ भी तिरोहित नहीं। ये प्रभु ही शुष्णम्-हमारा शोषण करनेवाले इस काम को हन्ति-नष्ट करते हैं। (२) काम को नष्ट करके, ज्ञान के आवरणभूत वृत्र को समाप्त करके, प्रभु चित्-निश्चय से महीं द्याम्-इस महनीय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क रूप द्युलोक को सूर्येण-ज्ञानरूप सूर्य से आतनोत्-प्रकाशयुक्त करके विस्तृत करते हैं। प्रभु वासनारूप आवरण को दूर करते हैं और ज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश को सर्वत्र विस्तृत करते हैं। (३) स्कभीयान्-ये धारण करनेवालों में उत्तम प्रभु स्कम्भनेन-अपनी धारक शक्ति से चास्कम्भ-इस ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु ही सबके आधार हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ब्रह्माण्ड के निर्माण व धारण करनेवाले हों। ये ही वासनावृत्र को विनष्ट करके हमारे जीवनों में ज्ञान-सूर्य का उदय करते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृत्र-माया-विनाश

वज्रेण हि वृत्रहा वृत्रमस्तरदेवस्य शूशुवानस्य मायाः।
वि धृष्णो अत्र धृषता जघन्थाथाभवो मघवन्बाह्वोजाः ॥ ६ ॥

(१) वृत्रहा=वासनारूप शत्रु का नष्ट करनेवाला प्रभु हि=निश्चय से वज्रेण=क्रियाशीलतारूप वज्र से वृत्रम्=वासनारूप शत्रु को अस्तः (अस्तृणाः)=परे फेंकते हैं। वे प्रभु अत्र=इस हमारे जीवन में अदेवस्य=अन्धकार को उत्पन्न करनेवाले (दिव्) शूशुवानस्य=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए धृष्णः=हमारा धर्षण करनेवाले कामासुर की मायाः=प्रतारक गतियों को धृषता=ज्ञान की धर्षक शक्ति द्वारा वि जघन्थ=नष्ट करते हैं। (२) हे मघवन्=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! अध=अब वृत्र विनाश के बाद आप बाह्वोजाः=बाहुओं में ओजवाले अभवः=होते हैं। वासना विनाश से शक्ति का रक्षण होता है, हम ओजस्वी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान का वर्धन करके हमारी वासना को विनष्ट करते हैं। इस प्रकार वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषा का सूर्य से मेल

सचन्त यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन्।
आ यन्नक्षत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो नकिरद्धा नु वेद॥ ७॥

(१) अपने दोषों के दहन की वृत्तिवाले पुरुष 'उषस्' कहलाते हैं 'उष दाहे'। यद्=जब उषसः=ये दोष-दहन की वृत्तिवाले पुरुष सूर्येण=उस प्रेरक प्रभु के साथ सचन्त=संगत होते हैं, उस 'सूर्य' के समान देदीप्यमान ज्योतिवाले प्रभु का उपासन करते हैं, तो अस्य=इस प्रभु की केतवः=ज्ञान रश्मियाँ चित्रां राम्=अद्भुत रयि को, अद्भुत ज्ञानैश्वर्य को अविन्दन्=प्राप्त कराती हैं। उपासक का ज्ञान भी अद्भुत दीप्तिवाला हो जाता है। (२) न=जैसे द्युलोक के सब नक्षत्र दिखते हैं, इसी प्रकार जब इस उपासक के जीवन में दिवः=ज्ञान के प्रकाश के कारण आ=चारों ओर यत्=जो नक्षत्रम्=विज्ञान के नक्षत्र हैं वे ददृश=प्रकट होते हैं। इस उपासक का जीवन ज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त होता है। इस प्रकार का जीवन बनाकर पुनः यतः=फिर अपने ब्रह्मलोक रूप गृह के प्रति लौटते हुए इस उपासक के विषय में अद्धा=सचमुच साक्षात् रूप से नकिः नु वेद=कोई भी नहीं जानता है। मुक्त होकर यह ब्रह्म में किस प्रकार विचरता है? क्या करता है? इन बातों का किसी को ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता।

भावार्थ—दोष-दग्ध करने की वृत्तिवाला पुरुष प्रभु से मिलने पर ज्ञान-ज्योति से चमक उठता है और लौटकर ब्रह्मलोक रूप गृह में निवास करता है।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

रेतःकणों का शरीर में व्यापन

दूरं किल प्रथमा जग्मुरासामिन्द्रस्य याः प्रसवे सस्रुरापः।
क्व स्विदग्रं क्व बुध्न आसामापो मध्यं क्व वो नूनमन्तः॥ ८॥

(१) याः=जो आपः=रेतःकणरूप जल इन्द्रस्य=उस शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभु की प्रसवे=प्रेरणा में सस्रुः=शरीर के अन्दर ही गति करते हैं, आसाम्=इन रेतःकणों के प्रथमाः=सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाले कण किल=निश्चय से दूरं जग्मुः=शरीर में दूर-दूर पहुँचनेवाले होते हैं। रुधिर में व्याप्त होकर ये शरीर में सर्वत्र पहुँचते हैं। (२) आसाम्=इन रेतःकणों का अग्रं क्व स्वित्=भला अग्रभाग कहाँ है? इनका बुध्नः=मूल क्व=कहाँ है? हे आपः=रेतःकणो! वः मध्यं

क्व-तुम्हारा मध्य कहाँ है? सर्वत्र व्याप्त होने से इनका आदि, मध्य व मूल नहीं कहा जा सकता। बस इतना ही कह सकते हैं कि नूनम्-निश्चय से ये अन्तः-शरीर के अन्दर हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से रेतःकणों का शरीर में ही रक्षण होता है और वे शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर शरीर को नीरोग निर्मल व दीप्त बनाते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अहिग्रसन से (छुटकारा) मुक्ति

सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानाँ आदिदेताः प्र विविज्रे जवेन।
मुमुक्षमाणा उत या मुमुच्रेऽधेदेताः न रमन्ते नितिक्ताः ॥ ९ ॥

(१) कामवासना 'वृत्र' कहलाती है, यह ज्ञान पर आवरण रूप होती है। यह हमारा विनाश करने के कारण 'अहि' (आहन्ति) कही जाती है। यह शरीर में प्रवाहित होनेवाले (स्पन्दने) रेतःकणों को विनष्ट करती है मानो उन्हें ग्रस लेती है। हम प्रभु का उपासन करते हैं तो प्रभु इस अहि से इन सिन्धुओं को मुक्त करता है, तब ये शरीर में व्याप्त होनेवाले होते हैं। **अहिना**-वासनारूप सर्प से **जग्रसानान्**-निरन्तर ग्रसे जाते हुए **सिन्धून्**-इन शरीर में प्रवाहित होनेवाले रेतःकणों को, हे प्रभो! आप ही **सृजः**-मुक्त करते हैं। वासना रूप अहि से मुक्त होने पर **एताः**-ये रेतःकण **आत् इत्**-शीघ्र ही **जवेन**-वेग से **प्रविविज्रे**-शरीर में सर्वत्र गतिवाले होते हैं (विज्-चलने)। (२) **मुमुक्षमाणाः**-उस प्रभु के द्वारा वासनारूप अहि से मुक्त किये जाने के लिए चाहे जाते हुए हैं **उत**-और **याः**-जो **मुमुच्रे**-मुक्त किये गये हैं, **एताः**-ये सब रेतःकण **अध इत्**-इस वासना से मुक्ति के बाद **नितिक्ताः**-नितरां तीव्र गतिवाले हुए-हुए **न रमन्ते**-विषय क्रीड़ा में नहीं ठहरते। विषय क्रीडा से ऊपर उठकर ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से रेतःकण वासनाओं से ग्रस्त न होकर, हमें तीव्र गति से प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर ले चलते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जारः-आरितः-पूर्भिद्

सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्त्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम्।
अस्तमा ते पार्थिवा वसून्यस्मे जग्मुः सूनृता इन्द्र पूर्वीः ॥ १० ॥

(१) **सध्रीचीः**-(सह अञ्च्) प्रभु के साथ मिलकर चलनेवाली **उशतीः इव**-पति प्राप्ति की कामनावाली पत्नियों की तरह प्रभु प्राप्ति की कामनावाली प्रजाएँ **सिन्धुं आयन्**-इस प्रवहणशील रेतःकणरूप सोमशक्ति को **आयन्**-प्राप्त होती हैं। **सनात्**-सनातन काल से **जारः**-शत्रुओं को जीर्ण करनेवाला वह **आरितः**-हृदय में जाया गया, अर्थात् जिसका हृदय में ध्यान किया गया है, ऐसा वह प्रभु **आसाम्**-इन प्रजाओं की **पूर्भित्**-शत्रु पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। इनके विदारण से ही वस्तुतः सोम का शरीर में रक्षण हुआ करता है। (२) हे प्रभो! इन शत्रु पुरियों के विनाश के होने पर **ते**-आपके **पार्थिवा वसूनि**-पार्थिव धन तो **अस्मे**-हमारे **अस्तं आ जग्मुः**-घर में प्राप्त हों तथा **इन्द्र**-हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **पूर्वीः**-हमारा पालन व पूरण करनेवाली अथवा सृष्टि के आरम्भ में दी गई **सूनृताः**-प्रिय सत्य वेदवाणियाँ भी हमें प्राप्त हो। इनमें दिये गये निर्देशों के अनुसार पार्थिव धनों का प्रयोग करते हुए हम सुखी जीवन बिता पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करके हमारे जीवन को ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाएँगे।

सूक्त की मुख्य भावना यह है कि प्रभु हमें बुद्धि देते हैं। इसके द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हम वासना को विनष्ट करके चमक उठते हैं। ज्ञान 'सूर्य' है, तो वासना उसके प्रकाश पर आवरणरूप से आ जानेवाले बादल के समान है। इस बादल को, नभस् को नष्ट करनेवाला 'नभः प्रभेदनः' अगले सूक्त का ऋषि है। यह विशिष्टरूपवाला होने से 'वैरूप' है। यह आत्म-प्रेरणा देता हुआ कहता है कि—

[११२] द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र का प्रातःसवन में सोमपान

इन्द्र पिबं प्रतिकामं सुतस्यं प्रातःसावस्तव हि पूर्वपीतिः।
हर्षस्व हन्तवे शूर शत्रूनुक्थेभिष्टे वीर्या३ प्र ब्रवाम॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **प्रतिकामम्**=प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम का, वीर्य का **पिब**=शरीर में ही पीने का, व्याप्त करने का प्रयत्न कर। यह इस सोम का **प्रातःसावः**=जीवन के प्रातःकाल, अर्थात् बाल्य में सवन व उत्पादन है। यह **हि**=निश्चय से **तव**=तेरी **पूर्वपीतिः**=तेरा पालन व पूरण करनेवाला पान है। इसके पान से तेरा शरीर रोगों से आक्रान्त न होगा और मन राग-द्वेष से पूर्ण न होगा। (२) हे **शूर**=कामादि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले! तू **शत्रून्**=इन शत्रुओं को **हन्तवे**=मारने के लिए **हर्षस्व**=प्रसन्नता का अनुभव कर। **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा अपने में उत्पन्न किये गये **ते**=तेरे **वीर्या**=वीर्यों का **प्रब्रवाम**=हम शंसन करते हैं। प्रभु-स्तवन से तेरे में शक्ति उत्पन्न होती है और उस शक्ति के द्वारा तू कामादि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला होता है। इनके विनाश से सोम का रक्षण करके तू अपनी सब कामनाओं को पूर्ण कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से वासनाओं को विनष्ट करके हम सोम का रक्षण करें। रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण से सशक्तता व प्रसन्नता

यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि।
तूयमा ते हरयः प्र द्रवन्तु येभिर्यासि वृषभिर्मन्दमानः॥ २॥

(१) प्रभु अपने सखा जीव को प्रेरणा देते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **यः**=जो **ते**=तेरा **रथः**=यह शरीररूप रथ है, जो रथ **मनसः जवीयान्**=मन से भी अधिक वेगवान् है, अर्थात् खूब शक्ति-सम्पन्न है, **तेन**=उस रथ के हेतु से, उस रथ की शक्ति को स्थिर बनाए रखने के लिए **सोमपेयाय**=सोम के शरीर में ही पान करने के लिए **याहि**=तू गतिशील हो। तेरा सारा प्रयत्न सोम को शरीर में सुरक्षित करने के लिए हो। (२) **ते हरयः**=तेरे ये इन्द्रियाश्व **तूयम्**=शीघ्रता से **आप्रद्रवन्तु**=समन्तात् अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हों। वस्तुतः इनके स्वकार्य में प्रवृत्त होने से ही हम वासनाओं से बचते हैं और सोम का रक्षण कर पाते हैं। उन इन्द्रियाश्वों से तू कार्यों में प्रवृत्त हो **येभिः वृषभिः**=जिन शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से **मन्दमानः**=हर्ष का अनुभव करता हुआ

तू यासि=गति करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर-रथ ठीक सशक्त बना रहता है। इस सोमरक्षण से ही इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनकर स्वकार्यों में प्रवृत्त होती हुई हमारे जीवनों को सुखी बनाती हैं।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वर्चस्-श्रेष्ठ रूप व आनन्द

हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठै रूपैस्तन्वं स्पर्शयस्व।
अस्माभिरिन्द्र सखिभिर्हुवानः सध्रीचीनो मादयस्वा निषद्य॥ ३॥

(१) **सूर्यस्य**=सूर्य के **हरित्वता**=सब रोगों का हरण करनेवाले, अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी **वर्चसा**=वर्चस् से, शक्ति से तथा **श्रेष्ठैः रूपैः**=सब अंगों के उत्तम रूपों से **तन्वम्**=अपने शरीर को **स्पर्शयस्व**=स्पृष्ट कर। गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हम सूर्य के समान वर्चस्वी बनें तथा हमारे सब अँग श्रेष्ठ रूपोंवाले हों। (२) हे **इन्द्र**=पैरमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्माभिः सखिभिः**=हम मित्रों के द्वारा **हुवानः**=पुकारे जाते हुए आप **सध्रीचीनः**=सदा हमारे साथ गति करते हुए, अर्थात् सदा हमें कर्मों के लिए शक्ति देते हुए **निषद्य**=हमारे हृदयों में आसीन होकर **मादयस्व**=हमारे जीवन को आनन्द से युक्त कीजिए। आपकी सत्ता को अपने में अनुभव करते हुए हम आनन्द को प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु का सम्पर्क हमें तेजस्वी-श्रेष्ठ रूपोंवाला व आनन्दयुक्त करे।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-शक्ति तथा भक्ति

यस्य त्यत्ते महिमानं मदेष्विमे मही रोदसी नाविविक्ताम्।
तदोक आ हरिभिरिन्द्र युक्तैः प्रियेभिर्याहि प्रियमन्नमच्छ॥ ४॥

(१) **यस्य**=जिस **ते**=तेरी **त्यत्**=प्रसिद्ध **महिमानम्**=महिमा को, **इमे**=ये **मही रोदसी**=महत्त्वपूर्ण-उत्कर्ष को प्राप्त हुए-हुए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मदेषु**=मदों में न **अविविक्ताम्**=पृथक् नहीं करते हैं। **तद् ओकः**=वस्तुतः वही घर है। यहाँ द्यावापृथिवी से अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर है। महिमा का भाव 'मह पूजायाम्' से 'पूजा की वृत्ति' है। मस्तिष्क को ज्ञान का गर्व हो जाता है जबकि मनुष्य प्रभु को भूल जाता है। इसी प्रकार प्रभु की विस्मृति में शरीर को शक्ति का गर्व हो जाता है। परन्तु यदि 'ज्ञान व शक्ति' प्रभु की पूजा को अपने से पृथक् न करें और ये तीनों ही चीजें एकत्रित हो जाएँ तो शरीर रूप गृह बड़ा सुन्दर बन जाता है। 'मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में शक्ति, हृदय में प्रभु की महिमा (=पूजा की भावना)' बस और क्या चाहिए? ऐसा होने पर यह शरीर गृह सुन्दरतम प्रतीत होने लगता है। गृह तो वही गृह है 'तद् ओकः'। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! ऐसे शरीर-गृह को प्राप्त करने के लिए **युक्तैः**=अपने-अपने कार्य में जुटे हुए **प्रियेभिः**=अत्यन्त प्रीणनकारी (कान्त व सुन्दर) **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों से **प्रियम्**=तृप्तिजनक व चाहने योग्य **अन्नम्**=सात्त्विक अन्न को **अच्छ**=लक्ष्य करके **आयाहि**=तू समन्तात् प्राप्त हो। शरीर-गृह को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक है कि (क) पुरुष जितेन्द्रिय हो (इन्द्र), (ख) इन्द्रियों को कार्य व्यापृत व प्रिय बनाया जाए (युक्तैः प्रियेभि), (ग) अकर्मण्यता न हो (आयाहि), (घ) सात्त्विक अन्न का ही सेवन किया जाए (प्रियमन्नम् अच्छ)।

भावार्थ—शरीर रूप गृह का सौन्दर्य इस बात में है कि मस्तिष्क में गर्वरहित ज्ञान हो शरीर में इसी प्रकार शक्ति तथा हृदय में भक्ति।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरन्धि-तविषी

यस्य॒ शश्व॑त्पपि॒वाँ इ॑न्द्र॒ शत्रू॑ननानुकृ॒त्या रण्या॑ च॒कर्थ॑।
स ते॒ पुर॑न्धिं॒ तवि॑षीमियर्ति॒ स ते॒ मदा॑य सु॒त इ॑न्द्र॒ सोमः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यस्य**=जिसका **शश्वत्**=सदा-निरन्तर **पपिवान्**=पान करनेवाला तू **शत्रून्**=शत्रुओं को **अनानुकृत्या रण्या**=अनुपम रणकार्य से **चकर्थ**=(कृ विक्षेपे) हिंसन करता है **स सोमः**=वह सोम (वीर्यशक्ति) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **ते**=तेरी **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक बुद्धि को तथा **तविषीम्**=बल को **इयर्ति**=प्रेरित करता है। सोम के शरीर में रक्षित होने पर मस्तिष्क 'पुरन्धि' से व्याप्त होता है, शरीर 'तविषी' से। इन से युक्त होकर यह 'सोमी' पुरुष सब अन्तःशत्रुओं का विनाश करता है। वास्तविकता तो यह है कि यह अक्रोध से बाह्य शत्रुओं के क्रोध पर भी विजय प्राप्त करता है और इस प्रकार इस अनुपम रणकर्म से सब शत्रुओं को समाप्त करनेवाला होता है। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले आत्मन्! **स सोमः**=वह सोम **ते मदाय**=तेरे हर्ष के लिए हो। इसके सुरक्षण से अन्तःशत्रुओं व बाह्य शत्रुओं को जीतकर तू शरीर में शक्ति (तविषी) तथा मस्तिष्क में पुरन्धि से युक्त होकर आनन्दमय जीवनवाला बन।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। पुरन्धि व तविषी का सम्पादन करें। यही जीवन को आनन्दमय बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मदिर मधु से परिपूर्ण 'आहाव'

इ॒दं ते॒ पात्रं॒ सन॑वित्तमिन्द्र॒ पिबा॒ सोम॑मे॒ना श॑तक्रतो।
पूर्ण आ॑हा॒वो म॑दि॒रस्य॒ मध्वो॒ यं विश्व॒ इद॑भि॒हर्य॑न्ति दे॒वाः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इदम्**=गत मन्त्र में वर्णित यह **ते**=तेरा **पात्रम्**=शरीररूप पात्र **सनवित्तम्**=सनातन धनवाला हो। 'सोम' ही इसका सनातन धन है। शरीर का रक्षण धारण वर्धन सब इस सोम पर ही निर्भर करता है। हे **शतक्रतो**! शतवर्ष पर्यन्त ज्ञान व शक्तिवाले जीव! तू **एना**=इस शरीररूप पात्र से **सोमं पिबा**=सोम का पान कर। यह सोम ही तो तेरा वास्तविक धन है। (२) तेरा यह शरीर **आहावः**=निपान हो (tough), वह द्रोण पात्र हो जो **मदिरस्य**=आनन्द के जनक **मध्वः**=अत्यन्त मधुर इस सोम से **पूर्णः**=भरा हुआ हो। यही मदिर मधु से परिपूर्ण आहाव वह है **यं अभि**=जिसकी ओर **इत्**=निश्चय से **विश्वे देवाः**=सब देव **अभिहर्यन्ति**=आने की कामना करता है। शरीर को हम सोम से परिपूर्ण आहाव बनाएँ तो हमें सब दिव्यगुण अवश्य प्राप्त होंगे। हमारा यह शरीर देवों का निवास-स्थान बन जाएगा।

भावार्थ—सोम (वीर्य) ही इस शरीर का सनातन धन है। शरीर में सोम का रक्षण होने पर यहाँ सब दिव्यगुणों का वास होता है। यह शरीर हमारा वह आहाव (द्रोण पात्र) हो जो मदिर मधु से परिपूर्ण हो, जिसका पान करने के लिए सब देव यहाँ आएँ।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संभृत हविष्कता-प्रभु-पूजन

वि हि त्वामिन्द्र पुरुधा जनासो हितप्रयसो वृषभ ह्वयन्ते।
अस्माकं ते मधुमत्तमानीमा भुवन्त्सवना तेषु हर्य ॥ ७ ॥

(१) हे इन्द्र-परमैश्वर्यशालिन्! वृषभ-सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! हित प्रयसः=धारण किया है (हितः निहितः धा-हि) हवीरूप अन्न को जिन्होंने ऐसे जनासः-अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोग त्वां हि=आपको ही पुरुधा=नाना प्रकार से विह्वयन्ते=विशेषरूप से पुकारते हैं। प्रभु का पूजन वस्तुतः हवि के द्वारा ही होता है। 'त्यागपूर्वक अदन' ही हवि है, इसी से प्रभु का पूजन होता है। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि इमा=ये अस्माकम्=हमारे सवना=सोम के सवन (=उत्पादन) ते=तेरे लिए मधुमत्तमानि=अतिशयेन माधुर्य को देनेवाले हों। इनके द्वारा तेरा जीवन अतिशयेन मधुर बने। तेषु हर्य=उनमें तू कामनावाला हो तथा उनकी प्राप्ति के लिए तू गतिवाला हो। सोमपान की तेरे में प्रबल इच्छा हो। यह रक्षित सोम ही तेरा रक्षण करेगा।

भावार्थ—प्रभु का पूजन संभृत हविष्क (हवि का धारण करनेवाले लोग) ही करते हैं। इन प्रभु-पूजकों के जीवन को सोम मधुमत्तम बनाता है।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सतीनमन्युः

प्र ते इन्द्र पूर्व्याणि प्र नूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि।
सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम् ॥ ८ ॥

(१) हे इन्द्र-सब शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले प्रभो! ते=आपके पूर्व्याणि=पालक व पूरक वीर्या=सामर्थ्यों का नूनम्=निश्चय से प्रवोचम्=शंसन करूँ तथा आपके प्रथमा=अत्यन्त विस्तारवाले व सर्वश्रेष्ठ कृतानि=कर्मों का प्र वोचम्=प्रतिपादन करूँ। आपके वीर्यों व कर्मों का प्रवचन करते हुए आपकी महिमा को हृदय में धारण करूँ। (२) आप सतीन मन्युः=(सतीनम्=उदकम्) उदक के समान शान्त ज्ञानवाले हैं। आपका ही ज्ञान-जल उपासकों के हृदयों में प्रवाहित होकर उन्हें शान्त व पवित्र बनाता है। आप ही हमारे अद्रिम्=अविद्या पर्वत को अश्रथायः=ढीला करते हैं, इसका हिंसन आप ही करते हैं। आप ब्रह्मणे=ज्ञानी पुरुष के लिए गाम्=इस अर्थों की प्रतिपादिका ज्ञान वाणी को सुवेदनाम्=सुगमता से ज्ञेय अकृणोः=करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में देवों के मुख्य ब्रह्मा को भी अग्नि आदि के द्वारा प्रभु ही ज्ञान प्राप्त कराते हैं 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेताश्वतर ६।१८)। यह ज्ञानजल ही गुरु-शिष्य परम्परा से प्रवाहित होता हुआ हमें भी प्राप्त होता है। यही हमारे जीवनों को पवित्र करता है।

भावार्थ—प्रभु के सामर्थ्य व कर्म अद्भुत हैं। वे ही हमें ज्ञान को प्राप्त कराते हैं और हमारे अविद्यान्धकार को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विघ्नहर्ता 'गणेश'

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥ ९ ॥

(१) हे **गणपते**-गणों के स्वामिन्! शरीर जिन पञ्चभूतों से बना है यह भूतपंचक प्रथम गण है। इसमें 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान' नामक पाँच प्राणों का गण है। पाँच कर्मेन्द्रियों का तृतीय गण है, पाँच ज्ञानेन्द्रियों का चौथा। 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा हृदय' यह अन्तःकरण पंचक पाँचवा गण है। इन सब गणों के पति वे प्रभु 'गणपति' हैं। इन से प्रार्थना करते हैं कि आप **गणेषु**-हमारे इन गणों में **सुनिसीद**-अच्छी प्रकार आसीन होइये। **त्वाम्**-आपको ही **कवीनाम्**-क्रान्तदर्शी ज्ञानियों का **विप्रतमम्**-सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी **आहुः**-करते हैं। ज्ञानियों को ज्ञान देनेवाले वे प्रभु ही हैं। यह ज्ञान उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने गणों में गणपति को आसीन करते हैं। गणपति के आसीन होने पर आसुर वृत्तियों के आक्रमणरूप विघ्न हो ही नहीं पाते और हमारा जीवनयज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होता है। (२) हे प्रभो! **त्वत् ऋते**-आपके बिना **आरे** (आराद् दूर समीपयोः)-दूर व पास कहीं भी **किञ्चन**-कुछ भी न **क्रियते**-नहीं किया जाता। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम सब काम कर पाते हैं। हे **मघवन्**-ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! आप **महाम्**-अत्यन्त महनीय **अर्कम्**-ज्ञान की रश्मि रूप वेदवाणी को **चित्रम्**-अद्भुत रूप से **अर्च**-दीप्त करिये (अर्च to shire)। इस ज्ञान के द्वारा ही तो आप हमें कर्म करने योग्य बनाते हैं। ज्ञान के द्वारा ही हम निर्विघ्नरूप से कर्मों को कर पाते हैं।

भावार्थ—गणपति का हम आराधन करें। वे ही हमें ज्ञान देंगे और कर्मों को सिद्ध करने की शक्ति प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—नभःप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'रणकृत्' प्रभु

अभिख्या नो मघवन्नाधमानान्त्सखे बोधि वसुपते सखीनाम्।
रणं कृधि रणकृत्सत्यशुष्माभक्ते चिदा भजा राये अस्मान्॥ १०॥

(१) हे **मघवन्**-सम्पूर्ण ज्ञान रूप ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! **नाधमानान्**-याचना व कामना करते हुए **नः**-हमें **अभिख्या** (अभिख्यापनेन सा०)-अपरा व पराविद्या के द्वारा (अभि-दोनों) **बोधि**-ज्ञानयुक्त करिये। हे **वसुपते**-सब वसुओं (-निवास के लिए आवश्यक धनों) के स्वामिन्! **सखे**-मित्र प्रभो! **सखीनाम्**-हम मित्रों का **बोधि**-आप ही ध्यान करिये। हमारे पर आपकी कृपादृष्टि सदा बनी रहे, हम आपकी आँख से ओझल न हों। (२)हे **रणकृत्**-हमारे लिए सब संग्रामों के करनेवाले प्रभो! **रणं कृधि**-हमारे लिए आप इन हमारे अन्तःशत्रुओं के साथ युद्ध को करिये। आप ही **सत्यशुष्म**-सत्य बलवाले हैं। शत्रुओं का शोषक बल आपके पास ही है। आप हमारे शत्रुओं का शोषण करके **अभक्तेचित्**-निश्चय से अखण्ड **राये**-धन में **अस्मान्**-हमें **आभजा**-भागी करिये (राये=रायि)। आपकी कृपा से हम शत्रुओं का शोषण कर पायें और अविच्छिन्न अध्यात्मसंपत् को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमें ज्ञान देते हैं, आप ही हमारे शत्रुओं का शोषण करके अविच्छिन्न ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण द्वारा जीवन को सुन्दर बनाने का उपदेश कर रहा है। ऐसा करनेवाला व्यक्ति शतशः अशुभ वृत्तियों का भेदन करके 'शत-प्रभेदन' बनता है। यह विशिष्टरूपवाला होने से 'वैरूप' होता है। 'शतप्रभेदन वैरूप' प्रार्थना करता है कि—

दशमोऽनुवाकः

[११३] त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सचेतसा द्यावापृथिवी

तम॑स्य॒ द्यावा॑पृथि॒वी सचे॑तसा॒ विश्वे॑भिर्दे॒वैरनु॒ शुष्म॑मावताम्।
यदैत्कृ॑ण्वा॒नो म॑हि॒मान॑मिन्द्रि॒यं पी॒त्वी सोम॑स्य॒ क्रतु॑माँ अवर्धत ॥ १ ॥

(१) **अस्य**-इस 'शतप्रभेदन' के (=शतशः अशुभ वृत्तियों का भेदन करनेवाले के) **सचेतसा**-समानरूप से चेत जानेवाले, जाग जानेवाले, विकसित शक्ति होनेवाले, **द्यावापृथिवी**-मस्तिष्क व शरीर **विश्वेभिः देवैः**-सब दिव्यगुणों के साथ **तम्**-उस **शुष्मम्**-शत्रु-शोषक बल को **अनु आवताम्**-अनुकूलता से रक्षित करनेवाले होते हैं। इसका मस्तिष्क रूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य के उदय से जाग-सा उठता है, शरीर भी शक्ति से चेतन हो जाता है, स्फूर्ति-सम्पन्न हो जाता है। ऐसा होने पर इसके हृदय में भी दिव्य भावनाओं का जागरण होता है। द्युलोक व पृथिवीलोक के ठीक होने से इसका अन्तरिक्षलोक भी ठीक हो जाता है। (२) यह सब होता तब है **यद्**-जब कि यह **महिमानम्**-(मह पूजायाम्) परमेश्वर की पूजा को **कृण्वानः**-करता हुआ **ऐत्**-गति करता है। इस प्रभु-पूजन के द्वारा यह **इन्द्रियम्**-वीर्य व बल को सम्पादित करता हुआ गति करता है। इस प्रकार प्रभु-पूजन से वासनाओं को विनष्ट करके यह **सोमस्य पीत्वी**-सोम का पान करके वीर्य का रक्षण करके **क्रतुमान्**-शक्ति व प्रज्ञावाला होता हुआ **अवर्धत**-निरन्तर बढ़ता है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करते हुए क्रतुमान् बनें। हृदय में हमारे प्रभु-पूजन का भाव हो, शरीर शक्ति सम्पन्न होकर कर्मव्यापृत हो।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

महिमा-ओजस्-अंशु

तम॑स्य॒ विष्णु॑र्महि॒मान॒मोज॒सांशुं॑ दध॒न्वान्मधु॑नो॒ वि र॑प्शते।
दे॒वेभि॒रिन्द्रो॑ म॒घवा॑ स॒याव॑भिर्वृ॒त्रं ज॑घ॒न्वाँ अ॑भव॒द्वरे॑ण्यः ॥ २ ॥

(१) **विष्णुः**-सर्वव्यापक प्रभु **अस्य**-गत मन्त्र के अनुसार इस सोमपान करनेवाले के **महिमानम्**-पूजन के भाव को तथा **ओजसा**-ओजस्विता के साथ **अंशुम्**-प्रकाश की किरणों को **दधन्वान्**-धारण करता हुआ **मधुनः**-अत्यन्त माधुर्य से **विरप्शते**-ज्ञान का प्रतिपादन करता है। जब एक व्यक्ति सोम का रक्षण करता है तो उसके हृदय में पूजा का भाव होता है, शरीर में शक्ति तथा मस्तिष्क में ज्ञान की किरणें। हृदयस्थ प्रभु इसके लिए अत्यन्त मधुरता से ज्ञान का उपदेश करते हैं। (२) **इन्द्रः**-वे शक्तिशाली प्रभु, **मघवा**-सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु **सयावभिः**-साथ-साथ प्राप्त होनेवाले **देवेभिः**-दिव्यगुणों के द्वारा **वृत्रम्**-ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघन्वान्**-नष्ट करते हैं और अतएव **वरेण्यः**-वरने योग्य **अभवत्**-होते हैं। हम प्रभु का वरण व सम्भजन करते हैं तो प्रभु हमारे लिए वृत्र को विनष्ट करके सब दिव्यगुणों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में पूजाभाव को, शरीर में शक्ति को व मस्तिष्क में प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

युद्ध-सज्जा

वृत्रेण यदहिना बिभ्रदायुधा समस्थिथा युधये शंसमाविदे।
विश्वे ते अत्र मरुतः सह त्मनावर्धन्नुग्र महिमानमिन्द्रियम्॥ ३॥

(१) हे उग्र-तेजस्विन् जीव! यद्-जब अहिना-साँप की तरह डसनेवाले (आहन्ति) **वृत्रेण**-ज्ञान के आवरणभूत काम से, **आयुधा**-इन्द्रियों, मन व बुद्धिरूप आयुधों को धारण करता हुआ तू **युधये**-युद्ध के लिए **सं अस्थिथाः**-उपस्थित होता है। उस समय **आविदे**-सब ज्ञानों की प्राप्ति के लिए तू **शंसम्**-प्रभु के गुणों के शंसन व उपासना में स्थित होता है। (२) ऐसा करने पर **अत्र**-इस जीवन में **विश्वे मरुतः**-सब प्राण **त्मना सह**-आत्मा के साथ **ते**-तेरी **महिमानम्**-पूजा की वृत्ति को तथा **इन्द्रियम्**-बल को **अवर्धन्**-बढ़ाते हैं। यदि हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आश्रित करके कामादि शत्रुओं के साथ युद्ध में जुट जाएँ और प्रभु के गुणगान में प्रवृत्त रहें तो प्राणसाधना करते हुए हम जहाँ शक्ति को प्राप्त करेंगे वहाँ अपनी महिमा को भी बढ़ा पाएँगे।

भावार्थ—मनुष्य का कर्त्तव्य है कि (क) कामादि शत्रुओं से युद्ध में प्रवृत्त रहे, (ख) प्रभु के गुणों का शंसन करे, (ग) प्राणसाधना को अवश्य करे। ऐसा करने पर उसे महिमा व शक्ति प्राप्त होगी।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

घर को स्वर्ग बनाना

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभि पौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥ ४॥

(१) जिस दिन आचार्यकुल से विद्यार्थी शिक्षा पूरी करके समावृत्त होकर घर पर आता है तो **जज्ञानः एव**-आचार्यकुल से द्वितीय जन्म लेता हुआ ही **स्पृधः**-शत्रुओं को **व्यबाधत**-पीड़ित करता है, अपने से दूर रखता है। कामादि शत्रुओं को वह अपने समीप नहीं आने देता। **वीरः**-शत्रुओं को कम्पित करनेवाला यह वीर **रणं अभि**-युद्ध का लक्ष्य करके **पौंस्यं प्रापश्यत्**-अपने बल का पूरा ध्यान करता है, शक्ति को स्थिर रखने के लिए यत्नशील होता है, गृहस्थ में प्रवेश करने पर वह इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कामादि शत्रुओं का शिकार न हो जाए, अपनी शक्ति को न खो बैठे। (२) यह **अद्रिम्**-अविद्या पर्वत को **अवृश्चत्**-काटनेवाला होता है और **स-स्यदः**-साथ-साथ प्रवाहित होनेवाले ज्ञान-प्रवाहों को **अवसृजत्**-पुनः प्रवाहयुक्त करता है। वासना के कारण ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति कुण्ठित हो गई थी। वासना विनाश से ज्ञानेन्द्रियों का कार्य सुचारुरूपेण होने लगता है और सब ज्ञान-प्रवाह ठीक से चलने लगते हैं। (३) इस प्रकार **स्वपस्यया**-उत्तम कर्मों की ही कामना से यह **पृथुं नाकम्**-विस्तृत स्वर्गलोक को **अस्तभ्नात्**-थामनेवाला होता है। वस्तुतः यह अपने घर को स्वर्ग ही बना डालता है।

भावार्थ—गृहस्थ में हम काम आदि शत्रुओं का बाधन करें। शक्ति का रक्षण करें। अज्ञान को नष्ट करके उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों तभी घर स्वर्ग बनेगा।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मित्र-वरुण-दाश्वान्

आदिन्द्रः सत्रा तविषीरपत्यत वरीयो द्यावापृथिवी अबाधत।
अवाभरद् धृषितो वज्रमायसं शेवं मित्राय वरुणाय दाशुषे॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जीवन को बनाने पर **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **आत्**=शीघ्र ही **सत्रा**=साथ-साथ **तविषीः**=सब इन्द्रियों की शक्तियों का **अपत्यत**=स्वामी बनता है। इसकी सब इन्द्रियाँ विकसित शक्तिवाली बनती हैं। यह **वरीयः**=खूब ही **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **अबाधत**=वशीभूत करता है (subdue, congner) शरीर व मस्तिष्क दोनों इसके शासन में होते हैं। (२) यह **धृषितः**=शत्रु धर्षण के बल से युक्त हुआ-हुआ **आयसं वज्रम्**=लोहे के बने हुए वज्र को **अवाभरत्**=धारण करता है। अर्थात् इसके हाथ लोहे के बने हुए लगते हैं, यह क्रियाओं को करता हुआ थकता नहीं। (३) क्रियाशीलता के कारण इस **मित्राय**=काम-वासना से ऊपर उठकर सबके प्रति स्नेह करनेवाले के लिए, **वरुणाय**=क्रोध से ऊपर उठकर द्वेषादि का निवारण करनेवाले के लिए तथा **दाशुषे**=लोभ से ऊपर उठकर सदा दानशील के लिए **शेवम्**=सुख ही सुख होता है।

भावार्थ—हमारी सब इन्द्रियाँ सशक्त हों। मस्तिष्क व शरीर पर हमारा आधिपत्य हो। हम निरन्तर क्रियाशील हों, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वृत्र-व्रश्चन

इन्द्रस्यात्र तविषीभ्यो विरप्शिन ऋघायतो अरंहयन्त मन्यवे।
वृत्रं यदुग्रो व्यवृश्चदोजसापो बिभ्रतं तमसा परीवृतम्॥ ६ ॥

(१) **अत्र**=यहाँ इस मानव जीवन में **विरप्शिनः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले **ऋघायतः**=काम आदि शत्रुओं का हिंसन करते हुए **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **तविषीभ्यः**=बलों से इसकी इन्द्रियाँ **मन्यवे**=ज्ञान प्राप्ति के लिए **अरंहयन्त**=वेगवाली होती हैं। जब हम जितेन्द्रिय बनते हैं, प्रभु का स्मरण करते हैं और काम आदि का संहार करने के लिए यत्नशील होते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त होती हैं। (२) यह होता तभी है **यद्**=जब कि **उग्रः**=एक तेजस्वी पुरुष **ओजसा**=ओजस्विता से **वृत्रम्**=वासना को **व्यवृश्चत्**=काट डालता है, छिन्न-भिन्न कर देता है। उस वासना को, जो कि **अपः बिभ्रतम्**=(भृ=take away) हमारे रेतःकणों को हमारे से दूर ले जाती है तथा **तमसा परीवृतम्**=अन्धकार से आवृत है। वासना के कारण शक्ति नष्ट होती है, अज्ञानान्धकार बढ़ता है। इस ज्ञान की आवरणभूत वृत्र नामक वासना को जब हम नष्ट करते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के लिए वेग से आगे बढ़ती हैं।

भावार्थ—हम वासना का विनाश करके ज्ञान प्राप्ति के लिए अग्रसर हों।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उदारता पूर्वक कर्म करना

या वीर्याणि प्रथमानि कर्त्वा महित्वेभिर्यतमानौ समीयतुः।
ध्वान्तं तमोऽव दध्वसे हुत इन्द्रो मह्ना पूर्वहूतावपत्यत॥ ७ ॥

(१) **या**=जिन **प्रथमानि**=सर्वोत्कृष्ट **वीर्या**=शक्तिशाली कर्मों को **कर्त्वा**=करने के लिए **महित्वेभिः**=पूजा की वृत्ति के साथ **यतमानौ**=यत्न करते हुए **समीयतुः**=सम्यक् गतिवाले होते हैं, तो उस समय **ध्वान्तं तमः**=घना अन्धेरा, तीव्र अज्ञानान्धकार **अवदध्वसे**=विनष्ट होता है। यदि घर में पति-पत्नी अपने प्रथम कर्त्तव्यों को पालन करने के लिए प्रभु-स्मरणपूर्वक यत्नशील रहते हैं तो वे अज्ञानान्धकार को दूर करने में समर्थ होते हैं और प्रकाशमय जीवन को बिता पाते हैं। (२) **हते**=इस प्रकार अज्ञानान्धकार के विनष्ट होने पर **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पूर्वहूतौ**=प्रभु की प्रथम पुकार के होने पर, अर्थात् सर्वप्रथम प्रभु का स्मरण करके **मह्ना**=महिमा के साथ **अपत्यत**=गतिशील होता है। दिल को विशाल बनाकर सब कार्यों को करनेवाला होता है। तंगदिली से कार्यों को नहीं करता।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर कर्त्तव्यपालन में प्रवृत्त होते हैं तो उनका जीवन प्रकाशमय बनता है। ऐसा होने पर एक जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु-स्मरण पूर्वक उत्कृष्ट मार्ग पर गति करता है।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सर्वदेवानुकूलता

विश्वे॑ दे॒वासो॒ अध॒ वृष्ण्या॑नि॒ तेऽव॑र्धय॒न्त्सोम॑वत्या वच॒स्यया॑।
र॒द्धं वृ॒त्रमहि॒मिन्द्र॑स्य॒ हन्म॑ना॒ग्निर्न जम्भै॑स्तृ॒ष्वन्न॑मावयत् ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार उदारता-पूर्वक मार्ग पर आक्रमण करने से **अध**=अब **विश्वे देवासः**=सब 'सूर्य, चन्द्र, पर्जन्य, अग्नि, वायु' आदि देव **ते**=तेरे **वृष्ण्यानि**=बलों को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं। सब देव अनुकूल हों तो शक्ति का वर्धन होता ही है। **सोमवत्या वचस्यया**=सोमवाली वाणी के साथ सब देव इसकी शक्ति को बढ़ाते हैं। इसके अन्दर सोम का रक्षण होता है, इसकी वाणी उत्तम होती है। (२) यह **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **हन्मना**=हनन साधन वज्र से, क्रियाशीलतारूप वज्र से **रद्धम्**=हिंसित **अहिं वृत्रम्**=हनन करनेवाली (आहन्ति) वासना को **तृषु**=शीघ्र ही **आवयत्**=(वी=असन) अपने से सुदूर फैंकता है, **न**=जैसे कि **अग्निः**=आग **जम्भैः**=अपने ज्वालारूप दाँतों से **अन्नम्**=अन्न को **आवयत्**=(वी=खादन) खा जाता है। वस्तुतः कर्म में लगे रहने से वासना दूर ही रहती है। वासनाक्षय का ही परिणाम है कि वह शक्तिशाली बन पाता है।

भावार्थ—वासना का नाश होने पर (क) शक्ति बढ़ती है, (ख) वाणी उत्तम होती है। इसलिए 'इन्द्र' एक जितेन्द्रिय पुरुष वासना को अपने से दूर रखता है।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु के मित्र के लक्षण

भूरि॒ दक्षे॑भिर्वच॒नेभि॒र्ऋक्व॑भिः स॒ख्येभिः॑ स॒ख्यानि॒ प्र वो॑चत।
इन्द्रो॒ धुनिं॑ च॒ चुमु॑रिं च द॒म्भय॑ञ्छ्र॒द्धाम॒नस्या॑ शृणुते द॒भीत॑ये ॥ ९ ॥

(१) 'एक मनुष्य प्रभु का मित्र है' यह बात उसके व्यवहारों से प्रकट होती है। यहाँ उन व्यवहारों का संकेत 'भूरि दक्षेभिः वचनेभिः' 'ऋक्वभिः' 'सख्येभिः' इन शब्दों से हुआ है। **भूरि**=खूब **दक्षेभिः**=उन्नति के साधक **वचनेभिः**=वचनों से **सख्यानि**=प्रभु के साथ अपनी मित्रताओं का **प्रवोचत**=प्रतिपादन करो। प्रभु का मित्र सदा ऐसे शब्दों को बोलता है जो कि औरों की उन्नति में साधक होते हैं। उत्साहवर्धक शब्दों का ही यह प्रयोग करता है। **ऋक्वभिः**=(ऋच् स्तुतौ)

स्तुत्यात्मक शब्दों से यह कभी निन्दा के शब्दों का प्रयोग नहीं करता। **सख्येभिः**=मित्रताओं से। यह सब के साथ स्नेह व मित्रता से चलता है। कभी द्वेष की वृत्ति को अपने में नहीं आने देता। (२) **इन्द्रः**=यह प्रभु का मित्र जितेन्द्रिय पुरुष **धुनिं च**=शरीर को कम्पित करनेवाले क्रोध रूप शत्रु को **च**=तथा **चुमुरिम्**=शरीर की शक्तियों को पी जानेवाले कामरूप शत्रु को **दम्भयन्**=हिंसित करता हुआ **दभीतये**=अन्य सब शत्रुओं के भी हिंसन के लिए **श्रद्धामनस्या**=श्रद्धायुक्त मन की इच्छा से **शृणुते**=ज्ञान की वाणियों का श्रवण करता है। ज्ञान की वाणियों का श्रवण करता हुआ वह अशुभ भावों से सदा दूर रहता है।

भावार्थ—प्रभु का मित्र (क) सदा उत्साहवर्धक शब्द बोलता है, (ख) निन्दात्मक शब्द नहीं बोलता, (ग) सबके साथ मित्रता से चलता है, (घ) काम-क्रोध को जीतता है, (ङ) श्रद्धायुक्त मन संकल्प से ज्ञान की वाणियों का श्रवण करता है।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

त्वं पुरूण्या भरा स्वश्व्या येभिर्मंसै निवचनानि शंसन्।
सुगेभिर्विश्वा दुरिता तरेम विदो षु णं उर्विया गाधमद्य ॥ १० ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **पुरूणि**=पालक व पूरक **स्वश्व्या**=उत्तम इन्द्रियाश्वों की शक्तियों को **आभरा**=हमारे में धारण कीजिए। सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक होने पर ही अग्रगति का सम्भव है। आप उन इन्द्रिय शक्तियों को हमें प्राप्त कराइये **येभिः**=जिनसे **निवचनानि**=ज्ञान की वाणियों का **शंसन्**=उच्चारण करता हुआ मैं **मंसै**=मननशील बनूँ। (२) ज्ञान को प्राप्त करके **सुगेभिः**=उत्तम मार्गों पर चलने के द्वारा **विश्वा दुरिता**=सब दुरितों को **तरेम**=हम तैर जाएँ। हमारे जीवन में पाप न होकर पुण्य का वर्धन हो। **उ**=और आप **अद्य**=आज **नः**=हमें **उर्विया**=खूब विशालता के साथ **गाधम्**=प्रतिष्ठा को, आधार को **सुविदो**=अच्छी प्रकार प्राप्त कराइये। हमारे प्रत्येक कर्म का आधार विशाल हो। विशाल हृदयता से हम सब कार्यों को करें। हमारा कोई भी कार्य संकुचित हृदय बनकर न किया जाए।

भावार्थ—हमें उत्तम इन्द्रिय शक्तियाँ प्राप्त हों। उनसे ज्ञान को प्राप्त करते हुए हम दुरितों को तैर जाएँ। हमें विशाल हृदय प्राप्त हो।

'हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतकर इन्द्रिय शक्तियों का वर्धन करते हुए विशिष्ट रूपवाले बनें' यह सम्पूर्ण सूक्त का भाव है। ऐसा व्यक्ति प्रभु के साथ मित्रतावाला होकर व्यवहार करता है सो 'सध्रि' है (सह), विशिष्टरूपवाला होने से 'वैरूप' है। शक्ति की रक्षा करने के कारण यह 'घर्मः' है, तपस्वी जीवनवाला 'तापसः' है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

[११४] चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिवृत् जीवन

घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम।
दिवस्पयो दिधिषाणा अवेषन्विदुर्देवाः सहसामानमर्कम् ॥ १ ॥

(१) घर में पति-पत्नी ही दो मुख्य पात्र हैं। ये दोनों **घर्मा**=(घृ दीप्तौ) तेजस्विता से दीप्त होते हुए, शक्ति की उष्णतावाले होते हुए, **समन्ता**=(अति बन्धने) सम्यक् व्रतों के बन्धनवाले

होते हुए त्रिवृते=(त्रिषु वर्तते) 'धर्म, अर्थ व काम' अथवा 'भक्ति, कर्म व ज्ञान' तीनों में प्रवृत्त होनेवाले जीवन को व्यापतुः=व्याप्त करते हैं। 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः' इस निर्देश के अनुसार इनके जीवन में धर्म, अर्थ व काम तीनों बड़ी सुन्दरता से समन्वित होते हैं। ये 'ज्ञान कर्म व भक्ति' तीनों का पोषण करने का प्रयत्न करते हैं, (२) मातरिश्वा=वायु, अर्थात् शरीरस्थ प्राण तयोः=इन पति-पत्नी की जुष्टिम्=प्रीतिपूर्वक सेवा को जगाम=प्राप्त होता है। ये प्रेम से प्राण की उपासना करते हैं। प्राणायाम के महत्त्व को समझते हुए ये प्राणसाधना को कभी उपेक्षित नहीं करते। (३) दिवः पयः=ज्ञान के दुग्ध को दिधिषाणाः=धारण करते हुए अवेषत्=साम व उपासना से युक्त अर्कम्=(ऋच्) विज्ञान को विदुः=जानते हैं। इनके जीवन में प्रकृति के विज्ञान व प्रभु के उपासन का मेल होता है। प्रकृति के विज्ञान से ये ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं तो प्रभु के उपासन से ये उस ऐश्वर्य से अभिभूत व पराजित नहीं हो जाते। यह ऐश्वर्य उनके विलास में फँसने का कारण नहीं बन जाता।

भावार्थ—धर्मार्थ काम तीनों के समन्वयवाला जीवन ही जीवन है। इसके लिए प्राणसाधना आवश्यक है। ज्ञानपूर्वक हमारे कर्म हों। प्रकृति के विज्ञान व प्रभु के उपासन को हम अपने जीवन में जोड़ दें।

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

त्रिविधा वेदवाणी

तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः।
तासां नि चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥ २॥

(१) देष्ट्राय=कर्त्तव्य ज्ञान के उपदेश के लिए दीर्घश्रुतः=दीर्घकाल तक आचार्य मुख से ज्ञान का श्रवण करनेवाले ज्ञानी पुरुष तिस्रः=तीनों निर्ऋतीः=निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्ति की मार्गभूत वेदवाणियों को उपासते=उपासित करते हैं। ऋचाओं, यजु व साम तीनों के ज्ञान का वह्नयः=धारण करनेवाले ये व्यक्ति हि=ही विजानन्ति=विशिष्ट ज्ञानवाले होते हैं। ऋचाओं से प्रकृति का, यजु से जीव के कर्त्तव्यों का तथा साम से प्रभु की उपासना का ज्ञान प्राप्त करके ये अपने जीवन में 'ज्ञान कर्म व भक्ति' का सुन्दर मेल कर पाते हैं। (२) तासाम्=उल्लिखित तीनों निर्ऋतियों के, निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति की मार्गभूत वेदवाणियों के निदानम्=मूल कारण प्रभु को ये कवयः=क्रान्तदर्शी लोग निचिक्युः=जानते हैं, मनन द्वारा हृदयों में उसका निश्चय करते हैं। उन वेदवाणियों के कारणभूत परमात्मा को जानते हैं याः=जो परेषु=उत्कृष्ट गुह्येषु=संवरणीय व्रतेषु=व्रतों में स्थित हैं। इन वेदवाणियों में उत्कृष्ट व्रतों का प्रतिपादन है। 'ऋचा विज्ञान' का व्रत धारण कराती है, तो यजु 'कर्म' का तथा साम 'भक्ति' का। एवं ये वेदवाणियाँ हमारे मस्तिष्कों, हाथों व हृदयों को सुन्दर बनाती हैं।

भावार्थ—'ऋचा, यजु व साम' रूप त्रिविधा वेदवाणी का हम ज्ञान प्राप्त करें। इनके उत्पत्ति-स्थान प्रभु का भी हृदयों में मनन करें। इनसे उपदिष्ट व्रतों को धारण करें।

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चतुष्कपर्दा युवति

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥ ३॥

(१) **चतुष्कपर्दा**-यह वेदवाणी चार वेणियोंवाली है, चार इसकी शाखाएँ हो गयी हैं। प्रकृति का ज्ञान देनेवाली 'ऋचाएँ' हैं, जीव के कर्त्तव्यों का ज्ञान देनेवाली 'यजुः' हैं तथा उपासना की प्रतिपादिका 'साम' वाणियाँ हैं। इनके साथ रोगों व युद्धों का प्रतिपादन करनेवाली अथर्वरूप वाणियाँ हैं। यह वेदवाणी **युवतिः**-हमारे साथ अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली तथा बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाली है। और इस प्रकार **सुपेशाः**-हमें सुन्दर रूप प्राप्त करानेवाली है। **घृतप्रतीका**-तेजस्वी व दीप्त अंगोंवाली यह वेदवाणी **वयुनानि**-सब प्रज्ञानों व कर्मों को **वस्ते**-आच्छादित करती है, धारण करती है। इसमें सब ज्ञानों व कर्मों का उपदेश है। (२) **तस्याम्**-उस वेदवाणी में **सुपर्णा**-उत्तम पालनादि कर्मों को करनेवाले पति-पत्नी **वृषणा**-शक्तिशाली होते हुए **निषेदतुः**= निषण्ण होते हैं। अपने जीवन को उस वेदवाणी के अनुसार बनाते हैं। यह वेदवाणी वह है **यत्र**-जिसमें कि **देवाः**-सब देव—सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि त्रिलोकस्थ देवताएँ **भागधेयं दधिरे**-भाग को धारण करती हैं। अर्थात् इस वेदवाणी में सब देवों का प्रतिपादन है। प्रभु का मुख्य रूप से प्रतिपादन करती हुई यह वेदवाणी सब सूर्यादि देवों का ज्ञान देती है। इनके ज्ञान के द्वारा ही यह हमारे जीवन को सुन्दर बनानेवाली है। इसलिए गृहस्थ होकर भी पति-पत्नी ने इसके अध्ययन में अप्रमत्त होना है 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः'।

भावार्थ—सब कर्मों व ज्ञानों का उपदेश करती हुई यह वेदवाणी हमारे जीवन को सुन्दर बनाती है।

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पवित्र हृदय में प्रभु-दर्शन

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥ ४॥

(१) प्रभु **एकः**-अद्वितीय **सुपर्णः**-पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु की एक-एक रचना पालन व पूरण करनेवाली है। **सः**-वे प्रभु **स-मुद्रम्**-आनन्दयुक्त, प्रसादमय, हृदय में **आविवेश**-प्रवेश करते हैं। जिस हृदय में क्रोध व राग-द्वेष का कूड़ा-करकट भरा होता है वहाँ प्रभु का निवास नहीं होता। इसी दृष्टिकोण से मनः-प्रसाद का महत्त्व है, यह मनःप्रसाद सर्वोत्कृष्ट तप है। **सः**-वे प्रभु **इदं विश्वं भुवनम्**-इस सम्पूर्ण लोक को **विचष्टे**-देखते हैं व पालते हैं (look after)। प्रभु की सब क्रियाएँ हमारे पालन व पूरण के लिये तो हैं ही। (२) **तम्**-उस परमात्मा को **पाकेन मनसा**-पवित्र मन से **अन्तितः**-अपने समीप ही **अपश्यम्**-मैं देखता हूँ। हृदय के पवित्र होने पर प्रभु हृदय में ही स्थित दिखते हैं। इस दर्शन के होने पर **माता**-यह **प्रमाता**-ज्ञान का निर्माण करनेवाला **तं रेढि**-उस प्रभु का आस्वाद लेता है, प्रभु-दर्शन से अद्वितीय आनन्द का अनुभव करता है। **उ**-और **सः**-वे प्रभु भी **मातरम्**-इस ज्ञान के निर्माता का **रेढि**-आनन्द लेता है ज्ञानी प्रभु-दर्शन से आनन्द को प्राप्त करता है तो प्रभु भी ज्ञानी से प्रीणित होता है।

भावार्थ—प्रभु अद्वितीय पालनकर्ता हैं। पवित्र हृदयों में प्रभु का वास होता है। उसी हृदय में प्रभु-दर्शन होता है। ज्ञानी प्रभु प्राप्ति का आनन्द लेता है और प्रभु को ज्ञानी प्रिय होता है।

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बारह सोमपात्र

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥ ५॥

(१) **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोग **सुपर्णम्**=उस उत्तम पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मोंवाले प्रभु को **एकं सन्तम्**=एक होते हुए को भी **वचोभिः**=वेदवाणियों से **बहुधा**=अनेक प्रकार से **कल्पयन्ति**=कल्पित करते हैं। सृष्टि के उत्पादक के रूप में वे उसे 'ब्रह्मा' कहते हैं, तो धारण करनेवाले को 'विष्णु' तथा प्रलयकर्ता के रूप में वे उसे 'रुद्र व शिव' कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गुणों व कर्मों के कारण वे उसे भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण करते हैं। (२) **च**=और प्रभु स्मरण के साथ **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों में **छन्दांसि**=वेद-मन्त्रों को **दधतः**=धारण करते हुए ये लोग मन्त्रोच्चारण पूर्वक यज्ञों को करते हुए, इन मन्त्रों को अपना पाप से बचानेवाला बनाते हुए (छन्दांसि छादनात्), **द्वादश**='दस इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' इन बारह को **सोमस्य ग्रहान्**=सोम का, वीर्यशक्ति का ग्रहण करनेवाला **मिमते**=बनाते हैं। सोमयज्ञों में बारह सोमपात्रों की तरह ये 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' भी बारह सोमपात्र बनते हैं। सोमशक्ति इनमें सुरक्षित रहती है। सोम से ये शक्तिशाली बनते हैं।

भावार्थ—एक प्रभु के अनेक नाम हैं। इनका स्मरण करते हुए हम यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण करें और जीवन को पवित्र बनाते हुए सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हुए 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को बारह सोमपात्रों के तुल्य बनाएँ।

ऋषिः—सध्रिवैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋक्-साम से रथ प्रवर्तन

षट्त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति ॥ ६ ॥

(१) 'आचत्वारिंशतः संपूर्णता' इस सुश्रुत वाक्य के अनुसार ४०वें वर्ष में शरीर के निर्माण की पूर्णता हो जाती है। इन चालीस वर्षों में भी यहाँ मन्त्र में 'षट् त्रिंशान् च चतुरः'='३६ और ४' इस विभाग से यह प्रतीत होता है कि छत्तीस तक पूर्णता हो जाती है और अन्तिम चार वर्ष तो finishing toxehes दिये जाते रहते हैं। इसी प्रकार चालीसवें में जीवन का पूरा निर्माण हो जाता है। **षट् त्रिंशान् चतुरः च**=छत्तीस और चार, अर्थात् चालीस वर्ष तक **कल्पयन्तः**=अपने अंगों को सामर्थ्यवान् बनाते हुए **च**=और **आद्वादशम्**=बारह वर्ष की उमर तक **छन्दांसि**=सब वेदमन्त्रों को **दधतः**=धारण करते हुए 'आठवें वर्ष में आचार्यकुल में प्रविष्ट होने पर बारहवें वर्ष तक सब वेद सामान्यतः याद करा दिये जाते थे'। इस पाठ्य-प्रणाली का यहाँ संकेत मिलता है। **कवयः**=ज्ञानी लोग **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **यज्ञं विमाय**=यज्ञों को विशेषरूप से करके **ऋक्सामाभ्याम्**=विज्ञान और उपासना से, विद्या व श्रद्धा से **रथम्**=अपने जीवनरथ को **प्रवर्तयन्ति**=निरन्तर कार्यों में प्रवृत्त करते हैं। (२) यहाँ मन्त्र में इन बातों का संकेत सुस्पष्ट है कि—(क) शरीर की पूर्णता चालीसवें वर्ष में आकर होती है। तब तक परिवर्तन का सम्भव होता है। चालीसवें वर्ष में आकर सब अंगों का निर्माण हो चुकता है, (ख) शिक्षा-प्रणाली में प्रारम्भिक पाठ्यक्रम सब मन्त्रों का याद करना है, यह बारहवें वर्ष में पूर्ण हो जाता है, (ग) जीवन यथासम्भव बुद्धिपूर्वक यज्ञों के करने में बीतना ही ठीक है, (घ) सब कार्य विद्या व श्रद्धा के समन्वय से किये जाने चाहिएँ।

भावार्थ—विद्या व श्रद्धा से कार्यों को करते हुए हम जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ें।

ऋषिः—सध्रिवैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'ये सब लोक प्रभु की महिमा के व्यञ्जक हैं'

चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्र णयन्ति सप्त।
आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य ॥ ७ ॥

(१) सब लोकों से पुनरावृत्त होना पड़ता है। ये सात 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' उत्तम लोक हैं और इसी प्रकार सात 'असुर्यानाम ते लोका: अन्धेनतमसावृताः'-अन्धतमस से आवृत असुर्यलोक हैं—'तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल' **अन्ये**-दूसरे **चतुर्दश**-उल्लिखित चौदह लोक **अस्य महिमानः**-इस प्रभु की महिमा हैं। ये सब लोक प्रभु की महिमा को व्यक्त कर रहे हैं। **तम्**-उस प्रभु को **सप्त धीराः**-(धियं रान्ति) सात ज्ञान के देनेवाले व (धियिरमते) ज्ञान में रमण करनेवाले धीर पुरुष **वाचा**-स्तुति वाणियों के द्वारा **प्रणयन्ति**-प्राप्त कराते हैं। 'महर्षया सप्त पूर्वे चत्वारः मनवस्तथा' इस वाक्य के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के मानस-पुत्रों में ये सात महर्षि हैं—'मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ'। ये सात 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' से ज्ञान प्राप्त करके अन्य मनुष्यों के लिए ज्ञान को देनेवाले होते हैं। (२) **इह**-यहाँ इस सृष्टि में **कः**-वे आनन्दस्वरूप प्रभु ही अथवा अनिरुक्त प्रजापति ही **आप्नानम्**-प्रभु प्राप्ति के साधनभूत **तीर्थम्**-(means) उपाय को **प्रवोचत्**-वेद में प्रतिपादित करते हैं **येन पथा**-जिस मार्ग से **सुतस्य**-शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम का **प्रपिबन्ते**-पान करते हैं। वस्तुतः सोमपान के होने पर ही प्रभु की प्राप्ति का सम्भव होता है। वेद इस सोम के पान के लिए उपाय व मार्ग का संकेत करता है। इस मार्ग से चलकर मनुष्य प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेद में उस मार्ग का प्रभु ने प्रतिपादन किया है जिससे चलकर मनुष्य सोम का पान करनेवाला बनता है। इस सोमपान से तीव्रबुद्धि होकर मनुष्य सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है।

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पंचदशानि उक्था

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥ ८ ॥

(१) प्राणिदेहों में **पञ्चदशानि**-'पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियां व पाँच कर्मेन्द्रियाँ' ये पन्द्रह अंग **सहस्रधा**-हजारों प्रकारों से **उक्था**-स्तुति के योग्य हैं, प्रशंसनीय हैं। इन अंगों का जितना-जितना विचार करते हैं उतना-उतना ही इनका उत्कर्ष व्यक्त होता है। वस्तुतः **यावद् द्यावापृथिवी**-जहाँ तक यह द्युलोक व पृथिवीलोक का विस्तार है **तावत् इत् तत्**-उतना ही उस प्रभु की महिमा का प्राशस्त्य है 'एतावानस्य महिमा'। (२) **सहस्रधा महिमानः**-हजारों प्रकार से इस प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड में विस्तृत है। **सहस्रम्**-हजारों प्रकार से **यावत्**-जहाँ तक **ब्रह्म**-वे प्रभु **विष्ठितम्**-विशेषरूप से इस ब्रह्माण्ड में स्थित हैं **तावती वाक्**-उतनी ही वाणी है। अर्थात् एक-एक वस्तु प्रभु की महिमा से परिपूर्ण है, उन-उन वस्तुओं के नाम प्रभु की महिमा का ही द्योतन करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणिदेहों में प्राण व इन्द्रियों की रचना अतिशयेन स्तुत्य है।

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-प्रदाता प्रभु

कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।

कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित् ॥ ९ ॥

(१) **कः**=वे आनन्दमय **धीरः**=ज्ञान में रमण करनेवाले प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में **छन्दसाम्**=इन पाप-निवारक वेदवाणियों के **योगम्**=सम्पर्क को **आवेद**=प्राप्त कराते हैं। 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' के हृदयों में प्रभु ही इस वेदवाणी का प्रकाश करते हैं। (२) **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **धिष्ण्यां वाचम्**=(धिषणया कृतां, 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे') बुद्धिपूर्वक वाक्य रचनावाली इस वेदवाणी को **प्रतिपपाद**=प्रतिपादित करते हैं। (३) मानव शरीरों में मन के द्वारा चलाए जानेवाले सप्त होताओंवाले यज्ञ में ('येन यज्ञस्तायते सप्त होता', सात होता। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को ही **ऋत्विजाम्**=ऋत्विजों में **अष्टमम्**=आठवाँ **शूरम्**=शूरवीर **आहुः**=कहते हैं। वस्तुतः ये प्रभु ही आठवें ऋत्विज् के रूप में यज्ञ का रक्षण करते हैं। (४) **कः स्वित्**=वे आनन्दमय प्रभु ही **इन्द्रस्य**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **निचिकाय**=निश्चय से बनाते हैं (चि=चिनना=बनाना)। वस्तुतः ये इन्द्रियाश्व कितनी ही अद्भुत रचनावाले हैं। अपनी अद्भुत रचना से ये अश्व उस प्रभु की महिमा को व्यक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान देते हैं, वेदवाणी का उपदेश करते हैं। यज्ञों के पालक भी वे प्रभु हैं, प्रभु ही हमें इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जीवन-यात्रा

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से ज्ञान व इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके **एके**=कई जीवन के चतुर्थ प्रयाण में विचरनेवाले संन्यासी **भूम्याः अन्तम्**=इस पृथिवी के अन्त भाग तक **परिचरन्ति**=चारों ओर विचरण करते हैं परिव्राजक बनकर ये आगे और आगे बढ़ते हुए, जहाँ रात हुई वहीं बसेरा करके और प्रचार करके अगले दिन आगे चलते हुए भूमि के अन्त भागों तक पहुँचते हैं। (२) इस संन्यासाश्रम से पहले वानप्रस्थ में ये लोग **रथस्य धूर्षु**=शरीर-रथ को धुराओं में **युक्तासः**=जुते हुए अश्वोंवाले **अस्थुः**=स्थित होते हैं। एक वानप्रस्थ क्रियामय जीवनवाला होता है। इन्द्रियाश्वों को अपने-अपने कार्य में स्थिर बनाने के लिए यह यत्नशील होता है। इसी को इस प्रकार कह सकते हैं कि योग का अभ्यास करने के द्वारा साम्यबुद्धि से युक्त होने का प्रयत्न करता है। (३) इस वानप्रस्थ से पूर्व गृहस्थ में ये लोग **श्रमस्य दायम्**=श्रम के देन को, श्रम से प्राप्त धन को **एभ्यः**=इन वानप्रस्थ व संन्यासियों के लिए **विभजन्ति**=बाँटकर देनेवाले होते हैं। गृहस्थ श्रम से धन को कमाते हैं और उस धन को वानप्रस्थों व संन्यासियों के लिए देनेवाले होते हैं। स्वयं तो गृहस्थ यज्ञशेष का ही सेवन करता है। (४) यह सब कुछ होता तभी है **यदा**=जब कि **हर्म्ये**=घर में **यमः**=नियन्त्रण करनेवाला आचार्य **हितः भवति**=स्थापित होता है। आचार्य जिस घर के बच्चों को सुशिक्षित व ज्ञानी बनाता है, वे ही बच्चे सद्गृहस्थ बनते हैं, वे ही वानप्रस्थ को उत्तम साधना से पूर्ण करके संन्यस्त हुआ करते हैं और सारे संसार में भ्रमण करते हुए ज्ञान का प्रसार करते हैं। इसी प्रकार प्रभु से दिये गये इन इन्द्रियाश्वों की महत्ता होती है।

भावार्थ—हम प्रथमाश्रम में आचार्याधीन रहकर ज्ञान व शिक्षा को प्राप्त करें। अब गृहस्थ में श्रम से कमाकर बाँटकर खाना है। वानप्रस्थ में इन्द्रियों को कार्यव्यापृतता के द्वारा योगयुक्त करने का प्रयत्न करता है। और तब संन्यस्त होकर सर्वत्र प्रचार करता हुआ भूमि के एक सिरे से दूसरे

सिरे तक पहुँचता है।

सूक्त का विषय यही है कि प्रभु से दिये गये साधनों का सदुपयोग करते हुए हम जीवन का यापन सुन्दरता से करें। उत्तम जीवन यही है कि हम प्रभु का स्तवन करनेवाले 'उपस्तुत' बनें। तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए हव्य के द्वारा वृष्टि को लानेवाले (यज्ञाद्भवति पर्जन्यः) वृष्टि हव्य के पुत्र 'वार्ष्टिहव्य' हों। यह 'वार्ष्टिहव्य उपस्तुत' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[११५] पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अद्भुत विकास

चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावप्येति धातवे।
अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष सद्यो महि दूत्यं१ चरन्॥ १ ॥

(१) मानव जीवन का क्रमिक विकास दर्शाते हुए कहते हैं कि जीवन के प्रथमाश्रम में इत्-निश्चय से इच्छिशोः-(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले तथा तरुणस्य-वासनाओं को तैरनेवाले विद्यार्थी का वक्षथ-(growth) विकास चित्रः-अद्भुत है। वस्तुतः जीवन के इस प्रथमाश्रम में दो ही महत्त्वपूर्ण बातें हैं—(क) विद्यार्थी को चाहिए कि वह विद्या पढ़ने के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना न करे, विद्यारुचि होता हुआ वह अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाए। (ख) तथा किसी भी वासना का शिकार न हो। विद्याव्यसन के अतिरिक्त उसे कोई भी व्यसन लगा तो वह विद्यार्थी ही न रहेगा। इस प्रकार शिशु और तरुण बनकर यह अपने जीवन का अद्भुत विकास कर पाता है। (२) अब गृहस्थ में प्रवेश करने पर यह इस प्रकार चलता है कि या-जो धातवे-अपने परिवार के धारण के लिए मातरौ-माता व सास की अपि-और न एति-नहीं जाता है। अपने पुरुषार्थ से कमानेवाला बनता है, अपने लिए औरों पर निर्भर नहीं करता। विशेषतः अपनी सास से कभी कुछ नहीं चाहता। (३) अब गृहस्थ के बाद यदि-यदि यह अनूधाः-(ऊधस् inuer apastment) अन्दर के कमरे से रहित जीजनत्-हो जाता है। अर्थात् वानप्रस्थ बन जाता है और इसका घर 'आश्रम' में परिवर्तित हो जाता है। (४) वानप्रस्थ में साधना करके अधा-अब च नु-निश्चय से ववक्ष-आगे बढ़ता है, सद्यः-शीघ्र ही महि दूत्यं चरन्-महान् दूत कर्म को करता हुआ वह चलता है। प्रभु के सन्देश को सुनाता हुआ यह आगे और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या पढ़ता है, वासनाओं को तैरता है। गृहस्थ में श्रम से परिवार का पालन करता है। घर को आश्रम में परिवर्तित करके वानप्रस्थ की साधना करता है। अब प्रभु का दूत बनकर ज्ञान के सन्देश को फैलाता हुआ आगे बढ़ता है।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दानशील-क्रियाशील

अग्निर्ह नाम धायि दन्नपस्तमः सं यो वना युवते भस्मना दता।
अभिप्रमुरा जुह्वा स्वध्वर इनो न प्रोथमानो यवसे वृषा॥ २ ॥

(१) अग्निः-वह अग्रेणी प्रभु ह-निश्चय से नाम-(नाम्ना) नम्रता के द्वारा धायि-धारण किया जाता है। नम्र व्यक्ति ही प्रभु को धारण कर पाता है। वे प्रभु दन्-सब कुछ देनेवाले हैं, प्रभु भक्त भी देनेवाला बनता है। अपस्तमः-अधिक से अधिक क्रियाशील होता है। भस्मना-कामदेव को भस्म करने के द्वारा यः-जो वना-ज्ञान की रश्मियों को संयुवते-अपने साथ संयुक्त करता

है। तथा दता-दाँतों से वना-वानस्पतिक पदार्थों को ही (संयुते) अपने साथ जोड़नेवाला होता है। इन वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से ही इसकी बुद्धि सात्त्विक बनी रहती है और यह अधिकाधिक प्रकाश को प्राप्त करता है। (२) यह अभि-दिन के प्रारम्भ में व दिन के अन्त में दोनों ओर प्रमुरा-प्रकर्षेण समुद्यत (मुर्छा-समुच्छ्राये) जुह्वा-चम्मच से स्वध्वरः-उत्तम यज्ञोंवाला होता है। इनः न-एक स्वामी की तरह प्रोथमानः-सब इन्द्रियादिकों को अपने वश में करता हुआ होता है और वृषा-शक्तिशाली बनकर यह यवसे-बुराइयों को अपने से पृथक् करने के लिए और अच्छाइयों को अपने से सम्पृक्त करने के लिए होता है।

भावार्थ—नम्रता के द्वारा हम हृदयों में प्रभु का धारण करें। वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करते हुए वासनाओं को जीतकर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें। यज्ञशील हों। जितेन्द्रिय बनकर बुराइयों को अपने से दूर करें और अच्छाइयों का अपने से मेल करें।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मार्गदर्शक प्रभु

तं वो विं न द्रुषदं देवमन्धस इन्दुं प्रोथन्तं प्रवपन्तमर्णवम्।
आसा वह्निं न शोचिषा विरप्शिनं महिव्रतं न सरजन्तमध्वनः ॥ ३ ॥

(१) तम्-उस प्रभु को उपासित करो जो वः-तुम्हारे विं न-पक्षी के समान द्रुषदम्-शरीररूप वृक्ष पर आसीन होनेवाले हैं। देवम्-प्रकाशमय है, अन्धसः इन्दुम्-सोम के द्वारा हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। प्रोथन्तम्-हमारे सब अन्तःशत्रुओं को जो पराभूत करनेवाले हैं (to sabdne)। वासनाओं को पराभूत करके प्रवपन्तम्-जो सद्गुणों के बीजों को बोनेवाले हैं। अर्णवम्-ज्ञान के समुद्र हैं। (२) उस प्रभु का उपासन करो जो प्रभु आसा वह्निं न-मुख से अग्नि के समान हैं, अत्यन्त तेजस्वी हैं। शोचिषा-अपनी ज्ञानदीप्ति से विरप्शिनम्-महान् हैं। और महिव्रतं न-इस महान् व्रतवाले सूर्य की तरह अध्वनः-मार्गों को स-रजन्तम्-(सह रंजयन्तम्) एक साथ दीप्त करते हुए हैं। सूर्य अन्धकार को दूर करके बाह्य मार्गों को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु अज्ञानान्धकार को दूर करके हमारे कर्त्तव्य मार्गों को प्रदर्शित करते हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु का उपासन करें जो हमारे हृदयों में आसीन हैं, प्रकाशमय हैं, हमारी बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों के बीज को हमारे में बोनेवाले हैं, और सूर्य के समान मार्गदर्शक हैं।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'अपरिभूत वेगवाले' प्रभु

वि यस्य ते ज्रयसानस्याजर धक्षोर्न वाताः परि सन्त्यच्युताः।
आ रण्वासो युयुधयो न सत्वनं त्रितं नशन्त प्र शिषन्त इष्टये ॥ ४ ॥

(१) हे अजर-जीर्ण न होनेवाले प्रभो! यस्य-जिन ज्रयसानस्य-वेगवान् ते-आपके वाताः-गमन या वायु के समान वेग धक्षोः न-अग्नि के समान अच्युताः-शत्रुओं से अच्यवनीय होते हुए परि वि सन्ति-चारों ओर विद्यमान हैं। (२) उन सत्वनम्-बलशाली त्रितम्-त्रिलोकी का विस्तार करनेवाले (त्रीन् तनोति) आपके रण्वासः-रणप्रिय, युद्ध में गर्जना करनेवाले युयुधयो न-योद्धाओं के समान आनशन्त-सर्वथा प्राप्त होते हैं। ये इष्टये-इष्ट प्राप्ति के लिए व यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए प्रशिषन्तः-ये सदा आपका विवेक करनेवाले बनते हैं (to diseriminate

from others)। प्रभु का ध्यान करने से चित्तवृत्ति अच्छी बनती है और हमारा झुकाव यज्ञादि उत्तम कर्मों की ओर होता है।

भावार्थ—प्रभु की गति किसी-से च्यवनीय नहीं। योद्धा प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु का विवेक ही हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करता है।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कण्वतमः-कण्वसखा

स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखार्यः परस्यान्तरस्य तरुषः।
अग्निः पातु गृणतो अग्निः सूरीनग्निर्ददातु तेषामवो नः ॥ ५ ॥

(१) **सः**-वह **अग्निः**-अग्रेणी प्रभु **इत्**-ही **कण्वतमः**-अत्यन्त मेधावी हैं, **कण्वसखा**-मेधावियों के मित्र हैं, मेधावी मित्रोंवाले हैं। मेधावी पुरुष ही वस्तुतः प्रभु का मित्र है। **अर्यः**-वे प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। **परस्य**-बाह्य तथा **अन्तरस्य**-अन्दर के शत्रुओं से वे प्रभु **तरुषः**-तरानेवाले हैं। (२) **अग्निः**-ये अग्रेणी प्रभु **गृणतः पातु**-स्तुति करनेवालों का रक्षण करते हैं। **अग्निः**-वे अग्रेणी प्रभु **सूरीन्**-विद्वानों का रक्षण करते हैं। **अग्निः**-वे अग्रेणी प्रभु **तेषाम्**-उन स्तोताओं व ज्ञानियों के **अवः**-रक्षण को **नः**-हमारे लिए **ददातु**-देनेवाले हों। हम भी स्तोता व ज्ञानी बनकर प्रभु के रक्षण के पात्र हों। अथवा ये प्रभु इन स्तोताओं व ज्ञानियों के द्वारा हमारा रक्षण करें। प्रभु इन स्तोताओं व ज्ञानियों का रक्षण करते हैं। इन स्तोताओं व ज्ञानियों के द्वारा वे अन्यों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—मेधावी बनकर मैं प्रभु का प्रिय बनूँ। वे प्रभु हमारे बाह्य व आन्तर शत्रुओं से हमारा रक्षण करते हैं। स्तोता व सूरि प्रभु रक्षण के पात्र होते हैं। इनके द्वारा प्रभु अन्य लोगों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वासना-विजय व प्रभु सामीप्य

वाजिन्तमाय सह्यसे सुपित्र्य तृषु च्यवानो अनु जातवेदसे।
अनुद्रे चिद्यो धृषता वरं सते महिन्तमाय धन्वनेदविष्यते ॥ ६ ॥

(१) हे **सुपित्र्य**-उत्तम माता-पितावाले जीव! 'प्रभु' ही तेरे पिता हैं, 'वेद' तेरी माता है। इन माता-पिता से तू उत्तम माता-पितावाला है। सो तू उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **तृषु**-शीघ्र ही **अनुच्यवानः**-क्रमशः वासनाओं को अपने से पृथक् करनेवाला बन। जितना-जितना तू वासनाओं से ऊपर उठेगा उतना-उतना प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए तू वासनाओं को क्षीण कर, जो **वाजिन्तमाय**-सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न हैं, **सह्यसे**-तेरे शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हैं। **जातवेदसे**-जो सर्वज्ञ हैं व सर्वत्र विद्यमान हैं। (२) उस प्रभु के प्राप्ति के लिए तू काम-क्रोध-लोभ को अपने से च्युत करनेवाला हो, **यः**-जो **अनुद्रे चित्**-उदकरहित स्थल में भी, रेगिस्तान में भी **धृषता**-अपने धर्षक बल से **वरम्**-श्रेष्ठ पदार्थों को **सते**-सत् (=विद्यमान) करनेवाले हैं। **महिन्तमाय**-अत्यन्त महान् व पूज्य हैं और **इत्**-निश्चय से **धन्वना**-'प्रणव' रूप धनुष के द्वारा **अविष्यते**-हमारे रक्षण की कामनावाले हैं। प्रभु हमें 'प्रणव' (ओ३म्) रूप धनुष प्राप्त कराते हैं, इस धनुष के द्वारा हम सब वासनाओं को विद्ध करके विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—जितना-जितना हम वासनाओं को जीत पाते हैं उतना-उतना प्रभु के समीप होते

जाते हैं।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मित्रासः न, द्यावः न (सूर्य की तरह तेजस्वी व ज्ञानदीप्त)

एवाग्निर्मर्तैः सह सूरिभिर्वसु ष्टवे सहसः सूनरो नृभिः।
मित्रासो न ये सुधिता ऋतायवो न द्युम्नैरभि सन्ति मानुषान्॥ ७॥

(१) वे प्रभु **अग्निः**=अग्रेणी हैं, हमें उन्नति के मार्ग पर आगे ले चलनेवाले हैं। **वसुः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। **सहसः सूनरः**=बल के उत्तमता से प्राप्त करानेवाले हैं। उन्नतिपथ पर ले चलकर वे हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं, इस निवास को उत्तम बनाने के लिए वे हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु **सूरिभिः**=ज्ञानी **मर्तैः सह**=मनुष्यों के साथ **नृभिः**=उन्नतिपथ का आक्रमण करनेवाले मनुष्यों से **स्तवे**=स्तवन किये जाते हैं। उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले मनुष्य, ज्ञानियों के सम्पर्क में रहते हुए, प्रभु की स्तुति करनेवाले होते हैं। (२) **एवा**=इस प्रकार **ये**=जो प्रभु स्तवन करनेवाले होते हैं वे **मित्रासः न**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से बचानेवाले सूर्यों के समान होते हैं। नीरोग होते हुए ये सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं। **सुधिताः**=ये सदा तृप्त होते हैं (सुधित=सुहित=तृप्त) इन्हीं के लिए 'आत्मतृप्तः' शब्द का प्रयोग होता है। **ऋतायवः**=ये सदा ऋत की कामनावाले होते हैं, इनके जीवन में अनृत के लिए स्थान नहीं होता। **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **द्यावः न**=ये सूर्यों के समान होते हैं। सूर्य जैसे सब अन्धकारों को विनष्ट कर देता है, इसी प्रकार इनके जीवन में ज्ञान-ज्योति वासनाओं के अन्धकार को विनष्ट कर देती है। ये सूर्यसम दीप्तिवाले लोग **मानुषान्**=प्राकृत मनुष्यों में होनेवाले काम, क्रोध, लोभ आदि भावों को **अभिसन्ति**=अभिभूत कर लेते हैं। इन इतरजनों की भावनाओं को जीतकर ये दैवी वृत्तिवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक सूर्य के समान तेजस्वी होते हुए नीरोग होते हैं। सूर्य के ही समान ज्ञान दीप्त होते हुए वासनान्धकार को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्जोनपात्-सहसावन्

ऊर्जो नपात्सहसावन्निति त्वोपस्तुतस्य वन्दते वृषा वाक्।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ ८॥

(१) **उपस्तुतस्य**-उपासना करते हुए स्तुति करनेवाले की **वृषावाक्**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाली वाणी **त्वा**=आपको 'ऊर्जोनपात्' तथा 'सहसावन्' इन नामों से **वन्दते**=वन्दित करती है। यह उपस्तुत आपको इस रूप में याद करता है कि आप 'ऊर्जोनपात्' हैं, बल और प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। आप 'सहसावन्' हैं, शत्रुओं को कुचल देनेवाली शक्तिवाले हैं। आपसे शक्ति को प्राप्त करके ही उपासक काम-क्रोध आदि को कुचलनेवाला बनता है। (२) **त्वां स्तोषाम**=हे प्रभो! हम आपका ही स्तवन करें। **त्वया सुवीराः**=आपके सम्पर्क से हम उत्तम वीर बनें। और **द्राघीयः आयुः**=दीर्घ जीवन को **प्रतरं** **प्रकृष्टतरम्**=खूब अच्छी प्रकार **दधानाः**=धारण करते हुए हों। 'ऊर्ज्' के द्वारा हम शरीरस्थ रोगों को जीतकर नीरोग व दीर्घजीवी हों। तथा 'सहस्' के द्वारा काम-क्रोध को कुचलकर स्वस्थ व निर्मल मनवाले होते हुए हम प्रकृष्टतर जीवनवाले हैं। गत मन्त्र के शब्दों में हम ऊर्ज् के द्वारा 'मित्रासः न' नीरोग व सूर्यसम तेजस्वी

हों। सहस् के द्वारा 'द्यावः न' सूर्यसम ज्ञानदीप्त हों।

भावार्थ—प्रभु 'ऊर्जोनपात्' व 'सहसावन्' हैं। इस प्रकार स्तवन करता हुआ मैं भी उर्जस्वी व सहसावन् बनूँ। ऊर्जस्वी होकर नीरोग और सहस्वी होकर निर्मल मनवाला होऊँ।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृच्छक्वरी ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृष्टिहव्य-उपस्तुत व ऋषि पुरुषों की ऊर्ध्वगति

इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन्।
ताँश्च पाहि गृणतश्च सूरीन्वषड्वषळित्यूर्ध्वासो अनक्षन्नमो नम इत्यूर्ध्वासो अनक्षन्॥ ९ ॥

(१) जो व्यक्ति हव्य पदार्थों की वृष्टि करनेवाले, अर्थात् अग्नि में हव्य पदार्थों को डालनेवाले हैं वे यज्ञशील हैं। ये वृष्टिहव्य कहलाते हैं। इसी भाव को प्रबलरूप में कहने के लिए '**वृष्टि हव्यस्य पुत्राः**'-वृष्टिहव्य के पुत्र इस शब्द का प्रयोग हुआ है। **उपस्तुतासः**=उपासना में बैठकर प्रभु का स्तवन करनेवाले तथा **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वा**=आपको **इति**=उपरोक्त मन्त्र के 'ऊर्जोनपात् व सहसावन्' इन शब्दों में **अवोचन्**=पुकारते हैं। **तान् च**=उन वृष्टिहव्य के पुत्रों को, यज्ञशील व्यक्तियों को **गृणतः च**=स्तवन करनेवाले उपस्तुतों को **सूरीन्**=ज्ञानी ऋषियों को **पाहि**=हे प्रभो! आप रक्षित करिये। हाथों में यज्ञशील, हृदय में स्तवन की वृत्तिवाले तथा मस्तिष्क में ज्ञानवाले व्यक्तियों का आप रक्षण करिये। (२) **वषट् वषट् इति**=सदा यज्ञों में 'स्वाहा'-(स्व-हा) स्वार्थत्याग को करते हुए ये यज्ञशील पुरुष **ऊर्ध्वासः अनक्षन्**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। **नमः नमः इति**=सदा प्रातः समय आपके प्रति नमन को करते हुए **ऊर्ध्वासः अनक्षन्**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। यज्ञशील व उपासक पुरुष उत्कृष्ट लोक को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील, स्तोता, ज्ञानी पुरुष प्रभु से रक्षणीय होते हैं, ये ऊर्ध्वलोकों को प्राप्त करते हैं।

सूक्त का सार इस अन्तिम मन्त्र में सम्यक्तया संकेतित हो गया है। ऐसा बनने वाला पुरुष 'अग्नियुतः स्थौरः'=प्रभु से युक्त शक्तिशाली होता है, प्रभु की उपासना करता है और प्रभु की शक्ति का प्रवाह उसमें चलता है। अथवा यह 'अग्नियूपः स्थौरः'=यज्ञाग्नि के स्तम्भोंवाला, यज्ञशील व शक्तिशाली होता है यज्ञिय वृत्ति होने से भोगों से ऊपर उठा रहता है और अपनी शक्ति को स्थिर रख पाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन्द्र बनकर सोम का पान करता है, जितेन्द्रियता द्वारा वीर्य का रक्षण करता है। यह वीर्यरक्षण ही इसकी सब उन्नतियों का साधन होता है—

[११६] षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमपान व महतीशक्ति

पिबा सोमं महत इन्द्रियाय पिबा वृत्राय हन्तवे शविष्ठ।
पिब राये शवसे हूयमानः पिब मध्वस्तृपदिन्द्रा वृषस्व॥ १ ॥

(१) **महते इन्द्रियाय**=महान् बल के लिए **सोमं पिबा**=तू सोम का पान कर। सोम के शरीर में रक्षण से तेरी एक-एक इन्द्रिय की शक्ति बड़ी ठीक रहेगी। हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन्! तू **वृत्राय हन्तवे**=इस ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए **पिबा**=इस सोम का पान कर। इसके पान से शक्तिशाली बनकर ही तू वासना का विनाश कर पाएगा। निर्बल पुरुष वासनाओं से अधिक प्रतारित होता है। (२) **हूयमानः**=(कर्मखाः प्रयोगः कर्तरि) प्रभु को

पुकारता हुआ तू राये-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए तथा शवसे-बल के लिए पिब-इस सोम का पान कर। मध्वः-इस जीवन को मधुर बनानेवाले सोम का तृपत्-तृप्ति को अनुभव करता हुआ पिब-पान कर। और हे इन्द्र-जितेन्द्रिय पुरुष! तू आवृषस्व-खूब शक्तिशाली बन।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, सोम का रक्षण करें। यही मार्ग है 'शक्तिशाली बनने का'। यह सोम ही हमें ऐश्वर्य प्राप्ति के व शक्ति-सम्पादन के योग्य करता है।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमपान से 'समृद्धि व सौभाग्य'

अस्य पिब क्षुमतः प्रस्थितस्येन्द्र सोमस्य वरमा सुतस्य।
स्वस्तिदा मनसा मादयस्वार्वाचीनो रेवते सौभगाय ॥ २ ॥

(१) अस्य-इस क्षुमतः-(क्षु=food) हविरूप अन्नवाले, अर्थात् जिसका उत्पादन दानपूर्वक अदन से ही हुआ है (हु दानाद नयोः), उस प्रस्थितस्य-शरीर में विशेषरूप से स्थित सोमस्य-सोम का, वीर्यशक्ति का हे इन्द्र-जितेन्द्रिय पुरुष! पिब-तू पान कर। आ सुतस्य-जो सोम सब ओर उत्पन्न किया जाता है उस सोम के वरम्-वरणीय भाग को तू पीनेवाला बन। यह सोम तो सचमुच वरणीय ही वरणीय है। (२) इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने से स्वस्तिदाः-यह कल्याण का देनेवाला होता है। इसका पान करके तू मनसा मादयस्व-मन से आनन्द का अनुभव कर। सोमरक्षण से जीवन उल्लासमय बनता है। अर्वाचीनः-(अर्वाङ् अञ्चति) शरीर के अन्दर ही गति करनेवाला यह सोम रेवते-ऐश्वर्योंवाले सौभगाय-सौभाग्य के लिए होता है। अर्थात् सोमरक्षण मनुष्य को ऐश्वर्य प्राप्ति के योग्य तथा सौभाग्यशाली बनाता है, इस सोमपान करनेवाले का जीवन (place, planty of prospeity) समृद्धि व सौभाग्यवाला होता है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। यह हमें कल्याण को प्राप्त करायेगा और हमारे जीवन की समृद्धि, सौभाग्य-सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उल्लास का कारणभूत 'सोम'

ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु।
ममत्तु येन वरिवश्चकर्थ ममत्तु येन निरिणासि शत्रून् ॥ ३ ॥

(१) हे इन्द्र-जितेन्द्रिय पुरुष! त्वा-तुझे सोमः-यह शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ सोम ममत्तु-आनन्दित करे। वह सोम जो दिव्यः-तुझे दिव्यता प्रदान करनेवाला है। इस सोम के रक्षण से तेरी ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और तेरा जीवन प्रकाशमय होगा। (२) ममत्तु-वह सोम तुझे उल्लासमय करे यः-जो पार्थिवेषु-इस पृथिवीरूप शरीर के अधिष्ठाताओं में सूयते-उत्पन्न होता है। हम शरीर को वशीभूत करनेवाले, शरीर के अधिष्ठाता बनते हैं तो यह सोम हमारे में सुरक्षित होता है और हमारे उल्लास का कारण बनता है। (३) वह सोम ममत्तु-तुझे प्रसन्नतायुक्त करे येन-जिसके द्वारा तू वरिवः-धन को चकर्थ-सम्पादित करता है। सोमरक्षण से शक्ति-सम्पन्न होकर मनुष्य वरणीय धन को प्राप्त कर पाता है। (४) वह सोम तुझे ममत्तु-आनन्दित करे येन-जिससे तू शत्रून्-शत्रुओं को निरिणासि-अपने से निर्गत करता है। सोम के रक्षण के होने पर शरीर में रोगरूप शत्रु नहीं रहते और मन में 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' रूप शत्रुओं का वास नहीं होता।

भावार्थ—शरीर में रक्षित हुआ-हुआ सोम प्रकाश को प्राप्त कराता है, जीवन को उल्लासमय

बनाता है, धन कमाने के योग्य करता है तथा रोग व वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करता है।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्विबर्हाः अमिनः

आ द्विबर्हा अमिनो यात्विन्द्रो वृषा हरिभ्यां परिषिक्तमन्धः।
गव्या सुतस्य प्रभृतस्य मध्वः सत्रा खेदामरुशहा वृषस्व ॥ ४ ॥

(१) **द्विबर्हाः**-विद्या व श्रद्धा दोनों से बढ़ा हुआ, **अमिनः**=गतिशील, विद्या व श्रद्धा से युक्त होकर कर्म करता हुआ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृषा**-शक्तिशाली होता हुआ **आयातु**-प्रभु को प्राप्त हो। इसके जीवन में **हरिभ्याम्**-ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के उद्देश्य से **अन्धः**=सोम (=वीर्य) **परिषिक्तम्**-अंग-प्रत्यंग में चारों ओर सिक्त हुआ है। इस सोम सेचन से इसका शरीर सबल बना है और सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों के करने में समर्थ हुई हैं। (२) हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **गव्या**=इन्द्रिय समूह के दृष्टिकोण से **सुतस्य**-उत्पन्न किये गये **प्रभृतस्य**-शरीर में धारण किये गये **मध्वः**=सोम से तू **सत्रा**-सदा खेद के कारणभूत **अरुशहा**-शत्रुओं का हनन करनेवाला होता हुआ **आवृषस्व**-शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण कर (अरुशाः=शत्रवः सा०)। (३) जब मनुष्य श्रद्धा व ज्ञान का विकास करके गतिशील होता है तो वह सोमरक्षण के द्वारा सब इन्द्रियों को सशक्त बनाता है, सब वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करता है, अन्त में प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में सोम का उत्पादन इसीलिए किया है कि हम सब इन्द्रियों को सशक्त बना पाएँ अन्त में वासनाओं के संहार के द्वारा प्रभु को पानेवाले बनें।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आयुध-दीपन व शत्रु-व्रश्चन

नि तिग्मानि भ्राशयन्भ्राश्यान्यव स्थिरा तनुहि यातुजूनाम्।
उग्राय ते सहो बलं ददामि प्रतीत्या शत्रून्विगदेषु वृश्च ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण के द्वारा **तिग्मानि**-खूब तेजस्वितावाले **भ्राश्यानि**-दीप्त आयुधों को 'इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप' साधनों को **निभ्राशयन्**-खूब चमकाता हुआ, दीप्त करता हुआ तू **यातुजूनाम्**-पीड़ा देनेवाले काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं के **स्थिरा**-बड़े दृढ दुर्गों को **अवतनुहि**-क्षीण कर दे (to loosen, undo)। काम इन्द्रियों में कितना ही दृढ दुर्ग बनाया हुआ है। क्रोध ने मन में और लोभ ने बुद्धि में अपना किला बनाया है। सोमपान करनेवाला उपासक अपने आयुधों को तीव्र व दीप्त करके इन किलों को तोड़ डालता है। (२) इस सोमपान करनेवाले उपासक से प्रभु कहते हैं कि **उग्राय ते**-तुझ उदात्तवृत्तिवाले के लिए **सहः बलम्**-शत्रुओं के कुचल देनेवाले बल को **ददामि**-देता हूँ। तू **विगदेषु**-विशिष्ट आह्वान प्रत्याह्वान के शब्दोंवाले युद्धों में **शत्रून् प्रतीत्या**-शत्रुओं के प्रति जाकर **वृश्च**-शत्रुओं का छेदन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को तीव्र व दीप्त बनाएँ, अध्यात्म संग्रामों में शत्रुओं का व्रश्चन करनेवाले बनें।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान, ओज व बल

व्य॒र्यं इ॑न्द्र तनुहि॒ श्रवां॒स्योजः॑ स्थि॒रेव॒ धन्व॑नो॒ऽभिमा॑तीः।

अ॒स्म॒द्र्य॑ग्वावृधा॒नः सहो॑भि॒रनि॑भृष्टस्त॒न्वं॑ वावृधस्व ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अर्यः**-स्वामी होते हुए आप **श्रवांसि**-हमारे ज्ञानों को **वितनुहि**-विशेषरूप से विस्तृत करिये। हमारी **ओजः**-शक्ति को भी बढ़ाइये। आप **अभिमानीः**-हमारे शत्रुओं के प्रति **स्थिरा इव धन्वनः**-बड़े दृढ़ ही धनुषों को **वितनुहि**-तानिये। इन धनुषों द्वारा उनका विनाश करिये। (२) **अस्मद्र्यग्**-आप हमें प्राप्त होनेवाले होइये। 'अस्यान् अञ्चति'। **सहोभिः**-शत्रु-मर्षण शक्तियों से **वावृधानः**-खूब ही हमारा वर्धन करते हुए **अनिभृष्टः**-शत्रुओं से अपरभवनीय होते हुए आप **तन्वं वावृधस्व**-हमारे शरीरों का वर्धन करिये। हमारे अंग-प्रत्यंग की शक्ति को आप बढ़ाइये।

भावार्थ—प्रभु हमारे ज्ञान, ओज व बल को बढ़ायें। हमें शत्रु-मर्षण-सामर्थ्य प्राप्त हो।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दानपूर्वक अदन-सोम का रक्षण

इ॒दं ह॒विर्म॑घव॒न्तुभ्यं॑ रा॒तं प्रति॑ सम्रा॒ळह्रणा॒नो गृ॑भाय।

तुभ्यं॑ सु॒तो म॑घव॒न्तुभ्यं॑ प॒क्वो॒३॒॑ऽद्धीन्द्र॒ पिब॑ च॒ प्रस्थि॑तस्य ॥ ७ ॥

(१) हे **मघवन्**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इदं हविः**-यह हवि **तुभ्यं रातम्**-आपकी प्राप्ति के लिए दी गई है, हवि के द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है। हे प्रभो! **सम्राट्**-आप ही शासक हो। **अहृणानः**-किसी भी प्रकार हमारे पर क्रुद्ध न होते हुए **प्रति** [illegible]-इस हवि को ग्रहण करिये। वस्तुतः हवि के द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाला प्रभु का प्रिय होता है, प्रभु इसपर कभी अप्रसन्न नहीं होते। 'दानपूर्वक अदन'-'यज्ञशेष का सेवन'-'हवि' ही मार्ग है, प्रभु के आराधन का। (२) हे **मघवन्**-ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्यं सुतः**-आपकी प्राप्ति के लिए ही शरीर में इस सोम का उत्पादन हुआ है। **तुभ्यं पक्वः**-आपकी प्राप्ति के लिए ही संयमाग्नि में इसका ठीक प्रकार से परिपाक किया गया है। (३) प्रभु जीव से कहते हैं कि **इन्द्र**-हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **प्रस्थितस्य**-प्रकर्षेण स्थित इस सोम का **अद्धि**-भक्षण करनेवाला हो, शरीर की शक्तियों के विकास में ही तू इसे (to consuere) व्ययित करनेवाला हो। **च**-और **पिब**-तू शरीर में ही इसका पान कर, इसे शरीर में ही व्याप्त करने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए दो साधन हैं—(ख) दानपूर्वक अदन, (ख) सोम का रक्षण।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्य कामनाएँ

अद्धीदि॑न्द्र॒ प्रस्थि॑ते॒मा ह॒वींषि॒ चनो॑ दधिष्व पच॒तोत सोम॑म्।

प्रय॑स्वन्तः॒ प्रति॑ हर्यामसि त्वा स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑ ॥ ८ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! **इमा प्रस्थिता**-इन प्रकृष्ट स्थितिवाली **हवींषि**-हवियों को **इत्**-ही **अद्धि**-खा। हवि, अर्थात् दानपूर्वक अदन मनुष्य को प्रकृष्ट स्थिति प्राप्त कराता है इस हवि के द्वारा ही तो वस्तुतः प्रभु का पूजन होता है। इस प्रकार

यह हवि हमारी सर्वोच्च स्थिति का कारण बनती है। (२) प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू **धनः दधिष्व**=अन्न को ही धारण कर। अन्न का ही सेवन करनेवाला बन। **उत**=और **सोमम्**=सोम को **पचत**=अपने में परिपक्व करो। (३) प्रभु के आदेश को सुनकर जीव कहता है कि **प्रयस्वन्तः**=उत्तम अन्नोंवाले होते हुए हम **त्वा प्रतिहर्यामसि**=आपके प्रति आते हैं। **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष की **कामाः**=कामनाएँ **सत्याः सन्तु**=सदा सत्य हों। यह कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो। मैं यज्ञशील होता हुआ अनृत कामनाओं से ऊपर उठूँ। मेरी कामना यही हो 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'।

भावार्थ—प्रभु के तीन आदेश हैं—(क) दानपूर्वक अदनवाले बनो, (ख) अन्नों का सेवन करो, (ग) शरीर में सोम को परिपक्व करो। इन आदेशों को सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि अन्नों का सेवन करते हुए हम आपकी ओर आएँ तथा सदा सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र व अग्नितत्त्व का विकास

प्रेन्द्राग्निभ्यां सुवचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः।
अयाइव परि चरन्ति देवा ये अस्मभ्यं धनदा उद्भिदश्च ॥ १ ॥

(१) मैं **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र और अग्निदेव के लिए, बल व प्रकाश की प्राप्ति के लिए (सर्वाणि बल कर्माणि इन्द्रस्य, अग्नि=प्रकाश) **अर्कैः**=वेद-मन्त्रों के द्वारा **सुवचस्याम्**=उत्तम उच्चारण करने योग्य स्तुति को इस प्रकार **प्र इयर्मि**=प्रेरित करता हूँ **इव**=जैसे कि **सिन्धौ**=समुद्र में **नावम्**=नौका को। मेरी प्रभु से यही आराधना होती है कि मुझे शक्ति प्राप्त हो और मैं प्रकाश को प्राप्त करनेवाला होऊँ। मेरा मस्तिष्क प्रकाशमय हो और शरीर शक्ति-सम्पन्न। नौका समुद्र से पार लगाती है, यह स्तुति निर्बलता व अन्धकार को दूर करती है। (२) ऐसा होने पर **देवाः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सब देव **अयाः**=कर्मकरों की **इव**=तरह **परिचरन्ति**=हमारी सेवा करते हैं, **ये**=जो देव **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **धनदाः**=धनों के देनेवाले हैं **उद्भिदः च**=और हमारे शत्रुओं का उद्भेदन करनेवाले हैं। शत्रुओं के विदारण के द्वारा ये देव हमारी उन्नति का कारण होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें प्रकाश व बल प्राप्त कराएँ सूर्यादि सब देव हमें आवश्यक धन प्राप्त कराएँ और हमारी उन्नति का कारण बनें।

सूक्त का विषय सोमपान के द्वारा जीवन को प्रशस्त करने का है। इस सोमपान के द्वारा ही हमारे जीवन में अग्नि व इन्द्र तत्त्व का विकास होता है, हम प्रकाश व शक्ति को प्राप्त करते हैं। इन दोनों तत्त्वों का विकास हमें अत्यन्त उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता है। जीवन के उत्कर्ष के लिए यह भी आवश्यक है कि हम देनेवाले बनें। धन के मोह से ऊपर उठनेवाला, सर्वस्व त्यागी 'भिक्षु' अगले सूक्त का ऋषि है—

[११७] सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—भिक्षुः ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

क्षुधार्त व अतियुक्त

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥ १ ॥

(१) **देवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **क्षुधं इत्**=भूखे को ही (underfed को ही)

वधम्-वध न वा उ-नहीं ददुः-देते हैं, उत-अपितु आशितम्-(overfed) खूब तृप्तिपूर्वक खानेवाले को भी मृत्यवः-रोग व मृत्यु उपगच्छन्ति-प्राप्त होते ही हैं। इसलिए 'आशित' होने की अपेक्षा यही अच्छा है कि कुछ भोजन क्षुधार्त को दे दिया जाए जिससे क्षुधार्त भूखा मरने से बच जाए और आशित अतिभोजन से बचकर मृत्यु से बच जाए। (२) उत-और उ-निश्चय से पृणतः-दान देनेवाले का रयिः-धन न उपदस्यति-नष्ट नहीं होता है। सो 'दान देने से धन में कमी आ जाएगी' ऐसा न समझना चाहिए। (३) उत-और अपृणन्-दान न देनेवाला मर्डितारम्-उस सुख देनेवाले प्रभु को न विन्दते-नहीं प्राप्त करता। धन का लोभ प्रभु प्राप्ति में बाधक बन जाता है। धन मनुष्य को इस संसार से बद्ध कर देता है और इस प्रकार प्रभु से दूर रखता है।

भावार्थ—दान देने से—(क) क्षुधार्त का मृत्यु से बचाव होता है और अतियुक्त भी मरने से बच जाता है, (ख) दान देने से धन बढ़ता ही है, (ग) धनासक्ति न रहने से प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—भिक्षुः ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

क्रूरता की पराकाष्ठा

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते ॥ २ ॥

(१) यः-जो अन्नवान् सन्-खूब अन्नवाला होता हुआ भी आध्राय-आधार देने योग्य, अर्थात् अपाहिज के लिए, पित्वः चकमानाय-अन्न की याचना करनेवाले के लिए, रफिताय-भूखे मर रहे (हिंसित) के लिए, उपजग्मुषे-अन्न मिलने की आशा से समीप आये हुए के लिए मनः स्थिरं कृणुते-मन को बड़ा पक्का करता है, उसमें नैसर्गिक करुणा को भी मारने का प्रयत्न करके न देने का निश्चय करता है। उत उ-और मन को केवल दृढ़ करके ही रुक जाए ऐसा न करके पुरा चित् सेवते-उसके सामने ही अन्नों का (मजे से) सेवन करता है सः-वह मर्डितारम्-उस सुख देनेवाले प्रभु को न विन्दते-कभी प्राप्त नहीं करता। (२) आधार देने योग्य अपाहिज को, अन्न की याचना करनेवाले को, भूख से मरे जाते हुए को तथा अन्न की आशा से समीप आये हुए को अन्न देना ही चाहिए। 'इनकार कर देना' उन याचकों के दिल को तोड़ देता है उनके सामने खाने का मजा लेने लगना तो क्रूरता की पराकाष्ठा ही है। मनुष्यता के साथ इतनी दिल की क्रूरता का विरोध है। इस क्रूर-हृदय ने प्रभु को क्या पाना? उस भूखे के रूप में प्रभु ने ही उसे सेवा का मौका दिया, पर इस नासमझ ने उस अवसर से लाभ न लिया।

भावार्थ—भूखे को रोटी न देकर, उसके सामने स्वाद से खाते जाना मानवता नहीं है।

ऋषिः—भिक्षुः ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'भोज' (का लक्षण)

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ३ ॥

(१) सः इत्-वह ही भोजः-अपना पालन करनेवाला है, यः-जो गृहवे-भिक्षा को ग्रहण करनेवाले, अन्नकामाय-अन्न की कामनावाले, चरते-यत्र-तत्र विचरण करते हुए कृशाय-(enuneiated) दुर्बल के लिए ददाति-अन्न को देता है। वस्तुतः इस प्रकार औरों के लिए देकर बचे हुए को खानेवाला ही प्रभु का प्रिय होता है, यह विषय-वासनाओं का शिकार न होकर वस्तुतः

अपना पालन करनेवाला होता है। (२) **अस्मै**=इसके लिए **यामहूतौ**=(यामा: गन्तारो देवा: हूयन्ते यत्र) यज्ञों में, (याम=प्रहर) उस-उस समय की पुकार में उस-उस समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए **अरं भवति**=पर्याप्त होता है, अर्थात् इसे किसी कार्य के लिए धन की कमी नहीं रहती। (३) **उत**=और **अपरीषु**=परायों में भी, शत्रु प्रजाओं में भी **सखायं कृणुते**=मित्र को करता है। शत्रु प्रजाएँ भी इसके लिए सहायक होती हैं। शत्रु भी इसके मित्र बन जाते हैं।

भावार्थ—अन्न की कामना से विचरण करनेवाले के लिए जो अन्न को देता है, वही वस्तुत: अपना भी वस्तुत: पालन करता है। किसी भी आवश्यक कार्य के लिए इसे धन की कमी नहीं होती। शत्रु भी इसके मित्र बन जाते हैं।

ऋषि:—भिक्षु: ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

सखा कौन?

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्व:।

अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ ४ ॥

(१) **स सखा न**=वह मित्र नहीं है, **य:**=जो **सख्ये**=अपने मित्र के लिए, **सचाभुवे**=सदा साथ होनेवाले के लिए, सुख-दु:ख में हाथ बटानेवाले के लिए, **सचमानाय**=सेवा करनेवाले के लिए **पित्व: न ददाति**=अन्न को नहीं देता है। जब तक हमें आवश्यकता थी उस हमारे मित्र ने हमारी मदद की, कभी हमारा साथ नहीं छोड़ा। पर आज अचानक उसे अन्न की आवश्यकता हो गई और हमने उससे मुख मोड़ लिया, उसे अन्न नहीं दिया और उसे भूखे ही मरने दिया तो यह क्या कोई मित्रता है? इससे बढ़कर शत्रुता व कृतघ्नता हो ही क्या सकती है? (२) वेद कहता है कि **अस्मात्**=इससे **अप प्रेयात्**=दूर ही चला जाए। **तत् ओक: न अस्ति**=यह घर नहीं है। **पृणन्तम्**=अन्नादि के देनेवाले **अन्यम्**=दूसरे **अरणं चित्**=पराये को भी **इच्छेत्**=चाहे भूखे को अन्न देनेवाला पराया घर भी अपना हो जाता है। अन्न को न देनेवाला अपना घर भी पराया हो जाता है।

भावार्थ—भूखे को अन्न न देनेवाला अपना घर भी पराया हो जाता है। अन्न देनेवाला पराया भी घर अपना हो जाता है।

ऋषि:—भिक्षु: ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्द:—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

रथचक्र की तरह चलायमान 'धन'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त राय: ॥ ५ ॥

(१) **तव्यान्**=धनों के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ पुरुष **नाधमानाय**=माँगनेवाले के लिए **पृणीयात् इत्**=दे ही जिस समय कोई माँगनेवाला आये, तो इनकार करने की अपेक्षा **द्राघीयांसं पन्थाम्**=इस लम्बे मार्ग को **अनुपश्येत**=देखे। इस अतिविस्तृत समय में पता नहीं किसी का कब कैसा समय आ जाए? (२) ये **राय:**=धन तो **रथ्या चक्रा इव**=रथ के पहियों की तरह **हि उ**=निश्चय से **आवर्तन्ते**=आवृत हो रहे हैं। **अन्यं अन्यं**=दूसरे-दूसरे के पास **उपतिष्ठन्ते**=ये धन उपस्थित होते हैं। जैसे रथ के पहिये का एक भाग जो ऊपर है, वह थोड़ी देर के बाद नीचे हो जाता है उसी प्रकार आज एक व्यक्ति धन के दृष्टिकोण से खुद उन्नत है, जितना चाहे दे सकता

है। कल वही निर्धन अवस्था में होकर माँगनेवालों में भी शामिल हो सकता है। इसलिए सामर्थ्य के होने पर देना ही चाहिए।

भावार्थ—धन अस्थिर हैं। कल हमारे पास भी सम्भवतः न रहें। सो शक्ति के होने पर माँगनेवाले के लिए देना ही चाहिए।

ऋषिः—भिक्षुः ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

केवलाघः=केवलादी

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ६॥

(१) **अप्रचेताः**=गत मन्त्र में वर्णित तत्त्व को न समझनेवाला, धनों की अस्थिरता का विचार न करनेवाला **अन्नं मोघं विन्दते**=अन्न को व्यर्थ ही प्राप्त करता है। प्रभु कहते हैं कि **सत्यं ब्रवीमि**=मैं यह सत्य ही कहता हूँ कि **स**=वह अन्न व धन **तस्य**=उसका **इत्**=निश्चय से **वधः**=वध का कारण होता है। यह अदत्त अन्न व धन उसकी विलास वृद्धि का हेतु होकर उसका विनाश कर देता है। (२) यह **अप्रचेताः**=नासमझ व्यक्ति **न**=न तो **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) राष्ट्र के शत्रुओं का नियमन करनेवाले राजा को **पुष्यति**=पुष्ट करता है, **नो**=और ना ही **सखायम्**=मित्र को। यह कृपण व्यक्ति राष्ट्र रक्षा के लिए राजा को भी धन नहीं देता और ना ही इस धन से मित्रों की मदद करता है। (३) यह दान न देकर **केवलादी**=अकेला खानेवाला व्यक्ति **केवलाघः भवति**=शुद्ध पाप ही पाप हो जाता है। यज्ञों को न करनेवाला यह **मलिम्लुच**=चोर ही कहलाता है। अदानशील पुरुष भौतिक वृत्तिवाला बनकर भोगों का शिकार हो जाता है। लोभ के बढ़ जाने से पापवृत्तिवाला हो जाता है।

भावार्थ—दान न देनेवाला धनी पुरुष भोगसक्त होकर अपना ही विनाश कर बैठता है और उसकी पापवृत्ति बढ़ती जाती है।

ऋषिः—भिक्षुः ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अदान-नदान

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥ ७॥

(१) **कृषन् इत्**=भूमि को जोतता हुआ ही **फालः**=फल का-हल का अग्रभाग **आशितम्**=(आ अशितं) समन्तात् भोजन को **कृणोति**=करता है। अलमारी में पड़े हुए फाल से यह 'कृषन् फाल' सदा उत्कृष्ट है। (२) **यन्**=गति करता हुआ पुरुष **चरित्रैः**=कदमों से **अध्वानम्**=मार्ग को **अपवृङ्क्ते**=(finish) समाप्त कर लेता है, रास्ते को काट लेता है, तय कर लेता है। इसीलिए बैठे हुए या लेटे हुए पुरुष से यह चलनेवाला पुरुष श्रेष्ठ है। (३) **वदन्**=ज्ञानोपदेश देता हुआ **ब्रह्मा**=ज्ञानी **अवदतः**=ज्ञानोपदेश न देनेवाले से **वनीयान्**=अधिक सम्भजनीय, उपासनीय है। (४) ठीक इसी प्रकार **पृणन् आपिः**=सदा देता हुआ मित्र **अपृणन्तम्**=न देते हुए को **अभिष्यात्**=अभिभूत कर लेता है। अर्थात् देनेवाला, न देनेवाले से अच्छा ही है।

भावार्थ—न देने से देना सदा अच्छा है। दान प्रेम को स्थिर करनेवाला है।

ऋषिः—भिक्षुः ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दान धन के अनुपात में नहीं

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥

(१) दान धन की न्यूनाधिकता पर निर्भर नहीं है, यह तो मन की उदारता व संकुचितता के साथ सम्बद्ध है। उदार मनवाला **एकपाद्**-'एक भाग' धनवाला पुरुष **द्विपदः**-संकुचित मनवाले 'द्विभाग धन' वाले पुरुष से **भूयः विचक्रमे**-अधिक पराक्रम करनेवाला होता है। एक भाग धनवाला द्विभाग धनवाले से अधिक दान दे देता है। (२) **द्विपात्**-द्विभाग धनवाला पुरुष **त्रिपादम्**-त्रिभाग धनवाले **पश्चात्**-पुरुष के पीछे-पीछे **अभ्येति**-आनेवाला होता है। अर्थात् जैसे कई बार पच्चीस रुपयेवाला पचास रुपयेवाले से अधिक दान दे देता है, इसी प्रकार पचास रुपयेवाला, उदारता के होने पर, पचहत्तर रुपयेवाले के बराबर दान देनेवाला बनता है। (३) **चतुष्पाद्**-चार भाग धनवाला, अर्थात् सौ रुपयेवाला **द्विपदाम्**-दो भाग धनवालों के पचास रुपयेवालों के **अभिस्वरे**-नामोच्चारण में **एति**-आता है, अर्थात् जितना द्विपदों का दान सुनाया जाता है उतना ही इस चतुष्पात् का दान होता है। यह चतुष्पात् उन द्विपदों को **संपश्यन्**-देखता हुआ पंक्ती **उपतिष्ठमानः**-उनकी पंक्तियों का उपस्थान करता है, उनके समीप उपस्थित हुआ-हुआ दिल में उनका आदर ही करता है कि 'मेरे से आधी सम्पत्तिवाले होते हुए भी ये मेरे बराबर देनेवाले हुए हैं'। इस प्रकार दान की न्यूनाधिकता धन पर आश्रित न होकर हृदय की विशालता पर आश्रित है।

भावार्थ—हम विशाल हृदय होंगे तो अधिक दान देनेवाले होंगे। अधिक दान देने से हृदय को विशाल व पवित्र बना पाएँगे।

ऋषिः—भिक्षुः ॥ देवता—धनान्नदानप्रशंसा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दानवृत्ति का वैषम्य

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥ ९ ॥

(१) **समौ चित् हस्तौ**-दो हाथ एक ही शरीर में होते हुए भी **समम्**-समानरूप से **न विविष्टः**-कार्यों में व्याप्त नहीं होते। दाहिना हाथ अधिक कार्य करता है, सामान्यतः बाँया कम। (२) इसी प्रकार **सम्मातरा चित्**-एक ही गाय से उत्पन्न हुई-हुई बछियाएँ बड़ी होकर **समं न दुहाते**-समान दूध नहीं देती। एक दस सेर दूध देनेवाली बन जाती है, तो दूसरी पाँच ही सेर देनेवाली होती है। (३) **यमयोः चित्**-जुड़वाँ (twins) उत्पन्न हुए-हुए बच्चों के भी **वीर्याणि समा न**-शक्तियाँ समान नहीं होती। एक स्वस्थ व सशक्त होता है, तो दूसरा अस्वस्थ व निर्बल ही रह जाता है। (४) इसी प्रकार **ज्ञाती चित् सन्तौ**-समीप के रिश्तेदार होते हुए भी **सं न पृणीतः**-बराबर दान देनेवाले नहीं होते। एक अत्यन्त उदार होता है तो कई बार दूसरा बड़ा कृपण प्रमाणित होता है।

भावार्थ—दानवृत्ति सर्वत्र समान नहीं होती। अन्य बातों की तरह इस वृत्ति में भी पुरुषों का वैषम्य है। जितना देंगे उतना ऊँचा उठेंगे।

सारा सूक्त धन व अन्न दान की प्रशंसा कर रहा है। दान 'धन के अधिक होने पर ही होगा'

ऐसी बात नहीं है। यह तो हृदय की उदारता पर निर्भर करता है। भौतिक वृत्तिवाला दान नहीं दे पाता। सो अगला सूक्त 'अमहीयु' के सन्तान 'आमहीयव' का है, अ-मही-यु=न भौतिक वृत्तिवाला। यह उरुक्षय:=विस्तृत गतिवाला बनता है (क्षि-गतौ)। इसका घर विशाल होता है, उसमें आये गये के लिए सदा स्थान होता है। लोकहित के उद्देश्य से यह अग्निहोत्र की वृत्तिवाला होता है। यह अग्नि इसके रोगकृमियों का भी संहार करनेवाला होता है। 'रक्षोहा अग्नि' ही सूक्त का देवता है—

[११८] अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शुचिव्रतता

अग्ने॒ हंसि॒ न्य१॒॑त्रिणं॒ दीद्य॒न्मर्त्ये॒ष्वा। स्वे क्षये॑ शुचिव्रत॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! जैसे अग्निहोत्र का अग्नि (मर्त्येषु स्वे क्षये:) मनुष्यों के अपने घरों में चमकता हुआ (दीद्यन्) रोगकृमियों को (अत्रिणं) विनष्ट करता है इसी प्रकार आप **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **दीद्यन्**=प्रकाशित होते हुए, उपासना से हृदयों में आपका प्रकाश होने पर, **अत्रिणम्**=इस महाशन काम को **निहंसि**=निश्चय से नष्ट करते हैं। (२) **शुचिव्रत**=पवित्र व्रतोंवाले प्रभो! **स्वे क्षये**=आप अपने घर में इस काम को विनष्ट करते हैं। उपासक का हृदय आपका निवास-स्थान बन जाता है। वहाँ आप काम का प्रवेश नहीं होने देते। काम के विनष्ट हो जाने से यह उपासक अपने उपास्य प्रभु की तरह पवित्र व्रतोंवाला हो जाता है।

भावार्थ—उपासक का हृदय प्रभु का निवास-स्थान बनता है। प्रभु वहाँ से 'काम' को विनष्ट कर देते हैं और इस प्रकार उपासक को पवित्र व्रतोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वस्थ-दीप्त-यज्ञशील

उत्ति॑ष्ठसि॒ स्वाहु॑तो घृ॒तानि॒ प्रति॑ मोदसे। यत्त्वा॒ स्रुचः॑ स॒मस्थि॑रन्॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **सु आहुतः**=अच्छी तरह अर्पित हुए-हुए, जिनके प्रति उपासक ने अपना सम्यक् अर्पण किया है, **उत्तिष्ठासि**=उठ खड़े होते हैं। उपासक के रक्षण के लिए आप सदा उद्यत रहते हैं। (२) **घृतानि प्रति**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तियों के अनुसार **मोदसे**=आप प्रसन्न होते हैं। जैसे एक पिता अपने पुत्र को स्वस्थ व ज्ञानदीप्त देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार प्रभु उपासक को निर्मल व दीप्त देखकर प्रसन्न होते हैं। **यत्**=जब **त्वा**=तुझे **स्रुचः**=(यजमानः स्रुचः तै ३।३।६।३) यज्ञशील पुरुष **समस्थिरन्**=अपने में संस्थित करते हैं। (३) यहाँ मन्त्र में 'घृतानि' शब्द शरीरों के मलों के दूरीकरण के द्वारा स्वास्थ्य तथा ज्ञानदीप्ति का संकेत करता है और 'स्रुचः' शब्द यज्ञशीलता का। शरीर स्वस्थ हो, मस्तिष्क दीप्त हो तथा हृदय यज्ञिय-वृत्तियों से पूर्ण हो तो प्रभु क्यों न प्रसन्न होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, प्रभु हमारा रक्षण करें। हम स्वस्थ-दीप्त-यज्ञशील बनें, प्रभु हमारे से प्रसन्न होंगे।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान द्वारा प्रभु की अर्चना

स आहुतो वि रोचतेऽग्निरीळेन्यो गिरा। स्रुचा प्रतीकमज्यते॥ ३॥

(१) **आहुतः सः**-आहुत हुए-हुए वे प्रभु **विरोचते**-चमकते हैं। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें तो प्रभु हमारे हृदयों में अवश्य प्रकाशित होंगे। **अग्निः**-ये अग्रेणी प्रभु **गिरा ईडेन्यः**-ज्ञान की वाणियों के द्वारा स्तुति को योग्य हैं। जितना-जितना हम ज्ञान की वाणियों को अपनाते हैं उतना-उतना प्रभु के हम उपासक बनते हैं। (२) **स्रुचा**-(यजमानः स्रुचः तै० ३।३।६।३) यज्ञशील पुरुष से **प्रतीकम्**-अंग-प्रत्यंग **अज्यते**-अलंकृत किया जाता है। यज्ञशीलता हमें विलास से दूर ले जाती है, 'विलास से दूर रहना' हमें विनाश से बचाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। ज्ञान-वाणियों के द्वारा उसका स्तवन करें। यज्ञशील बनकर अलंकृत अंगोंवाले हों।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'मधु प्रतीक' प्रभु

घृतेनाग्निः समज्यते मधुप्रतीक आहुतः। रोचमानो विभावसुः॥ ४॥

(१) **घृतेन**-मलों के क्षरण व ज्ञान के दीपन से **अग्निः**-वे अग्रेणी प्रभु **समज्यते**-जाने जाते हैं। (अगि गतौ) प्रभु प्राप्ति का उपाय यह है कि—हम शरीर से मलों का क्षरण करके शरीर को स्वस्थ रखने का ध्यान करें और स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को दीप्त करें। (२) वे प्रभु **मधु प्रतीकः**-अत्यन्त मधुर मुखवाले हैं, अत्यन्त प्रेममय शब्दों में उत्साह की प्रेरणा देनेवाले हैं। **आ-हुतः**-(आ हुतं यस्य) समन्तात् दानवाले हैं। **रोचमानः**-तेजस्विता व ज्ञान से दीप्त हैं। **विभावसुः**-ज्ञानरूप धनवाले हैं। उपासक को भी प्रभु यह ज्ञानरूप धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए हम मलों को अपने से दूर करें तथा ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमें अत्यन्त मधुर शब्दों में प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'हव्यवाहन' प्रभु

जरमाणः समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन। तं त्वा हवन्त मर्त्याः॥ ५॥

(१) हे **हव्यवाहन**-हव्य-पवित्र पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **जरमाणः**-स्तुति किये जाते हुए **देवेभ्यः**-देवों के लिए **समिध्यसे**-दीप्त होते हो। देववृत्ति के पुरुषों के हृदय में, स्तवन के होने पर, प्रभु प्रकट होते हैं। (२) हे प्रभो! **तं त्वा**-उन आपको **मर्त्याः हवन्त**-सब मनुष्य पुकारते हैं। सब व्यक्ति कष्ट के आने पर प्रभु का ही स्मरण करते हैं। कष्ट निवारण के लिए प्रभु का ही आराधन करते हैं। देव तो सदा प्रभु का स्मरण करते ही हैं, वस्तुतः उनके देवत्व का रहस्य इस प्रभु-स्मरण में ही है। मर्त्य भी प्रभु को ही पुकारते हैं। वे प्रभु ही सब हव्यपदार्थों को प्राप्त कराके हमारे कष्टों को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु देववृत्ति के पुरुषों के हृदयों में प्रकट होते हैं।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अदाभ्य-गृहपति

तं मर्ता अमर्त्यं घृतेनाग्निं सपर्यत। अदाभ्यं गृहपतिम्॥ ६॥

(१) हे **मर्ताः**-मनुष्यो! **तम्**-उस **अमर्त्यम्**-अविनाशी **अग्निम्**-प्रभु को **घृतेन**-ज्ञान की दीप्ति तथा मलों के क्षरण से **सपर्यत**-पूजित करो। वे प्रभु **अदाभ्यम्**-हिंसित होने योग्य नहीं। **गृहपतिम्**-इस शरीररूप गृह के वे रक्षक हैं। (२) जब तक मनुष्य प्रभु के उपासन से दूर रहते हैं तब तक संसार के इन तुच्छ विषयों में ही फँसे रह जाते हैं। इन विषयों के लिए अत्यन्त लालायित होने से इनके पीछे मरते रहने से ही वे 'मर्त' कहलाते हैं। प्रभु अमर्त्य हैं, प्रभु का उपासक भी अमर्त्य बनता है। प्रभु प्राप्ति के आनन्द की तुलना में विषयरस समाप्त हो जाता है। विषयों से हमें ऊपर उठाकर प्रभु हमारे इन शरीरों को जीर्ण होने से बचाते हैं, इसी से प्रभु 'गृहपति' कहलाते हैं। वे प्रभु हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। हमें ये शत्रु हिंसित कर लें, पर प्रभु 'अदाभ्य' हैं, प्रभु हमारे लिये इनका संहार करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करते हैं, प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करके हमारे शरीर-गृह का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऋतस्य गोपाः

अदाभ्येन शोचिषाग्ने रक्षस्त्वं दह। गोपा ऋतस्य दीदिहि॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **त्वम्**-आप **अदाभ्येन शोचिषा**-अपनी कभी हिंसित न होनेवाली ज्ञानदीप्ति से **रक्षः**-राक्षसी भावों का **दह**-दहन कीजिए। आपकी उपासना से मेरे में भी वह ज्ञान की ज्योति जगे, जिसमें कि सभी राक्षसी भावों का दहन हो जाए। (२) हे प्रभो! **ऋतस्य**-ऋत के **गोपाः**-रक्षक आप **दीदिहि**-मेरे हृदय में दीप्त होइये। हृदय में आपकी ज्योति जगने पर मेरा जीवन ऋत से परिपूर्ण हो उठता है। आप 'ऋत' स्वरूप हैं, आपकी उपस्थिति में मेरा हृदय भी अनृत का निवास-स्थान नहीं बन पाता। ऋत का अर्थ यज्ञ भी है। प्रभु के प्रकाश के होने पर मेरा जीवन यज्ञमय हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की ज्योति से मेरे राक्षसी भावों का दहन हो जाए। मेरा जीवन ऋतमय हो। मैं यज्ञों में ही आनन्द लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यातुधानों का ओषण

स त्वमग्ने प्रतीकेन प्रत्योष यातुधान्यः। उरुक्षयेषु दीद्यत्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **स त्वम्**-वे आप **प्रतीकेन**-अपने अंगभूत तेज से **यातुधान्यः**-पीड़ा का आदान करनेवाली आसुरीवृत्तियों को **प्रत्योष**-एक-एक करके जला दीजिये। उपासक जब प्रभु के तेज से तेजस्वी बनता है तो ये सब अशुभवृत्तियाँ उस तेज में भस्म हो जाती हैं। (२) सब अशुभवृत्तियों के नष्ट हो जाने पर हे प्रभो! आप **उरुक्षयेषु**-इन विशाल हृदय रूप निवास-स्थानों में **दीद्यत्**-दीप्यमान होइये। वासनाएँ ही हृदय को संकुचित बनाती हैं। वासनाओं का विनाश होने पर हृदय विशाल हो जाता है और प्रभु का निवास-स्थान बनता है।

भावार्थ—प्रभु के तेजसे मेरी वासनाएँ दग्ध हो जाएँ और मेरे विशाल हृदय में प्रभु की दीप्ति दीप्त हो उठे।

ऋषिः—उरुक्षय आमहीयवः ॥ देवता—अग्नि रक्षोहा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मानुषे जने

तं त्वा गीर्भिरुरुक्षया हव्यवाहं समीधिरे। यजिष्ठं मानुषे जने॥ १॥

(१) हे प्रभो! **हव्यवाहम्**-सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले **तं त्वा**-उन आपको **उरुक्षयाः**-विशाल हृदयरूप गृहवाले व्यक्ति ही **गीर्भिः**-ज्ञान की वाणियों से **समीधिरे**-समिद्ध करते हैं। आप वस्तुतः सब पवित्र पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। आपको ज्ञान की वाणियों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। (२) आप **मानुषे**-विचारशील, मनन करनेवाले, **जने**-अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले इस व्यक्ति में **यजिष्ठम्**-यजिष्ठ हैं, अधिक से अधिक संगतिकरणवाले होते हैं, प्राप्तिवाले होते हैं। आप 'मनुष जन' को ही प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का उपाय ज्ञानाग्नि को दीप्त करना है। इन विचारशील पुरुषों को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

सूक्त का सार—प्रभु ज्ञान दीप्ति व मलों के क्षरण से प्राप्त होते हैं। प्रभु हमें ज्ञानरूप धन को प्राप्त करानेवाले हैं। इस ज्ञानरूप धन को प्राप्त करके यह प्रभु का अनन्य भक्त बनता है, सो 'ऐन्द्रः' कहलाता है। संसार वृक्ष का छेदन करनेवाला होने से यह 'लवः' है। अथवा सदा प्रभु के नामों का जप करनेवाला यह 'लबः' (लप् व्यक्तायां वाचि) कहलाता है। यह प्रभु-स्मरण द्वारा वासनाओं का विनाश करता हुआ सोम का शरीर में रक्षण करता है और कहता है कि—

[११९] एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सशक्त इन्द्रियाँ

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १॥

(१) **कुवित्**-खूब ही **सोमस्य**-सोम का **अपाम्**-मैंने पान व रक्षण किया है **इति**-इस कारण **इति वा**-निश्चय से **इति मे मनः**-इस प्रकार मेरा मन है कि **गाम्**-ज्ञानेन्द्रियों को **अश्वम्**-कर्मेन्द्रियों को **सनुयां इति**-प्राप्त करूँ। (२) सोम के रक्षण से ज्ञानेन्द्रियाँ भी उत्तम बनती हैं और कर्मेन्द्रियाँ भी सशक्त होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थों का ज्ञान प्राप्त कराने के कारण 'गो' शब्द से कही गई हैं (गमयन्ति अर्थान्), तथा कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होने से 'अश्व' हैं। सोमरक्षण से सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—मैं सोम का शरीर में रक्षण करूँ और परिणामतः मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ सशक्त हों।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्फूर्ति व उद्यम

प्र वाताइव दोधत उन्मा पीता अयंसत। कुवित्सोमस्यापामिति॥ २॥

(१) **कुवित्**-खूब ही **सोमस्य**-सोम का **अपां इति**-मैंने पान व रक्षण किया है, सो **पीताः**-अपने शरीर में ही व्याप्त किये हुए ये सोम मुझे **दोधतः**-वृक्षादिकों को कम्पित करते हुए **प्र वाताः इव**-प्रबल वायुओं की तरह **मा**-मुझे **उद् अयंसत**-उद्यमवाला करते हैं। (२) प्रबल वायु मार्ग में आनेवाले वृक्षों को कम्पित करता हुआ आगे बढ़ता है, इसी प्रकार सोमपान (=वीर्यरक्षण) करनेवाला व्यक्ति सब विघ्नों को जीतकर उद्योगवाला होता है।

भावार्थ—सोमपान से शरीर में स्फूर्ति व उद्यम का संचार होता है।

ऋषिः—लव ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उन्नति के मार्ग पर

उन्मा पीता अयंसत रथमश्वाइवाशवः। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ३ ॥

(१) **कुवित्**-खूब ही **सोमस्य**-सोम का **अपाम्**-मैंने पान किया है **इति**-इस कारण **पीताः**-ये शरीर में ही व्याप्त किये हुए (=पिये हुए) सोम **मा**-मुझे, **आशवः**-शीघ्रगामी **अश्वाः**-घोड़े **रथं इव**-जिस प्रकार रथ को तीव्र गति से ले चलते हैं, उसी प्रकार **उत् अयंसत**-उन्नति के मार्ग पर ले चलते हैं। (२) सोम के पान से, वीर्यरक्षण से मनुष्य उन्नति के मार्ग पर इस प्रकार आगे बढ़ता है जैसे कि तीव्रगामी अश्व रथ को लेकर आगे बढ़ते हैं। आगे बढ़ता हुआ यह मनुष्य अधिक और अधिक उन्नत होता चलता है उन्नति का मार्ग सोमरक्षणामूलक ही है। मैं सोम का रक्षण करता हूँ। रक्षित सोम मुझे उन्नत करता है।

भावार्थ—उन्नति के मार्ग का आक्रमण सोमरक्षण पर ही निर्भर करता है।

ऋषिः—लव ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बुद्धि की तीव्रता

उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम्। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ४ ॥

(१) **वाश्रा**-शब्दायमाना-रम्भाती हुई, धेनु **इव**-जैसे **प्रियं पुत्रम्**-अपने प्रिय वत्स (बछड़े) को प्राप्त होती है, अथवा **वाश्रा**-उत्साहवर्धक शब्द बोलती हुई जैसे माता प्रिय पुत्र के समीप आती है, उसी प्रकार **मा**-मुझे **मतिः**-बुद्धि **उप अस्थित**-प्राप्त हो। **इति**-इसी कारण, इसी उद्देश्य से ही तो **कुवित्**-खूब ही **सोमस्य अपाम्**-मैंने सोम का पान किया है। सोमरक्षण से ही मुझे उत्कृष्ट बुद्धि प्राप्त हुई है। (२) रक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला ईंधन यह सोम ही है। इस प्रकार सोमरक्षण से मैं तीव्र बुद्धि को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी बुद्धि तीव्र होती है।

ऋषिः—लव ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

श्रद्धा-बुद्धि

अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ५ ॥

(१) **कुवित्**-खूब ही **सोमस्य**-सोम का **अपाम्**-मैंने पान किया है **इति**-इस कारण **अहम्**-मैं **हृदा**-हृदय से, श्रद्धा से **मतिम्**-बुद्धि को **पर्यचामि**-(परि अञ्च्) प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार **इव**-जैसे कि **तष्टा**-शिल्पी **वन्धुरम्**-(diadem) मुकुट को बनाता है। (२) सोम के रक्षण से मनुष्य श्रद्धा के साथ बुद्धि का अपने में विकास करनेवाला बनता है। वीर्य को अपव्ययित न होने देकर शरीर में ही व्याप्त करने से श्रद्धा और बुद्धि दोनों का विकास होता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से शरीर में हृदय के साथ मति का विकास होता है। मनुष्य श्रद्धा और विद्या दोनों को प्राप्त करनेवाला बनता है।

ऋषिः—लव ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विषय विमुखता

नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ६ ॥

(१) कुवित्-खूब ही सोमस्य-सोम का अपाम्-मैंने पान किया है इति-इस कारण पञ्च-पाँचों कृष्टयः-हमें अपनी ओर खेंचनेवाले विषय मे-मेरे अक्षिपत् चन-आँख के पतन को भी नहि-नहीं अच्छान्त्सुः-अपवृत कर सकते, अर्थात् विषयों की ओर मेरी आँख नहीं जाती। (२) विषय आकर्षक हैं। इनकी आपातरमणीयता सभी को लुभा लेती है। पर सोमरक्षण के कारण मुझे वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि मैं अपनी इन्द्रियों को इन विषयों की ओर जाने से रोक पाता हूँ। ये विषय मेरी आँख को अपनी ओर नहीं खैंच पाते।

भावार्थ—सोमपान के द्वारा मैं अपने मन को वशीभूत करके इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोक पाता हूँ।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अद्भुत-शक्ति

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ७॥

(१) कुवित्-खूब ही सोमस्य-सोम का अपाम्-मैंने पान किया है इति-इस कारण उभे रोदसी-ये दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक मे-मेरे अन्यं पक्षं चन-एक पासे के भी प्रति-मुकाबिले में नहि-नहीं होते हैं। (२) सोमपान से अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और मनुष्य सारे संसार का भी मुकाबिला करने में समर्थ हो जाता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि सारा संसार उसके एक पासे के भी तो बराबर नहीं। इस प्रकार सोमपान से वह इस अलौकिक शक्ति का अनुभव करता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से दिव्य-शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

द्युलोक और पृथिवीलोक का विजय

अभि द्यां महिना भुवमभी३मां पृथिवीं महीम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ८॥

(१) कुवित्-खूब ही सोमस्य-सोम का अपाम्-मैंने पान किया है, इति-इस कारण महिना-अपनी महिमा से द्यां अभिभुवम्-मैंने द्युलोक का अभिभव किया है और इमाम्-इस महीं पृथिवीम्-विशाल पृथिवी को भी मैंने अभिभूत किया है। (२) सोमपान से वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे हम द्युलोक व पृथिवीलोक का विजय कर पाते हैं। ज्ञान की प्राप्ति ही द्युलोक का विजय है और शक्ति की प्राप्ति पृथिवीलोक का।

भावार्थ—सोम के रक्षण से मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनता है और शरीर-शक्ति सम्पन्न होता है।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यहाँ रख दूँ या वहाँ?

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ९॥

(१) कुवित्-खूब ही सोमस्य-सोम का अपाम्-मैंने पान किया है इति-इस कारण हन्त-पूर्ण सम्भव है कि अहम्-मैं इमां पृथिवीम्-इस पृथिवी को इह निदधानि-यहाँ रख दूँ वा-अथवा इह वा-इस दूसरे स्थान में उसे स्थापित कर दूँ। अन्तरिक्षलोक में स्थापित कर दूँ अथवा द्युलोक में स्थापित कर दूँ। (२) सोमपान से, वीर्यरक्षण से मनुष्य अपने अन्दर इतनी शक्ति का अनुभव करता है कि पृथिवी को भी स्थानान्तरित करने का स्वप्न लेता है। सारी स्थिति को

ही परिवर्तित करने का सामर्थ्य अपने में देखता है। सारा संसार एक ओर हो और यह दूसरी ओर तो भी यह पराजय का स्वप्न नहीं देखता।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से मनुष्य सारे संसार को भी परिवर्तित कर देने का सामर्थ्य अपने में अनुभव करता है।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पृथ्वी पर सूर्य

ओषमित्पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ १० ॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है, **इति**=इस कारण **इत्**=निश्चय से **ओषम्**=अपने तेज से तपानेवाले आदित्य को **अहम्**=मैं **इह वा इह वा**=इस स्थान में व उस स्थान में, यथेष्ट स्थान में **पृथिवीं जङ्घनानि**=पृथिवी पर प्राप्त करा दूँ। (२) सोमरक्षण-वाला, वीर्यरक्षणवाला पुरुष जहाँ चाहे वहाँ पृथिवी पर सूर्य को प्राप्त करा सकता है। योगसिद्धियों में भी इस प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वीर्यरक्षण से पुरुष सम्पूर्ण पृथिवी को सूर्य की तरह प्रकाशमय करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण होने पर इस पृथ्वीरूप शरीर में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

एक पक्ष द्युलोक, दूसरा पक्ष पृथ्वीलोक

दिवि मे अन्यः पक्षो३ऽधो अन्यमचीकृषम्। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ११ ॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है **इति**=इस कारण मे **अन्यः पक्षः**=मेरा एक पक्ष **दिवि**=द्युलोक में है तो **अन्यम्**=दूसरे पक्ष को मैंने **अधः**=नीचे **अचीकृषम्**=(आस्थापयम् सा०) स्थापित किया है। (२) वीर्यरक्षण के द्वारा मैंने मस्तिष्क को ज्ञान से खूब दीप्त किया है तो मैंने इस शरीर रूप पृथिवी को भी बड़ा दृढ़ बनाया है। द्युलोक मेरा एक पक्ष है तो पृथिवीलोक दूसरा। इन दोनों पक्षों से मैंने अपने उत्थान का साधन किया है।

भावार्थ—सोमरक्षण से द्युलोक मेरा एक पासा बनता है, तो पृथिवीलोक दूसरा। मेरा ज्ञान चमकता है और शरीर दृढ़ बनता है।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूर्यसम तेजस्वी

अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ १२ ॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है, वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित किया है **इति**=इस कारण **अहम्**=मैं **महामहः**=महान् तेजवाला **अस्मि**=हुआ हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि **अभिनभ्यम्**=नाभि में, केन्द्र में होनेवाले अन्तरिक्षलोक में **उदीषितः**=उद्गत सूर्य ही होऊँ। जैसे सूर्य तेजस्वी है, उसी प्रकार मैं तेजस्वी हो गया हूँ। (२) सोम का, वीर्य का रक्षण मनुष्य को सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है। वस्तुतः इस पिण्ड में वीर्यकण की वही स्थिति है जो ब्रह्माण्ड में सूर्य की। सुरक्षित हुआ-हुआ सोमकण मुझे सूर्यसम दीप्तिवाला करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मैं सूर्य की तरह चमक उठता हूँ।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सद्गुणालंकृत-यज्ञशील

गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः । कुवित्सोमस्यापामिति ॥ १३ ॥

(१) **कुवित्**-खूब ही **सोमस्य**-सोम का, वीर्य का **अपाम्**-मैंने पान व रक्षण किया है, **इति**-इस कारण **गृहः**-सब गुणों का ग्रहण करनेवाला, **अरंकृतः**-स्वास्थ्य निर्मलता व विद्या इत्यादि गुणों से अलंकृत हुआ-हुआ तथा **देवेभ्यः**-वायु आदि देवों के लिए **हव्यवाहनः**-हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला, अर्थात् अग्निहोत्र करनेवाला बनकर **यामि**-जीवनयात्रा में गति करता हूँ। (२) वीर्यरक्षण से मनुष्य 'गृह' 'अरंकृत' व 'देवेभ्यः हव्यवाहन' बनता है। सदा अच्छाइयों को अपने में लेता है, अपने जीवन को शुभ गुणों से अलंकृत करता है तथा सदा यज्ञों का करनेवाला होता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण हमें सद्गुणालंकृत व यज्ञशील बनाता है।

यह सूक्त सोमपान, वीर्यरक्षण की महिमा का काव्यमय वर्णन करता है। अतिशयोक्ति अलंकार से काव्यमय भाषा का सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। यह सोम का रक्षण करनेवाला 'आथर्वण' बनता है, 'अथर्व्'-न डाँवाडोल। 'बृहद्दिवः'-खूब ज्ञान के प्रकाशवाला। यह प्रभु-दर्शन करता हुआ कहता है कि—

[१२०] विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्येष्ठ ब्रह्म

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ १ ॥

(१) **तद्**-ब्रह्म **इत्**-ही **भुवनेषु**-सब भुवनों में, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में **ज्येष्ठं आस**-सर्वश्रेष्ठ हैं। **यतः**-जिन ब्रह्म से **उग्रः**-तेजस्वी **त्वेषनृम्णः**-दीप्त बलवाला यह आदित्य **जज्ञे**-उत्पन्न हुआ है। प्रभु इस द्युलोक में देदीप्यमान सूर्य को उदित करते हैं, इसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान का सूर्य प्रभु द्वारा उदित किया जाता है। (२) यह सूर्य **जज्ञानः**-प्रादुर्भूत होता हुआ **सद्यः**-शीघ्र ही **शत्रून्**-शत्रुभूत अन्धकारों को **निरिणाति**-नष्ट करता है। मस्तिष्क में उदित होनेवाला ज्ञान सूर्य अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला होता है। अज्ञानान्धकार के नाश के द्वारा **विश्वे ऊमाः**-सब अपना रक्षण करनेवाले प्राणी **यम्**-जिसके **अनु मदन्ति**-पीछे उल्लास का अनुभव करते हैं। जितना-जितना प्रभु का उपासन करते हैं, उतना-उतना एक अवर्णनीय रस का अनुभव लेते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से ज्ञान सूर्य का उदय होता है, वासनान्धकार का विनाश होता है और प्रभु प्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति-पुञ्ज प्रभु

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

(१) वे प्रभु शवसा वावृधानः-बल से खूब बढ़े हुए हैं। भूरि ओजाः-अतिशयित ओजवाले हैं। शत्रुः-हमारी वासनाओं का शातन करनेवाले हैं। दासाय-(दसु उपक्षये) हमारी शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम-क्रोध के लिए भियसं दधाति-भय को धारण करते हैं। (२) वे प्रभु अव्यनत्-प्राण न लेनेवाले स्थावर पदार्थों को च-तथा व्यनत्-विशेषरूप से प्राण धारण करनेवाले जंगम प्राणियों को सस्नि-शुद्ध करनेवाले हैं। सब प्रकार के मलों को दूर करके वे प्रभु सर्वत्र पवित्रता का संचार करनेवाले हैं। हे प्रभो! ते-आपके मदेषु-आनन्दों में प्रभृता-धारण किये हुए सब प्राणी संनवन्त-सम्यक् स्तवन करते हैं (नु स्तुतौ) अथवा आपकी ओर गतिवाले होते हैं (नव गतौ)।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्तिवाले हैं। हमारे शत्रुओं को भयभीत करके हमारे से दूर करते हैं। सबका शोधन करते हैं। उपासक प्रभु प्राप्ति के आनन्द में निरन्तर प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु में जीवन का शोधन

त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥

(१) विश्वे-सब उपासक त्वे-आप में ही, आप की उपासना के द्वारा ही क्रतुम्-कर्मों व संकल्पों को अपिवृञ्जन्ति-(purify) पवित्र करते हैं। (२) एते-ये ऊमाः-आप में अपने मलों का प्रक्षालन करके अपना रक्षण करनेवाले लोग यद्-जब द्विः भवन्ति-दो बार होते हैं, अर्थात् प्रातः-सायं आपके ध्यान में बैठते हैं अथवा त्रिः भवन्ति-तीन बार आपकी उपासना में स्थित होते हैं, तो स्वादोः स्वादीयः-स्वादु से भी स्वादु, अर्थात् मधुरतम आप इस उपासक के जीवन को स्वादुना-माधुर्य से सृजा-संसृष्ट करते हैं। (३) अदः-उस उपासक के सु मधु-उत्तम मधुर जीवन को मधुना-और अधिक माधुर्य से सं अभियोधीः-वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा संगत करते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके इस उपासक के जीवन को आप अधिक मधुर बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के द्वारा हम अपने कर्मों व संकल्पों को पवित्र करें। दो बार व तीन बार प्रभु के चरणों में बैठने का नियम बनाएँ। प्रभु हमारे जीवन को मधुर बनाएँगे।

सूचना—तीन बार प्रभु के चरणों में बैठने का भाव इस रूप में लेना चाहिए कि हम बाल्य, यौवन व वार्धक्य तीनों सवनों में (बाल्य=प्रातः सवन, यौवन=माध्यान्दिन सवन, वार्धक्य=तृतीय सवन) प्रभु चरणों में बैठनेवाले बनें। केवल वार्धक्य को ही उपासना काल न समझें।

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धन के साथ प्रभु-स्मरण

इति चिद्धि त्वा धना जयन्तं मदेमदे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयो धृष्णो स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्यातुधाना दुरेवाः ॥ ४ ॥

(१) इति चित् हि-इस प्रकार निश्चय से धना जयन्तं त्वा-सब धनों का विजय करनेवाले आपको विप्राः-ये ज्ञानी पुरुष मदे मदे-प्रत्येक हर्ष के अवसर अनुमदन्ति-(स्तुवन्ति सा०) अनुकूलता से स्तुत करते हैं। ज्ञानी पुरुष सब धनों की विजय को आपकी ही विजय समझते हैं और इन विजयों में प्रसन्नता के प्राप्त होने पर आपका ही स्तवन करते हैं, जिससे इन विजयों के हर्ष में वास्तविकता को भूलकर वे अहंकार व ममता का शिकार न हो जाएँ। २) हे धृष्णो-शत्रुओं

का धर्षण करनेवाले प्रभो! ओजीय:=ओजस्वितावाले स्थिरम्=स्थिर धन को आतनुष्व=हमारे लिए विस्तृत करिये। हमें धन प्राप्त हो, वह धन हमारी ओजस्विता को बढ़ानेवाला हो और हमारी चित्तवृत्ति को अस्थिर करनेवाला न हो। उस धन के कारण हम व्यर्थ के विषयों में भटकनेवाले न बन जाएँ। इन धनों के कारण हमारे जीवनों में दुरेवा:=दुर्ग मनवाले यातुधाना:=पीड़ा को आहित करनेवाले आसुरभाव त्वा मा दभन्=आपके स्मरण को हमारे हृदयों से हिंसित न कर दें। धनों में व्यासक्त हो हम आपको भूल न जाएँ। 'धन हों, धनों के साथ प्रभु का स्मरण हो' वही जीवन धन्य है।

भावार्थ—हमें धन प्राप्त हों। ये धन हमारी ओजस्विता व चित्तवृत्ति की स्थिरता को नष्ट करनेवाले न हों। धनों में आसक्त होकर हम प्रभु को न भूल जाएँ।

ऋषि:—बृहद्दिव आथर्वण: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

प्रभु की उपासना द्वारा शत्रु विजय

त्वया व॒यं शाशद्महे॒ रणे॑षु प्र॒पश्य॑न्तो यु॒धेन्या॑नि॒ भूरि॑।
चो॒दया॑मि त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भि॒: सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वयां॑सि॥ ५॥

(१) हे प्रभो! रणेषु=संग्रामों में वयम्=हम त्वया=आपके साथ प्रपश्यन्त:=अच्छी प्रकार से देखते हुए, ज्ञान को प्राप्त करते हुए युधेन्यानि=युद्ध करने योग्य, 'काम, क्रोध, लोभ' आदि असुरों को भूरि=खूब ही शाशद् महे=नष्ट करनेवाले हों। हमारे अन्दर छिपकर रहनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं को हम अवश्य विनष्ट करनेवाले हों। (२) ते=आप से दिये हुए आयुधा=इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप अस्त्रों को वचोभि:=आपके वेद में दिये गये निर्देशों के अनुसार चोदयामि=प्रेरित करता हूँ। ते ब्रह्मणा=आपके इस वेदज्ञान से व स्तवन से वयांसि=मैं अपने जीवनों को सं शिशामि=(शो तनूकरणे) तीव्र करता हूँ। मेरा जीवन तीव्र बुद्धिवाला बनता है, और इस प्रकार मैं वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर हम वासनारूप शत्रुओं को युद्ध में पराजित करें। इन्द्रिय, मन व बुद्धि रूप अस्त्रों को तीव्र करें।

ऋषि:—बृहद्दिव आथर्वण: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

ऋषि आश्रय, नकि दानव-गृह

स्तु॒षेय्यं॑ पु॒रुवर्प॑सम्॒भ्व॑मि॒नत॑ममा॒प्त्यमा॒प्त्याना॑म्।
आ द॑र्षति॒ शव॑सा स॒प्त दानू॒न्प्र सा॑क्षते प्रति॒माना॑नि॒ भूरि॑॥ ६॥

(१) मैं उस इन्द्र का स्तवन करता हूँ जो स्तुषेय्यम्=(स्तोतव्यम्) स्तुति के योग्य हैं, ऋभ्वम्=(उरु भासमाने) खूब दीप्त हैं, पुरुवर्पसम्=नानारूपोंवाले हैं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। इनतमम्=जो सर्वमहान् ईश्वर हैं, आप्त्यानां आप्त्यम्=आप्त्यों में आप्त्य हैं, विश्वसनीयों में विश्वसनीय हैं। (२) स्तुति किये गये ये प्रभु शवसा=शक्ति के द्वारा सप्त दानून्=सप्त ऋषियों के विपरीत सप्त दानवृत्तियों को आदर्षते=विदीर्ण करते हैं। और प्रतिमानानि=इनके प्रत्येक निवास-स्थान को भूरि प्रसाक्षते=खूब ही विनष्ट करते हैं। (प्रतिमानानि=असुराणां स्थानानि)। (३) 'सप्त ऋषय: प्रतिहिता: शरीरे' शरीर में सात ऋषियों की स्थापना हुई है। ये सात उत्तम भावनाएँ विकृत होती हैं, तो ये सात दानव बन जाते हैं। प्रभु इन दानवों के किलों का विनाश

करते हैं हमारा जीवन प्रभु कृपा से विषयास्वाद (लक् आस्वादने) से ऊपर उठकर फिर से अजेय हो जाता है, हमें वासनाएँ पराजित नहीं कर पाती।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हमारा जीवन दानव-गृह नहीं, अपितु ऋषियों का आश्रय बनता है।

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अवर व पर धन का स्थापन

नि तद्दधिषेऽवरं परं च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ मातरा स्थापयसे जिगत्नू अत इनोषि कर्वरा पुरूणि ॥ ७ ॥

(१) हे प्रभो! **यस्मिन् दुरोणे**-जिस यज्ञशील पुरुष के इस शरीर रूप गृह में **अवसा**-(protection, food, wealth) रक्षण के द्वारा, उत्तम भोजन के द्वारा व धनों के द्वारा **आविथ**-आप रक्षण करते हो, उस गृह में **तत्**-उस प्रसिद्ध **अवरम्**-इस निचले पार्थिव धन को **परं च**-और उत्कृष्ट दिव्य धन को **नि दधिषे**-निश्चय से स्थापित करते हो। आप संसार यात्रा के लिए पार्थिव धनों को प्राप्त कराते हो, तो अध्यात्म उत्कर्ष के लिए दिव्य धन को देते हो। अथवा आप शक्ति व ज्ञान की स्थापना करते हो—क्षत्र और ब्रह्म की। (२) आप **जिगत्नू**-गतिशील **मातरा**-जीवन का निर्माण करनेवाली पार्थिव व दिव्यशक्तियों की **आस्थापयसे**-स्थापना करते हैं। हमारा शरीर व मस्तिष्क (पृथिवीलोक व द्युलोक) दोनों ही बड़े गतिशील होते हैं। और **अतः**-इससे क्षत्र व ब्रह्म के प्रायण से आप **पुरुणि कर्वरा**-पालक व पूरक कर्मों को (कर्वर=work) **इनोषि**-व्याप्त करते हैं। हम प्रभु से शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके उन कर्मों को करनेवाले बनते हैं जो हमारा पालन व पूरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे में अवर और पर धन की स्थापना करते हैं। हमें शक्ति व ज्ञान देते हैं, जिनसे कि हम पालक व पूरक कर्म कर पाते हैं।

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रिय शक्तियों का विकास-सुख

इमा ब्रह्म बृहद्दिवो विवक्तीन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजो दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिसके जीवन में प्रभु द्वारा अवर व पर धन की स्थापना की गई है वह **बृहद्दिवः**-उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला व्यक्ति **इन्द्राय**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **इमा ब्रह्म**-इन स्तोत्रों का **विवक्ति**-उच्चारण करता है। (२) इस स्तवन से **अग्रियः**-जीवन मार्ग में आगे बढ़नेवाला **स्वर्षाः**-प्रकाश को प्राप्त करनेवाला यह 'बृहद्दिव' **शूषम्**-शत्रु-शोषक बल को (नि० ३।९) व सुख को (नि० ३।६) **क्षयति**-(क्षि गतौ) प्राप्त होता है और **महः गोत्रस्य**-इस तेजस्वी इन्द्रिय-समूह का **क्षयति**-ईश्वर होता है (क्षि)। (३) यह **स्वराजः**-अपना शासन करनेवाला व्यक्ति **विश्वाः**-सब **स्वाः**-अपने **दुरः**-इन्द्रिय द्वारों को **अप अवृणोत्**-खोलनेवाला होता है, निवृत करनेवाला होता है। इसकी इन्द्रिय शक्तियों का विकास हो जाता है। यह इन्द्रिय शक्तियों का विकास ही वास्तविक 'सुख' है (सु=उत्तम, ख=इन्द्रियाँ)।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करता हुआ ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों का स्वामी बनता है, उनकी शक्तियों का विकास करता है और वास्तविक सुख को पाता है।

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मैं 'इन्द्र' ही तो हूँ (यदि वा द्या स्यामहं त्वम्)

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्वमिन्द्रमेव।
स्वसारो मातरिभ्वरीररिप्रा हिन्वन्ति च शवसा वर्धयन्ति च॥ १॥

(१) एवा=इस प्रकार महान्=पूजा की वृत्तिवाला (मह पूजायाम्) बृहद्दिवः=उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला अथर्वा=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष स्वां तन्वम्=अपने शरीर को इन्द्र एव अवोचत्=परमेश्वर ही कहता है। अन्तःस्थित प्रभु के कारण उसे प्रभु ही समझता है। शीशी में शहद हो, तो शीशी की ओर संकेत करके यही तो कहा जाता है कि 'यह शहद है'। इसी प्रकार आनन्द स्थित प्रभु को देखता हुआ यह अपने शरीर की ओर निर्देश करता हुआ यही कहता है कि 'यह प्रभु ही है'। (२) इस प्रकार ये स्वसारः=उस आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले, मातरिभ्वरीः=सदा वेदवाणीरूप माता में होनेवाले, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त होनेवाले अरिप्राः=निर्दोष पुरुष हिन्वन्ति च=उस प्रभु की ओर जाते हैं च=और शवसा=शक्ति के द्वारा वर्धयन्ति=अपने को बढ़ाते हैं। जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं, उतनी-उतनी हमारी शक्ति बढ़ती जाती है।

भावार्थ—ज्ञानी देखता है कि प्रभु की व्याप्ति के कारण वह प्रभु ही तो है। वह प्रभु की ओर चलनेवाला बनता है, सदा ज्ञान में निवास करता है और इस प्रकार अपनी शक्ति को बढ़ाता है।

सूक्त का सार यह है कि ज्येष्ठ ब्रह्म का स्तवन करता हुआ यह 'बृहद्दिव' 'इन्द्र' ही हो जाता है। यह अब उस ज्योतिर्मय प्रभु को अपने अन्दर देखने के कारण 'हिरण्यगर्भ' हो जाता है और प्रजाओं के रक्षण में लगा हुआ 'प्राजापत्य' होता है। प्रभु का 'हिरण्यगर्भ' नाम से स्तवन करता हुआ कहता है कि—

[१२१] एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सृष्टि का निर्माण व धारण

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

(१) 'हिरण्यं वै ज्योतिः, तद् गर्भे यस्य' हिरण्यगर्भः=ज्योतिर्मय गर्भवाला वह प्रभु अग्रे समवर्तत=सृष्टि के बनने से पूर्व ही था, वह कभी बना नहीं—'स्वयम्भू' है। जातः=सदा से प्रादुर्भूत हुआ-हुआ यह प्रभु भूतस्य=पृथिवी आदि का तथा प्राणिमात्र का एकः पतिः=अद्वितीय रक्षक आसीत्=सदा से है। प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं, अपनी सर्वज्ञता से वे इसे पूर्ण ही बनाते हैं। सृष्टि का निर्माण करके वे इसमें सब प्राणियों का रक्षण करते हैं। (२) सः=वे प्रभु पृथिवीम्=पृथिवी को, विस्तृत अन्तरिक्ष को दाधार=धारण करते हैं। द्यां=द्युलोक को धारण करते हैं, उत=और इमाम्=इस पृथिवी को धारण करते हैं। धारण करने के कारण ही कस्मै=उस आनन्दमय देवाय=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए हविषा=दानपूर्वक अदन से विधेम=हम पूजा करते हैं। प्रभु सब कुछ देनेवाले हैं, प्रभु का उपासक भी देनेवाला बनता है। उस जैसा बनकर ही तो उसकी उपासना हो सकती है।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि का अपनी सर्वज्ञता से निर्माण करते हैं और इसका धारण करते हैं। हम भी निर्माणात्मक व धारणात्मक कर्मों में लगकर प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बल के द्वारा शोधन

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **आत्मदा**=(दैप् शोधने) हम आत्माओं का शोधन करनेवाले हैं। इस शोधन के लिए ही **बलदा**=हमें बलों के देनेवाले हैं। निर्बलता में ही पाप व मलिनता आती है। (२) **यस्य**=जिस प्रभु की **विश्वे**=सब **उपासते**=उपासना करते हैं। और समय प्रभु का न भी स्मरण करें, आपत्ति आने पर तो उसे याद करते ही हैं। पर **देवाः**=देव लोग **यस्य**=जिसकी **प्रशिषम्**=आज्ञा को उपासित करते हैं। प्रभु के गुणगान ही न करते रहकर प्रभु के आदेशों का पालन करने का प्रयत्न करते हैं। सामान्य लोग प्रभु की, पर ज्ञानी प्रभु की आज्ञा की उपासना करते हैं। (३) **यस्य**=जिस प्रभु का **छाया**=किया हुआ छेदन-भेदन, दिया हुआ दण्ड **अमृतम्**=हमारी अमरता के लिए हैं। अर्थात् प्रभु का दण्ड कभी बदले की भावना से न होकर हमारे सुधार के लिए ही होता है। **यस्य मृत्युः**=प्रभु की, प्रभु से प्राप्त करायी गयी, तो **मृत्युः**=मृत्यु भी हमारी अमरता के लिए है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा को करें।

भावार्थ—प्रभु शक्ति को देकर हमारा शोधन करते हैं। हम प्रभु के आदेशों का पालन करके प्रभु के सच्चे पुजारी होते हैं। प्रभु से दिया गया दण्ड भी हमारा कल्याण करनेवाला है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वह अद्वितीय 'ईश'

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=श्वासोच्छ्वास लेनेवाले प्राणियों तथा **निमिषतः**=आँखों की पलक सदा बन्द किये हुए वनस्पतियों, इस द्विविध **जगतः**=जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा के कारण **एकः इत्**=अकेले ही राजा **बभूव**=शासक हैं। प्रभु सम्पूर्ण चराचर जगत् का, स्थावरजंगम संसार का शासन कर रहे हैं। (२) **यः**=जो **अस्य**=इन **द्विपदः चतुष्पदः**=दो पाँवोंवाले पक्षियों के तथा चार पाँववाले पशुओं के **ईशे**=ईश हैं। इनके अन्दर उस-उस नैपुण्य को स्थापित करनेवाले हैं। मधुमक्षिकाओं को शहद के निर्माण का नैपुण्य प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। चील का शान्त परों से उड़ना प्रभु की ही महिमा का द्योतक है। सिंह को अद्भुत तैरने का सामर्थ्य प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=देव के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। इस पूजा के द्वारा हम भी उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सकेंगे।

भावार्थ—चराचर जगत् के स्वामी प्रभु ने ही पशु-पक्षियों में अद्भुत नैपुण्यों को स्थापित किया है। उसका पूजन ही हमें भी जीवन-मार्ग में उन्नत करता है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'पर्वत-पृथ्वी-नदी' सब प्रभु की विभूति हैं

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

(१) **इमे हिमवन्तः**-ये हिमाच्छादित पर्वत **यस्य**-जिसकी **महित्वा**-महिमा को **आहुः**-प्रकट कर रहे हैं। और **रसया सह**-इस पृथ्वी के साथ **समुद्रम्**-समुद्र **यस्य**-जिसकी महिमा को प्रकट कर रहा है। हिमाच्छादित पर्वतों में, समुद्र में, पृथिवी में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। (२) **इमाः प्रदिशः**-ये प्रकृष्ट दिशाएँ **यस्य**-जिसकी महिमा को प्रकट करती हैं और वस्तुतः ये सब दिशाएँ **यस्य बाहू**-जिसकी बाहुएँ ही है। 'बाह् प्रयत्ने' इन सब दिशाओं में प्रभु की कृतियों का ही दर्शन होता है। उस **कस्मै**-आनन्दस्वरूप **देवाय**-प्रकाशमय या सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**-दानपूर्वक अदन से **विधेम**-पूजा करें।

भावार्थ—यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु की ही विभूति है, ये सब पर्वत-पृथिवी-समुद्र प्रभु की ही महिमा का गायन करते हैं। इन सब में प्रभु की महिमा को देखते हुए हम प्रभु का ही स्तवन करें।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'तेजस्वी द्युलोक' व 'दृढ़ पृथिवी'

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

(१) **येन**-जिस प्रभु ने **द्यौः उग्रा**-द्युलोक को बड़ा तेजस्वी बनाया है, **च**-और **पृथिवी**-पृथिवी को **दृढा**-दृढ़ किया है। द्युलोक सूर्य व सितारों से देदीप्यमान है, और पृथिवी आकाश से गिरनेवाले ओलों को किस प्रकार अविचल भाव से सहन करती है। **येन**-जिस प्रभु ने **स्वः**-इस देदीप्यमान सूर्य को अथवा स्वर्गलोक को **स्तभितम्**-थामा है, तथा **येन**-जिसने **नाकः**-मोक्षलोक का धारण किया है। (२) **यः**-जो प्रभु **अन्तरिक्षे**-इस अन्तरिक्ष लोक में **रजसः**-जल का **विमानः**-एक विशिष्ट व्यवस्था के द्वारा निर्माण करनेवाले हैं। सूर्य की उष्णता से वाष्पीभूत होकर जल ऊपर उठता है, ये वाष्प ऊपर जाकर ठण्डे प्रदेश में पहुँचने पर फिर से घनीभूत होकर बादल के रूप में होते हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष लोक में जल का निर्माण होता है। इस **कस्मै**-आनन्दमय **देवाय**-सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**-दानपूर्वक अदन से **विधेम**-हम पूजा करें।

भावार्थ—द्युलोक, पृथ्वीलोक, स्वर्ग व मोक्ष सभी का धारण करनेवाले प्रभु हैं। ये प्रभु ही एक विशिष्ट व्यवस्था द्वारा अन्तरिक्ष में जलों का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रन्दसी-रेजमाने

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

(१) **यम्**-जिस प्रभु को **क्रन्दसी**-परस्पर आह्वान-सा करते हुए, एक दूसरे को ललकारते से हुए, **अवसा**-प्रभु के रक्षण से **तस्तभाने**-थामे जाते हुए **रेजमाने**-देदीप्यमान द्यावापृथिवी

मनसा अभ्यैक्षेताम्-मन से देखते हैं। सारा ब्रह्माण्ड उस-उस विभूति के लिए परमेश्वर की ओर ही देखता है। सूर्य चन्द्र को प्रभा के देनेवाले वे प्रभु ही हैं, जल में रस का स्थापन तथा पृथिवी में पुण्यगन्ध का स्थापन प्रभु ही करते हैं। (२) **यत्र**-जिस प्रभु के आधार में **उदितः**-उदय हुआ-हुआ **सूरः**-सूर्य **अधि विभाति**-आधिक्येन चमकता है। उस **कस्मै**-आनन्दस्वरूप **देवाय**-सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**-दानपूर्वक अदन से **विधेम**-पूजा को करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथ्वीलोक उस प्रभु से ही महिमान्वित हो रहे हैं। सूर्य का द्युलोक में प्रभु ही स्थापन करते हैं। इस प्रभु का दानपूर्वक अदन से हम अर्चन करें।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बृहतीः आपः

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

(१) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति का पहला परिणाम 'महत् तत्त्व' कहलाता है। यह सारा संसार इस महत् तत्त्व के गर्भ में होता है। यह एक homogeneons=सम अवस्था में स्थित **नभ**=बादल के समान होता है। यहाँ इसे व्यापक-सा होने के कारण 'आपः' (आप् व्याप्तौ) नाम दिया गया है। **यद्**=जब **ह**=निश्चय से **विश्वं गर्भं दधानाः**=सम्पूर्ण संसार को अपने अन्दर धारण करते हुए **अग्निं जयन्तीः**=अग्नि आदि तत्त्वों को जन्म देनेवाले **बृहतीः आपः**=ये विशाल **आपः**=अथवा महत्तत्त्व **आयन्**=गतिवाले होते हैं **ततः**=तब **देवानाम्**=उत्पन्न होनेवाले सूर्यादि देवों का वह प्रभु ही **एकः असुः समवर्तत**=अद्वितीय प्राण होता है। प्रभु ही सब देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। सूर्य में प्रभा को वे ही स्थापित करते हैं, जलों में रस को तथा पृथिवी में गन्ध को स्थापित करनेवाले वे ही हैं। (२) इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब कुछ देनेवाले परमात्मा के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले हों। ये प्रभु ही सब देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। इन्हीं से मुझे भी देवत्व की प्राप्ति होगी। जितना-जितना मैं त्याग करूँगा, उतना-उतना ही प्रभु के समीप होता जाऊँगा। जितना-जितना प्रभु के समीप हूँगा, उतना-उतना चमकता चलूँगा।

भावार्थ—'महद् ब्रह्म' उस प्रभु की योनि है। प्रभी की अध्यक्षता में इस महद् ब्रह्म से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है। इन सबको देवत्व प्रभु ही प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अधिदेव

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

(१) **यः**=जो **चित्**=निश्चय से **महिनः**=अपनी महिमा से **दक्षं दधानाः**=सम्पूर्ण (growth) विकास व उन्नति को धारण करते हुए, **यज्ञं जनयन्तीः**=इस सृष्टियज्ञ को जन्म देते हुए (यज= संगतिकरण) 'सत्त्व, रज, तम' के संगतिकरण रूप संसार को जन्म देते हुए **आपः**=व्यापक महत् तत्त्व को **पर्यपश्यत्**=सम्यक्तया देखता है, इसका अधिष्ठातृत्व करता है। अर्थात् जिसकी अध्यक्षता में ही यह महत् तत्त्व सब भूतों को जन्म देता है। (२) **यः**=जो **देवेषु**=सूर्य आदि सब देवों में **एकः**=अद्वितीय **अधि देवः**=अधिष्ठातृदेव **आसीत्**=है, जो इन सूर्यादि देवों को देवत्व प्राप्त करा रहा है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन

द्वारा **विधेम**=पूजा को करें।

भावार्थ—प्रभु के अधिष्ठातृत्व में ही महत्तत्त्व सब भूतों को जन्म देता है। वे प्रभु ही सूर्यादि देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रक्षण

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ९ ॥

(१) **यः**=जो **पृथिव्याः**=इस प्राणियों के निवास-स्थानभूत पृथ्वी का जनिता=उत्पादक है, वह **नः**=हमें **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे। **वा**=अथवा वह **सत्यधर्मा**=सत्य का धारण करनेवाला प्रभु **यः**=जो **दिवं जजान**=द्युलोक को उत्पन्न करता है, वह हमें हिंसित न करे। वस्तुतः वह प्रभु पृथ्वीलोक व द्युलोक को उत्पन्न करके प्राणियों की रक्षा की व्यवस्था करता है। पृथिवी हमारी मातृ-स्थानापन्न होती है और द्युलोक हमारा पितृतुल्य होता है। 'द्यौ पिता, पृथिवी माता'। जैसे 'माता-पिता' सन्तानों का रक्षण करते हैं, उसी प्रकार प्रभु इन द्युलोक व पृथ्वीलोक के द्वारा हमारा रक्षण करते हैं। (२) और **यः**=जो प्रभु इन **चन्द्राः**=सब आह्लादों को जन्म देनेवाले **बृहतीः आपः**=महान् व्यापक महत्तत्त्व को **जजान**=पैदा करता है। प्रकृति से प्रभु ही इस महत्तत्त्व को पैदा करते हैं। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। प्रकृति का पहला परिणाम 'महत्तत्त्व' है, यही समष्टि बुद्धि भी कहलाता है। इस 'समष्टि बुद्धि' के रूप में यह वस्तुतः 'चन्द्राः' सब आह्लादों का कारण है।

भावार्थ—द्युलोके, पृथ्वीलोके व महत्तत्त्व के जन्म देनेवाले प्रभु हमें हिंसित होने से बचाएँ।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ॥ देवता—कः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-स्मरण व न्याय मार्ग से धनार्जन

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ १० ॥

(१) हे **प्रजापते**=गत मन्त्र के अनुसार द्युलोके व पृथ्वीलोके का निर्माण करके सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाले प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आप से भिन्न और कोई **एतानि**=इन समीपस्थ व **ता**=उन दूरस्थ **विश्वाः**=सब **जातानि**=उत्पन्न हुए-हुए लोक-लोकान्तरों को **न परि बभूव**=व्याप्त नहीं कर रहा है। आप ही सब में व्याप्त हैं, आप ही उस-उस पदार्थ में वर्तमान उत्कर्ष का आधान कर रहे हैं। वायु में वेग को, अग्नि में तेज को, जल में रस को, पृथ्वी में पुण्यगन्ध को स्थापित करनेवाले आप ही हैं। आकाश में शब्द आप हैं, बुद्धिमानों में बुद्धि, बलवानों में बल व तेजस्वियों में तेज आप ही हैं। (२) **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होते हुए **ते जुहुमः**=आपकी आराधना करते हैं, **तत् नः अस्तु**=वह हमें प्राप्त हो। और सब से बड़ी बात तो यह है कि **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों। कभी भी धन के गुलाम न हो जाएँ। धन के दास बनकर अन्याय मार्ग से धन संग्रह में प्रवृत्त न हो जाएँ। इस कमी के न आने पर हमारा जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु की व्यापकता का स्मरण करें और अन्याय से धन न कमाएँ।

इस सूक्त में आनन्दमय देव का उपासन है। उसका उपासन त्यागपूर्वक अदन से होता है।

त्यागपूर्वक अदन तब होता है जब कि मनुष्य निर्लोभ हो और धन का दास न बन जाए। यही अन्तिम मन्त्र में प्रार्थना है। धन का दास न बनकर यह प्रभु को प्राप्त करता है और अद्भुत तेजवाला होता है 'चित्रमहा:' (महस्-तेज)। यह अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है—'वासिष्ठ:'। यह इस प्रकार उपासना करता है—

[१२२] द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—चित्रमहा वसिष्ठ: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

प्रभु रूप धन

वसुं न चित्रमहसं गृणीषे वामं शेवमतिथिमद्विषेण्यम्।
स रासते शुरुधो विश्वधायसोऽग्निर्होता गृहपति: सुवीर्यम्॥ १ ॥

(१) **चित्रमहसम्**=उस अद्भुत-तेजवाले प्रभु को **वसुं न**=वसु के समान-जीवनोपयोगी धन के समान मैं **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ। जो प्रभु **वामम्**=सुन्दर ही सुन्दर हैं। **शेवम्**=सुख को करनेवाले हैं। **अतिथिम्**=जीव के हित के लिए निरन्तर गतिशील हैं अथवा अतिथिवत् पूज्य हैं। **अद्विषेण्यम्**=किसी से द्वेष न करनेवाले हैं। (२) **स:**=वे प्रभु **शुरुध:**=(शुग् रुध:) हमारे शोकों को दूर करनेवाली, **विश्वधायस:**=सबका धारणवाली ज्ञानवाणियों को **रासते**=देते हैं। तथा **अग्नि:**=वे अग्रेणी प्रभु, **होता**=सब कुछ देने वाले हैं, **गृहपति:**=हमारे शरीररूप घरों के रक्षक हैं। वे प्रभु हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को देते हैं। ज्ञान की वाणियों को देते हैं, साथ ही शक्ति को देते हैं। 'ज्ञान की वाणियाँ' हमें मार्ग दिखलाती हैं और शक्ति उस मार्ग पर चलने में समर्थ कराती है।

भावार्थ—अद्भुत तेजवाले प्रभु ही हमारे वास्तविक धन हैं। वे हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषि:—चित्रमहा वसिष्ठ: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

प्रभु के अनुरूप

जुषाणो अग्ने प्रति हर्य मे वचो विश्वानि विद्वान्वयुनानि सुक्रतो।
घृतनिर्णिग्ब्रह्मणे गातुमेरय तव देवा अजनयन्ननु व्रतम्॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **जुषाण:**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए आप **मे वच:**=मेरे स्तुति-वचन की **प्रतिहर्य**=कामना कीजिए। मेरे स्तुति-वचन आपको प्रीणित करनेवाले हों। (२) हे **सुक्रतो**=शोभन प्रज्ञावाले प्रभो! आप **विश्वानि वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। और सर्वज्ञ होने के कारण ही **घृतनिर्णिक्**=इस ज्ञानदीप्ति के द्वारा शोधन को करनेवाले हैं। आप **ब्रह्मणे**=इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले के लिए **गातुम्**=मार्ग को **एरय**=प्रेरित करिये। आप से ज्ञान को प्राप्त करके यह ज्ञानी मार्ग पर चलनेवाला हो। (३) वस्तुत:, हे अग्ने! **देवा:**=देववृत्ति के पुरुष **तव अनु**=आपके अनुसार ही **व्रतम्**=(नियम: पुण्यकं व्रतम्) पुण्य कर्मों को **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं। आपके गुण कर्मों के अनुसार अपने गुण कर्मों को बनाते हुए ये आप जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। आप दयालु हैं, ये भी दया को अपनाते हैं। आप न्यायकारी हैं, ये भी न्यायवृत्ति से चलने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुत: इसीलिए ये आपका स्तवन करते हैं कि उन गुणों को अपने में भी धारण करने का यत्न करें। वस्तुत: ऐसा करने से ही यह स्तुति 'काव्य' न रहकर 'दृश्य' हो जाती है। यह दृश्य भक्ति ही प्रभु को प्रिय है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमारा मार्गदर्शन करें। प्रभु के गुण-कर्मानुसार हम अपने गुण-कर्म साधने का यत्न करें।

ऋषिः—चित्रमहा वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

धन व ज्ञान की प्राप्ति

सप्त धामानि परियन्नमर्त्यो दाशद्दाशुषे सुकृते मामहस्व।
सुवीरेण रयिणाग्ने स्वाभुवा यस्त आनट् समिधा तं जुषस्व॥ ३॥

(१) **सप्त**-सातों **धामानि**-लोकों के **परियन्**-चारों ओर प्राप्ति करता हुआ—'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं' इन सातों लोकों को अपने में धारण करता हुआ, **अमर्त्यः**-वह अविनाशी प्रभु **दाशुषे**-दाश्वान् के लिए, दान की वृत्तिवाले के लिए, **दाशत्**-देता है। सम्पूर्ण लोकों का स्वामी वह प्रभु है, वह दानशीलों को सब आवश्यक धन देता है। (२) हे **अग्ने**-परमात्मन्! आप **सुकृते**-पुण्यशील व्यक्ति के लिए, यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले के लिए **सुवीरेण**-उत्तम वीरतावाले **रयिणा**-धन से **मामहस्व**-सत्कार करिये। अर्थात् इस पुण्यकर्म को आप वह धन प्राप्त कराइये जो उसे वीर बनानेवाला हो। विषयासक्ति का कारण बननेवाला धन मनुष्य को निर्बल बना देता है। इसके लिए धन विषयासक्ति का कारण न बने और यह उस धन को लोकहित के कार्यों में उपयुक्त करता हुआ सदा वीर बना रहे। उस धन से इसे सत्कृत करिये जो **स्वाभुवा**-(सु आ भू) इसकी स्थिति को सब प्रकार से अच्छा करनेवाला हो। इसके शरीर, मन व बुद्धि को जहाँ यह सुन्दर बनाए, वहाँ इसकी सामाजिक स्थिति भी ठीक हो। (३) हे परमात्मन्! **यः**-जो **ते आनट्**-आप को प्राप्त करता है, उपासना द्वारा आपका व्यापन करता है, **समिधा**-ज्ञान की दीप्ति द्वारा **तं जुषस्व**-उसके प्रति कृपान्वित होइये (show onesely favourable to wards)।

भावार्थ—प्रभु दानशील को धन प्राप्त कराते हैं। पुण्यशील को वह धन प्राप्त होता है जो उसे वीर बनाता है और सब प्रकार से अच्छी स्थिति में प्राप्त कराता है। उपासक को प्रभु ज्ञान देने का अनुग्रह करते हैं।

ऋषिः—चित्रमहा वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सब अंगों द्वारा प्रभु-उपासन

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितं हविष्मन्त ईळते सप्त वाजिनम्।
शृण्वन्तमग्निं घृतपृष्ठमुक्षणं पृणन्तं देवं पृणते सुवीर्यम्॥ ४॥

(१) **सप्त**-सात **हविष्मन्तः**-दानपूर्वक अदन करनेवाले शरीरस्थ सात ऋषि (कर्णा विमौ नासिके चक्षणी मुखम्) **ईळते**-उस परमात्मा की उपासना करते हैं, जो प्रभु **यज्ञस्य केतुम्**-सब यज्ञों के प्रकाश हैं, यज्ञों का ज्ञान देनेवाले हैं। **प्रथमम्**-(प्रथ विस्तारे) सर्वत्र विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। अथवा देवों में सर्वप्रथम, देवाधिदेव—परमदेव हैं। **पुरोहितम्**-जो सृष्टि से पहले से ही विद्यमान हैं। अथवा जो हमारे सामने (पुरः) आदर्शरूप से स्थित हैं (हित)। (२) **वाजिनम्**-जो शक्तिशाली हैं। **शृण्वन्तम्**-हमारी प्रार्थना को सुननेवाले हैं। **अग्निम्**-अग्रेणी हैं। **घृतपृष्ठम्**-दीप्त पृष्ठवाले हैं, ज्ञानदीप्ति से चमक रहे हैं। सम्पूर्ण ज्ञान का आधार हैं। **उक्षणम्**-हमारे पर सुखों का सेचन करनेवाले हैं या हमें शक्ति से सींचनेवाले हैं। **देवम्**-सब कुछ देनेवाले हैं और **पृणते**-देनेवाले के लिए **सुवीर्यम्**-उत्कृष्ट शक्ति को **पृणन्तम्**-देते हुए को।

भावार्थ—मेरे कान, नाक, मुख आदि सब अंग प्रभु का मन्त्र वर्णित प्रकार से उपासन करें।

ऋषिः—चित्रमहा वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृतत्व की याचना

त्वं दूतः प्रथमो वरेण्यः स हूयमानो अमृताय मत्स्व।
त्वां मर्जयन्मरुतो दाशुषो गृहे त्वां स्तोमेभिर्भृगवो वि रुरुचुः ॥५॥

(१) त्वम्-हे प्रभो! आप दूतः-मुझे ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं। प्रथमः-सर्वमुख्य व सर्वव्यापक हैं। वरेण्यः-वरण करने के योग्य हैं, आपका वरण करनेवाला ही जीवन में सुखी होता है। सः-वे अमृताय-अमृतत्व की प्राप्ति के लिए हूयमानः-पुकारे जाते हुए आप मत्स्व-(to satisfy) हमें तृप्त व आनन्दित कीजिए। हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आप हमारे हर्ष का कारण होइये। (२) मरुतः-प्राणसाधना करनेवाले पुरुष ही त्वाम्-आपको मर्जयन्-अपने अन्दर शोधित करते हैं। वासनाओं का आवरण हमारे अन्दर प्रभु के प्रकाश को आवृत किये रहता है। इस आवरण को हटाना ही 'प्रभु के प्रकाश का शोधन' है। यह आवरण का हटाना प्राणसाधना के द्वारा ही सम्भव है। (३) दाशुषः गृहे-दान की वृत्तिवाले के गृह में भृगवः-ज्ञानी लोग, ज्ञान द्वारा अपना परिपाक करनेवाले लोग, त्वाम्-आपको स्तोमेभिः-स्तुतियों के द्वारा वि रुरुचुः-दीप्त करते हैं। जो भोग-प्रवण व्यक्ति नहीं, उस व्यक्ति के घर में सत्संग के लिए लोग एकत्रित होते हैं। वहाँ ज्ञानी पुरुष प्रभु का गायन करते हैं। सारा वातावरण प्रभु की भावना से ओत-प्रोत हो उठता है, सभी के हृदयों में प्रभु का स्मरण होता है। यही प्रभु का दीपन है।

भावार्थ—हम प्रभु से अमृतत्व के लिए प्रार्थना करें। वासनाओं के आवरण को दूर करके प्रभु के प्रकाश को देखें। घरों में एकत्रित होकर प्रभु का गायन करें।

ऋषिः—चित्रमहा वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

त्रिः ऋतानि दीद्यत्

इषं दुहन्सुदुघां विश्वधायसं यज्ञप्रिये यजमानाय सुक्रतो।
अग्ने घृतस्नुस्त्रिर्ऋतानि दीद्यद्वर्तिर्यज्ञं परियन्त्सुक्रतूयसे ॥६॥

(१) सुक्रतो-हे उत्तम ज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! आप यज्ञप्रिये-यज्ञों के द्वारा आपको प्रीणित करनेवाले यजमानाय-यज्ञशील पुरुष के लिए सुदुघाम्-उत्तम ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली विश्वधायसम्-सबका धारण करनेवाली इषम्-प्रेरणा को दुहन्-(दुह प्रपूरणे) पूरित करनेवाले हैं। आप यज्ञशील को वह प्रेरणा प्राप्त कराते हैं जो उसके ज्ञान का वर्धन करती है तथा सबका धारण करती है। (२) हे अग्ने-अग्रेणी प्रभो! घृतस्नुः-आप दीप्ति के शिखर हैं (स्नु-सानु) ऊँचे से ऊँचे ज्ञानवाले हैं। त्रिः-तीन प्रकार से ऋतानि दीद्यत्-ऋतों को दीप्त करते हुए, हमारे जीवन में 'ऋग्, यजु, साम' रूप से सत्य ज्ञान का प्रकाश करते हुए अथवा शरीर में स्वास्थ्य रूप ऋत को, मन में नैर्मल्य रूप ऋत को तथा बुद्धि में सूक्ष्मता व तीव्रता रूप ऋत को उत्पन्न करते हुए, वर्तिः-हमारे इन शरीर रूप गृहों तथा यज्ञं-उनके द्वारा चलनेवाले यज्ञों का परियन्-परिक्रमण करते हुए, रक्षण करते हुए सुक्रतूयसे-हमें उत्तम-उत्तम ज्ञान व शक्तिवाला बनाने की कामना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। हमारे स्वास्थ्य-मन के नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता को करते हुए हमें ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—चित्रमहा वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सन्ध्या-हवन

त्वामिदुस्या उषसो व्युष्टिषु दूतं कृण्वाना अयजन्त मानुषाः।
त्वां देवा महयाय्याय वावृधुराज्यमग्ने निमृजन्तो अध्वरे॥ ७॥

(१) हे प्रभो! मानुषाः-विचारशील पुरुष अस्याः उषसः व्युष्टिषु-इन उषाकालों के निकलने पर त्वां इत्-निश्चय से आपको ही दूतं कृण्वानाः-ज्ञान सन्देश देनेवाला करते हुए, आपसे ज्ञान सन्देश को सुनते हुए अयजन्त-आपकी उपासना करते हैं। एक अध्यापक का विद्यार्थी द्वारा आदर यही है कि वह उसके पाठ को ध्यान से सुनता है। इसी प्रकार हम प्रभु का आदर इसी प्रकार कर पाते हैं कि प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान सन्देश को एकाग्रता से सुनें। (२) देवाः-देववृत्ति के लोग महयाय्याय-महत्त्व की प्राप्ति के लिए हे अग्ने-परमात्मन्! त्वां वावृधुः-आपका वर्धन करते हैं। निरन्तर आपका स्मरण करते हुए आपकी भावना को अपने में उदित रखते हैं। ये लोग अध्वरे-हिंसारहित यज्ञों में आज्यं निमृजन्तः-घृतों का प्रक्षेपण करते हैं (प्रक्षिप्तवन्तः सा०) अथवा यज्ञ के निमित्त घृत का शोधन करते हैं। इस प्रकार ये देववृत्ति के लोग प्रभु का स्मरण करते हैं और यज्ञों को करते हैं, सन्ध्या व हवन को अपनाते हैं।

भावार्थ—विचारशील पुरुष व देववृत्ति के व्यक्ति ध्यान व यज्ञ को अपनाकर जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—चित्रमहा वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वसिष्ठों का प्रभु-स्मरण

नि त्वा वसिष्ठा अह्वन्त वाजिनं गृणन्तो अग्ने विदथेषु वेधसः।
रायस्पोषं यजमानेषु धारय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ८॥

(१) वसिष्ठाः-गत मन्त्र के अनुसार ध्यान व यज्ञ से जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाले लोग उत्तम निवासवाले वाजिनं त्वा-शक्तिशाली आपको नि अह्वन्त-निश्चय से पुकारते हैं। हे अग्ने-अग्रेणी प्रभो! वेधसः-ये ज्ञानी पुरुष विदथेषु-ज्ञान यज्ञों में गृणन्तः-आपका स्तवन करते हैं। (२) हे प्रभो! आप इन यजमानेषु-यज्ञशील, उपासना व पूजा की वृत्तिवाले लोगों में रायस्पोषम्-धन के पोषण को धारय-धारण करिये। इन्हें जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन की कभी कमी न हो। यूयम्-आप सदा-हमेशा नः-हमें स्वस्तिभिः-कल्याणों के द्वारा पात-रक्षित करिये। हम सदा आपसे रक्षित हुए-हुए कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—अपने जीवन को उत्तम बनानेवाले लोग शक्तिशाली प्रभु का स्मरण करते हैं। प्रभु इन्हें धन व कल्याण प्राप्त कराते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु के स्मरण से ही जीवन उत्तम बनता है। वे प्रभु अद्भुत तेजस्वितावाले हैं, उपासक को भी तेजस्वी बनाते हैं। इसलिए मेधावी पुरुष प्रभु का ही अर्चन करता है। यह मेधावी-वेन ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रभु की ही कामना करता है (वेणृ-चिन्तने) उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही गतिशील होता है (वेणृ गतौ) उसी का ज्ञान प्राप्त करता है (वेणृ-ज्ञाने)। यह ज्ञान की वाणियों को अपने अन्दर प्रेरित करता है—

[१२३] त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आपः-सूर्य

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥ १ ॥

(१) **अयं वेनः**-यह मेधावी पुरुष **रजसः**-रजोगुण के **विमाने**-विशिष्ट मानपूर्वक धारण करने पर **पृश्निगर्भाः**-सात उज्ज्वल वर्णवाली ज्ञानरश्मियाँ जिसके गर्भ में है उन वेद-ज्ञानों को **चोदयत्**-अपने में प्रेरित करता है वेदवाणियाँ सात छन्दोंवाले मन्त्रों में हैं। सूर्य की किरणें भी सात रंगों की हैं। वेद-ज्ञान सूर्य है, तो सात छन्दोंवाले मन्त्र उसकी सात उज्ज्वल किरणें हैं। वेन इन्हें अपने में धारण करता है। इन्हें धारण करने के लिए ही वह रजोगुण को विशिष्ट मानपूर्वक अपने में धारण करता है। रजोगुण के नितान्त अभाव में तो किसी भी क्रिया का सम्भव ही नहीं रहता। इस प्रकार इन पृश्निगर्भा वेदवाणियों को अपने में प्रेरित करता हुआ यह **ज्योतिर्जरायुः**-ज्योतिर्मय वेष्टनवाला होता है, अपने को ज्ञान से आच्छादित करता है। (२) **अपाम्**-रेतःकणों के तथा **सूर्यस्य**-ज्ञान के सूर्य के **संगमे**-मेल के होने पर, अर्थात् जिस समय रेतःकणों का रक्षण होता है और ज्ञान के सूर्य का उदय होता है तो उस समय **विप्राः**-ज्ञानी पुरुष **मतिभिः**-इन मननशील बुद्धियों के द्वारा **इयम्**-इस प्रभु का **रिहन्ति**-आस्वाद लेते हैं। प्रभु का मनन करते हुए ये लोग अपने हृदयों में आनन्द का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार इसके मनन में आस्वाद को अनुभव करते हैं **न**-जैसे कि गौवें **शिशुम्**-अपने बछड़े को चाटती हुई आनन्द का अनुभव करती हैं।

भावार्थ—संयत रजोगुण के द्वारा वेन ज्ञान को प्राप्त करता है। रेतःकणों का रक्षण करता हुआ तथा ज्ञान के सूर्य के उदय को करता हुआ यह मनन के द्वारा प्रभु प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तारों में प्रभु का प्रकाश

समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनो नभोजाः पृष्ठं हर्यतस्य दर्शि।
ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनिमभ्यनूषत व्राः ॥ २ ॥

(१) **वेनः**-मेधावी पुरुष **समुद्रात्**-ज्ञान के समुद्र इस वेद से (रायः समुद्रांश्चतुरः०) **ऊर्मिं उदियर्ति**-(ऊर्मि-light) ज्ञान के प्रकाश को अपने में उद्गत करता है। **नभोजाः**-(नभ आदित्यः नेताभासां नि० २।१४) ज्ञान सूर्य में निवास करनेवाला यह वेन **हर्यतस्य**-उस कान्त, सब से जाने योग्य (हर्य गतिकान्त्योः) प्रभु के **पृष्ठम्**-पृष्ठ को **दर्शि**-देखता है। 'पृष्ठं दर्शि' शब्दों से यह स्पष्ट है कि ज्ञानी भी प्रभु को इस रूप में देखता है कि 'वह है'। उस प्रभु का पूरा-पूरा जान लेना तो सम्भव ही नहीं वस्तुतः प्रभु की सत्ता का ज्ञान ही मनुष्य के जीवन के निर्मलीकरण के लिए पर्याप्त है। (२) अब यह वेन देखता है कि वे प्रभु **ऋतस्य सानौ**-ऋत के शिखर पर **अधिविष्टपि**-सम्पूर्ण भुवन के ऊपर **भ्राट्**-देदीप्यमान हैं। इस प्राकृतिक संसार का एक-एक पिण्ड बड़ी नियमित गति से चल रहा है, 'ऋत' का पालन कर रहा है, सूर्य-चन्द्र-तारे बड़े ठीक (ऋत-right) समय पर उदय होते हैं इस 'ऋत' का जन्मदाता वह प्रभु ही है। प्रभु के भय से ही सब कार्य ऋतपूर्वक हो रहा है। सारे ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष वे प्रभु ही हैं। (३) साथ ही वेन

को ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राः=आकाश को आच्छादित करनेवाले ये तारे उस **समानं योनिम्**=सारे लोक-लोकान्तरों के समानरूप से निवास-स्थानभूत उस ब्रह्म को (यस्मिन् भवत्येकनीडम्) **अभ्यनूषत**=स्तुत कर रहे हैं। चमकते हुए इन तारों में भी तो उस प्रभु की ही महिमा दिखती है।

भावार्थ—मेधावी पुरुष वेद से प्रकाश को प्राप्त करता है, प्रभु की सत्ता का अनुभव करता है। उसे सब पिण्डों की नियमित गति में (ऋत में) प्रभु का दर्शन होता है, तारे उसे प्रभु का स्तवन करते प्रतीत होते हैं।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मधुरता-अमृतता

समानं पूर्वीरभि वावशानास्तिष्ठन्वत्सस्य मातरः सनीळाः।
ऋतस्य सानावधि चक्रमाणा रिहन्ति मध्वो अमृतस्य वाणीः ॥ ३ ॥

(१) **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाली प्रजाएँ **समानम्**=(सम्यग् आनयति) उस प्राणित करनेवाले प्रभु को **अभिवावशानाः**=लक्ष्य करके स्तुति-वचनों का उच्चारण करती हुई, **वत्सस्य**=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाले (वदति इति) प्रभु का **मातरः**=अपने हृदयों में ज्ञान प्राप्त करनेवाले (=निर्माण करनेवाले) **सनीडाः**=उस समान प्रभु रूप नीड (गृह) में निवास करनेवाले ये स्तोता **ऋतस्य सानौ**=ऋत के शिखर पर **अधि चक्रमाणाः**=गति करते हुए, अर्थात् अपने सब कार्यों को ऋतपूर्वक करते हुए **मध्वः अमृतस्य**=अत्यन्त मधुर अमृत की **वाणीः**=वाणियों को **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं। (२) वेदवाणियाँ-ज्ञान की वाणियाँ जीवन को मधुर बनानेवाली हैं, ये नीरोगता को देनेवाली हैं। इनमें उपदिष्ट मार्ग पर आक्रमण करने से जीवन मधुर व नीरोग बनता है। जो मेधावी पुरुष होते हैं वे (क) प्रभु का स्तवन करते हैं, (ख) हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील होते हैं, (ग) प्रभु को सब प्राणियों के निवास-स्थान के रूप में देखते हुए परस्पर बन्धुत्व को अनुभव करते हैं, (घ) इनके सब कार्य नियमित गति से होते हैं, (ङ) ये ज्ञान की वाणियों में आनन्द का अनुभव करते हैं। ये वाणियाँ इनके जीवन को मधुर व नीरोग बनाती हैं।

भावार्थ—मेधावी पुरुषों का जीवन प्रभु-स्मरण व ज्ञानग्रहण में प्रवृत्त रहता है, वे मधुर व नीरोग जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के अनुरूप बनना

जानन्तो रूपमकृपन्त विप्रा मृगस्य घोषं महिषस्य हि ग्मन्।
ऋतेन यन्तो अधि सिन्धुमस्थुर्विदद्गन्धर्वो अमृतानि नाम ॥ ४ ॥

(१) **विप्राः**=ज्ञानी लोग, ज्ञान के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले लोग **रूपं जानन्तः**=प्रभु के रूप को जानते हुए **अकृपन्तः**=(to havemercy for) दया के स्वभाववाले बनते हैं। प्रभु दयालु हैं, ये भी दया को अपनाते हैं। (२) **हि**=निश्चय से **मृगस्य**=(मार्ष्टेः नि० १।२०) मानव-जीवनों को शुद्ध करनेवाले **महिषस्य**=पूज्य (मह पूजायाम्) प्रभु की **घोषम्**=अन्तःप्रेरणा को **ग्मन्**=प्राप्त होते हैं। प्रभु की वाणियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। (३) इन वाणियों से प्रेरणा को लेकर **ऋतेन यन्तः**=ऋत से गति करते हुए, अर्थात् सब कार्यों

को नियम से करते हुए **सिन्धुं अधि अस्थुः**=उस ज्ञान समुद्र प्रभु में स्थित होते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करनेवाले होते हैं। (३) **गन्धर्वः**=यह ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला **अमृतानि**=अमृतत्वों को **नाम**=निश्चय से **वि दत्**=प्राप्त करता है। (नाम इति वाक्यालंकारे)। 'नाम' शब्द का अर्थ नमनशील उदक भी है। यह गन्धर्व अमृतत्वों को प्राप्त करता है। और अमृतत्व के लिए ही इन रेतःकणरूप उदकों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु के जानते हुए हम अपने जीवनों को शुद्ध बनायें। ज्ञान की वाणियों को धारण करते हुए अमृतत्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अप्सरा का स्मित

अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्।
चरत्प्रियस्य योनिषु प्रियः सन्त्सीदत्पक्षे हिरण्यये स वेनः ॥ ५ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी को 'अप्सराः' कहा है यह 'अप्सु सारयति'=कर्मों में प्रेरित करती है। यह 'योषा' है गुणों के साथ हमारा सम्पर्क करती है, अवगुणों से हमें पृथक् करती है। 'जार' वह व्यक्ति है जो कि अपने दोषों को प्रभु-स्तवन द्वारा जीर्ण करने का प्रयत्न करता है। यह **अप्सराः**=कर्मों में प्रेरित करनेवाली **योषा**=गुणों से सम्पृक्त व अवगुणों से असम्पृक्त करनेवाली वेदवाणी **जारम्**=स्तोता के **उप**=समीप **सिष्मियाणा**=मुस्कराती हुई, अर्थात् उसके प्रति अपने स्वरूप को व्यक्त करती हुई उसे **परमे व्योमन्**=सर्वोत्कृष्ट आकाशवत् व्यापक ब्रह्म में **बिभर्ति**=धारण करती है। उस ब्रह्म में धारण करती है जो 'व्योमन्'=वी+ओम्+अन्=रक्षक होते हुए एक ओर प्रकृति (वी) को धारण किए हुए हैं तो दूसरी ओर जीव (अन्) को। (२) यह व्यक्ति **प्रियः सन्**=प्रभु का प्रिय होता हुआ **प्रियस्य योनिषु**=(योनि=any place of birth) उस प्रिय प्रभु के उत्पत्ति-स्थानों में **चरत्**=विचरता है। ऐसे स्थानों में विचरण करता है जहाँ कि उसे प्रभु की विभूति दिखे और प्रभु का स्मरण हो। (३) **सः वेनः**=वह मेधावी पुरुष **हिरण्यये पक्षे**=ज्योतिर्मय पक्ष में **सीदत्**=आसीन होता है। देवों का एक पक्ष है, असुरों का दूसरा। देवों का पक्ष ज्योतिर्मय है, असुरों का अन्धकारमय। यह देव-पक्ष को स्वीकार करता है। श्रेय और प्रेय में से श्रेय का वरण करता है।

भावार्थ—स्तोता को वेदवाणी का प्रकाश मिलता है। यह सर्वत्र प्रभु की विभूति को देखता हुआ देवों के ज्योतिर्मय पक्ष को स्वीकार करता है, देव बनने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्योतिर्मय

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६ ॥

(१) हे परमात्मन्! **नाके**=मोक्ष सुख में **सुपर्णम्**=बड़ी उत्तमता से पालन करनेवाले, **उप**=समीप **पतन्तम्**=प्राप्त होते हुए **त्वा**=आपको **यत्**=जब **हृदावेनन्तः**=हृदय से कामना करते हुए ये उपासक लोग **अभ्यचक्षत**=देखते हैं, तो इस रूप में देखते हैं कि आप **हिरण्यपक्षम्**=ज्योति का ग्रहण करनेवाले हैं (पक्ष परिग्रहे) ज्योतिर्मय स्वरूपवाले हैं। **वरुणस्य दूतम्**=पाप निवारण का सन्देश देनेवाले हैं। **यमस्य योनौ**=संयम के स्थान में **शकुनम्**=शक्तिशाली बनानेवाले हैं।

भुरण्युम्=सबका भरण-पोषण करनेवाले हैं। (२) उपासक क्या देखता है कि प्रभु (क) ज्योतिर्मय हैं, (ख) प्रतिक्षण पाप से बचने की प्रेरणा दे रहे हैं, (ग) संयम के द्वारा हमें शक्तिशाली बनाते हैं, (घ) हमारा भरण व पोषण कर रहे हैं, (ङ) सदा हमारे समीप हैं (उपपतन्तं) और (च) अन्ततः मोक्षसुख में हमारा उत्तम पालन करते हैं।

भावार्थ—अनन्य भक्ति के द्वारा प्रभु का दर्शन करते हुए उसके ज्योतिर्मय रूप को हम देखते हैं।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्म रूप कवच का धारण

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ्चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्व१र्ण नाम जनत प्रियाणि ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला **ऊर्ध्वः**=ऊपर उठता है, विषयों में कभी फँसता नहीं। **गन्धर्वः**=यह ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला होता है। **नाके अधि अस्थात्**=मोक्ष सुख में स्थित होता है, शरीर छूटने से पूर्व भी जीवन्मुक्त अवस्था में होता है। (२) यह जीवन्मुक्त **प्रत्यङ्**=अपने अन्दर **अस्य**=इस प्रभु के, प्रभु से दिये हुए **चित्रा आयुधानि**=अद्भुत आयुधों को, इन्द्रिय, मन व बुद्धि को **बिभ्रत्**=धारण करता है। (३) **अत्कम्**=प्रभु रूप कवच को (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्) **वसानः**=यह धारण करता है। यह कवच **सुरभिम्**=शोभन व सुन्दर है अथवा (सु-रभ) हमें सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त करनेवाला है। यह अन्ततः उस **कम्**=आनन्दमय प्रभु के **दृशे**=दर्शन के लिए होता है। (४) इस प्रभु रूप कवच को धारण करके यह व्यक्ति **स्वः न**=सूर्य की तरह **प्रियाणि नाम जनत**=प्रिय कर्मों को ही प्रकट करता है। सूर्य सदा प्रकाश को करता है, यह भी प्रकाशमय उत्कृष्ट कर्मों को ही करता है। ब्रह्मरूप कवच को धारण करने पर इसके जीवन से अशुभ कर्म होते ही नहीं।

भावार्थ—ब्रह्मरूप कवच को धारण करके हम सदा शुभ कर्मों को ही करनेवाले बनें।

ऋषिः—वेनः ॥ देवता—वेनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रप्सः समुद्रम्

द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन्गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन्।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जीवन को बनानेवाला बहुत कुछ प्रभु जैसा बनता है। प्रभु समुद्र हैं, तो यह उस समुद्र का जलकण होता है। **द्रप्सः**=प्रभु रूप समुद्र का जलकण बना हुआ **यत्**=जब **समुद्रं अभि**=(स-मुद्) उस आनन्द के सागर प्रभु की ओर **जिगाति**=जाता है, तो **गृध्रस्य चक्षसा**=गीध की दृष्टि से, अति तीव्र दृष्टि से **विधर्मन्**=उस विशेषरूप से धारण करनेवाले प्रभु में **पश्यन्**=अपने को देखता है। अपने चारों ओर यह उस प्रभु का अनुभव करता है। (२) **भानुः**=ज्ञान से दीप्त हुआ-हुआ यह **शुक्रेण शोचिषा**=दीप्त शुचिता से पवित्रता से **चकानः**=चमकता हुआ **तृतीये रजसि**=तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर तृतीय सत्त्वगुण में अवस्थित हुआ-हुआ अथवा प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर परमात्मा में स्थित हुआ-हुआ **प्रियाणि चक्रे**=सदा प्रभु के प्रिय कर्मों को ही करता है। प्रभु को धारणात्मक कर्म प्रिय हैं। यह भी धारणात्मक कर्मों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—दीप्त व पवित्र जीवनवाले बनते हुए, सदा सत्त्वगुण में अवस्थित होकर प्रभु के प्रिय कर्मों को ही करनेवाले हों।

सूक्त का भाव यही है कि वेन=मेधावी पुरुष वही है जो प्रभु की ओर चलता है, प्रकृति में फँस नहीं जाता। प्रकृति में न फँसने के कारण ही यह अग्नि=आगे बढ़नेवाला बनता है। इस उन्नतिपथ में आनेवाले विघ्नों का निवारण करनेवाला 'वरुण' बनता है। उन्नत होकर भी 'सोम'=विनीत बना रहता है। 'अग्नि वरुण सोम' का पुकारनेवाला (निहव) 'अग्निवरुणसोमानां निहवः' ही अगले सूक्त का ऋषि है। प्रार्थना है कि—

[१२४] चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अग्निवरुणसोमानां निहवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पञ्चयाम जीवनयज्ञ

इ॒मं नो॑ अग्न॒ उप॑ य॒ज्ञमेहि॒ पञ्च॑यामं त्रि॒वृतं॑ स॒प्ततन्तुम्।
असो॑ हव्य॒वाळु॒त नः॑ पुरो॒गा ज्योगे॒व दी॒र्घं तम॒ आश॑यिष्ठाः ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस जीवनयज्ञ को **उप एहि**=समीपता से प्राप्त होइये। यह जीवनयज्ञ **पञ्चयामम्**=पाँच प्राणों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच ज्ञानेन्द्रियों के यमन (=संयम) वाला है। इस यज्ञ में इन पाँच का संयम करना होता है। **त्रिवृतम्**=यह जीवनयज्ञ 'ज्ञान कर्म उपासना' तीनों में प्रवृत्त है। अथवा 'धर्मार्थ काम' तीनों पुरुषार्थों का समरूप से सेवन करनेवाला है। 'वात, पित्त, कफ' के अवैषम्य पर इसका निर्भर है। **सप्ततन्तुम्**=सात छन्दोंवाली वेदवाणी से इस जीवन यज्ञ का विस्तार हो रहा है। अथवा 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य' नामक सात धातुएँ इसको विस्तृत करती हैं। अथवा 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये सात ऋषि इस जीवनयज्ञ को चला रहे हैं 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता'। (२) हे प्रभो! आप **हव्यवाड् असः**=हमारे लिए सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होइये। **उत**=और **नः**=हमारे **पुरोगाः**=अग्रगामी मार्गदर्शक बनिये। आप **ज्योक् एव**=चिर काल से ही वर्तमान इस **दीर्घं तमः**=घने अन्धकार को **आशयिष्ठाः**=सुला दीजिए। अन्धकार को समाप्त करके हमें प्रकाश को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ही हमारा जीवनयज्ञ चलता है। प्रभु ही हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। वे ही हमारे मार्गदर्शक हैं और हमारे अज्ञानान्धकार को समाप्त करते हैं।

ऋषिः—अग्निः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृतत्व व बन्धन

अदे॑वाद्दे॒वः प्र॒चता॒ गुहा॒ यन्प्र॒पश्य॑मानो अमृत॒त्वमे॑मि।
शि॒वं यत्सन्त॒मशि॑वो॒ जहा॑मि॒ स्वात्स॒ख्यादर॑णीं॒ नाभि॑मेमि ॥ २ ॥

(१) **अदेवात्**=अदेव वृत्ति को छोड़कर **देवः**=देववृत्ति का बना हुआ मैं **प्रचता**=(चत् ask, beg, request) प्रभु से याचना के द्वारा **गुहा यन्**=बुद्धि रूप गुहा की ओर जाता हुआ 'यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञः, तद्यच्छेन् ज्ञान आत्मनि (बुद्धि में)' **प्रपश्यमानः**=आत्मतत्त्व को देखता हुआ **अमृतत्वं एमि**=अमृतत्व को, मोक्ष को प्राप्त होता हूँ। (२) **यत्**=जब **शिवम्**=उस कल्याण करनेवाले **सन्तम्**=अपने अन्दर ही विद्यमान प्रभु को **अशिवः**=अशुभ वृत्तिवाला मैं **जहामि**=छोड़ता हूँ। अर्थात् प्रभु का विस्मरण करके संसार के विषयों के ध्यान में रहता हूँ तो **स्वात् सख्यात्**=उस

अपनी आत्मतत्त्व की मित्रता को छोड़कर **अरणीम्**-(stinginess) कृपणता को और **नाभिम्**-(नह बन्धने) बन्धन को **एमि**-प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—देववृत्ति का बनकर मैं आत्मतत्त्व का दर्शन करता हूँ। परन्तु प्रभु से दूर होकर कृपणता व बन्धन को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—अग्निः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्य शिष्यता

पश्यन्नन्यस्या अतिथिं वयाया ऋतस्य धाम वि मिमे पुरूणि।
शंसामि पित्रे असुराय शेवमयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि॥ ३॥

(१) हम इस पृथिवी पर रहते हैं। यह पृथिवी भी संसार वृक्ष की एक शाखा है। दूसरी शाखा द्युलोक है। इस द्युलोक रूप शाखा में निरन्तर गति करनेवाला अतिथि सूर्य है। उस सूर्य से मनुष्य गति का पाठ पढ़ता है, क्रियाशील बनकर सूर्य की तरह ही चमकता है। **अन्यस्याः वयायाः**-दूसरी द्युलोक रूप शाखा के **अतिथिम्**-अतिथिवत् सूर्य को, निरन्तर गतिवाले सूर्य को (अत सातत्यगमने) **पश्यन्**-देखता हुआ एक उपासक **ऋतस्य**-ऋत के (ऋ गतौ) नियमपूर्वक गति के **पुरूणि**-पालक व पूरक **धाम**-तेजों को **विमिमे**-अपने अन्दर निर्मित करता है। सब कार्यों को सूर्य की तरह निरन्तर व नियमित गति से करने से मनुष्य सूर्य की तरह ही तेजस्वी बनता है। (२) मैं **असुराय**-प्राणशक्ति को देनेवाले (असून् राति) **पित्रे**-उस रक्षक पिता के लिए, उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **शेवं शंसामि**-आनन्द व मनःप्रसाद की याचना करता हूँ। मनः प्रसाद रूप तप से ही तो मैं उस प्रभु को पानेवाला बनूँगा। **अयज्ञियात्**-अयज्ञिय कर्मों को छोड़कर स्वार्थमय कर्मों से ऊपर उठकर **यज्ञियं भागम्**-पवित्र कर्मों के सेवन को **एमि**-प्राप्त होता हूँ। अपने जीवन को यज्ञिय बनाता हूँ। इस यज्ञ के द्वारा ही तो मैं उस पिता का आराधन कर सकूँगा। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—मैं सूर्य को देखता हुआ सूर्य की तरह निरन्तर नियमित गतिवाला होकर तेजस्वी बनूँ। प्रभु प्राप्ति के लिए मनःप्रसाद रूप तप का साधन करूँ। यज्ञशील बनूँ।

ऋषिः—अग्निः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पिता इन्द्र का वरण

बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि।
अग्निः सोमो वरुणस्ते च्यवन्ते पर्यावर्द्राष्ट्रं तदवाम्यायन्॥ ४॥

(१) जीव सोचता है कि **बह्वीः समाः**-बहुत वर्षों तक **अस्मिन् अन्तः**-इस शरीर में **अकरम्**-मैंने निवास किया है। अब मैं **पितरम्**-उस रक्षक पिता **इन्द्रम्**-परमैश्वर्यशाली प्रभु को **वृणानः**-वरता हुआ **जहामि**-इस शरीर को छोड़ता हूँ। जब तक मनुष्य प्रभु से दूर रहता है, तब तक उसे शरीर में बद्ध होना ही पड़ता है। विषयों से ऊपर उठकर प्रभु का वरण करता है तो शरीर बन्धन से मुक्ति को प्राप्त करता है। (२) जब तक प्रभु से दूर होता है और संसार के विषयों में भटकता है तब तक **अग्निः**-आगे बढ़ने की वृत्ति, **वरुणः**-विघ्न निवारण का भाव तथा **सोमः**-सौम्यता, **ते**-वे सब बातें **च्यवन्ते**-मेरे से दूर होती हैं। **राष्ट्रं पर्यावर्त्**-यह शरीर रूप राष्ट्र सब अस्त-व्यस्त हो जाता है। यह ऋषियों का आश्रय न रहकर असुरों का महल बन जाता है। यह देव-मन्दिर न रहकर असुरों की पानगोष्ठी बन जाती है। आज मैं **तद्**-उस राष्ट्र को आ-

यन्-समन्तात् गतिवाला होता हुआ, खूब क्रियाशील जीवनवाला होता हुआ, अवामि-रक्षित करता हूँ। मेरा यह शरीर राष्ट्र फिर से ठीक हो जाता है।

भावार्थ—क्रियाशील जीवन से जीवन को पवित्र बनाते हुए हम प्रभु का वरण करें नकि प्राकृतिक भोगों का। तभी हम शरीर-बन्धन से ऊपर उठ पायेंगे।

ऋषिः—अग्निवरुणसोमानां निहवः ॥ देवता—यथानिपातम् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के शासन में

निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन्त्वं च मा वरुण कामयासे।
ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब मैं प्रभु का वरण करता हुआ गति करता हूँ, उस समय **त्ये**-वे **असुरा**-आसुरभाव **उ**-निश्चय से **निर्मायाः**-माया से रहित **अभूवन्**-हो जाते हैं, इनकी माया का प्रभाव मेरे पर नहीं होता **च**-और हे **वरुण**-सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**-आप **मा कामयासे**-मुझे चाहते हैं, मैं आपका प्रिय होता हूँ। जब आसुरभावों से हम ऊपर उठ जाते हैं तो प्रभु के प्रिय तो बनते ही हैं। (२) हे राजन्! मेरे जीवन राज्य के अधिपति प्रभो! **ऋतेन अनृतं विविञ्चन्**-ऋत से अनृत को पृथक् करते हुए आप **मम**-मेरे **राष्ट्रस्य**-राष्ट्र के **अधिपत्यम्**-स्वामित्व को **एहि**-प्राप्त होइये। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया आपके आदेश से हो। इस जीवन में अनृत का प्रवेश न हो, ऋत ही ऋत का समावेश हो।

भावार्थ—मैं प्रभु का वरण करूँ। आसुरभाव मायाशून्य हो जाएँ। मेरे जीवन-राज्य का अधिपति प्रभु हो।

ऋषिः—अग्निवरुणसोमानां निहवः ॥ देवता—यथानिपातम् ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकाशमय जीवन

इदं स्वरिदमिदास वाममयं प्रकाश उर्वन्तरिक्षम्।
हनाव वृत्रं निरेहि सोम हविष्ट्वा सन्तं हविषा यजाम॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हमारे जीवन-राष्ट्र के अधिपति प्रभु होते हैं तो **इदम्**-यह प्रभु का साम्राज्य ही **स्वः**-स्वर्ग होता है अथवा प्रकाशमय होता है। **इदं इत्**-यह ही निश्चय से **वामम्**-सुन्दर **आस**-होता है। **अयं प्रकाशः**-यह प्रकाश ही प्रकाश होता है, वहाँ किसी प्रकार का अन्धकार नहीं होता **उरु अन्तरिक्षम्**-यह प्रभु का राष्ट्र बना हुआ मेरा जीवन विशाल अन्तरिक्ष के समान होता है। इसमें सभी के लिए स्थान होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-सारी पृथ्वी इस व्यक्ति का परिवार बन जाती है। (२) इसकी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है कि हे **सोम**-शान्त प्रभो! **निः एहि**-आप मुझे निश्चय से प्राप्त होइये। मैं आपसे मिलकर, अर्थात् हम दोनों **वृत्रं हनाव**-ज्ञान की आवरणभूत वासना का हनन करें। **हविः सन्तं त्वा**-हवीरूप आपका हवि के द्वारा हम उपासन करें। हम त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनें और त्यागस्वरूप आपको प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञरूप आपका यज्ञ के द्वारा ही तो उपासन हो सकता है।

भावार्थ—प्रभु का राज्य बना हुआ जीवन ही स्वर्गतुल्य, सुन्दर, प्रकाशमय व विशाल अन्तरिक्ष के समान है। प्रभु से मिलकर हम वासना का विनाश करें। हवीरूप प्रभु का हवि के द्वारा उपासन करें।

ऋषिः—अग्निवरुणसोमानां निह्वः ॥ देवता—यथानिपातम् ॥ छन्दः—जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

द्युलोक में सूर्य का स्थापन

कविः कवित्वा दिवि रूपमासजदप्रभूती वरुणो निरपः सृजत्।
क्षेमं कृण्वाना जनयो न सिन्धवस्ता अस्य वर्णं शुचयो भरिभ्रति ॥७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार उपासना के होने पर **कविः**=क्रान्तदर्शी प्रभु **कवित्वा**=अपनी सर्वज्ञता से **दिवि**=उपासक के मस्तिष्करूप द्युलोक में **रूपम्**=सब पदार्थों के निरूपण को, अर्थात् सब पदार्थों के ज्ञान को **आसजत्**=आसक्त करता है, अर्थात् इस उपासक के मस्तिष्क में ज्ञान के सूर्य को उदित करते हैं। (२) इसी उद्देश्य से **वरुणः**=पाप का निवारण करनेवाले प्रभु **अप्रभूती**=(अल्पेनैव यत्नेन सा०) अनायास ही वासनारूप वृत्र से अवरुद्ध **अपः**=रेतःकणों को **निः असृजत्**=वासना के बन्धन से मुक्त करते हैं। प्रभु के स्मरण से ही वासना का विनाश होता है और रेतःकण शरीर में सुरक्षित रहते हैं। ये सुरक्षित रेतःकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। (३) ये **सिन्धवः**=(स्यन्दन्ते) बहने के स्वभाववाले रेतःकण, **जनयः न**=घर में पत्नियों के समान, **क्षेमं कृण्वानाः**=इस शरीर में क्षेम को करते हुए **शुचयः**=जीवन को पवित्र बनानेवाले होते हैं और **ताः**=वे रेतःकण **अस्य वर्णं भरिभ्रति**=इसके अन्दर तेजस्विता को धारण करते हैं। इसके अन्दर वर्ण को, शकल को, रूप को, तेजस्विता को धारण करते हैं। बीमार व्यक्ति स्वस्थ होता है तो कहते हैं कि अब तो जरा इसकी शकल निकल आयी। एवं 'वर्ण' स्वास्थ्य का प्रतीक है।

भावार्थ—प्रभु उपासक के मस्तिष्क में ज्ञान सूर्य का उदय करते हैं। रेतःकणों को वासनाओं का शिकार नहीं होने देते। सुरक्षित रेतःकण कल्याण करते हैं और हमें तेजस्वी बनाते हैं।

ऋषिः—अग्निवरुणसोमानां निह्वः ॥ देवता—यथानिपातम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृत्र से दूर (अप वृत्रादतिष्ठन्)

ता अस्य ज्येष्ठमिन्द्रियं सचन्ते ता ईमा क्षेति स्वधया मदन्तीः।
ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन् ॥८॥

(१) **ताः**=गत मन्त्र में वर्णित वे **आपः**=रेतःकण **अस्य**=इस पुरुष के **ज्येष्ठं इन्द्रम्**=उत्कृष्ट शक्ति को **सचन्ते**=समवेत करते हैं। अर्थात् इस पुरुष को ये रेतःकण उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त कराते हैं। **ताः**=उन **स्वधया**=आत्मधारण शक्ति से **मदन्तीः**=आनन्दित करते हुए रेतःकणों को **ईम्**=निश्चय से **आक्षेति**=सब प्रकार से अपने अन्दर निवास कराता है (क्षि=निवासे)। इन्हें अपने अन्दर सुरक्षित करता हुआ यह उत्तम निवास व गतिवाला बनता है। (२) **न**=जैसे **विशः**=प्रजाएँ **राजानं वृणानाः**=राजा का वरण करती हैं, उसी प्रकार **ईम्**=निश्चय से **ताः वृणानाः**=उन रेतःकणों का वरण करनेवाले **बीभत्सुवः**=इन्हें अपने में बाँधने की कामनावाले **वृत्रात्**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना से **अप अतिष्ठन्**=दूर ही रहते हैं। प्रजाएँ अपने रक्षण के लिए जैसे राजा का वरण करती हैं, उसी प्रकार हमें अपने रक्षण के लिए इन रेतःकणों का वरण करना चाहिए। इन्हें अपने अन्दर सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए वासना से दूर रहना ही एकमात्र उपाय है।

भावार्थ—सुरक्षित रेतःकण शक्ति को प्राप्त कराते हैं। इनके रक्षण के लिए वासना से ऊपर उठना आवश्यक है।

ऋषिः—अग्निवरुणसोमानां निहवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा ॥ ९ ॥

(१) **बीभत्सूनाम्**-रेतःकणों को अपने में बाँधने की कामनावाले के **हंसम्**-सब पापों का विध्वंस करनेवाले (हन हिंसा) गतिशील (हन गतौ) प्रभु को **सयुजम्**-साथ रहनेवाला मित्र **आहुः**-कहते हैं। प्रभु उसी के साथी हैं, जो वासना से ऊपर उठकर रेतःकणों को अपने में सुरक्षित रखता है। उस प्रभु को **दिव्यानां अपाम्**-दिव्य रेतःकणों की **सख्ये**-मित्रता में **चरन्तम्**-विचरण करनेवाला कहते हैं। दिव्य रेतःकण वे हैं जो वासना के कारण मलिन होकर विनाशोन्मुख नहीं होते। शरीर में सुरक्षित रहते हुए ये दिव्य गुणों की वृद्धि का कारण बनते हैं। इन दिव्य रेतःकणों के साथ प्रभु का विचरण है। (२) वे प्रभु **अनुष्टुभम्**-प्रतिदिन स्तोतव्य हैं। **अनु चर्चूर्यमाणम्**-पीछे निरन्तर गति करनेवाले हैं। जब हम तेज आदि को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करते हैं तो प्रभु भी हमारी सहायता करते हैं (अनु चर्)। हम पुरुषार्थ न करें, तो प्रभु ही हमारे लिए सब कुछ नहीं कर देते। इस **इन्द्रम्**-हमारे सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभु को **कवयः**-क्रान्तदर्शी ज्ञानी **मनीषा**-बुद्धि के द्वारा **निचिक्युः**-जानते हैं। 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।

भावार्थ—प्रभु रेतःकणों का रक्षण करनेवाले के मित्र हैं। पुरुषार्थी के सहायक हैं। उस प्रभु को क्रान्तदर्शी लोग सूक्ष्म बुद्धि से देखते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम जीवन को यज्ञ बनाएँ। अमृतत्व को प्राप्त करने की कामना करें। रेतःकणों को वासना से मलिन न होने दें। अवश्य हमें प्रभु प्राप्त होंगे, हम सूक्ष्म बुद्धि से उनका दर्शन कर सकेंगे। 'हमें प्रभु प्राप्त होंगे, तो सब देव तो प्राप्त होंगे ही'। इस महान् उद्घोषणा को अगला सूक्त कर रहा है। उस सूक्त का ऋषि व देवता 'वाग् आम्भृणी'-(अम्भृण महन्नाम नि० ३।३) है, 'महत्त्वपूर्ण वाणी व उद्घोषणा'। उसमें कहते हैं—

[१२५] पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तेंतीस देवों के साथ महादेव

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**-मैं **रुद्रेभिः वसुभिः चरामि**-रुद्रों और वसुओं के साथ गति करता हूँ। **अहम्**-मैं **आदित्यैः**-आदित्यों के साथ **उत**-और **विश्वदेवैः**-सब देवों के साथ गति करता हूँ। जब कोई उपासक मुझे प्राप्त करता है तो इन सब देवों को भी प्राप्त करता है। अथवा जो इन देवों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वही मुझे प्राप्त करता है। देवों को प्राप्त करनेवाला ही तो परमदेव की प्राप्ति का अधिकारी होता है। (२) **अहम्**-मैं **मित्रावरुणा उभा**-मित्र और वरुण इन दोनों को **बिभर्मि**-धारण करता हूँ। **अहम्**-मैं **इन्द्राग्नी**-इन्द्र और अग्नि को धारण करता हूँ। **अहम्**-मैं **उभा अश्विना**-दोनों अश्विनी देवों को धारण करता हूँ। 'मित्र और वरुण'-स्नेह और निर्द्वेषता की देवता हैं। इन्द्र और अग्नि-शक्ति व प्रकाश के प्रतीक हैं। 'अश्विनौ'-प्राणापान हैं। इस प्रकार ११ रुद्र, ८ वसु और १२ आदित्यों के साथ दो मित्रावरुण

अथवा इन्द्राग्नी वा अश्विनौ मिलकर ३३ देव प्रभु द्वारा हमारे अन्दर स्थापित होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारे में तेंतीस देवों के साथ उपस्थित होते हैं। प्रभु की उपासना में सब देवों का उपासन हो जाता है।

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु के धन के पात्र

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

(१) **अहम्**=मैं **सोमम्**=उस सोम को **बिभर्मि**=धारण करता हूँ, जो **आहनसम्**=शरीर के सब रोगों का हनन करनेवाला है। **अहम्**=मैं **त्वष्टारम्**=निर्माण की देवता को **उत**=और **पूषणं भगम्**=पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ। अर्थात् मैं उपासक को उस सोम शक्ति से (=वीर्य शक्ति से) युक्त करता हूँ, जो उसके शरीर में रोगों को नहीं आने देती। मैं उस उपासक को निर्माण की वृत्तिवाला बनाता हूँ तथा पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराता हूँ। (२) **अहम्**-मैं **हविष्मते**=हविष्मान् के लिए, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले के लिए **द्रविणं दधामि**=धन का पोषण करता हूँ। उसे लोकहित के कार्यों के लिए धन की कभी कमी नहीं रहती **सुप्राव्ये**=(सु+प्र+अव्) उत्तमता से उत्कृष्ट रक्षण करनेवाले के लिए मैं धन का धारण करता हूँ। **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए मैं धन का धारण करता हूँ तथा **सुन्वते**=सोमयज्ञों को करनेवाले के लिए मैं धन को देता हूँ। राष्ट्र रक्षा के लिए निर्माणात्मक सब कर्म सब कर्म 'सोमयज्ञ' कहलाते हैं। इन सोम यज्ञों को करनेवालों के लिए प्रभु धन की कमी नहीं होने देते।

भावार्थ—प्रभु वीर्य शक्ति को प्राप्त करा के उपासक को नीरोग बनाते हैं। निर्माणात्मक कार्यों में उसे प्रवृत्त करके पोषण के लिए पर्याप्त धन देते हैं। दानपूर्वक अदन करनेवाला (हविष्मान्) उत्तम रक्षण में प्रवृत्त (सुप्रावी) यज्ञशील (यजमान) निर्माण के कार्य में लगा हुआ व्यक्ति (सुन्वन्) प्रभु के धन का पात्र होता है।

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वशासक-सर्वाधार

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

(१) **अहम्**=मैं ही **राष्ट्री**=सम्पूर्ण जगत् की शासिका ईश्वरी हूँ। **वसूनाम्**=सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक धनों को **संगमनी**=प्राप्त करानेवाली हूँ। **चिकितुषी**=ज्ञानवाली मैं ही हूँ। अतएव **यज्ञियानां प्रथमा**=उपास्यों में प्रथम मैं ही हूँ। (२) **ताम्**=उस **मा**=मुझको **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **व्यदधुः**=धारण करते हैं। जो मैं **भूरिस्थात्राम्**=पालक व पोषक रूप में सर्वत्र स्थित हूँ तथा **भूरि-आवेशयन्तीम्**=पालक व पोषक तत्त्वों को सब जीवों में प्रवेश करानेवाला हूँ। (३) प्रभु सारे चराचर ब्रह्माण्ड के शासन करनेवाले हैं (राष्ट्री)। सूर्यादि सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं (संगमनी वसूनां) सूर्य में अपनी शक्ति नहीं। यह प्रभु की ही शक्ति सूर्य में काम कर रही है। प्रभु ही इनमें पालक व पोषक रूप में स्थित हैं (भूरिस्थात्राम्)। इसी प्रकार सब प्राणियों को चेतना देनेवाले प्रभु ही हैं (चिकितुषी) प्रभु ही इनमें सब पोषक तत्त्वों का प्रदेश कराते हैं (भूरि आवेशयन्तीम्)। वस्तुतः जड़ जगत् के द्वारा चेतन जगत्

का धारण करनेवाले ये प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सबके शासक हैं, प्रभु ही सबके आधार हैं।

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वपालक प्रभु

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

(१) **मया**-मेरे से ही **सः**-वह **अन्नं अत्ति**-अन्न को खाता है **यः**-जो **विपश्यति**-विशिष्टरूप से देखता है, देखते हैं, परन्तु कुछ समझते नहीं, वे अत्यन्त स्थिर-सी अवस्था में पड़े हुए क्षुद्र जन्तु मेरे से ही भोजन को खाते हैं। इसी प्रकार **यः प्राणिति**-जो श्वासोच्छ्वास लेते हुए जीवन को बिता रहे हैं, वे भी मेरे से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। केवल देखनेवालों से ये कुछ उत्कृष्ट हैं। इन से भी उत्कृष्ट वे हैं **ये**-जो **ईम्**-निश्चय से **उक्तं शृणोति**-कहे हुए को सुनते हैं। इस प्रकार श्रवण से ज्ञान की वृद्धिवाले मनुष्य भी मेरे से ही अन्न को खाते हैं। (२) **ते अमन्तवः**-वे मनन व विचार से शून्य होने के कारण मुझे न माननेवाले भोग प्रधान वृत्तिवाले व्यक्ति भी **मां उपक्षियन्ति**-मेरे आधार से ही निवास करते हैं। मेरे आधार से जीते हुए भी वे माया से मोहित हुए-हुए मुझे नहीं देखते। (३) परन्तु प्रभु का प्रिय पुत्र तो वही है जो मायामूढ न बनकर प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। हे **श्रुत**-अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले जीव! **श्रुधि**-सुन। **श्रद्धिवम्**-(श्रद्धिः श्रद्धा तया युक्तं श्रद्धा यत्नेन तभ्यं ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु सा०) श्रद्धा से लभ्य आत्मज्ञान को **ते वदामि**-तेरे लिए मैं कहता हूँ। इस प्रभु की वाणी को सुननेवाला श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त करता है।

भावार्थ—देखनेवाले केवल श्वासोच्छ्वास लेनेवाले, सुननेवाले सभी प्रभु से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। मनन रहित भोग प्रधान पुरुषों को भी प्रभु ही भोजन देते हैं और सुननेवालों को प्रभु ही ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु प्रिय व्यक्ति का जीवन

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि श्रद्धा-लभ्य ज्ञान मैं ही प्राप्त कराता हूँ। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **अहं एव**-मैं ही **स्वयम्**-अपने आप **इदम्**-इस ज्ञान को **वदामि**-उच्चरित करता हूँ, जो ज्ञान **देवेभिः जुष्टम्**-देवताओं से प्रीतिपूर्वक सेवित होता है, **उत**-और **मानुषेभिः**-विचारशील पुरुषों से वह ज्ञान सेवित होता है। प्रभु से दिये जाते हुए इस अन्तर्ज्ञान को देव और मनुष्य ही सुनते हैं। इन्हीं का इस ज्ञान की ओर झुकाव होता है। सामान्य मनुष्य इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित नहीं होता। (२) इस प्रकार मनुष्यों के सामान्यतया दो विभाग हो जाते हैं। एक वे जो देववृत्ति के बनकर ज्ञान की ओर झुकाववाले होते हैं। और दूसरे वे जो भोग प्रधान जीवनवाले बनकर ईश्वर से विमुख रहते हैं। स्पष्ट है कि देव प्रभु के प्रिय होते हैं। **यम्**-जिनको **कामये**-मैं चाहता हूँ, जो मेरे प्रिय बनते हैं **तं तम्**-उन-उनको मैं **उग्रं कृणोमि**-तेजस्वी बनाता हूँ, **तं ब्रह्माणम्**-उनको मैं ज्ञानी बनाता हूँ, **तं ऋषिम्**-उनको

द्रष्टा व गतिशील बनाता हूँ **तं सुमेधाम्**-उनको उत्तम मेधावाला बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु प्रिय व्यक्ति तेजस्वी ज्ञानी व ऋषि तुल्य और सुमेधा बनता है। आसुरवृत्तिवाले लोग भोग प्रधान जीवन को बिताने से निस्तेज व ज्ञानविमुख गलत दृष्टिकोणवाले दुर्बुद्धि हो जाते हैं।

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्तःसंग्राम व बहि संग्राम के करनेवाले प्रभु

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ६ ॥

(१) राष्ट्र में प्रजाओं के कष्टों का निवारण करनेवाला राजा रुद्र है (रुत् कष्टं द्रावयति)। यह अपने धनुष् से प्रजा पीड़कों का संहार करता है। इसके लिए इन धनुष् आदि साधनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **अहम्**-मैं ही **रुद्राय**-इस प्रजा कष्ट विद्रावक राजा के लिए **धनुः**-धनुष को **आतनोमि**-ज्या इत्यादि से युक्त करता हूँ। जिससे वह राजा **ब्रह्मद्विषे**-ज्ञान के साथ प्रीति न रखनेवाले **शरवे**-हिंसक पुरुष के **हन्तवा उ**-निश्चय से हनन के लिए समर्थ हो सके। इस प्रकार राजा राष्ट्र की उन्नति में विघ्नभूत लोगों को उचित दण्ड देने का सामर्थ्य उस प्रभु से ही प्राप्त करता है। (२) लोगों का जो अपने अन्तःशत्रु काम-क्रोधादि से युद्ध चलता है उस युद्ध में भी प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। **अहम्**-मैं ही **जनाय**-लोगों के लिए **समदम्**-(समत्=संग्राम) संग्राम को **कृणोमि**-करता हूँ। प्रभु ही इन कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं। **अहम्**-मैं ही **द्यावापृथिवी आविवेश**-सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवी लोक में व्याप्त हो रहा हूँ। सर्वत्र मेरी शक्ति ही काम कर रही है।

भावार्थ—राजा को राष्ट्रपालन की शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। एक मनुष्य को काम-क्रोधादि को जीतने की शक्ति भी प्रभु ही देते हैं।

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्य व जलों के निर्माता प्रभु

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

(१) **अहम्**-मैं **अस्य**-इस जगत् के **मूर्धन्**-मूर्धभूत (मस्तकरूप) आकाश में, द्युलोक में **पितरम्**-इस पालक सूर्य को **सुवे**-उत्पन्न करता हूँ। द्युलोकस्थ सूर्य सारी प्रजाओं का पालक है, यह सबका पिता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'-सब प्रजाओं का प्राण यही है। प्रभु लोकरक्षण के लिए इसे द्युलोक में स्थापित करते हैं। (२) **मम योनिः**-मेरा गृह **अप्सु अन्तः**-इन जलों के अन्दर है, **समुद्रे**-समुद्र में है। जलों में व समुद्रों में भी मेरा ही वास है। मेरे कारण ही उनमें रस है। (३) **ततः**-इस प्रकार सूर्य व जलों का निर्माण करके **विश्वा भुवना अनुवितिष्ठे**-सब भुवनों में मैं स्थित हो रहा हूँ। **वर्ष्मणा**-मैं अपने शरीर प्रमाण से **अमूं द्याम्**-उस सुदूरस्थ द्युलोक को **उपस्पृशामि**-छूता हूँ। वस्तुतः यह द्युलोक मेरे विराट् शरीर का मूर्धा ही तो है।

भावार्थ—प्रभु सूर्य को द्युलोक में स्थापित करते हैं, जलों का निर्माण करते हैं। सब लोकों में व्याप्त हैं।

ऋषिः—वागाम्भृणी ॥ देवता—वागाम्भृणी ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'एतावानस्य महिमा' 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'

अहमेव वातंइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

(१) **अहं एव**-मैं ही **विश्वा भुवनानि आरभमाणा**-सब भुवनों को बनाती हुई **वातः इव**-वायु की तरह **प्रवामि**-गतिवाली होती हूँ। जिस प्रकार वायु निरन्तर चल रही है, उसी प्रकार प्रभु की क्रिया भी स्वाभाविक है। वे अपनी इस क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। इस निर्माण कार्य में उन्हें किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं। (२) वे प्रभु **दिवा परः**-इस द्युलोक से परे भी हैं, और **एना पृथिव्याः परः**-इस पृथ्वी से परे भी हैं। ये द्युलोक व पृथ्वीलोक प्रभु को अपने में समा नहीं लेते। हाँ, **महिना**-अपनी महिमा से वह प्रभु शक्ति **एतावती**-इतनी **संबभूव**-है। अर्थात् प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड के अन्दर ही दिखती है। ब्रह्माण्ड से परे तो प्रभु का अचिन्त्य निर्विकार निराकार रूप ही है। इस ब्रह्माण्ड में ही वे साकार दिखते हैं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। 'एतावानस्य महिमा', यह संसार ही प्रभु की महिमा है। परन्तु वे प्रभु इस संसार में ही समाप्त नहीं हो जाते 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'।

भावार्थ—प्रभु अपनी स्वाभाविकी क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है। प्रभु इसमें सीमित नहीं हो जाते, वे इससे परे भी हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की महिमा का गायन कर रहा है। यह गायन करनेवाला अपने को प्रभु से खेले जानेवाले इस संसार नाटक का एक पात्र जानता है 'शैलूषि'। इस प्रकार अनासक्ति व प्रभु-स्मरण के कारण यह पाप का (कुल्मल) उखाड़नेवाला (बर्हिषः) 'कुल्मल-बर्हिष' कहलाता है। यह सुन्दर दिव्यगुणोंवाला 'वामदेव' बनता है, पापों व कुटिलताओं को छोड़ने के कारण 'अंहोमुक्' है। यह प्रार्थना करता है कि—

[१२६] षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥
छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

न अंहः, न दुरितम्

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्। सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः ॥ १ ॥

(१) हे **देवासः**-देवो! **तं मर्त्यम्**-इस मनुष्य को **अंहः**-कुटिलता **न अष्ट**-व्याप्त नहीं होती। **न दुरितम्**-ना ही कोई दुर्गति व्याप्त होती है। न तो वह कुटिल होता है ना ही किसी दुराचरण में फँसता है। **यम्**-जिस को **अर्यमा मित्रः वरुणः**-अर्यमा, मित्र और वरुण **सजोषसः**-समानरूप से प्रीतिवाले हुए-हुए **द्विषः**-द्वेष की भावनाओं से **अतिनयन्ति**-पार ले जाते हैं। (२) **अर्यमा**-'अरीन् यच्छति'-काम-क्रोध आदि शत्रुओं को काबू करता है। **मित्रः**-'प्रमीतेः त्रायते' पाप व मृत्यु से बचाता है। **वरुणः**-'पापान्निवारयति' पाप को हमारे से दूर करता है। 'मित्र' में 'मेद्यते स्निह्यति' स्नेह की भावना भी है। तथा 'वरुणः' में द्वेष निवारण की। ये तीनों ही देव हमारे जीवनों में समानरूप से प्रीतिवाले होते हैं तो हम द्वेष की भावनाओं से सदा ऊपर उठे रहते हैं। उस समय न हम कुटिलता के शिकार होते हैं और न दुराचरण के।

भावार्थ—हम 'अर्यमा, मित्र व वरुण' की आराधना करते हुए द्वेष से ऊपर उठें, कुटिलता व दुराचरण में न पड़ें।

ऋषि:—कुल्मलबर्हिष: शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्य: ॥ देवता—विश्वे देवा: ॥ छन्द:—विराड्बृहती ॥
स्वर:—मध्यम: ॥

काम-क्रोध-लोभ से दूर

तद्धि व॒यं वृ॑णीमहे॒ वरु॑ण॒ मित्रार्य॑मन्। येना॒ निरंह॑सो यूयं पा॒थ ने॒था च॒ मर्त्य॒मति॒ द्विषः॑ ॥ २ ॥

(१) हे **वरुण-मित्र-अर्यमन्**-द्वेष का निवारण करनेवाले, स्नेहवाले, काम आदि का नियमन करनेवाले देवो! **वयम्**-हम **हि**-निश्चय से **तद् वृणीमहे**-वही चाहते हैं **येन**-जिससे **यूयम्**-आप **मर्त्यम्**-मुझ मनुष्य को **अंहस:**-पाप व कुटिलता से **नि:पाथ**-पार करके रक्षित करते हो, **च**-और **द्विष:**-द्वेष की भावनाओं से **अतिनेथ**-पार ले जाते हो। (२) 'मित्र' हमें सबके साथ स्नेह कराता हुआ 'काम' से ऊपर उठाता है। 'वरुण' हमें द्वेष से दूर करता हुआ क्रोध से रहित करता है। अर्यमा-हमें दानवृत्तिवाला बनाता हुआ लोभ से दूर करता है। इस प्रकार हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—'मित्र, वरुण व अर्यमा' हमें 'काम-क्रोध-लोभ' से दूर करें।

ऋषि:—कुल्मलबर्हिष: शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्य: ॥ देवता—विश्वे देवा: ॥
छन्द:—विराड्बृहती ॥ स्वर:—मध्यम: ॥

अकर्त्तव्य से दूर, कर्त्तव्य के समीप

ते नूनं नो॒ऽयमू॒तये॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॒र्य॒मा। नयि॑ष्ठा उ नो ने॒षणि॒ पर्षि॑ष्ठा उ नः॒ प॒र्षण्यति॒ द्विषः॑ ॥ ३ ॥

(१) **अयं वरुण:**-यह वरुण पाप-निवारण की देवता, **अयं मित्र:**-यह प्रमीति से, रोगों व पापों से त्राण करनेवाली, बचानेवाली देवता, **अयं अर्यमा**-यह 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाली देवता **ते**-वे सब आप **नूनम्**-निश्चय से **न:**-हमारे **ऊतये**-रक्षण के लिए होते हो। **उ**-निश्चय से **न:**-हमें **नेषणि**-नेतव्य विषय में **नयिष्ठा:**-ले चलो। अर्थात् 'वरुण, मित्र, अर्यमा' की कृपा से हम उन्हीं मार्गों पर चलें, जिन पर कि हमें चलना चाहिए। (२) हे वरुणादि देवो! **उ**-और **न:**-हमें **पर्षणि**-पारयितव्य विषय में **पर्षिष्ठा:**-पार करो। **द्विष: अति** (पर्षिष्ठा:)-सब द्वेषों से तो हमें पार करो ही। हम किसी भी पाप के गर्त में न गिरें, द्वेष में तो कभी भी न पड़ें।

भावार्थ—'वरुण-मित्र-अर्यमा' की आराधना से हम करने योग्य चीजों को करें, न करने योग्य चीजों को न करें, द्वेष से अवश्य दूर रहें।

ऋषि:—कुल्मलबर्हिष: शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्य: ॥ देवता—विश्वे देवा: ॥ छन्द:—विराड्बृहती ॥
स्वर:—मध्यम: ॥

उत्तम भावनाओं से प्रेरित होकर (चलें)

यू॒यं विश्वं॒ परि॑ पाथ॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॒र्य॒मा।
यु॒ष्माकं॒ शर्म॑णि प्रि॒ये स्या॑म सुप्रणी॒तयोऽति॒ द्विषः॑ ॥ ४ ॥

(१) **वरुण: मित्र अर्यमा**-वरुण, मित्र और अर्यमा **यूयम्**-आप **विश्वम्**-सम्पूर्ण जगत् को **परिपाथ**-समन्तात् रक्षित करते हो। 'वरुण' हमें क्रोध से बचाता है, 'मित्र' काम के आक्रमण से हमारा रक्षण करता है और 'अर्यमा' हमें लोभ में नहीं फँसने देता। (२) हे वरुण, मित्र और अर्यमा! हम **युष्माकम्**-आपकी **प्रिये**-प्रिय **शर्मणि**-शरण में प्राप्त होनेवाले सुख में **स्याम**-हों। **सु प्रणीतय:**-हम उत्तम प्रणयनोंवाले हों। हमें आप सदा उत्तम मार्गों से ले चलिये। **द्विष:**

अति-हमें ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध की भावनाओं से पार ही करिये।

भावार्थ—क्रोध, काम व लोभ से दूर रहते हुए हम सुरक्षित हों। हम कामादि से दूर होकर उत्तम भावनाओं से ही कार्यों में प्रवृत्त हों। द्वेषों से सदा दूर रहें।

ऋषि:—कुल्मलबर्हिष: शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्य: ॥ देवता—विश्वे देवा: ॥ छन्द:—निचृद्बृहती ॥ स्वर:—मध्यम: ॥

प्राणायाम-प्रभु-स्तवन, बल-प्रकाश

आदित्यासो अति स्रिधो वरुणो मित्रो अर्यमा।
उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेमेन्द्रमग्निं स्वस्तयेऽति द्विषः ॥ ५ ॥

(१) हे **आदित्यासः**=अदिति के पुत्रो! 'अदिति' अर्थात् स्वास्थ्य, अखण्डन। पूर्ण स्वास्थ्य में जो उत्तम दिव्य भावनाएँ उत्पन्न होती हैं वे आदित्य हैं। हे आदित्यो! हमें **स्रिधः अति**=हिंसक वृत्तियों से ऊपर उठाओ **वरुणः**=वरुण हमें क्रोध से ऊपर उठाये (निवारयति इति वरुणः)। **मित्र**) (**प्रमीतेः त्रायते**)=मित्र हमें कामपरता से उत्पन्न होनेवाले रोगों व पापों से बचाए। **अर्यमा**=हमारे शत्रुओं का नियमन करता हुआ पापों के मूल लोभ से हमें दूर करे। (२) **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ, प्राणसाधना करते हुए हम **उग्रम्**=उस तेजस्वी **रुद्रम्**=शत्रुओं को रुलानेवाले प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। **इन्द्रम्**=बल की देवता को तथा **अग्निम्**=प्रकाश की देवता को हम पुकारते हैं। ये **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिए हों। **द्विषः अति**=ये हमें द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठाएँ। हमारे जीवनों में प्राणसाधना व प्रभु-स्तवन का मेल हो (मरुत्+रुद्र) बल व प्रकाश का समन्वय हो (इन्द्र+अग्नि)। यही कल्याण का साधन है। इसी प्रकार हम द्वेषों से ऊपर उठ सकते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में काम-क्रोध-लोभ न हो। प्राणसाधना व प्रभु-स्तवन करनेवाले हम हों। बल व प्रकाश का अपने जीवन में हम समन्वय करें।

ऋषि:—कुल्मलबर्हिष: शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्य: ॥ देवता—विश्वे देवा: ॥ छन्द:—निचृद्बृहती ॥ स्वर:—मध्यम: ॥

अति विश्वानि दुरिता

नेतार ऊ षु णस्तिरो वरुणो मित्रो अर्यमा।
अति विश्वानि दुरिता राजानश्चर्षणीनामति द्विषः ॥ ६ ॥

(१) **वरुणः**=द्वेष निवारण की देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता तथा **अर्यमा**=(अदीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि को पराजित करने की देवता, ये सब **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **नः**=हमें **तिरः नेतारः**=(तिरः across, beyond, oner) पार ले जानेवाले हैं। (२) ये **विश्वानि दुरिता**=सब दुरितों से **अति**=अतिक्रान्त करके हमें सुवितों में प्राप्त करानेवाले हैं। **चर्षणीनां राजानः**=श्रमशील व्यक्तियों के जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले ये 'वरुण-मित्र-अर्यमा' **द्विषः अति**=हमें शत्रुओं से पार ले जानेवाले हैं।

भावार्थ—वरुण-मित्र-अर्यमा हमें दुरितों से दूर करके सुन्दर जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

'शान्त उदार' जीवन

शुनमस्मभ्यमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा।
शर्म यच्छन्तु सप्रथ आदित्यासो यदीमहे अति द्विषः॥ ७॥

(१) **वरुणः मित्रः अर्यमा**-वरुण, मित्र और अर्यमा 'निर्द्वेषता, स्नेह व निर्लोभता' की देवता **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए **शुनम्**-(सुखं यथा स्यात् तथा) सुखपूर्वक **ऊतये**-रक्षण के लिए हों। इन से रक्षित होकर हम सुखमय जीवनवाले हो पाएँ। (२) **आदित्यासः**-अदिति के पुत्र, अर्थात् स्वास्थ्य में विकसित होनेवाले दिव्यगुण **सप्रथः**-विस्तार से युक्त **शर्म**-शरण व सुख को **यच्छन्तु**-दें **यत् ईमहे**-जिसकी हम याचना करते हैं। **द्विषः अति**-ये देव हमें द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठाएँ। द्वेष से ऊपर उठकर ही शान्त सुखी जीवन बिताया जा सकता है।

भावार्थ—देवों के अनुग्रह से हम द्वेष से ऊपर उठकर शान्त व उदार (सप्रथः) जीवन बिता पाएँ।

ऋषिः—कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

प्रतरं प्रतारि

यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि षिताममुञ्चता यजत्राः।
एवो ष्व१स्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः॥ ८॥

(१) हे **यजत्राः**-पूजनीय अथवा संगतिकरण के द्वारा त्राण करनेवाले **वसवः**-वसुओं, हमारे जीवनों को उत्तम बनानेवाले देवो! **यथा**-जैसे **ह**-निश्चय से **त्यद्**-उस **गौर्यम्**-गौरवर्णा गाय को **चित्**-भी यदि **षितां** (सितां)-पाँवों में बँधी हुई को **अमुञ्चत**-मुक्त करते हो। **एवा उ**-इसी प्रकार ही **सु**-अच्छी प्रकार **अस्मत्**-हमारे से **अंहः**-पाप व कुटिलता को **विमुञ्चत**-पृथक् करो। इस कुटिलता ने ही तो हमारी वास्तविक उन्नति को रोका हुआ है। यह हमारे पाँवों में बेड़ी के रूप में पड़ी हुई है। इससे मुक्त होने पर ही हम आगे बढ़ पाएँगे। (२) हे **अग्ने**-अग्रगति के साधक प्रभो! इस प्रकार कुटिलता को दूर करके आप **नः आयुः**-हमारे जीवन को **प्रतरं प्रतारि**-(खूब ही बढ़ाइये। पाप से आयुष्य कम हो जाता है, पुण्य से आयुष्य में वृद्धि होती है।

भावार्थ—कुटिलता के बन्धन से मुक्त करके प्रभु हमारे जीवनों को दीर्घ बनाएँ।

इस सूक्त के प्रथम सात मन्त्रों में अन्तिम शब्द 'अति द्विषः' हैं। द्वेष से मार्गभ्रष्ट होकर हम जीवन की मर्यादाओं को तोड़ बैठते हैं। सात बार द्वेष से ऊपर उठने की प्रार्थना करके हम जीवन में सातों मर्यादाओं का पालन करने का संकल्प करते हैं। आठवें मन्त्र में कहा गया है कि कुटिलता से ऊपर उठकर ही मनुष्य दीर्घजीवी बनता है। इन सब द्वेषों व कुटिलताओं को भुलाने में रात्रि सहायक होती है। नींद में चलने जाने पर हम द्वेष को भूल जाते हैं। प्रात: उठते हैं तो कलवाला क्रोध शान्त हो चुका होता है। सो अगला सूक्त रात्रि का स्तवन करता है। सूक्त का ऋषि ही 'रात्रिः भारद्वाजी' है, रात्रि शक्ति का भरण करनेवाली तो है ही। इस रात्रि में निद्रा में रमण करनेवाला व्यक्ति ही प्रातः फिर से हल जोत पाता है सो 'कुशिकः' (to plough, share वाला) है अथवा कौशेते-पृथिवी पर शयन करनेवाला यह कुशिक उत्तमता से अपने में शक्ति को भरनेवाला 'सौभरः'

है। यह रात्रि-स्तवन करता हुआ कहता है कि—

[१२७] सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

श्री-धारण

रात्री व्य॑ख्यदाय॒ती पु॑रु॒त्रा दे॒व्य१॒॑क्षभिः॑। विश्वा॒ अधि॒ श्रियो॑ऽधित ॥ १ ॥

(१) यह रात्रीः=हमारी रमयित्री है। **पुरुत्रा**=पालन व पूरण करनेवाली व त्राण करनेवाली है। **देवी**-(दिव-स्वप्न) यह हमारे स्वाप का हेतु, हमें सुलानेवाली है। यह **आयती**=आती हुई **अक्षभिः व्यख्यत**=नक्षत्र रूप नेत्रों से हमें देखती है। जैसे एक माता बच्चे का ध्यान करती है उसी प्रकार यह हमारा ध्यान करती है। नक्षत्र ही इसके नेत्र हैं, उन नेत्रों से हमारा पालन करती है (looks after)। (२) यह रात्री हमें सुलाकर **विश्वाः श्रियः**=सब श्रियों को **अधि अधित**=हमारे में आधिक्येन धारण करती है। रात्रि में जब हम सोते हैं तो सारे शरीर में फिर से तरो-ताजगी आ जाती है। थका हुआ शरीर फिर से शक्ति से भर जाता है। इस प्रकार रात्रि वस्तुतः हमारे लिए 'पुरुत्रा'=पालक, पूरक व त्राण करनेवाली बनती है। थका हुआ व्यक्ति सोकर उठता है, अपने को नवीकृत-सा अनुभव करता है।

भावार्थ—रात्रि में हम सोते हैं, वह शयन हमें फिर से श्री सम्पन्न करता है। जीवन का यान कुसुम फिर से खिल-सा उठता है।

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अमर्त्या रात्रिः

ओर्व॑प्रा॒ अम॑र्त्या नि॒वतो॑ दे॒व्यु१॒॑द्वतः॑। ज्योति॑षा बाधते॒ तमः॑ ॥ २ ॥

(१) यह रात्रि **अमर्त्या**=न नष्ट होनेवाली है। जाती है, दिन की समाप्ति पर फिर आ जाती है। रात्रि भी मानो दिन में सो जाती है, दिन की समाप्ति पर फिर से जाग उठती है। यह नष्ट नहीं हो जाती। यह **देवी**=सब के स्वाप का हेतु है (दिव्-स्वप्ने)। यह जब आती है तो **निवतः**=पृथ्वी के निम्न स्थानों को तथा **उद्वतः**=उत्कृष्ट स्थानों को गुफाओं को, गढ्ढों को व पर्वत शिखरों को आ=चारों ओर उरु=विशाल फैले हुए अन्तरिक्ष को यह रात्री **अप्राः**=(प्रा पूरणे) पूरण कर लेती है, भर लेती है। चारों ओर रात्रि का अन्धकार व्याप जाता है। (२) यह रात्रि अब **ज्योतिषा**=नक्षत्रों की ज्योति से **तमः**=अन्धकार को **बाधते**=कुछ पीड़ित करनेवाली होती है। नक्षत्रों की ज्योति से वह अन्धकार उतना भयंकर नहीं रह जाता।

भावार्थ—रात्रि आती है, सारा संसार अन्धकार से व्याप्त हो जाता है। इस अन्धकार को नक्षत्रों की ज्योति जरा पीड़ित करनेवाली होती है।

सूचना—यहाँ रात्रि को 'अमर्त्या' कहा है। इसका यह भी भाव है कि यह फिर से शक्ति-सम्पन्न करके हमें मरने से बचाती है। रात्रि की व्यवस्था न होती, तो हम काम करते-करते थककर समाप्त ही हो जाते।

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अन्धकार विनाश

निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः ॥ ३ ॥

(१) यह **देवी**-हमारे स्वाप का हेतुभूत रात्री (दिव् स्वप्ने) **आयती**-समन्तात् गति करती हुई, आगे और आगे बढ़ती हुई, **स्वसारं उषसम्**-अपनी बहिन के तुल्य उषा का लक्ष्य करके उ-निश्चय से निः अस्कृत-स्थान को खाली कर देती है। रात्रि समाप्त होती है और उषा आती है। (२) इस उषा के आने पर **इत् उ**-निश्चय से **तमः अवहासते**-अन्धकार विनष्ट हो जाता है। वस्तुतः जीवन में भ्रान्ति के कारण जो उत्साह का अभाव हो गया था, वह रात्रि में सोकर शक्ति प्राप्ति के द्वारा, फिर से प्राप्त हो जाता है। प्रातः हम उठते हैं और अपने में फिर से उस उत्साह का अनुभव करते हैं। यही अन्धकार विनाश का भाव है।

भावार्थ—रात्रि धीमे-धीमे आगे बढ़ती हुई उषा के लिए स्थान खाली करती है, अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवनों में अनुत्साह का अन्धकार समाप्त होता है और उत्साह का प्रकाश फिर से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

घरों में

सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि। वृक्षे न वसतिं वयः ॥ ४ ॥

(१) हे रात्रि! **सा**-वह तू **अद्य**-आज **नः**-हमारी हो, **यस्याः ते**-जिस तेरे **यामन्**-आने पर **वयम्**-हम **नि अविक्ष्महि**-निश्चय से अपने घरों में प्रवेश करनेवाले होते हैं। उसी प्रकार प्रवेश करनेवाले होते हैं, **न**-जैसे कि **वयः**-पक्षी **वृक्षे**-वृक्षों पर **वसतिम्**-अपने घोंसलों में प्रवेशवाले होते हैं। (२) रात्रि आती है, और हमें कार्य से विश्राम मिलता है। अचानक रात्रि की व्यवस्था न होती तो हम कर्म करते-करते ही थककर समाप्त हो जाते। एवं रात्रि वस्तुतः हमारे लिए रमयित्री है।

भावार्थ—रात्रि आती है और विश्राम देकर हमें फिर से शक्ति-सम्पन्न करनेवाली होती है।

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विश्राम काल

नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। नि श्येनासश्चिदर्थिनः ॥ ५ ॥

(१) रात्रि आती है और **ग्रामासः नि अविक्षत**-ग्राम के ग्राम अपने घरों में प्रवेश करते हैं और सोने की तैयारी करते हैं। **पद्वन्तः**-सब पाँववाले द्विपात् मनुष्य व चतुष्पाद् पशु **नि**-सोने के लिए अपने-अपने स्थान में प्रवेश करते हैं। **पक्षिणः**-पक्षी भी **नि**-अपने घोंसलों में प्रवेश करते हैं। (२) **श्येनासः**-अत्यन्त तीव्र गतिवाले, इधर-उधर भागते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हुए **अर्थिनः**-धन के चाहनेवाले ये व्यापारी **चित्**-भी अपने-अपने स्थान में पहुँचकर सोने के लिए तैयार होते हैं।

भावार्थ—रात्रि सब के विश्राम का कारण बनती है। रात्रि विश्राम काल है, जैसे दिन कार्य काल।

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

निर्भय-निद्रा

यावया॑ वृ॒क्यं१॒॑ वृक॑ य॒वय॑ स्ते॒नमू॑र्म्ये। अथा॑ नः सु॒तरा॑ भव ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार रात्रि विश्राम काल तो है, परन्तु यदि उस समय हिंस्र पशुओं का भय बना हुआ हो अथवा चोरों का भय हो तो नींद सम्भव नहीं। सो कहते हैं कि—हे **ऊर्म्ये**=रात्रि! सारे संसार को अन्धकार से आच्छादित करनेवाली रात्रि! (ऊर्णुञ् आच्छादने) **वृक्यं वृकम्**=वृकी और वृक-भेड़ियों को **यावया**=हमारे से दूर करो। राजा इस प्रकार व्यवस्था करे कि बस्तियों के समीप इन हिंसक पशुओं के आने का सम्भव न हो। इसी प्रकार **स्तेनम्**=चोर को **यवय**=हमारे से पृथक् करो। रात्रि में रक्षा-पुरुषों की ठीक व्यवस्था के कारण चोरों का भी भय न हो। (२) इस प्रकार हिंस्र पशुओं व चोरों के भय से रहित होकर उत्तम नींद को देती हुई तू **नः**=हमारे लिए **सुतराभव**=शरीरों के रोगों व मानस ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध आदि विकारों से ठीक प्रकार से तरानेवाली, दूर करनेवाली हो। रोगी सो जाए तो उसका आधा रोग ही दूर हो जाता है और क्रोध से तमतमाता हुआ पुरुष सो जाए तो अगले दिन बिलकुल क्रोध से शून्य होता है। एवं यह रात्रि हमें आधि-व्याधियों से तरानेवाली है।

भावार्थ—हिंसक-पशुओं व चोरों के भय से रहित होकर हम ठीक नींद को प्राप्त करें और आधि-व्याधियों से ऊपर उठें।

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

घना अन्धकार

उप॑ मा॒ पेपि॑श॒त्तमः॑ कृ॒ष्णं व्य॑क्तमस्थित। उष॑ ऋ॒णेव॑ यातय ॥ ७ ॥

(१) रात्रि में सोकर उषाकाल के समय उठनेवाला व्यक्ति उषा से कहता है कि यह **पेपिशत्**=मुझे टुकड़े-टुकड़े करता हुआ, मुझे पीस-सा डालता हुआ **कृष्णम्**=अत्यन्त काला **व्यक्तम्**=यह चारों ओर प्रकट होनेवाला **तमः**=अन्धकार **मा उप अस्थित**=मुझे समीपता से प्राप्त हुआ है। इस अन्धकार ने तो मेरे पर पूर्ण प्रभुत्व-सा पा लिया है। (२) हे **उषः**=उषो देवि! तू इस अन्धकार को इस प्रकार **यातय**=मेरे से पृथक् कर दे, **इव**=जैसे कि **ऋण**=ऋणों को अदा करते हैं। उषाकाल में उठकर मनुष्य बड़े को प्रणाम आदि द्वारा पूजन प्राप्त कराता हुआ पितृ-ऋण से उऋण होता है। देवयज्ञ द्वारा देव-ऋण से तथा स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण से। एवं उषा हमें सब ऋणों से मुक्त करती है। कहते हैं कि इसी प्रकार तू हमें इस रात्रि के अन्धकार से भी मुक्त कर।

भावार्थ—जैसे उषा 'बड़ों को प्रणाम, देवयज्ञ तथा स्वाध्याय' द्वारा हमें ऋणों से मुक्त करती है, उसी प्रकार रात्रि के अन्धकार से भी मुक्त करे।

ऋषिः—कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी ॥ देवता—रात्रिस्तवः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वाध्याय व स्तवन

उप॑ ते॒ गा इ॒वाक॑रं वृणी॒ष्व दु॑हितर्दिवः। रात्रि॒ स्तोमं॒ न जि॒ग्युषे॑ ॥ ८ ॥

(१) हे **रात्रि**=मेरी रमयित्रि! **ते उप**=तेरे समीप प्राप्त होकर **गाः इव**=इन रश्मियों की तरह (गाः) **अकरम्**=ज्ञान की वाणियों को अपने अन्दर प्राप्त करता हूँ। रात्रि का अन्तिम सिरा उषाकाल

है। इस उषाकाल में जैसे प्रकाश की किरणों का प्रारम्भ होता है, इसी प्रकार मैं भी इस समय नींद को समाप्त करके ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करनेवाला होता हूँ। (२) हे दिवः दुहितः-(दुह प्रपूरणे) प्रकाश का पूरण करनेवाली! हम तेरे लिए स्तोमम्-स्तुतिसमूह का उच्चारण करते हैं। उसी तरह उच्चारण करते हैं न-जैसे कि जिग्युषे-एक विजयशील पुरुष के लिए स्तोम को कहते हैं। तू वृणीष्व-उस स्तोम का सम्भजन करनेवाली हो। इस प्रातः के समय हम स्तुति-वचनों का उच्चारण करें।

भावार्थ—रात्रि की समाप्ति पर, प्रबुद्ध होकर, हम स्तवन को करनेवाले हों और ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करें।

सूक्त का भाव यह है कि दिनभर की थकावट के बाद यदि हम घरों में निर्भय निद्रा के सुख का अनुभव कर सकें तो सब इन्द्रियों को फिर से शक्ति सम्पन्न करके हम प्रातः प्रबुद्ध होकर स्वाध्याय व स्तवन से दिन को प्रारम्भ कर सकेंगे। यदि हमारा दिन इसी प्रकार प्रारम्भ होगा तो हम 'विहव्य' होंगे, विशिष्ट आराधनावाले, विशिष्ट पुकारवाले, इस 'विहव्य' का ही अगला सूक्त है। यह विहव्य प्रार्थना करता है कि—

[१२८] अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चतुर्दिग्-विजय

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वयाध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम ॥ १ ॥

(१) हे अग्ने-अग्रणी प्रभो! विहवेषु-इन जीवन-संग्रामों में मम वर्चः अस्तु-मेरे में वर्चस् शक्ति हो। इस वर्चस् के द्वारा मैं शत्रुओं को जीतनेवाला बनूँ। वयम्-हम त्वा-आपको इन्धानाः-दीप्त करते हुए अपने हृदयों में आपका प्रकाश करते हुए, तन्वं पुषेम-इस शरीर का उचित पोषण करें। (२) मेरी शक्ति इतनी बढ़े कि चतस्रः प्रदिशः-चारों प्रकृष्ट दिशाएँ मह्यं नमन्ताम्-मेरे लिए नत हो जाएँ। चारों दिशाओं का मैं विजय करनेवाला बनूँ। प्राची दिशा का अधिपति 'इन्द्र' बनूँ। जितेन्द्रिय बनकर निरन्तर आगे बढ़नेवाला होऊँ। दक्षिणा दिक् का अधिपति 'यम' बनूँ। संयमी जीवनवाला बनकर सरल व उदार बनूँ (दक्षिणे सरलोदारौ)। प्रतीची दिक् का अधिपति 'वरुण' बनूँ। अपने को पाप आदि से निवृत्त करता हुआ (पापात् निवारयति) प्रत्याहार का पाठ पढ़ूँ। इन्द्रियों को विषय व्यावृत्त करनेवाला होऊँ। उदीची दिक् का अधिपति कुबेर बनूँ। सब धनों का अध्यक्ष होता हुआ उन्नतिपथ पर बढ़ता चलूँ (उद् अञ्च्)। (३) हे प्रभो! त्वया अध्यक्षेण-आप अध्यक्ष के द्वारा पृतनाः-हम सब संग्रामों को जयेम-जीतनेवाले हों। सब पृतनाओं को, शत्रु-सैन्यों को जीतकर हम संग्राम में विजयी हों। 'इन्द्र' बनकर काम को जीतूँ। 'यम' बनकर क्रोध को पराजित करनेवाला बनूँ। 'वरुण' बनकर लोभ से ऊपर उठूँ। तथा 'कुबेर' होकर मोह से ऊपर रहूँ।

भावार्थ—संग्रामों में मैं शक्तिशाली बनूँ, सब दिशाओं का, प्रभु की अध्यक्षता में विजय करूँ।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'उरुलोक अन्तरिक्ष'

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः।
ममा॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामे॑ अ॒स्मिन् ॥ २ ॥

(१) **मम विहवे**-मेरी पुकार के होने पर **सर्वे देवाः सन्तु**-सब देव मेरे हों। आराधना को करता हुआ सब देवों को मैं अपने में प्रतिष्ठित कर पाऊँ। कौन देव? **इन्द्रवन्तः**-इन्द्रवाले। 'इन्द्र' जिनका अध्यक्ष है, जिनमें इन्द्र की ही शक्ति काम कर रही है, वे सब देव मुझे प्राप्त हों। **मरुतः**-प्राण मुझे प्राप्त हों। **विष्णुः**-(विष् व्याप्तौ) व्यापकता-उदारता-विशालता की देवता मुझे प्राप्त हो। **अग्निः**-मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो, 'अग्रेणीत्व' हो। मैं प्राणशक्ति सम्पन्न बनूँ, उदार बनूँ, अग्रगति की भावनावाला बनूँ। (२) **मम**-मेरा **अन्तरिक्षम्**-हृदयान्तरिक्ष **उरुलोकम्**-विस्तृत प्रकाशवाला व बहुत जगहवाला हो। मेरा हृदय अन्धकार से रहित हो और उसमें सभी के लिए स्थान हो। **अस्मिन् कामे**-इस हृदय के उरुलोकत्व-प्रकाशमय व विशाल होने की कामना में **वातः मह्यं पवताम्**-वायु मेरे लिए अनुकूल होकर बहे। सारा वातावरण ऐसा हो कि मैं अपने हृदय को विशाल बना पाऊँ।

भावार्थ—मेरा जीवन प्रभु के स्मरण के साथ प्राण-शक्ति-सम्पन्न, विशाल हृदयतावाला प्रगतिशील हो। मैं कभी अनुदार व अन्धकारमय जीवनवाला न हो जाऊँ। बस, यही मेरी आराधना हो। प्रभु सारे वातावरण को मेरी इस कामना के अनुकूल बनाएँ।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देव द्रविणों की प्राप्ति

मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः।
दैव्या॒ होता॑रो वनुषन्त॒ पूर्वेऽरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑ सु॒वीराः॑ ॥ ३ ॥

(१) **देवाः**-सब सूर्य आदि देव **मयि**-मेरे में **द्रविणं आयजन्ताम्**-अपने-अपने ऐश्वर्य का संगमन करें। सूर्य से मुझे चक्षुशक्ति प्राप्त हो तो चन्द्रमा से मुझे मानस आह्लाद की प्राप्ति हो। **मयि आशीः अस्तुः**-मेरे में सदा इन देव द्रविणों को प्राप्त करने की कामना हो और **मयि देवहूतिः**-मेरे में देवों का पुकारना व देवों का आराधन रहे। मैं उस देवाधिदेव प्रभु को सदा पुकारनेवाला होऊँ। (२) मेरी सब इन्द्रियाँ **दैव्याः**-उस देव की ओर चलनेवाली **होतारः**-जीवन-यज्ञ के चलानेवाली व दानपूर्वक अदनवाली हों। ये सब **पूर्वे**-पालन व पूरण करनेवाली होती हुई **वनुषन्त**-उस प्रभु का सम्भजन करनेवाली हों। अथवा देव द्रविणों का विजय करनेवाली बनें। (३) हम **तन्वा**-अपने इस शरीर से **अरिष्टाः**-अहिंसित हों, रोगों से आक्रान्त न हों। और **सुवीराः**-उत्तम वीर बनें। वस्तुतः रोगों से अनतिक्रान्त वीर पुरुष प्रभु का सच्चा आराधक है, इसने प्रभु से दिये शरीर का समुचित समादर किया है।

भावार्थ—मैं सूर्यादि देवों से दृष्टि-शक्ति आदि द्रविणों को प्राप्त करूँ। शरीर को अहिंसित व वीर बनाता हुआ प्रभु का पूजन करूँ।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्या आकूति (सत्य अभिप्राय)

मह्यं॑ यजन्तु॒ मम॒ यानि॑ ह॒व्याकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु।
एनो॒ मा नि गां॑ कत॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ देवासो॒ अधि॑ वोचता नः ॥ ४ ॥

(१) **मम यानि हव्या**-मेरी जो पुकारने योग्य चीजें हैं, जो आराधनीय वस्तुएँ हैं, वे **मह्यं यजन्तु**-मेरे लिए प्राप्त हों। सब देव उन्हें मेरे लिए देनेवाले हों। **मे मनसः**-मेरे मन की **आकूतिः**-कामना व संकल्प **सत्या अस्तु**-सत्य हो। मैं कभी अशुभ कामना करनेवाला न होऊँ।

(२) इस प्रकार अशुभ कामनाओं से ऊपर उठकर अहम्=मैं कतमच्चन=किसी भी एनः=पाप को मा निगाम्=मत प्राप्त होऊँ। अशुभ का मजा ही अशुभ को पैदा करता है, शुभकामनाओंवाला होकर मैं शुभ को ही प्राप्त करूँ। विश्वे देवासः=सब देव व विद्वान् नः=हमें अधिवोचता=आधिक्येन उपदेश देनेवाले हों। उनके उपदेशों से सत्प्रेरणा को प्राप्त करता हुआ मैं कभी भी पाप की ओर न झुकूँ।

भावार्थ—हम प्रार्थित वस्तुओं को प्राप्त करें। हमारे संकल्प सत्य हों। हम निष्पाप हों। देवों से सत्प्रेरणा को सदा प्राप्त करें।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

षड् उर्वीः देवीः

देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ ५ ॥

(१) हे षड्=छह उर्वीः देवीः=विशाल प्रकाशमय प्रभु शक्तियो! द्युलोक व पृथिवी लोक, दिन व रात तथा जल व ओषधियो! आप नः=हमारे लिए उरु=विस्तीर्ण धन को कृणोत=करनेवाली होवो। द्युलोक व पृथिवीलोक हमें उत्तम ज्ञान व उत्तम शरीर प्राप्त कराएँ। दिन व रात हमें उद्योगशीलता व अचञ्चलता को प्राप्त कराएँ तथा जल व ओषधियाँ हमें स्वास्थ्य को देनेवाली हों। (२) हे विश्वे देवासः=सब देवो! आप इह=यहाँ हमारे शरीर में वीरयध्वम्=वीरतापूर्वक आचरण करो। सूर्य हमारी आँख को दूर-दृष्टिवाला बनाए, चन्द्रमा हमारे मन को आह्लादयुक्त करे, अग्नि हमारी वाणी को शक्तिशाली बनाए। इस प्रकार सभी देव हमारे शरीरों में उस-उस शक्ति को स्थापित करें। (३) इन सब देवों के कार्य के ठीक होने से हम प्रजया=प्रजा से मा हास्महि=मत विरहित हों, मा तनूभिः=और अपने शरीरों से भी रोगादि के कारण छूट न जाएँ। स्वस्थ शरीरों में दीर्घायुष्यवाले हों। (४) हे सोम राजन्=शान्त व हमारे शरीरों के शासक प्रभो! हम द्विषते मा रधाम=शत्रुओं के लिये न सिद्ध हों। वे प्रभु सोम राजा हैं ही। यहाँ इन शब्दों का प्रयोग सोम शक्ति का भी संकेत करता है। यह सोम शक्ति सुरक्षित हुई-हुई हमारे शरीर की सब संस्थाओं को व्यवस्थित करती है। इस शक्ति का विनाश शरीर को विकृत कर देता है।

भावार्थ—हमारे लिए द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन-रात व जल ओषधियाँ विशाल धनों को प्राप्त कराएँ। इनके धनों को प्राप्त करके हम सुन्दर स्वस्थ जीवनवाले हों।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुरहित्य

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम्।
प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्तेऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥ ६ ॥

(१) हे अग्ने=परमात्मन्! परेषाम्=शत्रुओं के मन्युम्=क्रोध को प्रतिनुदन्=वापिस धकेलते हुए त्वम्=आप नः=हमें पाहि=सुरक्षित करिये। आप सदा अदब्धः=अहिंसित हैं, गोपाः=रक्षक हैं। आप से रक्षित हुए-हुए हम शत्रुओं के क्रोध के शिकार न हों। शत्रु हमारे पर प्रबल न हो सकें। (२) ते=वे सब शत्रु निगुतः=पीड़ा के कारण अव्यक्त शब्द करते हुए प्रत्यञ्चः=प्रतिनिवृत्त होते हुए पुनः यन्तु=फिर लौट जाएँ। राष्ट्र में राजा भी इस प्रकार रक्षण व्यवस्था करे कि शत्रु पीड़ित होकर वापिस ही लौट जाए। (३) प्रबुधाम्=जागनेवाले एषाम्=इन शत्रुओं का चित्तम्=चित्त

अमा-साथ-साथ ही **विनेशत्**-नष्ट हो जाए। ये शत्रु जागें और जागते ही इनका चित्त काम न करे, इनका चित्त विनष्ट हो जाए। इस प्रकार ये हमें हानि न पहुँचा पाएँ। अथवा जागने पर इनका शत्रुत्व की भावनावाला चित्त विनष्ट हो जाए। इनका हृदय हमारे प्रति शत्रुतावाला रहे ही नहीं।

भावार्थ—हम शत्रुओं के ही क्रोध पात्र न होते रहें। हमारी सारी शक्ति उनके साथ युद्धों में ही न लगी रहे। हम शान्ति में आगे बढ़ सकें।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-स्तवन से 'हीनता का विनाश'

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्।

इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात् ॥ ७ ॥

(१) मैं उसका स्तवन करता हूँ जो कि **धातॄणां धाता**-धाताओं का भी धाता है, धारकों का भी धारक है। **यः भुवनस्य पतिः**=जो सारे ब्रह्माण्ड का रक्षक है। **देवम्**-उस प्रकाशमय प्रभु को, **त्रातारम्**-जो मेरा त्राण व रक्षण करनेवाले हैं, **अभिमातिषाहम्**-जो मेरे अभिमान आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले हैं, उन प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ। (२) उस प्रभु की कृपा से **इमं यज्ञम्**-मेरे इस जीवन यज्ञ को **उभा अश्विना**-दोनों प्राणापान, **बृहस्पतिः**-ज्ञानियों के भी ज्ञानी प्रभु स्वयं तथा **देवाः**-सब विद्वान् व सूर्यादि देव **पान्तु**-रक्षित करें। इनकी कृपा से मेरा जीवनयज्ञ ठीक प्रकार से चले। ये सब **यजमानम्**-यज्ञशील पुरुषों को **न्यर्थात्**-निकृष्ट अर्थों से पाप से अथवा निरुद्देश्यता से बचाएँ। यह यज्ञशील पुरुष निकृष्ट बातों की ओर न झुके, पापों में प्रवृत्त न हो और इसका जीवन सोद्देश्य हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों। हमारा जीवनयज्ञ सुन्दरता से चले। हमारा जीवन निरुद्देश्य न हो।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु से रक्षित व अत्यक्त

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यंसदस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षुः।

स नः प्रजायै हर्यश्व मृळयेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥

(१) **उरुव्यचाः**-वेद अनन्त विस्तारवाले, **महिषः**-पूजनीय प्रभु **नः**-हमारे लिए **शर्म यंसत्**-सुख व शरण को दें। **अस्मिन् हवे**-इस जीवन-संग्राम में **पुरुहूतः**-वही खूब पुकारे जाने योग्य हैं, वही **पुरुक्षुः**-खूब स्तुति के योग्य हैं (क्षु शब्दे)। (२) **सः**-वे **हर्यश्व**-(हरी अश्वौ यस्य) जिन आपके दिये हुए ये इन्द्रियाश्व हमें लक्ष्य-स्थान पर ले जानेवाले हैं, ऐसे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**-हमारी **प्रजायै**-प्रजा के लिए **मृडय**-सुखी करिये। **नः**-हमें **मा रीरिषः**-मत हिंसित करिये। और **मा परा दाः**-हमें शत्रुओं के लिए मत दे डालिए।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम संग्राम में विजयी हों। हम कभी हिंसित न हों। प्रभु से हम कभी त्यक्त न हों।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अधिराट्

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥ ९ ॥

(१) शरीर में 'रोग' हमारे सपत्न हैं, मन में 'वासनाएँ'। ये=जो भी न=हमारे **सपत्नाः**=शत्रु हैं, **ते**=वे **अपभवन्तु**=हमारे से दूर हों। **इन्द्राग्निभ्याम्**=बल व प्रकाश के द्वारा ('इन्द्र' बल का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रकाश का) हम उन सब सपत्नों को **अवबाधामहे**=अपने से दूर करते हैं। इन्द्र के द्वारा रोगों को तथा अग्नि के द्वारा वासनाओं को हम पराजित करते हैं। जितेन्द्रिय के समीप रोग नहीं आते, ज्ञान के प्रकाशवाला वासनाओं से बचा रहता है, इस ज्ञानाग्नि में वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। (२) **वसवः**=शरीर में अपने निवास को उत्तम बनानेवाले, प्रकृति के पूर्ण ज्ञानी विद्वान्, **रुद्राः**=वासनाओं को आक्रान्त करनेवाले (रोरूयमाण (द्रवति) जीव के रहस्य को समझनेवाले विद्वान् तथा **आदित्याः**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले सूर्यसम ज्योति ब्रह्म के ज्ञाता पुरुष **मा**=मुझे **अक्रन्**=बनाएँ कैसा? (क) **उपरिस्पृशम्**=ऊपर और ऊपर स्पर्श करनेवाला, हीन भावनाओं से ऊपर उठनेवाला, (ख) **उग्रम्**=तेजस्वी-शत्रुओं के लिए भयंकर, (ग) **चेत्तारम्**=चेतनावाला तथा (घ) **अधिराजम्**=मन, बुद्धि व इन्द्रियों का शासक। ऐसा बनकर ही तो मैं आदर्श मानव हो सकूँगा।

भावार्थ—हम इन्द्र व अग्नि तत्त्व का अपने में विकास करें। उत्कृष्ट, तेजस्वी, ज्ञानी व आत्मशासक बनें।

सूक्त का प्रारम्भ 'चतुर्दिग् विजय' से होता है (१) और समाप्ति पर 'अधिराट्' बनने का उल्लेख है (२) यह अधिराट् 'परमेष्ठी' सर्वोच्च स्थान में स्थित होता है, यह 'प्रजापति' प्रजा को रक्षण के कार्यों में तत्पर होता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। 'परमेष्ठी प्रजापति' प्रभु हैं, इनको जाननेवाला भी इसी नाम से कहलाता है। यह प्रभु के द्वारा होनेवाली इस सृष्टि का ध्यान करते हुए कहते हैं—

[१२९] एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत् और असत्

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १ ॥

तदानीम्=इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व न **असत् आसीत्**=न असत् था **नो सत् आसीत्**=और न सत् था। **न रजः आसीत्**=उस समय नाना लोक भी न थे। **नो व्योम**=न आकाश था। **यत् परः**=जो उससे भी परे है वह भी न था। उस समय **किम् आ अवरीवः**=क्या पदार्थ सबको चारों ओर से घेर सकता था? **कुह**=यह सब फिर कहाँ था और **कस्य शर्मन्**=किसके आश्रय में था। तो फिर **किम्**=क्या **गहनं गभीरं अम्भः आसीत्**=गहन और गम्भीर का समुद्री जल तो कहाँ ही था?

भावार्थ—सृष्टि उत्पत्ति से क्या था? इस प्रश्न को विविध प्रकार से पूछा है उस समय सत नहीं था, असत् भी नहीं था।

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परमशक्ति

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ २ ॥

मृत्युः न आसीत्-उस समय मृत्यु न थी, **तर्हि न अमृतम्**-और उस समय न अमृतत्व था। अर्थात् जीव की सत्ता, जीवन का लोप दोनों नहीं थे। **नः रात्र्याः प्रकेतः आसीत्**-न रात्रि का ज्ञान था और न **अह्नः प्रकेतः आसीत्**-न दिन का ज्ञान था। उस तत्त्व का स्वरूप **आनीत्**-प्राणशक्ति रूप था, परन्तु **अवातम्**-स्थूल वायु न थी। **तत् एकम्**-वह एक **स्वधया**-अपने ही बल से समस्त जगत् को धारण करनेवाला अपनी शक्ति से युक्त था। **तस्मात् अन्यत्**-उससे दूसरा पदार्थ **किंचन**-कुछ भी **परः न आस**-उससे अधिक सूक्ष्म न था।

भावार्थ—उस समय मृत्यु-जीवन नहीं था, दिन-रात्रि नहीं थे। प्राण शक्ति थी।

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तमस्तत्त्व का वर्णन

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३ ॥

अग्रे-सृष्टि से पूर्व **तमः आसीत्**-'तमस्' था। यह सब **तमसा गूढम्**-तमस से व्याप्त था। वह **अप्र-केतम्**-कुछ भी विशेष ज्ञानयोग्य न था। वह **सलिलम्**-एक व्यापक गतिमत् तत्त्व था, जो **सर्वम् इदम् आ**-इस समस्त को व्यापे हुए था। उस समय **यत्**-जो था भी वह **तुच्छ्येन**-सूक्ष्म रूप से **आभु-अपिहितम्**-चारों ओर से ढका हुआ था। **तत्**-वह **तपसः महिना**-तपस् के महान् सामर्थ्य से **एकम्**-एक **अजायत**-प्रकट हुआ।

भावार्थ—उस समय गहन तम-मूल प्रकृति से सब आच्छादित था।

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संकल्प रूप

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥

अग्रे-सृष्टि के पूर्व **तत्**-वह **मनसः अधि**-मन से उत्पन्न होनेवाली **कामः**-इच्छा के समान एक कामना ही **सम् अवर्तत**-सर्वत्र विद्यमान थी, **यत् प्रथमम् रेतः आसीत्**-जो सबसे प्रथम इस जगत् का प्रारम्भिक बीजवत् थी। **कवयः**-क्रान्तदर्शी पुरुष **हृदि प्रति इष्य**-हृदय में पुनः-पुनः विचार कर **असति**-अप्रकट तत्त्व में ही **सतः बन्धुम्**-सत् रूप प्रकट तत्त्व को बाँधनेवाला बल **निर् अविन्दन्**-प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व मनोकामना ही थी।

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की स्वधा शक्ति

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

एषाम्=इन पूर्वोक्त तत्त्वों की रश्मि **रश्मिः**=सूर्यरश्मि के समान **तिरः चित् विततः**=बहुत दूर-दूर तक व्याप्त हुई, **अधः स्वित् आसीत्**=नीचे भी और **उपरिस्वित् आसीत्**=ऊपर भी **रेतः-धाः आसन्**='रेतस' को धारण करनेवाले तत्त्व भी थे। **महिमानः आसन्**=वे महान् सामर्थ्यवाले थे। **अवस्तात् स्वधा**='स्वधा' अर्थात् प्रकृति नीची बनाई गई है और **परस्तात् प्रयतिः**=उससे ऊँची शक्ति प्रयत्नवाला आत्मा है।

भावार्थ—एक आत्मतत्त्व विद्यमान था।

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जगत् का मूल कारण अज्ञेय

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥

अद्धा कः वेद=ठीक-ठीक कौन जान सकता है? **इह कः प्रवोचत्**=इस विषय में कौन उत्तम रीति से प्रवचन या उपदेश कर सकता है? **कुतः आ जाता**=कि यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई? **इयं विसृष्टिः**=यह विविध प्रकार का सर्ग **कुतः**=किस मूल कारण से और क्यों हुआ? **देवः**=विद्वान् लोग भी **अस्य वि-सर्जनेन**=इस जगत् को विविध प्रकार से रचनेवाले मूलकारण के **अर्वाक्**=पश्चात् ही हुए हैं। **अथ कः वेद**=तो फिर कौन उस तत्त्व को जानता है **यतः**=जिससे यह **आ बभूव**=चारों ओर प्रकट हुआ?

भावार्थ—जब कोई नहीं था तो उस समय की वास्तविक स्थिति को कौन बता सकता है।

ऋषिः—प्रजापतिः परमेष्ठी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मूल तत्त्व को जानने वाला एकमात्र परमेश्वर

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

इयं विसृष्टिः=यह विविध प्रकार की सृष्टि **यतः आ बभूव**=जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है, **यदि वा दधे**=जो इस जगत् को धारण कर रहा है, या यदि कोई **यदि वा न**=इसे नहीं भी धारण कर रहा। **यः अस्य अध्यक्षः**=जो इसका अध्यक्ष **परमे व्योमन्**=परम पद में विद्यमान है, **सः अङ्ग वेद**=हे विद्वन्! वह सब तत्त्व जानता है। **यदि वा न वेद**=चाहे और कोई भले ही न जाने।

भावार्थ—जो इस सृष्टि का संचालक है जो धारण कर रहा है वही सब तत्त्व को जानता है।

[१३०] त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सौ वर्षों के दीर्घ-यज्ञ का पट रूप में वयन

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥ १ ॥

जगत्मय महान् यज्ञ है जो **विश्वतः तन्तुभिः**=अब ओर प्रकृति के बने विस्तृत तत्त्वों से बना है। वह **देव कर्मेभिः**=जल, भूमि, तेज, आकाश, वायु इन पञ्चभूतों के कर्मों से एक-

शतम् आ-यतः=बाह्य १०१ वर्षों प्रमाण तक विस्तृत रहता है। पितरः=पिताओं के तुल्य विश्व के स्रष्टा नाना प्रजापति जो एक के बाद एक मनु के समान वर्ष, ऋतु आदि रूप में आते हैं वे इस जगत् सर्ग को वयन्ति=बुनते हैं। वे तत्=इस विस्तृत जगत्-सर्ग रूप पट में प्र-वय अप-वयं=ऊपर को बुनो, नीचे को बुनो, इस प्रकार प्रेरणा करते हैं। इस प्रकार से वे संवत्सर ऋतु आदि उस तते=विस्तृत काल-पट में विराजते हैं।

भावार्थ—पञ्चभूतों से यह सृष्टि विस्तृत हुई है।

ऋषिः—यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परमपरुष ही यज्ञ-पट तनता है

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥ २ ॥

पुमान् एनं तनुते=वह परम पुरुष भी उस संसार यज्ञ का विस्तार करता है, और **पुमान् उत् कृणत्ति**=वह परम पुरुष ही उस संसार यज्ञ को समाप्त करता है। वह **नाके अधि वितते**=महान् आकाश में जगत्-सर्ग रूप यज्ञ को करता है और **इमे**=ये **मयूखाः उ**=सूर्यकिरण **सदः**=यज्ञ भवन में ऋत्विजों के समान **सदः**=आश्रयभूत आकाश में तथा नाना लोकों में **उप सेदुः**=उपस्थित होते हैं और **ओतवे**=बुनने के लिये **तसराणि**=तिरछे तन्तुओं के समान **सामानि**=सामों अर्थात् परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की समता का विस्तार करते हैं।

भावार्थ—वह परम पुरुष संसार को विस्तार करता है वही संसार यज्ञ को समाप्त करता है।

ऋषिः—यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवयज्ञ के स्वरूप की जिज्ञासा

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ३ ॥

यत्=जब **विश्वे देवाः**=समस्त देवगण **देवम् अयजन्त**=परमेश्वर की पूजा करते हैं, उसका यज्ञ करते हैं, तब **का प्रमा आसीत्**='प्रमा' अर्थात् 'परिमाण' क्या रहा, और **प्रतिमा का आसीत्**=मापने का साधन क्या था? **किं निदानम्**=इष्ट ध्येय फल क्या था? **आज्यम् किम् आसीत्**=यज्ञ में घृत के सदृश उस परम फल तक पहुँचने का साधन क्या था? **परिधिः कः आसीत्**=यज्ञ में परिधि रूप तीन समिधाएँ रक्खी जाती हैं उसी प्रकार उस देव भाग में क्या परिधि थी और **छन्दः किम्**=गायत्री आदि छन्दवत् कौन-सा छन्द था? **प्रउगम् उक्थम्**=यज्ञ में प्रउग आदि अर्थशंसिनी ऋचाओं के स्थान पर देवयाग में क्या पदार्थ था?

भावार्थ—जब देव यज्ञ करते थे तो उस समय आज्य समिधा, मन्त्र, छन्द कौन-सा था?

ऋषिः—यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

छन्दोनुरूप देवगणों का विभाग

अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥ ४ ॥

अग्नेः सयुग्वा=अग्नि की सहयोगिनी गायत्री **अभवत्**=गायत्री हुई। **उष्णिहया सविता सं बभूव**=सविता उष्णिहा से युक्त हुआ **अनुष्टभा**=अनुष्टुभ् से और **उक्थैः**=स्तुति मन्त्रों से

सोमः महस्वान्-सोम महान् गुणवाला हुआ। **बृहस्पतेः वाचम्**-बृहस्पति की वाणी को **बृहती**-बृहती **आवत्**-प्राप्त हुई।

भावार्थ—अग्नि, सविता, सोम तथा बृहस्पति के क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती सहयोगिनी बनीं।

ऋषिः—यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋषियों का छन्दोबल

विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः ॥ ५ ॥

मित्रावरुणयोः विराट् अभि-श्रीः-मित्र और वरुण इन दोनों को विराट् आश्रित हुई। **इन्द्रस्य त्रिष्टुप्**-इन्द्र की त्रिष्टुप् और **इह अह्नः भागः**-यह दिन का अंश **विश्वान् देवान्**-विश्व के सब देवों को जगती **आविवेश**-जगती प्राप्त हुई। **तेन**-उनसे **ऋषयः**-तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष और **मनुष्याः**-मननशील जन **चाक्लृपे**-सामर्थ्यवान् हुए।

भावार्थ—मित्र, वरुण, इन्द्र विश्वे देवों को विराट्, त्रिष्टुप्, जगती प्राप्त हुई। उनसे ऋषि समर्थ हुए।

ऋषिः—यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ से ऋषि-मनुष्यादि का प्रादुर्भाव

चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥ ६ ॥

उस **पुराणे**-प्राचीन **यज्ञे जाते**-यज्ञ के उत्पन्न होने पर **तेन**-उससे ही **ऋषयः मनुष्याः**-तत्त्वज्ञानी ऋषिजन और मननशील मनुष्य और **नः पितरः**-हमारे पालक माता-पिता **चाक्लृपे**-समर्थ हुए। **पूर्वे**-पूर्व के **ये इमं यज्ञम्**-जो इस यज्ञ को **अयजन्त**-करते थे। **तान्**-उनको मैं **मनसा**-मन रूप **चक्षसा**-चक्षु से **पश्यन्**-देखता हुआ **मन्ये**-जानता हूँ।

भावार्थ—यज्ञ से परमात्म पूजन होता था।

ऋषिः—यज्ञः प्राजापत्यः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अध्यात्म में—प्राणगण सात ऋषि

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो३ न रश्मीन् ॥ ७ ॥

सह-स्तोमाः-ऋचा-समूहों सहित **सह-छन्दसः**-छन्दों सहित, **सह प्रमाः**-परिमाणों सहित, **आवृतः**-विद्यमान **सप्त दैव्याः ऋषयः**-सात ज्ञान द्रष्टा **धीराः**-बुद्धिमान् ऋषिगण **पूर्वेषां पन्थाम् अनुदृश्य**-पूर्व विद्यमानों के मार्ग को देखकर और उसका **अनु आलेभिरे**-अवलम्ब लेकर निरन्तर यज्ञ करते हैं जैसे कि लगाम का अवलम्ब लेकर अश्वों को चलाया जाता है।

सात दैव्य ऋषि अध्यात्म में सात शीर्षण्य प्राण हैं। आत्मा प्रजापति है। वह १०० वर्षों तक यज्ञ करता है।

भावार्थ—उन पूर्व पुरुषों के मार्ग का अवलम्बन कर हम मन्त्र समूह का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

[१३१] एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु-विजय

अप॒ प्राच॑ इन्द्र॒ विश्वाँ॑ अ॒मित्रा॒नपापा॑चो अभिभूते नुदस्व।
अपोदी॑चो॒ अप॑ शूराध॒राच॑ उ॒रौ यथा॒ तव॒ शर्म॒न्मदे॑म ॥ १ ॥

(१) **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **विश्वान्**=सब **प्राचः अमित्रान्**=सामने से आनेवाले शत्रुओं को **अपनुदस्व**=परे धकेल दीजिये। इसी प्रकार **अभिभूते**=हे शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! **अपाचः**=दाहिनी ओर से आनेवाले शत्रुओं को भी **अप**=दूर करिये। **उदीचः**=उत्तर की ओर से आनेवाले शत्रुओं को **अप**=दूर करिये। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अधराचः**=पश्चिम से (सूर्य जिस दिशा में नीचे जाता प्रतीत होता है, अधर) आते हुए शत्रुओं को भी **अप**=दूर करिये। सब दिशाओं से आक्रमण करनेवाले इन शत्रुओं को हमारे से पृथक् करिये। (२) इन सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मत्सर आदि शत्रुओं से अपराजित हुए-हुए हम **यथा**=जिस प्रकार **तव**=आपकी **उरौ**=विशाल **शर्मन्**=शरण में **मदेम**=आनन्द से रहें, ऐसी आप कृपा कीजिये।

भावार्थ—चारों दिशाओं से होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण से हम बचें। सदा प्रभु की शरण में सानन्द रहें।

सूचना—राजा को भी राष्ट्र की चारों दिशाओं से रक्षा करनी है। सारी प्रजाएँ राजा से रक्षित हुई-हुई आनन्द से वृद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वासनाशून्य हृदय में प्रभु के प्रति नमन

कु॒विद॒ङ्ग यव॑मन्तो॒ यवं॑ चि॒द्यथा॒ दान्त्य॑नुपू॒र्वं वि॒यूय॑।
इ॒हेहै॑षां कृणुहि॒ भोज॑नानि॒ ये ब॒र्हिषो॒ नमो॑वृक्तिं॒ न ज॒ग्मुः ॥ २ ॥

(१) हे **अंग**=प्रिय! **यथा**=जैसे **यवमन्तः**=जौवाले, जौ की कृषि करनेवाले, **चित्**=निश्चय से **यवम्**=जौ को **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक्-पृथक् करके **कुवित्**=खूब ही **दान्ति**=काट डालते हैं। इसी प्रकार **ये**=जो व्यक्ति अपने हृदयक्षेत्र से वासनाओं को उखाड़ डालते हैं और इस वासनाशून्य **बर्हिषः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, उस हृदय में **नमः वृक्तिम्**=नमस्कार के वर्जन को **न जग्मुः**=नहीं प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो अपने हृदयों को वासनाशून्य बनाते हैं और उन हृदयों में सदा प्रभु के प्रति नमन की भावना को धारण करते हैं, **एषाम्**=इन व्यक्तियों के **इह इह**=इस इस स्थान पर, अर्थात् जब-जब आवश्यकता पड़े **भोजनानि**=पालन के साधनभूत भोग्य पदार्थों को प्राप्त कराइये। (२) मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि एक-एक करके वासना को विनष्ट करनेवाला हो। निर्वासन हृदय में प्रभु का नमन करे। प्रभु इसके योगक्षेम को प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मनुष्य वासनाओं का उद्बर्हण करके वासनाशून्य हृदय में प्रभु के प्रति नमनवाला होता है, तो प्रभु उसके योगक्षेम की स्वयं व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की मित्रता में

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥ ३ ॥

(१) (एकेन धुर्येण युक्तमनः स्थूरीत्युच्यते) **स्थूरि** (अनः)=एक बैल से युक्त शकट **ऋतुथा**=समय पर **यातम्**=उद्दिष्ट स्थान पर प्राप्त **नहि अस्ति**=नहीं होता है। गाड़ी में दोनों बैलों का होना आवश्यक है। एक बैल का न होना गाड़ी को निकम्मा कर देता है। इसी प्रकार उस प्रभु के बिना अकेला जीव अपने शरीर-रथ को उद्दिष्ट-स्थल पर नहीं ले जा सकता। सम्पूर्ण सफलता प्रभु से प्राप्त शक्ति पर ही निर्भर करती है। (२) यह प्रभु को विस्मृत करनेवाला व्यक्ति **संगमेषु**=सभाओं में उपस्थित होकर **श्रवः**=ज्ञान को न **विविदे**=नहीं प्राप्त करता है। प्रभु विस्मरण से प्रकृत्ति ज्ञानगोष्ठियों में एकत्रित होने की न होकर पानगोष्ठियों में एकत्रित होने की हो जाती है। एवं ज्ञान वृद्धि न होकर भोगवृद्धि के मार्ग पर वह बढ़ता है और उन भोगों में ही डूब जाता है। (३) इसलिए **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना करते हुए, **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना करते हुए, **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही **सख्याय**=मित्रता के लिए चाहते हैं। प्रभु की मित्रता में ही मनुष्य लक्ष्य की ओर अपने शरीर-रथ को ले चलता है, भटकता नहीं। भोगमार्ग पर न जाने से उसकी शक्ति स्थिर रहती है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में मनुष्य मार्गभ्रष्ट न होकर अपने ज्ञान व शक्ति का वर्धन करता हुआ लक्ष्यस्थान पर पहुँचता है।

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सुरामं विपिपाना

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

(१) 'अश्विना' शरीर में प्राणापान हैं। इनकी साधना से शरीर में सोमशक्ति (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होती है। इस सोम-शक्ति को प्रस्तुत मन्त्र में 'सुराम' नाम दिया है। इसके द्वारा जीव उत्तम रमणवाला होता है 'सुष्ठु रमते अनेन'। सोम के रक्षण के होने पर ही सब आनन्द का निर्भर है। इसी से मनुष्य सौम्य स्वभाव का बनता है और अन्ततः प्रभु को पानेवाला बनता है। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **सुरामम्**=उत्तम रमण के साधनभूत सोम का **विपिपाना**=विशेषरूप से पान करते हुए, **शुभस्पती**=सब शुभ कर्मों के रक्षक होते हो। **सचा**=परस्पर मिलकर, प्राण-अपान से और अपान प्राण से मिलकर **आसुरे**=असुरों के अधिपति **नमुचौ**=(न मुच्) अत्यन्त कठिनता से पीछा छोड़नेवाले इस अहंकार के हनन करनेवाले होते हो। इस असुरेश्वर के मारने के निमित्त ही आपका मेल है। प्राणसाधना से सब मलों का क्षय होते-होते इस आसुर अहंकार वृत्ति का भी ध्वंस हो जाता है। (३) इस आसुर वृत्ति का संहार करके आप **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **कर्मसु**=कर्मों में **आवतम्**=रक्षित करते हो। कर्मों में लगा रहकर यह साधक वासनाओं की ओर नहीं झुकता और पवित्र बना रहकर प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राण-साधना से सोम का रक्षण होकर मनुष्य निरहंकार होता है। कर्मशील बना रहकर पवित्र बना रहता है, प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

काव्य-दंसना (या सरस्वती का आराधन)

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ५ ॥

(१) **इव**=जैसे **पितरौ**=माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को रक्षित करते हैं, उसी प्रकार हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **काव्यैः**=उत्तम ज्ञानों द्वारा तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **अवथुः**=तेरा रक्षण करते हैं। प्राणापान तो हमारे लिए माता-पिता के समान हैं। इनके रक्षण से हमारा ज्ञान बढ़ता है और हमारी प्रवृत्ति उत्तम कर्मों में होती है। (२) यह सब कब होता है? **यत्**=जब कि हे इन्द्र! तू **सुरामम्**=इस उत्तम रमण के साधनभूत सोम को **व्यपिबः**=विशेषरूप से पीनेवाला होता है प्राणसाधना के द्वारा ही तो इस सोम का पान होता है। ऐसा होने पर **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ-देवता सरस्वती **शचीभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा (नि० ३।९) तथा उत्तम कर्मों के द्वारा (नि० २।१) **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=(भिष्णज् सेवायाम्) सेवित करती है। सोम के पान से ज्ञान बढ़ती है और उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है। सोमरक्षण से ज्ञानवृद्धि व उत्तम कर्मों में अभिरुचि होती है।

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

निर्द्वेषता-निर्भयता-सुवीरता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ६ ॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं को विद्रावण करनेवाला प्रभु **द्वेषः बाधताम्**=द्वेष की भावना को हमारे से दूर करे। गत मन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाला व्यक्ति द्वेष की भावना से ऊपर उठ जाता है। (२) **सुत्रामा**=वह उत्तम रक्षण करनेवाला **स्ववान्**=सब धनोंवाला व आत्मिक शक्तिवाला प्रभु **अवोभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा हमारे लिए **अभयं कृणोतु**=निर्भयता को करे। हम अपने को प्रभु की गोद में समझें। वे ही सब ओर से हमारा रक्षण कर रहे हैं। आत्मिक शक्ति को देकर वे ही हमें निर्भय बनाते हैं। (३) वे **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाले प्रभु **सुमृडीकः भवतु**=आवश्यक धनों को प्राप्त कराके हमारे लिए उत्तम सुखों के देनेवाले हों। व्यर्थ के भोगों में न फँसकर हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **पतयः**=अपने में रक्षण करनेवाले, शक्ति के स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम निर्द्वेष, निर्भय व सुवीर बनें।

ऋषिः—सुकीर्तिः काक्षीवतः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमति-सौमनस

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ॥ ७ ॥

(१) प्रभु यज्ञिय हैं, पूज्य हैं, संगतिकरण योग्य हैं तथा समर्पणीय हैं। **तस्य यज्ञियस्य**=उस यज्ञिय प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **वयं स्याम**=हम हों। **अपि**=और **भद्रे सौमनसे**=(स्याम)

उस उत्तम मन में हम स्थित हों जो कि सबका भद्र व कल्याण ही सोचता है। (२) सः=वह **सुत्रामा**=उत्तम त्राण करनेवाला **स्ववान्**=आत्मिक शक्ति को देनेवाला **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु **अस्मे**=हमारे से **द्वेषः**=द्वेष को **आरात्** **चित्**=निश्चय से बहुत दूर **सनुतः**=अन्तर्हित करके **युयोतु**=पृथक् कर दे 'द्वेष हमें फिर देख भी न सके' इस रूप में प्रभु द्वेष को हमारे से दूर कर दें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें सुमति व सौमनस प्राप्त हो। द्वेष हमारे से दूर हो।

यह सूक्त शत्रु-विजय से प्रारम्भ होता है, सुमति व सौमनस की प्राप्ति पर समाप्त होता है। साधना यही है कि हम अन्तः शत्रुओं को जीतकर उत्तम बुद्धि व मनवाले बनें। ऐसा बनने पर हम '**शकपूतः**'=शक्ति के द्वारा पवित्र जीवनवाले होंगे। तथा **नार्मेधः**=नृमेध यज्ञ करनेवाले, लोकहित की प्रवृत्तिवाले बनेंगे। यह 'शकपूत नार्मेध' ही अग्रिम सूक्त का ऋषि है। यह इस प्रकार मन्त्र जप करता है—

[१३२] द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

यज्ञशीलता व सुखी जीवन

ई॒जा॒नमिद् द्यौर्गू॒र्तावसुरीजा॒नं भूमि॑र॒भि प्र॑भू॒षणि॑। ई॒जा॒नं दे॒वाव॒श्विना॑व॒भि सु॒म्नैर॑वर्धताम्॥ १ ॥

(१) **ईजानम्**=यज्ञशील पुरुष को **इत्**=ही **द्यौः**=यह द्युलोक **गूर्तावसुः**=उद्यत धनवाला होता है। अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिए ही द्युलोक सदा आवश्यक वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। **ईजानं अभि**=यज्ञशील पुरुष का लक्ष्य करके ही **भूमिः**=यह पृथिवी **प्रभूषणि**=(prosperity) ऐश्वर्य का निमित्त बनती है। द्युलोक व पृथिवीलोक पिता व माता के समान माने जाते हैं। यज्ञशील पुरुष के लिए ये सब वसुओं व अभ्युदयों को प्राप्त कराते हैं। (२) **ईजानम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **अश्विनौ देवौ**=(दिव् द्युति) जीवन को दीप्त बनानेवाले प्राणापान **सुम्नैः**=सुखों से **अभि अवर्धताम्**=इस लोक व परलोक के दृष्टिकोण से बढ़ानेवाले होते हैं। शरीर को नीरोग बनाकर ये प्राणापान ऐहलौकिक सुखों का वर्धन करते हैं और मन को निर्मल बनाकर ये परलोक के सुख को सिद्ध करते हैं। भौतिक व आध्यात्मिक दोनों उन्नतियों का ये कारण बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष के लिए द्युलोक, पृथिवीलोक तथा प्राणापान सभी अनुकूलता के लिए हुए होते हैं।

ऋषिः—शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—पादनिचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

नीरोगता व निष्पापता

ता वां॑ मि॒त्रावरुणा धा॒रय॑त्क्षिती सुषु॒म्नेषि॑त॒त्वता॑ यजामसि।
यु॒वोः क्रा॒णाय॑ स॒ख्यैर॒भि ष्या॑म र॒क्षसः॑ ॥ २ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**='प्रमीतेः त्रायते' इस व्युत्पत्ति से मृत्यु से त्राण करनेवाली देवता 'मित्र' है, 'पापात् निवारयति'=पाप से बचानेवाली देवता 'वरुण' है। हे मित्र वरुण! **ता वाम्**=उन आप दोनों को **यजामसि**=हम अपने साथ संगत करते हैं। आप **धारयत् क्षिती**=(क्षितयो मनुष्याः) मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं 'मित्र' सूर्य का भी नाम है, यह दिन का अभिमानी देव है। यह हमारे में प्राणशक्ति का संचार करके हमें मृत्यु से बचाता है। 'वरुण' रात्रि का अभिमानी देव है, यही चन्द्र है। यह हमें अपनी ज्योत्स्ना से शीतलता का उपदेश देता हुआ हमें क्रूरताजन्य पाप कर्मों

से बचाता है। ये दोनों मित्र और वरुण हमारे शरीर को नीरोग तथा मन को निष्पाप बनाते हुए **सुषुम्ना**=हमारे उत्तम सुख का कारण बनते हैं। इसलिए **इषितत्वता**=चाहने योग्य होने के कारण प्राप्तव्य होने के कारण हम इन दोनों को अपने साथ संगत करते हैं। (२) **युवोः**=आप दोनों के **सख्यैः**=मित्रताओं से अर्थात् मित्र और वरुण के साहाय्य से **क्राणाय**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के करनेवाले के लिए **रक्षसः अभिस्याम**=राक्षसी वृत्तियों को अभिभूत करें। अर्थात् मित्र और वरुण का साथी बनकर, नीरोग व निष्पाप बनकर यज्ञादि कर्मों को करना ही मार्ग है जिससे कि हम सब राक्षसी वृत्तियों के आक्रमण से बच सकते हैं। संक्षेप में उत्तम कर्मों में लगे रहना ही मनुष्य अशुभ मार्ग से बचानेवाला होता है।

भावार्थ—हम 'मित्र और वरुण' का आराधन करें। यह आराधना ही हमें अशुभ कर्मों से बचाएगी।

ऋषिः—शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दान व ऐश्वर्य वृद्धि

अधा चिन्नु यद्दिधिषामहे वामभि प्रियं रेक्णः पत्यमानाः।
दद्वाँ वा यत्पुष्यति रेक्णः सम्वारन्नकिरस्य मघानि ॥ ३ ॥

(१) हे मित्रा वरुणौ! **अधा**=अब **चित् नु**=निश्चय से **यत्**=जब **वाम्**=आपका **दिधिषामहे**=धारण करते हैं व स्तवन करते हैं तो हम **प्रियं रेक्णः**=प्रिय ऐश्वर्य को **अभि-पत्यमानाः**=उभयतः प्राप्त करते हुए होते हैं। इस लोक के ऐश्वर्य 'अभ्युदय' को हम प्राप्त करते हैं तो परलोक के निःश्रेयस को भी प्राप्त करनेवाले होते हैं। 'मित्र' की आराधना हमें नीरोग बनाकर अभ्युदय की प्राप्ति के योग्य बनाती है और 'वरुण' की आराधना निष्पाप बनाकर निःश्रेयस को देनेवाली होती है। (२) **च**=और **दद्वान्**=दानशील पुरुष **यत्**=जिस **रेक्णः**=धन का **पुष्यति**=पोषण करता है, **अस्य मघानि**=इसके धन **नकि**=सभी **रन्**=अपगत नहीं होते। दान से धन बढ़ता ही है, दान से धन कम नहीं होता। दानशील पुरुष इस लोक में अभ्युदय की वृद्धि को करता हुआ परलोक में निःश्रेयस को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम मित्र-वरुण की आराधना से अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त करें। सदा दानशील बनें, जिससे धन हमारे से अपगत न हों।

ऋषिः—शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—पादनिचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अन्तक-ध्रुक्

असावन्यो असुर सूयत द्यौस्त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा।
मूर्धा रथस्य चाकन्नैतावतैनसान्तकध्रुक् ॥ ४ ॥

(१) हे **असुर**=(असून् राति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले अथवा अन्धकार को नष्ट करनेवाले (असु क्षेपणे) मित्र-सूर्य! **असौ**=वह तू **अन्यः**=विलक्षण ही है। **द्यौः सूयत**=द्युलोक तुझे जन्म देता है। और हे **वरुण**=चन्द्र! **त्वम्**=तू **विश्वेषाम्**=सबके **राजा असि**=जीवन को दीप्त करनेवाला है। मस्तिष्क ही द्युलोक है। उसमें ज्ञानरूप सूर्य का उदय होता है। यह ज्ञान विलासमय जीवन के अन्धकार को नष्ट करता है और इस प्रकार हमारे जीवनों में प्राणशक्ति को संचरित करता है। 'वरुण' चन्द्र है। यह मानस आह्लाद का प्रतीक है। मानस आह्लाद ही पाप का निवारण करके हमें वस्तुतः दीप्त जीवनवाला बनाता है। (२) इस प्रकार मित्र और वरुण के द्वारा

स्वस्थ व दीप्त जीवनवाला बनकर यह व्यक्ति **मूर्धा**=शिखर बनता है, बड़े उन्नत जीवनवाला होता है। **रथस्य चाकन्**=रथ के दीप्त करनेवाला बनता है। **न एतावता एनसा**=थोड़े से भी पाप से संयुक्त नहीं होता। **अन्तक-ध्रुक्**=(अस्यो अन्तः अन्तकः) पाप के नाममात्र अन्त को भी यह नष्ट करनेवाला होता है, इसका जीवन पापशून्य होता है।

भावार्थ—मित्र और वरुण की आराधना से हमारा जीवन स्वस्थ दीप्त व पापशून्य बनता है।

ऋषिः—शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पाप' पापी का नाशक है

अस्मिन्त्स्वे३तच्छकपूत एनो हिते मित्रे निगतान्हन्ति वीरान्।
अवोर्वा यद्धात्तनूष्ववः प्रियासु यज्ञियास्वर्वा ॥ ५ ॥

(१) **अस्मिन्**=इस गत मन्त्र के अनुसार पाप के लेश को भी नष्ट करनेवाले, **स्वे**=आत्मीय, अर्थात् आत्मा की ओर चलनेवाले, **हिते**=सबका हित करनेवाले **मित्रे**=अपने जीवन को नीरोग बनानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) **शक पूते**=शक्ति से अपने को पवित्र करनेवाले के विषय में **तत् एनः**=वह पाप, अर्थात् शकपूत के विषय में किसी के द्वारा किया जानेवाला पाप कर्म **निगतान् वीरान्**=उन निम्न गतिवाले अथवा निहन्तव्य वीरम्मन्य पुरुषों को **हन्ति**=नष्ट करता है। इन निगत वीरों से किये जानेवाला पाप इनको ही नष्ट करनेवाला होता है। ये शकपूत को कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। (२) ये इसलिए इस शकपूत को हानि नहीं पहुँचा सकते **यत्**=क्योंकि **अर्वा**=वह सर्वत्र गतिवाला व्यापक प्रभु इस **अवोः**=(अवितुः) रक्षक के (प्रमीतेः त्रायते) प्रमीति से अपने को बचानेवाले शकपूत के **प्रियासु यज्ञियासु**=(प्रीञ् कान्तौ) कान्त व पवित्र **तनूषु**=शरीरों में **अवः**=रक्षण का **धात्**=धारण करता है। प्रभु इनका रक्षक होता है। उस प्रभु के रक्षकरूपेण होने पर इन्हें हानि पहुँचा ही कौन सकता है? पाप, पाप करनेवाला का ही नाश कर देता है। इस शकपूत को हानि नहीं पहुँचा सकता।

भावार्थ—शक्ति के द्वारा जीवन को पवित्र करनेवाला का रक्षण प्रभु करते हैं। इसके विषय में पाप की कामनावाला उस पाप से स्वयं नष्ट हो जाता है।

ऋषिः—शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

निर्माणात्मक कार्य का महत्त्व

युवोर्हि मातादितिर्विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूतनि।
अव प्रिया दिदिष्टन सूरो निनिक्त रश्मिभिः ॥ ६ ॥

(१) हे **विचेतसा**=विशिष्ट ज्ञान के कारणभूत मित्र व वरुण=नीरोगता (प्रमीतेः त्रायते) व निष्पापता! (पापात् निवारयति) **युवोः**=तुम दोनों की **हि**=ही **माता**=निर्माण करनेवाली **अदितिः**=अदिति है। अदिति, मित्र और वरुण को जन्म देती है। सब देवों की माता अदिति है। इसी से देव 'आदित्य' कहलाते हैं। 'अदिति' अदीना देवमाता है। **अदिति**=अखण्डन, तोड़-फोड़ की वृत्ति का न होना, निर्माण की भावना। इस निर्माण की भावना से ही हम 'मित्र और वरुण' बन पाते हैं। उस समय **द्यौः न**=द्युलोक की तरह **भूमिः**=यह पृथिवी भी **पयसा**=अपनी आप्यायन शक्ति से **पुपूतनि**=पवित्रीकरण का हेतु बनती है। द्युलोकस्थ सूर्य अपने प्रकाश से मार्गदर्शन करता हुआ हमें पाप से बचाता है तथा पृथिवी अपनी ओषधियों से रोगों का दहन करती हुई हमें नीरोग बनाती है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **प्रिया**=प्रिय धनों को **अवदिदिष्टन**=हमारे लिए देनेवाले

होवो। सूरः=सूर्य रश्मिभिः=अपनी किरणों से निनिक्त=हमारे जीवनों का शोधन व पोषण करनेवाला हो। प्रकाश के द्वारा यदि वह हमारे शरीर का शोधन करे तो प्राणशक्ति के संचार से वह हमारा पोषण करनेवाला हो। एवं मित्र और वरुण की आराधना हमारे जीवन को बड़ा तृप्त व कान्त (प्रिय) बनानेवाली हो।

भावार्थ—निर्माण की वृत्ति नीरोगता व निष्पापता को जन्म देती है। इससे हमारे जीवन प्रिय बनते हैं। जीवन के शोधन व पोषण के लिए आवश्यक है कि निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहें।

ऋषिः—शकपूतो नार्मेधः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—महासतोबृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

उपासना व ज्ञानरश्मियाँ

युवं ह्यप्रराजावसीदतं तिष्ठद्रथं न धूर्षदं वनर्षदम्।
ता नः कणूकयन्तीर्नृमेधस्तत्रे अंहसः सुमेधस्तत्रे अंहसः ॥ ७॥

(१) हे मित्र व वरुण! युवम्=आप दोनों हि=निश्चय से अप्रराजी=कर्म से दीप्त हो। वस्तुतः कर्म के अभाव में न नीरोगता है न निष्पापता। इन दोनों का मूल कर्मव्यापृतता ही है। आप दोनों रथम्=इस शरीर-रथ पर असीदतम्=आसीन होइये। जो रथ तिष्ठत्=स्थिर है, शीघ्रता से टूटने-फूटनेवाला नहीं। धूर्षदम्=जो धुराओं में स्थित है, इसकी धुरा का एक सिरा ज्ञान है तो दूसरी सिरा श्रद्धा है। वर्षदम्=(वन=उपासना या ज्ञानरश्मि) यह रथ उपासना व ज्ञानरश्मियों पर आधारित है। रथ के हृदयदेश में उपासना है तो मस्तिष्क प्रदेश में ज्ञानरश्मियाँ। (२) आप इस शरीररूप रथ पर इसलिए अधिष्ठित होते हो कि ताः=उन नः=हमें कणूकयन्तीः=आक्रुष्ट करती हुई शात्रवी सेनाओं को अभिभूत कर सको। इनको अभिभूत करके ही आप हमारा रक्षण करते हो। नृमेधः=लोकहित में तत्पर होनेवाला 'नृमेध' आपके द्वारा अंहसः तत्रे=पाप से बचाया जाता है। सुमेधः=उत्तम मेधावाला अंहसः तत्रे=पाप से बचाया जाता है। सुमेधः=उत्तम मेधावाल अंहसः तत्रे=पाप से बचाया जाता है। जब हम उत्तम बुद्धिवाले बनकर लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं तो पाप से बचे रहते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीररूप-रथ स्थिर तथा ज्ञान व श्रद्धा की धुरावाला हो। हम मित्र और वरुण की आराधना से नीरोग व निष्पाप बनते हुए लोकहित में प्रवृत्त हों और उत्तम मेधावाले बनें।

सम्पूर्ण सूक्त नीरोग व निष्पाप बनने पर बल देता है, ऐसा बननेवाला सुदाः=खूब देनेवाला अथवा खूब शत्रुओं का लवन करनेवाला (दाप् लवने) व पैजवनः=खूब वेगयुक्त क्रियाशील होता है। क्रियाशीलता ही तो उसे नीरोग बनाती है और दानशीलता व शत्रुलवन निष्पापता को पैदा करता है। यह 'सुदाः पैजवनः' अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन्द्र की आराधना करता हुआ कहता है कि—

[१३३] त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सुदाः पैजवनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—शक्वरी ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अग्रगामी-रथ और शत्रु-शोषक बल

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत ।
अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ १ ॥

(१) राष्ट्र में शत्रुओं के संहार के लिए राजा सेनापति के रूप में 'इन्द्र' कहलाता है। अस्मै

इन्द्राय-इस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति के लिए **उ**-निश्चय से **सु**-अच्छी प्रकार **पुरोरथम्**-अग्रगतिवाले रथ को तथा **शूषम्**-शत्रु-शोषक बल को **प्र अर्चत**-सम्यक् आदर दो। उस सेनापति को उचित आदर प्राप्त हो जिसका रथ आगे ही आगे बढ़ता है और कभी रणाङ्गण से पराङ्मुख नहीं होता। उस सेनापति को आदर दो जिसका कि बल शत्रुओं का शोषण करनेवाला है। (२) यह इन्द्र **अभीके**-संग्राम में **चित् उ**-निश्चय से **लोककृत्**-अपने स्थान को बनानेवाला है। **समत्सु**-संग्रामों में **संगे**-शत्रुओं के साथ मुठभेड़ होने पर यह **वृत्रहा**-वृत्र का हनन करनेवाला है, राष्ट्र के घेरनेवाले शत्रुओं को समाप्त करनेवाला है (वृ-घेरना)। (३) हे इन्द्र! इस प्रकार शत्रुहनन करता हुआ तू **अस्माकम्**-हमारा **चोदिता**-प्रेरक **बोधि**-अपने को जान प्रजाओं के अन्दर उत्साह का संचार करनेवाला तू हो। तेरी वीरता के सामने **अन्यकेषाम्**-(कुत्सिते कन्) इन अधर्म के पक्षवाले कुत्सित शत्रुओं को **ज्याकाः**-धनुष की डोरियाँ **अधिधन्वसु**-धनुषों पर **नभन्ताम्**-नष्ट हो जाएँ। उनका उत्साह मन्द पड़ जाएँ, उनके अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति का रथ आगे ही आगे बढ़नेवाला हो, उसका बल शत्रुओं का शोषण कर दे। सेनापति शत्रुहनन करता हुआ प्रजाओं के उत्साह को बढ़ाये और शत्रुओं के अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—शक्वरी॥ स्वरः—धैवतः॥

रक्तधाराओं का बहना

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥२॥

(१) **अहिम्**-(आहन्ति) चारों ओर मार-काट करनेवाले शत्रु को **त्वम्**-तू **अहन्**-नष्ट करता है और **अधराचः**-नीचे की ओर बहनेवाली **सिन्धून्**-रक्त नदियों को तू **अवासृजः**-उत्पन्न कर देता है। शत्रु-संहार से रक्त की धाराएँ बह उठती हैं। इस प्रकार शत्रुओं को समाप्त करके हे **इन्द्र**-सेनापते! तू **अशत्रुः जज्ञिषे**-शत्रुरहित हो जाता है। तेरी शक्ति के कारण कोई भी तेरा विरोधी नहीं रहता। (३) इस प्रकार शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करके तू **विश्वं वार्यम्**-सब वरणीय वस्तुओं का **पुष्यसि**-पोषण करता है। **तं त्वा**-उस तुझको हम **परिष्वजामहे**-आलिंगित करते हैं, तेरा उचित अभिनन्दन करते हैं। शत्रु विजय से लौटे हुए सेनापति का उचित आदर होना ही चाहिए। इसके बल के सामने **अन्यकेषाम्**-कुत्सित वृत्तिवाले इन शत्रुओं की **ज्याकाः**-डोरियाँ **अधिधन्वसु**-धनुषों पर ही **नभन्ताम्**-नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—घातपात करनेवाले शत्रुओं को मारकर रक्तधाराओं को ही सेनापति बहा दे। राष्ट्र को अशत्रु करके वरणीय वस्तुओं का पोषण करे। राष्ट्रोत्थान का यही तो मार्ग है, बाह्य भय का न होना तथा वरणीय तत्त्वों का वर्धन।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—शक्वरी॥ स्वरः—धैवतः॥

वज्र-प्रहार व धन-प्रहार

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः ।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥३॥

(१) **विश्वाः**=सब **अरातयः**=न देने की वृत्तिवाले, कृपण वृत्तिवाले, **अर्यः**=शत्रु **सु**=अच्छी प्रकार **विनशन्त**=नष्ट हो जाएँ। **नः**=हमें **धियः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्म (धी=कर्म-ज्ञान) **नशन्त**=प्राप्त हों। शत्रुभय में मस्तिष्क भी कार्य ठीक से नहीं करता। शत्रु भय के न होने पर हमारे सब कार्य बुद्धिपूर्वक हों। (२) हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः**=जो **नः**=हमें **जिघांसति**=मारना चाहता है, उस **शत्रवे**=शत्रु के लिए तू **वधम्**=वज्र को **अस्तासि**=फेंकनेवाला है। और समय-समय पर **या**=जो **ते**=तेरी **रातिः**=दानशीलता है, उसे भी तू शत्रु के लिए फेंकनेवाला होता है। अर्थात् धन को देकर भी तू शत्रुओं पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। कई बार जो कार्य तोपों के गोलों से नहीं होता वह सोने के एक भार से हो जाता है। इसलिए आवश्यकता होने पर तू **वसु ददिः**=धन को देनेवाला होता है। इस प्रकार **अन्यकेषां ज्याकाः**=शत्रुओं की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—शत्रु-भय के अभाव में हमारे सब कार्य बुद्धिपूर्वक हों। सेनापति शस्त्रों से व धनों से शत्रु विजय के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वृकायु-विनाश

यो न इन्द्राभितो जनो वृकायुरादिदेशति ।
अधस्पदं तमीं कृधि विबाधो असि सासहिर्नभन्तामन्यकेषां
ज्याका अधि धन्वसु ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः जनः**=जो मनुष्य **वृकायुः**=(वृक इव आचरन्) भेड़िये की तरह आचरण करता हुआ **नः अभितः**=हमारे चारों ओर **आदिदेशति**=लक्ष्य करके बाण आदि को छोड़ता है (दिश अतिसर्जने), **तम्**=उसको **ईम्**=निश्चय से **अधस्पदं कृधि**=पादाक्रान्त कर दो। (२) हे सेनापते! आप **विबाधः**=विशेषरूप से शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले तथा **सासहिः**=शत्रुओं को कुचल डालनेवाले **असि**=हैं। आपकी शक्ति के समाने **अन्यकेषां ज्याकाः**=इन कुत्सित वृत्तिवाले शत्रुओं की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। इनके अस्त्र इस प्रकार कुण्ठित हो जाएँ कि ये हमारे पर आक्रमण कर ही न सकें।

भावार्थ—भेड़िये की वृत्तिवाले शत्रुओं को कुचल दिया जाए।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सनाभि व निष्ट्य शत्रु

यो न इन्द्राभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अव तस्य बलं तिर महीव द्यौरध त्मना नभन्तामन्यकेषां
ज्याका अधि धन्वसु ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः सनाभिः**=जो समानजन्यवाला, अपनी बिरादरी का **यः च**=और जो **निष्ट्यः**=निकृष्टजन्यवाला अथवा अपनी बिरादरी से बाहर का शत्रु **नः**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है (दसु उपक्षये) **तस्य बलम्**=उसके बल को **अवतिरः**=नष्ट कर दे (जहि)। (२) इस शत्रु-सैन्य को नष्ट करके **अध**=अब **त्मना**=स्वयं **मही द्यौः इव**=इस विशाल द्युलोक की तरह तू हो। जैसे द्युलोक सूर्य व नक्षत्रों से दीप्त हैं इसी प्रकार तू ज्ञान व सम्पत्तियों

से श्री सम्पन्न हो। तेरी श्री के सामने **अन्यकेषां ज्याकाः**-कुत्सित वृत्ति के इन शत्रुओं की डोरियाँ **अधिधन्वसु**-धनुषों पर ही **नभन्ताम्**-हिंसित हो जाएँ। शत्रुओं के सब अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

भावार्थ—अन्दर के व बाहर के सब शत्रु नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रजाप्रिय राजा

वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे ।
ऋतस्य नः पथा नयाति विश्वानि दुरिता नभन्तामन्यकेषां
ज्याका अधि धन्वसु ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रु-विद्रावण करनेवाले शासक! **वयम्**-हम **त्वायवः**-आपकी ही कामनावाले हैं। प्रजाओं को राजा बड़ा प्रिय होना चाहिए। राजा का जीवन प्रजाओं को उसके प्रति अनुरागवाला हो **सखित्वम्**-हम मित्रता को **आरभामहे**-प्रारम्भ करते हैं, अर्थात् परस्पर मित्रभाव से चलते हैं। राष्ट्र के नागरिकों में परस्पर सखित्व होने पर राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है। (२) हे इन्द्र! **नः**-हमें **ऋतस्य पथा नय**-ऋत के मार्ग से ले चलिये। शासक को यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसकी प्रजाएँ बड़े व्यवस्थित जीवनवाली हों। उनके सब कार्य समय पर व ठीक स्थान पर होनेवाले हों। इस प्रकार ऋत के मार्ग से ले चल करके हमें **विश्वानि दुरिता अति**-(नय) सब दुरितों से दूर ले चलिये। हम पाप से बचकर दुर्गतियों से भी बचे रहें। (३) इस प्रकार सब प्रजाओं के जीवनों के व्यवस्थित होने पर **अन्यकेषां ज्याकाः**-कुत्सित वृत्तिवाले लोगों की डोरियाँ **अधिधन्वसु**-धनुषों पर ही **नभन्ताम्**-नष्ट हो जाए। प्रजाओं के चरित्र के ऊँचे होने पर शत्रु आक्रमण करने से घबराता है।

भावार्थ—राजा प्रजा से आदृत हो। राजा प्रजाओं को ठीक मार्ग पर ले चलता हुआ दुर्गति से बचाए।

ऋषिः—सुदाः पैजवनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी का व्यापक प्रचार

अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष या दोहते प्रति वरं जरित्रे ।
अच्छिद्रोध्नी पीपयद्यथा नः सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**-राजन्! **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए **त्वम्**-आप **ताम्**-उस गौ को **सु शिक्ष**-अच्छी प्रकार प्राप्त कराइये। **या**-जो गौ **जरित्रे**-स्तोता के लिए **वरम्**-वरणीय वस्तुओं को **प्रतिदोहते**-प्रतिदिन पूरित करती है। यह गौ वेदवाणी है। और यह हमारे लिए 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराती है। (२) यह **अच्छिद्रोध्नी**-निर्दोष ऊधस्वाली है। यह पवित्र ज्ञानदुग्ध का ही दोहन करती है। हे राजन्! ऐसी व्यवस्था करिये **यथा**-जिससे यह **मही गौः**-अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वेदवाणी रूप गौ **नः**-हमें **सहस्रधारा**-शतशः धारणशक्तियोंवाली होती हुई **पयसा**-अपने ज्ञानदुग्ध से **पीपयत्**-आप्यायित करे।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में सभी को वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त कराये। यह वेदवाणी उनका सब प्रकार से वर्धन करेगी।

इस सूक्त में राजा का यह मौलिक कर्त्तव्य उल्लिखित हुआ है कि यह शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण करके प्रजाओं को ठीक मार्ग से ले चलता हुआ दुर्गति से बचाये। सभी को वेदवाणी के ज्ञान से युक्त करे। इस वेदवाणी का धारण करनेवाला 'मान्धाता' कहलाता है, क्योंकि यह प्रभु का धारण करता है (मां धाता)। यह 'यौवनाश्व' है, इसके इन्द्रियरूप अश्व अशुभ से पृथक् व शुभ से युक्त होते हैं। वह वेदवाणी का धारण करने से 'गो-धा' भी कहलाता है। अग्रिम सूक्त का ऋषि यह 'मान्धाता यौवनाश्व' है। सूक्त के अन्तिम मन्त्र का ऋषि 'गोधा' है। यह कहता है कि—

[१३४] चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

निर्माता व शासक प्रभु

उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषाइव।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनां
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ १ ॥

(१) हे इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! यत्=जब उभे रोदसी=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को आप आपप्राथ=चारों ओर विस्तृत करते हैं, उसी प्रकार इव=जैसे कि उषाः=उषाकाल इन्हें विस्तृत करता है। उषा के होते ही, रात्रि में अत्यन्त संकुचित-सा हुआ-हुआ यह ब्रह्माण्ड, फिर से अनन्त से विस्तारवाला हो जाता है। इसी प्रकार प्रभु वस्तुतः इस सारे ब्रह्माण्ड को विस्तृत करते हैं। (२) इस विस्तृत द्युलोक व पृथिवीलोक को बनाकर प्रभु ही इसका शासन करते हैं। महीनाम्=इन महनीय भूमियों के तथा चर्षणीनाम्=इन भूमियों पर निवास करनेवाले प्राणियों के महान्तं सम्राजम्=महान् सम्राट्, व्यवस्थापक त्वा=आपको देवी=यह सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली जनित्री=चराचर को जन्म देनेवाली प्रकृति अजीजनत्=प्रकट करती है। यह भद्रा=कल्याण को करनेवाली व सब सुखों की साधनभूत जनित्री=जन्मदात्री प्रकृति अजीजनत्=आपकी महिमा का प्रादुर्भाव करती है। प्रकृति से बने इन सब पिण्डों में प्रभु की रचना का कौशल व्यक्त हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु इस द्युलोक व पृथिवीलोक को विस्तृत करते हैं। इन लोकों का वे शासन करते हैं। इन लोकों की रचना में प्रभु की रचना चातुरी व्यक्त हो रही है।

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रु-शातन प्रभु

अव स्म दुर्हणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम्।
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ आदिदेशति
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ २ ॥

(१) दुर्हणायतः=बुरी तरह से घातपात करनेवाले मर्तस्य=मनुष्य के स्थिरम्=स्थिर शक्ति को अवतनुहि स्म=निश्चय से तितर-बितर कर दीजिये। तम्=उस शत्रु को ईम्=निश्चय से अधस्पदं कृधि=पादाक्रान्त करिये यः=जो अस्मान्=हमें आदिदेशति=(जिघांसति) नष्ट करना चाहता है, हमें लक्ष्य करके घातक अस्त्रों का अतिसर्जन करता है। (२) इस प्रकार प्रभु आस्तिक व्यक्तियों का रक्षण करते हैं, और इन घातपात की वृत्तिवालों का विनाश करते हैं। यह देवी

जनित्री-व्यवहार साधिका जन्मदात्री प्रकृति प्रभु की महिमा को अजीजनत्-प्रकट करती हैं। भद्रा-यह कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाली जनित्री-उत्पादक प्रकृति अजीजनत्-एक-एक पदार्थ में प्रभु की महिमा को व्यक्त कर रही है। 'सम्पूर्ण संसार में किस प्रकार अत्याचार करनेवाला स्वयं उन अत्याचारों का शिकार हो जाता है' यह देखकर उस प्रभु की महिमा विचित्र ही प्रतीत होती है।

भावार्थ—अत्याचारियों का विनाश प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रक्षक प्रभु

अव॒ त्या बृ॑ह॒तीरिषो॑ वि॒श्वश्च॑न्द्रा अमित्रहन्।
शची॑भिः शक्र धूनु॒हीन्द्र॒ विश्वा॑भिरू॒तिभि॑र्दे॒वी
जनि॒त्र्य॑जीजनद्भ॒द्रा जनि॒त्र्य॑जीजनत्॥ ३॥

(१) हे **अमित्रहन्**-गत मन्त्र के अनुसार अमित्रों के विनाशक, **शक्र**-सर्वशक्तिमन् **इन्द्र**-शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **त्याः**-उन **बृहतीः**-हमारी बुद्धि की कारणभूत **विश्वश्चन्द्राः**-सब तरह से आह्लाद को प्राप्त करानेवाली **इषः**-प्रेरणाओं को **शचीभिः**-प्रज्ञानों व शक्तियों के साथ **अवधूनुहि**-हमारी ओर प्राप्त कराइये। हम प्रभु की प्रेरणाओं को प्राप्त करके तदनुसार चलेंगे तो ये प्रेरणाएँ हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करनेवाली होंगी, हमें शक्तिशाली व आह्लादयुक्त बनाएँगी। (२) **विश्वाभिः ऊतिभिः**-व्यापक रक्षणों के द्वारा यह **देवी जनित्री**-व्यवहार-साधिका प्रकृति माता **अजीजनत्**-उस प्रभु की महिमा को व्यक्त करती है। सूर्यादि देवों के द्वारा, विविध फल-पुष्पों के द्वारा प्रभु ने अद्भुत प्रकार से रक्षण की व्यवस्था की है। उन सब व्यवस्थाओं को देखनेवाला यही कहता है कि **भद्रा**-यह कल्याण व सुख को करनेवाली **जनित्री**-उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**-एक-एक रचना में प्रभु की महिमा को प्रकट करती है।

भावार्थ—प्रेरणाओं शक्तियों व रक्षण व्यवस्थाओं से सर्वत्र प्रभु की महिमा व्यक्त है।

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दाता प्रभु

अव॒ यत्त्वं श॑तक्रत॒विन्द्र॒ विश्वा॑नि धूनु॒षे।
र॒यिं न सु॑न्व॒ते सचा॑ सह॒स्रिणी॑भिरू॒तिभि॑र्दे॒वी
जनि॒त्र्य॑जीजनद्भ॒द्रा जनि॒त्र्य॑जीजनत्॥ ४॥

(१) हे **शतक्रतो**-अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **इन्द्र**-शत्रु विद्रावक प्रभो! **यत्**-जब **त्वम्**-आप **विश्वानि**-हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर आ जानेवाली इन (दुरितानि) बुराइयों को **अवधूनुषे**-कम्पित करके दूर करते हैं। **नः च**-और **सुन्वते**-यज्ञशील पुरुष के लिए **सहस्रिणीभिः ऊतिभिः**-हजारों रक्षणों के **सचा**-साथ **रयिम्**-धन को प्राप्त कराते हैं। (२) तो उन सब बुराइयों को दूर करने के कार्यों में रक्षण व्यवस्थाओं में, धनों के दान में यह **देवी**-व्यवहार-साधिका **जनित्री**-उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**-आपकी महिमा को प्रकट करती है। **भद्रा**-यह कल्याण करनेवाली **जनित्री**-उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**-आपकी महिमा को व्यक्त करती है।

भावार्थ—प्रभु शत्रु-विद्रावक हैं, रक्षक हैं, सब धनों के दाता हैं।

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सुमति से दर्शनीय प्रभु

अव॒ स्वेदा॑इवा॒भितो॒ विष्व॑क्पतन्तु दि॒द्यवः॑।
दूर्वा॑याइव॒ तन्त॑वो॒ व्य१॒॑स्मदे॑तु दु॒र्मति॑र्दे॒वी
जनि॑त्र्यजीजनद्भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत् ॥ ५ ॥

(१) **इव**=जैसे **स्वेदाः**=स्वेदकण **अभितः**=चारों ओर **अव** (पतन्ति)=दूर गिर जाते हैं इसी प्रकार **दिद्यवः**=प्रभु के खण्डन करनेवाले अस्त्र हमारे से **विश्वक्**=चारों ओर (अव) **पतन्तु**=दूर ही गिरें। इन अस्त्रों का हमारे पर प्रहार न हो, अर्थात् हम दण्डभागी न बनें। (२) इस दण्ड के भागी न बनने के लिए ही **दूर्वायाः तन्तवः इव**=दूर्वा के तन्तुओं की तरह **अस्मत्**=हमारे से **दुर्मतिः**=दुष्ट बुद्धि **वि एतु**=दूर हो। दुष्ट बुद्धि के न होने पर आचरण भी पवित्र होगा। पवित्राचरण के होने पर हम दण्डभागी न होंगे। (३) इस पवित्राचरण के होने पर **देवी**=सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली यह **जनित्री**=लोक-लोकान्तरों को जन्म देनेवाली प्रकृति **अजीजनत्**=प्रभु की महिमा को प्रकट करती है। **भद्रा**=यह कल्याण करनेवाली **जनित्री**=उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**=प्रभु का प्रादुर्भाव करती है। उत्तम बुद्धिवाले, प्रकृति के भोगों में न फँसे पुरुष को इन सब प्राकृतिक रचनाओं में प्रभु की रचना चातुरी का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु के अस्त्र हमारे से इस तरह दूर हों जैसे स्वेद बिन्दु। दुर्मति इस प्रकार दूर हो जैसे घास का तन्तु। इस प्रकार पवित्राचरण होने पर हमें सर्वत्र प्रभु महिमा का दर्शन होगा।

ऋषिः—मान्धाता यौवनाश्वः, गोधा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—महापङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

संयम के अनुपात में शक्ति

दी॒र्घं ह्य॑ङ्कु॒शं य॑था॒ शक्ति॒ं बिभ॑र्षि मन्तुमः।
पूर्वे॑ण मघवन्प॒दाजो व॒यां यथा॑ य॒मो दे॒वी
जनि॑त्र्यजीजनद्भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत् ॥ ६ ॥

(१) हे **मन्तुमः**=विचारशील पुरुष! तू **यथा**=जैसे **हि**=ही **दीर्घं अङ्कुशम्**=दीर्घ अंकुश होता है, उसी अनुपात में शक्ति **बिभर्षि**=शक्ति को धारण करता है। अंकुश हाथी का नियामक है। सो अंकुश शब्द यहाँ नियमन के भाव का सूचक है। जितना नियमन, उतना शक्ति का धारण। इन्द्रियों को वश में करके ही तो शक्ति का रक्षण होता है। (२) हे **मघवन्**=पाप से ऊपर उठने के कारण (मा-अघ) ऐश्वर्यवान्! **यथा**=जैसे **पूर्वेण पदा**=अगले पाँव से **अजः**=बकरा **वयाम्**=शाखा को पकड़ता है तू भी **पूर्वेण पदा**=प्रथम कदम के हेतु से, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य के हेतु से ही **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला **वयाम्**=संसारवृक्ष की शाखा को ग्रहण करता है। जीव ने तीन कदम रखने होते हैं। प्रथम कदम में वह पृथिवी लोक (=शक्ति) को मापता है, दूसरे में अन्तरिक्ष (=हृदय) को तथा तीसरे में द्युलोक (=मस्तिष्क) को। इन कदमों को रखकर ही यह त्रिविक्रम बनता है। संसारवृक्ष की शाखा के फलों को यह पहले कदम के रखने के हेतु से ग्रहण करता है, अर्थात् स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से ही खाता है। इस प्रकार तू **यमः**=अपना नियन्ता बनता है, अपनी इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि का नियमन करता है। इस नियमन करनेवाले तेरे लिए

देवी जनित्री-यह व्यवहार साधिका उत्पादिका प्रकृति अजीजनत्-प्रभु की महिमा को प्रकट करती है। भद्रा-यह कल्याण करनेवाली जनित्री-उत्पादिका प्रकृति अजीजनत्-प्रभु की महिमा का प्रार्दुभाव करती है।

भावार्थ—संयम के अनुपात में हमें शक्ति प्राप्त होती है। संसार का हम उतना ग्रहण करें जितना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हो। इस प्रकार यम-नियन्ता बनने पर हमें सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखेगी।

ऋषिः—गोधा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे ॥७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार यम=नियन्ता बनकर देवाः-हे देवो! हम नकिः मिनीमसि-नाममात्र भी कर्तव्य को हिंसित नहीं करते हैं। नकिः-ना ही आयोपयामसि-(obliterate, blot out) प्रमादवश किसी कर्त्तव्य को विस्मृत करते हैं। मन्त्रश्रुत्यम्-मन्त्रों में सुने गये अपने कर्त्तव्यों का चरामसि-पालन करते हैं। (२) पक्षेभिः-ज्ञानों के परिग्रहों से, अधिक से अधिक ज्ञान के ग्रहण के द्वारा अपिकक्षेभिः-कटिबद्धताओं के द्वारा, कर्त्तव्यों को करने के लिए कमर को कसने के द्वारा अत्र-यहाँ जीवन में अभिसंरभामहे-हम अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों के दृष्टिकोणों से (अभि) कार्यों का प्रारम्भ करते हैं। ज्ञान व दृढ़ निश्चय से किये गये कार्य अवश्य सफल होते ही हैं।

भावार्थ—अपना नियमन करते हुए हम कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। श्रुति के प्रतिकूल हमारा आचरण नहीं होता। ज्ञान व दृढ़निश्चय के साथ हम ऐहिक व आमुष्मिक धर्म का पालन करते हैं।

सूक्त की संक्षेप में भावना यह है कि यदि हम अपने आचरण को अच्छा बनायेंगे तो प्रकृति का एक-एक पिण्ड हमारे लिए उस प्रभु की महिमा को व्यक्त करेगा। सो हमें यम, यम ही क्या 'यामायन' (यमस्य अपत्यम्) बनना चाहिए। यह यामायन 'कुमार' होता है। सब बुराइयों को मारनेवाला बनता है। यह 'यामायन कुमार' ही अगले सूक्त का ऋषि है। इस यम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

[१३५] पञ्चत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इस सुपलाश वृक्ष पर

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥ १ ॥

(१) यह संसार एक वृक्ष है, इसका एक-एक पत्ता चमकता है, यह हमें अपनी ओर आकृष्ट करता है। हमें इस संसारवृक्ष में उलझना नहीं। इसके फलों के खाने में ही स्वाद नहीं लेने लग जाना। यस्मिन्-जिस सुपलाशे-उत्तम पत्तोंवाले वृक्षे-इस संसार वृक्ष में यमः-अपने जीवन को नियम में चलानेवाला व्यक्ति देवैः-दिव्यगुणों की प्राप्ति के हेतु से सम्पिबते-सोम का पान करता है, वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रखता है। वस्तुतः सोम का शरीर में सुरक्षित रखना ही शरीर को ठीक बना के रखने का साधन है। सोम के रक्षण के होने पर शरीर बड़ी उमरवाला होता हुआ

भी (पुरा अपि नवः=पुराणः) नवीन-सा बना रहता है। यह व्यक्ति 'सनत् कुमार' बना रहता है। (२) अत्रा=ऐसा होने पर नः=हमारा **विश्पतिः**=प्रजाओं का स्वामी पिता रक्षक प्रभु **पुराणान्**='पुरापि नवीन्' इन बड़ी उमर के भी नवीन, अजीर्ण-शीर्ण शरीरवालों को **अनुवेनति**=चाहते हैं। ये व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं। यह स्वाभाविक बात है, हमने प्रभु के दिये हुए शरीर को बड़ा ठीक रख करके प्रभु का वास्तविक पूजन किया है। सो हम प्रभु के प्रिय क्यों न होंगे?

भावार्थ—भोगमार्ग पर न जाकर यदि हम सोम का रक्षण करें तो शरीर जीर्ण नहीं होता और हम प्रभु के प्रिय होंगे।

ऋषिः—कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

विषय-दोष-दर्शन

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥ २ ॥

(१) 'पुराण' शब्द का अर्थ गत मन्त्र में हो चुका है। **पुराणान्**=इन बड़ी उमर में भी अजीर्णशीर्ण शरीरवालों को **अनुवेनन्तम्**=चाहते हुए उस प्रभु को **अभ्यचाकशम्**=मैंने देखा है। परन्तु कब? **अमुया पापया**=उस पापवृत्ति से **चरन्तम्**=चलते हुए को अथवा विषयों को चरते हुए को **असूयन्**=दोषदृष्टि से देखते हुए मैंने प्रभु को देखा है। जब मैं विषयों के चरने को दोष समझने लगा तब मैंने उस प्रभु को देखा। संसार में दो ही मार्ग हैं, एक प्रकृति की ओर जाने का, दूसरा प्रभु की ओर लौटने का। सामान्यतः मनुष्य प्रथम मार्ग से ही जाता है। उस मार्ग के दोषों को देखने पर, उससे विरक्त होकर यह प्रभु की ओर लौटता है। (२) विषयों के दोषों को देखने पर **तस्मा**=उस प्रभु के लिए **पुनः अस्पृहयम्**=मैंने कामना की है। इस कामना के होने पर ही हमारा जीवन का मार्ग परिष्कृत होता है और विषयासक्त न होकर प्रभु की ओर बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—विषय-दोष-दर्शन हमें प्रभु की ओर चलने की प्रेरणा देता है।

ऋषिः—कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

एकाग्रवृत्ति से रथ पर आरूढ़ होना

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥ ३ ॥

(१) हे **कुमार**=कुत्सितता का विनाश करनेवाले! **यम्**=जिस **नवम्**=इन्द्रियरूपी नौ द्वारोंवाले, स्तुत्य (नु स्तुतौ) व गतिशील (नव गतौ) **रथम्**=शरीररूप रथ को, **अचक्रम्**=जिसमें अन्य रथों की तरह चक्र नहीं लगे हुए, अथवा 'अष्ट चक्रा'=अचक्रा, जैसे 'याचामि'=यामि। यह अष्टचक्रोंवाला है (अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या) **मनसा**=मन के साथ **अकृणोः**=करता है, अर्थात् जब तू बुद्धि को इस रथ का सारथि बनाता है। (२) तो उस समय इस **एक ईषम्**=एक प्राणरूप ईषावाले, अग्रदण्डवाले **विश्वतः प्राञ्चम्**=सब ओर आगे बढ़नेवाले इस रथ पर तू **अपश्यन्**=इधर-उधर न देखता हुआ, इधर-उधर के सौन्दर्य से आकृष्ट न होता हुआ **अधितिष्ठसि**=अधिष्ठित होता है। इधर-उधर ध्यान गया तो रथ का दुर्घटनाग्रस्त हो जाना सम्भावित ही है। यह शरीर-रथ तो हमें लक्ष्य-स्थान पर तभी पहुँचायेगा जब कि हम विषयाकृष्ट न होते हुए एकाग्रवृत्ति से इस पर आरूढ़ होंगे।

भावार्थ—यह शरीर-रथ अद्भुत रथ है। यह 'नव, अचक्र, एकेष व विश्वतः प्राङ्' है। इसका

अधिष्ठाता तो वही बनता है जो इधर-उधर न झाँकता रहे।

ऋषिः—कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

नाव में आहित रथ

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं समानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम् ॥ ४ ॥

(१) हे कुमार=क्रीडक की मनोवृत्ति से चलनेवाले पुरुष! यं रथम्=जिस शरीर-रथ को विप्रेभ्यः समित=विशेषरूप से तेरा पूरण करनेवाले (वि-प्रा) माता, पिता व आचार्य आदि से संगत हुए-हुए तूने परि=चारों ओर प्रावर्तयः=तूने गतिमय किया है। माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति ही अपनी कमियों को दूर करके शरीर-रथ को अच्छी प्रकार मार्ग पर ले चलता है। (२) तम्=उस नावि आहितम्=प्रभु रूप नाव में स्थापित किये हुए रथ को साम अनु प्रावर्तत=शान्ति अनुकूलता से प्राप्त होती है। यह रथ प्रभु रूप नाव में आहित होने के कारण इस भवसागर में डूब नहीं जाता। प्रभु नाव बनती है जो इसे विषय जल में डूबने नहीं देती। भाव यह है कि हमारे रथ के संचालक प्रभु हों। इसकी बागडोर प्रभु के हाथ में हो।

भावार्थ—इस शरीर-रथ के संचालन की शिक्षा माता, पिता व आचार्य से प्राप्त होती है। भवसागर से पार करने के लिए इसे प्रभु रूप नाव का सहारा होता है। इस सहारे से ही जीवन की गाड़ी शान्ति से चलती है।

ऋषिः—कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कुमार का रथ से मोक्षण

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्। कः स्वित्तद्द्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत् ॥ ५ ॥

(१) कः=वे अनिर्वचनीय, आनन्दमय प्रभु ही कुमारम्=वासनाओं को पूर्णरूप से नष्ट करनेवाले पुरुष को अजनयत्=उत्पन्न करते हैं। प्रभु कृपा से ही हम कुमार बन पाते हैं। कः=वे आनन्दमय प्रभु ही रथम्=इस शरीर-रथ को निरवर्तयत्=बनाते हैं। रथ का निर्माण करनेवाले प्रभु ही हैं। (२) कः=वे आनन्दमय प्रभु ही स्वित्=निश्चय से नः=हमारे लिए अद्य=आज तत्=उस उपाय को ब्रूयात्=बतलाते हैं, यथा=जिससे कि अनुदेयी=इस रथ का पुनः वापिस करना (restoration) आवत्=हुआ करता है। अर्थात् प्रभु हमें उस उत्कृष्ट ज्ञान को देते हैं, जिसके अनुसार चलने पर हमें इस शरीर-रथ की पुनः आवश्यकता नहीं रह जाती। इससे हमारा मोक्ष हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें 'कुमार' बनाते हैं। हमें शरीर-रथ देते हैं। इस शरीर-रथ के पुनः वापिस करने का उपाय भी बतलाते हैं।

ऋषिः—कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मूल कर्त्तव्यों का पालन व मोक्ष (निरयण)

यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत। पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम् ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र में 'अनुदेयी कैसे होगी' यह प्रश्न था। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यथा=जिस प्रकार अनुदेयी=इस रथ का (restoration) पुनः प्रत्यर्पण अभवत्=होता है ततः=उसके दृष्टिकोण से यह वेदज्ञान अग्रं अजायत=सृष्टि के प्रारम्भ में ही आविर्भूत होगा।

प्रभु ने वेदज्ञान पहले ही दे दिया। (२) इस वेदज्ञान का सार यह है कि **पुरस्तात्**=पहले **बुध्नः**=मूल **आततः**=विस्तृत होता है, अर्थात् जीव अपने मौलिक कर्त्तव्यों का (fist and foremost duties) पालन करता है, **पश्चात्**=इन कर्त्तव्यों का पालन करने के बाद **निरयणम्**=संसार से ऊपर उठकर (निः) प्रभु की प्राप्ति (अयनं) होती है। मनुष्य शरीर को स्वस्थ रखे, मन को निर्मल व बुद्धि को दीप्त करे। ये ही उसके मूल कर्त्तव्य हैं। इनका पालन करने पर पुनः शरीर लेने की आवश्यकता नहीं रहती। यही 'निरयण' है।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में जो हमारे मौलिक कर्त्तव्य प्रतिपादित किये हैं, उनका पालन हमारे मोक्ष का कारण होता है।

ऋषिः—कुमारो यामायनः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

देवमानम्

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते। इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥ ७ ॥

(१) **इदम्**=यह शरीर वस्तुतः **यमस्य**=संयमी पुरुष का **सादनम्**=बैठने का स्थान है। प्रभु ने संयमी को ही निवास-स्थान के रूप में प्राप्त कराया है। इसमें रहकर हमें संयम से ही चलना चाहिए। इसे भोग-विलास का साधन न बना देना चाहिए। यह वह 'सादन' है **यत्**=जो **'देवमानं'**=देवमान इस नाम से **उच्यते**=कहा जाता है। यह देवताओं के निर्माण का स्थान है। **'सर्वा ह्यस्मिन् देवताः गावो गोष्ठ इवासते'** सब देव तो इसमें रहते हैं। इन देवों के निवास के लिए ही इसका निर्माण हुआ है। (२) संयमी पुरुषों के द्वारा **अस्य**=इस देवमान नामक शरीर-गृह की **इयं नाडीः**=यह नाड़ी **धम्यते**=प्राणाग्नि के सम्पर्कवाली की जाती है। अर्थात् इस शरीर में रहकर अभ्यासी लोग प्राणसाधना करते हुए उस-उस नाड़ी में प्राणों के निरोध के लिए यत्नशील होते हैं। इस प्रकार उस-उस नाड़ी को प्राणाग्नि के सम्पर्कवाला करते हैं। प्राणाग्नि के सम्पर्क से उसका पूर्ण शोधन हो जाता है। (३) **अयम्**=यह 'देवमान' नामक गृह में रहनेवाला व्यक्ति **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से व स्तुति-वचनों से **परिष्कृतः**=परिष्कृत व सुन्दर जीवनवाला बनता है। ज्ञान व ध्यान उसके जीवन को चमका देते हैं।

भावार्थ—इस शरीर में हमें संयमपूर्वक निवास करना है। इसे दिव्यगुणों की उत्पत्ति का स्थान बनाना है। इसकी नाड़ियों को प्राणाग्नि के द्वारा संतप्त करके शुद्ध करना है। ज्ञान व ध्यान से जीवन को परिष्कृत करना है।

यह सूक्त इस बात पर बल देता है कि हम शरीर को 'पुरा अपि नवः' सदा नवीन बनाए रखें। इसको एक रथ के रूप में देखें जिसकी बागडोर प्रभु के हाथ में है। इसे हम प्रभु को ठीक रूप में वापिस करनेवाले हों। और अन्त में इस शरीर को 'देवमान' समझकर चलें। इसे देवमान बनाने के लिए इसकी नाड़ियों को प्राणाग्नि से संयोग करें, अर्थात् प्राणायाम के अभ्यासी हों, अगले सूक्त के ऋषि ये प्राणायाम की अभ्यासी 'वातरशनाः मुनयः' हैं, वात को, प्राण को ही अपनी मेखला बनानेवाले, मौनवृत्ति से चलनेवाले। ये बोलते कम हैं, क्रियामय जीवन को बिताते हैं। क्रियाशील होने से 'जूति', वायु की तरह निरन्तर क्रियाशील होने से 'वातजूति', ज्ञानपूर्वक क्रिया करने के कारण 'वि प्रजूति' तथा (वृष-अन) सुखवर्षक जीवनवाला बनने से यह 'वृषाणक' कहलाता है। निरन्तर क्रियाशीलता के कारण ही 'करिक्रतः' है। क्रियाशीलता के कारण ही यह 'एतश' चमकता हुआ होता है (shining)। यह बुराइयों का संहार करने के कारण 'ऋष्यशृङ्ग' कहलाता है (ऋष् to kill), इसका ज्ञान इसकी बुराइयों का विध्वंस करता है। 'यह अपने जीवन में क्या करता है'?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

[१३६] षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—मुनयो वातरशनाः । जूतिः ॥ देवता—केशिनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

केशी का जीवन

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी । केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ १ ॥

(१) **केशी**=(काशनाद्वा, प्रकाशनाद्वा) ज्ञान के प्रकाशवाला यह व्यक्ति **अग्निं बिभर्ति**=शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि को (=जाठराग्नि को) धारण करता है। जाठराग्नि को अतिभोजनादि से मन्द नहीं होने देता। इस अग्नि के ठीक रहने से यह कभी रोगाक्रान्त नहीं होता। (२) **केशी**=यह ज्ञान के प्रकाशवाला व्यक्ति **विषम्**=(जल=रेत:कण) रेत:कणों को शरीर में धारण करता है। प्राणायामादि के द्वारा इनका शरीर में ही व्यापन करता है (विष् व्याप्तौ)। वस्तुतः शरीर में व्याप्त करने के लिए ही प्रभु ने इन्हें उत्पन्न किया है। इनके शरीर में व्यापन से शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है। (३) यह **केशी**=ज्ञान के प्रकाशवाला व्यक्ति **रोदसी बिभर्ति**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को धारण करता है। जाठराग्नि के ठीक रहने से रेत:कणों का निर्माण ठीक रूप होता है। इन रेत:कणों के रक्षण से शरीर नीरोग व मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल बनता है। **केशी**=यह ज्ञानरश्मियोंवाला व्यक्ति **विश्वं स्वः**=सब प्रकाश व ज्ञान को प्राप्त करता है जिससे **दृशे**=तत्त्व का दर्शन कर सके। सब पदार्थों के तत्त्वदर्शन के लिए ज्ञान आवश्यक है। इस तत्त्वदर्शन से ही चीजों का ठीक प्रयोग करता हुआ इनमें आसक्त नहीं होता और जीवन-यात्रा को पूर्ण कर पाता है। **केशी**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व्यक्ति '**इदं ज्योतिः**' यह प्रकाश ही **उच्यते**=कहा जाता है। अर्थात् यह प्रकाश का पुञ्ज व प्रकाश ही हो जाता है। इसके जीवन का मुख्य गुण यह प्रकाश ही होता है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति जाठराग्नि को ठीक रखता है, उत्पन्न हुए-हुए वीर्य का शरीर में ही व्यापन करता है, रेत:रक्षण के द्वारा शरीर को नीरोग व मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाता है। सब विज्ञान को प्राप्त करके वस्तु तत्त्व का दर्शन करता है। उनका ठीक प्रयोग करता हुआ प्रकाशमय जीवनवाला हो जाता है।

ऋषिः—मुनयो वातरशनाः । वातजूतिः ॥ देवता—केशिनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु में प्रवेश

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला । वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के **मुनयः**=मौन रहते हुए मननशील होते हैं, **वातरशनाः**=वायुरूप मेखलावाले होते हैं, अर्थात् (वात=प्राण) प्राणायाम के अभ्यासी बनते हैं। **पिशंगाः**=(पिश=free from sin) पापशून्यता की अवस्था की ओर जानेवाले होते हैं। प्राणायाम से दोषों को जलाकर निर्दोष व तेजस्वी बनते हैं (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्)। ये मुनि **मला**=मलिन कर्मों का **वसते**=अपवरण करते हैं (वस्=छादने=अपवारणे)। मलिन कर्मों को अपने से दूर करके शुद्ध जीवनवाले बनते हैं। (२) **वातस्य**=प्राणों के **ध्राजिम्**=वेग व गति के **अनु**=अनुसार **यन्ति**=ये प्रभु के मार्ग पर जाते हैं। जितना-जितना प्राणसाधना में आगे बढ़ते हैं, उतना-उतना प्रभु की समीप होते जाते हैं। **यद्**=जब इस प्राणसाधना के द्वारा अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करके ये **देवासः**=देव बन जाते हैं तब **अविक्षत**=ये उस प्रभु में प्रवेश करते हैं 'ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च'। मनन से प्रभु का ज्ञान हुआ, प्राणसाधना से दर्शन हुआ और देव बनने पर प्रवेश का प्रसंग आया।

भावार्थ—हम मौनपूर्वक मनन में प्रवृत्त हों, प्राणसाधना करें, निर्मलता को प्राप्त करके देववृत्तिवाले बनकर, प्रभु में प्रवेश करें।

ऋषिः—मुनयो वातरशनाः। विप्रजूतिः॥ देवता—केशिनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्राणाधिष्ठानता

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्। शरीरेदुस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥ ३॥

(१) 'मुनेर्भावः मौनेयम्' **मौनेयेन**=मौन साधना व मनन के द्वारा **उन्मदिताः**=उत्कृष्ट हर्ष को प्राप्त हुए-हुए **वयम्**=हम **वातान्**=प्राणों के **आतस्थिम**=अधिष्ठाता बनते हैं। प्राणसाधना के द्वारा प्राणों को वश में करना ही प्राणों का अधिष्ठाता बनना है। प्राणों के अधिष्ठाता बनकर ये व्यक्ति निर्दोष बनते हुए देव बनकर प्रभु में प्रवेश करनेवाले होते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **मर्तासः**=सामान्य मनुष्यो! तुम तो **अस्माकम्**=हमारे **शरीरा इत्**=इन शरीरों को ही **अभिपश्यथ**=देखते हो। तुम इन शरीरों से ऊपर नहीं उठ पाते। अन्नमयकोश तक ही तुम्हारी दौड़ रहती है, तुम प्राणमय में नहीं आ पाते। बस, अन्नमय से ऊपर उठेंगे तभी देववृत्ति का प्रारम्भ होगा। असुर लोग अन्नमय में ही रमे रह जाते हैं। वे इन शरीरों का ही पोषण करते-करते समाप्त हो जाते हैं। देव लोग शरीर को स्वस्थ रखते हुए आगे बढ़ते हैं, वे प्राणमयकोश को उत्तम बनाने का ध्यान करते हैं। इस प्राणसाधना से उनका मन निष्पाप बनता है, बुद्धि तीव्र होती है और वे प्रभु में प्रवेश करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम मर्त न बने रहकर देव बनें। प्राणों के अधिष्ठाता बनकर आगे बढ़ें।

ऋषिः—मुनयो वातरशनाः। वृषाणकः॥ देवता—केशिनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

मध्यमार्ग से चलना

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्। मुनिर्देवस्यदेवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥ ४॥

(१) गत मन्त्र का प्राणसाधक **अन्तरिक्षेण पतति**=सदा मध्य मार्ग से चलता है। 'युक्ताहार विहार' बनता है। प्राणायाम का लाभ इस युक्तचेष्ट पुरुष को ही होता है। यह **विश्वारूपा अवचाकशत्**=सब पदार्थों को सूक्ष्मता से देखता है, उनके तत्त्व को जानता हुआ उनका ठीक ही प्रयोग करता है। (२) **मुनिः**=यह मौन के साथ मनन करनेवाला होता है। इस चिन्तन का ही परिणाम है कि यह **देवस्य-देवस्य**=प्रत्येक इन्द्रिय के **सौकृत्याय**=उत्तम कृत्य के लिए होता है। इसकी सब इन्द्रियाँ शुभ ही कर्मों को करनेवाली होती हैं। यह सबका **सखा**=मित्र होता है और **हितः**=सबके हित की कामना व करणीवाला होता है। यह कभी दूसरों के अहित के दृष्टिकोण से कार्यों को नहीं करता।

भावार्थ—प्राणसाधक सदा मध्यमार्ग से चलता है। विचारशील होता है, सदा सबका हित करने की वृत्तिवाला होता है।

ऋषिः—मुनयो वातरशनाः। करिक्रतः॥ देवता—केशिनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

वायु-भक्षण

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥ ५॥

(१) यह साधक **वातस्य**=वायु का, प्राणों का **अश्वः**=(अश भोजने) खानेवाला होता है। 'अभक्षः, वायुभक्षः' इस वाक्य में पतञ्जलि ने 'वातस्याश्वः' का भाव व्यक्त कर ही दिया है। 'प्रातःकाल हवा खाने-जाना' यह वाक्य बोलचाल में प्रयुक्त होता ही है। प्राणायाम का अभ्यास

ही 'वातस्य अश्वः' बनना है। इस अभ्यास से यह वायोः सखा-उस गति के द्वारा सब बुराइयों के गन्ध (हिंसन) को करनेवाले प्रभु का मित्र होता है। प्राणसाधना इसके हृदय को निर्मल करती है, उस निर्मल हृदय में यह प्रभु का दर्शन करता है। (२) अथ-अब, इस प्रभु-दर्शन के होने पर यह देवेषितः-उस देव से प्रेरित होता है, प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। मुनिः-विचारशील बनता है। इस प्रभु की प्रेरणा को सुनकर और विचारशील बनकर यह उभौ समुद्रौ-दोनों समुद्रों में आक्षेति-निवास करता है यः च पूर्वः-जो पहला समुद्र है उत-और अपरः-जो पिछला समुद्र है। 'स सद्य एति पूर्वस्यादुत्तरं समुद्रम्' इस मन्त्र भाग के अनुसार यहां दो समुद्रों का अभिप्राय 'ब्रह्मचर्य और गृहस्थ' से है। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद यह गृहस्थ में प्रवेश करता है। गृहस्थ में भी संयम से चलता हुआ यह ब्रह्मचारी ही होता है। इस प्रकार यह गृहस्थ को ब्रह्मचर्य से मिला देता है। यहाँ दोनों समुद्रों का भाव 'ज्ञान-विज्ञान' भी लिया जा सकता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम प्रभु के मित्र बनें। प्रभु प्रेरणा को सुनते हुए जीवन को ठीक प्रकार से बिताएँ।

ऋषिः—मुनयो वातरशनाः। एतशः॥ देवता—केशिनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

चरणे चरन्

अ॒प्स॒रसां॑ गन्ध॒र्वाणां॑ मृ॒गाणां॒ चर॑णे॒ चर॑न्। के॒शी केत॑स्य वि॒द्वान्त्सखा॑ स्वा॒दुर्म॒दिन्त॑मः॥ ६॥

(१) गत मन्त्र का साधक अप्सरसाम्-(अप्-कर्म) कर्मों में विचरनेवाले यज्ञशील पुरुषों के, गन्धर्वाणाम्-ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुषों के तथा मृगाणाम्-(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाले उपासकों के चरणे चरन्-मार्ग पर चलता हुआ केशी-यह प्रकाशमय जीवनवाला पुरुष केतस्य विद्वान्-प्रभु के संकेत को समझता है। इस संकेत के अनुसार ही यह अपने जीवन को बनाता है। इस प्रकार जीवन को बनाता हुआ यह सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है, ज्ञान की वाणियों का धारण करता है और सदा उपासना में स्थित होकर आत्मालोचन करता है। (२) इस आत्मालोचन से अपने दोषों को देखकर यह उन्हें दूर करता है और अपने पवित्र हृदय में प्रभु का साक्षात्कार करता हुआ सखा-प्रभु का मित्र बनता है। यह प्रभु मित्रता प्राणिमात्र के प्रति स्नेह के रूप में प्रकट होती है। स्वादुः-यह मधुर ही मधुर बनता है, किसी से कड़वा व्यवहार नहीं करता। मदिन्तमः-अत्यन्त आनन्दमय जीवनवाला होता है। कटुता में आनन्द नहीं, मधुरता में ही आनन्द का निवास है।

भावार्थ—हम अपने जीवनमार्ग को यज्ञशील ज्ञानी उपासकों के जीवन से सीखकर निर्धारित करें। प्रभु के संकेतों को समझते हुए सब के मित्र हों। मधुर व आनन्दमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—मुनयो वातरशनाः। ऋष्यशृङ्गः॥ देवता—केशिनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

रुद्र के साथ विषपान

वा॒युर॑स्मा॒ उपा॑मन्थत्पि॒नष्टि॑ स्मा कुनन्न॒मा। के॒शी वि॒षस्य॒ पात्रे॑ण॒ यद्रु॒द्रेणापि॑बत्स॒ह॥ ७॥

(१) अस्मै-इस ठीक मार्ग पर चलनेवाले पुरुष के लिए वायुः-गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला प्रभु उपामन्थत्-समीपता से ज्ञान का मन्थन करनेवाला होता है। अर्थात् हृदयस्थ प्रभु इसे ज्ञान के देनेवाले होते हैं। कुनन्नमा-(कुत्सितं भृशं नमयति) सब बुराइयों को बुरी तरह से पीस डालनेवाली यह वेदवाणी पिनष्टि स्मा-इसकी सब बुराइयों को पीस डालती है। (२) यद्-जब केशी-प्रभु से प्राप्त ज्ञान के प्रकाशवाला व्यक्ति रुद्रेण सह-रुद्र के साथ,

उस प्रभु के साथ **पात्रेण**=शरीर-रक्षण के हेतु से **विषस्य**=जल का, शरीरस्थ रेत:कणों का **अपिबत्**=पान करता है। रुद्र के साथ पान करने का अभिप्राय यह है कि प्रभु-स्मरण से वासना विनष्ट होती है और वासना विनाश इस विष के पान का साधन बन जाता है। यह विष शरीर में व्यापन के योग्य है, इसकी व्याप्ति के होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं आ पाता।

भावार्थ—प्रभु उपासक को वेदज्ञान देते हैं। वेद इसकी वासनाओं को पीस डालता है। वासना विनाश के होने पर प्रभु-स्मरण करता हुआ व्यक्ति शरीर में रेत:कणों का रक्षण कर पाता है।

सम्पूर्ण सूक्त शरीर में रेत:कणों के पान के द्वारा जीवन को पवित्र करते हुए प्रभु प्राप्ति का उल्लेख कर रहा है। अगला सूक्त भी सप्त ऋषियों का है। गत सूक्त में एक-एक मन्त्र का एक-एक ऋषि था। प्रस्तुत सूक्त में सब मन्त्रों के सब ऋषि है। सो 'सप्त ऋषयः एकर्चाः' लिखा गया है। ये सप्त ऋषि हैं, 'भरद्वाज'=शक्ति को अपने में भरना। 'कश्यप'=ज्ञानी बनना, 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होना। 'अत्रि'=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठना। 'विश्वामित्र'=सब के साथ स्नेह से चलना। 'जमदग्नि' जाठराग्नि का ठीक होना। 'वसिष्ठः'=अपने निवास को उत्तम बनाना। ये सब बातें स्वास्थ्य के साथ कार्यकारणरूप से सम्बद्ध हैं। एक वाक्य में कहा जाये तो यही कहेंगे कि 'पूर्ण स्वस्थ बनना'। इसी का उल्लेख इस रूप में प्रारम्भ करते हैं—

[१३७] सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पुनर्जीवन

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

(१) शरीर में सब देवताओं का वास है। सूर्य इसमें चक्षुरूप से तो वायु प्राणों के रूप से तथा अग्नि वाणी के रूप से रह रही है। इसी प्रकार अन्य देव भी भिन्न-भिन्न रूपों में यहाँ रहते हैं। इन बाह्य देवों का अन्तर्देवों से मेल बना रहे तो मनुष्य स्वस्थ होता है, अन्यथा अस्वस्थ। चन्द्रमा मन रूप से रहता है। इनकी अनुकूलता के न रहने पर मन विकृत हो जाता है और उसमें अशुभ वृत्तियाँ पनपने लगती हैं। सो देवों से कहते हैं कि हे **देवाः**=देवो! **उत अवहितम्**=जो रुग्ण होकर नीचे खाट पर पड़ गया है उसे भी **पुनः उन्नयथा**=फिर से उठा दो। (२) और **देवाः**=हे देवो! आप **आगः चक्रुषम् उत**=अपराध को कर चुके हुए इस व्यक्ति को भी **उन्नयथा**=उठाओ। इसकी इन अशुभ वृत्तियों को दूर कर दो, (२) हे **देवाः देवाः**=सब देवो! आप इसे **पुनः**=फिर से **जीवयथा**=जिला दो। व्याधियों ने इसे शारीरिक दृष्टि से तथा आधियों ने मानस दृष्टि से गिरा रखा था, आप कृपा करके इसे आधि-व्याधि से ऊपर उठाकर फिर से नया जीवन प्रदान करनेवाले होवो।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता से हमें पुनर्जीवन प्राप्त हो।

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

बल प्राप्ति व दोष-क्षय

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

(१) शरीर में **इमौ**=ये **द्वौ वातौ**=दो वायुवें, प्राण और अपान **वातः**=चलती हैं, गति करती हैं। एक बाहर से अन्दर की ओर **आसिन्धोः**=हृदय सिन्धु तक, फेफड़ों तक जाती है। प्राणायाम

में इसके द्वारा हम फेफड़ों को खूब भरने का प्रयत्न करते हैं। और दूसरी अन्दर से बाहर फेंकने जानेवाली आ परावतः=खूब दूर देश तक जाती है। जितनी दूर से दूर तक यह फेंकी जा सके, उतना ही अच्छा है। (२) इनमें बाहर से अन्दर आनेवाली अन्यः=एक वायु ते=तेरे लिए दक्षम्=शक्ति व बल को आवातु=सब प्रकार से प्राप्त कराये। वायुमण्डल की अम्लजन अन्दर आती है और स्वास्थ्य व बल को देनेवाली बनती है। अन्यः=दूसरी अन्दर से बाहिर फेंके जानेवाली, यद्=जो भी रपः=शरीर में दोष हो उसे परावातु=दूर कर दे। अन्दर से बाहर आनेवाली या Co^2 कार्बन द्वि ओषजिद् वायु शरीर के दोषों को बाहर कर रही होती है। 'अम्लजन' अन्दर जाती है और 'कार्बन द्वि ओषजिद्' बाहर आती है, इस प्रकार यह प्राणायाम (क) बल देता है और (ख) शरीर के दोषों को दूर करता है।

भावार्थ—हमें प्राणायाम द्वारा यह अन्दर व बाहर जानेवाली वायु बल दे और तथा दोषों को शरीर से दूर करे।

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भेषज प्रापक 'वात'

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः। त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

(१) वात=प्राणायाम के द्वारा अन्दर प्राप्त कराये जानेवाली वायु! तू भेषजं आवाहि=रोगों के औषध को हमें प्राप्त करा। और हे वात=बाहर फेंके जानीवाली वायु! तू यद्रपः=जो भी दोष है, उसे वि वाहि=बाहर ले-जा। (२) हे वायो! त्वम्=तू हि=ही भेषजः=सब रोगों की औषध है। वस्तुतः देवानां दूतः=सब देवों का दूत बनकर हे वायो! तू ईयसे=गति करती है। वायु सब देवों की अधिष्ठान को ठीक बना देती है और अधिष्ठानों के ठीक होने से देवों का वहाँ उपस्थान होता है। इस प्रकार यह वायु देवों का दूत बनती है। वह आती है, सब स्थानों को ठीक कर देती है और सब देव ठीक से अपने-अपने स्थान पर आकर सुशोभित होते हैं। यही पूर्ण स्वास्थ्य है।

भावार्थ—वायु प्राणायाम के द्वारा शरीर में कार्य करती हुई उसे निर्दोष बनाती है।

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वैद्य का प्राक्कथन

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः। दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ४ ॥

(१) वैद्य रोगी के पास आता है और कहता है कि त्वा आगमम्=मैं तेरे समीप आया हूँ। शन्तातिभिः=इन रोग की शान्तिकारक औषधों के साथ अथ्य उ=और निश्चय से अरिष्टतातिभिः=अहिंसा का विस्तार करनेवाली औषधों के साथ। (२) बस, मैं आ गया हूँ और ते=तेरे लिए भद्रम्=कल्याण व सुख के देनेवाले दक्षम्=बल को आभार्षम्=प्राप्त कराता हूँ और ते=तेरे यक्ष्मम्=रोग को परासुवामि=दूर करता हूँ। इस प्रकार वैद्य रोगी को उत्साह की प्रेरणा देकर उत्साहित करता है। उसे स्वस्थ मन का बनाकर नीरोग बनाने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—वैद्य रोगी को इस प्रकार प्रेरणा देता है कि वह उस प्रेरणा से ही उत्साह सम्पन्न होकर रोगभय से ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वैद्य की प्रार्थना

त्रायन्तामिह देवास्त्रायतां मरुतां गणः। त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ ५॥

(१) वैद्य रोगी के लिए यही प्रार्थना करता है कि **इह**-इस स्थिति में **देवाः**-सब अग्नि आदि देव **त्रायन्ताम्**-इसका रक्षण करें। उनकी अनुकूलता से यह स्वास्थ्य लाभ करे। **मरुतां गणः**-प्राणों का गण इसे **त्रायताम्**-रक्षित करे। अर्थात् गहरा श्वास लेता हुआ यह अपने में शक्ति को भरे और अन्दर की वायु को सुदूर फेंकता हुआ यह दोषों को दूर करे। (२) **विश्वा भूतानि**-पृथिवी आदि सब भूत **त्रायन्ताम्**-इसका रक्षण करें। सब पञ्चभूत इसके अनुकूल हों और यह स्वास्थ्य का लाभ करे। **यथा**-जिससे **अयम्**-यह **अरपाः**-दोषरहित शरीरवाला **असत्**-हो।

भावार्थ—सूर्यादि सब देवों व प्राणों तथा पञ्चभूतों की अनुकूलता से शरीर निर्दोष हो।

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सर्वदोष हर 'आपः' (जल)

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ६॥

(१) **आपः**-जल **इद वा उ**-निश्चय से **भेषजीः**-औषध हैं। ये **आपः**-जल **अमीवचातनीः**-रोगों का विनाश करनेवाले हैं। **आपः**-जल **सर्वस्य भेषजीः**-सब रोगों के औषध हैं। **ता**-वे जल **ते**-तेरे लिए **भेषजं कृण्वन्तु**-औषध को करें। (२) जल को उबालने से सोलह ग्राम जल का पन्द्रह ग्राम रह जाए तो इस उबले हुए जल में शक्ति द्विगुणित हो जाती है। चौदह ग्राम रह जाने पर यह शक्ति चौगुणी हो जाती है और तेरह ग्राम रह गया जल नवगुण शक्तिवाला हो जाता है। वस्तुतः वह जल (जल घातने) सब रोगों का घात करनेवाला है।

भावार्थ—जल के अन्दर सब औषध हैं। ये जल मनुष्य को नीरोग बनाते हैं।

सूचना—(क) प्रातःकाल का जलपान, (ख) भोजन में बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा पानी पीना, (ग) पीने के लिए गरम (विशेषतः सर्दी में) स्नान के लिए ठण्डा पानी लेना (सादा), (घ) जब भी पीना धीमे-धीमे पीना। ये बातें बड़ी उपयोगी सिद्ध होंगी।

ऋषिः—सप्त ऋषय एकर्चाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वैद्य का अन्तिम कथन (हस्तस्पर्श व प्रेरणा)

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि॥ ७॥

(१) वैद्य रोगी से अन्त में कहता है कि यह **जिह्वा**-वाणी **वाचः**-उत्साह के शब्दों के द्वारा **पुरोगवी**-आगे ले चलनेवाली होती है। अर्थात् मेरे शब्द तेरे में उत्साह का संचार करें। तुझे इन शब्दों से शीघ्र नीरोग हो जाने का पूर्ण विश्वास हो। (२) और इन **दशशाखाभ्याम्**-दस अंगुली रूप शाखाओंवाले **हस्ताभ्याम्**-हाथों जो कि **अनामयित्नुभ्याम्**-नीरोग करनेवाले हैं, **ताभ्याम्**-उन हाथों से **त्वा**-तुझे **त्वा**-निश्चय से तुझे **उपस्पृशामसि**-हम समीपता से छूते हैं और तेरे इस रोग को दूर करते हैं। इस प्रकार वैद्य उत्साह की वाणी व विशिष्ट स्पर्श से रोगी के रोग को दूर करने का वातावरण उपस्थित करता है।

भावार्थ—वैद्य रोगी में उत्साह का संचार करता हुआ अपने हस्त-स्पर्श से उसके रोग के दूर भगाने का निश्चय करता है।

वायु आदि देवों की अनुकूलता, जल का ठीक प्रयोग, प्राणायाम व योग्य वैद्य की प्रेरणा ये सब बातें हमें नीरोग बनाती हैं और पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। स्वस्थ बनकर हम क्रियाशील होते हैं। अस्वस्थ होने पर पड़े रहने की तबीयत होती है। यह स्वस्थ पुरुष 'अंग:' (अगि गतौ) गतिशील होता है और 'औरव:' (उरो: अपत्यम्:=खूब विशाल हृदयवाला होता है। स्वास्थ्य के साथ उदारता का सम्बन्ध है, अस्वास्थ्य के साथ संकुचित हृदयता का। इन 'अङ्ग औरवों' का चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[१३८] अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—अङ्ग औरव: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—पादनिचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

प्रभु की मित्रता में

तव॒ त्य इ॑न्द्र स॒ख्येषु॒ वह्न॑य ऋ॒तं म॑न्वा॒ना व्य॑दर्दिरुर्व॒लम्।
यत्रा॑ दश॒स्यन्नु॒षसो॑ रि॒णन्न॒पः कुत्सा॑य॒ मन्म॑न्न॒ह्य॑श्च दं॒सय॑: ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्ये**=वे स्वस्थ पुरुष **तव सख्येषु**-तेरी मित्रताओं में **वह्नय:**=कर्त्तव्य कर्मों का वहन करनेवाले होते हैं। आपका स्मरण करते हैं और अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं। (२) ये व्यक्ति **ऋतं मन्वाना:**=ऋत (=सत्यज्ञान) का मनन करते हुए **वलम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली (veil) वासना को, वृत्र को **व्यदर्दिरु:**=विशेषरूप से विदीर्ण कर देते हैं। (२) यह होता तब है **यत्रा**=जब कि (क) आप **उषस:**=दोष दहन की शक्तियों को **दशस्यन्**=देते हैं। (ख) **अप:** **रिणन्**=कर्मों के प्रेरित करते हैं, हमें कर्मशील बनाते हैं। (ग) **च**=और **कुत्साय**=इस दोषहिंसन करनेवाले के लिए **मन्मन्**=ज्ञान व स्तुति के होने पर **अह्य:**=(आहन्ति) इस नाश करनेवाली वासना को **दंसय:**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें दोषदहनशक्ति प्राप्त होती है, हम कर्मशील बनते हैं और वासना को नष्ट कर पाते हैं। परिणामत: प्रभु मित्रता में हम कर्त्तव्यपथ पर निरन्तर आगे बढ़ते चलते हैं।

ऋषि:—अङ्ग औरव: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—निचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

सूर्य की तरह चमकना

अवा॑सृज: प्र॒स्व॑: श्व॒ञ्चयो॑ गि॒रीनुदा॑ज उ॒स्रा अपि॑बो॒ मधु॑ प्रि॒यम्।
अव॑र्धयो व॒निनो॑ अस्य॒ दंस॑सा शुशो॒च सूर्य॑ ऋ॒तजा॑तया गि॒रा ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! आप **प्रस्व:**=उत्पादन शक्तियों को **अवासृज:**=इनके लिए देते हो अथवा उत्पादन शक्तियों के आधारभूत जलों को, रेत:कणों को इन्हें प्राप्त कराते हो। **गिरीन्**=इनके अविद्या पर्वतों का **श्वञ्चय:**=विदारण करते हो इनके अज्ञान को आप नष्ट करते हो। **उस्रा:**=ज्ञान रश्मियों को **उदाज:**=उद्‌गत करते हो। और **प्रियम्**=शरीर को प्रीणित करनेवाले **मधु**=सारभूत इस सोम (=वीर्य) को **अपिब:**=आप पीते हो। शरीर में ही इसे सुरक्षित करते हो। और इस प्रकार **वनिन:**=इन उपासकों को **अवर्धय:**=बढ़ाते हो। उन्नति के लिए आवश्यक बातें ये ही तो हैं कि (क) उत्पादन शक्ति की प्राप्ति हो, हम निर्माण की शक्ति रखते हों। (ख) अविद्या छिन्न-भिन्न हो, (ग) ज्ञानरश्मियों की प्राप्ति हो, (घ) शरीर में वीर्य का रक्षण हो। (२) **अस्य दंससा**=प्रभु के इस कर्म से **सूर्य:**=ज्ञान से सूर्य की तरह चमकनेवाला यह पुरुष **ऋतजातया**=सब सत्य विद्याओं के प्रादुर्भाववाली **गिरा**=वाणी से **शुशोच**=दीप्त होता है सत्य ज्ञान की इस वाणी को प्राप्त करके यह चमक उठता है।

भावार्थ—प्रभु निर्माण की शक्ति देते हैं, अविद्या को दूर करते हैं, ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराते हैं, रेत:कणों का रक्षण करते हैं और इस प्रकार हमारे जीवन को सूर्य की तरह चमका देते हैं।

ऋषि:—अङ्ग औरव: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—विराड्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

द्युलोक के मध्य में 'सूर्य रथ विमोचन'

वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।

दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना ॥ ३ ॥

(१) **सूर्यः**=ज्ञान से सूर्य की तरह चमकनेवाला यह पुरुष **दिवः मध्ये**=प्रकाश के मध्य में **रथम्**=अपने इस शरीर-रथ को **वि अमुचत्**=खोल देता है। अर्थात् ज्ञान में स्थिर हो जाता है। स्वाध्याय के लिए बैठता है तो सब इन्द्रियों की गतियों को इधर-उधर से रोककर पूर्ण एकाग्रता के साथ वहाँ स्थिर होकर अध्ययन में प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार स्वाध्याय में प्रवृत्त **आर्यः**=यह श्रेष्ठ व्यक्ति **दासाय**=अपने नाश करनेवाले वासनारूप शत्रु 'वृत्र' के लिए **प्रतिमानं विदत्**=मुकाबिला करनेवाले योद्धा को प्राप्त करता है ज्ञान की प्रचण्ड रश्मियाँ वृत्र का दहन कर देती हैं। (२) यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पिप्रोः**=अपना ही निरन्तर पूरण करनेवाले, कभी न रजनेवाले (महाशन:) **असुरस्य**=अपने ही मुख में निरन्तर आहुति देनेवाले **मायिनः**=अत्यन्त मायावी, आकर्षक रूपवाले वासनारूप शत्रु के **दृढानि**=दृढ़भी किलों को **व्यास्यत्**=(असु क्षेपणे) सुदूर फेंक देता है, विनष्ट कर देता है। इन आसुरभावों को समाप्त करके यह **ऋजिश्वना चकृवान्**=(ऋजुश्वि) ऋजु मार्ग से गतिवाले के साथ ही अपनी मैत्री करता है, अर्थात् यह स्वयं भी अत्यन्त सरल मार्ग से सदा चलनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम निरन्तर स्वाध्याय से ज्ञान को बढ़ाकर वासना को विनष्ट करें। सदा सरल मार्ग से चलें।

ऋषि:—अङ्ग औरव: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—पादनिचृज्जगती ॥ स्वर:—निषाद: ॥

अदेव निधि-निधन (हिंसन)

अनाधृष्टानि धृषितो व्यास्यन्निधीँरदेवाँ अमृणदयास्यः।

मासेव सूर्यो वसु पुर्यमा ददे गृणानः शत्रूँरशृणाद्विरुक्मता ॥ ४ ॥

(१) **धृषितः**=गत मन्त्र का ज्ञानाग्नि द्वारा शत्रु धर्षण शक्ति से युक्त पुरुष **अनाधृष्टानि**=जिनका धर्षण करना बड़ा कठिन है, उन काम-क्रोधादि शत्रुओं को **व्यास्यत्**=इस ज्ञानाग्नि के द्वारा परे फेंकता है ज्ञान से मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि वह काम-क्रोध आदि का शिकार नहीं होता। (२) यह **अयास्यः**=(चालयितुमशक्य: सा०) मार्ग से विचलित न किया जा सकनेवाला यह व्यक्ति **अदेवान् निधीन्**=आसुरी सम्पत्तियों को **अमृणात्**=हिंसित करता है। सब आसुरभावों को विनष्ट करके दिव्यगुणों का धारण करता है और अपने जीवन में दैवी सम्पत्ति को बढ़ानेवाला होता है। (३) यह अपने जीवन में दैवी सम्पत्ति का वर्धन करनेवाला व्यक्ति **पुर्यं वसु**=शरीररूप नगरी के लिए हितकर सब वसुओं का (धनों का) **आददे**=ग्रहण करता है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **सूर्यः**=सूर्य **मासा**=महीनों का (मासं=a month)। एक-एक दिन करके सूर्य महीनों को मापता चलता है, इसी प्रकार वह उपासक वसुओं को प्राप्त करता है। (४) इस उपासक से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए प्रभु ही **विरुक्मता**=देदीप्यमान ज्ञान से **शत्रून्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अशृणात्**=शीर्ण करते हैं। मैं प्रभु का उपासन करता हूँ, प्रभु मेरे शत्रुओं को नष्ट करते

हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन से ज्ञान का वर्धन करके कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हों।

ऋषिः—अङ्ग औरवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शुन्ध्यु व उषा बनना

अयुद्धसेनो विभ्वा विभिन्दुता दाशद् वृत्रहा तुज्यानि तेजते।

इन्द्रस्य वज्रादबिभेदभिश्नथः प्राक्रामच्छुन्ध्यूरजहादुषा अनः॥५॥

(१) **अयुद्धसेनः**=जिसकी सेना युद्ध नहीं करती, अर्थात् जो स्वयं अकेला ही शत्रुओं पर आक्रमण करता है वह इन्द्र अपने **विभ्वा**=व्यापक **विभिन्दता**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले बल से **वृत्रहा**=वृत्र का विनाश करनेवाला होता हुआ **दाशत्**=हमें उन्नति के लिये सब आवश्यक साधनों को प्राप्त कराता है। यह इन्द्र **तुज्यानि**=हिंसित करने योग्य शत्रुओं को **तेजते**=हिंसित करता है। (२) वस्तुतः **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **अभिश्नथः**=चारों ओर वासनाओं को हिंसित करनेवाले **वज्रात्**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **अबिभेत्**=सब शत्रु भयभीत होते हैं। इस प्रकार क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनाओं का संहार करके **शुन्ध्युः**=जीवन को शुद्ध बनानेवाला वह व्यक्ति यह **प्राक्रामत्**=प्रकृष्ट गतिवाला होता है, उन्नति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। यह **उषाः**=(उष दाहे) दोषों का दहन करनेवाला बनकर **अनः**=(birth) जन्म को **अजहात्**=छोड़ता है, अर्थात् यह जन्म-मरण-चक्र से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—वासनाओं का संहार करके हम शुद्ध जीवनवाले बनकर आगे बढ़ें। दोषों का दहन करके जन्म-मरण-चक्र से ऊपर उठें।

ऋषिः—अङ्ग औरवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य

एता त्या ते श्रुत्यानि केवला यदेक एकमकृणोरयज्ञम्।

मासां विधानमदधा अधि द्यवि त्वया विभिन्नं भरति प्रधिं पिता॥६॥

(१) हे प्रभो! **एता**=ये **त्या**=वे **ते**=आपके **श्रुत्यानि**=अत्यन्त प्रसिद्ध कर्म हैं। **केवला**=ये कर्म आपके ही हैं, दूसरे की शक्ति से होनेवाले ये कर्म नहीं। प्रथम तो यह **यत्**=कि **एकः**=अकेले ही आप **एकम्**=इस अद्वितीय शक्तिशाली **अयज्ञम्**=यज्ञ की भावना से शून्य आसुरभाव को (=वासना को) **अकृणोः**=हिंसित करते हैं। प्रभु कृपा से ही कामवासना नष्ट होती है, वह कामवासना जो कि अत्यन्त प्रबल है तथा यज्ञादि सब उत्तम कर्मों को नष्ट करनेवाली है (महाशनः महापाप्मा)। (२) आप **अधिद्यवि**=हमारे मस्तिष्क रूप द्युलोक में उस ज्ञान सूर्य को **अदधाः**=स्थापित करते हैं जो कि **मासाम्**=ameesheenents का, माप-तोल का **विधानम्**=करनेवाला है। अर्थात् आप उस ज्ञान को देते हैं जिससे कि हम सब कार्यों को माप-तोलकर करनेवाले होते हैं। (३) **त्वया**=आपकी सहायता से **विभिन्नम्**=टूटी हुई **प्रधिम्**=परिधि व मर्यादा को **पिता**=रक्षण की वृत्तिवाला पुरुष **भरति**=फिर से ठीक कर लेता है। प्रभु का उपासक टूटी हुई मर्यादाओं का पुनः दृढ़ता से पालन करने का ध्यान करता है।

भावार्थ—प्रभु के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—(क) प्रबल वासना को दग्ध करना, (ख) ज्ञान को देना जिससे कि हम युक्तचेष्ट बनें, (ग) टूटी हुई मर्यादाओं को फिर से ठीक पालन करने

की शक्ति देना।

इस प्रकार 'वासनाओं को दग्ध करनेवाला, युक्तचेष्ट, मर्यादित जीवनवाला पुरुष' 'विश्वावसु' बनते हैं, सब तरह से उत्कृष्ट जीवनवाला। यह 'देवगन्धर्व' होता है, दिव्यवृत्तिवाला ज्ञानी। इसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[१३९] एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ १ ॥

(१) **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाला, **हरिकेशः**=दुःख के हरण करनेवाली ज्ञानरश्मियोंवाला (हरणात्, केश=ray of light) **सविता**=निर्माण के कार्यों में लगा हुआ, **ज्योतिः**=प्रकाशमय जीवनवाला **अजस्रम्**=निरन्तर **पुरस्तात्**=आगे और आगे **उत् अयात्**=उत्कृष्ट गतिवाला होता है। (२) यह **पूषा**=अपनी शक्तियों का पोषण करनेवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **तस्य प्रसवे**=उस परमात्मा की अनुज्ञा में **याति**=गति करता है। प्रभु के आदेशों के अनुसार क्रियावाला होता है। यह **विश्वा भुवनानि संपश्यन्**=सब प्राणियों को देखता हुआ गति करता है, अर्थात् सबके भले का ध्यान करता हुआ चलता है, केवल अपने ही स्वार्थ को नहीं देखता। **गोपाः**=यह अपनी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाला होता है। जितेन्द्रिय बनकर ही तो यह ठीक मार्ग पर चल पाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान की वृद्धि करते हुए, शक्तियों को स्थिर रखते हुए, लोकहित का ध्यान करते हुए, प्रभु के आदेशों के अनुसार क्रिया में प्रवृत रहें।

ऋषिः—विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अपरा और पराविद्या

नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला यह उपासक **दिवः मध्ये**=ज्ञान के मध्य में **आस्ते**=निवास करता है, अर्थात् सतत स्वाध्याय में लगा हुआ यह ज्ञान प्रधान जीवन बिताता है। यह **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को तथा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **आपप्रिवान्**=पूरित करनेवाला होता है। यह मस्तिष्क को ज्ञान से, शरीर को शक्ति से तथा हृदय को श्रद्धा व भक्ति से भरने का प्रयत्न करता है। (२) **सः**=वह **विश्वाचीः**=(अञ्च्=गति=ज्ञान) विश्व का ज्ञान देनेवाली प्रकृति विद्या को तथा **घृताचीः**=(घृत=ज्ञानदीप्त आत्मा) ज्ञानपुञ्ज देदीप्यमान प्रभु का ज्ञान देनेवाली आत्मविद्या को **अभिचष्टे**=सम्यक्तया देखता है। इस प्रकार यह **पूर्वं केतुम्**=उत्कृष्ट आत्मज्ञान के तथा **अपरं च केतुम्**=अपर प्रकृति ज्ञान के **अन्तरा**=बीच में रहता है। अपराविद्या तथा पराविद्या दोनों का ज्ञान प्राप्त करता है।

भावार्थ—लोकहित की प्रवृत्तिवाला व्यक्ति अपराविद्या के ज्ञान से सांसारिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है और पराविद्या के द्वारा यह उस ऐश्वर्य में न फँसकर उसका लोकहित के लिए ही विनियोग करता है।

ऋषिः—विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धन हमारे हों, नकि हम धनों के

रायो बुध्नः संगमनो वसूनां विश्वा रूपाभि चष्टे शचीभिः।
देवइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्॥ ३॥

(१) गत मन्त्र का 'नृचक्षाः' **रायः बुध्नः**=ऐश्वर्य का आधार बनता है। इसे प्रभु की ओर से सब आवश्यक ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। **वसूनां संगमनः**=यह सब वसुओं के एकत्रित होने का स्थान बनता है। इसे सब वसु प्राप्त होते हैं। यह **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों से **विश्वारूपा**=सब रूपों का, रूपवान् पदार्थों का **अभिचष्टे**=निरीक्षण करता है। उन चीजों के तत्त्व को समझकर उन पदार्थों का ठीक प्रयोग करता है। इस उचित प्रयोग से यह स्वस्थ रहता है और उन चीजों के अन्दर कभी उलझना नहीं। 'तत्त्वज्ञान' ठीक प्रयोग तथा अनासक्ति के भाव को जगाता है। (२) यह व्यक्ति **देव इव**=उस प्रकाशमय प्रभु की तरह ही **सविता**=निर्माण को करनेवाला होता है। **सत्यधर्मा**=यह सत्य को धारण करता है और **इन्द्रः न**=जितेन्द्रिय के समान **धनानां समरे तस्थौ**=धनों के युद्ध में स्थित होता है। istruggle के द्वारा धनों का विजय करता है, परन्तु उन धनों में कभी भी फँसता नहीं। धनों का ही नहीं हो जाता, धनों का गुलाम नहीं बनता।

भावार्थ—तत्त्वदर्शन से हम संसार के पदार्थों में फँसने से बचे रहते हैं। देव की तरह निर्माण करनेवाले व सत्य का धारण करनेवाले होते हैं और इन्द्र की तरह धनों का विजय करते हैं। धन हमारे होते हैं, हम धनों के नहीं हो जाते।

ऋषिः—विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ देवता—विश्वावसुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋत के मार्ग से चलना

विश्वावसुं सोम गन्धर्वमापो ददृशुषीस्तदृतेना व्यायन्।
तदन्ववैदिन्द्रो रारहाण आसां परि सूर्यस्य परिधींरपश्यत्॥ ४॥

(१) **आपः**=प्रजाएँ जब **विश्वावसुम्**=सब वसुओंवाले, सब वसुओं के स्वामी **सोम गन्धर्वम्**=सोम (वीर्य) शक्ति तथा (गां धारयति) वेदवाणी के धारण करनेवाले प्रभु को **ददृशुषीः**=देखनेवाली होती हैं **तद्**=तब **ऋतेन**=ऋत से, सत्य से **व्यायन्**=विविध गतियोंवाली होती है। प्रभु-दर्शन करनेवाली प्रजाएँ अनृत से गति कर ही कैसे सकती हैं? ये प्रजाएँ प्रभु को सब वसुओं (धनों) के स्वामी के रूप में देखती हैं। और ये समझती हैं कि प्रभु ही हमारे में सोम शक्ति व वेदज्ञान को स्थापित करते हैं। एवं प्रभु ही हमें वीर्यवान् (शक्तिशाली) व ज्ञानी बनाते हैं। (२) **आसाम्**=इन प्रजाओं में **तद्**=उस प्रभु को **रारहाणः**=खूब ही त्याग करता हुआ **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अनु अवैत्**=त्याग व जितेन्द्रियता के अनुपात में जान पाता है। प्रभु के ज्ञान के लिये संसार की वस्तुओं का त्याग आवश्यक है, त्याग के लिए जितेन्द्रियता की आवश्यकता है। यह त्यागी जितेन्द्रिय पुरुष **सूर्यस्य परिधीन्**=ज्ञानसूर्य की परिधियों को **पर्यपश्यत्**=देखता है, अर्थात् इसका ज्ञान चरमसीमा तक पहुँच जाता है, अधिक से अधिक ज्ञानवाला यह होता है।

भावार्थ—प्रभु को सब धनों के स्वामी तथा शक्ति व ज्ञान के स्थापक के रूप में देखता हुआ ज्ञानी ऋत के मार्ग से ही चलता है। प्रभु ज्ञान के लिए त्याग व जितेन्द्रियता आवश्यक हैं। यह त्यागी जितेन्द्रिय पुरुष ऊँचा ज्ञानी बनता है।

ऋषिः—विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ देवता—विश्वावसुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्य परन्तु अज्ञेय

विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः।
यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म धियो हिन्वानो धिय इन्नो अव्याः ॥५॥

(१) **विश्वावसुः**=सम्पूर्ण वसुओं के स्वामी प्रभु **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस ज्ञान को **अभिगृणातु**=पर व अपर दोनों रूप में उपदिष्ट करें, हमारे लिये अपरा व परा दोनों विद्याओं का ही ज्ञान दें। प्रभु कृपा से हमें प्रकृति के ज्ञान के साथ आत्मज्ञान भी प्राप्त हो। वे प्रभु जो कि **दिव्यः**=सदा अपने प्रकाशमय स्वरूप में होनेवाले हैं। **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले हैं। **रजसः विमानः**=रजोगुण का विशेषरूप से हमारे में निर्माण करनेवाले हैं, जिस रजोगुण के विशिष्ट निर्माण से हम अकाम भी नहीं होते और कामात्मा भी नहीं बन जाते। (२) **यद् वा घा**=जो प्रभु निश्चय से **सत्यम्**=सत्य हैं, त्रिकालाबाधित सत्तावाले हैं, **उत**=परन्तु **यत् न विद्म**=जिन्हें हम जानते नहीं, जो पूर्णरूप से हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते, वे प्रभु **धियः हिन्वानः**=हमारी बुद्धियों को प्रेरित करते हैं। हे प्रभो! आप **नः धियः**=हमारी बुद्धियों का **इत् अव्याः**=निश्चय से रक्षण करिये। इन बुद्धियों के रक्षित होने पर ही हमारे कर्म भी उत्तम हो सकेंगे।

भावार्थ—वे सत्य व अज्ञेय प्रभु हमें ज्ञान दें। वे प्रभु हमारी बुद्धियों का रक्षण करें।

ऋषिः—विश्वावसुर्देवगन्धर्वः ॥ देवता—विश्वावसुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वह शोधक प्रभु

सस्निमविन्दुच्चरणे नदीनामपावृणोद्दुरो अश्मव्रजानाम्।
प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परि जानादहीनाम् ॥६॥

(१) **नदीनाम्**=(नदिः=स्तोता) स्तोताओं के **चरणे**=चरण में **सस्निम्**=उस शुद्ध करनेवाले प्रभु को **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। स्तोताओं के समीप विनीतता से बैठकर, प्रभु की चर्चा करने पर हम भी प्रभु का कुछ आभास पानेवाले बनते हैं। इस प्रभु की ओर झुकाव के कारण हमारे जीवन शुद्ध होते हैं। वे प्रभु 'सस्नि' हैं, हमारे जीवनों को स्नात कर देते हैं। जैसे स्नान से सब स्वेदमल दूर हो जाता है, इसी प्रकार प्रभु ध्यान में स्नान करने से वासनारूप मल धुल जाते हैं। (२) यह **अश्मव्रजानाम्**=(अश्माभवतु न स्तनूः) पाषाणतुल्य दृढ़ शरीररूप बाड़ेवाली, अर्थात् इधर-उधर न भटककर शरीर में स्थित होनेवाली इन्द्रियों के **दुरः**=द्वारों को **अपावृणोत्**=अपावृत करता है। उनको अपने वश में करता हुआ उन्हें अपने-अपने कार्यों में सुचारुरूपेण प्रवृत्त करता है। कर्मेन्द्रियों के द्वारा इसमें शक्ति का वर्धन होता है, तो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा यह ज्ञान का वर्धन करनेवाला बनता है। (३) यह व्यक्ति **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला बनता हुआ **आसाम्**=इन वेदवाणियों के **अमृतानि**=अमृत वचनों का **प्रवोचत्**=प्रकर्षेण उच्चारण करता है। यह इस उच्चारण को इसलिए करता है कि यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अहीनाम्**=(आहन्ति) इन आक्रमण करनेवाली वासनाओं के **दक्षम्**=बल को **परिजानात्**=अच्छी प्रकार जानता है। इनके प्रबल आक्रमण से बचने के लिए ज्ञान की वाणियों का उच्चारण आवश्यक ही है।

भावार्थ—हमें उपासकों का सम्पर्क प्राप्त हो। इन्द्रियों को अपने वश में करके इनको हम स्वकार्यरत रखें। वेदवाणियों का उच्चारण करें और वासनाओं के आक्रमण से बचें।

सूक्त का मूलभाव यही है कि हम शक्ति व ज्ञान का संचय करते हुए इस संसार में आसक्त

न हों। प्रभु का उपासन करते हुए अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ। यह अपने को पवित्र बनानेवाला ही 'पावकः' है, उन्नतिपथ पर चलने के कारण 'अग्निः' है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप यह है—

[१४०] चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अग्निः पावकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

श्रव-वय-अर्चि (ज्ञान-शक्ति-दीप्ति)

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥ १॥

(१) हे अग्ने-परमात्मन्! विभावसो-ज्ञान प्रकाशरूप धनवाले प्रभो! तव-आपका श्रवः-ज्ञान वयः-(onegy, sltength) शक्ति तथा अर्चयः-दीप्तियाँ महि भ्राजन्ते-खूब ही दीप्त होती हैं। आपकी उपासना करता हुआ मैं ज्ञान शक्ति व दीप्ति को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ। (२) हे बृहद्भानो-महान् दीप्तिवाले कवे-क्रान्तदर्शिन् सर्वज्ञ प्रभो! आप दाशुषे-आत्मार्पण करनेवाले के लिए शवसा-बल के साथ उक्थ्यम्-उत्तम स्तुतिवाले वाजम्-ज्ञानैश्वर्य को दधासि-धारण करते हैं। यहाँ 'शवस्' बल को कहता है, तो 'उक्थ्यं'-स्तुति का संकेत कर रहा है और 'वाज' शब्द ज्ञानैश्वर्य का प्रतिपादक है। प्रभु उपासक को 'बल, स्तुति की प्रवृत्ति व ज्ञान' तीनों ही चीजें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने उपासक को शरीर में शक्ति सम्पन्न मन में स्तुत्य वृत्तिवाला व मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं।

ऋषिः—अग्निः पावकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पावक शुक्र-अनून' (पवित्र दीप्त स्वस्थ)

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे॥ २॥

(१) गत मन्त्र के उपासक के लिए कहते हैं कि तू पावकवर्चाः-पवित्र करनेवाले वर्चस्वाला होता है। तुझे वह वर्चस्-दीप्ति व शक्ति प्राप्त होती है जो कि तेरे मानस को पवित्र कर देती है। शुक्रवर्चाः-तू उस वर्चस्वाला होता है जो कि तेरे मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करनेवाला होता है। इसी प्रकार अनूनवर्चाः-तू उस वर्चस् को प्राप्त करता है, जो कि तेरे शरीर में किसी न्यूनता को नहीं आने देता। ऐसा बना हुआ तू भानुना उदियर्षि-ज्ञान दीप्ति से उद्गत हो उठता है। (२) तू पुत्रः-(पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र करनेवाला तथा वासनाओं से अपने को बचानेवाला होता हुआ मातरा-द्यावापृथिवी को विचरन्-विशेषरूप से प्राप्त करता हुआ उपावसि-समीपता से रक्षित करता है। 'द्यावापृथिवी'-मस्तिषक और शरीर हैं। इनको ठीक बनाने के लिए यह गतिशील होता है और प्रभु की उपासना करता हुआ इनका रक्षण करता है। तू उभे रोदसी-दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को पृणक्षि-पूरित करता है। इनकी न्यूनताओं को दूर करता है।

भावार्थ—उपासक उस वर्चस् को प्राप्त करता है जो उसे मन में पवित्र, मस्तिष्क में दीप्त तथा शरीर में न न्यूनतावाला बनाता है। इस प्रकार शरीर व मस्तिष्क दोनों को सुन्दर बनाता हुआ यह चमक उठता है।

ऋषिः—अग्निः पावकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तुति-रक्षण-विकास

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वे इषः सं दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥ ३ ॥

(१) हे ऊर्जो न पात्=शक्ति को न गिरने देनेवाले, जातवेदः=सर्वज्ञ प्रभो! सुशस्तिभिः=उत्तम शंसनों व स्तुतियों के द्वारा तथा धीतिभिः=ध्यानों के द्वारा हितः=हृदयदेश में स्थापित हुए-हुए आप मन्दस्व=हमारे जीवनों को आनन्दमय करिये। स्तवन व ध्यान के द्वारा प्रभु का प्रकाश हृदयों में व्यक्त होता है। इस प्रकार व्यक्त हुए-हुए प्रभु हमारे जीवन को उल्लास व आनन्द से युक्त करते हैं। उस समय मनुष्य विलास के मार्ग से दूर हुआ-हुआ अपनी शक्तियों का रक्षण कर पाता है और अपने ज्ञान को दीप्त करनेवाला होता है। वस्तुतः शरीर शक्ति-सम्पन्न होता है और मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल होता है तो जीवन आनन्दमय होता है। (२) ये उपासक त्वे=आप में इषः=प्रेरणाओं को संदधुः=धारण करते हैं। उपासना के द्वारा आप में स्थित हुए-हुए ये व्यक्ति प्रेरणाओं को प्राप्त करते हैं। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ये भूरिवर्पसः=(वर्पस्=praise) खूब स्तुतिवाले, चित्र ऊतयः=अद्भुत रक्षणोंवाले तथा वामजाताः=सुन्दर विकासवाले होते हैं (वामं जातं येषां)। प्रभु स्तवन ही इन्हें वासनाओं से बचाता है और इनके अन्दर उत्तम दिव्य गुणों का विकास करता है।

भावार्थ—स्तुति व ध्यान के द्वारा हम प्रभु को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें शक्ति देंगे, ज्ञान देंगे। प्रभु स्तवन से हमारी वृत्ति उत्तम बनेगी और हमारे में दिव्य गुणों का विकास होगा।

ऋषिः—अग्निः पावकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

धन-सौन्दर्य-शक्ति

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥ ४ ॥

(१) हे अग्ने=परमात्मन् अमर्त्य=कभी नष्ट न होनेवाले प्रभो! आप इरज्यन्=सब ऐश्वर्यों के स्वामी होते हुए अस्मे=हमारे लिये जन्तुभिः=गौ इत्यादि पशुओं के द्वारा रायः=धनों का प्रथयस्व=विस्तार कीजिये। इन गवादि पशुओं से कृषि गोरक्षा वाणिज्य आदि को करते हुए हम अपने धनों को बढ़ानेवाले हों। अथवा 'जन्तुभिः' का भाव यह भी हो सकता है कि हमारे पोषणीय प्राणियों के अनुसार हमें धन दीजिये। हमें अधिक प्राणियों का पोषण करना है तो अधिक धन, कम का पोषण करना है तो कम धन। व्यर्थ का धन होना, आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी न पड़े। अतिरिक्त धन तो विलास का ही कारण बना करता है। इस धन से हम उन्नत हों (अग्नि) असमय की मृत्यु से बचें (अमर्त्य)। (२) हे प्रभो! आप दर्शतस्य=दर्शनीय वपुषः=सौन्दर्य के व सुन्दर शरीर के विराजसि=राजा हैं। आप हमें उचित धनों को प्राप्त कराके इस योग्य बनायें कि हम शरीर को स्वस्थ व सुन्दर बना सकें। आप हमारे में सानसिं क्रतुम्=सम्भजनीय यज्ञों का व शक्ति का पृणक्षि=पूरण करते हैं। क्रतु शब्द यज्ञ का वाचक है, साथ ही शक्ति का भी प्रतिपादन करता है। सम्भजनीय शक्ति वह है जो कि रक्षण में विनियुक्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें पर्याप्त धन दें। सुन्दर शरीर व सम्भजनीय शक्ति को प्राप्त करायें। यह शक्ति

व धन यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही व्ययित हो।

ऋषि:—अग्नि: पावक: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—संस्तारपङ्क्ति: ॥ स्वर:—पञ्चम: ॥

कैसा धन?

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम्॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **रयिं दधासि**=धन को धारण करते हैं, हमारे लिये धन को देते हैं। जो धन (क) **सानसिम्**=सम्भजनीय होता है, बाँटकर सेवन के योग्य होता है। (ख) **अध्वरस्य इष्कर्तारम्**=(निष्कर्तारं) जो यज्ञ का साधक होता है, जिस धन के द्वारा हम यज्ञों को सिद्ध कर पाते हैं। (ग) **महः राधसः क्षयन्तम्**=जो महान् सफलता का निवास-स्थान बनता है, जिस धन के द्वारा हम अपने कार्यों में सफलता को प्राप्त कर पाते हैं। (२) इस धन के साथ आप हमारे में **वामस्य**=इस उत्तम साधनों से कमाये गये सुन्दर धन की **सुभगां रातिम्**=उत्तम ऐश्वर्य की कारणभूत राति (दान) को धारण करते हैं। हम इस धन का लोकहित के कार्यों के लिए दान देनेवाले बनते हैं। यह दान हमारे ऐश्वर्य के और बढ़ानेवाला होता है। (३) आप धन तथा दानवृत्ति के साथ **महीं इषम्**=महनीय प्रेरणा को प्राप्त कराते हैं। इस प्रेरणा से ही हमारा जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें धन, दान की वृत्ति तथा महनीय प्रेरणा को प्राप्त कराते हैं।

ऋषि:—अग्नि: पावक: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:—धैवत: ॥

प्रभु-स्मरण व सुख प्राप्ति

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा॥ ६॥

(१) **जनाः**=मनुष्य **सुम्नाय**=सुख प्राप्ति के लिए **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **पुरः दधिरे**=सामने धारण करते हैं। उसका स्तवन करते हुए उसके गुणों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः सुख प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम प्रभु का स्मरण करें, प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें। जो प्रभु **ऋतावानम्**=ऋतवाले हैं, यज्ञवाले हैं, जिनके सब कर्म ऋत (=ठीक) हैं। (ख) **महिषम्**=महान् हैं, पूजनीय हैं। (ग) **विश्वदर्शतम्**=सम्पूर्ण विश्व को देखनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी ऋत का पालन करें, महान् बनें औरों का ध्यान करके कर्म करें, हमारे कर्म स्वार्थ को लिए हुए न हों। (२) हे प्रभो! **त्वा**=आप को **गिरा**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **मानुषा युगा**=मनुष्यों के युग (जोड़े) अर्थात् पति-पत्नी स्मरण करते हैं। जो आप **श्रुत्कर्णम्**=ज्ञान का विस्तार करनेवाले हैं (कृ विक्षेपे), **सप्रथस्तमम्**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं, सारे ब्रह्माण्ड को ही आप अपने एक देश में लिए हुए हैं। **दैव्यम्**=जो आप देववृत्ति के लोगों को प्राप्त होनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हुए प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें। यही सुख प्राप्ति का मार्ग है।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव भी यही है कि हम प्रभु-स्मरण से पवित्र बनते हैं। हमें धन प्राप्त होता है, पर उस धन का विनियोग हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में करते हैं। हमें शक्ति प्राप्त होती है, उसका प्रयोग हम रक्षण में करते हैं। हमारा जीवन भोगमार्ग पर न जाकर योगमार्ग पर चलनेवाला होता है। हम तपस्वी होते हैं, आगे बढ़ते चलते हैं। यह 'अग्नि: तापस:' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

यह प्रभु की अनुकूलता की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

[१४१] एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'उत्तम मन' व 'धन'

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र नो यच्छ विशस्पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ १ ॥

(१) हे अग्ने=अग्रेणी प्रभो! नः अच्छा=हमारे प्रति इह=इस हृदयदेश में वद=धर्म का, हमारे कर्त्तव्यों का हमें उपदेश दीजिये। प्रभु शुद्ध हृदय में स्थित हुए-हुए सुन्दर प्रेरणा प्राप्त कराते रहते हैं। हमें भी वह प्रेरणा सदा प्राप्त हो। नः=हमारे लिये प्रत्यङ्=अन्दर प्राप्त होनेवाले आप सुमना भव=उत्तम मनवाले होइये। अर्थात् आप हमें उत्तम मन प्राप्त कराइये। (२) हे विशस्पते=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! नः=हमारे लिए प्रयच्छ=आवश्यक धनों को दीजिये। हे प्रभो! त्वम्=आप ही नः=हमारे लिये धनदाः असि=धनों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम मन प्राप्त करायें तथा आवश्यक धनों को प्राप्त करायें।

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सत्य से धनार्जन

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवाः प्रोत सूनृता रायो देवी ददातु नः ॥ २ ॥

(१) नः=हमारे लिये अर्यमा=देनेवाला प्रभु रायः=धनों को प्रयच्छतु=प्रकर्षेण देनेवाला हो (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति)। भगः=ऐश्वर्य का स्वामी प्रभु प्र=धनों को दे। बृहस्पतिः=ज्ञान का स्वामी प्रभु प्र=धनों को दे। देवाः=देव प्र=धनों को दें। उत=और सूनृता देवी=प्रिय सत्यःसत्य की वाणी नः=हमारे लिये रायः=धनों को प्र ददातु=प्रकर्षेण देनेवाला हो। (२) अर्यमा आदि नामों से प्रभु को स्मरण करते हुए धन को माँगने का भाव यह है कि हम भी अर्यमा आदि बनें। हम धनों को देनेवाले हों (अर्यमा), धनों के स्वामी हों (भगः), ज्ञानी बनकर धनों में आसक्त न हों (बृहस्पति), देववृत्तिवाले बनें (देवाः), कभी अनृत मार्ग से, असत्य से धन को कमानेवाले न हों (सूनृता देवी)।

भावार्थ—हम धनों को प्राप्त करें। परन्तु इन धनों में आसक्त न होकर इन्हें देनेवाले हों, ज्ञान को महत्त्व दें। सदा सत्यमार्ग से धन को कमाते हुए देववृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सोम से बृहस्पति तक

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ३ ॥

(१) हम अवसे=रक्षण के लिये गीर्भिः=इन स्तुति वाणियों के द्वारा सोमम्=सोम को हवामहे=पुकारते हैं। रजानम्=राजा को पुकारते हैं। इसी प्रकार अग्निम्=अग्नि को पुकारते हैं। हम चाहते हैं कि हम प्रभु कृपा से 'सोम-राजा व अग्नि' बनें। 'सोम' बनने का भाव यह है कि हम शरीर में उत्पन्न सोम शक्ति (=वीर्यशक्ति) का रक्षण करते हुए सौम्य बनें। 'राजा' बनने का भाव यह है कि हम भी राजा बनें, आत्मशासक बनें। अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (regulated)

बनायें। 'अग्नि' बनने का भाव यह है कि हम गतिशील हों, सदा अग्रगतिवाले हों। सोम का रक्षण करते हुए, व्यवस्थित जीवनवाले बनकर प्रगतिशील हों। (२) **आदित्यान्**=हम आदित्यों को पुकारते हैं। **विष्णुम्**=विष्णु को पुकारते हैं। **सूर्यम्**=सूर्य को पुकारते हैं। **च**=और **ब्रह्माणम्**=ब्रह्मा को तथा **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारते हैं। 'आदित्यों' को पुकारने का भाव है 'आदित्यवृत्तिवाला बनना'। सदा आदान करनेवाला बनना 'आदानात् आदित्यः'। समाज में जिसके भी सम्पर्क में आना, उसके गुणों को ग्रहण करनेवाला बनना। 'विष्णु' को पुकारने का भाव है 'विष् व्याप्तौ' व्यापक वृत्तिवाला बनना। उदार होना, संकुचित नहीं। सूर्य बनने का भाव है 'सरति इति' निरन्तर गतिशील होते हुए सर्वत्र सूर्य की तरह प्रकाश को फैलाना। 'ब्रह्मा' बनने का भाव है 'निर्माण करना'। सदा निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहना। अन्त में बृहस्पति बनने का भाव है, 'उर्ध्वादिक् का अधिपति होना'। सर्वोत्कृष्ट दिशा का अधिपति बनना, ऊँची से ऊँची स्थित में पहुँचना।

भावार्थ—हम प्रभु से यह प्रार्थना करें कि प्रभु हमें सोमशक्ति का रक्षण करनेवाला व्यवस्थित जीवनवाला, प्रगतिशील, गुणों का आदान करनेवाला, उदार, क्रियाशील, निर्माण करनेवाला और खूब उन्नत बनायें।

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शक्ति-गति व ज्ञान

इन्द्रवायू बृहस्पतिं सुहवेह हवामहे। यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत् ॥ ४ ॥

(१) **सुहवा**=शोभन आह्वानवाले, जिनकी आराधना उत्तम है, उन **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु को, शक्ति व गति के देवों को **इह**=इस जीवन में **हवामहे**=पुकारते हैं। **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के अधिष्ठातृदेव को भी हम पुकारते हैं। हम 'शक्ति-गति व ज्ञान' की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। (२) हम यह चाहते हैं कि इस प्रकार का हमारा वातावरण बने कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **सर्वः**=सब **इत्**=ही **जनः**=लोग **संगत्याम्**=सम्यक् गति के होने पर **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **असत्**=हों।

भावार्थ—हम शक्ति, गति व ज्ञान की आराधना करें। हमारे सभी व्यक्ति सम्यक् गतिवाले होते हुए उत्तम मनोंवाले हों।

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अर्यमा से सविता तक

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय। वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ५ ॥

(१) **अर्यमणम्**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' सब कुछ देनेवाले को, **बृहस्पतिम्**=सब वृद्धियों के स्वामी को, **इन्द्रम्**=शक्तिशाली प्रभु को **दानाय चोदय**=दान के लिए प्रेरित कर। अर्थात् इन देवों का तू इस प्रकार आराधन कर कि ये अपनी इन दिव्यताओं को तुझे प्राप्त करायें। तू भी दानशील, वृद्धियों का स्वामी व शक्तिशाली बन पाये। (२) इसी प्रकार **वातम्**=निरन्तर गतिशील को, **विष्णुम्**=व्यापक को, **सरस्वतीम्**=ज्ञानाधिष्ठातृदेवता को, **च**=और **वाजिनम्**=सब शक्तियोंवाले **सवितारम्**=उत्पादक प्रभु को दान के लिये प्रेरित कर। तू भी 'वात' की कृपा से निरन्तर क्रियाशील हो। 'विष्णु' तुझे व्यापकता प्रदान करे। 'सरस्वती' से तेरा जीवन शिक्षित व परिष्कृत हो। और 'सविता' से बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करके तू निर्माण के कार्यों में लगनेवाले हों।

भावार्थ—हम दानशील, बुद्धिशील, शक्तिशाली, क्रियामय जीवनवाले, उदार, शिक्षित व शक्ति का सम्पादन करके निर्माण के कार्यों में लगनेवाले हों।

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ब्रह्म-यज्ञ (ज्ञान-कर्म)

त्वं नो॑ अग्ने अ॒ग्निभि॒र्ब्रह्म॑ य॒ज्ञं च॑ वर्धय। त्वं नो॑ दे॒वता॑तये रा॒यो दाना॑य चोदय ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अग्निभिः**=मातारूपी दक्षिणाग्नि से, पितारूप गार्हपत्य अग्नि से तथा आचार्यरूपी आवहनीय अग्नि से 'पिता वै गार्हपत्योऽग्निः, माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु स्वाग्नित्रेता गरीयसी॥' (मनु) **नः**=हमारे **ब्रह्म**=ज्ञान को **यज्ञं च**=और यज्ञ को **वर्धय**=बढ़ाइये। उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके हमारा ज्ञान बढ़े तथा हमारी प्रवृत्ति यज्ञात्मक कर्मों के करने की हो। (२) **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिये तथा **दानाय**=लोकहित के कार्यों में देने के लिये **रायः**=धनों को **चोदय**=प्रेरित करिये। हमें धन प्राप्त हों। इन धनों से यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने में समर्थ होते हुए तथा ज्ञान के साधनों को जुटाते हुए हम अपने में 'यज्ञ व ब्रह्म' का विस्तार कर सकें और इस प्रकार देव बन सकें। तथा साथ ही हम सदा इन धनों का विनियोग लोकहित के कार्यों में दान देने में करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके हमारे में 'ज्ञान व यज्ञ' का वर्धन हो। हमें प्रभु धन प्राप्त करायें। इन धनों का हम दान में विनियोग करें।

इस सूक्त में धन की प्रार्थना है, उस धन की जो कि हमारे ज्ञान व यज्ञों का वर्धन करे, दान में विनियुक्त हो। निर्धनता के कारण यह व्यक्ति तपस्वी नहीं दिख रहा। धनी होते हुए धन का भोग-विलास में व्यय न करने के कारण यह 'तापस' है। यह धन का मित्र न बनकर प्रभु का मित्र बनता है। इसलिए यह 'जरिता' प्रभु का स्तोता बनता है। यह 'द्रोण' (द्रु अभिगतौ) क्रियाशीलता से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला बनता है। 'सारिसृक्व' गति के द्वारा (सृ) वासनाओं को छोड़नेवाला होता है (सृज्)। 'तिष्ठति इति स्तम्बः' यह प्रभु का स्थिर मित्र बनने का प्रयत्न करने के कारण 'स्तम्बमित्र' कहलाता है। वासनाओं को शीर्ण करने के कारण 'शार्ङ्ग' कहलाता है, इस वासनाओं को शीर्ण करके यह 'शृंग' अर्थात् शिखर पर पहुँचता है। यह प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है—

[१४२] द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शार्ङ्गा-जरिता ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु ही सच्चे बन्धु हैं

अ॒यम॑ग्ने जरि॒ता त्वे अ॑भू॒दपि॒ सह॑सः सूनो न॒ह्य१॒॑न्यदस्त्याप्य॑म्।
भ॒द्रं हि शर्म॑ त्रि॒वरू॑थ॒मस्ति॑ त आ॒रे हिंसा॑ना॒मप॑ दि॒द्युमा कृ॑धि ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अयं जरिता**=यह स्तोता **त्वे अभूत्**=आप में ही होता है। यह सर्वदा आपकी ही शरण को प्राप्त करता है। **अपि**=और हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुञ्ज प्रभो! **अन्यत्**=आप से भिन्न **आप्यम्**=बन्धुत्व **नहि अस्ति**=नहीं है। वस्तुतः आप ही तो बन्धु हैं। अन्य बन्धुत्व तो सब स्वार्थ को लिये हुए हैं। (२) **हि**=निश्चय से **ते शर्म**=आपका रक्षण (शर्म protection) **भद्रम्**=कल्याण व सुख को देनेवाला है तथा **त्रिवरूथं अस्ति**=अध्यात्म, अधिदेव व अधिभूत सम्बन्धी सभी कष्टों का निवारण करनेवाला है। हे प्रभो! आप **हिंसानाम्**=हिंसक वृत्तिवाले पुरुषों के **दिद्युम्**=वज्र को **आरे**=दूर **अपकृधि**=हमारे से पृथक् करिये। हम इनके वज्र

का शिकार न हों। काम, क्रोध, लोभ आदि असुरों के शस्त्रों से हम घायल न किये जायें।

भावार्थ—हम प्रभु में मग्न रहें। प्रभु को ही अपना बन्धु जानें। प्रभु का रक्षण हमें सब आपत्तियों से बचाता है। प्रभु कृपा से असुरों के अस्त्र हमारे पर प्रहार न करें।

ऋषिः—शार्ङ्गः-जरिता ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उपासक का उत्कृष्ट विकास

प्रवत्ते अग्ने जनिमा पितूयतः साचीव विश्वा भुवना न्यृञ्जसे।
प्र सप्तयः प्र सनिषन्त नो धियः पुरश्चरन्ति पशुपाइव त्मना॥ २॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! ते-तेरे **पितूयतः**-अन्न की कामनावाले इस उपासक का **जनिमा**-विकास **प्रवत्**-उत्कृष्ट होता है। संसार में जो व्यक्ति प्रभु का उपासक बनता है और अन्न का ही सेवन करता है उसका विकास उत्तम होता है। (२) हे परमात्मन्! आप **साची इव**-सर्वत्र समवेत हुए-हुए **विश्वा भुवना**-सब लोकों को **नि ऋञ्जसे**-निश्चय से प्रसाधित करते हैं। पृथिवी आदि सब लोकों में आप समवेत हैं और सब का नियमन कर रहे हैं। (३) **सप्तयः**-हमारे ये इन्द्रियाश्व **प्र सनिषन्त**-आपका सम्भजन करते हैं, तथा **नः धियः**-हमारी ये बुद्धियाँ भी **प्रसनिषन्त**-आपका ही उपासन करती हैं। आँख यदि तारों में प्रभु की व्यवस्था को देखती हैं, नासिका यदि फूलों की गन्ध में प्रभु की महिमा का अनुभव करती है, जिह्वा यदि फलों के रस को आस्वादित करती हुई प्रभु का स्मरण करती है, तो यह सब इन्द्रियों द्वारा प्रभु का सम्भजन हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों व बुद्धियों से प्रभु का सम्भजन करनेवाले लोग **पशुपाः इव**-ग्वालों के समान, जैसे ग्वाले गौओं को चराते हुए उनके साथ-साथ आगे बढ़ते हैं, उसी प्रकार ये प्रभु के उपासक भी **त्मना**-स्वयं **पुरः चरन्ति**-आगे और आगे चलते हैं।

भावार्थ—उपासक के जीवन का उत्कृष्ट विकास होता है। यह इन्द्रियों का रक्षण करता हुआ इन्द्रियों के साथ आगे और आगे बढ़ता है।

ऋषिः—द्रोणः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपजाऊ को ऊसर न बनाना

उत वा उ परि वृणक्षि बप्सद्बहोरग्न उलपस्य स्वधावः।
उत खिल्या उर्वराणां भवन्ति मा ते हेतिं तविषीं चुक्रुधाम॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**-प्रगतिशील **स्वधावः**-आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले जीव! तू **बहोः उलपस्य**-इन विस्मृत विषयरूप तृणों का **बप्सत्**-भक्षण करता हुआ **उत वा उ**-निश्चय से **परिवृणक्षि**-अपने आत्म प्राप्ति के मार्ग को छोड़ देता है। विषयों में फँसा और आत्म प्राप्ति के मार्ग से विचलित हुआ। (२) **उत**-और इस विषय-सेवन के परिणामस्वरूप **उर्वराणाम्**-उपजाऊ भूमियों की **खिल्याः**-ऊसर भूमियाँ **भवन्ति**-हो जाती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब क्षीणशक्ति हो जाती हैं। इन्द्रियों में अपने-अपने कार्य को करने की शक्ति नहीं रह जाती। मन अतृप्त व अशान्त हो जाता है, बुद्धि की गम्भीरता विनष्ट हो जाती है। (३) हे प्रभो! हम इस प्रकार विषय-सेवन से इस सम्पूर्ण क्षेत्र (=शरीर) को ऊसर बनाकर **ते**-आपके **तविषीम्**-प्रबल **हेतिम्**-वज्र को **मा चुक्रुधाम**-कोपित न कर लें। आपके हम क्रोधपात्र कभी न हों। विषयों से दूर रहकर, शरीर क्षेत्र को खूब उर्वर बनाते हुए हम आपके प्रिय बनें।

भावार्थ—विषयों में फँसने से हम आत्म प्राप्ति के मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। हमारी शक्तियाँ

क्षीण हो जाती हैं और हम प्रभु के प्रिय नहीं रहते।

ऋषिः—द्रोणः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

बालों की तरह वासनाओं को काटना

यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्पृथगेषि प्रगर्धिनीव सेना।
यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम॥ ४॥

(१) यद्-जब बप्सत्-विषयों का चरण करता हुआ तू उद्वतः निवतः-ऊँचे व नीचे लोकों में यासि-गति करता है, भिन्न-भिन्न लोकों में जन्म लेता है तो तू पृथग् एषि-प्रभु से अलग होकर गति करता है। उसी तरह अलग होकर गति करता है इव-जैसे कि प्रगर्धिनी सेना-लूटने के लालचवाली फौज सेनापति से अलग होकर लूटने में प्रवृत्त होती है। मनुष्य भी प्रभु से दूर होकर विषयों का भोग करने लगता है। (२) यदा-जब ते-तेरी वातः-(वा गतौ) गति शोचिः अनुवाति-ज्ञानदीप्ति के अनुसार होती है, जब तेरी क्रियाएँ ज्ञान के अनुसार होने लगती हैं तो तू इन वासनाओं को भूम-इस शरीर भूमि में से प्रवपसि-इस प्रकार प्रकर्षेण काट डालता है इव-जैसे कि वप्त-नापित श्मश्रु-बालों को काटता है।

भावार्थ—प्रभु से दूर होकर इन विषयों में फँसकर ऊँचे-नीचे लोकों में जन्म लेनेवाले बनते हैं। ज्ञानपूर्वक क्रियाओं के होने पर हम वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—सारिसृक्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

नीचे से ऊपर

प्रत्यस्य श्रेणयो ददृश्र एकं नियानं बहवो रथासः।
बाहू यदग्ने अनुमर्मृजानो न्यङ्ङुत्तानामन्वेषि भूमिम्॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वासनाओं को काटकर हे अग्ने-प्रगतिशील जीव! यद्-जब बाहू-(बाह्य प्रयत्ने) इहलोक व परलोक सम्बन्धी प्रयत्नों को अनुमर्मृजानः-क्रमशः शुद्ध करता हुआ न्यङ्-नीचे से उत्तानाम्-उत्कृष्ट भूमिम्-भूमि को अन्वेषि-तू प्राप्त होता है। जितना-जितना प्रयत्नों का शोधन, उतना-उतना उत्तम भूमि का आक्रमण (उतना-उतना उत्थान)। (२) उस समय इस व्यक्ति के बहवः रथासः-ये स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर रूप रथ एकं नियानम्-उस अद्भुत (cowpen) बाड़े में, प्रभु में स्थित होते हैं और अस्य-इसकी श्रेणयः-भूतपञ्चक, प्राणपञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक व अन्तःकरणपञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) आदि श्रेणियाँ प्रति ददृशे-एक-एक करके देखी जाती हैं। ये प्रत्येक श्रेणि का ध्यान करता हुआ उन्हें मलिन व क्षीण शक्ति नहीं होने देता।

भावार्थ—अपने कर्मों या शोधन करते हुए हम ऊपर और ऊपर उठें। हम अपने रथों का बाड़ा प्रभु को ही बनायें, अर्थात् इन शरीरों को प्रभु में स्थापित करने का प्रयत्न करें। अन्तःकरण आदि एक-एक अंग का ध्यान करें। उन्हें मलिन न होने दें।

ऋषिः—सारिसृक्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्थान का स्वरूप

उत्ते शुष्मा जिहतामुत्ते अर्चिरुत्ते अग्ने शशमानस्य वाजाः।
उच्छ्वञ्चस्व नि नम वर्धमान आ त्वाद्य विश्वे वसवः सदन्तु॥ ६॥

(१) गत मन्त्र में उत्थान का उल्लेख था। उसी उत्थान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ते **शुष्मा:**-तेरे शत्रु-शोषक बल **उत् जिहताम्**-उद्गत हों। तू काम, क्रोध व लोभ को परास्त कर सके। **ते अर्चि: उत्**-तेरी ज्ञान ज्वाला उद्गत हो, अर्थात् तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले। हे **अग्ने**-प्रगतिशील जीव! **शशमानस्य**-स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले (शश प्लुतगतौ) अथवा स्तुति करनेवाले (शंसमानस्य नि०) **ते**-तेरे **वाजा:**-बल **उत्**-उत्कृष्ट हों। इस प्रकार शरीरस्थ वाज (बल) तुझे नीरोग बनाएँ। ज्ञान तेरे मस्तिष्क को उज्ज्वल करे और मानस बल 'काम-क्रोध-लोभ' पर विजय को पानेवाला हो। 'शुष्म, अर्चि व वाज' को प्राप्त करके तू **उत् श्वञ्चस्व**-ऊर्ध्व गतिवाला हो, उन्नतिपथ पर आरूढ़ होनेवाला हो। परन्तु **वर्धमान:**-सब दृष्टिकोणों से बढ़ता हुआ तू **नि नम**-नम्र बन। जितना-जितना उन्नत, उतना-उतना नम्र। नम्रता ही उन्नति का निशान है। इस प्रकार उन्नत हुए-हुए **त्वा**-तुझे **विश्वे वसव:**-सब वसु **आसदन्तु**-प्राप्त हों। निवास को उत्तम बनानेवाले तत्त्व ही 'वसु' हैं। ये सब वसु तेरे में स्थित हों। इन वसुओं को प्राप्त करके तेरा जीवन सुन्दरतम बन जाये।

भावार्थ—हमें शत्रु-शोषक शक्ति (शुष्म), ज्ञानदीप्ति (अर्चि) तथा बल (वाज) प्राप्त हो। उन्नत होकर हम नम्र बने रहें। सब वसुओं को प्राप्त करके सुन्दर जीवनवाले हों।

ऋषि:—स्तम्बमित्र: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

प्रेय मार्ग को छोड़कर, श्रेयो मार्ग का आक्रमण

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
अन्यं कृणुष्वेत: पन्थां तेन याहि वशाँ अनु ॥ ७ ॥

(१) **इदम्**-हमारा यह शरीररूप गृह **अपाम्**-कर्मों का **न्ययनम्**-निश्चितरूप से निवास-स्थान हो। हम सदा क्रियाशील हों। **समुद्रस्य**-(स+मुद्) आनन्दमय प्रभु का यह **निवेशनम्**-गृह बने। जहाँ क्रियाशीलता होती है, वहीं प्रभु का वास होता है। (२) **इत:**-यहाँ से **अन्यं पन्थाम्**-भिन्न मार्ग को **कृणुष्व**-तू बना। इस संसार का मार्ग 'प्रेय मार्ग' कहलाता है। उस मार्ग में 'शतायु पुत्र पौत्र, पशु-हिरण्य-भूमि, नृत्यगीतवाद्य, व दीर्घजीवन' हैं। वहाँ आनन्द ही आनन्द प्रतीत होता है। परन्तु इसमें न फँसकर हम श्रेय मार्ग को अपनानेवाले हों। इसी मार्ग में परमात्मदर्शन होता है, और वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। **तेन**-उस मार्ग से **वशान् अनु**-इन्द्रियों को वश में करने के अनुसार तू **याहि**-चल। इन्द्रियों को वश में करके तू श्रेय मार्ग पर चल और परमात्मदर्शन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनकर अपने इस शरीर को प्रभु का बनायें। प्रेय मार्ग को छोड़कर श्रेयो मार्ग को अपनायें। जितेन्द्रिय बनकर श्रेयो मार्ग पर ही चलें।

ऋषि:—स्तम्बमित्र: ॥ देवता—अग्नि: ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

'सौन्दर्य शान्ति व लक्ष्मी' के साथ 'प्रभु'

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणी:। ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे ॥ ८ ॥

(१) **ते**-तेरे **आयने**-अन्दर आने के मार्ग पर तथा **परायणे**-बाहर जाने के मार्ग पर **पुष्पिणी:**-फूलोंवाली, खूब खिली हुई **दूर्वा:**-दूब **रोहन्तु**-उगें। अर्थात् तेरे हर्म्य में सौन्दर्य की कमी न हो। यहाँ दूर्वावाले भूमिभाग घर के सौन्दर्य का चित्रण करते हैं। **च**-और यहाँ **ह्रदा:**-जलाशय हों। ये जलाशय शान्ति के प्रतीक हैं। **पुण्डरीकाणि**-इस घर में कमल हों। ये कमल लक्ष्मी

के प्रतीक हैं। (२) इस प्रकार सौन्दर्य शान्ति व लक्ष्मी के निवास-स्थान होते हुए **इमे**=ये **गृहाः**=घर **समुद्रस्य**=(स+मुद्) उस आनन्दमय प्रभु के बने रहें। इन घरों में लक्ष्मी हो, पर उस लक्ष्मी में हम आसक्त न हो जाएँ। लक्ष्मी में स्थित हों, लक्ष्मी के दास न बन जाएँ।

भावार्थ—हमारे घर 'सौन्दर्य, शान्ति व लक्ष्मी' के निवास हों, परन्तु इनमें हम प्रभु के उपासक बने रहें। लक्ष्मी में फँस न जाएँ।

सम्पूर्ण सूक्त की मूल भावना यही है कि इस वासनामय जगत् में, लक्ष्मी में रहते हुए भी हम लक्ष्मी में न फँस जाएँ। यह लक्ष्मी में न फँसनेवाला व्यक्ति 'अत्रि' बनता है 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों से ऊपर। विचारशील होने से यह 'सांख्य' है। यह प्राणापान की साधना करता हुआ कहता है कि—

१४३. [त्रिचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—अत्रिः साङ्ख्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अत्रि का 'शरीर'

त्यं चिदत्रिमृतजुरमर्थमश्वं न यातवे। कक्षीवन्तं यदी पुना रथं न कृणुथो नवम्॥ १ ॥

(१) प्रस्तुत सूक्त के देवता 'अश्विनौ'=प्राणापान हैं। ये प्राणापान **यत् ई**=निश्चय से **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **पुनः**=फिर से **नवं न**=नया-सा **कृणुथः**=करते हैं। प्रातः से सायं तक कार्य करता हुआ मनुष्य थक-सा जाता है। सो जाता है, और प्राणापान इस शरीर-रथ को फिर से नया (तरो ताजा) कर देते हैं। 'किस के लिये इस रथ को नया करते हैं?' **त्यं चित् अत्रम्**=निश्चय से उस अत्रि के लिये, 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए के लिये। **ऋतजुरम्**=ऋत के द्वारा, प्रत्येक कार्य को ठीक रूप में करने के द्वारा वासनाओं को जीर्ण करनेवाले के लिये। **अर्थम्**=(ऋ गतौ) गतिशील के लिये। इस 'अत्रि-ऋतजुर्-अर्थ' के लिये अश्विनीदेव शरीर-रथ को तरोताजा करते हैं। (२) अश्विनीदेव अत्रि के लिये इस शरीर-रथ को फिर-फिर नया इसलिए करते हैं कि यह **यातवे**=लक्ष्य-स्थान पर जाने के लिये उसी प्रकार समर्थ हो **न**=जैसे कि **अश्वम्**=घोड़ा। घोड़े को घास आदि खिलाकर सबल बनाते हैं जिससे लक्ष्य-स्थान पर पहुँच सके, इसी प्रकार अश्विनीदेव शरीर-रथ को नया-नया करते हैं जिससे यह भी निरन्तर आगे बढ़ता हुआ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला हो। यह शरीर-रथ उसी का ठीक बनता है जो कि **कक्षीवन्तम्**=प्रशस्त कक्ष्या (कटिबन्ध रज्जु) वाला है जो लक्ष्य पर पहुँचने के लिये कटिबद्ध है।

भावार्थ—हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठकर 'अत्रि' बनें। सब कार्यों को ठीक समय व स्थान पर करते हुए हम वासनाओं को जीर्ण करनेवाले 'ऋतजुर' हों। गतिशील बनकर 'अश्व' हों। लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के लिये कटिबद्ध 'कक्षीवान्' हों। ऐसे हमारे लिये प्राणापान शरीर-रथ को दिन प्रतिदिन नया कर देते हैं।

ऋषिः—अत्रिः साङ्ख्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अत्रि का सत्त्वस्थ मन

त्यं चिदश्वं न वाजिनमरेणवो यमत्नत। दृळ्हं ग्रन्थिं न वि ष्यतमत्रिं यविष्ठमा रजः॥ २ ॥

(१) **यम्**=जिस **त्यम्**=उस **अत्रिम्**=अत्रि को, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले को **अरेणवः**=रेणु, धूल व मलिनता को दूर करनेवाले प्राण **अश्वं न**=घोड़े के समान **वाजिनम्**=शक्तिशाली **अत्नत**=बनाते हैं। उस अत्रि की **दृढ**=बड़ी पक्की **ग्रन्थिं न**=गाँठ के समान जो वासना

है उसे **विष्यतम्**-समाप्त करते हैं (षोऽन्तकर्मणि) (२) प्राणापान अत्रि को घोड़े के समान शक्तिशाली बनाते हैं और उसकी हृदयग्रन्थियों का अन्त कर देते हैं **यविष्ठम्**-इस अत्रि को ये बुराइयों को छोड़नेवाला व अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाला बनाते हैं। इस प्रकार क्रमशः **आ रजः**-रजोगुण तक इस की सब ग्रन्थियों का ये विनाश करते हैं। 'तमस्' से ऊपर उठाते हैं, प्रमाद आलस्य व निद्रा से दूर करते हैं। और फिर 'रजस्' से भी इसे दूर करते हैं, तृष्णा व अर्थलोभ से ऊपर उठानेवाले होते हैं। इस प्रकार प्राणापान इसे नित्य सत्वस्थ बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान अत्रि को शक्तिशाली बनाते हुए उसकी तामस व राजस भावनाओं को विनष्ट करते हैं। इसे वे नित्य सत्वस्थ बनाते हैं।

ऋषिः—अत्रिः साङ्ख्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शुभ्र बुद्धि

नरा दंसिष्ठावत्रये शुभ्रा सिषासतं धियः। अथा हि वां दिवो नरा पुनः स्तोमो न विशसे॥ ३॥

(१) हे **नरा**-उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले, **दंसिष्ठा**-दर्शनीयतम व उत्तम कर्मोंवाले, **शुभ्रा**-उज्ज्वल प्राणापानो! आप **अत्रये**-काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे व्यक्ति के लिये **धियः सिषासतम्**-बुद्धियों को दीजिये। प्राणसाधना से अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञानदीप्ति व बुद्धि की सूक्ष्मता प्राप्त होती ही है। (२) **नः च**-और **अथा**-अब **हि**-निश्चय से **दिवः नरा**-ज्ञान के नेतृतम प्राणापानो! **वाम्**-आप के प्रति **स्तोमः**-यह मेरा स्तवन **पुनः**-फिर **विशसे**-विशेषरूप से शंसन के लिये होता है। आपका स्तवन करता हुआ मैं उत्तम बुद्धियों व ज्ञान को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी बुद्धि सूक्ष्म होती है और ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—अत्रिः साङ्ख्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

आ-पूरण

चिते तद्वां सुराधसा रातिः सुमतिरश्विना। आ यन्नः सदने पृथौ समने पर्षथो नरा॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **सुराधसा**-आप उत्तम सिद्धि के प्राप्त करानेवाले हो। इस जीवनयज्ञ की सफलता आप पर ही निर्भर करती है। **वाम्**-आपकी **तद्**-वह **रातिः**-देन व **सुमतिः**-उत्तम बुद्धि **चिते**-उत्कृष्ट ज्ञान के लिये होती है। प्राणायाम के द्वारा सब अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञान की दीप्ति होती है। (२) हे **नरा**-हमें जीवनपथ में आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! **यत्**-जो आप **नः**-हमें **सं अने**-उत्तम प्राणशक्तिवाले, **पृथौ**-शक्तियों के विस्तारवाले **सदने**-इस शरीर गृह में **आपर्षथः**-सब दृष्टिकोणों से (आपूरयथः सा०) पूरण करते हो। शरीर में शक्ति-मन में निर्मलता व बुद्धि में तीव्रता का आप संचार करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से सुमति प्राप्त होती है और शरीर में सब दृष्टिकोणों से पूरण होता है।

ऋषिः—अत्रिः साङ्ख्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

(भवसागर के पार) भोगों से ऊपर

युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम्। यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्॥ ५॥

(१) हे **नासत्या**-सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! (न-असत्यौ) **युवम्**-आप **भुज्युम्**-भोगवृत्तिवाले, भोग-प्रवण इस मनुष्य को जो **रजसः समुद्रे**-रजोगुण के समुद्र में **आ ईङ्खितम्**-चारों ओर डाँवाडोल हो रहा है उसे **अच्छायातम्**-आभिमुख्येन प्राप्त होइये। जैसे एक

वैद्य रोगी के अभिमुख जाता है और उसे उचित औषधोपचार से नीरोग करता है, इसी प्रकार आप इस रजोगुण के समुद्र में गोता खाते हुए, तृष्णा से पीड़ित मनुष्य को प्राप्त होवो। आपने ही इसे निर्दोष बनाना है। (२) हे प्राणापानो! आप **पतत्रिभिः**=इस तृष्णा-समुद्र के पार जाने के साधनाभूत यज्ञादि क्रियारूप नौ विशेषों से (पत गतौ) **पारे कृतम्**=इस समुद्र से पार करिये और इस प्रकार **सातये**=वास्तविक आनन्द की प्राप्ति के लिये होइये। प्राणसाधना से तृष्णा नष्ट होती है और हम रजःसमुद्र के पार होकर वास्तविक आनन्द को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना भोगवृत्ति को नष्ट करती है और वास्तविक आनन्द को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—अत्रिः साङ्ख्यः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः ॥

नीरोगता का आनन्द

आ वां सुम्नैः शंयूइव मंहिष्ठा विश्ववेदसा। समस्मे भूषतं नरोत्सं न पिप्युषीरिषः॥ ६ ॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आप **सुम्नै**=सुखों से **शंयू इव**=हमारे साथ शान्ति को युक्त करनेवाले हो। आप **मंहिष्ठा**=हमारे लिये दातृतम हो। अधिक से अधिक शक्तियों के देनेवाले हो। **विश्ववेदसा**=सम्पूर्ण धनोंवाले हो। प्राणापान सब कोशों को ऐश्वर्य-सम्पन्न करते हैं। (२) **नरा**=हमारा नेतृत्व करनेवाले, हमें आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! **अस्मै**=हमारे लिये **उत्सं न**=स्रोत के समान **पिप्युषीः इषः**=आप्यायित करनेवाले अन्नों को **सं भूषतम्**=सम्यक् अलंकृत करो। जैसे स्रोत से, चश्मे से उत्तम जलधारा का प्रवाह होता है इसी प्रकार प्राणापान के द्वारा अन्नों का ठीक प्रकार पाचन होकर रस-रुधिर आदि धातुओं का उचित प्रवाह होता है। वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर भोजन का ठीक पाचन करती है। तभी उस मुक्त अन्न से रस आदि का ठीक प्रवाह होता है।

भावार्थ—प्राणापान भोजन का ठीक परिपाक करके हमें सुख व शान्ति प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणापान की साधना के महत्त्व को प्रतिपादित कर रहा है। इससे शरीर, मन व बुद्धि तीनों ही ठीक बनते हैं। इन तीनों का ठीक बनानेवाला 'सुपर्ण' कहलाता है, उत्तमता से पालन करनेवाला। यह गतिशील होने से 'तार्क्ष्य' कहलाता है। संयमी होने से 'यामायन' है तथा वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाला 'ऊर्ध्वकृशन' (ऊर्ध्वरेता) बनता है। यह 'वीर्य' के महत्त्व को प्रतिपादित करता हुआ कहता है—

[१४४] चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जीवन की पूर्णता का साधन 'सोम'

अयं हि ते अमर्त्य इन्दुरत्यो न पत्यते। दक्षो विश्वायुर्वेधसे॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **इन्दुः**=सोम का बिन्दु, शक्ति को उत्पन्न करनेवाले सोमकण (इन्द्=to be powerful) **हि**=निश्चय से **ते**=तेरे लिये **अमर्त्यः**=तुझे मृत्यु से ऊपर उठानेवाले हैं। यह **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान **पत्यते**=गतिवाला होता है। अर्थात् सोमकणों के रक्षण से मनुष्य में शक्ति व क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। (२) यह सोम **दक्षः**=(दक्ष् to grow) सब प्रकार की उन्नति का कारण बनता है। और **वेधसे**=निर्माण के कार्यों में लगे हुए पुरुष के लिये यह सोम

विश्वायु:-पूर्ण जीवन को देनेवाला होता है। इससे दीर्घजीवन भी प्राप्त होता है। तथा शरीर, मन व बुद्धि तीनों के उत्कर्ष का साधक होता हुआ यह सोम पूर्ण जीवन को देता है।

भावार्थ—शरीर में रक्षित हुआ-हुआ सोम शरीर का रक्षण करता है। शरीर को नष्ट नहीं होने देता, जीवन को पूर्ण बनाता है।

ऋषिः—सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

सोमरक्षण के लाभ

अयमस्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते। अयं बिभर्त्यूर्ध्वकृशनं मदमृभुर्न कृत्व्यं मदम्॥ २॥

(१) **अयम्**-यह सोम **अस्मासु**-हमारे में **काव्यः**-क्रान्तदर्शित्व व तत्त्वज्ञान को पैदा करनेवाला है। सोम के रक्षण से बुद्धि तीव्र होती है और हम तत्त्वज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। **ऋभुः**-यह खूब दीप्त होनेवाला है, दीप्ति व तेजस्विता का साधक होता है। **दास्वते**-प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये यह **वज्रः**-'शत्रूणां वर्जकः' शत्रुओं का वर्जक होता है। यह शरीर में रोगों को नहीं आने देता तो मन में वासनाओं को नहीं आने देता। (२) **अयम्**-यह सोम **ऊर्ध्वकृशनम्**-(कृशनं=रूपनाम नि०) उत्कृष्ट रूपवाले **मदम्**-आनन्दमय स्वभाववाले व्यक्ति का **बिभर्ति**-धारण करता है। वस्तुतः सोम का धारण ही उस पुरुष को उत्कृष्ट रूपवाला व प्रसन्न मनोवृत्तिवाला बनाता है। **ऋभुः न**-यह सोम खूब दीप्त होनेवाले के समान होता हुआ **कृत्व्यम्**-कर्त्तव्यपालन में उत्तम **मदम्**-आनन्दमय स्वभावाले पुरुष का धारण करता है। अर्थात् सोम का रक्षण हमें कर्त्तव्यपालन की वृत्तिवाला तथा प्रसन्नचित्त बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से क्रान्तदर्शित्व, दीप्ति, शत्रुवर्जनशक्ति, उत्कृष्टरूप, प्रसन्नता तथा कर्त्तव्यपालन की वृत्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

सोमरक्षण-शक्ति-गति-दीप्ति

घृषुः श्येनाय कृत्वन आसु स्वासु वंसगः। अव दीधेदहीशुवः॥ ३॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित सोम **श्येनाय**-(श्यैङ् गतौ) गतिशील पुरुष के लिये **कृत्वने**-अपने कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले के लिये **घृषुः**-शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है। शत्रुओं का नाश हो जाने पर **आसु**-इन **स्वासु**-अपनी प्रजाओं में **वंसगः**-यह सोम वननीय (सुन्दर) गतिवाला होता है। जीवन की सब गतियों में यह सौन्दर्य को लानेवाला होता है। (२) **अहीशुवः**-इन अहीन गतिवालों को यह सोम **अवदीधेत्**-दीप्त कर देता है। सोमरक्षण से मनुष्य शक्ति-सम्पन्न क्रियाशील होता है और यह क्रियाशीलता इसे दीप्त बना देती है। सूर्य क्रियाशीलता के कारण ही तो चमकता है। एवं क्रम यह है—(क) सोम का रक्षण, (ख) शक्ति की उत्पत्ति, (ग) क्रियाशीलता, (घ) दीप्ति।

भावार्थ—सोमरक्षण से शक्ति प्राप्त होती है। शक्ति से जीवन सुन्दर गतिवाला होता है। इस सुन्दर गति से जीवन चमक उठता है।

ऋषिः—सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सुपर्णः, श्येनस्य पुत्रः'

यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्। शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः ॥ ४ ॥

(१) यम्-जिस सोम को सुपर्णः-उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाला, श्येनस्य पुत्रः-(श्यैङ् गतौ) गतिशील का पुत्र, अर्थात् खूब क्रियाशील जीवनवाला व्यक्ति परावतः-सुदूर देश से आभरत्-शरीर में चारों ओर धारण करता है। यह सोम अन्न में निवास करता है। उस अन्न को जब हम खाते हैं, तो पहले रस उत्पन्न होता है। रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा तथा मज्जा से इस वीर्य शक्ति की उत्पत्ति होती है। एवं सुदूर देश से सातवीं मंजिल में इसका लाभ होता है। (२) यह सोम सुरक्षित होने पर शतचक्रम्-सौ वर्ष के आयुष्य को करनेवाला है तथा यह वह है यः-जो कि अह्यः-(अहेः-आहन्तुः-सर्पस्य-कुटिलतायाः) कुटिलता का वर्जनिः-मुख मोड़ देनेवाला है, अर्थात् कुटिलता की वृत्ति को हमारे से दूर करनेवाला है।

भावार्थ—सोम का रक्षण क्रियाशील पुरुष ही कर पाता है। सुरक्षित सोम सौ वर्ष के आयुष्य को देनेवाला व कुटिल वृत्ति को दूर करनेवाला है।

ऋषिः—सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—सतोबृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

दीर्घ उत्कृष्ट जीवन व बन्धुत्व की भावना

यं ते श्येनश्चारुमवृकं पदाभरदरुणं मानमन्धसः।
एना वयो वि तार्यायुर्जीवस एना जागार बन्धुता ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! ते-आपके बनाये हुए यम्-जिस सोम को श्येनः-गतिशील पुरुष पदा-गतिशीलता के द्वारा (पद गतौ) अभरत्-अपने शरीर में धारण करता है। उस सोम को जो कि चारुम्-सुन्दर है, जीवन की सब गतियों में सौन्दर्य को उत्पन्न करता है। अवृकम्-लोभादि की वृत्ति से रहित है, अर्थात् जो रक्षित होने पर लोभवृत्ति को नष्ट करता है, अरुणम्-आरोचमान है तथा अन्धसः मानम्-अन्न का उचित निर्माण करनेवाला है। अर्थात् सोम के रक्षण से जाठराग्नि ठीक रहती है और अन्न का ठीक परिपाक होकर सब वस्तुएँ ठीक बनी रहती हैं। यही अन्न का ठीक निर्माण है। (२) एना-इस प्रकार इस सोम के द्वारा (क) वयः वितारि-आयुष्य दीर्घ किया जाता है, (ख) आयुः जीवसे-ये आयुष्य उत्कृष्ट जीवन के लिये होता है, (ग) एना-इस उत्कृष्ट जीवन से बन्धुता-प्रभु के साथ बन्धुत्व का भाव जागार-जाग उठता है। यह सोमरक्षक 'सोम'-परमात्मा को ही अपना बन्धु जानता है।

भावार्थ—रक्षित सोम जीवन को सुन्दर व लोभ से रहित बनाता है। जीवन दीर्घ होता है, सुन्दर होता है और हम प्रभु के बन्धुत्व को अनुभव करते हैं।

ऋषिः—सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शक्ति व प्रभु प्राप्ति

एवा तदिन्द्र इन्दुना देवेषु चिद्धारयाते महि त्यजः।
क्रत्वा वयो वि तार्यायुः सुक्रतो क्रत्वायमस्मदा सुतः ॥ ६ ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इन्दुना**=इस सोम के द्वारा **चित्**=निश्चय से **तत्**=उस **महि**=महान् **त्यजः**=दु:खों के वर्जक तेज को **देवेषु**=सब इन्द्रियों में **धारयाते**=धारण करता है। सोम की ही शक्ति सब इन्द्रियों में कार्य करती है और सब इन्द्रियों को बलवान् बनाती है। सोम के रक्षण से इन्द्रियों में दोष नहीं उत्पन्न होते। (२) **क्रत्वा**=सोमरक्षण के दृढ़ संकल्प से **वयः**=शक्ति व स्वास्थ्य **वितारि**=बढ़ाया जाता है। **आयुः**=इसी से दीर्घ जीवन प्राप्त किया जाता है। (३) हे **सुक्रतो**=शोभन प्रज्ञान व कर्मवाले जीव! **क्रत्वा**=इस दृढ़ संकल्प से ही **अयम्**=यह **अस्मदा सुतः**=हमारे लिये उत्पन्न किया जाता है। यह सोम रक्षित होकर अन्ततः प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है। एवं सोमरक्षण के लिये मनुष्य को दृढ़ संकल्प होना ही चाहिये।

भावार्थ—रक्षित सोम इन्द्रियों को सशक्त बनाता है। इससे स्वास्थ्य व शक्ति प्राप्त होती है, अन्ततः यह प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

सम्पूर्ण सूक्त सोम रक्षण के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है। इसी में इन्द्र की शक्ति का निवास है। यह इन्द्र की शक्ति ही इन्द्र पत्नी व 'इन्द्राणी' कहलाती है। यही अगले सूक्त की ऋषिका है। यह उत्तम ओषधियों के द्वारा सोम के उत्पादन का प्रयत्न करती है। 'ओषधि' आचार्य का भी नाम है। उस आचार्य से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है—

[१४५] पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नीबाधनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ओषधि-खनन

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

(१) 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है। इसकी पत्नी व शक्ति 'इन्द्राणी' है। यही वस्तुतः 'आत्मविद्या व ब्रह्मविद्या' है इसकी विरोधिनी व सपत्नी 'भोगवृत्ति' है। इस सूक्त में इस भोगवृत्ति के बाधन का उपदेश है। भोगवृत्ति से मनुष्य प्रभु से दूर और दूर होता जाता है। आत्मविद्या उसे फिर परमात्मा के समीप ले आती है। सो इन्द्राणी कहती है कि **इमाम्**=इस **ओषधिम्**=दोषों का दहन करनेवाले आचार्य से प्राप्त होनेवाली आत्मविद्या को **खनामि**=खोदती हूँ। जैसे वसुन्धरा के खनन से वसुओं को प्राप्त किया जाता है इसी प्रकार आचार्य से मैं आत्मविद्या को प्राप्त करती हूँ। यह आत्मविद्या **वीरुधम्**=मेरा विशेष प्रकार से रोहण व प्रादुर्भाव (विकास) करनेवाली है, **बलवत्तमाम्**=मुझे अत्यन्त सबल बनानेवाली है। (२) यह आत्मविद्या वह है **यया**=जिससे **सपत्नीं बाधते**=आत्मविद्या की सपत्नी रूप भोगवृत्ति को पीड़ित करता है। भोगवृत्ति से दूर होकर **यया**=जिसके द्वारा **पतिम्**=उस सर्वरक्षक प्रभु को **संविन्दते**=पाता है। आत्मविद्या का परिणाम यही है कि मनुष्य भोगवृत्ति से दूर होकर योगवृत्ति को अपनाता है और प्रभु के समीप और समीप होता चलता है।

भावार्थ—आचार्य से हम उस आत्मविद्या को प्राप्त करते हैं जिससे कि भोगवृत्ति को विनष्ट करके हम योगवृत्ति द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नीबाधनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

आत्मविद्या

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु ॥ २ ॥

(१) हे आत्मविद्ये! जो तू **उत्तानपर्णे**=ऊर्ध्वमुखपर्णोंवाली है, अर्थात् हमें सदा उन्नति की ओर ले चलनेवाली व हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। **सुभगे**=उत्तम ज्ञान व अनासक्ति की भावना को उत्पन्न करनेवाली है (भगः ज्ञान, वैराग्य)। **देवजूते**=देवों-विद्वानों के द्वारा हमारे में प्रेरित होती है, अर्थात् विद्वानों से ही जिसका ज्ञान दिया जाता है। **सहस्वति**=शत्रुमर्षक बलवाली, जो हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल देती है। ऐसी आत्मविद्ये! तू **मे**=मेरी **सपत्नीम्**=सपत्नीभूत भोगवृत्ति को **पराधम**=सन्तप्त करके दूर कर दे। (२) आत्मविद्या से भोगवृत्ति क्षीण होती है, मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है। वह यही प्रार्थना करता है कि **केवलम्**=उस आनन्द में विचरनेवाले **पतिम्**=सर्वरक्षक प्रभु को **मे कृधि**=मेरा कर। मैं प्रभु प्राप्ति की ही कामनावाला बनूँ। सांसारिक कामनाओं से ऊपर उठूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या हमें ऊपर ही ऊपर ले चलती है। यह हमारे में शत्रुओं के मर्षण करनेवाले बल को पैदा करती है।

ऋषिः—इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नीबाधनम् ॥ छन्दः—आर्चीस्वराडनुष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

एक उत्तरा, दूसरी अधरा

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अधा सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ३ ॥

(१) 'इन्द्राणी' आत्मविद्या को सम्बोधन करती हुई कहती है कि **उत्तरे**=हे जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाली आत्मविद्ये! **अहं उत्तरा**=मैं उत्कृष्ट जीवनवाली होती हूँ। **उत्तराभ्यः इत् उत्तरा**=उत्कृष्ट जीवनवालों से भी उत्कृष्ट जीवनवाली होती हूँ। (२) **अधा**=अब **या मम सपत्नी**=ये जो भोगवृत्तिरूप मेरी सपत्नी है, मेरी शत्रु है, **सा**=वह **अधराभ्यः अधरा**=नीचे से भी नीचे होती है। ये तो जीवन को बड़ा निकृष्ट बना डालती है, इसे मैं कुचल ही डालती हूँ, पाँवों तले दबा देती हूँ।

भावार्थ—योगवृत्ति बढ़े और भोगवृत्ति क्षीण हो। भोगवृत्ति की अधरता में ही योगवृत्ति की उत्तरता है।

ऋषिः—इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नीबाधनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भोगवृत्ति का नाम भी न लेना

नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन्रमते जने। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ४ ॥

(१) **अस्याः**=इस भोगवृत्ति का **नाम**=नाम भी **नहि गृभ्णामि**=नहीं ग्रहण करता हूँ। **अस्मिन् जने**=इस मनुष्य में **नो**=नहीं **रमते**=रमण करती। यह भोगवृत्ति इस प्रभु के उपासक में अपनी क्रीड़ा नहीं करती यह भोगवृत्ति से दूर ही रहता है। (२) **पराम्**=शत्रुभूत इस **सपत्नीम्**=इन्द्राणी

की सपत्नीरूप भोगवृत्ति को परावतं गमयामसि-बहुत दूर भेजते हैं। आत्मविद्या की प्राप्ति इस भोगवृत्ति को हमारे से सुतरां दूर कर देती है।

भावार्थ—आत्मविद्या की ओर झुकाव के होने पर भोगवृत्ति का नामोनिशान भी हमारे में नहीं रहता।

ऋषिः—इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नीबाधनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्र-इन्द्राणी

अहमस्मि सहमानाथ त्वमसि सासहिः। उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्राणी**=जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति इस जितेन्द्रिय पुरुष से कहती है कि **अहम्**=मैं **सहमाना अस्मि**=काम, क्रोध, लोभ आदि का पराभव करनेवाली हूँ। **अथ**=और **त्वम्**=तू **सासहिः**=इन शत्रुओं का खूब ही मर्षण करनेवाला है। इन्द्र व इन्द्राणी मिलकर शत्रुओं का निश्चित पराभव करनेवाले होते हैं। **उभे**=हम दोनों **सहस्वती भूत्वी**=शत्रु मर्षण की शक्तिवाले होकर **मे**=मेरी **सपत्नीम्**=शत्रुभूत इस भोगवृत्ति को **सहावहै**=पराभूत करते हैं। हमें यही चाहिये कि हम आत्मिकशक्ति से सम्पन्न होकर भोगवृत्ति को विनष्ट करनेवाले बनें।

भावार्थ—इन्द्र व इन्द्राणी का मेल होने पर भोगवृत्ति रूप सपत्नी का विनाश निश्चित है।

ऋषिः—इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नीबाधनम् ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वत्सं गौः इव

उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **सहमानाम्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का मर्षण करनेवाली इस आत्मशक्ति को **ते उप अधाम्**=तेरे समीप स्थापित करता हूँ। और इस प्रकार **सहीयसा**=शत्रुओं को प्रबलता से कुचलनेवाले इस बल से **त्वा**=तुझे **अभि अधाम्**=सब ओर से धारण करता हूँ। जिधर से भी शत्रु का आक्रमण हो, यह तेरी आत्मिकशक्ति उसका पराभव करती है। (२) इन शत्रुओं के पराभव के होने पर **मां अनु**=मुझे लक्ष्य करके **ते मनः**=तेरा मन **प्रधावतु**=इस प्रकार दौड़े, **इव**=जैसे कि **वत्सम्**=बछड़े का लक्ष्य करके **गौः**=गौ दौड़ती है। गौ को बछड़ा जिस प्रकार प्रिय होता है, इसी प्रकार जीव को प्रभु प्रिय हो। **इव**=जैसे **वाः**=पानी **पथा**=निम्न मार्ग से दौड़ता है इसी प्रकार आत्मविद्या के उपासक का मन प्रभु की ओर चले। पानी स्वभावतः निम्न मार्ग की ओर बहता है, इसी प्रकार हमारी वृत्ति स्वभावतः प्रभु की ओर चलनेवाली हो।

भावार्थ—हम आत्मशक्ति-सम्पन्न होकर प्रभु की ओर बढ़ चलें।

यह सूक्त भोगवृत्ति को नष्ट करके आत्मविद्या की ओर चलने का प्रतिपादन करता है। इस बात के लिये साधनामय जीवन को बितानेवाला 'देवमुनि' अगले सूक्त का ऋषि है। आत्मविद्या के प्रकाश से यह 'देव' है। वाक्संयम रखते हुए विचार करने के कारण यह मुनि है। यह 'इरम्मद' है, गतिशीलता में आनन्द को लेनेवाला है (इर् to go) यह कर्मवीर है नकि वाग्वीर। इसकी साधना एकान्त में चलती है। इस एकान्त की ही प्रतीक 'अरण्यानी' अगले सूक्त की देवता है। अरण्यानी से देवमुनि कहता है—

[१४६] षट्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—देवमुनिरैरम्मदः ॥ देवता—अरण्यानी ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वनस्थ का ग्राम को भूल जाना

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ ॥ १ ॥

(१) 'अरण्यानी' शब्द में 'अर' गति का वाचक है, ण=ज्ञान तथा 'य' प्रत्यय उत्तम अर्थ में आया है। एवं अरण्यानी का भाव है 'गति व ज्ञान में उत्तम'। **अरण्यानि**=गति व ज्ञान की साधना में प्रवृत्त महिले! **अरण्यानि**=वन का आश्रय करनेवाली, गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ होनेवाली महिले! **या**=जो तू **प्र नश्यसि इव**=हमारे लिये अदृष्ट-सी हो गई है। घर पर होने की अवस्था में तो सदा मिलना-जुलना होता ही रहता था, पर अब तो दर्शन दुर्लभ ही हो गया है। **कथा ग्रामं न पृच्छसि**=कैसे तू ग्राम के विषय में कुछ पूछती ही नहीं। क्या तुझे घरवालों की, पड़ोस की, अपने ग्रामवासियों की स्मृति तंग नहीं करती? उन सबको भूलना तेरे लिये कैसे सम्भव हुआ? **त्वा भीः न विन्दति इव**=तुझे यहाँ वन में भय-सा नहीं लगता क्या? हिंस्र पशुओं का, वहाँ ग्राम से दूर स्थान में भय तो होता ही होगा! सो वहाँ तू निर्भयता से कैसे रह रही है। (२) इस मन्त्रार्थ में तीन बातें स्पष्ट हैं—वानप्रस्थाश्रम में जाकर हम (क) एकान्त साधना करें (प्रनश्यसि इव) बहुत मिलना-जुलना साधना में बाधक होता है। (ख) वनस्थ होकर फिर नगर के समाचारों को जानने की हमारे में उत्सुकता न बनी रहे। फिर घरवालों के सुख-दुःख में ही हम शामिल न होते रहें। अन्यथा पुत्र-पौत्रों का मोह मन को घर में रखेगा। (ग) एकान्त वन में आश्रम बनाकर साधना में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—गृहस्थ से ऊपर उठकर हम वनस्थ हों वहाँ हमारा जीवन क्रियाशील हो, हम स्वाध्याय में सतत प्रवृत्त रहें। घरों को भूलने की करें।

सूचना—स्त्रीलिङ्ग का 'अरण्यानी' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि स्त्रियों ने भी वनस्थ होना है 'वनं गच्छेत् सहैव वा' (मनु) पति-पत्नी दोनों वनस्थ होकर पति-पत्नी नहीं रहते, साधना में साथी होते हैं।

ऋषिः—देवमुनिरैरम्मदः ॥ देवता—अरण्यानी ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु की वाणियों में जीवन का शोधन

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः। आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥ २ ॥

(१) **यत्**=जब **चित् चिकः**=ज्ञान का संचय करनेवाला **अरण्यानिः**=यह गति व ज्ञान में उत्तम वनस्थ पुरुष **वृषारवाय**=उस ज्ञान के वर्षक शब्दोंवाले **वदते**=ज्ञानोपदेश देनेवाले, ऋग्, यजु, सामरूप तीन वाणियों का उच्चारण करनेवाले, प्रभु के लिये **उप अवति**=समीप प्राप्त होता है, तो **आघाटिभिः इव**=मानो वीणा की तन्त्रियों के शब्दों से ही **धावयन्**=अपने जीवन को शुद्ध करता हुआ **महीयते**=महिमा को अनुभव करता है। (२) वानप्रस्थ का मूल कर्त्तव्य प्रभु का उपासन है। जब यह प्रभु की उपासना करता है तो हृदयस्थ प्रभु की ज्ञानवाणियों से इसकी हृत्तन्त्री बज उठती है। उन हृत्तन्त्री के स्वरों में यह उपासक स्नात हो उठता है। जैसे एक उत्कृष्ट वाद्य के स्वर में लीन हुआ-हुआ पुरुष चित्तवृत्ति को एकाग्र कर पाता है, इसी प्रकार यह उपासक प्रभु में लीन हुआ-हुआ चित्तवृत्ति को विषयों में भटकने से बचा पाता है। इस प्रकार यह उन हृत्तन्त्री के स्वरों में स्नान करता हुआ शुद्ध जीवनवाला बन जाता है।

भावार्थ—वनस्थ होकर हम प्रभु के उपासन में लीन हो जायें। प्रभु की वाणियों में अपने जीवन को शुद्ध कर डालें।

ऋषिः—देवमुनिरैरम्मदः ॥ देवता—अरण्यानी ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सादगी व शून्यावस्था का अभ्यास

उत गावइवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥ ३ ॥

(१) **उत**-और **गावः इव**-गौवों की तरह **अदन्ति**-वनस्थ पुरुष खाते हैं। ये ग्राम्य भोजनों को छोड़कर वन के फल-मूलादिकों को ही खानेवाले बनते हैं। यथासम्भव अग्निपक्क आहार का यह त्याग कर देते हैं। (२) **उत**-और इन्हें यह वन ही **वेश्म इव**-घर की तरह **दृश्यते**-दिखता है। यह कुटिया को ही महल समझते हैं। **उत उ**-और निश्चय से **अरण्यानिः**-यह वनस्थ पुरुष **सायम्**-सायंकाल **शकटीः इव**-गाड़ियों की तरह **सर्जति**-सब हृदयस्थ भावों को विसृष्ट करता है। जैसे वन से सब लकड़ी आदि को लेने के लिये आयी हुई गाड़ियाँ लौट जाती हैं, इसी प्रकार यह वनस्थ पुरुष दिन की समाप्ति पर सब भावों को दूर करके शून्यावस्था को लाने का अभ्यास करता है। संसार से उपरत होने का प्रतिदिन अभ्यास करता हुआ यह प्रभु के अधिक समीप होता चलता है।

भावार्थ—वनस्थ पुरुष का खान-पान-रहनसहन अधिक से अधिक प्रकृति के समीप होता है। यह प्रतिदिन शून्यावस्था को प्राप्त करने का अभ्यास करता है।

ऋषिः—देवमुनिरैरम्मदः ॥ देवता—अरण्यानी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

गौ का आह्वान

गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्। वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥ ४ ॥

(१) **एषः**-यह वनस्थ पुरुष **अंग**-शीघ्र ही ('अंग' क्षिप्रे च) **गाम्**-इस ज्ञान की वाणीरूप गौ का **आह्वयति**-आह्वान करता है। यह सदा वेदवाणी का अध्ययन करता है और **एषः**-यह **अंग**-शीघ्र ही **दारु**-शक्तियों को विदीर्ण करनेवाली वासनाओं को **अपावधीत्**-सुदूर विनष्ट करता है। वानप्रस्थ का मूल कर्त्तव्य यही है कि ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करे, वासनाओं को विनष्ट करे। (२) **अरण्यान्यां वसन्**-वन में निवास करता हुआ अथवा उत्तम गति व ज्ञान की स्थिति में निवास करता हुआ यह **इति मन्यते**-यह मानता है कि पुरुष साधना के लिये **सायम्**-सायंकाल **अक्रुक्षत्**-अवश्य प्रभु का आह्वान करे। सायंकाल अन्धकार का प्रारम्भ होता है, उस समय आसुरभाव प्रबल होने लगते हैं। उनके विनाश के लिये सन्नद्ध होकर प्रभु का उपासन करने लगना यह आवश्यक है। इस प्रभु ध्यान में ही शून्यावस्था को लाने का प्रतिदिन अभ्यास निहित है। इसी स्थिति में निहित हो जाने से अशुभ स्वप्न न होकर स्वप्नावस्था में प्रभु-दर्शन का सम्भव होता है।

भावार्थ—वानप्रस्थ के तीन कर्त्तव्य हैं—(क) स्वाध्याय, (ख) वासना परिहार, (ग) प्रभु का आराधन।

ऋषिः—देवमुनिरैरम्मदः ॥ देवता—अरण्यानी ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अहिंसा

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥ ५ ॥

(१) **अरण्यानिः**-गति व ज्ञान में उत्तम यह वनस्थ पुरुष **वा**-निश्चय से **न हन्ति**-हिंसा

नहीं करता है, चेत्=यदि अन्यः=दूसरे हिंस्र पशु न अधिगच्छति=इस पर आक्रमण नहीं करते। यह शिकार आदि के शौक से इन पशुओं का कभी हिंसन नहीं करता। यदि अचानक कोई हिंस्र पशु आश्रम में उपद्रव ही कर दे, तब तो उससे रक्षण आवश्यक होता ही है। (२) यह वनस्थ पुरुष स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय=वन के स्वादिष्ट फलों को खाकर यथाकामम्=प्रभु की कामना के अनुसार निपद्येत=(पद् गतौ) निश्चय से कार्यों में प्रवृत्त रहता है। 'सादा खाना, सतत कार्यों में प्रवृत्त रहना' यह इसका जीवनसूत्र बन जाता है।

भावार्थ—वनस्थ पुरुष अहिंसा की वृत्ति से चलता है। यह सादा भोजन करता हुआ सतत कार्य प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—देवमुनिरैरम्मदः ॥ देवता—अरण्यानी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

आत्मनिरीक्षण

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ ६ ॥

(१) अहम्=मैं अरण्यानिम्=इस वनस्थ वृत्ति का प्र अशंसिषम्=प्रकर्षेण शंसन करता हूँ जो वनस्थ वृत्ति आञ्जनगन्धिम्=(अञ्जनम्=right) अज्ञानान्धकार की रात्रि को विनष्ट करनेवाली है। सुरभिम्=(wise, learued, good, virtuous) ज्ञान को बढ़ानेवाली व दिव्यता को विकसित करनेवाली है। बहु अन्नाम्='शान्तिर्वा अन्नं' (ऐ० ५।७) बहुत शान्तिवाली है। वनस्थ वृत्ति में पुरुष हबड़-दबड़ (भागदौड़) को छोड़कर शान्त वृत्ति को धारण करने का प्रयत्न करता है। अकृषीवलाम्=(अ-कृषी-वल) चीर-फाड़ (कृषः to tear) के आवरणों से रहित हो। वनस्थ वृत्ति में दूसरों को कष्ट में डालने की प्रवृत्ति ही नहीं रहती। (२) मृगाणां मातरम्=यह वनस्थ वृत्ति (मृग अन्वेषणे) आत्मनिरीक्षण करनेवालों का निर्माण करनेवाली है। इस वानप्रस्थ ने मुख्यरूप से आत्मनिरीक्षण करते हुए, अपने जीवन को पवित्र बनाकर, प्रभु का दर्शन करना है।

भावार्थ—गृहस्थोपरान्त हम वनस्थ वृत्ति को अपनाएँ। सब अज्ञानों को दूर करते हुए, आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने को पवित्र बनाएँ और प्रभु-दर्शन का प्रयत्न करें।

इस सूक्त में वानप्रस्थ का सुन्दर चित्रण हुआ है यह ग्राम को भूलने का प्रयत्न करता है। (१) प्रभु की वाणियों में जीवन के शोधन का प्रयत्न करता है। (२) सादा जीवन बिताते हुए शून्यावस्था को जाने का अभ्यास करता है। (३) 'स्वाध्याय, वासनाविदारण, प्रभु-स्मरण' इसके मुख्य कार्यक्रम हैं। (४) अहिंसा की वृत्ति को अपनाता हुआ क्रियाशील बनता है। (५) आत्मनिरीक्षण करता हुआ प्रभु-दर्शन के लिए यत्नशील होता है। (६) निरन्तर स्वाध्याय आदि के द्वारा यह 'सुवेदाः' उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाला बनता है। ज्ञान द्वारा वासनाओं को शीर्ण करनेवाला 'शैरीषि' होता है। यह प्रभु प्रार्थना करता हुआ कहता है—

[१४७] सप्तचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सुवेदाः शैरीषिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रथम मन्यु के लिये श्रद्धा

श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद् वृत्रं नर्यं विवेरपः।
उभे यत्त्वा भवतो रोदसी अनु रेजते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिवः॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! मैं **ते**-आपके **प्रथमाय**-सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले **मन्यवे**-इस वेदरूप ज्ञान के लिये **श्रद् दधामि**-श्रद्धा को धारण करता हूँ। श्रद्धापूर्वक इसका अध्ययन करता हूँ। **यत्**-क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा आप **वृत्रम्**-ज्ञान की आवरणभूत वासना का **अहन्**-विनाश करते हैं। और **नर्यं अपः**-नर हितकारी कर्मों को **विवेः**-प्राप्त कराते हैं (आगमः)। मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति में प्रवृत्त होता है तो उसके जीवन में दो परिणाम होते हैं। एक तो वह वासनाओं से अपने को बचा पाता है और दूसरे लोकहित के कार्यों में सतत प्रवृत्त रहता है। (२) हे **अद्रिवः**-वज्रहस्त प्रभो! (अद्रिः वज्रः) **यत्**-जब **उभे रोदसी**-ये दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा अनुभवतः**-आपके अनुकूल होते हैं। आपके **शुष्मात्**-बल से **पृथिवी चित्**-यह विस्तृत अन्तरिक्ष भी **रेजते**-कम्पित हो उठता है। सो जब एक उपासक वेदज्ञान की साधना करता हुआ वासनाओं से ऊपर उठता है और लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है तो ये द्युलोक, पृथिवी लोक व अन्तरिक्ष लोक उसके भी अनुकूल होते हैं। उसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त होता है, उसका यह शरीररूप पृथिवी लोक दृढ़ होता है। तथा उसका यह हृदयान्तरिक्ष वासनाओं के तूफानों से आन्दोलित नहीं होता रहता। इसके हृदयान्तरिक्ष में चन्द्र की निर्मल ज्योत्स्ना छिटक जाती है और यह मनःप्रसाद का अनुभव करता है।

भावार्थ—ज्ञान को श्रद्धापूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर मनुष्य वासना से ऊपर उठता है, लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है और मस्तिष्क, शरीर व हृदय को क्रमशः दीप्त दृढ़ तथा दिव्य व दयार्द्र बना पाता है।

ऋषिः—सुवेदाः शैरीषिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु का वरण

त्वं मा॒याभि॑रनवद्य मा॒यिनं॑ श्रवस्य॒ता मन॑सा वृ॒त्रम॑र्दयः ।
त्वामिन्नरो॑ वृणते॒ गवि॑ष्टिषु॒ त्वां विश्वा॑सु ह॒व्या॒स्वि॑ष्टिषु ॥ २ ॥

(१) हे **अनवद्य**-सब अप्रशस्तों से रहित, पूर्ण शुद्ध परमात्मन्! **त्वम्**-आप **मायाभिः**-प्रज्ञानों के द्वारा **मायिनं वृत्रम्**-इस प्रबल माया (अवञ्चन) वाले कामदेव को, ज्ञान की आवरणभूत वासना को **श्रवस्यता मनसा**-ज्ञान की कामनावाले मन के द्वारा **अर्दयः**-पीड़ित करते हैं। प्रभु हमें 'ज्ञान की कामनावाला मन' देते हैं तथा वेद के शब्दों में ज्ञानों को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार प्रभु हमारी वासना का विनाश करते हैं। धर्म के दस लक्षणों में 'श्रवस्यन् मन' 'धी' शब्द से कहा गया है और 'माया' के लिये वहाँ ज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। इस धी और ज्ञान का मेल होने पर वासना का विनाश निश्चित है। (२) **नरः**-वासना को विनष्ट करके आगे बढ़नेवाले ये लोग **इत्**-निश्चय से **गविष्टिषु**-ज्ञानयज्ञों में **त्वां वृणते**-आपका वरण करते हैं। **विश्वासु**-सब **हव्यासु इष्टिषु**-आहूत्य प्रार्थनीय याग-क्रियाओं में **त्वाम्**-आपका ही वरण करते हैं। ज्ञानयज्ञों में तथा अग्निहोत्रादि देवयज्ञों में लगनेवाले पुरुष प्रभु प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। प्रकृति का वरण करनेवाले पुरुषों के लिये ये ज्ञानयज्ञ व देवयज्ञ रुचिकर नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि व विद्या प्राप्त कराके वासना से दूर करते हैं। ज्ञान यज्ञों व देव यज्ञों में प्रवृत्त होकर हम प्रभु का वरण करते हैं, प्रकृति में नहीं फँसते।

ऋषिः—सुवेदाः शैरीषिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उपासना का फल

ऐषु चाकन्धि पुरुहूत सूरिषु वृधासो ये मघवन्नानशुर्मघम्।
अर्चन्ति तोके तनये परिष्टिषु मेधसाता वाजिनमह्रये धने॥ ३॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले परमात्मन्! आप **एषु**=इन **सूरिषु**=ज्ञानी पुरुषों में **आचाकन्धि**=विशेषरूप से दीप्त होइये। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप उन ज्ञानियों में दीप्त होइये **ये**=जो **वृधासः**=वृद्धि को प्राप्त होते हुए **मघं आनशुः**=धन को व्याप्त करते हैं। वस्तुतः जहाँ धन के साथ ज्ञान तथा दिव्यगुणों के वर्धन का भाव हो वहाँ प्रभु का प्रकाश होता है। (२) ये ज्ञानी पुरुष **वाजिनम्**=शक्तिशाली आपको (प्रभु को) **अर्चन्ति**=पूजते हैं। इसलिए पूजते हैं कि—(क) **तोके तनये**=उत्तम पुत्र-पौत्रों को वे प्राप्त करनेवाले हों। तोकों व तनयों के निमित्त वे प्रभु का पूजन करते हैं। वस्तुतः जिस घर में प्रभु-पूजन चलता है, वहाँ सन्तान उत्तम बनते ही हैं। (ख) **परिष्टिषु**=परितः इष्यमाण अन्य फलों के निमित्त वे प्रभु का पूजन करते हैं। 'पति-पत्नी का परस्पर प्रेम, मित्रों का सच्चा मित्र प्रमाणित होना' इत्यादि ऐसी बातें हैं जो जीवन को सुखी व उन्नत बनाने के लिये आवश्यक ही हैं। (ग) **मेधसाता**=यज्ञों के निमित्त वे प्रभु का पूजन करते हैं। इसलिए प्रभु-पूजन करते हैं कि उनकी प्रवृत्ति यज्ञविषयक बनी रहे। (घ) **अह्रये धने**=अलज्जाकर धन के निमित्त ये प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु-पूजक पवित्र साधनों से धन का अर्जन कर पाता है और संसार यात्रा को ठीक प्रकार से चलानेवाला होता है।

भावार्थ—'ज्ञान, दिव्यगुणवर्धन व धन' का जहाँ मेल होता है वहाँ प्रभु का प्रकाश होता है। प्रभु का उपासक 'उत्तम सन्तानों, अन्य वाञ्छनीय बातों, यज्ञों व पवित्र धनों' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—सुवेदाः शैरीषिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'मित्र, शक्ति, धन'

स इन्नु रायः सुभृतस्य चाकनन्मदं यो अस्य रंह्यं चिकेतति।
त्वावृधो मघवन्दाश्वध्वरो मक्षू स वाजं भरते धना नृभिः॥ ४॥

(१) **यः**=जो **अस्य**=इस प्रभु के **रंह्यम्**=वेग से युक्त, अर्थात् स्फूर्तियुक्त क्रियाओंवाले **मदम्**=हर्ष को **चिकेतति**=जानता है, **सः**=वह उपासक **इत् नु**=निश्चय से **सुभृतस्य रायः**=उत्तम उपायों से जिसका भरण किया गया है, उस धन की **चाकन्**=कामना करता है। जिस उपासक को उपासना में कुछ आनन्द का अनुभव होने लगता है, उसका जीवन क्रियाशील तो होता ही है, साथ ही वह उत्तम उपायों से ही धन को कमाने की कामना करता है। (२) **त्वावृधः**=आपकी भावना को अपने में बढ़ानेवाला, **दाश्वध्वरः**=दानयुक्त यज्ञोंवाला, अर्थात् यज्ञों में खूब दान देनेवाला **सः**=वह उपासक, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवान् प्रभो! **मक्षू**=शीघ्र ही **नृभिः**=मनुष्यों के साथ **वाजम्**=शक्ति को तथा **धना**=धनों को **भरते**=सम्पादित करता है इसको मित्रों की भी प्राप्ति होती है तथा यह शक्ति व धन का भी अर्जन करनेवाला बनता है। इस प्रकार इसका सांसारिक जीवन भी बड़ा उत्तम बन जाता है।

भावार्थ—उपासक सुपथ से ही धन कमाता है। ध्यान व यज्ञों को अपनाता हुआ यह (=सन्ध्या-हवन करता हुआ) 'मित्रों-शक्ति व धनों' को प्राप्त करके सुखी व शान्त जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—सुवेदाः शैरीषिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति-धन-अन्न

त्वं शर्धाय महिना गृणान उरु कृधि मघवञ्छग्धि रायः।
त्वं नो मित्रो वरुणो न मायी पित्वो न दस्म दयसे विभक्ता ॥ ५ ॥

(१) हे **मघवन्**-ऐश्वर्यवन् प्रभो! **महिना गृणानः त्वम्**-खूब ही स्तुति किये जाते हुए आप **शर्धाय**-बल के लिये हमें **उरु**-खूब **कृधि**-करिये। अर्थात् हम खूब ही आपका स्तवन करें और खूब ही शक्ति को प्राप्त करें। आप **रायः शग्धि**-हमारे लिये धनों को भी दीजिये। (२) हे **दस्म**-हमारे सब कष्टों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **त्वम्**-आप **नः**-हमारे लिये **मित्रः वरुणः न**-मित्र और वरुम के समान होते हुए, अर्थात् हमें मृत्यु व रोगों से बचाते हुए (प्रमीतेः त्रायते इति मित्रः) तथा हमारे से द्वेषादि को दूर करते हुए (वारयति इति वरुणः), **मायी**-सम्पूर्ण माया के स्वामी होते हुए, **न**-(संप्रति सा०) अब **विभक्ता**-सब धनों का उचित विभाग करनेवाले होते हुए **पित्वः दयसे**-पालक अन्न को देते हैं। आपकी कृपा से हमें उन अन्नों की प्राप्ति होती है, जो कि हमारे रक्षण के लिये आवश्यक हैं।

भावार्थ—उपासित प्रभु हमें शक्ति देते हैं, धन देते हैं तथा शरीर रक्षा के लिये आवश्यक अन्नों को प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त इस भावना पर बल देता है कि हम श्रद्धापूर्वक प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक चीजें प्राप्त करायेंगे। प्रभु की उपासना से अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला यह 'पृथु' बनता है (प्रथ विस्तारे)। गतिशील, विचारशील व उपासना की वृत्तिवाला होने से 'वैन्य' कहलाता है (वेन् to go, to reflect, to worship)। यह कहता है—

[१४८] अष्टचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—पृथुर्वैन्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण व शक्ति का भरण

सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा ससवांसश्च तुविनृम्ण वाजम्।
आ नो भर सुवितं यस्य चाकन्त्मना तना सनुयाम त्वोताः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुष्वाणासः**-सोम का (=वीर्य का) उत्तमता से सवन (=उत्पादन) करते हुए हम **त्वा स्तुमसि**-आपका स्तवन करते हैं। **च**-और हे **तुविनृम्ण**-महान् शक्तिवाले प्रभो! **वाजं ससवांसः**-शक्ति का सम्भजन (=उपासन) करते हुए हम आपका स्तवन करते हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासक सोम का रक्षण करता है और इस प्रकार अपने को शक्तिशाली बनाता है। (२) प्रभो! आप **नः**-हमारे लिये **सुवितम्**-उस उत्तम गति का, 'दुरित' से विपरीत 'सुवित' का **आभरः**-भरण करिये **यस्य चाकन्**-जिसकी आप हमारे लिये कामना करते हैं। प्रभु हमें सदा दुरितों से दूर व सुवितों के समीप देखना चाहते हैं। इन सुवितों को भी तो प्रभु ने

ही प्राप्त कराना है। (३) हे प्रभो! **त्वोताः**=आप से रक्षित हुए-हुए हम **त्मना**=स्वयं दूसरों पर आश्रित न होते हुए, **तना**=धनों को **सनुयाम**=प्राप्त करें। हम स्वयं पुरुषार्थ से धनों का विजय करनेवाले बनें।

भावार्थ—सोम के रक्षण के द्वारा शक्तिशाली बनकर हम प्रभु के उपासक बनें। प्रभु कृपा से हम सन्मार्ग पर चलते हुए, अपने श्रम से धनार्जन करनेवाले हों।

ऋषिः—पृथुर्वैन्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्ध्वरेता को प्रभु-दर्शन

ऋष्वस्त्वमिन्द्र शूर जातो दासीर्विशः सूर्येण सह्याः।

गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्सु बिभृमसि प्रस्रवणे न सोमम् ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **ऋत्वा**=दर्शनीय व महान् (ऋष्वः=महान् दर्शनीयो वा सा०) **जातः**=प्रसिद्ध हैं, आपका मेरे में प्रादुर्भाव हुआ है। मैंने आज आपका दर्शन किया है। आप इन **दासीः**=मेरा उपक्षय करनेवाली **विशः**=मेरे न चाहते हुए भी मेरे में घुस आनेवाली अशुभ काम आदि वृत्तियों को **सूर्येण**=ज्ञान सूर्य के उदय से **सह्याः**=पराभूत करिये आपकी कृपा से मेरे मस्तिष्क गगन में ज्ञान सूर्य का उदय हो और इन वासनान्धकारों का विनाश हो जाये। (२) **गुहाहितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थापित **गुह्यम्**=अत्यन्त रहस्यमय, दुर्ज्ञेय **अप्सु गूळ्हम्**=सब प्रजाओं में अन्तर्हित रूप से वर्तमान आपको हम **बिभृमसि**=धारण करते हैं, अपने हृदयदेश में देखने का प्रयत्न करते हैं, **न**=जिस प्रकार **प्रस्रवणे**=प्रकृष्ट गति में, ऊर्ध्वगति में **सोमम्**=सोम का धारण करते हैं। जितना-जितना हम सोम का ऊर्ध्वगमन कर पाते हैं उतना-उतना ही हम आपको धारण करनेवाले बनते हैं। इस सोम (=वीर्य) के धारण से ही उस सोम (=प्रभु) का धारण होता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होते ही वासनान्धकार विनष्ट हो जाता है। हृदयस्थ प्रभु का दर्शन ऊर्ध्वरेता बनने पर ही होता है।

ऋषिः—पृथुर्वैन्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण व सात्त्विक भोजन

अर्यो वा गिरो अभ्यर्च विद्वानृषीणां विप्रः सुमतिं चकानः।

ते स्याम ये रणयन्त सोमैरेनोत तुभ्यं रथोळ्ह भक्षैः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **अर्यः**=स्वामी तथा **विद्वान्**=ज्ञानी आप **ऋषीणाम्**=(ऋष् गतौ) गतिशील पुरुषों के **विप्रः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। इस पूरण के लिये ही **सुमतिं चकानः**=उनकी सुमति की आप कामना करते हैं। आप उन ऋषियों को सुमति प्राप्त कराते हैं। आप **वा**=निश्चय से **गिरः**=इनकी ज्ञान की वाणियों को **अभ्यर्च**=(अर्च् to shire) दीप्त कीजिये। इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा ही तो ये अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर कर पायेंगे। (२) वे इन **ते स्याम**=आपके हों, हमारा झुकाव आपकी ओर हो, हम प्रकृति में फँस न जायें। **ये**=जो हम **सोमैः रणयन्त**=सोमरक्षण के द्वारा आपको अपने जीवन में रममाण करते हैं। जितना-जितना हम सोम का रक्षण करते हैं, उतना-उतना ही हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। हे **रथोळ्ह**=शरीररूप रथ के द्वारा वहन किये जानेवाले प्रभो! हम इन शरीर रथों के आपकी ओर ही आनेवाले बनते हैं। **एना**=इस सोम के द्वारा **उत**=और **भक्षैः**=सात्त्विक भोजनों के द्वारा **तुभ्यम्**=हम आपके लिये ही गतिवाले

होते हैं। भोजनों को भी हम इस दृष्टिकोण से खाते हैं कि हम सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर आपकी ओर गतिवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें सुमति देते हैं, हमारी ज्ञानवाणियों को दीप्त करते हैं। सोम का रक्षण करते हुए व सात्त्विक भोजनों का सेवन करते हुए हम आपकी ओर बढ़ें, आपके प्रिय हों।

ऋषिः—पृथुर्वैन्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-स्तवन व बल प्राप्ति

इमा ब्रह्मेन्द्र तुभ्यं शंसि दा नृभ्यो नृणां शूर शवः।
तेभिर्भव सक्रतुर्येषु चाकन्नुत त्रायस्व गृणत उत स्तीन्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इमा ब्रह्म**=इन स्तोत्रों का **तुभ्यं शंसि**=आपके लिये शंसन किया जाता है। हम इन स्तोत्रों के द्वारा आपका स्तवन करते हैं। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **नृणां नृभ्यः**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों में भी श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये (नरों में नरों के लिये) **शवः**=बल को **दाः**=दीजिये। (२) हे प्रभो! आप **येषु**=जिन स्तोताओं में **चाकन्**=इन बल आदि की स्थापना की कामना करते हैं, **तेभिः**=उन स्तोताओं के साथ **सक्रतुः**=समान कर्मा **भव**=होइये। वे स्तोता भी आपके समान कर्मोंवाले हों, अथवा उन स्तोताओं में स्थित हुए-हुए आप ही उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनाकर कार्य करानेवाले हो। **उत**=और **गृणतः**=इन स्तोताओं का **त्रायस्व**=आप रक्षण करिये, **उत**=और **स्तीन्**=मिलकर (संघीभूय सा०) यज्ञादि कार्यों को करनेवाले इन यज्ञशील पुरुषों को आप रक्षित करिये। स्तोता व यजमान आपके रक्षणीय हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें बल देते हैं। स्तोताओं व यजमानों का प्रभु ही रक्षण करते हैं।

ऋषिः—पृथुर्वैन्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पृथी व वेन्य

श्रुधी हवमिन्द्र शूर पृथ्या उत स्तवसे वेन्यस्यार्कैः।
आ यस्ते योनिं घृतवन्तमस्वारूर्मिर्न निम्नैर्द्रवयन्त वक्वाः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **पृथ्याः**=पृथी के अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले के **हवंश्रुधि**=पुकार को सुनते हैं। **उत**=और **वेन्यस्य**=चिन्तनशील-क्रियामय जीवन वाले उपासक के (वेन्=to go, to reflect, to worship) **अर्कैः**=स्तोत्रों से **स्तवसे**=आप स्तुति किये जाते हैं। प्रभु का सच्चा स्तोता 'पृथी' है और 'वेन्य' है। (२) **यः**=जो **ते**=आपके **घृतवन्तं योनिम्**=दीप्तिवाले निवास-स्थान (परम पद) का **आ अस्वाः**=सर्वथा शंसन करता है, अर्थात् मोक्षलोक व ब्रह्मलोक के सौन्दर्य का ध्यान करता है, इस प्रकार के **वक्वाः**=ब्रह्मलोक के सौन्दर्य का कथन व चर्चण करनेवाले लोग आपकी ओर उसी प्रकार **द्रवयन्त**=गतिवाले होते हैं, **न**=जैसे कि **निम्नैः**=निम्न मार्गों से **ऊर्मिः**=जलसंघ गतिवाला होता है। जलसंघ की गति जिस प्रकार शान्त व नम्रता को लिये हुए होती है, इसी प्रकार यह स्तोता शान्ति से नम्रतापूर्वक आपकी ओर बढ़ता है।

भावार्थ—शक्तियों का विस्तार करते हुए, गतिशील बनकर हम प्रभु के उपासक हों। ब्रह्मलोक का स्मरण करते हुए, शान्त नम्रभाव से उसकी ओर बढ़ें।

सम्पूर्ण सूक्त इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि सोमरक्षण के द्वारा 'शक्तिशाली, शान्त व नम्र' बनकर प्रभु के हम उपासक हों, प्रभु की ओर गतिवाले हों, प्रभु को प्राप्त हों। यह प्रभु का पूजन करनेवाला 'अर्चन्' अपने शरीर में शक्ति (हिरण्य) की ऊर्ध्वगतिवाला (स्तूप) बनता है। इसका नाम 'अर्चन् हैरण्यस्तूपः' हो जाता है। अगले सूक्त में यह प्रभु को 'सविता' नाम से उपासित करता है—

[१४९] एकोनपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अर्चन्हैरण्यस्तूपः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नियामक सविता

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥ १ ॥

(१) **सविता**-सबका उत्पादक प्रभु **यन्त्रैः**-अपने नियन्त्रण (नियमन) के साधनों से **पृथिवीम्**-इस पृथिवी को **अरम्णात्**-(अरमयत् सा०) सुख से स्वस्थान में स्थापित करता है। वह **सविता**-उत्पादक प्रभु ही **अस्कम्भने**-स्वकाम आदि आधारों से रहित स्थल में **द्याम्**-इस द्युलोक को **अदृंहत्**-दृढ़ करता है अथवा **द्याम्**-सूर्य को दृढ़ करता है। (२) **अश्वं इव धुनिम्**-घोड़े की तरह कम्पायितव्य इस **अन्तरिक्षम्**-अन्तरिक्ष से **अतूर्ते**-किसी से भी अहिंसित स्थान में **बद्धम्**-बन्धे हुए **समुद्रम्**-जल समुद्र को **अधुक्षत्**-दोहता है। घोड़ा जैसे अपने शरीर को कम्पित करता है, इसी प्रकार अन्तरिक्ष वायु आदि की गति से कम्पित-सा होता रहता है। इस अन्तरिक्ष में मेघ जल समुद्र के रूप में बन्धा हुआ है, इस स्थान पर यह जल समुद्र किसी से भी हिंसनीय नहीं। प्रभु इसका दोहन करते हैं, और इस भूलोक को उस जल समुद्र से सिक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के नियमन साधनों से पृथिवी व द्युलोक अपने-अपने स्थान में थामे गये हैं। प्रभु ही अन्तरिक्ष को वायु आदि से कम्पित करते हैं और मेघरूप जल समुद्र का दोहन करते हैं।

सूचना—यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में 'गपयो दोग्धि' की तरह द्विकर्मकता है। प्रथम कर्म का अर्थ पञ्चमी का करना होता है। जैसे 'गो से दूध दोहता है'।

ऋषिः—अर्चन्हैरण्यस्तूपः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिलोकी के निर्माता 'प्रभु'

यत्रा समुद्रः स्कभितो व्यौनदपां नपात्सविता तस्य वेद।
अतो भूरत आ उत्थितं रजोऽतो द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥ २ ॥

(१) **यत्रा**-जहाँ **स्कभितः**-अन्तरिक्ष में थमा हुआ **समुद्रः**-यह अन्तरिक्षस्थ समुद्र, अर्थात् मेघ **व्यौनत्**-विशेषरूप से भूमि को क्लिन्न करता है, **अपांनपात्**-जलों का न गिरने देनेवाला **सविता**-यह उत्पादक प्रभु **तस्य वेद**-उस अन्तरिक्षलोक के निर्माण को जानता है। प्रभु ही इस अन्तरिक्ष लोक का निर्माण करते हैं जहाँ स्थित हुआ-हुआ मेघ भूमि को क्लिन्न करता है। (२) **अतः**-इस प्रभु से ही **भूः**-पृथिवी का निर्माण होता है, **अतः**-इस प्रभु से ही **आ**-चारों ओर **रजः**-ये लोक-लोकान्तर **उत्थितम्**-उठ खड़े हुए हैं, बनाये गये हैं। **अतः**-इस प्रभु से ही **द्यावापृथिवी**-द्युलोक व पृथिवी लोक **अप्रथेताम्**-विस्तृत किये गये हैं।

भावार्थ—प्रभु ही अन्तरिक्ष लोक व अन्तरिक्षस्थ मेघों का निर्माण करते हैं। वे ही द्यावापृथिवी को भी विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—अर्चन्हैरण्यस्तूपः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परस्पर गुथे हुए लोक

प॒श्चेदम॒न्यद॑भव॒द्यज॑त्र॒मम॑र्त्यस्य॒ भुव॑नस्य॒ भू॒ना।
सु॒प॒र्णो अ॒ङ्ग स॑वि॒तुर्ग॒रुत्मा॒न्पूर्वो॑ जा॒तः स उ॑ अ॒स्यानु॒ धर्म॑ ॥ ३ ॥

(१) **पश्चा**-गत मन्त्र के अनुसार लोकत्रयी के निर्माण के पश्चात् **अमर्त्यस्य**-उस नष्ट न होनेवाले **भुवनस्य**-लोक-लोकान्तरों को जन्म देनेवाले प्रभु के **भूना**-(भूम्ना) महान् ऐश्वर्य से (भूमन्=wealth) **इदम्**-यह **अन्यत्**-सब दिखनेवाला लोकसमूह **यजत्रम्**-परस्पर संगतिकरणवाला **अभवत्**-हुआ। ये अनन्त लोक-लोकान्तर उत्पन्न हो गये और ये सब परस्पर सम्बद्ध थे। एकहार में पिराये हुए फूलों के समान इनकी स्थिति थी। (२) **सवितुः**-उस उत्पादक प्रभु से **अंग**-शीघ्र ही **सुपर्णः**-उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला **गरुत्मान्**-लोक-लोकान्तरों के महान् भार को लेकर आकाश में गति करनेवाला, अपनी आकर्षण शक्ति से पृथिवी आदि लोकों को अपने साथ लेकर चलनेवाला सूर्य **पूर्वः जातः**-सब से प्रथम हुआ। **सः**-वह सूर्य **उ**-निश्चय से **अस्य**-इस परमात्मा के **धर्म**-धारण सामर्थ्य को **अनु**-अनुसरण करके ही प्रवृत्त होता है। सब देवों में मुख्य सूर्य है। यह सूर्य भी प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ही इस लोक-लोकान्तरों का निर्माण करते हैं। प्रभु की महिमा से ही सूर्य अपने धारणात्मक कर्मों को कर रहा है।

ऋषिः—अर्चन्हैरण्यस्तूपः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की प्राप्ति

गाव॑ इव॒ ग्राम॒ं यूयु॑धिरि॒वाश्वा॑न्वा॒श्रेव॑ व॒त्सं सु॒मना॒ दुहा॑ना।
पति॑रिव जा॒याम॒भि नो॒ न्ये॑तु ध॒र्ता दि॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ ४ ॥

(१) **नः अभि**-हमारी ओर **नि एतु**-निश्चय से प्राप्त हो। वह **दिवः धर्ता**-द्युलोक व सूर्य का धारण करनेवाला, **सविता**-सबका उत्पादक, **विश्ववारः**-सब से वरण के योग्य प्रभु हमें इस प्रकार प्राप्त हो, **इव**-जैसे कि **गावः**-गौवें **ग्रामम्**-ग्राम को प्राप्त होती हैं। हम कभी भी प्रभु की आँख से ओझल न हों। (२) हमें प्रभु इस प्रकार प्राप्त हों, **इव**-जैसे कि **यूयुधिः**-एक योद्धा **अश्वान्**-अश्वों को प्राप्त होता है। एक योद्धा से अधिष्ठित अश्व विजय को प्राप्त होता है, इसी प्रकार प्रभु से अधिष्ठित हम विजयी हों। (३) इस प्रकार हमें प्रभु प्राप्त हों **इव**-जैसे कि **वाश्रा**-शब्द करती हुई **सुमनाः**-उत्तम मनवाली **दुहानाः**-दूध देनेवाली गौ **वत्सम्**-बछड़े को प्राप्त होती है। हमें प्रभु ज्ञानोपदेश दें, हम प्रभु के लिये वत्स तुल्य प्रिय हों। (४) इस प्रकार प्रभु हमें प्राप्त हों **इव**-जैसे कि **पतिः जायाम्**-पति-पत्नी को प्राप्त होता है। पति पत्नी का रक्षण करता है, हम प्रभु से रक्षणीय हों।

भावार्थ—वह विश्ववरणीय प्रभु हमें प्राप्त हों। उस प्रकार प्राप्त हों जैसे गौवें ग्राम को, योद्धा अश्वों को, रम्भाती हुई गौ बछड़े को तथा पति-पत्नी को प्राप्त होता है।

ऋषिः—अर्चन्हैरण्यस्तूपः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना में अप्रमाद

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ॥ ५ ॥

(१) हे सवितः=सर्वोत्पादक प्रभो! यथा=जैसे अस्मिन् वाजे=इस जीवन-संग्राम में हिरण्यस्तूपः=वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाला आंगिरसः=अंग-अंग में रसवाला उपासक त्वा=आपको जुह्वे=पुकारता है। एवा=इसी प्रकार त्वा=आपको अर्चन्=पूजता हुआ अतएव 'अर्चन्' नामवाला उपासक मैं अवसे=रक्षण के लिये वन्दमानः=स्तुति करता हूँ। आपका वन्दन करता हुआ मैं रक्षण के लिये प्रार्थना करता हूँ। (२) अहम्=मैं आपकी उपासना के प्रति जागर=विषय में इस प्रकार जागरित व सावधान रहूँ इव=जैसे कि सोमस्य अंशुम्=सोम के अंशु के प्रति जागरित होता हूँ। 'सोम' वीर्यशक्ति है, इसका 'अंशु' इससे उत्पन्न प्रकाश की किरण है। सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म बनती है और उस सूक्ष्म बुद्धि से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। इस सोम के अंशु के प्रति जिस प्रकार सावधान रहना आवश्यक है, इसी प्रकार प्रभु के उपासन के प्रति भी सावधान रहना जरूरी है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन के प्रति सदा सावधान रहें। इस उपासना में कभी प्रमाद न करें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु को सविता के रूप में उपासित करता है। यह उपासक ही जीवन को सुखी बना पाता है। औरों को सुखी करनेवाला यह 'मृडीक' कहलाता है। उत्तम निवासवाला व वसियों में श्रेष्ठ होने से 'वासिष्ठ' है। यह प्रार्थना करता है कि—

[१५०] पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—मृळीको वासिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु-दर्शन व आनन्द प्राप्ति

समिद्धश्चित्समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन।
आदित्यै रुद्रैर्वसुभिर्न आ गहि मृळीकाय न आ गहि ॥ १ ॥

(१) समिद्धः=ज्ञान से दीप्त आप चित्=निश्चय से समिध्यसे=उपासकों से हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। वे उपासक हृदयों में आपके दर्शन का प्रयत्न करते हैं। उस समय इन देवेभ्यः=देववृत्तिवाले व्यक्तियों के लिये हव्यवाहन=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप आदित्यैः='ऋग्, यजु, साम' के ज्ञाता विद्वानों के साथ, रुद्रैः='ऋग्, यजु' के ज्ञाता विद्वानों के साथ तथा वसुभिः=ऋचाओं के ज्ञाता विद्वानों के साथ नः आगहि=हमें प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हमें 'आदित्यों, रुद्रों व वसुओं' का सम्पर्क प्राप्त हो। उनके सम्पर्क में आकर हम भी ऋचाओं से प्रकृति विज्ञान को, यजुओं से जीवविज्ञान को, साम से परमात्मज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। (२) हे प्रभो! इसी प्रकार मृडीकाय=सुख प्राप्ति के लिये नः आगहि=आप हमें प्राप्त होइये। आपके सम्पर्क में हम वास्तविक आनन्द को प्राप्त करनेवाले बनें। आदित्यों, रुद्रों व वसुओं का सम्पर्क हमें भी आदित्य, रुद्र व वसु बनायेगा। ऐसा बनने पर हम आपको प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। आपकी प्राप्ति में ही मृडीक (=सुख) की प्राप्ति है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा सर्वत्र दीप्त है। जब उपासना द्वारा प्रभु को हम हृदय में दीप्त करते

हैं, तो प्रभु (क) सब हव्यपदार्थों को हमें प्राप्त कराते हैं, (ख) हमारा सम्पर्क आदित्यों, रुद्रों व वसुओं के साथ होता है, (ग) हमें वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—मृळीको वासिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

यज्ञ व स्तुतिवचन

इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि।
मर्तासस्त्वा समिधान हवामहे मृळीकाय हवामहे ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **इमं यज्ञम्**-हमारे से किये जानेवाले इस यज्ञ को, **इदं वचः**-इन स्तुतिवचनों को **जुजुषाणः**-प्रेमपूर्वक सेवन करते हुए **उपागहि**-हमें प्राप्त होइये। हम आपका ध्यान करें, आप से उपदिष्ट यज्ञों को करें और इस प्रकार आपके प्रिय बनें। (२) हे **समिधान**-तेज व ज्ञान से दीप्त प्रभो! **मर्तासः**-हम मरणधर्मा प्राणी **त्वा हवामहे**-आपको पुकारते हैं। **मृडीकाय**-सुख प्राप्ति के लिये हम **हवामहे**-आपको पुकारते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों व ध्यान को करते हुए प्रभु के प्रिय बनें प्रभु को हम पुकारें, प्रभु हमें सुखी करें।

ऋषिः—मृळीको वासिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु-स्तवन

त्वामु जातवेदसं विश्ववारं गृणे धिया।
अग्ने देवाँ आ वह नः प्रियव्रतान्मृळीकाय प्रियव्रतान् ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **जातवेदसम्**-सर्वज्ञ **त्वां उ**-आपको ही **धिया**-ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **गृणे**-स्तुत करता हूँ। जो आप **विश्ववारम्**-सब से वरणीय हैं, उन आपको मैं भी ज्ञानपूर्वक कर्म करता हुआ वरता हूँ। (२) हे परमात्मन्! इन ज्ञानपूर्वक कर्मों से वृत्त हुए-हुए आप **नः**-हमारे लिये **देवान्**-उन देवों को **आवह**-प्राप्त कराइये, जो कि **प्रियव्रतान्**-प्रिय व्रतोंवाले हैं। जिन देवों का जीवन व्रतमय है, जिन्हें व्रत रुचिकर हैं। इन **प्रियव्रतान्**-प्रिय व्रत देवों को प्राप्त कराइये। जिससे **मृडीकाय**-हमारा जीवन सुखी हो। व्रतप्रिय देवों के सम्पर्क में हम भी व्रतों की रुचिवाले होंगे और इस प्रकार व्रती जीवन की पवित्रता में पवित्र आनन्द का अनुभव कर पायेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारा सम्पर्क प्रियव्रत देवों से करते हैं। यह सम्पर्क हमारे लिये सुखद होता है।

ऋषिः—मृळीको वासिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—उपरिष्टाज्ज्योतिर्नाम जगती वा ॥ स्वरः—निषादः ॥

देवों का पुरोहित

अग्निर्देवो देवानामभवत्पुरोहितोऽग्निं मनुष्या३ ऋषयः समीधिरे।
अग्निं महो धनसातावहं हुवे मृळीकं धनसातये ॥ ४ ॥

(१) **अग्निः**-वे प्रभु अग्रेणी हैं, **देवः**-प्रकाशमय हैं। **देवानाम्**-देववृत्तिवाले पुरुषों के **पुरोहितः अभवत्**-पुरोहित हैं। देवों के सामने (पुरः) आदर्शरूप से निहित हैं। प्रभु को आदर्श बनाकर जीवन मार्ग पर आक्रमण करने से ही वस्तुतः वे देव बने हैं। (२) **अग्निम्**-इस प्रभु को ही **ऋषयः मनुष्याः**-तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग **समीधिरे**-अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। **अहम्**-मैं भी इस **महः**-तेजःपुञ्ज **अग्निम्**-अग्नि नामक प्रभु को **धनसातौ**-धन की प्राप्ति के निमित्त

हुवे-पुकारता हूँ। **मृडीकम्**-सुखस्वरूप प्रभु को **धनसातये**-धन की प्राप्ति के लिये मैं पुकारता हूँ। वस्तुतः आनन्द की प्राप्ति के लिये तेजस्विता व धन दोनों की ही आवश्यकता है। धन से आवश्यक चीजों के संग्रह का सम्भव होता है और तेजस्विता से उनका ठीक प्रयोग हो पाता है। तेजस्विता व धन के अतिरिक्त 'ज्ञान' भी आवश्यक होता है। ज्ञान से पवित्रता बनी रहती है। धन से चीजें, तेजस्विता से चीजों का प्रयोग तथा ज्ञान से प्रयोग की पवित्रता होकर आनन्द ही आनन्द हो जाता है। ज्ञान का उल्लेख पूर्वार्ध में 'देव' शब्द से हुआ है।

भावार्थ—आनन्द प्राप्ति के लिये 'धन, तेजस्विता, ज्ञान' तीनों की ही आवश्यकता है।

ऋषिः—मृळीको वासिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—उपरिष्टाज्ज्योति ॥ स्वरः—निषादः ॥

'अत्रि-भरद्वाज-गविष्ठिर-कण्व-त्रसदस्यु'

अ॒ग्निरत्रिं॒ भ॒रद्वा॑जं॒ गवि॑ष्ठिरं॒ प्राव॑न्नः॒ कण्वं॑ त्र॒सद॑स्युमाह॒वे।
अ॒ग्निं वसि॑ष्ठो हवते पु॒रोहि॑तो मृळी॒काय॑ पु॒रोहि॑तः ॥ ५ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **नः**=हमारे में से **अत्रिम्**-(अविद्यमानाः त्रयो यस्य) काम-क्रोध-लोभ के अभाववाले पुरुष को **आहवे**-इस संसार संग्राम में **प्रावत्**=रक्षित करते हैं। इस जीवन संग्राम में प्रभु का साहाय्य उसे प्राप्त होता है, जो कि काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। इन से ऊपर उठने का प्रयत्न करता हुआ जो '**भरद्वाजं**'-अपने में शक्ति को भरता है। इस शक्ति को भरने के लिये ही **गविष्ठिरम्**-इन्द्रियों पर स्थिरता से आरूढ़ होता है (गावः इन्द्रियाणि)। जितेन्द्रिय बनकर जो **कण्वम्**-मेधावी बनता है और **त्रसदस्युम्**-(त्रस्यन्ति दस्यवो यस्मात्) जिससे दास्यव वृत्तियाँ, आसुर वृत्तियाँ, भयभीत होती हैं। इस आसुर वृत्तियों से दूर रहनेवाले को प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है। (२) **वसिष्ठः**-अपने इस जीवन में निवास को उत्तम बनानेवाला, **पुरोहितः**-सदा प्रभु को अपने सामने रखनेवाला, प्रभु के गुणों को धारण करनेवाला, यह **अग्निं हवते**-उस प्रभु को पुकारता है। यह **पुरोहितः**-लोगों के लिये अपने जीवन को आदर्श के रूप में उपस्थित करनेवाला (पुरः हितः) वसिष्ठ **मृडीकाय**-आनन्द प्राप्ति के लिये प्रभु को पुकारते हैं।

भावार्थ—हम 'अत्रि, भरद्वाज, गविष्ठिर, कण्व व त्रसदस्यु' बनकर प्रभु से रक्षणीय हों। वसिष्ठ बनकर प्रभु का आराधन करें।

सारा सूक्त 'प्रभु-दर्शन से आनन्द प्राप्ति' का प्रतिपादन कर रहा है। इस प्रभु-दर्शन की ओर झुकाव श्रद्धा से ही सम्भव है। सो अगला सूक्त श्रद्धा का ही प्रतिपादन करता है। 'श्रद्धा' ही सूक्त ऋषि का है। श्रद्धा द्वारा सब कामनाओं को प्राप्त करनेवाली यह 'कामायनी' है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'-जो जिस श्रद्धावाला है वह वही बन जाता है। इस श्रद्धा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

[१५१] एकपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रद्धा से यज्ञ का होना

श्र॒द्धया॒ग्निः समि॑ध्यते श्र॒द्धया॑ हूयते ह॒विः। श्र॒द्धां भग॑स्य मू॒र्धनि॒ वच॒सा वे॑दयामसि ॥ १ ॥

(१) **श्रद्धया**-श्रद्धा से ही **अग्निः समिध्यते**-अग्निकुण्ड में अग्नि समिद्ध की जाती है और **श्रद्धया**-श्रद्धा से ही **हविः हूयते**-हव्य पदार्थों की उसमें आहुति दी जाती है। अग्निहोत्र का लाभ एकदम आँखों से प्रत्यक्ष नहीं दिख पड़ता। देखने में तो उतना घी व अन्य पदार्थ व्यर्थ में नष्ट होता प्रतीत होता है। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' अथवा 'अग्रेर्होत्रेण प्रणुदा सपत्नान्' 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्' आदि शास्त्रीय वाक्यों पर तो श्रद्धा ही करनी होती है। एवं अग्निहोत्र श्रद्धा के होने पर ही होता है। (२) हम **वचसा**-वेद के वचनों से ही **श्रद्धाम्**-श्रद्धा को **भगस्य**-ऐश्वर्य के **मूर्धनि**-शिखर पर **वेदयामसि**-जानते हैं। शास्त्र कहता है कि श्रद्धा मनुष्य को ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचानेवाली है। श्रद्धा मनुष्य को उन्नत करती है और ऊँचा उठता हुआ मनुष्य शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—अग्निहोत्रादि कार्य श्रद्धा के होने पर ही होते हैं।

ऋषिः—श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रद्धा से दान का सम्भव

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः। प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

(१) हे **श्रद्धे**-दृढ़ आस्था के रूप में हृदय में निवास करनेवाली श्रद्धे! **ददतः**-देनेवाले का **प्रियम्**-प्रिय होता है। **श्रद्धे**-हे श्रद्धे! **दिदासतः**-दान की कामनेवाले का भी **प्रियम्**-प्रिय होता है। वस्तुतः दान श्रद्धापूर्वक ही दिया जाता है। देखने में तो उतना रुपया नष्ट होता लगता है। पर शास्त्र यही कहते हैं कि 'यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः'=दिल खोलकर देनेवाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान को प्राप्त करते हैं। 'दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्'=दान से सप्तगुणित धन को प्राप्त करते हैं। अर्थात् दान से 'पुत्रैषणा' 'वित्तैषणा' व 'लोकैषणा' सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं। इन वाक्यों में श्रद्धा के होने पर ही दान दिया जाता है। (२) **भोजेषु**-अतिथियज्ञ में अतिथियों को भोजन करानेवाले व्यक्तियों में तथा **यज्वसु**-यज्ञशील पुरुषों में **मे**-मेरे **इदं उदितम्**-इस कथन को **प्रियं कृधि**-प्रिय करिये। 'दान देनेवाले का कल्याण होता है' यह वाक्य उन्हें प्रिय हो। इस वाक्य में श्रद्धा रखते हुए वे भोज व यज्वा बनें, अतिथियज्ञ व देवयज्ञ आदि को करनेवाले बनें।

भावार्थ—श्रद्धा ही मनुष्य को दानशील बनाती है।

ऋषिः—श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रद्धा से शत्रु विजय

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे। एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

(१) **यथा**-जैसे **देवाः**-देव **उग्रेषु**-अत्यन्त प्रबल **असुरेषु**-असुरों के विषय में, 'इन असुरों को हम अवश्य पराजित कर पायेंगे' इस प्रकार **श्रद्धां चक्रिरे**-श्रद्धा को करते हैं। अर्थात् इस पूर्ण विश्वास के साथ चलते हैं कि हम असुरों को पराजित करनेवाले होंगे। यह पूर्ण विश्वास ही उन्हें असुरों को पराभूत करने में समर्थ करता है। (२) **एवम्**-इस प्रकार **भोजेषु**-अतिथि यज्ञ में अतिथियों को भोजन करानेवालों में, **यज्वसु**-यज्ञशील पुरुषों में **अस्माकं उदिते**-हमारे इस श्रद्धा के महत्त्व प्रतिपादक कथन को **कृधि**-श्रद्धेय करिये। अर्थात् ये भोज व यज्वा पुरुष श्रद्धा के महत्त्व को समझते हुए भोज व यज्वा बने ही रहें। इन यज्ञों से ये पराङ्मुख न हो जाएँ।

भावार्थ—हमें श्रद्धा ही शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करेगी।

ऋषिः—श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रद्धा से देवत्व व वसुओं की प्राप्ति

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **श्रद्धां उपासते**=श्रद्धा का उपासन करते हैं। वस्तुतः श्रद्धा के कारण ही वे देव बन पाते हैं। **यजमानाः**=यज्ञशील पुरुष श्रद्धा की उपासना करते हैं। श्रद्धा के कारण ही वस्तुतः वे यज्ञशील बनते हैं। **वायुगोपाः**=वायु का रक्षण करनेवाले, अर्थात् प्राणायाम के अभ्यासी प्राणसाधक योगी पुरुष भी श्रद्धा की उपासना करते हैं। यह योग तो दीर्घकाल तक निरन्तर आदर से सेवित होकर ही दृढ़ भूमि होता है। एक दिन में योग का फल नहीं दिखने लगता। श्रद्धावाला ही अनिर्विण्ण भाव से साधना में लगा रहता है। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **हृदय्यया आकूत्या**=हृदय के दृढ़ संकल्प से मनुष्य अपनाता है। ढिल-मिल पुरुष कभी श्रद्धावाला नहीं हो पाता। **श्रद्धया**=श्रद्धा से ही **वसु**=सब वसुओं को, धनों को **विन्दते**=पाता है। श्रद्धा ही सब वसुओं की जननी है।

भावार्थ—श्रद्धा से ही हम देव यज्ञशील व योगाभ्यासी बन पाते हैं। श्रद्धा हमें सब वसुओं को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रद्धामय जीवन

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

(१) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **प्रातः**=प्रातःकाल हम **हवामहे**=पुकारते हैं। हमारा जीवन का प्रातःकाल प्रथम २४ वर्ष श्रद्धावाला हो। इस समय हम माता, पिता व आचार्यों के प्रति श्रद्धावाले होकर उनकी आज्ञानुसार वर्तें। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **मध्यन्दिनं परि**=जीवन के मध्याह्न में भी पुकारते हैं। जीवन के अगले ४४ वर्ष भी श्रद्धामय हो। श्रद्धावाले होने पर ही हम इस गृहस्थकाल में पाँचों महायज्ञों को करनेवाले होते हैं। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **सूर्यस्य निम्रुचि**=सूर्य के अस्तकाल में भी हम पुकारते हैं। जीवन के अन्तिम ४८ वर्षों में भी हम श्रद्धावान् बने रहें। **श्रद्धम्**=हे श्रद्धे! **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में तू **श्रद्धापय**=श्रद्धायुक्त कर। श्रद्धावाले होकर ही हम इस समय 'क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठ' पुरुष के जीवन को बिता पायेंगे।

भावार्थ—हमारा सारा जीवन श्रद्धामय हो।

सारा सूक्त श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। यह श्रद्धावाला पुरुष ही सब कामनाओं को पूर्ण करके अपने पर पूर्ण शासन करनेवाला 'शासः' बनता है। इस पूर्ण शासन से ही 'भरद्वाजः'=अपने में शक्ति को भरनेवाला होता है। इसी का अगला सूक्त है—

द्वादशोऽनुवाकः ॥

[१५२] द्विपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शासक

शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुतः। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ १ ॥

(१) हे जीव! तू **शासः**=अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर शासन करनेवाला होता है।

इत्था-इस प्रकार शासन करनेवाला बनकर तू **महान् असि**-महान् होता है, आदरणीय बनता है, तू बड़ा होता है। **अमित्रखादः**-शत्रुओं को खा जानेवाला, अर्थात् काम-क्रोध आदि को समाप्त करनेवाला होता है और **अद्भुतः**-शत्रुओं को समाप्त करके आश्चर्यभूत जीवनवाला होता है। सुन्दरतम जीवन यही तो है, जिसमें कि हम काम-क्रोध-लोभ को समाप्त करके स्वस्थ शरीर, मन व बुद्धिवाले बनते हैं। (२) इन काम-क्रोध-लोभ आदि से पराजित वही मनुष्य होता है, जो कि अपने सच्चे मित्र प्रभु से अलग हो जाता है। प्रभु को भूल जाना ही हमारे लिये प्रभु का समाप्त हो जाना है। **यस्य सखा न हन्यते**-जिसका यह प्रभुरूप मित्र समाप्त नहीं होता वह व्यक्ति **कदाचन**-कभी भी न **जीयते**-पराजित नहीं होता। उसे काम-क्रोध आदि कभी अभिभूत नहीं कर पाते।

भावार्थ—हम शासक बनें, इन्द्रियों को वश में रखते हुए काम आदि को समाप्त करनेवाले हों। प्रभुरूप मित्र से कभी अलग न हों। इसके सम्पर्क में रहने पर हम कभी पराजित न होंगे।

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

स्वस्ति-दाः

स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित, हमारे सच्चे मित्र प्रभु ही **स्वस्तिदाः**-कल्याण को देनेवाले हैं। **विशस्पतिः**-प्रजाओं के रक्षक हैं। **वृत्रहा**-ज्ञान की आवरणभूत वासना को (-वृत्र) विनष्ट करनेवाले हैं। वस्तुतः इसके विनाश से ही वे हमारा रक्षण करते हैं। **विमृधः**-वे ही संग्राम को करनेवाले हैं। हमने काम-क्रोध को क्या जीतना होता है, प्रभु ही हमारे लिये इन वासनाओं को जीतते हैं। **वशी**-वे सबको वश में करनेवाले हैं। **वृषा**-शक्तिशाली है। **इन्द्रः**-परमैश्वर्यशाली हैं। हमारे लिये भी शक्ति व ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। (२) शक्ति को प्राप्त कराने के लिये ही **सोमपाः**-हमारे सोम का रक्षण करते हैं। प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से बचाता है। वासना का शिकार न होने से सोम का रक्षण होता है। सोमरक्षण से शक्ति व बुद्धि का वर्धन होता है। इस प्रकार ये प्रभु **अभयंकरः**-हमारे लिये निर्भयता को करनेवाले होते हैं। ये अभयंकर प्रभु **नः पुरः एतु**-हमारे आगे गतिवाले हैं। प्रभु के नेतृत्व में हम चलें। प्रभु के हम अनुयायी हों। वस्तुतः यही कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु ही वस्तुतः कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु के अनुगामित्व में ही सब कल्याण निहित है।

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वृत्र (विनाश) दंष्ट्रा भंग

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज। वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**-शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, **वृत्र-हन्**-ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाले प्रभो! आप **रक्षः**-अपने रमण के हेतु औरों के विनाश का कारण बननेवाली लोभवृत्ति को **विजहि**-विनष्ट करिये। **मृधः**-अग्नि के रूप से हमारा हिंसन करनेवाली इस क्रोधाग्नि को आप **वि (जहि)**-विनष्ट करिये। तथा **वृत्रस्य**-कामवासना के भी **हनू**-दंष्ट्राओं को **विरुज**-भग्न कर दीजिये। यह कामवासनारूप शेरनी हमें अपने दंष्ट्राओं से विदीर्ण न कर दे। (२) हे इन्द्र! **अभिदासतः**-हमें अपना दास बनानेवाले व हमारा उपक्षय करनेवाले **अमित्रस्य**-हमारी मृत्यु का

कारण बननेवाले इन काम आदि शत्रुओं के **मन्युम्**=क्रोध को व उग्रता को **वि** (**जहि**)=विनष्ट करिये। ये काम-क्रोध आदि शत्रु अपनी उग्रता को हमारे सामने खो बैठें। ये पूर्णरूप से हमारे वश में हों। हम इनके दास न हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम लोभ, क्रोध व काम की उग्रता को विनष्ट करके इनपर प्रभुत्व को पा सकें।

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शत्रुओं को अन्धकारमय लोक में प्राप्त कराना

वि नं इन्द्र मृधौं जहि नीचा यंच्छ पृतन्यतः। यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **मृधः**=कतल (murder) करनेवाले इन 'काम-क्रोध-लोभ' को **विजहि**=विनष्ट करिये। **पृतन्यतः**=सेनाओं के द्वारा हमारे पर आक्रमण करनेवालों को **नीचायच्छ**=नीचे नियमन में करिये (trample upon)। इन्हें पाँव तले कुचल दीजिये, ये अशुभवृत्तियाँ फौज की फौज के रूप में हमारे पर आक्रमण करती हैं, इन्हें आपने ही पराजित करना है, (२) **यः**=जो भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=दास बनाता है, हमारा उपक्षय करना चाहता है, आप उसे **अधरं तमः गमय**=निकृष्ट अन्धकार में प्राप्त कराइये। औरों को दास बनानेवाले लोग भी उन असुर्यलोकों को प्राप्त करें जो कि अन्धतमस से आवृत हैं। ये काम-क्रोध-लोभ आदि वृत्तियाँ भी घने अन्धकार में पहुँच जायें। हमारे तक ये न पहुँच पायें।

भावार्थ—प्रभु हमें कतल करनेवालों, फौजों के रूप में आक्रमण करनेवालों तथा दास बनानेवालों को अन्धकारमय लोकों में ले जायें।

ऋषिः—शासो भारद्वाजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अद्वेष-अक्रोध

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्। वि मन्योः शर्म यच्छ वरीयो यवया वधम् ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **द्विषतः**=हमें प्रीति न करनेवाले द्वेषी पुरुष के **मनः**=मन को **अप** (**यवया**)=हमारे से पृथक् करिये। उसका द्वेष हमारे तक न पहुँचे। **जिज्यासतः**=हमारी वयोहानि को चाहते हुए पुरुष के **वधम्**=हनन साधन आयुधों को **अप**=हमारे से दूर करिये। (२) **मन्योः**=क्रोध से **वि**=हमें पृथक् रखिये। हम कभी क्रोधाभिभूत न हों। इस पर क्रोध से दूर करके **वरीयः**=उरुतर, अत्यन्त विशाल **शर्म**=सुख को **यच्छ**=हमें प्राप्त कराइये। **वधम्**=हननसाधन आयुधों को **यवया**=हमारे से पृथक् करिये। शत्रुओं के अस्त्र हमारे पर न गिरें।

भावार्थ—हम द्वेष करनेवालों व आयुष्य की हानि करनेवालों से बच सकें। क्रोध से दूर होकर उत्कृष्ट सुख का अनुभव करें।

सम्पूर्ण सूक्त अन्तः व बाह्य शत्रुओं के विजय की प्रेरणा दे रहा है। इन अन्तः व बाह्य शत्रुओं को जीतने की प्रेरणा माताओं ने ही देनी होती है। वे बालकों को लोरियों में ही इस प्रकार की प्रेरणायें देकर अपने बच्चों को देव बनाती हैं, सो 'देवजामयः' कहलाती हैं। इन्होंने बच्चों को इन्द्रियों का शासक 'इन्द्र' बनाता है, सो ये 'इन्द्रमातरः' है। ये 'देवजामयः इन्द्रमातरः' ही अगले सूक्त की ऋषिका है—

[१५३] त्रिपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'स्तुति-क्रिया-संयम'

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते। भेजानासः सुवीर्यम् ॥ १ ॥

(१) **ईङ्खयन्तीः**-स्तुति द्वारा प्रभु की ओर गति करनेवाली, **अपस्युवः**-अपने साथ कर्म को जोड़नेवाली माताएँ **जातम्**-उत्पन्न हुए-हुए **इन्द्रम्**-इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले बालक को **उपासते**-उपासित करती हैं। सदा इसका ध्यान करती हैं, इसे अपनी आँखों से ओझल नहीं करती। (२) इसका निर्माण करनेवाली ये माताएँ **सुवीर्यं भेजानासः**-उत्तम वीर्य व शक्ति का सेवन करनेवाली होती हैं। स्वयं संयमी जीवन बिताती हुई ये शक्ति का रक्षण करती हैं। इनका अपना जीवन संयमवाला न हो, तो इन्होंने बच्चों का क्या निर्माण करना?

भावार्थ—बालक को वही माता 'इन्द्र' बना पाती है जो कि—(क) प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाली हो, (ख) क्रियाशील जीवनवाली हो, (ग) संयम द्वारा उत्तम शक्ति का सेवन करनेवाली हो।

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बालक को माता की प्रेरणा

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन्वृषेदसि ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**-इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले प्रिय! **त्वम्**-तू **बलात्**-बल से, **सहसः**-सहस् से, सहनशक्तिवाले बल से तथा **ओजसः**-ओज से **अधि जातः असि**-आधिक्येन प्रसिद्ध हुआ है। तेरा मनोमयकोश 'बल व ओज' से सम्पन्न है तथा आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला हुआ है। (२) हे **वृषन्**-शक्तिशाली इन्द्र! **त्वम्**-तू **इत्**-निश्चय से **वृष**-शक्तिशाली **असि**-है। तूने अपने को शक्ति से सिक्त करना है।

भावार्थ—माता प्रारम्भ से बालक को यही प्रेरणा देती है कि तूने 'बलवान्, ओजस्वी व सहस्वी' बनना है। तू शक्तिशाली है।

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उदार हृदय-उत्कृष्ट मस्तिष्क

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्य१न्तरिक्षमतिरः। उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**-इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वं वृत्रहा असि**-तू ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाला है। **अन्तरिक्षं वि अतिरः**-तू इन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करके हृदयान्तरिक्ष को विशेषरूप से बढ़ानेवाला है। तू अपने हृदय को विशाल बनाता है। (२) तथा **ओजसा**-ओजस्विता के साथ **द्याम्**-मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत् अस्तभ्नाः**-उत्कृष्ट स्थान में थामता है। मस्तिष्क को उत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—माता बालक को प्रेरणा देती है कि—(क) तूने वासनाओं को विनष्ट करनेवाला बनना है, (ख) हृदय को विशाल बनाना है, (ग) तथा ओजस्विता के साथ मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करना है।

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तुत्य तेज

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः। वज्रं शिशान ओजसा ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**-इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले जीव! **त्वम्**-तू **बाह्वोः**-अपनी भुजाओं में **सजोषसम्**-जोश व उत्साह से युक्त **अर्कम्**-(अर्च्) स्तुत्य सूर्यसम तेज को **बिभर्षि**-धारण करता है (प्राणो वा अर्कः श० १०।४।१।२३)। तेरे में शक्ति है तथा उत्साह है। (२) तू **ओजसा**-ओजस्विता के द्वारा **वज्रम्**-अपने वज्र को **शिशानः**-तीक्ष्ण करनेवाला है। 'वज्र गतौ' से बना हुआ वज्र शब्द क्रियाशीलता का वाचक है, ओजस्विता के कारण तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील है।

भावार्थ—बालक को माता ने उत्साहयुक्त तेजवाला तथा ओजस्विता से युक्त क्रियाशीलतावाला बनाना है।

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अभिभूति द्वारा आभूति की प्राप्ति

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा। स विश्वा भुव आभवः ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले बालक! **त्वम्**-तू **विश्वाजातानि**-सब उत्पन्न हुए-हुए इन वासनारूप शत्रुओं को **ओजसा**-अपनी ओजस्विता से **अभिभूः असि**-पराभूत करनेवाला है। काम-क्रोध-लोभ से तू आक्रान्त नहीं होता। (२) **सः**-वह तू **विश्वाः**-सब **भुवः**-भूमियों को, 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' कोशों को **आभवः**-आभूतिवाला करता है। इन सब कोशों को तू ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है। अन्नमयकोश को 'तेज' से, प्राणमय को 'वीर्य' से, मनोमय को 'बल व ओज' से, विज्ञानमय को 'मन्यु' से, आनन्दमय को 'सहस्' तू परिपूर्ण करता है।

भावार्थ—माता बालक को यह प्रेरणा देती है कि—(क) तूने काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अभिभूत करना है, (ख) तथा अन्नमयादि सब कोशों को 'आभूति' (=ऐश्वर्य) वाला बनाना है।

सम्पूर्ण सूक्त बालक के सुन्दर निर्माण का उल्लेख कर रहा है। इस निर्माण को करनेवाली, अत्यन्त संयत जीवनवाली, सन्तानों को भी नियन्त्रण में चलानेवाली 'यमी' अगले सूक्त की ऋषिका है। कठोपनिषद् के अनुसार 'यम' आचार्य है, 'यमी' आचार्य पत्नी। आचार्य पत्नी कुल में प्रविष्ट हुए-हुए बालक के लिये आचार्य से कहती है कि इसे हम ऐसा बनायें कि यह ऊँचे ब्राह्मणों, क्षत्रिय व वैश्यों में जानेवाला हो। 'वह कैसे सन्तानों को बनाती है' इसका वर्णन इस सूक्त द्वारा करते हैं—

[१५४] चतुःपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—यमी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सौम्य-दीप्त-मधुर

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते। येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १ ॥

(१) **एकेभ्यः**-कइयों के लिये **सोमः**-सोम (=वीर्य) **पवते**-पवित्र करनेवाला होता है। वीर्य के रक्षण से उनका जीवन शरीर में नीरोग, मन में निर्मल व बुद्धि में तीव्र बनता है। **एके**-कई **घृतम्**-ज्ञानदीप्ति की **उपासते**-उपासना करते हैं। ज्ञान को महत्त्व देते हुए वे ज्ञान से चमक उठते

हैं। कई ऐसे होते हैं, **येभ्यः**-जिनसे कि **मधु प्रधावति**-मधु ही प्रवाहित होता है, जिनके मुख से शहद के समान मधुर शब्द ही निकलते हैं। (२) यह हमारे समीप आया हुआ बालक **चित्**-निश्चय से **तान् एव**-उन लोगों को ही **अपि-गच्छतात्**-समीपता से प्राप्त होनेवाला हो। अर्थात् इसकी भी गिनती उनमें हो, जो सोम का रक्षण करते हैं, ज्ञान से दीप्त होते हैं और मधुर ही शब्दों को बोलते हैं। शरीर में सोमरक्षण से यह बिलकुल नीरोग हो, मस्तिष्क में ज्ञान से परिपूर्ण हो और व्यवहार में अत्यन्त मधुर हो।

भावार्थ—हमारे सन्तान 'सौम्य, दीप्त व मधुर स्वभाव' के हों।

ऋषिः—यमी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तपस्वी

तप॑सा॒ ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा॒ ये स्व॑र्य॒युः। तपो॒ ये च॑क्रि॒रे मह॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ २॥

(१) **ये**-जो **तपसा**-तप के द्वारा **अनाधृष्याः**-न धर्षण के योग्य बनते हैं, तपस्या के कारण जो वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते हैं। **ये**-जो **तपसा**-तप के द्वारा **स्वः ययुः**-प्रकाशमय व सुखमय लोक को प्राप्त करते हैं, जिन्हें तप सुखी व ज्ञानदीप्त बनाता है। **ये**-जो **महः तपः**-महान् तप को **चक्रिरे**-करते हैं। (२) यह हमारे समीप आया हुआ बालक **चित्**-निश्चय से **तान् एव**-उन लोगों के ही **अपि गच्छतात्**-समीप प्राप्त होनेवाला हो। अर्थात् ये भी तप के द्वारा वासनाओं को कुचलनेवाला बने। तप के कारण प्रकाशमय लोक को प्राप्त करे, दीप्त बुद्धिवाला हो। खूब ही तपस्वी हो।

भावार्थ—हम अपने सन्तानों को तपस्वी बनायें। जिससे वे वासनामय जीवन से दूर रहते हुए प्रकाशमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—यमी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वीर व दानवीर

ये युध्य॑न्ते प्र॒धने॑षु॒ शूरा॑सो॒ ये त॑नू॒त्यजः॑। ये वा॑ स॒हस्र॑दक्षिणा॒स्तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ ३॥

(१) **ये**-जो **प्रधनेषु**-संग्रामों में **युध्यन्ते**-युद्ध करते हैं। **शूरासः**-शूरवीर होते हुए **ये**-जो **तनूत्यजः**-अपने शरीरों को छोड़ने के लिये तैयार हैं, जिनको जीवन की ममता ने कायर नहीं बना दिया। **वा**-अथवा **ये**-जो **सहस्रदक्षिणाः**-हजारों के ही दान देनेवाले हैं 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'-खूब कमाते हैं और खूब ही देते हैं। (२) यह हमारे समीप आया हुआ बालक **चित्**-निश्चय से **तान् एव**-उन लोगों की ही **अपिगच्छतात्**-ओर जानेवाला हो। यह भी वीर क्षत्रिय बने, युद्ध से पराङ्मुख होनेवाला न हो। तथा यह भी दानवीर बने। यह धन के प्रति आसक्तिवाला न बन जाये।

भावार्थ—हमारे सन्तान वीर क्षत्रिय बनें। अथवा वे दानवीर वैश्य बन पायें।

ऋषिः—यमी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ऋतमय-तपस्वी-पितर

ये चि॒त्पूर्वे॑ ऋत॒साप॑ ऋ॒तावा॑न ऋता॒वृधः॑। पि॒तॄन्तप॑स्वतो यम॒ तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ ४॥

(१) **ये**-जो **चित्**-निश्चय से **पूर्वे**-अपना पालन व पूरण करनेवाले हैं। शरीर को रोगों से बचाते हैं, मन में वासनाओं के कारण आ जानेवाली न्यूनताओं को दूर करते हैं। **ऋत-सापः**-(ऋत-यज्ञ व सत्य) यज्ञ व सत्य के साथ ही अपना सम्पर्क बनानेवाले (सपः=स्पर्श),

ऋतावानः=ऋत का रक्षण करनेवाले व **ऋतावृधः**=ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले हैं। उन **पितॄन्**=पालक वृत्तिवाले **तपस्वतः**=तपस्वियों को ही यह प्राप्त हो। (२) हे **यम**=सब बालकों को नियम में रखनेवाले आचार्य! **तान्**=उन ऋतमय जीवनवाले तपस्वी रक्षक वृत्तिवाले लोगों को **एव**=ही **चित्**=निश्चय से यह **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो। इसके गिनती भी उन ऋतमय तपस्वी पितरों में हो।

भावार्थ—हमारे सन्तान ऋतमय, तपस्वी व पितृ कोटि के (रक्षणात्मक वृत्तिवाले) हों।

ऋषिः—यमी ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तपस्वी ऋषि

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्। ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ५ ॥

(१) (नीथः=पथप्रदर्शन glsiding) **सहस्रणीथाः**=शतशः पुरुषों को मार्गदर्शन करानेवाले **कवयः**=ज्ञानी पुरुष, **ये**=जो **सूर्यं गोपायन्ति**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान सूर्य का रक्षण करते हैं, उन **ऋषीन्**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी पुरुषों को जो **तपस्वतः**=तपस्यामय जीवनवाले हैं, उन **तपोजान्**=तप से जिन्होंने अपनी शक्तियों का विकास किया है उन पुरुषों को हे **यम**=आचार्य! यह बालक **अपिगच्छतात्**=प्राप्त होनेवाला हो। (२) इस बालक का इस प्रकार का शिक्षण हो कि यह अपने जीवन को तपस्या के द्वारा उत्तम परिपाकवाला करके औरों के लिये मार्गदर्शन का कार्य करे।

भावार्थ—सन्तानों को हम तपस्वी ऋषि तुल्य जीवनवाला बनायें।

यह सूक्त सन्तानों के आदर्श निर्माण को हमारे सामने उपस्थित करता है। जिनका इस प्रकार निर्माण होता है वे भारद्वाजः=अपने में सदा त्याग को स्थापित करनेवाले (वाज=sacrifice) 'शिरिम्बिठ'=(विठम् अन्तरिक्षम्, इत हिंसायाम्) हृदयान्तरिक्ष में वासना को विनष्ट करनेवाले बनते हैं। ये सदा दान की वृत्तिवाले होते हुए कहते हैं कि—

[१५५] पञ्चपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शिरिम्बिठो भारद्वाजः ॥ देवता—अलक्ष्मीघ्नम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अदानवृत्ति की भयंकरता

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे। शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥ १ ॥

(१) **अरायि**=हे न दान देने की वृत्ति! **काणे**=तू काणी हैं। एक ही ओर देखनेवाली है। तू अपने व्यक्तित्व को ही देखती है, समाज को नहीं देखती। समाज की उपेक्षा में अन्ततः व्यक्ति के रक्षण का सम्भव नहीं। समाज ही तो व्यक्ति का रक्षण करती है। परन्तु यह अदानवृत्ति केवल अपना पेट भरना जानती है, समाज को कार्यों के संचालन के लिये यह कुछ नहीं दे पाती। अन्त में यह **विकटे**=भयंकर स्थिति को पैदा करनेवाली है। परस्पर असम्बद्ध व्यक्ति मात्स्य न्याय से एक दूसरे को खा-पीकर समाप्त कर देते हैं। **सदान्वे**=इस प्रकार यह अदानवृत्ति सदा आक्रोश को करानेवाली होती है। समाज के असंगति होने पर चोरियाँ, डाके व कतल ही होते रहते हैं और चीखना-चिल्लाना मचा रहता है। सो हे अदानवृत्ति! तू **गिरि गच्छ**=पहाड़ पर जा, मनुष्यों से न वसने योग्य स्थान पर जा। अर्थात् हमारे से दूर हो। (२) **शिरिम्बिठस्य**=हृदयान्तरिक्ष में वासनाओं को विनष्ट करनेवाले के **तेभिः सत्वभिः**=उन आन्तरिक शक्तियों से (strength, cowrage) **त्वा चातयामसि**=तुझे हम विनष्ट करते हैं। वासनामय जीवन में दानवृत्ति नहीं

पनपती। वासनाओं के विनष्ट होने पर इस शिरिम्बिठ में वह सात्त्विकभाव जागता है जिससे यह दान दे पाता है।

भावार्थ—अदान की वृत्ति केवल व्यक्ति को देखने के कारण अन्ततः भयंकर परिणामों को पैदा करनेवाली है। हम वासनाओं से ऊपर उठकर सात्त्विकभाव के जागरण से अदान की वृत्ति को दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—शिरिम्बिठो भारद्वाजः॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

उभयलोक विनाशिनी अदानवृत्ति

चत्तो इतश्चत्तामुतः सर्वा भ्रूणान्यारुषी। अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृङ्गोदृषन्निहि॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार यह अदानवृत्ति **इतः**=इस लोक के दृष्टिकोण से **चत्ता उ**=निश्चय से विनाशकारिणी है। **अमुतः**=परलोक के दृष्टिकोण से भी **चत्ता**=विनाश करनेवाली है। दानवृत्ति ही यज्ञियभावना है (यज्=दाने) अयज्ञिय भावनावाले का न इस लोक में कल्याम है, न उस लोक में। बिना इस यज्ञिय भावना के समाज का संगठन असम्भव है। उसके बिना ऐहिक कल्याण नहीं। दान के बिना परलोक में भी उत्तम गति नहीं। स्वार्थी पुरुष पशु-पक्षियों की योनि में ही जन्म लेते हैं। जितना स्वार्थ, उतना जीवन भोग-प्रधान। जितना-जितना भोग-प्रधान जीवन, उतना-उतना निकृष्ट पशुओं की योनि में जन्म। (२) यह अदान की वृत्ति **सर्वा भ्रूणानि**=सब गर्भस्थ बालकों को भी **आरुषी**=हिंसित करनेवाली है। माता की कृपणता की वृत्ति गर्भस्थ बालक पर भी अनुचित प्रभाव पैदा करती है। गर्भस्थ बालक भी इसी वृत्ति का बनता है और इस प्रकार वह गर्भावस्था में ही अवनति के मार्ग पर चलना आरम्भ करता है। (३) इसलिए कहते हैं कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के रक्षक! **तीक्ष्णशृंग**=तीक्ष्ण तेजवाले! तू **अराय्यम्**=इस अदानवृत्ति को **उद्वृषन्**=(उद्गमयन्) अपने जीवन से बाहिर (out=उद्) करता हुआ **इहि**=गति कर। अर्थात् हमारे सब व्यवहारों के अन्दर कृपणता को स्थान न हो, हमारे हृदयों में उदारता हो, नकि अदानवृत्ति।

भावार्थ—अदानवृत्ति उभयलोक विनाशिनी है, यह गर्भस्थ बालकों पर भी अनुचित प्रभाव पैदा करती है। हम अपने व्यवहारों में इस कृपणता को न आने दें।

ऋषिः—शिरिम्बिठो भारद्वाजः॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु रूप नाव

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्। तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥ ३॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को दारु-काष्ठमयी नाव के रूप में चित्रित किया है। यह नाव अपूरुष=अलौकिक है, किसी मनुष्य से नहीं बनायी गई। इस नाव के द्वारा ही हम भवसागर को तैर पाते हैं। **अदः**=वह **यत्**=जो **अपूरुषम्**=अलौकिक **दारु**=नाव **सिन्धोः पारे**=भवसागर को पार करने के निमित्त **प्लवते**=गतिवाली होती है, **तद्**=उस नाव को **आरभस्व**=तू आश्रय बना। उस नाव को तू पकड़, उसका सहारा ले। (२) **दुर्हणः**=हे सब बुराइयों के हनन करनेवाले जीव! **तेन**=उस नाव से **परस्तरम्**=तू उत्कृष्ट परले पार को **गच्छ**=जानेवाला हो। प्रभु रूप नाव ही तुझे भवसागर के पार करेगी। यह संसार-नदी विषयों की चट्टानों से बड़ी बीहड़ है, इसे तू इस प्रभु रूप नाव से ही पार कर पायेगा। प्रभु को अपनाने पर ही विषयों से ऊपर उठकर तू दानवृत्तिवाला बनेगा।

भावार्थ—संसार एक विषयों के ग्राहों से भयंकर बने हुए समुद्र के समान है। इसे प्रभु रूप नाव के द्वारा ही पार किया जा सकता है।

ऋषिः—शिरिम्बिठो भारद्वाजः ॥ देवता—अलक्ष्मीघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कामादि शत्रुओं का विनाश

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः। हुता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का आश्रय करके यद्=जब ह=निश्चय से **प्राचीः अजगन्त**=प्रकृष्ट गतिवाले होकर लोग चलते हैं, तो उरः=(उर्वी हिंसायाम्) वासनाओं का हिंसन करनेवाले होते हैं, **मण्डूरधाणिकीः**=(मन्दनस्य धनस्य धारयित्यः) आनन्दप्रद धनों का धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु का भक्त कभी अनुचित उपायों से धनार्जन नहीं करता। (२) **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **शत्रवः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु **हताः**=विनष्ट होते हैं। ये **सर्वे**=सब शत्रु **बुद्बुदयाशवः**=(यान्ति, अश्नुवते) बुलबुलों की तरह नष्ट हो जानेवाले होते हैं और व्यापक रूप को धारण करते हैं। बुलबुला फटा और पानी में मिलकर उसी में फैल गया (=विलीन हो गया)। इसी प्रकार 'काम' फटकर प्रेम का रूप धारण कर लेता है, क्रोध फटकर करुणा के रूप में हो जाता है और लोभ विनष्ट होकर त्याग का रूप धारण कर लेता है।

भावार्थ—हम कामादि शत्रुओं को नष्ट करके आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—शिरिम्बिठो भारद्वाजः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वेदवाणी के साथ परिणय

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ ५ ॥

(१) **इमे**=गत मन्त्र में वर्णित जितेन्द्रिय पुरुष **गां परि अनेषत**=वेदवाणी रूप गौ के साथ अपना परिणय करते हैं। ज्ञान की वाणियों को अपनाते हैं। **अग्निं परि अहृषत**=यज्ञों के लिये अग्नि को चारों ओर स्थापित करते हैं (अहरन्-स्थापितवन्तः)। यज्ञों को अपनाते हैं। (२) ये लोग **देवेषु**=माता, पिता, आचार्य आदि देवों के चरणों में आसीन (स्थित) होकर **श्रवः अक्रत**=ज्ञान का सम्पादन करते हैं अथवा **देवेषु**=दिव्य गुणों के विषय में **श्रवः अक्रत**=यश को प्राप्त करते हैं। अर्थात् दिव्यगुणों का धारण करते हैं। **कः**=कौन **इमान्**=इनको **आदधर्षति**=कुचल सकता है। अर्थात् इस प्रकार जीवन को बनाने पर ये काम-क्रोध-लोभ आदि से कुचले नहीं जाते।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनाकर ज्ञानी बनें। यज्ञों को सिद्ध कर कर्मकाण्डी हों। दिव्य गुणों का सम्पादन करते हुए पवित्र हृदय व प्रभु के उपासक हों। वासनाओं से बचने का यही मार्ग है। इस सूक्त में अदानवृत्ति की हेयता का प्रतिपादन करके उसके उन्मूलन के लिये उपायों का संकेत है। अदानवृत्ति से ऊपर उठकर मनुष्य उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है, 'आग्नेय' होता है। यह लोभ से ऊपर उठ जाने के कारण ज्ञानी बनता है 'केतु'। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१५६] षट्पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—केतुराग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धनों का विजय

अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु। तेन जेष्म धनंधनम् ॥ १ ॥

(१) **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियाँ अपने अन्दर **अग्निं हिन्वन्तु**=उस प्रभु को प्रेरित करें व उस प्रभु की भावना का वर्धन करें। अर्थात् हम अपने हृदयों में प्रभु का चिन्तन करें। जो प्रभु

आजिषु-संग्रामों में **आशुं सप्तिं इव**-(अशू व्याप्तौ) शीघ्र गतिवाले अश्व के समान हैं। जैसे अश्व से संग्राम में विजय प्राप्त होती है, इसी प्रकार प्रभु के द्वारा हम अध्यात्म-संग्रामों में विजय को प्राप्त करते हैं। (२) **तेन**-उस प्रभु के द्वारा हम **धनं धनम्**-प्रत्येक जीवन को धन्य बनानेवाले धन को **जेष्म**-जीतनेवाले हों। प्रभु ही भगवान् हैं, वे ही आवश्यक भगों-ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का हृदयों में चिन्तन करते हुए हम काम-क्रोध आदि को पराजित कर पायें और सब धनों का विजय करें।

ऋषिः—केतुराग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

गो-रक्षण

यया गा आकरामहे सेनयाग्ने तवोत्या। तां नो हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **यया**-जिस **सेनया**-(इनेन सह) स्वामी के साथ वर्तमान आपकी **ऊत्या**-रक्षण शक्ति से हम **गाः**-इन सब इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियों का **आकरामहे**-सम्पादन करते हैं, **ताम्**-उस रक्षण को **मघत्तये**-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **नः**-हमें **हिन्व**-प्राप्त कराइये। (२) प्रभु के रक्षण से ही सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त हो, हम प्रभु को कभी भूलें नहीं। यही रक्षण का 'स्वामी के साथ' होना है। यह रक्षण ही हमें इन्द्रियों को विषयों का शिकार होने से बचाने में समर्थ करता है। इन्द्रियों को सुरक्षित रखकर ही हम वास्तविक ऐश्वर्य का सम्पादन कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम इन्द्रियों को सुरक्षित रखते हुए ज्ञानैश्वर्य का सम्पादन करनेवाले हों।

ऋषिः—केतुराग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कितना धन?

आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम्। अङ्धि खं वर्तया पणिम् ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**-परमात्मन्! **रयिं आभर**-हमें ऐश्वर्य से परिपूर्ण करिये। जो ऐश्वर्य **स्थूरम्**-(स्थूलं) प्रवृद्ध (बढ़ा हुआ) है, **पृथुम्**-विस्तृत है, **गोमन्तम्**-उत्तम गौवोंवाला है तथा **अश्विनम्**-प्रशस्त अश्वोंवाला है। गौवें दूध से बुद्धि की सात्त्विकता के द्वारा ज्ञानवृद्धि का कारण होती हैं, घोड़े शक्ति की वृद्धि का। इतना धन प्रभु हमें दें कि हम उत्तम गौवों व अश्वोंवाले बन पायें। (२) **खं अङ्धि**-आप हमारी इन्द्रियों को कान्तिवाला व गतिवाला करिये। नमक तेल ईंधन की परेशानी के न होने पर वे सब इन्द्रियाँ अपना कार्य ठीक प्रकार से करनेवाली हों तथा चमकनेवाली हों, सशक्त बनी रहें। इस धन के द्वारा आप **पणिम्**-हमारे सब व्यवहार को **वर्तया**-ठीक से प्रवृत्त कराइये, अर्थात् इतना धन दीजिये कि हमारे सब व्यवहार ठीक प्रकार चलते जायें।

भावार्थ—प्रभु हमें इतना धन दें जिससे कि हम उत्तम गौवों व घोड़ोंवाले होते हुए सब इन्द्रियों को दीप्त व सशक्त बना सकें और हमारे सब व्यवहार ठीक प्रकार से सिद्ध हों।

ऋषिः—केतुराग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अजर नक्षत्र

अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि। दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ॥ ४ ॥

(१) **अग्ने**-हे परमात्मन्! आप **जनेभ्यः**-लोगों के लिये **ज्योतिः दधत्**-प्रकाश को प्राप्त

करने के हेतु से **दिवि**=द्युलोक में **सूर्यम्**=सूर्य को **आरोहयः**=आरूढ़ करते हैं, जो सूर्य **अजरं नक्षत्रम्**=न जीर्ण होनेवाला नक्षत्र है। (२) 'सूर्य कभी जीर्ण होकर समाप्त हो जाएगा' ऐसी बात नहीं है। प्रभु का प्रत्येक रचना चाक्रिक क्रम से गति करती हुई सदा पूर्ण बनी रहती है। नदियों का जल बहता चला जा रहा है। समुद्र में पहुँचकर यह वाष्पीभूत होकर, मेघ बनकर फिर पर्वत-शिखरों पर वृष्टि के रूप में बरसता है। और फिर वहाँ से प्रवाहित होकर नदियों को सदा परिपूर्ण किये रहता है। इसी प्रकार सूर्य के प्रकाश की बात है। सूर्य कभी समाप्त न हो जाएगा। 'नक्षत्र' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा है, 'नभीयते त्रायते'-अक्षीण होता हुआ यह सदा रक्षण कार्य में लगा रहता है। इस अजर नक्षत्र के द्वारा प्रभु हम सब में प्राणशक्ति का संचार करते हैं और प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने सूर्य की स्थापना के द्वारा हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाने की व्यवस्था की है।

ऋषिः—केतुराग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रेष्ठ-श्रेष्ठ

अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठ उपस्थसत्। बोधा स्तोत्रे वयो दधत्॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **विशाम्**=सब प्रजाओं के **केतुः**=प्रज्ञान को देनेवाले **असि**=हैं। आप ही ज्ञान को प्राप्त करानेवाले हैं। **प्रेष्ठः**=प्रियतम हैं। **श्रेष्ठः**=प्रशस्यतम हैं। **उपस्थसत्**=सबके समीप विद्यमान हैं। (२) **बोधा**=आप ही सबको जानते हैं। सबके रक्षण का आप ही ध्यान करते हैं। **स्तोत्रे**=स्तुतिकर्ता के लिये **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करते हैं। स्तोता का जीवन, आपके गुणों के धारण से सुन्दर बनता है।

भावार्थ—प्रभु ही प्रियतम हैं, प्रशस्यतम हैं। वे ही हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराते हैं।

सूक्त का विषय ही है कि प्रभु का अवलम्बन करके हम सब धनों को प्राप्त करते हैं। सब शत्रुओं को पराजित करके उत्कृष्ट जीवनवाले बनते हैं। यह शरीरस्थ तीनों भुवनों को, 'पृथिवीरूप शरीर, अन्तरिक्षरूप हृदय तथा द्युलोकरूप मस्तिष्क' को वशीभूत करने से 'भुवनः' कहलाता है (भुवनानि अस्य सन्ति इति) यही प्रभु को प्राप्त करनेवालों में उत्तम होने से 'आप्त्य' है। प्रभु प्राप्ति की साधनावाले होने से 'साधनः' है तथा लोकहित में प्रवृत्त होने से 'भौवना' कहलाता है। यह यही आराधना करता है कि—

[१५७] सप्तपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

त्रिलोकी का आधिपत्य

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः॥ १ ॥

(१) हम **नु**=अब **इमा**=इन **भुवना**=शरीर, मन व मस्तिष्क रूप लोकों को **सीषधाम्**=साधित करें, इन्हें अपने वश में करें। शरीर, मन व मस्तिष्क पर हमारा आधिपत्य हो। (२) इस वशीकरण प्रक्रिया के होने पर **इन्द्रः च**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=और **विश्वेदेवाः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि सब देव **कम्**=सुख को (सीषधाम=साधयत सा०) सिद्ध करें।

भावार्थ—हमारा अपनी शरीर, मन, मस्तिष्क रूप त्रिलोकी पर आधिपत्य हो। सूर्य आदि सब देवों के द्वारा प्रभु हमें सुखी करें।

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ-शरीर-प्रजा

यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ २ ॥

(१) 'अदिति' अविनाशिनी प्रकृति है। इस से उत्पन्न सूर्य आदि सब पिण्ड 'आदित्य' हैं। **इन्द्रः**-वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **आदित्यैः सह**-इन अदिति पुत्रों, सूर्य आदियों के साथ **नः**-हमारे **यज्ञम्**-यज्ञ को **च**-और **तन्वम्**-शरीर को **च**-और **प्रजाम्**-प्रजा को **चीक्लृपाति**-समर्थ करते हैं, शक्तिशाली बनाते हैं। (२) जब गत मन्त्र के अनुसार हम शरीर, मन व मस्तिष्क को साधित करते हैं तो प्रभु हमारे अन्दर यज्ञ की प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं, हमारे शरीरों को दृढ़ करते हैं तथा हमारी प्रजाओं को भी उत्तम बनाते हैं। मस्तिष्क के वशीकरण से विचारों की उत्तमता होकर यज्ञ प्रवृत्ति बढ़ती है। मन के वशीकरण से वासनाओं के अभाव में शक्ति का रक्षण होकर शरीर उत्तम बनता है। शरीर पर आधिपत्य होने से उत्तम सन्तानों का जन्म होता है।

भावार्थ—हम मस्तिष्क, मन व शरीर पर संयमवाले होकर अपने में 'यज्ञ, शरीर की शक्ति व प्रजा' का वर्धन करें।

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वदेवानुकूल्य व स्वास्थ्य

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ॥ ३ ॥

(१) प्रभु हमारे जीवनों में पञ्चभूतों के प्रथम गण का स्थापन करते हैं 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान' नाम का प्राण पञ्चक है। तीसरा कर्मेन्द्रिय पञ्चक, चौथा ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक और पाँचवाँ अन्तकरण पञ्चक 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और हृदय'। वह **इन्द्रः**-परमैश्वर्यशाली प्रभु **सगणः**-इन गणों के साथ तथा **आदित्यैः**-अदिति के पुत्रों सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि के साथ तथा **मरुद्भिः**-(मरुतः प्राणाः) प्राणों के साथ **अस्माकम्**-हमारे **तनूनाम्**-शरीरों के **अविता भूतु**-रक्षक हों। (२) वस्तुतः प्रभु प्राणपञ्चक आदि गणों के द्वारा हमारे शरीरों का कल्याण करते हैं। इस प्राणसाधना के साथ सूर्यादि सब देवों की भी हमें अनुकूलता प्राप्त होती है। इस अनुकूलता में ही स्वास्थ्य है।

भावार्थ—सर्वदेवानुकूल्य के प्राप्त करके हम स्वस्थ शरीर बनें।

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवत्व रक्षण

हत्वाय देवा असुरान्यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ ४ ॥

(१) **देवाः**-देववृत्ति के लोग **असुरान्**-आसुरवृत्तियों को **हत्वाय**-नष्ट करके **यदा**-जब **आयन्**-जीवन में गति करते हैं तो ये **देवाः**-देव **देवत्वं अभिरक्षमाणाः**-अपने देवत्व का रक्षण करनेवाले होते हैं। (२) देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाली बात यही है कि वे आसुरवृत्तियों

के आक्रमण से अपना बचाव करते हैं। काम से अपने को दूर रखते हुए वे शरीर को अक्षीण शक्ति बनाये रखते हैं। क्रोध से ऊपर उठकर वे अपने मन को शान्त रखते हैं तथा लोभ में न फँसने से उनकी बुद्धि स्थिर रहती है। वस्तुतः देव का लक्षण यही है 'स्वस्थ शरीर, शान्त मन, स्थिर बुद्धि'।

भावार्थ—हम आसुरवृत्तियों को नष्ट करके अपने जीवन में देवत्व का रक्षण करें।

ऋषिः—भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—द्विपदात्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

इषिरा 'स्वधा'

प्रत्यञ्चमर्कमनयञ्छचीभिरादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के देव **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों के द्वारा **प्रत्यञ्चम्**=उस अन्तःस्थित **अर्कम्**=उपास्य प्रभु को **अनयन्**=अपने प्रति प्राप्त कराते हैं। प्रज्ञापूर्वक कर्मों से ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है। इन कर्मों से ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। (२) **आत् इत्**=प्रभु को प्राप्त करने के बाद एकदम ये देव अपने अन्दर **इषिराम्**=(एषति to go, move) गतिशील **स्वधाम्**=आत्मधारण शक्ति को **पर्यपश्यन्**=देखते हैं। प्रभु को अपने हृदयों में स्थापित करने से इन्हें वह आत्मधारण शक्ति प्राप्त होती है, जो कि इन्हें सब प्राणियों के हितसाधन में निरन्तर प्रवृत्त रखती है 'सर्वभूत हिते रताः'।

भावार्थ—प्रज्ञापूर्वक कर्मों से प्रभु का उपासन होता है। प्रभु को हृदय में स्थापित करने से क्रियामय आत्मधारण शक्ति प्राप्त होती है।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव भी यही है कि शरीर, मन व मस्तिष्क को स्वस्थ रखते हुए हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों में प्रवृत्त रहें। इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हम अपने अन्दर शक्ति का अनुभव करें और सदा लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहें इन लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहने के लिये चक्षु आदि इन्द्रियों का सशक्त बने रहना आवश्यक है। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति को स्थिरता के लिये सूर्यादि देवों की अनुकूलता आवश्यक होती है। इस अनुकूलता को सिद्ध करनेवाला 'चक्षुः सौर्यः' अगले सूक्त का ऋषि है। उसकी प्रार्थना इस प्रकार है—

[१५८] अष्टपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—चक्षुः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सूर्य-वायु-अग्नि

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥ १ ॥

(१) द्युलोक का मुख्य देव 'सूर्य' है, अन्तरिक्ष का 'वायु' और पृथिवी का 'अग्नि'। सो इन से इस रूप में प्रार्थना करते हैं कि **सूर्यः**=सूर्य **नः**=हमें **दिवः पातु**=द्युलोक से रक्षित करे। द्युलोक से हो सकनेवाले उपद्रवों से सूर्य हमें बचाये। अर्थात् द्युलोकस्थ सूर्यादि देवों से किसी प्रकार का हमारा प्रातिकूल्य न हो और इस प्रकार हमारा मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ बना रहे। (२) **वातः**=वायु हमें **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से रक्षित करे, अन्तरिक्ष से हो सकनेवाले उपद्रवों से वायु हमारा रक्षण करे। अन्तरिक्षस्थ इन वायु आदि देवों से हमारी अनुकूलता हो और इस प्रकार हमारा मन वासनाओं के तूफानों से अशान्त न हो। (३) **अग्निः**=अग्नितत्त्व हमें **पार्थिवेभ्यः**=पृथिवी से सम्भावित उपद्रवों

से बचानेवाली हो। अग्नि आदि देवों की अनुकूलता से यह हमारा पार्थिव शरीर स्वस्थ बना रहे।

भावार्थ—सूर्य की अनुकूलता हमारे मस्तिष्क को ठीक रखे। वायु की अनुकूलता मन को तथा अग्नि की अनुकूलता हमारे शरीर को स्वस्थ रखे।

ऋषिः—चक्षुः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—स्वराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शतवार्षिक यज्ञ-जीवन

जोषां सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति। पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥ २ ॥

(१) हे सवितः=हमारे में प्राणशक्ति को प्रेरित करनेवाले सूर्य! जोषा=तू हमारा प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। हम सूर्य के प्रिय हों, अधिक से अधिक सूर्य-किरणों के सम्पर्क में जीवन को बिताने का प्रयत्न करें। तेरे लिये हम प्रिय हों यस्य ते=जिस तेरा हरः=सब रोगों का हरण करनेवाला तेज शतं सवान्=सौ यज्ञों के अर्हति=योग्य होता है। जीवन का एक-एक वर्ष ही एक-एक यज्ञ है। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हुए हम सौ वर्ष तक जीवन यज्ञ को चलानेवाले हों। (२) हे सवितः! तू नः=हमें पतन्त्याः=हमारे पर विचरनेवाले दिद्युतः=(दो अवखण्डने) घातक रोग से पाहि=बचाये। रोगरूप विद्युत् के पतन से यह सूर्य हमारा रक्षण करता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्क में निवास हमें रोगों से बचाकर दीर्घ जीवन प्राप्त कराता है।

ऋषिः—चक्षुः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

चक्षु

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः। चक्षुर्धाता दधातु नः ॥ ३ ॥

(१) यह सविता=सबको कार्यों में प्रवृत्त करनेवाला देवः=प्रकाशमय सूर्य नः=हमारे लिये चक्षुः दधातु=दृष्टिशक्ति का धारण करनेवाला है। सूर्य ही तो वस्तुतः चक्षु के रूप में (आँखों अक्षि गोलकों) में रह रहा है। उत=और नः=हमारे लिये पर्वतः=(A tree) वृक्ष चक्षुः=दृष्टिशक्ति को दे। वृक्षों की हरियावल आँखों के लिये अत्यन्त हितकर होती है। (२) धाता=सबका निर्माण व धारण करनेवाला प्रभु नः=हमारे लिये चक्षु=दृष्टिशक्ति को दधातु=धारित करे। प्रभु के स्मरण से भी दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहती है। वस्तुतः प्रभु स्मरण अंग-प्रत्यंग को ठीक रखने के लिये आवश्यक है। अंगरिस् के साथ अथर्ववेद (ब्रह्मवेद) का सम्बन्ध इस बात का संकेत करता है कि हम ब्रह्म का स्मरण करते हैं और सरस अंगोंवाले बनते हैं। (३) जो देवों में सूर्य का स्थान है वही स्थान इन्द्रियों में चक्षु का है। इसका ठीक होना यहाँ सब इन्द्रियों की सशक्तता का प्रतीक है।

भावार्थ—सूर्य, वृक्ष व धाता हमारी चक्षु की शक्ति को बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—चक्षुः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सन्दर्शन-विदर्शन

चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः। सं चेदं वि च पश्येम ॥ ४ ॥

(१) नः=हमारी चक्षुषे=आँख के लिये चक्षुः धेहि=प्रकाशक तेज को धारण कीजिये। विख्यै=विशेषरूप से प्रकाशन के लिये और तनूभ्यः=हमारे शरीरों की शक्ति के विस्तार के लिये चक्षुः=प्रकाशक तेज को धारण करिये। (२) हमें वह दृष्टिशक्ति दीजिये जिससे हम इदम्=इस

जगत् को **संपश्येम**=समुदित रूप में देख सकें, **च**=और **विपश्येम**=इसके अंगों को अलग-अलग भी अच्छी प्रकार देख सकें। हमारा 'सन्दर्शन व विदर्शन' बड़ा ठीक प्रकार से चले।

भावार्थ—हम प्रकाशक तेज को प्राप्त करके अपनी आँखों से इस संसार को समष्टि व व्यष्टि के रूप में सम्यक् देखनेवाले हों। हम समाज व व्यक्ति दोनों का ध्यान करनेवाले हों। जहाँ लोकहित में प्रवृत्त हों वहां अपना धारण भी ठीक प्रकार से करें।

ऋषिः—चक्षुः सौर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-भक्ति व सर्वहित

सुसन्दृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य। वि पश्येम नृचक्षसः ॥ ५ ॥

(१) हे **सूर्य**-सबको कर्मों में प्रवृत्त करानेवाले प्रभो! **सुसंदृशम्**=उत्तम दर्शनयोग्य **त्वा**=आपको **वयम्**=हम **प्रतिपश्येम**=प्रतिदिन देखनेवाले बनें, हम प्रतिदिन आपका ध्यान करें। अथवा प्रत्येक पदार्थ में हम आपकी महिमा को देखनेवाले बनें। (२) **नृचक्षसः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हम लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए **विपश्येम**=प्रत्येक व्यक्ति को देखनेवाले हों, सभी का ध्यान करें। परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में सभी का हित करना हमारा उद्देश्य हो। वस्तुतः प्रभु-भक्त सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होता ही है। हम आपका उपासन करते हुए 'सर्वभूतहिते रताः' बनें।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन की कामनावाले हम सबके हित में प्रवृत्त हों।

सम्पूर्ण सूक्त दृष्टि शक्ति के ठीक करने के लिये उपायों का संकेत करता है। ठीक दर्शन यही है कि हम केवल अपना ध्यान न करें। व्यक्तियों के ध्यान के साथ समाज का भी ध्यान करें।

इस वृत्ति के सन्तानों को जन्म देनेवाली माता 'शची' है, प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करनेवाली है। यह 'पौलोमी' बनती है, (पुल्=to belothy) उच्च विचारोंवाली होती है तथा (to be collectad togilts) समाहित वृत्तिवाली बनती है। यह 'शची पौलोमी' 'जयन्त' सन्तान को जन्म देती है, इसके सन्तान शत्रुओं को जीतनेवाले होते हैं। यह कहती है—

[१५९] एकोनषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शची पौलोमी ॥ देवता—शची पौलोमी ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भग का उदय

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भर्गः। अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥ १ ॥

(१) **असौ सूर्यः**=वह सूर्य **उद् अगात्**=उदित हुआ है। इसी प्रकार **मामकः**=मेरा **अयं भगः**=यह भग (ऐश्वर्य) भी **उद्**=उदित हुआ है। सूर्योदय के साथ मेरे भग का उदय होता है। सूर्य की तरह मेरा ज्ञान का ऐश्वर्य भी चमक उठता है। (२) **तत्**=तब (then) **अहम्**=मैं **पतिं विद्वला**=उस प्रभु रूप पति को जानती हुई **अभ्यसाक्षि**=शत्रुओं का पराभव करती हूँ। मैं इस प्रकार **विषासहिः**=विशेषरूप से शत्रुओं का मर्षण करनेवाली होती हूँ। काम-क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं का पराभव किये बिना प्रभु की प्राप्ति का व ज्ञानैश्वर्य के उदय का सम्भव नहीं है। इस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाली माता ही 'शची' है। यही 'जयन्त' सन्तानों को जन्म दे पाती है।

भावार्थ—ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाली माता ही प्रभु का दर्शन करती है और काम-क्रोध आदि का मर्षण करती है।

ऋषिः—शची पौलोमी ॥ देवता—शची पौलोमी ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

आदर्श माता

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी । ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥ २ ॥

(१) माता कहती है कि **अहं केतुः**-मैं ज्ञानवाली बनती हूँ। **अहं मूर्धा**-मैं अपने क्षेत्र में शिखर (top most) पर पहुँचने का प्रयत्न करती हूँ। **अहं उग्रा**-मैं तेजस्विनी बनती हूँ। **विवाचनी**-प्रभु के नामों का विशेषरूप से उच्चारण करनेवाली होती हूँ। मस्तिष्क में ज्ञान, मन में शिखर पर पहुँचने की भावनावाली तथा शरीर में तेजवाली, प्रभु के नाम का सदा जप करनेवाली माता ही आदर्श है। (२) **सेहानायाः**-काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाली **मम**-मेरे **क्रतुं अनु**-संकल्प के अनुसार **इत्**-ही **पतिः**-मेरे पति **उपाचरेत्**-कार्यों को करनेवाले हों। पत्नी तेजस्विनी व शान्त स्वभाववाली हो, क्रोध आदि से सदा दूर हो। इसके विचारों के अनुसार ही पति कार्यों को करते हैं। इस प्रकार पति-पत्नी का समन्वय होने पर ही उत्तम सन्तान हुआ करते हैं।

भावार्थ—आदर्श माता में 'ज्ञान-शिखर पर पहुँचने की भावना, तेज व प्रभु-स्मरण की वृत्ति' होनी चाहिये। इस पत्नी को पति की अनुकूलता प्राप्त होती है और ये उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—शची पौलोमी ॥ देवता—शची पौलोमी ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वीर पुत्र

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् । उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र की आदर्श माता यह कह पाती है कि **मम पुत्राः**-मेरे पुत्र **शत्रुहणः**-शत्रुओं को मारनेवाले हैं, ये कभी शत्रुओं से अभिभूत नहीं होते। **अथ उ**-और निश्चय से **मे दुहिता**-मेरी पुत्री **विराट्**-विशिष्टरूप से तेजस्विनी होती है। (२) **उत**-और **अहम्**-मैं **सञ्जया**-सम्यक् शत्रुओं को जीतनेवाली होती हूँ। **मे पत्यौ**-मेरे पति में **उत्तमः श्लोकः**-उत्कृष्ट यश होता है। मेरे पति भी वीरता के कारण यशस्वी होते हैं। माता-पिता की वीरता के होने पर ही सन्तानों में भी वीरता आती है। माता-पिता का जीवन यशस्वी न हो तो सन्तानों का जीवन कभी यशस्वी नहीं हो सकता।

भावार्थ—वीर माता-पिता ही वीर व यशस्वी सन्तानों को जन्म देते हैं।

ऋषिः—शची पौलोमी ॥ देवता—शची पौलोमी ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कृत्वी-द्युम्नी-उत्तमः

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः । इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥ ४ ॥

(१) हे **देवाः**-सूर्य आदि देवो! अथवा समय-समय पर घरों पर पधारनेवाले विद्वानो! **इदम्**-यह **तत्**-वह काम **अक्रि**-किया जाये **येन**-जिससे मेरे पति **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय **अभवत्**-हों। **हविषा**-दानपूर्वक अदन के द्वारा वे **कृत्वी**-सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले, **द्युम्नी**-ज्ञान की ज्योति से दीप्त जीवनवाले, **उत्तमः**-मन में दिव्य उत्कृष्ट वृत्तियोंवाले हों। (२) बालकों की माता कहती है कि मैं भी **किल**-निश्चय से **असपत्ना**-सपत्नों से रहित **अभुवम्**-हो जाऊँ। शरीर में रोग ही हमारे सपत्न हैं, और मन में वासनाएँ सपत्न के रूप से रहती हैं। मैं इन रोगों व वासनाओं से ऊपर उठकर 'असपत्ना' होऊँ।

भावार्थ—देवों की कृपा से पति 'कृत्वी, द्युम्नी व उत्तम' हों तथा पत्नी असपत्न हो।

ऋषिः—शची पौलोमी ॥ देवता—शची पौलोमी ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सपत्न हनन

असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी। आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव ॥ ५ ॥

(१) **अ-सपत्ना**-मैं रोगरूप सपत्नों से, शत्रुओं से रहित होती हूँ। **सपत्नघ्नी**-इन रोगों व वासनारूप शत्रुओं का हनन करनेवाली बनती हूँ। **जयन्ती**-सदा विजयशील तथा **अभिभूवरी**-वासनारूप शत्रुओं को अभिभूत करनेवाली होती हूँ। (२) इन **अन्यासाम्**-मेरे से भिन्न, मेरी शत्रुभूत वासनाओं के **वर्चः**-तेज को **आवृक्षम्**-मैं काटनेवाली होती हूँ। उसी प्रकार इनके तेज को मैं विनष्ट करती हूँ **इव**-जैसे कि **अस्थेयसाम्** **राधा**-अस्थिर वृत्तिवालों के ऐश्वर्य को। 'राधः' शब्द का व्यापक अर्थ सफलता है। उस अर्थ को लेने पर भाव यह होगा कि जैसे अस्थिर वृत्तिवालों की सफलता विनष्ट होती है, इसी प्रकार इन वासनाओं की शक्ति को मैं विनष्ट करती हूँ। स्थिर वृत्तिवाली बनकर मैं अपने इस शत्रु संहार रूप कार्य में भी सफलता को प्राप्त करती हूँ।

भावार्थ—एक आदर्श माता रोग व वासना रूप शत्रुओं को अभिभूत करके, स्थिर वृत्तिवाली बनकर अपने सन्तान निर्माणरूप कार्य में सफल होती है।

ऋषिः—शची पौलोमी ॥ देवता—शची पौलोमी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

विजय

समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी। यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

(१) **अहम्**-मैं **इमाः**-इन वासनाओं को **सं अजैषम्**-पूर्णरूप से पराजित करनेवाली बनूँ। मैं **सपत्नीः**-इन वासनारूप शत्रुओं को **अभिभूवरी**-अभिभूत करनेवाली होऊँ। (२) इन वासनाओं को मैं इसलिए अभिभूत करूँ **यथा**-जिससे कि **अहम्**-मैं **अस्य वीरस्य जनस्य**-इस वीर जन को **विराजानि**-विशिष्ट शोभावाली होऊँ। मेरे सन्तान वीर हों, शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों। उन वीर सन्तानों से मैं शोभावाली बनूँ।

भावार्थ—वासनाओं का विजय करनेवाली माता वीर सन्तानों से शोभा को पाता है।

सम्पूर्ण सूक्त आदर्श माता का चित्रण करता है। मुख्य बात वासनाओं के विजय की है। 'वासना विजय' ही माता को वीर सन्तानों की शोभा को प्राप्त कराती है।

वासनाओं को पराजित करनेवाला व्यक्ति ही अपनी न्यूनताओं को दूर करके अपना पूरण करता है, सो 'पूरणः' नामवाला होता है। यह सबके साथ स्नेह से वर्तनेवाला 'वैश्वामित्रः' होता है। इसकी प्रार्थना है कि—

[१६०] षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—पूरणो वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मुख्य कर्त्तव्य 'सोमरक्षण'

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन्तुभ्यमिमे सुतासः ॥ १ ॥

(१) **तीव्रस्य**-शत्रुओं के लिये, रोगकृमि आदि के लिये अत्यन्त तीक्ष्ण **अभिवयसः**-(अभिगतं वयो येन) जिसके द्वारा उत्कृष्ट जीवन प्राप्त होता है उस **अस्य**-इस सोम का **पाहि**-तू अपने में

रक्षण कर। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रख। यह तुझे रोगों से मुक्त करेगा और दीर्घजीवन प्राप्त करायेगा। (२) **इह**=इस जीवन में **सर्वरथा**=(सर्वः रथः याभ्याम्) जिनके द्वारा यह शरीररथ पूर्ण बनता है, उन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **विमुञ्च**=विषय-वासनारूप तृणों में चरते रहने से पृथक् कर। तेरी इन्द्रियाँ विषयों में ही लिप्त न रह जायें, इन्हें तू विषयमुक्त करके शरीर-रथ को आगे ले चलनेवाला बना। (३) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **अन्ये यजमानासः**=अन्य विविध कामनाओं से यज्ञों में व्यापृत लोग **निरीरमन्**=मत आनन्दित करें। अर्थात् तू भी उनकी तरह सकाम होकर इन यज्ञ-यागादि में ही न उलझे रह जाना। **तुभ्यम्**=तेरे लिये तो **इमे**=ये सोम **सुतासः**=उत्पन्न किये गये हैं। तेरा मुख्य कार्य इनका रक्षण है। इनके रक्षण से ही सब प्रकार की उन्नति होगी।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करके सोमरक्षण को ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें।

ऋषिः—पूरणो वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी का आह्वान

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासुस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति।

इन्द्रेदमुद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्यं सुताः**=तेरे लिये इन सोमों का उत्पादन हुआ है **उ तुभ्यम्**=और तेरे लिये ही **सोत्वासः**=उत्पन्न किये जायेंगे। ये **श्वात्र्याः**=(शु अतन्ति) शीघ्रता से गतिवाली, अर्थात् कर्मों में प्रेरित करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियाँ **त्वां आह्वयन्ति**=तुझे पुकारती हैं। तूने इनका अध्ययन करना है और इनमें निर्दिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होना है। (२) हे जितेन्द्रिय पुरुष **अद्य**=आज **इदं सवनम्**=इस जीवनयज्ञ को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **विश्वस्य विद्वान्**=अपने सब कर्त्तव्य कर्मों को जानता हुआ **सोमम्**=सोम को (वीर्य को) **इह**=इस शरीर में **पाहि**=सुरक्षित कर। इस सोमरक्षण से ही तू सब कर्त्तव्य कर्मों को पूर्ण कर पायेगा। सोमरक्षण ही तुझे तीव्र बुद्धि बना करके वेद को समझने के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें, वेदवाणी को पढ़ें। वेदवाणी को समझते हुए हम तदुपदिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करें।

ऋषिः—पूरणो वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रशस्त व सुन्दर जीवन

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति।

न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥ ३ ॥

(१) **यः**=जो **उशता मनसा**=कामयमान मन से, चाहते हुए मन से **सर्वहृदा**=पूरे दिल से **देवकामः**=उस महान् देव प्रभु की कामनावाला होता हुआ, **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सुनोति**=सोम को अपने में उत्पन्न करता है। **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तस्य**=उसकी **गाः**=इन्द्रियरूप गौवों को **न पराददाति**=कभी उससे दूर नहीं कर देता, उन्हें विषयों का शिकार नहीं होने देता। एवं सोमरक्षण का प्रथम परिणाम यही होता है कि मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयों से व्यावृत्त रहकर ठीक बनी रहती हैं। (२) इस प्रकार वे प्रभु **अस्मै**=इस सोमरक्षण करनेवाले के लिये **इत्**=निश्चय से **प्रशस्तम्**=प्रशंसनीय व **चारुम्**=सुन्दर जीवन को

कृणोति=करते हैं। इसका जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनता है। 'प्रभु की ओर झुकाव हो, इन्द्रियाँ सशक्त हों' बस यही प्रशस्त व सुन्दर जीवन है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी इन्द्रियाँ सशक्त रहेंगी और हमारा जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनेगा।

ऋषिः—पूरणो वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विलास का परिणाम

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम्।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो **रेवान्**=धनवान् होता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु प्राप्ति के लिये **सोमं न सुनोति**=सोम का अभिषव नहीं करता, सोम का सम्पादन न करता हुआ जो विलासमय जीवन को बिताता हुआ सोम का (वीर्य का) विनाश करता है, **एषः**=यह व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु की **अनुस्पष्टः भवति**=दृष्टि में स्थापित होता है। (स्पश=to see) प्रभु की इस पर नजर होती है। उसी प्रकार जैसे कि एक अशुभ आचरणवाला व्यक्ति राजपुरुषों की नजरों में होता है। (२) यदि यह अधिक विलास में चलता है, तो **तम्**=उस विलासमय जीवनवाले धनी पुरुष को **मघवा**=यह ऐश्वर्यशाली प्रभु **अरत्नौ**=मुट्ठी में **निः दधाति**=निश्चय से धारण करता है, अर्थात् उसे कैद-सी में डालता है। और भी अधिक विकृति के होने पर इन **ब्रह्मद्विषः**=वेद के शत्रुओं को, ज्ञान से विपरीत मार्ग पर चलनेवालों को वे प्रभु **हन्ति**=विनष्ट करते हैं। **अनानुदिष्टः**=ये प्रभु कभी अनुदिष्ट नहीं हो पाते। प्रभु तक कोई सिफारिश नहीं पहुँचाई जा सकती। (३) धन के कारण विलासमय जीवनवाला व्यक्ति इस प्रकार प्रभु से 'अनुस्पष्ट, धृत व दण्डित' होता है। हमें चाहिये यह कि हम विलास के मार्ग पर न जाकर तप के मार्ग पर ही चलें।

भावार्थ—विलासी पुरुष प्रभु के दण्ड का पात्र होता है।

सूचना—यहाँ दण्डक्रम बड़ा स्पष्ट है। प्रभु सर्वप्रथम चेतावनी-सी देते हैं, पुनः किसी प्रकार रोगादि के द्वारा उसे बद्ध कर देते हैं। विवशता में समाप्त कर देते हैं। मृत्यु भी अशुभ वृत्ति के भुलाने में सहायक होती है।

ऋषिः—पूरणो वैश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तपस्वी जीवन

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित विलासमय जीवन से विपरीत जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **अश्वायन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए हम **उपगन्तवा उ**=आपके (प्रभु के) समीप प्राप्त होने के लिये **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। प्रभु की आराधना से जीवन का मार्ग विलास का नहीं होता और परिणामतः कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ सशक्त बनी रहती हैं। शरीर की शक्ति का विनाश नहीं होता। (२) हे प्रभो! इस प्रकार **ते**=आपकी **नवायाम्**=अत्यन्त स्तुत्य **सुमती**=कल्याणीमति में **आभूषन्तः**=सदा वर्तमान होते हुए **वयम्**=हम, हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **शुनम्**=आनन्दस्वरूप **त्वा**=आपको **हुवेम**=पुकारते हैं। आपकी आराधना में चलते हुए ही हम आपकी कल्याणीमति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व शक्ति का सम्पादन करते हुए हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें शुभ बुद्धि को प्राप्त कराते हैं।

सूक्त का मुख्य विषय यही है कि सोम के रक्षण के द्वारा जीवन को उत्तम बनायें। इसका परिणाम यह होगा कि हमारे सब रोग विनष्ट हो जायेंगे। हम 'यक्ष्मनाशनः' होंगे। नीरोग बनकर यज्ञात्मक कर्मों से लोकहित में प्रवृत्त होने से हम 'प्राजापत्यः' होंगे। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१६१] एकषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः ॥ देवता—राजयक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रोग-मुक्ति

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

(१) **त्वा**=तुझे **हविषा**=हवि के द्वारा, अग्निहोत्र में डाली गयी आहुतियों के द्वारा **अज्ञात-यक्ष्मात्**=अज्ञात रोगों से, न पहिचाने जानेवाले रोगों से **उत**=और **राजयक्ष्मात्**=राजयक्ष्मा से क्षयरोग से **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ **जीवनाय**=जिससे तू उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कर सके तथा **कम्**=सुखमय तेरा जीवन हो। (२) **यदि वा**=अथवा **एनम्**=इसको **एतत्**=(एतस्मिन् काले सा०) अब **ग्राहि**=अंगों को पकड़-सा लेनेवाला वातरोग **जग्राह**=जकड़ लेता है तो **एनम्**=इसको **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **तस्याः**=उस ग्राहि नामक रोग से **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करें। अग्निरोग के अन्दर दीप्त होता हुआ अग्नि हविर्द्रव्यों को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सूर्यलोक तक पहुँचाता है 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'। सूर्य (=इन्द्र) जलों को वाष्पीभूत करके इन सूक्ष्मकणों के चारों ओर प्राप्त कराता है। इस प्रकार वृष्टि के बिन्दु (बून्दे) इन हविर्द्रव्यों के केन्द्रों में लिये हुए होते हैं। उनके वर्षण से उत्पन्न अन्नकण भी उन्हीं हविर्द्रव्यों के गुणों से युक्त हुए-हुए रोगों के निवारक बनते हैं। इस प्रकार सूर्य (इन्द्र) और अग्नि हमें रोग मुक्त करके दीर्घजीवन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये (स्वाहुत) हविर्द्रव्यों से हम रोग मुक्त हो पाते हैं। सब अज्ञात रोग, राज्यक्ष्मा व ग्राहि नामक रोग सूर्य व अग्नि के द्वारा दूर किये जाते हैं।

ऋषिः—यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः ॥ देवता—राजयक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

निर्ऋति की गोद से बाहिर

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

(१) **यदि**=यदि **क्षितायुः**=यह रुग्ण पुरुष क्षीण आयुष्यवाला हो गया है। **यदि वा**=अथवा **परेतः**=(परा इतः) रोग में बहुत दूर पहुँच गया है। **यदि**=अगर **मृत्योः**=मृत्यु के **अन्तिकम्**=समीप **एव**=ही **नीतः**=प्राप्त कराया गया है, तो भी **तम्**=उसको **निर्ऋतेः**=दुर्गति की **उपस्थात्**=गोद से **आहरामि**=बाहर ले आता हूँ। वस्तुतः गतमन्त्र में वर्णित अग्निहोत्र के द्वारा मैं इसे तीव्रतम रोगों से भी मुक्त करता हूँ। (२) इस प्रकार रोगमुक्त करके **एनम्**=इसको **शतशारदाय**=पूरे शतवर्ष के जीवन के लिये **अस्पार्षम्**=(स्पृ) बलयुक्त करता हूँ। अग्निहोत्र के द्वारा इसे (क) रोगों से मुक्त करता हूँ और (ख) बल से युक्त करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के द्वारा तीव्रतम रोगों से भी मुक्ति सम्भव है।

ऋषिः—यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः॥ देवता—राजयक्ष्मघ्नम्॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सहस्त्राक्ष हवि

सहस्राक्षेण शतशारदेन शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
शतं यथेमं शरदो नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥ ३॥

(१) मैं **एनम्**-इस रुग्ण पुरुष को **हविषा**-हवि के द्वारा **आहार्षम्**-रोग से बाहिर ले आता हूँ। उस हवि के द्वारा जो कि **सहस्राक्षेण**-हजारों आँखोंवाली है, हजारों पुरुषों का ध्यान करती है, हजारों को रोग-मुक्त करती है। **शतशारदेन**-यह हवि हमें शतवर्ष पर्यन्त ले चलती है। **शतायुषा**-इस हवि के द्वारा हमारा शतवर्ष का आयुष्य क्रियामय बना रहता है (एति इति आयुः)। (२) मैं इसको हवि के द्वारा रोग से बाहिर लाता हूँ और इस प्रकार व्यवस्था करता हूँ **यथा**-जिससे **इमम्**-इस पुरुष को **इन्द्रः**-सूर्य **विश्वस्य दुरितस्य**-सब दुर्गतियों के **पारं नयाति**-पार ले जाता है। अग्नि और इन्द्र (सूर्य) मिलकर मनुष्य को सब कष्टों से दूर कर देते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये हविर्द्रव्यों से हजारों पुरुषों का कल्याण होता है, ये उन्हें सौ वर्षों तक जीनेवाला बनाते हैं, उनके जीवन को क्रियामय रखते हैं।

ऋषिः—यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः॥ देवता—राजयक्ष्मघ्नम्॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शतशारद जीवन

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः॥ ४॥

(१) हे मनुष्य! तू **वर्धमानः**-सब शक्तियों की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **शतं शरदः जीव**-सौ शरद् ऋतुओं तक जीनेवाला हो। **शतं हेमन्तान्**-सौ हेमन्त ऋतुओं तक जीनेवाला हो। **उ**-और **शतं वसन्तान्**-सौ वसन्त ऋतुओं तक जीनेवाला हो। (२) **इन्द्राग्नी**-सूर्य और अग्नि तथा **सविता बृहस्पतिः**-उत्पादक वीर्यशक्ति तथा उत्कृष्ट ज्ञान **शतायुषा हविषा**-शतवर्ष के जीवनवाली इस हवि के द्वारा **इमम्**-इस पुरुष को **शतं पुनः दुः**-सौ वर्ष का जीवन फिर से प्राप्त कराते हैं। शरीर में वीर्यशक्ति ही यहाँ 'सविता' कही गई है, यह उत्पादक है। 'बृहस्पति' शब्द ज्ञान का प्रतीक है। ये सब दीर्घजीवन के साधक होते हैं।

भावार्थ—इन्द्र, अग्नि, सविता व बृहस्पति हमें शतशारद जीवन को प्राप्त करायें। 'सूर्य, अग्नि, वीर्यशक्ति व ज्ञान' ये सब दीर्घजीवन के लिये सहायक होते हैं।

ऋषिः—यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः॥ देवता—राजयक्ष्मघ्नम्॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सर्वाङ्ग (पूर्ण स्वस्थ)

आहार्षं त्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्नव। सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्॥ ५॥

(१) रोगी को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **त्वा आहार्षम्**-तुझे रोग से बाहिर ले आता हूँ और इस प्रकार **त्वा अविदम्**-तुझे प्राप्त करता हूँ। **पुनः आगाः**-तू फिर से हमें प्राप्त हो। (२) हे **पुनर्नव**-फिर से स्वस्थ होकर नवीन-जीवन को प्राप्त हुए-हुए पुरुष! **सर्वाङ्ग**-हे सम्पूर्ण अंगोंवाले पुरुष! **ते**-तेरे लिये **सर्वं चक्षुः**-पूर्ण स्वस्थ दृष्टि **च**-और **ते**-तेरे लिये **सर्वं आयुः**-पूर्ण

जीवन अविदम्-मैंने प्राप्त कराया है।

भावार्थ—हम नीरोग होकर ठीक दृष्टि को व स्वस्थ अविकृत अंगों को प्राप्त करते हुए पूर्ण जीवन को प्राप्त करें।

अग्निहोत्र में आहुत हविर्द्रव्यों के द्वारा नीरोगता प्राप्ति का सूक्त में वर्णन है। वे रोगकृमि अपने रमण के लिये हमारा क्षय करने से 'रक्षस्' हैं। इनको नष्ट करनेवाला 'रक्षोहा' अगले सूक्त का ऋषि है। यह सब रोगों व राक्षसीभावों से ऊपर उठने के कारण ब्रह्म को प्राप्त होता है, सो 'ब्राह्म:' कहलाता है। इसकी प्रार्थना है—

[१६२] द्विषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—रक्षोहा ब्राह्म: ॥ देवता—गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् ॥ छन्द:—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

गर्भस्थ व योनिस्थ दोष का निराकरण

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः। अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ १॥

(१) **अग्निः**-वह ज्ञानाग्नि से दीप्त कुशल वैद्य **रक्षोहा**-रोगकृमियों का नाश करनेवाला है। यह **ब्रह्मणा**-ज्ञान से **संविदानः**-खूब ज्ञानी बनता हुआ **इतः**-यहाँ तेरे शरीर से उस रोग को **बाधताम्**-रोककर दूर करनेवाला हो **यः**-जो **अमीवा**-रोग **ते**-तेरे **गर्भं आशये**-गर्भ-स्थान में निवास करता है। (२) **यः**-जो **दुर्णामा**-अशुभ नामवाला अर्शस् (बवासीर) नामक रोग **ते**-तेरी **योनिम्**-रेतस् के आधान स्थान को अपना आधार बनाता है, उसे भी यह दूर करे।

भावार्थ—कुशल वैद्य गर्भ-स्थान में व योनि में होनेवाले दोष को दूर करे।

ऋषि:—रक्षोहा ब्राह्म: ॥ देवता—गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् ॥ छन्द:—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

क्रव्याद-क्रिमि-संहार

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥ २॥

(१) **यः**-जो **अमीवा**-रोग **ते**-तेरे **गर्भम्**-गर्भ-स्थान में **आशये**-निवास करता है और जो **दुर्णामा**-अशुभ नामवाला अर्शस् नामक रोग (बवासीर) **योनिम्**-रेतस् के आधान स्थान में निवास करता है **तम्**-उसको **अग्निः**-यह कुशल ज्ञानी वैद्य **निः अनीनशत्**-बाहर करके नष्ट कर दे। (२) यह ज्ञानी वैद्य **ब्रह्मणा सह**-ज्ञान के साथ रोग को पूरी तरह समझकर नष्ट करनेवाला हो। **क्रव्यादम्**-इस मांस को खानेवाले (मांसाशिनं सा०) क्रिमि को यह वैद्य नष्ट कर दे। इन क्रव्याद क्रिमियों को नष्ट करने से ही रोग का उन्मूलन होता है।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य मांस को खा जानेवाले क्रिमियों को नष्ट करके गर्भगत व योनिगत विकारों को नष्ट करता है।

ऋषि:—रक्षोहा ब्राह्म: ॥ देवता—गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

गर्भाधान से जातकर्म तक

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्। जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ ३॥

(१) गर्भाधान काल में **पतयन्तम्**-गर्भ में जाते हुए **ते**-तेरे वीर्यांश को **यः**-जो **हन्ति**-नष्ट करता है। अब **निषत्स्नुम्**-गर्भ में निषण्ण होते हुए जीव को जो नष्ट करता है। **यः**-जो तीन मास के बाद **सरीसृपम्**-सर्पणशील उस गर्भस्थ बालक को नष्ट करता है, **तम्**-उस रोगकृमि

को **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं। (२) **यः**=जो रोग **ते**=तेरे **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए बालक को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, उस रोग को भी हम नष्ट करते हैं। प्रथम व द्वितीय मन्त्र के अनुसार गर्भ व योनिगत दोषों को दूर करने के बाद गर्भाधानकालीन दोषों को भी दूर करते हैं और फिर गर्भावस्था में समय-समय पर आ जानेवाले रोगों से बचाते हैं। अन्ततः उत्पन्न हुए-हुए बालक का भी रोगों से रक्षण करते हैं।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक के जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक रोगों से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—रक्षोहा ब्राह्मः ॥ देवता—गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पति-पत्नी का नीरोग शरीर

यस्त॑ ऊरू वि॒हर॑त्यन्त॒रा दम्प॑ती॒ शये॑। योनिं॒ यो अ॒न्तरा॒रेळ्हि॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो **ते**=तेरी, हे स्त्रि! **ऊरू विहरति**=जाँघों में विहार करता है, जो भी रोगकृमि तेरी जाँघों में आक्रमण करता है, **तम्**=उसको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं। (२) जो भी रोग दम्पती पति-पत्नी के **अन्तरा**=देह के मध्य में गुप्तरूप से है, उसको भी नष्ट करते हैं। (३) और **यः**=जो तेरी **योनिं अन्तः आरेळ्हि**=योनि के अन्दर प्रविष्ट होकर आहित वीर्य को ही चाट जाता है उस कृमि को भी हम विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी के शरीर दोषों को दूर करते हैं जिससे सन्तान नीरोग हो।

ऋषिः—रक्षोहा ब्राह्मः ॥ देवता—गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

गर्भस्थ बालक के होने पर संयम का महत्त्व

यस्त्वा॒ भ्राता॒ पति॑र्भू॒त्वा जा॒रो भू॒त्वा नि॒पद्य॑ते। प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥ ५ ॥

(१) **यः**=जो **भ्राता**=भरण करनेवाला **पतिः भूत्वा**=पति बनकर **त्वा**=गर्भस्थ बालकवाली तुझे **निपद्यते**=भोग के लिये प्राप्त होता है अथवा **जारः**=तेरी शक्तियों को जीर्ण करनेवाला ही **भूत्वा**=बनकर तुझे प्राप्त होता है और इस प्रकार **यः**=जो **ते**=तेरी **प्रजाम्**=उस गर्भस्थ सन्तति को **जिघांसति**=मारने की ही कामनावाला होता है, **तम्**=उसको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट (दूर) करते हैं। अर्थात् ऐसी व्यवस्था करते हैं कि तुझ गर्भिणी के साथ भोगवृत्ति से कोई बर्ताव करनेवाला न हो। (२) गर्भिणी स्त्री के पति का भी यह कर्त्तव्य है कि बच्चे के गर्भस्थ होने के समय में वह भ्राता ही बना रहे। उस समय भोग का परिणाम स्त्री की शक्तियों को जीर्ण करना ही होगा और परिणामतः बालक के निर्माण में अवश्य कमी रह जायेगी। इस सारी बात को समझता हुआ भी पति यदि भोग की ओर झुकता है तो वह पति क्या? वह तो जार ही है।

भावार्थ—बाल के गर्भस्थ होने पर पति भी भाई की तरह वर्ते। उस समय पति के रूप में वर्तना 'जार वृत्ति' है।

ऋषिः—रक्षोहा ब्राह्मः ॥ देवता—गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अचेतनावस्था में भोग निषेध

यस्त्वा॒ स्वप्ने॑न॒ तम॑सा मोहयि॒त्वा नि॒पद्य॑ते। प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥ ६ ॥

(१) **यः**=जो **त्वा**=तुझे **स्वप्नेन तमसा**=स्वप्नावस्था में ले जाने वाले तमोगुणी पदार्थों के प्रयोग से **मोहयित्वा**=मूढ व अचेतन बनाकर **निपद्यते**=भोग के लिये प्राप्त होता है और इस प्रकार

यः=जो ते=तेरी प्रजाम्=प्रजा को, गर्भस्थ सन्तान को जिघांसति=नष्ट करना चाहता है, तम्=उसको इतः=यहाँ से नाशयामसि=हम दूर करते हैं। (२) गर्भिणी को अचेतनावस्था में ले जाकर भोग-प्रवृत्त होना गर्भस्थ बालक के उन्माद या विनाश का कारण हो सकता है। सो वह सर्वथा हेय है।

भावार्थ—पत्नी को अचेतनावस्था में उपयुक्त करना गर्भस्थ बालक के लिये अत्यन्त घातक होता है।

सम्पूर्ण सूक्त उत्तम सन्तति को प्राप्त करने के लिये आवश्यक बातों का निर्देश करता है। अगले सूक्त में अंग-प्रत्यंग से रोगों के उद्बर्हण करनेवाले का उल्लेख है। रोगों के उद्बर्हण को करनेवाला यह 'विवृहा' है। ज्ञानी होने से यह 'काश्यप' है। यह कहता है कि—

[१६३] त्रिषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—विवृहा काश्यपः ॥ देवता—यक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सिर से रोग का निराकरण (शीर्षण्य दोष निराकरण)

अ॒क्षीभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्यां॒ कर्णा॑भ्यां॒ छुबु॑का॒दधि॑।
यक्ष्मं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ म॒स्तिष्का॒ज्जि॒ह्वाया॒ वि वृ॑हामि ते॥ १॥

(१) हे रुग्ण पुरुष! मैं 'विवृहा काश्यप' ते=तेरी अक्षीभ्याम्=आँखों से, नासिकाभ्याम्=नासिका छिद्रों से, कर्णाभ्याम्=कानों से छुबुकाद् अधि=ठोड़ी से यक्ष्मम्=रोग को विवृहामि=उखाड़ फेंकता हूँ, रोग का समूलोन्मूलन किये देता हूँ। (२) शीर्षण्यम्=सिर में बैठे रोग को दूर करता हूँ। मस्तिष्कात्=शिर के अन्तःस्थित मांस विशेष से तथा जिह्वायाः=जिह्वा से ते=तेरे इस रोग को विनष्ट करता हूँ। इस प्रकार तेरे शिरोभाग को निर्दोष बनाता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य सिर के सब रोगों का निराकरण करता है।

ऋषिः—विवृहा काश्यपः ॥ देवता—यक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भुजाओं से रोग का निराकरण (दोषण्य दोष निराकरण)

ग्री॒वाभ्य॑स्त उ॒ष्णिहा॑भ्यः॒ कीक॑साभ्यो अनू॒क्या॑त्।
यक्ष्मं॑ दोष॒ण्य१॒॑मंसा॑भ्यां बा॒हुभ्यां॒ वि वृ॑हामि ते॥ २॥

(१) हे व्याधिगृहीत पुरुष! मैं ते=तेरी ग्रीवाभ्यः=गले में विद्यमान नाड़ियों से, उष्णिहाभ्यः=ऊपर की ओर जानेवाली धमनियों से, कीकसाभ्यः=अस्थियों से, अनूक्यात्=अस्थिसंधियों से यक्ष्मम्=रोग को विवृहामि=दूर करता हूँ। (२) दोषण्यम्=भुजाओं में होनेवाले यक्ष्मम्=रोग को दूर करता हूँ। और अंसाभ्याम्=हाथों के उर्ध्वभाग, अर्थात् कन्धों से तथा बाहुभ्याम्=हाथों के अधोभाग रूप भुजाओं से ते=तेरे रोगों को दूर करता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य भुजाओं के सब रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—विवृहा काश्यपः ॥ देवता—यक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उदर से रोग का निराकरण

आ॒न्त्रेभ्य॑स्ते॒ गुदा॑भ्यो वनि॒ष्ठोर्हृद॑या॒दधि॑। यक्ष्मं॑ मत॒स्ना॑भ्यां य॒क्नः प्ला॒शिभ्यो॒ वि वृ॑हामि ते॥ ३॥

(१) ते=तेरी आन्त्रेभ्यः=आँतों से, गुदाभ्यः=गुदा की नाड़ियों से, वनिष्ठोः=स्थूल आँतों

से, हृदयात् अधि=हृदय से यक्ष्मम्-रोग को विवृहामि-उन्मूलित करता हूँ। (२) ते मतस्नाभ्याम्-तेरे दोनों गुर्दों से, यक्नः-यकृत् (जिगर) से प्लाशिभ्यः-क्लोम प्लीहा आदि अन्य उदरस्थ मांस पिण्डों से यक्ष्मम्-रोग को विवृहामि-उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—मैं तेरे उदर को बिलकुल नीरोग करता हूँ।

ऋषिः—विवृहा काश्यपः ॥ देवता—यक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

जंघादि दोष निवारण

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

(१) हे यक्ष्मगृहीत! ते ऊरुभ्याम्-तेरी जंघाओं से, अष्ठीवद्भ्याम्-घुटनों से, पार्ष्णिभ्याम्-एड़ियों से प्रपदाभ्याम्-पञ्जों से यक्ष्मम्-रोग को विवृहामि-उन्मूलित करता हूँ। (२) ते-तेरे श्रोणिभ्याम्-नितम्ब भागों से (hips) भासदात्-कटि भाग से भंससः-गुदा के प्रदेश से रोग को उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—उदर के निचले प्रदेशों से मैं तेरे रोगों को दूर करता हूँ।

ऋषिः—विवृहा काश्यपः ॥ देवता—यक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'लोम नख दोष' दूरीकरण

मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

(१) हे यक्ष्मगृहीत पुरुष! मैं ते-तेरे वनंकरणात्-जल को उत्पन्न करनेवाले (to make water) मेहनात्-शुक्र सेचक मूल इन्द्रिय से, लोमभ्यः-लोमों से तथा नखेभ्यः-नखों से यक्ष्मम्-रोग को उखाड़ फेंकता हूँ। (२) ते-तेरे सर्वस्माद् आत्मनः-सारे शरीर से तं इदम्-(यक्ष्मं) उस इस रोग को विवृहामि-विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—मूलेन्द्रिय, लोम व नख आदि से रोग का निराकरण करता हूँ।

ऋषिः—विवृहा काश्यपः ॥ देवता—यक्ष्मघ्नम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सर्वांग दोष निरास

अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वणिपर्वणि। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

(१) अंगात् अंगात्-मैं तेरे प्रत्येक अंग से यक्ष्मं विवृहामि-रोग को दूर करता हूँ। लोम्नः लोम्नः-लोम लोम से जातम्-उत्पन्न हुए-हुए इस रोग को हटाता हूँ। (२) पर्वणि पर्वणि-एक-एक पर्व में, जोड़ में हो गये इस रोग को दूर करता हूँ। (३) मैं ते-तेरे तं इदम्-उस इस रोग को सर्वस्मात् आत्मनः-सारे देह से दूर करता हूँ।

भावार्थ—मैं तेरे सारे अंगों को नीरोग करता हूँ।

अगं-प्रत्यंग को नीरोग बनाने की भावना से सारा सूक्त भरा है। अगले सूक्त में मन को निर्मल बनाने का प्रयत्न करते हैं। मन की निर्मलता से कभी दुःस्वप्न नहीं आते। सो यह 'दुःस्वप्नघ्न' सूक्त कहलाता है। इसका ऋषि 'प्रचेताः'-प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। यह पाप संकल्प को सम्बोधन करता हुआ कहता है—

[१६४] चतुःषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—प्रचेताः ॥ देवता—दुःस्वप्नघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पाप संकल्प का अपक्रमण

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ १ ॥

(१) हे **मनसः पते**=मन के पति बन जानेवाले पाप संकल्प! यह पाप संकल्प उत्पन्न हुआ और यह मन को पूर्णरूप से वशीभूत-सा कर लेता है। इस पाप संकल्प को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **अप इहि**=तू हमारे से दूर जा। **अप क्राम**=तेरा पादविक्षेप हमारे से दूरदेश में ही हो। **परः चर**=तू दूर होकर गतिवाला हो। (२) **निर्ऋत्यै**=इस निर्ऋति, दुर्गति, दुराचार के लिये **परः**=हमारे से दूर होकर **आचक्ष्व**=कथन कर। अर्थात् तू हमें पाप के लिये प्रेरित मत कर। **जीवतः मनः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाले मेरा मन **बहुधा**=बहुत चीजों का धारण करनेवाला है। घर के कितने ही कार्यों, गौ आदि की सेवा व वेदवाणी के अध्ययन में मेरा मन व्यापृत है। सो हे पाप संकल्प! तू मेरे से दूर जा, मुझे अवकाश नहीं कि मैं तेरे कथनों को सुनूँ।

भावार्थ—हम मन पर प्रभुत्व पा लेनेवाले पाप संकल्प को दूर भगायें।

ऋषिः—प्रचेताः ॥ देवता—दुःस्वप्नघ्नम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भद्र वर वस्तुओं में व्याप्ति

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्। भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ २ ॥

(१) सब लोग **वै**=निश्चय से **भद्रम्**=कल्याण व सुख को पैदा करनेवाली **वरम्**=वरणीय श्रेष्ठ बात को ही **वृणते**=वरते हैं, चाहते हैं। सामान्यतः **दक्षिणम्**=इस अत्यन्त कुशल मन को **भद्रं युञ्जन्ति**=शुभ बातों में ही लगाते हैं। (२) **वैवस्वते**=उस ज्ञान के पुञ्ज (विवस्वान् के पुत्र) अन्धकार का विवसन (दूरीकरण) करनेवाले प्रभु के विषय में **चक्षुः**=व्यापृत आँख **भद्रम्**=मेरा कल्याण व सुख करनेवाली है। अर्थात् मैं सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता हुआ भद्र कार्यों में ही व्यापृत होता हूँ। **जीवतः मनः**=जीवन धारण करनेवाले मेरा मन **बहुत्रा**=अनेक विषयों में है, मुझे अपने नाना कर्त्तव्यों का पालन करना है। सो हे पाप संकल्प! तू मुझे तो आक्रान्त न कर। मेरे से दूर ही रह।

भावार्थ—हम वरणीय भद्र वस्तुओं को चाहें। मन को भद्र बातों में लगाये रखें। आँख से सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें। पाप संकल्प से बचने का यही मार्ग है।

ऋषिः—प्रचेताः ॥ देवता—दुःस्वप्नघ्नम् ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों से दूर

यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जो **आशसा**=किसी अभिलाषा से अथवा **निःशसा**=बिना अभिलाषा के अनिच्छा से **अभिशसा**=(अभिशंस्=to praise, Ixtol) झूठी प्रशंसा को प्राप्त करने के लिये **उपारिम**=गलती कर जाते हैं। **जाग्रतः**=जागते हुए हम जो गलती कर जाते हैं, या **यत्**=जो **स्वपन्तः**=सोते हुए हम गलती करते हैं (स्वप्न में किसी के लिये बुरा चिन्तन आदि स्वप्न के पाप हैं), **अग्निः**=परमात्मा उन **विश्वानि**=सब **अजुष्टानि**=आर्यपुरुषों से असेवित **दुष्कृतानि**=पापों को **अस्मत्**=हमारे

आरे-दूर अपधातु-स्थापित करे। प्रभु कृपा से हम सब असेवनीय पापों से दूर हों। (२) धन आदि भौतिक वस्तुओं की कामना से होनेवाले पापों के लिये 'आशसा' शब्द का प्रयोग है। न चाहते हुए किसी दबाव से हो जानेवाले पापों के लिये 'नि:शसा' शब्द है तथा झूठे यश की (वाहवाही की) कामना से होनेवाले पापों के लिये 'अभिशसा' शब्द आया है। प्रभु हमें इन सब पापों से बचायें।

भावार्थ—हम धन की इच्छा से दबाव में पड़कर या वाहवाही की खातिर पापों को न कर बैठें।

ऋषि:—प्रचेता: ॥ देवता—दु:स्वप्नघ्नम् ॥ छन्द:—विराडनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

प्रचेता आंगिरस

यदि॑न्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रो॒हं चरा॑मसि। प्रचे॑ता न आङ्गिर॒सो द्वि॑ष॒तां पा॒त्वंह॑सः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**-सर्वशक्तिमान्, शत्रुओं के विद्रावण को करनेवाले प्रभो! हे **ब्रह्मणस्पते**-ज्ञान के स्वामि! **यत्**-जो भी **अभिद्रोहम्**-आपके विषय में हम द्रोह **चरामसि**-करते हैं। इन्द्र व ब्रह्मणस्पति के विषय में द्रोह का स्वरूप यही है कि—(क) जितेन्द्रियता को छोड़कर शक्ति को क्षीण कर लेना तथा (ख) स्वाध्याय के व्रत का पालन न करते हुए ज्ञान को न प्राप्त करना। **प्रचेता:**-प्रकृष्ट ज्ञानवाला **आंगिरस:**-अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाला प्रभु **द्विषताम्**-द्वेष करनेवाले के **अंहस:**-पाप से **न:**-हमें **पातु**-बचाये। (२) 'प्रचेता:' बनकर हम ब्रह्मणस्पति के प्रति द्रोह से दूर होते हैं तथा 'आंगिरस' बनकर हम 'इन्द्र' के प्रति द्रोह नहीं करते। वस्तुत: आदर्श मनुष्य बनने के लिये इन्हीं दो बातों की आवश्यकता है कि हम 'ज्ञानी बनें, शक्तिशाली बनें'। इन दोनों ही बातों के लिये आवश्यक है कि हम द्वेष करनेवाले न हों। द्वेष से शरीर भी विकृत होता है, मस्तिष्क भी मलिन होता है।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठकर 'प्रचेता आंगिरस' बनें। यही 'ब्रह्मणस्पति व इन्द्र' का पूजन है।

ऋषि:—प्रचेता: ॥ देवता—दु:स्वप्नघ्नम् ॥ छन्द:—पङ्क्ति: ॥ स्वर:—पञ्चम: ॥

'विजय-प्रभु-भजन-निष्पापता'

अजै॑ष्मा॒द्यास॑नाम॒ चाभू॒माना॑गसो व॒यम्।
जा॒ग्र॒त्स्व॒प्नः सं॑क॒ल्पः पा॒पो यं द्वि॒ष्मस्तं स ऋ॑च्छतु॒ यो नो॒ द्वेष्टि॒ तमृ॑च्छतु ॥ ५ ॥

(१) **अद्य**-आज **अजैष्म**-हम विजयी बने हैं, द्वेष आदि अशुभ वृत्तियों पर हमने विजय पायी है। **च**-और **असनाम**-हमने प्रभु का भजन किया है। अशुभ वृत्तियों से ऊपर उठना ही प्रभु का सच्चा सम्भजन है। इस प्रभु-भजन से **वयम्**-हम **अनागस:**-निष्पाप **अभूम**-हुए हैं। (२) **जाग्रत्**-जागती हुई अवस्था में होनेवाला **स: पाप: संकल्प:**-वह पाप संकल्प तथा **स्वप्न:**-स्वप्नावस्था में होनेवाला पाप संकल्प **तम्**-उसको **ऋच्छतु**-प्राप्त हो **यं द्विष्म:**-जिसके साथ हम प्रीति नहीं कर पाते। **य:**-जो **न:**-हम सबके साथ **द्वेष्टि**-द्वेष करता है **तम्**-उसको यह पाप संकल्प **ऋच्छतु**-प्राप्त हो। वस्तुत: द्वेष करनेवालों को ही अशुभ वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। जो भी एक व्यक्ति सारे समाज से द्वेष करने के कारण समाज का प्रिय नहीं रहता, उसी में इन पाप संकल्पों का वास हो। हम द्वेष से ऊपर उठकर पाप संकल्प से दूर हों।

भावार्थ—हम 'विजय, प्रभु-भजन व निष्पापता' को अपनायें। पाप संकल्प का परित्याग करें।

सारा सूक्त पाप संकल्प से दूर होने का ही वर्णन कर रहा है। इसको दूर करनेवाला 'नैर्ऋतः' कहलाता है, 'निर्ऋति (दुराचरण) का हन्ता'। यह उस आनन्दमय प्रभु को (ऋ) अपना पोत (boat) बनाता है जिसके द्वारा यह भवसागर को तैरनेवाला होता है। इसी 'नैर्ऋत कपोत' का अग्रिम सूक्त में चित्रण है—

[१६५] पञ्चषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कपोतो नैर्ऋतः ॥ देवता—कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम् ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का समादर

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

(१) 'क-पोत' वह व्यक्ति है जो कि ब्रह्म को अपना आधार बनाकर चलता है, यही उपनिषदों में 'ब्रह्मनिष्ठ' कहा गया है। प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला यह 'इषित' कहा गया है। **देवाः**=हे देवो, देववृत्ति के पुरुषो! **कपोतः**=यह ब्रह्मनिष्ठ, **इषितः**=अन्तःस्थित प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला **यत्**=जब **इच्छन्**=हमारे लिये प्रकाश को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ, **निर्ऋत्याः**=निर्ऋति का, दुराचरण का **दूतः**=संतप्त करनेवाला, अपने प्रचार से अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करनेवाला **इदम्**=इस स्थान में **आजगाम**=आया है। (२) **तस्मा**=उसके लिये **अर्चाम**=हम अर्चन (पूजन) को करें, उसका उचित आदर करें। **निष्कृतिम्**=पापाचरण के बहिष्कार को **कृणवाम**=करें। वस्तुतः 'तदुपदिष्ट मार्ग से चलते हुए, पापों को न करना' ही उसका उचित समादर है। ऐसा करने से **नः**=हमारे **द्विपदे**=सब मनुष्यों के लिये **शम्**=शान्ति **अस्तु**=हो और **चतुष्पदे**=हमारे चार पाँवोंवाले पशुओं के लिये भी शान्ति हो। निष्पापता के होने पर सारा वातावरण शान्त होता है, सब पशु-पक्षियों का कल्याण होता है।

भावार्थ—हमें समय-समय पर ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष प्राप्त हों। उनकी प्रेरणा से निष्पाप होकर हम अपने वातावरण को शान्त बना पायें।

ऋषिः—कपोतो नैर्ऋतः ॥ देवता—कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

निष्पापता व शक्ति संचार

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहेषु।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥

(१) **शिवः**=(श्यति पापम्, अथवा शिवु कल्याणे) अपने उपदेशों के द्वारा पापवृत्तियों को विनष्ट करनेवाला व कल्याण करनेवाला, **कपोतः**=ब्रह्मरूप पोतवाला ब्रह्मनिष्ठ, **इषितः**=प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिये **अनागाः**=निष्पाप **अस्तु**=हो। हमारे जीवनों को यह निष्पाप बनानेवाला हो। हे **देवाः**=देवो! इस प्रकार यह **गृहेषु**=हमारे घरों में **शकुनः**=शक्ति का संचार करनेवाला हो। (२) यह **अग्निः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाला **विप्रः**=ज्ञानी ब्राह्मण **हि**=निश्चय से **नः हविः**=हमारे से दी गई हवि को, पत्र-पुष्प-फल तोय के रूप में दी गई तुच्छ भेंट को **जुषताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। इस अग्नि के उपदेशों से **पक्षिणी हेतिः**=किसी एक

पक्ष में चले जानेरूप नाशक अस्त्र नः=हमें परिवृणक्तु=छोड़ दे। हम किसी पक्ष में न गिरें, पक्षपात रहित न्यायाचरण से अपने कल्याण को सिद्ध करें। 'avoid extremes' 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का ध्यान करते हुए युक्ताहार-विहारवाले बनें। तथा समाज में भी किसी पक्ष के साथ न जुड़ जायें, पार्टीबाजी में न पड़ जायें। सामाजिक उन्नति में सब से महान् विघ्न यही होता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का उपदेश हमें निष्पाप व शक्तिशाली बनाये। इनके उपदेशों से हम अति से व पार्टीबाजी से बचे रहें।

ऋषिः—कपोतो नैर्ऋतः ॥ देवता—कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

'अति' से बचना

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने।
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः ॥ ३ ॥

(१) **पक्षिणी हेतिः**=किसी एक पक्ष में चले जानेरूप नाशक अस्त्र **अस्मान्**=हमें न **दभाति**=हिंसित नहीं करता। किसी भी अति (extreme) में न पड़कर हम सदा मध्यमार्ग में चलते हैं और इस प्रकार अपने जीवन में हिंसित नहीं होते। अति ही हमारे रोग आदि का कारण बनती है। यह अति से बचनेवाला पुरुष **आष्ट्र्याम्**=(अशू व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति में तथा **अग्निधाने**=यज्ञों के लिये अग्नि के स्थापित करने आदि कार्यों में **पदं कृणुते**=गति को करता है, अर्थात् मनोवृत्ति को व्यापक बनाता है और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होता है। (२) इस प्रकार (क) मध्यमार्ग में चलने, (ख) मनोवृत्ति को व्यापक बनाने (ग) तथा यज्ञों के करने पर **नः**=हमारे **गोभ्यः**=गवादि पशुओं के लिये **च**=और **पुरुषेभ्यः**=पुरुषों के लिये **शं अस्तु**=शान्ति हो। वस्तुतः हमारे कर्मों के उत्तम होने पर आधिदैविक आपत्तियों का भी निवारण हो जाता है, सारा वातावरण उत्तम बन जाता है। **देवाः**=हे देवो! **इह**=इस जीवन में **कपोतः**=यह ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति **नः**=हमें **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे। अपने सदुपदेशों से हमारा कल्याण ही करनेवाला हो।

भावार्थ—हम अति में न आयें। मनोवृत्ति को व्यापक बनायें। अग्निहोत्रादि यज्ञों को करें। इस प्रकार हमारे पशुओं व मनुष्यों के लिये शान्ति हो।

ऋषिः—कपोतो नैर्ऋतः ॥ देवता—कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम् ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

उलूक व कपोत

यदलूको वदति मोघमेतद्यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति।
यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ४ ॥

(१) **अलूकः**=(उरूकः) खूब ही धन आदि का सम्पादन करनेवाला, लक्ष्मी का वाहनभूत यह उलूक **यद् वदति**=जो बात करता है, **एतत्**=यह **मोघम्**=व्यर्थ है। हमेशा धन को अधिकाधिक प्राप्त करने की तरकीबों का ही यह कथन करता रहता है। वस्तुतः इन बातों का हमारे जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। (२) **यत्**=जो **कपोतः**=ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति आनन्दमय प्रभु को (क) अपना पोत (boat) बनानेवाला व्यक्ति **अग्नौ**=उस सर्वाग्रणी, सबको आगे ले चलनेवाले प्रभु में **पदं कृणोति**=स्थान को बनाता है, ब्रह्म में ही स्थित होता है। यह धन को ही सारे समय दिमाग में नहीं रखे रहता। (३) **एषः**=यह ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति **यस्य दूतः**=जिस प्रभु का सन्देशवाहक बना

हुआ **प्रहितः**-हमारे समीप भेजा जाता है, **तस्मै**-उस **यमाय**-सर्वनियन्ता **मृत्यवे**-सारे संसार को अन्ततः समाप्त करनेवाले अथवा हमारी बुराइयों के लिये मृत्युभूत प्रभु के लिये **एतत् नमः अस्तु**-यह नमस्कार हो। हम प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। प्रभु कृपा से ही हमें ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त होता है और उनके द्वारा हम प्रभु के सन्देश को सुन पाते हैं। संसारी पुरुष तो धन की ही बातें करते रहते हैं। वस्तुतः सदा धन में उलझे रहनेवाले ये 'उलूक' हैं। हम इनकी बातों में न फँस जायें।

भावार्थ—धन के वाहनभूत उलूकों की बातों को न सुनकर हम ब्रह्मनिष्ठ (कपोत) के द्वारा ब्रह्म के सन्देश को सुने।

ऋषिः—कपोतो नैर्ऋतः ॥ देवता—कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गो-परिणय

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयध्वम्।
संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हित्वा न ऊर्जं प्र पतात्पतिष्ठः ॥ ५ ॥

(१) **प्रणोदम्**-प्रकृष्ट प्रेरणा को देनेवाले **कपोतम्**-आनन्दमय प्रभु को अपनी नाव बनानेवाले ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति को **ऋचा**-ऋचाओं के हेतु से, विज्ञान के हेतु से (ऋग्वेद-विज्ञानवेद) **नुदत**-प्रेरित करे। नम्रतापूर्वक इस व्यक्ति से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें पदार्थों का विज्ञान प्राप्त कराये। **इषं मदन्तः**-उससे दी गई प्रेरणा में आनन्द का अनुभव करते हुए **गां परिनयध्वम्**-इन ज्ञानवाणियों के साथ परिणयवाले बनो। इस वेदवाणी के साथ तुम्हारा अटूट सम्बन्ध बने, यह तुम्हारी पत्नी के समान हो। (२) अब **विश्वा दुरितानि**-सब बुराइयों को **संयोपयन्तः**-अपने से दूर (अदृश्य) करते हुए सब बुराइयों को तुम अपने से दूर करो। (३) इन बुराइयों से हम दूर रहें, इसके लिये हम चाहते हैं कि **पतिष्ठः**-गति में सर्वोत्तम यह ब्रह्मनिष्ठ परिव्राजक **ऊर्जं हित्वा**-बल व प्राणशक्ति को धारण करके **नः प्रपतात्**-हमें समीपता से प्राप्त हो। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति के प्रेरणात्मक उपदेशों से ही हमारा जीवन उत्तम बनेगा।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति के लिये हम ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति के समीप नम्रता से पहुँचे। उसकी प्रेरणाओं से ज्ञान की वाणियों के साथ हमारा परिणय हो और पापों को हम अपने से दूर करें।

इस सूक्त में ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के सम्पर्क से ज्ञान प्राप्ति व पापवर्जन का सुन्दर चित्रण है। यह निष्पाप व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है 'ऋषभः', विशिष्ट दीप्तिवाला बनता है 'वैराजः', यह शक्ति-सम्पन्न होकर 'शाक्वरः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। इसकी प्रार्थना है—

[१६६] षट्षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा ॥ देवता—सपत्नघ्नम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

गवां गोपति

ऋषभं मां समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **मा**-मुझे **समानानाम्**-अपने समान लोगों में, एक श्रेणी में, स्थित व्यक्तियों में **ऋषभम्**-श्रेष्ठ **कृधि**-करिये। मैं समान लोगों में आगे बढ़ जानेवाला बनूँ। इसी दृष्टिकोण से मुझे **सपत्नानाम्**-मेरे शरीर के पति बनने की कामनावाले इन मेरे सपत्नभूत काम-क्रोध आदि का **विषासहिम्**-विशेषरूप से पराभव करनेवाला करिये। तथा **शत्रूणाम्**-शरीर को विनष्ट करनेवाले

विविध रोगरूप शत्रुओं का **हन्तारम्**=मारनेवाला करिये, हम रोगों से कभी आक्रान्त न हों। जब हम शरीर में नीरोग होते हैं और मन में वासनाओं से ऊपर उठ जाते हैं तभी उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हुए समान लोगों में श्रेष्ठ बन पाते हैं। (२) रोगों व वासनाओं से ऊपर उठाकर मुझे **विराजम्**=विशिष्ट दीप्तिवाला **कृधि**=करिये। मेरा शरीर तेजस्विता से दीप्त हो तथा मेरा मन निर्मलता से चमक उठे। मुझे **गवां गोपतिम्**=इन्द्रियरूप गौओं का **पति**=स्वामी बनाइये। इन्द्रियों को मैं वश में करनेवाला होऊँ। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः सब उन्नतियों का आधार है। अजितेन्द्रिय न रोगों से बच पाता है, न वासनाओं से। यह विराट् तो क्या, एकदम निस्तेज होकर मृत्यु की ओर अग्रसर होता है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बनूँ। विशिष्ट दीप्तिवाला बनकर वासनाओं को विनष्ट करूँ और नीरोग बनूँ। इस प्रकार मैं अपने समान लोगों में श्रेष्ठ होऊँ।

ऋषिः—ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा ॥ देवता—सपत्नघ्नम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अरिष्ट-अक्षत

अहमस्मि सपत्नहेन्द्रइवारिष्टो अक्षतः। अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः ॥ २ ॥

(१) **अहम्**=मैं **सपत्नहा**=सपत्नभूत काम-क्रोध आदि का विनष्ट करनेवाला **अस्मि**=हूँ। **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की तरह **अरिष्टः**=वासनाओं से तो मैं हिंसित न होऊँ। तथा **अक्षतः**=शरीर में रोगों से किसी प्रकार की क्षतिवाला न होऊँ। (२) **इमे सर्वे**=ये सारे **अभिष्ठिताः**=चारों ओर ठहरे हुए **सपत्नाः**=शत्रु **मे पदोः अधः**=मेरे पाँवों के नीचे हों। मैं इन काम-क्रोध आदि सब ओर से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को पादाक्रान्त करनेवाला बनूँ। इनको कुचलकर ही मैं अरिष्ट व अक्षत हो सकता हूँ।

भावार्थ—मैं सपत्नों को नष्ट करके 'अहिंसित व अक्षत' होऊँ।

ऋषिः—ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा ॥ देवता—सपत्नघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सपत्न-बन्धन

अत्रैव वोऽपि नह्याम्युभे आर्त्नीइव ज्यया। वाचस्पते नि षेधेमान्यथा मदधरं वदान् ॥ ३ ॥

(१) **इव**=जैसे **उभे आर्त्नी**=धनुष की दोनों कोटियों को **ज्यया**=ज्या (डोरी) से बाँध देते हैं, इसी प्रकार से काम-क्रोध आदि शत्रुओं में **वः**=तुम्हें **अत्र एव**=यहाँ शरीर में ही **अपिनह्यामि**=बाँधनेवाला होता हूँ। काम-क्रोध को पूर्णरूप से वश में कर लें तो ये शत्रु न होकर मित्र हो जाते हैं। इसी को व्यापक शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि वशीभूत मन मित्र है, अवशीभूत मन ही शत्रु है। (२) **वाचस्पते**=हे वाणी के पति! **इमान् निषेध**=इन शत्रुओं को निषिद्ध कर। वस्तुतः इस जिह्वा को वशीभूत कर लेने से रसास्वाद से ऊपर उठकर मनुष्य नीरोग बनता है और व्यर्थ के शब्दों से ऊपर उठकर लड़ाई-झगड़ों से बचा रहता है। वाचस्पति मेरे शत्रुओं को इस प्रकार दूर कर कि **यथा**=जिससे **मद् अधरम्**=मेरे नीचे होकर ये **वदान्**=बात करें, अर्थात् सदा मेरी अधीनता में रहें। इनकी बात मुख्य न हो, ये मेरी बात को ही कहें।

भावार्थ—काम-क्रोध को हम पूर्ण रूप से वश करनेवाले हों।

ऋषिः—ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा ॥ देवता—सपत्नघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अभिभूः

अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना। आ वश्चित्तमा वो व्रतमा वोऽहं समितिं ददे ॥ ४ ॥

(१) **अहम्**-मैं **विश्वकर्मेण धाम्ना**-सब कर्मों को करनेवाले तेज से **अभिभूः**-सब शत्रुओं को अभिभूतवाला बनकर **आगमम्**-आया हूँ। वस्तुतः तेजस्विता से मैं सब शत्रुओं को निस्तेज बनानेवाला हुआ हूँ। (२) यह तेजस्वी पुरुष जब सभा में आता है तो सबके चित्तों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। **वः**-तुम्हारे सब सभ्यों के **चित्तम्**-चित्त को **आददे**-अपनी ओर आकृष्ट करता हूँ। इसके बाद **वः**-तुम्हारे **व्रतम्**-कर्मों को **आददे**-ग्रहण करता हूँ, अर्थात् समिति के कार्यों में दिलचस्पी लेने लगता हूँ और अन्ततः **अहम्**-मैं **वः**-आपकी **समितिम्**-इस समिति को **आददे**-ग्रहण करनेवाला होता हूँ। समिति का मुखिया हो जाता हूँ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष ही सभाओं का संचालन कर पाता है।

ऋषिः—ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा ॥ **देवता**—सपत्नघ्नम् ॥ **छन्दः**—महापङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

राष्ट्रपति के दो कर्त्तव्य

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूकाइवोदकान्मण्डूका उदकादिव ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार समिति का प्रधान बन जानेवाला वह व्यक्ति राष्ट्रपति बनकर कहता है कि **वः**-तुम सबके लिये **योगक्षेमम्**-योगक्षेम को, जीवन की आवश्यक चीजों को **आदाय**-लेकर **अहम्**-मैं **उत्तमः भूयासम्**-उत्तम बनूँ। राष्ट्र में सर्वोत्तम स्थिति में पहुँचनेवाले का मौलिक कर्त्तव्य तो यही है कि राष्ट्र ही सब प्रजाओं के योगक्षेम की व्यवस्था अवश्य करे, 'नास्यविषये क्षुधावसीदेत्'-इसके राष्ट्र में कोई भी भूखा न मरे। वस्तुतः इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाला यह व्यक्ति ही कह सकता है कि मैं **वः**-आप सबके **मूर्धानम्**-मूर्धा पर **अक्रमीम्**-गति करनेवाला हुआ हूँ। आपका मूर्धन्य बना हूँ। सब से श्रेष्ठ बनकर मैं इस पद पर स्थित हुआ हूँ। (२) अन्य राज्याधिकारी तो इस राष्ट्रपति की अधीनता में ही शासन व्यवस्था में सहयोग देते हैं। यह राष्ट्रपति कहता है कि **मे**-मेरे **अधस्पदात्**-नीचे स्थित हुए-हुए आप **उद्वदत**-राजाज्ञाओं व राजनियमों का उद्घोषण करो। इस प्रकार उद्घोषण करो **इव**-जैसे कि **मण्डूकाः उदकात्**-मेंढक पानी से शब्द को करते हैं, उसी प्रकार तुम राजाज्ञाओं की घोषणा करो। इन राजाज्ञाओं से सब प्रजाजनों को सुपरिचित करना यह निचले अधिकारियों का कर्त्तव्य होता है। (वर्तमान में यह कार्य बहुत कुछ समाचार-पत्रों से कर दिया जाता है)।

भावार्थ—राजा को चाहिये कि राष्ट्र में सबके योगक्षेम की ठीक व्यवस्था करे, समय-समय पर राजाज्ञाओं की ठीक प्रकार से उद्घोषणा कराता रहे।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का प्रतिपादन करता है राष्ट्रपति वही चुना जाये जो जितेन्द्रिय व तेजस्वी होकर सर्वश्रेष्ठ बने। यह विश्वामित्र-सबके साथ स्नेह करनेवाला होता है और 'जमदग्नि' होने से (जमत् अग्नि) स्वस्थ व तेजस्वी बना रहता है, इसकी जाठराग्नि कभी मन्द नहीं होती। जितेन्द्रियता का यह स्वाभाविक परिणाम है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। इसके लिये कहते हैं—

[१६७] सप्तषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—विश्वामित्रजमदग्नी ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

तप द्वारा प्रकाश की प्राप्ति

तुभ्येदमिन्द्र परि षिच्यते मधु त्वं सुतस्य कलशस्य राजसि।
त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्य**-तेरे लिये, तेरे जीवन के सुन्दर निर्माण के लिये, **इदं मधु**-यह मधु-भोजन का सारभूत सोम **परिषिच्यते**-शरीर में सर्वत्र सींचा जाता है। सोम-वीर्य ही मधु है। जीवन को यह मधुर बनानेवाला है। **त्वम्**-तू **सुतस्य**-इस उत्पन्न हुए-हुए **कलशस्य**-'कलाः शेरतेऽस्मिन्' सब प्राण आदि कलाओं के आधारभूत सोम का **राजसि**-राजा होता है। इस सोम का तू मालिक बनता है। (२) **त्वम्**-तू **नः**-हमारी प्राप्ति के लिये, प्रभु प्राप्ति के लिये **रयिम्**-धन को **उ**-निश्चय से **पुरुवीराम्**-पालक व पूरक वीरतावाला **कृधि**-कर। यदि मनुष्य धन में आसक्त हो जाता है तो यह धन उसके विलास व विनाश का कारण बनता है। अनासक्ति के साथ धन शरीर में रोगों को नहीं आने देता, मन में न्यूनताओं को नहीं आने देता। (३) **त्वम्**-तू **तपः परितप्य**-तप को करके **स्वः अजयः**-प्रकाश को जीतनेवाला बन। तपस्या से मलिनता का विनाश होकर बुद्धि का दीपन होता है। इस दीप्त बुद्धि से हमारा ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है।

भावार्थ—हम सोम के रक्षण के द्वारा जीवन को मधुर बनायें। शरीर में सब कलाओं का पूरण करें। धन में आसक्त न होकर तपस्वी बनते हुए हम प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रजमदग्नी ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रकाश द्वारा आसुर-वृत्तियों का विनाश

स्वर्जितं महि मन्दानमन्धसो हवामहे परि शक्रं सुताँ उप।
इमं नो यज्ञमिह बोध्या गहि स्पृधो जयन्तं मघवानमीमहे॥ २॥

(१) हम **स्वर्जितम्**-हमारे लिये प्रकाश का विजय करनेवाले, **महि**-महान्, **मन्दानमन्**-आनन्दस्वरूप **शक्रम्**-शक्तिशाली परमात्मा को **अन्धसः सुतान् परि**-सोम के सवनों का लक्ष्य करके **उपहवामहे**-समीपता से पुकारते हैं। प्रभु के स्मरण से शरीर में सोम का सम्यक् रक्षण होता है। इस सोम के रक्षण से हम भी प्रकाश का विजय करनेवाले, महान्, आनन्दमय व शक्तिशाली बन पाते हैं। (२) हे प्रभो! आप **नः**-जो **इमं यज्ञम्**-इस जीवनयज्ञ को **इह**-यहाँ **बोधि**-जानिये, इसका ध्यान करिये। **आगहि**-आप हमें प्राप्त होइये। हम **स्पृधः जयन्तम्**-हमारे सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले, **मघवानम्**-ऐश्वर्यशाली प्रभु को **ईमहे**-याचना करते हैं। प्रभु से हम यही याचना करते हैं कि प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं का पराभव करें।

भावार्थ—हम प्रभु से यही याचना करते हैं कि वे हमें प्रकाश प्राप्त करायें। इस प्रकाश से हमारे आसुरभाव विनष्ट हों। आसुरभावों के विनाश से हम सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण से हम वास्तविक आनन्द को प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रजमदग्नी ॥ देवता—लिङ्गोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कलश-भक्षण

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्॥ ३॥

(१) शरीर में आहार से उत्पन्न होनेवाली अन्तिम धातु वीर्य है। इसी में शरीरस्थ सब कलाओं का निवास है। 'कलाः शेरते ऽस्मिन्'-इस व्युत्पत्ति से इस वीर्य को 'कलश' कहा गया है। इन **कलशान्**-वीर्यकणों का **अभक्षयम्**-मैं भक्षण करता हूँ, इन्हें अपने शरीर में ही सुरक्षित करने

का प्रयत्न करता हूँ। (२) इस वीर्य को मैं कब धारण करता हूँ? (क) जब कि **सोमस्य राज्ञः वरुणस्य धर्मणि**=सोम राजा के व वरुण के धर्म में चलता हूँ। उदीची (उत्तर) दिक् का अधिपति 'सोम' है। इस सोमरक्षण का कर्म 'विनीतता' है। विनीतता के कारण ही इसकी उन्नति बनी रहती है। वरुण का धर्म प्रत्याहार है, यह 'प्रतीची' दिक् का अधिपति है। प्रत्याहार से, इन्द्रियों को विषयों से, प्रत्याहृत करने से मनुष्य पाप से बचा रहता है। एवं 'विनीतता व प्रत्याहार' वीर्यरक्षण के प्रथम साधन हैं। (ख) **उ**=और **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के और **अनुमत्याः**=अनुमति के **शर्मणि**=शरण में मैं वीर्यरक्षण करनेवाला बनता हूँ। 'बृहस्पति' ऊर्ध्वा दिक् का अधिपति है। सर्वोत्कृष्ट ज्ञान शिखर पर यह पहुँचनेवाला है। ज्ञान-शिखर पर पहुँचने में लगा हुआ मैं सोम का रक्षण कर पाता हूँ। अनुकूल मति भी सोमरक्षण में सहायक होती है, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि के भाव वीर्यरक्षण के अनुकूल नहीं है। (३) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **विधातः**=सब सृष्टि का निर्माण करनेवाले व **धातः**=धारण करनेवाले प्रभो! **अहम्**=मैं **अद्य**=आज **तव**=तेरी **उपस्तुतौ**=स्तुति में व उपासना में इन वीर्यकणों का रक्षण करता हूँ। प्रभु का स्मरण मुझे वासनाओं से बचाता है और वीर्यरक्षण के योग्य बनाता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण के साधन ये हैं—(क) विनीत बनना, (ख) पापवृत्ति से दूर होना, इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकना, (ग) ऊँचे से ऊँचे ज्ञान की प्राप्ति में लगे रहना, (घ) ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध में न फँसना, (ङ) प्रभु का स्मरण (निर्माण व धारण के कर्मों में लगे रहना)।

ऋषिः—**विश्वामित्रजमदग्नी** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासक

प्रसूतो भक्षमकरं चरावपि स्तोमं चेमं प्रथमः सूरिरुन्मृजे।
सुते सातेन यद्यागमं वां प्रति विश्वामित्रजमदग्नी दमे॥ ४॥

(१) **चरौ अपि प्रसूतः**=हवि में भी प्रेरित हुवा-हुआ मैं **भक्षं अकरम्**=भोजन को करता हूँ। यज्ञ करता हूँ, और यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करता हूँ। इस हवि के द्वारा ही तो वस्तुतः प्रभु का सच्चा पूजन होता है। यज्ञशेष अमृत कहलाता है। यज्ञशेष के सेवन से मनुष्य नीरोग बना रहता है। (२) **च**=और **इमं स्तोमम्**=इस प्रभु के स्तोत्र को **प्रथमः**=विस्तृत हृदयवाला **सूरिः**=ज्ञानी बनकर **उन्मृजे**=परिशुद्ध करता हूँ। विशाल हृदय बनकर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता हूँ। (२) प्रभु कहते हैं कि **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सातेन**=सम्भजन के द्वारा **यदि**=अगर हे **विश्वामित्र जमदग्नी**=विश्वामित्र व जमदग्नि! **वां प्रति**=आपके प्रति **आगमम्**=आता हूँ तो **दमे**=इन्द्रियों के दमन के होने पर ही आता हूँ। प्रभु उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो कि हृदय में सब के प्रति स्नेहवाले हैं, जो शरीर में दीप्त जाठराग्नि के कारण नीरोग हैं। प्रभु उन्हें ही प्राप्त होते हैं जो कि इन्द्रियदमन में प्रवृत्त होते हैं। प्रभु प्राप्ति के अधिकारी वे ही होते हैं जो सम्भजन को अपनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का पूजन यज्ञशेष के सेवन से होता है।

सारा सूक्त तप द्वारा प्रकाश को प्राप्त करने व प्रभु का सच्चा उपासक होने का उल्लेख करता है। प्रभु का उपासक अभौतिक वृत्ति का होता है, सो 'अनिलः' कहलाता है (न+इला)। ऐसा बनने के लिये यह प्राणों की शरण में जाता है, प्राणसाधना करता है, सो 'वातायन' हो जाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। प्राणों के महत्त्व का प्रतिपादन करता हुआ यह कहता है—

[१६८] अष्टषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अनिलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणसाधना का महत्त्व

वात॑स्य॒ नु म॑हि॒मानं॒ रथ॑स्य रु॒जन्ने॑ति स्त॒नय॑न्नस्य॒ घोषः॑।
दि॒वि॒स्पृग्या॑त्यरु॒णानि॑ कृ॒ण्वन्नु॒तो ए॑ति पृथि॒व्या रे॒णुमस्य॑न् ॥ १ ॥

(१) **रथस्य**=शरीर-रथ की **वातस्य**=वायु की, अर्थात् प्राण की **नु**=अब **महिमानम्**=महिमा को देखो। (क) **रुजन् एति**=यह प्राण रोगों का भंग करता हुआ गति करता है। अर्थात् प्राण रोगकृमियों के विनाश के द्वारा रोगों को समाप्त करता है। (ख) **अस्य घोषः स्तनयन्**=इस प्राण का घोष बादल की गर्जना के समान होता है। प्राणशक्ति के होने पर स्वर में भी उच्चता होती है। (ग) यह प्राण **अरुणानि कृण्वन्**=तेजस्विताओं को उत्पन्न करता हुआ **दिविस्पृक्**=द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क को स्पृष्ट करनेवाला होता है। अर्थात् ये प्राण शरीर को तेजस्वी बनाते हैं और मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करते हैं। (घ) **उत उ**=और निश्चय से यह प्राण **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर से **रेणुं अस्यन्**=धूल, अर्थात् मल को परे फेंकता है। मल शोधन का कार्य इस अपान का है। प्राण शक्ति का संचार करता है तो अपान मलों को दूर करता है। (२) प्राण के उल्लिखित लाभों का ध्यान करते हुए यह आवश्यक है कि प्राणसाधना के द्वारा हम नीरोग बनें, वाणी की शक्ति को प्राप्त करें, तेजस्वी हों, दीप्त मस्तिष्क बनें तथा शरीर से मलों का दूरीकरण करें।

भावार्थ—प्राणों की महिमा का ध्यान करते हुए हम प्राणसाधना को करनेवाले बनें।

ऋषिः—अनिलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्य प्राणों के साथ 'मुख्य प्राण'

सं प्रेर॑ते॒ अनु॒ वात॑स्य वि॒ष्ठा ऐनं॑ गच्छन्ति॒ सम॑नं॒ न योषाः॑।
ताभिः॑ स॒युक्स॒रथं॑ दे॒व ई॑यते॒ऽस्य विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ राजा॑ ॥ २ ॥

(१) यह प्राण शरीर में ४९ भागों में विभक्त होकर स्थित होता है। ये ४९ प्रकार के मरुत्=प्राण **विष्ठाः**=विविध स्थानों में स्थित हैं। ये सब **वातस्य अनु संप्रेरते**=उस मुख्य प्राण के अनुसार गतिवाले होते हैं। मुख्य प्राण की गति ही इन सब की गतियों को नियमित करती है। **एनम्**=इस प्राण को ही ये सब अन्य मरुत् **आगच्छन्ति**=इस प्रकार सब ओर से प्राप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **योषाः**=स्त्रियें **समनम्**=(सं अन) उत्तम प्राणशक्तिवाले पुरुष को प्राप्त होती हैं। (२) यह **देवः**=सब रोगों को जीतने की कामनावाला प्राण **ताभिः**=उन योषा तुल्य अन्य मरुतों के **सयुक्**=साथ मिला हुआ **सरथम्**=इस समान ही शरीररूप रथ पर **ईयते**=गति करता है। वस्तुतः यह प्राण ही **अस्य**=इस **विश्वस्य**=सब **भुवनस्य**=प्राणियों का राजा=दीपन करनेवाला है। प्राणसाधना से शरीर की सब शक्तियाँ चमक उठती हैं।

भावार्थ—शरीर में प्राण भिन्न-भिन्न रूपों में विविध स्थानों में स्थित होकर कार्य कर रहा है। ये सब प्राण इस मुख्य प्राण के साथ कार्य करते हुए शरीर की शक्तियों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—अनिलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रहस्यमय प्राण

अ॒न्तरि॑क्षे प॒थिभि॒रीय॑मानो॒ न नि वि॑शते कत॒मच्च॒नाहः॑।
अ॒पां सखा॑ प्रथम॒जा ऋ॒तावा॒ क्व॑ स्वि॒ज्जा॒तः कु॒त आ ब॑भूव ॥ ३ ॥

(१) द्युलोक शरीर में मस्तिष्क है, पृथिवी यह स्थूल शरीर है। इनके बीच में हृदयान्तरिक्ष है। इस **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **पथिभिः**=विविध नाड़ी रूप मार्गों से **ईयमानः**=गति करता हुआ यह प्राण **कतमच्चन अहः**=किसी भी दिन **न निविशते**=गति से उपराम नहीं होता। यह सदा चलता ही है। अन्य इन्द्रियाँ श्रान्त हो जाती हैं, पर यह कभी श्रान्त नहीं होता। (२) **अपां सखा**=(आपः रेतो भूत्वा) यह रेतःकणरूप जलों का मित्र है, रेतःकणों की ऊर्ध्वगति इस प्राण के ही कारण होती है। **प्रथमजाः**=यह सब से प्रथम उत्पन्न होता है, 'स प्राणमसृजत्' इन प्रश्नोपनिषद् के शब्दों में सब से प्रथम कला प्राण ही है। **ऋतावा**=यह ऋत का अवन (रक्षण) करनेवाला है, सब ठीक चीजें प्राण के ही कारण होती हैं। प्राणशक्ति की कमी शरीर में सब विकृतियों का कारण बनती है। (३) यह प्राण **क्वस्वित् जातः**=कहाँ प्रादुर्भूत हो गया व **कुतः आबभूव**=कहाँ से प्रकट हो गया? इसे सामान्यतः कोई जानता नहीं। 'यह शरीर में है' बस इतना ही स्पष्ट है। इस प्राण की महिमा दुर्ज्ञेय ही है।

भावार्थ—प्राण सतत गतिवाला है। रेतःकणों की ऊर्ध्वगति का साधक है शरीर में सब व्यवस्थाओं को ठीक रखता है। है रहस्यमय।

ऋषिः—अनिलो वातायनः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आत्मा देवानाम्

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥ ४॥

(१) यह प्राण **देवानां आत्मा**=सब इन्द्रियों का आत्मा है। सब इन्द्रियों में इस प्राण की ही शक्ति कार्य कर रही है **भुवनस्य गर्भः**=प्राणिमात्र का यह गर्भ है, सब के अन्दर होनेवाला है। इसके बिना किसी प्राणी के जीवन का सम्भव नहीं। **एषः देवः**=यह प्रकाशमय प्राण **यथावशं चरति**=वश के अनुसार चलता है, जितना-जितना इसे काबू कर पाते हैं उतना-उतना यह दीर्घकाल तक चलनेवाला होता है। (२) **अस्य**=इस प्राण के **घोषाः इत्**=शब्द ही **शृण्विरे**=सुनाई पड़ते हैं, **रूपं न**=इस प्राण का रूप दिखाई नहीं पड़ता। **तस्मै वाताय**=इस प्राण के लिये हम **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा करते हैं। प्राणसाधक के लिये मिताहार अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—सब इन्द्रियों को प्राण से ही शक्ति प्राप्त होती है। इस प्राणसाधना के लिये मिताहार आवश्यक है।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को सुव्यक्त कर रहा है। इस प्राणसाधक के लिये गो दुग्ध के महत्त्व को अगले सूक्त में कहते हैं। इन गौवों को खुली वायु में चरानेवाला वनविहारी 'शबर' अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रतिक्षण कमर कसे तैयार होने से 'काक्षीवत' है। इसकी प्रार्थना इस प्रकार है—

[१६९] एकोनसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शबरः काक्षीवतः॥ देवता—गावः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

गौवों के लिये खुली हवा-पौष्टिक चारा

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ॥ १॥

(१) **मयोभूः**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाला **वातः**=वायु **उस्राः**=गौवों के **अभिवातु**=सब ओर बहनेवाला हो। अर्थात् गौवों को वायु-सम्पर्क सम्यक् प्राप्त हो 'वायुर्येषां सहचारं जुजोष'। बन्द स्थानों में, जहाँ न तो खुली हवा है, न सूर्य किरणों का सम्पर्क, वहाँ रहनेवाली गौवों का दूध उतना स्वास्थ्यजनक नहीं होता, गौवों का खुली हवा में जाना, चारागाहों में चरने के लिये जाना आवश्यक है। (२) ये गौवें उन **ओषधीः**=ओषधियों को **आरिशन्ताम्**=खानेवाली हों, आस्वादित करनेवाली हों, जो कि **ऊर्जस्वतीः**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाली हैं। (३) वे ही गौवें ठीक हैं जो कि **पीवस्वतीः**=हृष्ट-पुष्ट हों। दुर्बल मरियल गौवों का दूध भी उतना पौष्टिक नहीं हो सकता। ये गौवें **जीवधन्याः**=जीवों को प्रीणित करनेवाले जलों को **पिबन्तु**=पीयें। उत्तम ही जलों को पीनेवाली गौवों सात्त्विक दूध को देती हैं। (३) हे **रुद्र**=रोगों के द्रावण करनेवाले प्रभो! आप इस **पद्वते**=पाँवोंवाले **अवसाय**=भोजन के लिये, भोजन को प्राप्त करानेवाली गौ के लिये **मृड**=सुख को करिये गौ वस्तुतः पाँवोंवाला भोजन है। इसके द्वारा हमें पूर्ण भोजन प्राप्त होता है।

भावार्थ—गौवें खुली वायु में संचार करें, पौष्टिक चारे को चरें, तृप्तिकारक जलों के पीयें। ऐसी गौवें ही हमें पूर्ण भोजन प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—शबरः काक्षीवतः ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गोदुग्ध-तपस्या से अंगिरस् बनना

या: सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ॥ २॥

(१) **याः**=जो गौएँ **सरूपाः**=समानरूपवाली हैं अथवा **विरूपाः**=विविध रूपोंवाली हैं, और जो **एकरूपाः**=एक रूपवाली हैं, जिनका सारा शरीर एक रंगवाला है, **यासाम्**=जिनके **नामानि**=नामों को **अग्निः**=अग्निहोत्र करनेवाला पुरुष **इष्ट्या**=यज्ञ के हेतु से **वेद**=जानता है। वैदिक संस्कृति में घर में गौ इस उद्देश्य से भी रखी जाती है कि उसके घृत से अग्निहोत्र करने का सम्भव होगा। इस गौ का नाम ही 'अग्निहोत्री' होता था। इस प्रकार अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति यहाँ 'अग्नि' कहा गया है। वह गौओं के अघ्न्या आदि नामों को जानता है और उन नामों द्वारा सूचित होनेवाले गौवों के महत्त्व को समझता है। (२) ये गौवें हैं **याः**=जो **इह**=इस संसार में **तपसा**=तप के साथ, अर्थात् तपस्या के होने पर इन तपस्वियों को **अंगिरसः चक्रुः**=अंगिरस बना देती हैं, अंग-प्रत्यंग में इनका दूध रस का संचार करनेवाला होता है। परन्तु यह आवश्यक है कि इन गोदुग्ध सेवन करनेवाले में तपस्या अवश्य हो। बिना तप के केवल गोदुग्ध हमें अंगिरस् नहीं बना सकता। हे **पर्जन्य**=बादल **ताभ्यः**=उन गौवों के लिये **महि शर्म यच्छ**=महान् सुख को प्राप्त करा। वृष्टि से चारों ओर चारा पर्याप्त मात्रा में हो जाता है और इन पशुओं के भूखे मरने का प्रसंग नहीं होता। वृष्टि क्या होती है, पशुओं के लिये पर्याप्त भोजन ही बरसता है।

भावार्थ—गोदुग्ध सेवन के साथ तप के होने पर मनुष्य 'अंगिरस्' बनता है।

ऋषिः—शबरः काक्षीवतः ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गोदुग्ध से शक्ति विस्तार

या देवेषु तन्व१मैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि॥ ३॥

(१) **याः**=जो गौवें **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **तन्वम्**=(तन् विस्तारे) शक्ति के विस्तार

को ऐरयन्त-प्रेरित करती हैं। देव गोदुग्ध का प्रयोग करते हैं और इस प्रयोग से उनकी शक्तियों का विस्तार होता है। (२) सोमः-सौम्य वृत्ति का मनुष्य यासाम्-जिनके विश्वा रूपाणि-सब निरूपणीय पदार्थों को वेद-जानता है। 'गो दुग्ध, दही, छाछ, मखन' ये गौ के सात्त्विक पदार्थ हैं। खोया, मिठाइयाँ, पनीर आदि राजस पदार्थ हैं। खट्टी लस्सी आदि तामस पदार्थ हैं। एक सौम्य पुरुष इन सबको जानता है और सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग करता है। (३) ताः-वे गौवें पयसा पिन्वमानाः-अपने दुग्ध से हमें प्रीणित करती हैं। हे इन्द्र-परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप प्रजावतीः-उत्कृष्ट बछड़ोंवाली इन गौवों को गोष्ठे-हमारी गोशाला में रिरीहि-दीजिये। हमारी गोशाला गौवों से पूरी भरी हो, हमें किसी प्रकार भी दूध की कमी न हो।

भावार्थ—गोदुग्ध के सेवन से हमें सब शक्तियों का विस्तार प्राप्त हो।

ऋषिः—शबरः काक्षीवतः ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देव-पितर

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ॥ ४ ॥

(१) प्रजापतिः-सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु मह्यम्-मेरे लिये एताः-इन गौवों को रराणः-देता है। इन गौवों के द्वारा विश्वैः देवैः-सब देवों से तथा पितृभिः-पितरों से संविदानः-(विद् लाभे) हमें सम्यक् युक्त करता है। अर्थात् इन गोदुग्धों के सेवन से हमारे अन्दर देववृत्ति व पितृवृत्ति का उदय होता है, हम प्रायेण ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हैं और रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। (२) इन शिवाः सतीः-कल्याणकर होती हुई गौवों को नः-हमारे गोष्ठं उप आकः-गोष्ठ में प्राप्त कराइये। वयम्-हम तासाम्-उन गौवों के प्रजया-प्रजाओं के साथ सं सदेम-सम्यक्तया अपने घरों में विराजमान हों। इन गौवों से हमारा घर नीरोगता, निर्मलता व तीव्र बुद्धि को प्राप्त करता हुआ चमक उठे। हमारा जीवन अधिकाधिक सुन्दर बने।

भावार्थ—गोदुग्ध के सेवन से देववृत्ति व पितृवृत्ति का उदय होता है। घर सब तरह से उत्तम बनता है।

सम्पूर्ण सूक्त गोदुग्ध के सेवन के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। इस गोदुग्ध का सेवन हमारे जीवन को दीप्त बनाता है, सूर्य की तरह हम चमकते हैं। यह सूर्य की तरह चमकनेवाला 'विभ्राद् सौर्यः' अगले सूक्त का ऋषि है। इसके लिये प्रभु निर्देश करते हैं—

[१७०] सप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—विभ्राड् सूर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु में जीवन का अर्पण

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति ॥ १ ॥

(१) विभ्राट्-विशेषरूप से चमकनेवाला यह पुरुष बृहत्-वृद्धि के कारणभूत सोम्यं मधु-सोम सम्बन्धी ओषधियों की सारभूत वस्तु को पिबतु-अपने अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करे। 'सोम' वानस्पतिक भोजन का अन्तिम सार है। शरीर में रस रुधिर आदि के क्रम से सातवें स्थान में इसकी उत्पत्ति होती है। इसीलिए सारभूत वस्तु होने से इसे 'मधु' यह नाम दिया गया है। इसका हमें पान करने का प्रयत्न करना है, यही सब वृद्धियों को मूल है। (२) यह विभ्राट् अपने

अविह्रुतम्=कुटिलता से रहित **आयुः**=जीवन को **यज्ञपतौ**=यज्ञों के रक्षक प्रभु में **दधत्**=स्थापित करता है। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होकर अपने जीवन को बिताता है। (३) **वातजूतः**=प्राणों से प्रेरित हुआ-हुआ **यः**=जो विभ्राट् **त्मना**=स्वयं **अभिरक्षति**=अपना रक्षण करता है, अर्थात् प्राणायाम के द्वारा जो अपनी शक्तियों का रक्षण करता है, यह **प्रजाः पुपोष**=सन्तानों का उत्तम पोषण करता है और **पुरुधा**=अनेक प्रकार से शोभा को प्राप्त करता है। प्राणायाम के द्वारा शक्ति का रक्षण करता हुआ यह उत्तम सन्तानोंवाला बनता है और अपना भी 'शरीर, मन व बुद्धि' के द्वारा विकास करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञमय बनाते हुए इस जीवनयज्ञ को प्रभु में स्थापित करें और उपासना व प्राणायाम शक्ति का रक्षण करते हुए अपने 'शरीर, मन व बुद्धि' का विकास करें।

ऋषिः—**विभ्राट्सूर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अमित्र, वृत्र, असुर व सपत्नों' का विनाशक

विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहंतमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा॥ २॥

(१) **विभ्राट्**=यह देदीप्यमान जीवनवाला पुरुष **ज्योतिः जज्ञे**=अपने में उस ज्योति का प्रादुर्भाव करता है, जो कि **बृहत्**=वृद्धि का कारण बनती है, **सुभृतं**=(शोभनं भृतं यस्मात्) जिसके कारण हमारा उत्तम भरण होता है, **वाजसातमम्**=जो अधिक से अधिक शक्ति को देनेवाली है। जो ज्योति **सत्यम्**=सत्य है और **दिवः धर्मन्**=ज्ञान के धारक **धरुणे**=सर्वाधार प्रभु में **अर्पितम्**=अर्पित है, विद्यमान है। इस प्रभु की ज्योति को यह विभ्राट् प्राप्त करता है। (२) यह ज्योति उसके लिये **दस्युहन्तमम्**=दास्य वृत्तियों की अधिक से अधिक नाश करनेवाली होती है। इन विनाशक वृत्तियों को नष्ट करके यह पुरुष **अमित्रहा**=हमारे साथ न स्नेह करनेवाली क्रोध आदि की वृत्तियों को नष्ट करनेवाला होता है। **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना को विनष्ट करता है। **असुरहा**=(स्वेषु अस्येषु जुह्वति) स्वार्थमयी आसुरी वृत्ति को दूर करता है और **सपत्नहा**=शरीर के पति बनने की कामनावाले रोगों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु की ज्योति को जगायें और क्रोध, काम, स्वार्थ व रोगों को विनष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**विभ्राट्सूर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सहस्वी-ओजस्वी

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत्।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम्॥ ३॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित उस सर्वाधार प्रभु में अर्पित **इदं ज्योतिः**=यह ज्योति **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है, प्रशस्यतम है। **ज्योतिषां उत्तमम्**=सब ज्योतियों में उत्तम है। यह **विश्वजित्**=हमारे लिये विश्व का विजय करनेवाली है, **धनजित्**=सब धनों को जीतनेवाली है। यह ज्योति **बृहत् उच्यते**=वृद्धि का कारण कही जाती है। (२) इस ज्योति को प्राप्त करनेवाला 'विभ्राट्' **विश्वभ्राट्**=संसार में चमकता है **महि भ्राजः**=यह महनीय भ्राज व तेज होता है। **सूर्यः**

दृशे-यह देखने के लिये सूर्य ही होता है। सूर्य के समान दिखता है। यह अपने अन्दर अच्युतम्-न नष्ट होनेवाले सहः-शत्रुमर्षक बल को तथा ओजः-शरीर की शक्तियों को विस्तृत करनेवाले बल को उरु पप्रथे-खूब ही विस्तृत करता है।

भावार्थ—प्रभु की ज्योति को प्राप्त करके हम सहस्वी व ओजस्वी बनते हैं।

ऋषिः—विभ्राट् सूर्यः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देवलोक में जन्म

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता ॥ ४ ॥

(१) हे विभ्राट्! तू ज्योतिषा विभ्राजन्-प्रभु की ज्योति से दीप्त होता हुआ स्वः अगच्छः-प्रकाशमय लोक को प्राप्त करता है, जो प्रकाशमय लोक दिवः रोचनम्-द्युलोक का दीप्त स्थान है। अर्थात् इस व्यक्ति को अगला जन्म इस मर्त्यलोक में न प्राप्त होकर द्युलोक में मिलता है, यह देवलोक में जन्म लेता है। (२) यह ज्योति वह है येन-जिससे इमा-ये विश्वा भुवनानि-सब भुवन आभृता-भरण किये गये हैं। विश्वकर्मणा-जो ज्योति हमारे सब कर्मों का साधन बनती है और विश्वदेव्यावता-सब दिव्य गुणोंवाली है। इस ज्योति को प्राप्त करके हम सबका उत्तम भरण करते हैं, सदा कर्मशील बने रहते हैं और दिव्यगुणों का धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ज्योति से जीवन को दीप्त करके हम देवलोक में जन्म के पात्र बनें।

यह सूक्त ज्योति को प्राप्त करके ज्योतिर्मय जीवनवाले 'विभ्राट्' का वर्णन करता है। यह विभ्राट् 'इट'=गतिशील होता है और जीवन को ज्ञान से परिपक्व करनेवाला 'भार्गव' बनता है। इस 'इट भार्गव' का ही अगला सूक्त है—

[१७१] एकसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—इटो भार्गवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सुतावान् 'इट'

त्वं त्यमिटतो रथमिन्द्र प्रावः सुतावतः। अशृणोः सोमिनो हवम् ॥ १ ॥

(१) हे इन्द्र-परमैश्वर्यवन् प्रभो! त्वम्-आप सुतावतः-अपने अन्दर सोम का सम्पादन करनेवाले इटतः-गतिशील, क्रियामय जीवनवाले पुरुष के त्यं रथम्-उस शरीररूप रथ को प्रावः-प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। (२) हे प्रभो! इस सोमिनः-क्रियाशीलता के द्वारा वासना को विनष्ट करके सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष की हवम्-पुकार को अशृणोः-आप सुनते हैं। प्रार्थना उसी की पूर्ण होती है, जो सोम का रक्षण करता है। वस्तुतः जीवन में सब उन्नतियों का मूल यह सोमरक्षण ही है। इसके लिये वासना का विनाश आवश्यक है। और वासना विनाश के लिये क्रियाशील बनने की आवश्यकता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता द्वारा सोम का रक्षण करें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—इटो भार्गवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञ-ध्वंसक का विनाश

त्वं मखस्य दोधतः शिरोऽव त्वचो भरः। अगच्छः सोमिनो गृहम् ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**-आप **मखस्य दोधतः**-यज्ञ को कम्पित करनेवाले पुरुष के, यज्ञ-विध्वंसक के **शिरः**-सिर को **त्वचः**-त्वचा से, इस त्वचा से आवृत शरीर से **अवभरः**-अलग कर देते हैं। जो व्यक्ति यज्ञशील न बनकर औरों से किये जानेवाले यज्ञों में भी विघ्न करनेवाला होता है, प्रभु उसे विनष्ट करते हैं। (२) यज्ञादि में प्रवृत्त रहकर **सोमिनः**-सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष के **गृहं अगच्छः**-घर में प्रभु जाते हैं। यज्ञशील पुरुष के गृह में प्रभु का वास होता है। इस प्रभु के वास से उसके जीवन में वासनाएँ नहीं पनपती और वह सोम का (-वीर्य का) रक्षण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर प्रभु को अपने गृह में आमन्त्रित करें।

ऋषिः—इटो भार्गवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'आत्मबुध्न-मनस्यु'

त्वं त्यमि॑न्द्र॒ मर्त्य॑मास्त्रबु॒ध्नाय॑ वे॒न्य॑म्। मुहुः॑ श्रथ्ना मन॒स्यवे॑ ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **त्वम्**-आप **त्यम्**-उस **वेन्यं मर्त्यम्**-(वेन्-चिन्तायाम्) निरन्तर विषयों की चिन्ता व कामना करनेवाले 'कामकामी' पुरुष को, विषयों के पीछे मरनेवाले व्यक्ति को **आस्त्रबुध्नाय**-(प्रणवो धनुः) प्रणव-ओंकार-रूप अस्त्र को अपना आधार बनानेवाले **मनस्यवे**-विचारशील पुरुष के लिये **मुहुः श्रथ्ना**-निरन्तर विनष्ट करते हो (**मुहुस्**-constantly)। (२) प्रभु का उपासन हमें वेन्य से 'आस्त्रबुध्न मनस्यु' बनाता है। उपासना के होने पर हमारी वृत्ति विषयों से विमुख होकर प्रभु-प्रवण होती है। हम प्रभु के 'ओ३म्' नाम को अपना धनुष बनाते हैं। यही हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता है। ऐसी स्थिति में हम विचारशील बनते हैं। अब हम संसार के पदार्थों की कामना से ऊपर उठ जाते हैं। आस्त्रबुध्न बनकर वेन्य नहीं रहते।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना आधार बनायें, तभी हम संसार की कामनाओं से ऊपर उठ पायेंगे।

ऋषिः—इटो भार्गवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अस्तंगत सूर्य का पुनः उदय

त्वं त्यमि॑न्द्र॒ सूर्यं॑ प॒श्चा सन्तं॑ पु॒रस्कृ॑धि। दे॒वानां॑ चि॒त्ति॒रो वश॑म् ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**-सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**-आप **त्यम्**-उस **पश्चा सन्तम्**-पश्चिम में अस्त हुए **सूर्यम्**-सूर्य को **पुरः कृधि**-फिर पूर्व में उदित करिये। (२) **देवानाम्**-देवों के देववृत्तिवाले पुरुषों के **चित्**-भी **तिरः**-तिरोहित हुए-हुए **वशम्**-कमनीय-कान्त-ज्ञान सूर्य को भी आवरण के विनाश के द्वारा प्रकट करिये।

भावार्थ—हे प्रभो! जैसे आप अस्तंगत सूर्य को पुनः उदित करते हैं, इसी प्रकार आप देववृत्तिवाले पुरुषों के ज्ञानसूर्य को भी उदित करिये।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का वर्णन करता है कि गतिशील उपासक अपने जीवन को प्रकाशमय बना पाता है। अपने जीवन का सुन्दर परिवर्तन करनेवाला यह 'संवर्त' है, वासनारहित होने से यह शक्तिशाली अंगोंवाला 'आंगिरस' बनता है। यह उषा का ध्यान करता हुआ अपने जीवन को अगले सूक्त में वर्णित प्रकार से साधता है—

[१७२] द्विसप्त्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—संवर्तः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—द्विपदा विराट् ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उपासना व स्वाध्याय

आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥ १ ॥

(१) 'संवर्त आंगिरस' उषा से प्रार्थना करता है कि हे उषः! तू **वनसा सह**=उस प्रभु के यशोगान के साथ **आयाहि**=हमें प्राप्त हो। उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम प्रभु का उपासन करनेवाले बनें। (२) इसलिए हम उपासन करें **यत्**=क्योंकि **वर्तनिम्**=हमारे से किये गये इन स्तोत्रों को **ऊधभिः**=ज्ञानदुग्ध के आधारोंवाली **गावः**=वेदवाणी रूप गौवें **सचन्त**=समवेत करनेवाली होती हैं। उपासना से हमें पवित्र हृदयता प्राप्त होती है। इस पवित्र हृदय से वेदवाणियों का स्वाध्याय करते हुए हम उनसे ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर उपासना व स्वाध्याय में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—संवर्तः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—द्विपदा विराट् ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम बुद्धि व यज्ञ

आ याहि वस्व्या धिया मंहिष्ठो जारयन्मखः सुदानुभिः ॥ २ ॥

(१) हे उषः! तू **वस्व्या**=प्रशस्त वसुओं को प्राप्त करानेवाली **धिया**=बुद्धि के साथ **आ याहि**=हमें प्राप्त हो। स्वाध्याय के द्वारा हमारी बुद्धि इस प्रकार शुद्ध हो कि हम अपने जीवन में निवासक तत्त्वों को धारण करनेवाले हों। (२) यह उषा में प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति **सुदानुभिः**=उत्तम दानवृत्तियों के द्वारा **मंहिष्ठः**=दातृतम बनता है और **जारयन्मखः**=यज्ञों को पूर्णता तक पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में स्वाध्याय के द्वारा उत्तम निवासवाले हों। दानवृत्तिवाले बनकर यज्ञशील हों।

ऋषिः—संवर्तः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—द्विपदा विराट् ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दान व उत्तम सन्तान

पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रति दध्मो यजामसि ॥ ३ ॥

(१) **पितुभृतः नः**=उत्तम अन्नों का भरण करनेवाले पुरुषों के समान **सुदानवः**=उत्तम दानशील होते हुए हम **इत्**=निश्चय से **तन्तुम्**=(प्रजातन्तुम्) प्रजातन्तु को **प्रतिदध्मः**=धारण करते हैं। इस दान की वृत्ति से हमारे सन्तान उत्तम बनते हैं 'श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः'। (२) हे उषः! हम **यजामसि**=यज्ञशील बनते हैं। बड़ों के पूजन, बराबरवालों से प्रेमपूर्वक संगतिकरण व सदा दान की वृत्तिवाले बनते हैं 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'।

भावार्थ—दानवृत्तिवाले बनकर हम सन्तान को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—संवर्तः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—द्विपदा विराट् ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान व उत्तम विकास

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ४ ॥

(१) **उषा**=उषाकाल **स्वसुः**=अपनी भगिनी के तुल्य रात्रि के **तमः**=अन्धकार को **अपवर्तयति**=दूर करती है। इसी प्रकार यह उषा स्व-सुः=(स्व+'सृ' गतौ) आत्मतत्त्व की ओर

चलनेवाले पुरुष के **तमः**-अज्ञानान्धकार के विनष्ट करती है। यह आत्मतत्त्व की ओर चलने की वृत्तिवाला पुरुष उषाकाल में स्वाध्याय को करता है और इस प्रकार ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है। (२) यह उषा **सुजातता**-शक्तियों के उत्तम विकास के द्वारा **वर्तनिम्**-हमारे जीवनमार्ग को **संवर्तयति**-सम्यक् परिवर्तित करनेवाली होती है। हमारा जीवन का मार्ग अशुभ को समाप्त करके शुभ का ग्रहण करनेवाला होता है।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम स्वाध्याय के द्वारा अज्ञानान्धकार को विनष्ट करें तथा शक्तियों के उत्तम विकास के साथ शुभ का ग्रहण करें।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात को कह रहा है कि उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम उपासना, स्वाध्याय व यज्ञों में प्रवृत्त हों। ऐसी वृत्तिवाले बनने पर हम जीवन में विषयों से आकृष्ट न होकर 'ध्रुव' वृत्तिवाले होंगे। यह ध्रुव वृत्तिवाला व्यक्ति, विषयों से आन्दोलित न होने के कारण 'आंगिरस' तो होता ही है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। ऐसी वृत्तिवाला व्यक्ति ही राष्ट्र का अधिपति होने के योग्य है। इसी बात का वर्णन अगले सूक्त में है—

[१७३] त्रिसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रजाओं से वरण किया गया 'राजा'

आ त्वा॑हार्ष॒मन्तर॑भूर्ध्रु॒वस्ति॒ष्ठावि॑चाचलिः।
विश॑स्त्वा॒ सर्वा॑ वाञ्छन्तु॒ मा त्वद्रा॒ष्ट्रमधि॑ भ्रशत्॥ १॥

(१) प्रजा से चुने गये राजा का राज्याभिषेक करते हुए पुरोहित कहता है कि—**त्वा**-तुझे **आहार्षम्**-प्रजा के मध्य से इस स्थान पर लाता हूँ। **अन्तः एधि**-तू इन प्रजाओं के अन्दर होनेवाला ही हो। गर्व के कारण प्रजाओं के लिये तू अगम्य न हो जा। अपने कार्य को उत्तमता से करता हुआ तू **ध्रुवः तिष्ठ**-स्थिर रूप से इस आसन पर विराज। **अविचाचलिः**-अपने कर्त्तव्य से कभी विचलित होनेवाला न हो। (२) अपने इस शासनकार्य को न्यायपूर्वक करता हुआ तू इस प्रकार व्यवहारवाला हो कि **सर्वाः विशः**-सब प्रजाएं **त्वा वाञ्छन्तु**-तुझे चाहें। न तो तीक्ष्ण दण्डवाला और ना ही मृदुदण्डवाला तू हो, सदा यथोचित दण्डवाला तूने बनना। विचारपूर्वक दिया गया उचित दण्ड सब प्रजाओं को रञ्जित करनेवाला होता है। (३) तीक्ष्ण दण्डवाला होकर तू प्रजाओं के उद्वेग का कारण मत बनना, मृदुदण्डवाला होकर तिरस्कृत आज्ञाओंवाला भी न होना। यथार्थ दण्ड होकर तूने प्रजाओं का पूज्य बनना। तूने उचित ही व्यवहार करना। **त्वत्**-तेरे से **राष्ट्रम्**-राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**-भ्रष्ट न हो। कहीं अयोग्य प्रमाणित होने से तुझे इस आसन से उतारना न पड़ जाये।

भावार्थ—राजा प्रजाओं से चुना जाये। उचित शासन करता हुआ वह सब प्रजाओं का प्रिय हो। अचानक अयोग्य प्रमाणित होने पर उसे सिंहासन से उतार दिया जाए।

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'मर्यादा-पालक' राजा

इ॒हैवैधि॒ माप॑ च्योष्ठाः॒ पर्व॑तइ॒वावि॑चाचलिः। इन्द्र॑इवे॒ह ध्रु॒वस्ति॑ष्ठे॒ह रा॒ष्ट्रमु॑ धारय॥ २॥

(१) हे राजन्! **इह एव एधि**-तू यहाँ राज्यसिंहासन पर ही हो। **मा अपच्योष्ठाः**-इस आसन से तू च्युत न हो। अन्याय्य दण्ड आदि के कारण प्रजा के असन्तोष से तुझे इस सिंहासन को छोड़ना न पड़े। इसीलिए तूने **पर्वतः इव**-पर्वत की तरह **अविचाचलिः**-अपने राजधर्म में स्थिर रहनेवाला होना। (२) **इन्द्रः इव**-जैसे प्रभु संसार के शासक हैं, उसी प्रकार तूने भी (इन्द्रः) जितेन्द्रिय बनकर **इह**-इस शासन कार्य में **ध्रुवः तिष्ठ**-ध्रुव होकर स्थित होना, मर्यादा का कभी उल्लंघन करनेवाला न बनना। इस प्रकार मर्यादा में सब को स्थापित करनेवाला होकर **इह**-यहाँ **उ**-निश्चय से **राष्ट्रं धारय**-राष्ट्र का धारण करनेवाला हो। 'राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्'-राजा चारों वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करनेवाला हो। वस्तुतः राष्ट्र के समुचित धारण का प्रकार यही है कि सब वर्ण अपना-अपना कार्य समुचितरूपेण कर रहे हों।

भावार्थ—राजा स्वयं जितेन्द्रिय बनकर (इन्द्र इव) मर्यादा में चलता हुआ सभी को मर्यादा में स्थापित करे और इस प्रकार राष्ट्र का समुचित धारण करे।

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'शान्त ज्ञानी ब्राह्मणों से प्रेरित' राजा

इमिन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा। तस्मै सोमो अधि ब्रवत्तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**-एक जितेन्द्रिय राजा **ध्रुवम्**-मर्यादा में चलनेवाले **इमम्**-इस प्रजाजन को **ध्रुवेण हविषा**-मर्यादा में ग्रहण किये गये कर के द्वारा **अदीधरत्**-धारण करता है। राजा के लिये आवश्यक है कि—(क) उचित शासन व्यवस्था के द्वारा प्रजा को मर्यादित जीवनवाला बनाये (ध्रुवं)। (ख) स्वयं जितेन्द्रिय वृत्तिवाला हो (इन्द्रः)। (ग) कर का ग्रहण पूर्ण मर्यादा के अनुसार हो। भ्रमर जैसे फूल से रस को लेता है, फूल को विकृत नहीं होने देता, इसी प्रकार राजा अल्पाल्प कर ही ग्रहण करना (ध्रुवेण हविषा)। (२) **तस्मै**-इस राजा के लिये **सोमः**-शान्त वृत्ति का ब्राह्मण (सोमो वै ब्राह्मणः तां० २३।१६।५) **अधिब्रवत्**-आधिक्येन उपदेश देनेवाला हो। **उ**-और **तस्मा**-उस राजा के लिये **ब्रह्मणस्पतिः**-वेदज्ञान का स्वामी उपदेश देनेवाला हो। सोम और ब्रह्मणस्पतिः-शान्त व ज्ञानी ब्राह्मण, राजा को सदा उचित परामर्श देनेवाले हों।

भावार्थ—राजा सदा उचित कर लेनेवाला हो। शान्त ज्ञानी ब्राह्मण इसके परामर्शदाता हों।

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ध्रुव राजा

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे। ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ ४ ॥

(१) **द्यौः ध्रुवा**-द्युलोक ध्रुव हो, मर्यादा से विचलित होनेवाला नहीं। इसी प्रकार **पृथिवी ध्रुवा**-यह पृथिवी भी अपनी मर्यादा में गति कर रही है। **इमे पर्वताः ध्रुवासः**-ये पर्वत भी ध्रुव हैं, अपने स्थान से डिगनेवाले नहीं हैं। (२) **इदं विश्वं जगत्**-यह सम्पूर्ण जगत् भी **ध्रुवम्**-अपने-अपने मार्ग से विचलित होनेवाला नहीं। प्रत्येक पिण्ड अपने मार्ग में स्थिर है। इसी प्रकार **अयम्**-यह **विशाम्**-प्रजाओं का **राजा**-रञ्जन करनेवाला शासक भी **ध्रुवः**-न डिगनेवाला हो। स्वयं मर्यादित जीवनवाला व सबको मर्यादा में चलानेवाला होता हुआ यह राज्य के आसन पर ध्रुवता से आसीन हो।

भावार्थ—द्युलोक, पृथ्वीलोक, पर्वत व अन्य सब संसार के पिण्ड ध्रुव हैं। यह राजा भी ध्रुव हो।

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

राज-कर्त्तव्य

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः। ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥ ५॥

(१) पुरोहित उपस्थित प्रजा को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि ते राष्ट्रम्=आपके इस राष्ट्र को राजा=चारों वर्णों को अपने-अपने कार्यों में व्यवस्थापित करनेवाला यह राजा **वरुणः**=पाप का निवारण करनेवाला होता हुआ **ध्रुवं धारयताम्**=ध्रुवता से धारण करे। (२) यह राजा **देवः**=ज्ञान प्रसार से राष्ट्र को दीप्त करनेवाला होता हुआ तथा **बृहस्पतिः**=स्वयं ऊँचे से ऊँचे ज्ञान का पति बनता हुआ **ध्रुवम्**=ध्रुवता से धारण करे। (३) ते=आपके इस राष्ट्र को **इन्द्रः च अग्निः च**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला तथा राष्ट्र के अन्दर भी बुराइयों को भस्म करनेवाला यह राजा **ध्रुवम्**=ध्रुवता से राष्ट्र का धारण करे।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि—(क) सब वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करे, (ख) पाप का निवारण करे, (ग) शिक्षा का प्रसार करे, (घ) शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण करे, (ङ) बुराइयों को भस्म करने के लिये यत्नशील हो। राष्ट्र धारण के लिये ये सब बातें आवश्यक हैं।

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

राजा व प्रजा का सम्पर्क

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि। अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्॥ ६॥

(१) पुरोहित प्रजा से ही कहता है कि **ध्रुवम्**=इस मर्यादा में चलनेवाले **अभिसोमम्**=(उमया ब्रह्मविद्यया सहितः सोमः) ब्रह्मज्ञानी की ओर जानेवाले, अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के परामर्श से कार्य करनेवाले इस राजा के **ध्रुवेण हविषाः**=मर्यादित-स्थिर रूप से दिये जानेवाले कर से **मृशामसि**=सम्पर्क में आते हैं। कर को लेकर इस राजा के समीप उपस्थित होते हैं। (२) अब अन्त में राजा से पुरोहित कहता है कि **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **विशः**=इन प्रजाओं को **केवलीः ते**=सिर्फ तेरा **करत्**=करे। ये प्रजाएँ शुद्ध तेरे ही शासन में हों। **अथ उ**=और अब निश्चय से इन्हें तेरे लिये **बलिहृतः करत्**=कर का देनेवाला करे। ये प्रजाएँ स्वयं प्रसन्नता से तुझे कर देनेवाली हों।

सम्पूर्ण सूक्त आदर्श राजा का चित्रण करता है। यह राजा आक्रान्ता शत्रुओं पर आक्रमण करके देश का रक्षण करता है, सो 'अभीवर्त' कहलाता है। इस 'अभीवर्त' ऋषि का ही अगला सूक्त है—

[१७४] चतुःसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अभीवर्तः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अभीवर्त हवि

अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते। तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय॥ १॥

(१) प्रजा राजा के लिये आय के पञ्चदशांश को सामान्यतः कर के रूप में देती है। इस कर प्राप्त धन से राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं से देश के रक्षण का सम्भव होता है। इसलिए इस हवि (कर) को भी 'अभीवर्त' नाम दिया गया है। इस **अभीवर्तेन हविषा**=शत्रु पर आक्रमण के सामर्थ्य को देनेवाली हवि से **येन**=जिससे **इन्द्रः**=यह शत्रु विद्रावक राजा **अभिवावृते**=शत्रुओं के प्रति आक्रमण के लिये जाता है, तेन=उस हवि से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्!

अस्मान्-हमें **राष्ट्राय**-अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये **अभिवर्तय**-शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला बना। (२) राष्ट्र का मुख्य प्रेरणा देनेवाला वेदज्ञ विद्वान् राष्ट्र के सब प्रजावर्ग को शत्रु के मुकाबिले के लिये प्रेरित करे। सब प्रजावर्ग स्वयं उत्साह से राष्ट्रकोश को भरनेवाले हैं, जिससे धनाभाव के कारण आक्रमण में शिथिलता न आ जाये।

भावार्थ—प्रजा राजा को कर ठीक प्रकार से दे जिससे राजा 'प्रजा रक्षण व शत्रु से युद्ध' आदि अपने सब कर्त्तव्यों का पालन कर सके।

ऋषि:—अभीवर्तः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शत्रुओं (सपत्नों, अरातियों, पृतन्यन् व इरस्यन् व्यक्तियों) से राज्य का रक्षण

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः। अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति॥ २॥

(१) राष्ट्र के अन्दर जो राजा को हटाकर स्वयं आसन सम्भालना चाहते हैं वे 'सपत्न' कहलाते हैं। प्रजावर्ग में जो अदानवृत्तिवाले हैं, जो कर आदि को बचाने का प्रयत्न करते हैं, वे 'अराति' हैं। राजा को चाहिये कि इन दोनों को पहले समाप्त करे। इनको समाप्त करके ही वह बाह्य शत्रुओं पर आक्रमण में सफल होगा। (२) **सपत्नान्**-गद्दी के दावेदार अन्य शत्रुभूत व्यक्तियों को **अभिवृत्य**-घेरकर अथवा उनपर आक्रमण करके और **याः**-जो **नः**-हमारे में से **अरातयः**-कर आदि को ठीक रूप से न देने की वृत्तिवाले हैं उनको घेरकर, कैद करके **पृतन्यन्तम्**-फौज के द्वारा आक्रमण करनेवाले का **अभितिष्ठ**=मुकाबिला कर, उनके आक्रमण से देश की रक्षा कर। २) वस्तुतः राष्ट्र के अन्दर की स्थिति ठीक होने पर ही बाह्य शत्रुओं से युद्ध किया जा सकता है। उसका भी तो **अभि** (**तिष्ठ**)=मुकाबिला कर **यः**-जो **नः इरस्यति**-हमारे साथ ईर्ष्या करता है। ईर्ष्या के कारण राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाला भी तेरे लिये आक्रमणीय है।

भावार्थ—सपत्नों व अरातियों को कैद में डालकर ही बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध प्रारम्भ करना चाहिये।

ऋषि:—अभीवर्तः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अभीवर्त राजा

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृतत्। अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथासंसि॥ ३॥

(१) **सविता देवः**-सबका प्रेरक विजेता प्रभु **त्वा**-तुझे **अभि अवीवृतत्**-(अभिगमयतु) शत्रु के प्रति आक्रमण करनेवाला बनाये। **सोमः**-राष्ट्र का प्रमुख ब्रह्मज्ञानी पुरुष (उमया सहितः) **अभि** (**अवीवृतत्**)-तुझे शत्रु के प्रति आक्रमण करने के लिये प्रेरित करे। (२) **विश्वाभूतानि**-राष्ट्र के सब प्रजावर्ग **त्वा**-तुझे **अभि**-शत्रु के अभिमुख जानेवाला करें। **यथा**-जिससे **अभीवर्तः असंसि**-तू अभीवर्त बने, शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला बने।

भावार्थ—प्रभु से, प्रमुख पुरोहित से, प्रजा से प्रेरित होकर पृथिवीपाल पृतन्यन् पुरुषों को पराजित करे।

ऋषि:—अभीवर्तः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कृत्वी-द्युम्नी

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः। इदं तदक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम्॥ ४॥

(१) **येन हविषा**=जिस कर रूप में दिये गये धन से **इन्द्रः**=शत्रु विद्रावक राजा **कृत्वी अभवत्**=शत्रु-वध रूप कर्म को करनेवाला होता है तथा **उत्तमः द्युम्नी**=उत्तम यशवाला होता है, हे **देवाः**=देवो! **तद् अक्रि**=वह कर तुम्हारे से किया जाए, हे व्यवहारी पुरुषो! (दिव् व्यवहारे) तुम उस कर के देनेवाले होवो। (२) इस कर से प्राप्त धन से ही सब व्यवस्था करके मैं **किल**=निश्चय से **असपत्नः**=शत्रुरहित **अभुवम्**=होता हूँ। प्रजा यदि कर को ठीक से नहीं देती तो राष्ट्र की रक्षा व उन्नति का सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—प्रजा कर को ठीक प्रकार से दे जिससे राजा ठीक व्यवस्था करके शत्रुवधादि कर्मों को करनेवाला हो और यशस्वी बन सके।

ऋषिः—**अभीवर्तः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उत्तम प्रबन्ध

असपत्नः सपत्नहाभिराष्ट्रो विषासहिः। यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च॥ ५॥

(१) राजा कहता है कि प्रजा इस प्रकार कर आदि के देने में अनुकूलता रखे कि **अहम्**=मैं **असपत्नः**=सपत्नों से रहित, **सपत्नहा**=राष्ट्र के अन्य पति बनने के दावेदारों को नष्ट करनेवाला, **अभिराष्ट्रः**=प्राप्त राज्यवाला तथा **विषासहिः**=शत्रुओं को कुचलनेवाला होऊँ। (२) **यथा**=जिससे **अहम्**=मैं **एषां भूतानाम्**=इन सब प्राणियों के **विराजानि**=विशिष्टरूप से जीवन को व्यवस्थित करनेवाला बनूँ। **जनस्य च**=और राष्ट्र व्यवस्था के अंगभूत इन अपने लोगों के जीवन को भी नियमित व दीप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा असपत्न हो, विषासहि हो। सब राष्ट्रवासियों व प्रबन्धकों के जीवनों को व्यवस्थित करनेवाला हो।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव यह है कि राजा राष्ट्र को अन्तः व बाह्य शत्रुओं से सुरक्षित करके सुव्यवस्थित करे। ऐसे ही राष्ट्र में सब प्रकार की उन्नतियों का सम्भव हो सकता है। ऐसे ही राष्ट्र में 'ऊर्ध्वग्रावा सर्व आर्बुदि' पुरुष बना करते हैं। 'ऊर्ध्वश्वासौ ग्रावा च' गुणों की दृष्टि से उन्नत, शरीर की दृष्टि से वज्रतुल्य। 'सर्पः' सदा क्रियाशील और इस क्रियाशीलता से उन्नति के शिखर पर पहुँचनेवाला 'आर्बुदि'। इनके लिये कहते हैं—

[१७५] पञ्चसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**ऊर्ध्वग्रावार्बुदः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उपासना से प्रेरणा की प्राप्ति

प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा। धूर्षु युज्यध्वं सुनुत॥ १॥

(१) हे **ग्रावाणः**=स्तोता लोगो! **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाश का पुञ्ज प्रभु **वः**=आपको **धर्मणा**=धारणात्मक कर्मों के हेतु से **प्र सुवतु**=प्रकृष्ट प्रेरणा दे। उस प्रभु की प्रेरणा से तुम धारणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होवो। (२) उस प्रभु की प्रेरणा के अनुसार **धूर्षु युज्यध्वम्**=धुरों में जुत जाओ, अपने-अपने कार्य को करने में प्रवृत्त हो जाओ। इन कार्यों को करने के लिये शक्ति को प्राप्त करने के लिये ही **सुनुत**=सोम का सम्पादन करो, अपने अन्दर इस सोम शक्ति का (वीर्य का) रक्षण करो।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करके धारणात्मक कर्मों में जुट जायें, इन कार्यों को कर सकने के लिये सोम का (वीर्य का) सम्पादन व रक्षण करें।

ऋषिः—ऊर्ध्वग्रावार्बुदः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'दुरित व दुर्मति' का दूरीकरण

ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम्। उस्राः कर्तन भेषजम्॥ २॥

(१) **ग्रावाणः**-हे स्तोता लोगो! इस स्तवन की वृत्ति के द्वारा **दुच्छुनाम्**-दुर्गति दुरित को **अपसेधन**-दूर करो। इस दुरित की कारणभूत **दुर्मतिम्**-दुर्मति को भी अप (सेधत) दूर करो। दुर्विचार ही दुराचार का कारण बना करता है। दुर्विचार न होगा तो अशुभ आचरण भी न होगा। (२) इस प्रकार सुविचार व सदाचार से तुम **उस्राः**-उषाकालों को, प्रकाश की किरणों को व इस पृथिवी को **भेषजं कर्तन**-अपने लिये औषध रूप करो। उषाकाल प्रभु की उपासना द्वारा मानस शान्ति को प्राप्त कराये। प्रकाश की किरणें मस्तिष्क को उज्ज्वल करनेवाली हों। यह पृथिवी शरीर के लिये सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करानेवाली हो। इस प्रकार ये उषायें दुर्मति व दुरितों को दूर करने के लिये औषध हो जाएँ।

भावार्थ—उपासना के द्वारा हम दुराचरण व दुर्विचार से दूर हों। उषा, प्रकाश व पृथिवी हमारे 'दुच्छुता' व 'दुर्मति' के लिये औषधरूप हों।

ऋषिः—ऊर्ध्वग्रावार्बुदः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करना

ग्रावाण उपरेष्वा महीयन्ते सजोषसः। वृष्णो दधतो वृष्ण्यम्॥ ३॥

(१) **ग्रावाणः**-स्तोता लोग **सजोषसः**-मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाले होते हुए **उपरेषु**-अपने क्षेत्रों में **आमहीयन्ते**-सब प्रकार से महिमावाले होते हैं। इनके कार्य पवित्र तो होते ही हैं। परस्पर मिलकर प्रेम से किये जाने के कारण अधिक से अधिक हित के साधक होते हैं। (२) **वृष्णो**-उस सुखों के वर्षक प्रभु की प्राप्ति के लिये **वृष्ण्यम्**-शक्ति के देनेवाले इस सोम का **दधतः**-धारण करनेवाले होते हैं। यह सोम का धारण इन्हें शक्तिशाली कार्यों को करने में भी समर्थ करता है।

भावार्थ—स्तोता लोग मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करते हैं—परिणामतः अपने क्षेत्रों में महिमा को प्राप्त करते हैं। ये प्रभु प्राप्ति के लिये सोम का धारण करते हैं।

ऋषिः—ऊर्ध्वग्रावार्बुदः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यजमान व सुन्वन्

ग्रावाणः सविता नु वो देवः सुवतु धर्मणा। यजमानाय सुन्वते॥ ४॥

(१) हे **ग्रावाणः**-स्तोता लोगो! **नु**-अब **सविता देवः**-वह प्रेरक प्रकाश का पुञ्ज प्रभु **वः**-तुम्हें **धर्मणा सुवतु**-धारणात्मक कर्मों के हेतु से प्रेरणा दे। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार होनेवाले सब कार्य धारणात्मक ही होंगे। (४) प्रभु हमें इसलिए प्रेरणा प्राप्त करायें कि हम **यजमानाय**-यज्ञशील बन सकें तथा **सुन्वते**-सोम का सम्पादन कर सकें। वस्तुतः यज्ञ की प्रवृत्तिवाले, सोम का सम्पादन करनेवाले लोगों को ही प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है।

भावार्थ—हम 'यजमान व सुन्वन्' बनें, जिससे प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करने के लिये पात्र हों।

सूक्त का मुख्य विषय ही है कि स्तोता को प्रभु पवित्र कर्मों की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। इस प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला ही शिखर पर पहुँचता है। यह प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला 'सूनु' है, यह प्रभु का सच्चा पुत्र है, इसीलिए 'आर्भव'-ऋभुओं का सन्तान, अर्थात् खूब ही चमकनेवाला

बनता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। इनके जीवन का चित्रण इस प्रकार है—

[१७६] षट्सप्त्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—सूनुरार्भवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अ-मांस भोजन

प्र सूनवं ऋभूणां बृहन्नवन्त वृजना। क्षामा ये विश्वधायसोऽश्नन्धेनुं न मातरम्॥ १ ॥

(१) **ऋभूणां सूनवः**=(उरु भान्ति इति ऋभवः) ऋभुओं के सुनु, अर्थात् खूब ही चमकनेवाले ये लोग **बृहत्**=खूब **वृजना**=बलों को **प्र नवन्त**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं। प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करके ये ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं और इस प्रकार जीवन में व्यसनों से बचकर खूब शक्तिशाली बनते हैं। (२) ये ऋभु वे हैं **ये**=जो **विश्वधायसः**=सब के धारक होते हुए **मातरं क्षां आ अश्नन्**=इस मातृ तुल्य पृथिवी से ही अपने भोजन को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार न=जैसे कि बछड़े **मातरं धेनुम्**=अपनी मातृभूत गौ से गोदुग्धरूप भोजन को प्राप्त करते हैं। वस्तुतः ऋभुओं का भोजन पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थ ही हैं।

भावार्थ—ऋभु वासनाओं से बचकर बड़ी शक्ति का संग्रह करते हैं और वानस्पतिक भोजन को करते हुए सबका धारण करनेवाले होते हैं।

ऋषि:—सूनुरार्भवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दिव्य बुद्धि से प्रभु-दर्शन

प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम्। हव्या नो वक्षदानुषक्॥ २ ॥

(१) **देवम्**=उस प्रकाशमय **जातवेदसम्**=सर्वव्यापक (जाते जाते विद्यते) व सर्वज्ञ (जातं वेति) प्रभु को **देव्या धिया**=प्रकाशमय बुद्धि से **प्र भरत**=अपने हृदय में प्रकर्षेण धारण करो। गत मन्त्र में वर्णित सात्त्विक भोजन से बुद्धि सात्त्विक बनती ही है। यह सात्त्विक बुद्धि प्रभु-दर्शन के अनुकूल होती है। बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर ही प्रभु का दर्शन हुआ करता है। (२) वह प्रभु **नः**=हमारे लिये **आनुषक्**=निरन्तर **हव्या**=हव्यपदार्थों को **वक्षत्**=प्राप्त कराते हैं। जो प्रभु के निर्देश के अनुसार कर्मों में लगे रहते हैं, उनके योगक्षेम का ध्यान प्रभु करते हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि को प्रकाशमय बनाकर प्रभु का दर्शन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक व पवित्र पदार्थों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषि:—सूनुरार्भवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'देवयु होता' को प्रभु की प्राप्ति

अयमु ष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते। रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना॥ ३ ॥

(१) **अयम्**=यह **उ**=निश्चय से **स्यः**=वह **देवयुः**=देव की ओर जाने की कामनावाला **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यज्ञाय**=उस पूज्य प्रभु के लिये **प्र नीयते**=ले जाया जाता है। प्रभु के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति वह है जो (क) देव की कामनावाला है, प्रभु प्राप्ति की इच्छावाला है और (ख) होता=दानपूर्वक अदनवाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला है। (२) यह व्यक्ति उस प्रभु को प्राप्त करता है जो कि **रथः न**=रथ के समान हैं, इस प्रभु के द्वारा ये ऋभु अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण करते हैं। **योः**=वे प्रभु भयों का हनन करनेवाले हैं, प्रभु-भक्त अभय

होकर जीवनयात्रा पूर्ण करता है। ये प्रभु **अभीवृतः**=(अभितो वर्तते) सर्वत्र विद्यमान हैं। **घृणीवान्**=ज्ञान की रश्मियोंवाले हैं और **त्मना चेतति**=स्वयं ज्ञानवाले होते हैं, प्रभु का ज्ञान नैमित्तिक नहीं। प्रभु किसी और से ज्ञान नहीं प्राप्त करते। इन प्रभु को 'देवयु होता' प्राप्त करता है।

ऋषिः—सूनुरार्भवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु का रक्षण

अयमग्निरुरुष्यत्यमृतादिव जन्मनः। सहसश्चित्सहीयान्देवो जीवातवे कृतः॥४॥

(१) **अयम्**-यह **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अमृतात् इव**-जैसे अमृतत्व की प्राप्ति के हेतु से उसी प्रकार **जन्मनः**=शक्तियों के विकास के हेतु से **उरुष्यति**=रक्षण करते हैं। प्रभु के रक्षण के प्राप्त होने पर मनुष्य अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ अन्ततः अमृतत्व को, मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ सायणाचार्य के अनुसार 'अमृतात्' का अर्थ 'देवों से' तथा 'जन्मनः' का अर्थ 'प्राणियों से' है। उसका भाव यह है कि प्रभु का रक्षण हमें आधिदैविक व आधिभौतिक आपत्तियों से बचाता है। (२) वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **सहसः चित्**=बलवान् से भी **सहीयान्**=बलवत्तर हैं। वे प्रभु **जीवातवे**=जीवनौषध के लिये **कृतः**=किये जाते हैं। अर्थात् जो प्रभु का धारण करता है, वह अपने जीवन को नीरोग बना पाता है। प्रभु-भक्त का जीवन शरीर के दृष्टिकोण से नीरोग होता है और मन के दृष्टिकोण से वासनाशून्य व निर्मल।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं। प्रभु के हृदय में धारण करने से जीवन नीरोग व निर्मल बनता है।

यह सूक्त प्रभु-दर्शन के साधनों व लाभों का वर्णन करता है। इन साधनों का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति उस प्रजापति परमात्मा को प्राप्त करने से 'प्राजापत्य' होता है, यह नाना योनियों में गति करता हुआ प्रभु को प्राप्त करने से 'पतङ्ग' है (पतन् गच्छति)। यह 'पतङ्ग प्राजापत्य' अगले सूक्त का ऋषि है। चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[१७७] सप्तसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—पतङ्ग प्राजापत्यः॥ देवता—मायाभेदः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

माया से अक्त पतङ्ग

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥१॥

(१) **असुरस्य**=(असून् राति) प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु की **मायया**=इस प्राकृतिक माया से, सांसारिक विषयों के जाल से **अक्तम्**=लिप्त **पतङ्गम्**=इस गति करते हुए और गति के द्वारा विविध योनियों में जाते हुए जीव को **विपश्चितः**=विशेषरूप से देखकर चिन्तन करनेवाले ज्ञानी लोग **हृदा**=हृदय से तथा **मनसा**=मन से चिन्तन-मनन के द्वारा **पश्यन्ति**=देखते हैं। आत्मा को देखने के लिये श्रद्धा व विद्या का, हृदय व मन का समन्वय आवश्यक है। (२) **समुद्रे अन्तः**=आनन्दमयकोश के अन्दर अथवा आनन्दयुक्त हृदय में **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी **विचक्षते**=आत्मा का दर्शन करते हैं। ये **वेधसः**=ज्ञानी लोग **मरीचीनां पदम्**=ज्ञानरश्मियों के स्थान को **इच्छन्ति**=चाहते हैं। ये ज्ञानी लोग ऊपर उठते हुए सूर्य द्वार से उस अव्ययात्मा अमृत पुरुष को प्राप्त करते हैं। द्युलोक ही मरीचि-पद है। इस द्युलोक में सूर्य उन पुरुषों का द्वार बनता है जो उस परम पुरुष की ओर

गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—जीव सामान्यतः माया से लिप्त रहता है। श्रद्धा व विद्या का समन्वय होने पर आत्मदर्शन होता है। ये ज्ञानी पुरुष सूर्य द्वार से जाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—पतङ्गः प्राजापत्यः ॥ देवता—मायाभेदः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋत का पालन व वेदज्ञान की प्राप्ति

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥ २ ॥

(१) **पतङ्गः**-कर्मों को करता हुआ और अतएव विविध योनियों में जानेवाला यह जीव जब **मनसा**-मनन शक्ति के द्वारा **वाचम्**-ज्ञान की वाणी को **बिभर्ति**-धारण करता है तो **ताम्**-उस ज्ञान की वाणी को **गर्भे अन्तः**-अन्दर ही हृदय में स्थित हुआ-हुआ **गन्धर्वः**-(गां धारयति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला प्रभु **अवदत्**-उच्चारित करता है। (२) **ताम्**-उस **द्योतमानाम्**-देदीप्यमान **स्वर्यम्**-प्रकाश को प्राप्त करानेवाली **मनीषाम्**-(मनसः ईशिनीम्) मन का शासन करनेवाली वेदवाणी को **कवयः**-ज्ञानी लोग **ऋतस्य पदे**-सत्य के मार्ग में **निपान्ति**-नितरां रक्षित करते हैं। ऋत के मार्ग पर चलते हुए इस ज्ञान की वाणी को अपने में धारण करते हैं। ऋत का पालन उस उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु ज्ञान की वाणी का उच्चारण करते हैं। ऋत का पालन करनेवाले इस वाणी को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—पतङ्गः प्राजापत्यः ॥ देवता—मायाभेदः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'गोप' प्रभु

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ऋत के पालन के द्वारा वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्रभु का दर्शन करते हुए कहता है कि मैं उस **गोपाम्**-जीवरूप गौओं के रक्षक ग्वाले के रूप में उस प्रभु को **अपश्यम्**-देखता हूँ। ये प्रभु **अनिपद्यमानम्**-कभी नीचे नहीं जाते अथवा विनष्ट नहीं होते। **आ च परा च**-चारों ओर दूर-दूर तक **पथिभिः चरन्तम्**-ये प्रभु मार्गों से चल रहे हैं। प्रभु की क्रिया सर्वत्र है। (२) **सः**-वे प्रभु **सध्रीचीः**-मिलकर चलनेवाली तथा **विषूचीः**-अलग-अलग गति करनेवाली सब प्रजाओं को **वसानः**-आच्छादित कर रहे हैं। सामान्यतः मांसाहारी प्राणी अलग-अलग रहते हैं और शाकाहारी संघ में। इन सबको प्रभु अपने अन्दर लिये हुए हैं। ये प्रभु **भुवनेषु अन्तः**-सब भुवनों में व सब प्राणियों के अन्दर **आवरीवर्ति**-समन्तात् वर्तमान हैं। प्रभु की सत्ता सर्वत्र है, कोई भी प्राणी प्रभु की सत्ता के बिना नहीं है।

भावार्थ—ज्ञान के मार्ग पर चलनेवाला सर्वत्र प्रभु की सत्ता को देखता है।

प्रभु की सत्ता को देखता हुआ यह गतिशील बनता है, गतिशीलता के कारण 'तार्क्ष्य' नामवाला होता है। इस गति में यह नेमि-परिधि का हिंसन नहीं करता, सो 'अरिष्टनेमि' होता है, मर्यादित जीवनवाला। अगले सूक्त का ऋषि यह 'अरिष्टनेमि तार्क्ष्य' ही है। यह प्रभु का स्मरण इस प्रकार करता है—

[१७८] अष्टसमत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अरिष्टनेमि-तार्क्ष्य

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ १ ॥

(१) **इह**-इस जीवन में **स्वस्तये**-कल्याण के लिये, उत्तम स्थिति के लिये **तार्क्ष्यम्**-उस गतिशील प्रभु को **आहुवेम**-पुकारें। **त्यम्**-उस प्रभु को जो **वाजिनम्**-शक्तिशाली हैं, **देवजूतम्**-(देवेषु जूतं प्रेरणं यस्य) सब देवों में देवत्व को प्रेरित करते हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'। **उ**-और **सु**-अच्छी प्रकार **सहावानम्**-सहस्‌वाले हैं, **रथानां तरुतारम्**-हमारे इन शरीर-रथों को यात्रा की पूर्ति के करानेवाले हैं। (२) वे प्रभु **अरिष्टनेमिम्**-अहिंसित परिधिवाले हैं, प्रभु के नियम अटल हैं। **पृतनाजम्**-शत्रुसैन्यों को परे फेंकनेवाले हैं तथा **अशुम्**-सर्वव्याप्त (अशू व्याप्तौ) व शीघ्रता से कार्य करनेवाले हैं (आशु=शीघ्र)। इन प्रभु को हम कल्याण के लिये पुकारते हैं। प्रभु को इन नामों से पुकारने का भाव यही है कि हम भी ऐसे ही बनें। शक्तिशाली बनें, सूर्य, वायु आदि देवों से प्रकाश व गति आदि की प्रेरणा लेनेवाले हों। 'सहस्' वाले बनें, शरीररस्थ को लक्ष्य की ओर ले चलें। जीवन की मर्यादाओं को तोड़ें नहीं, काम-क्रोध आदि की सेना को दूर भगानेवाले हों, शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हों। सदा गतिशील बनें। यही कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—गतिशील व अहिंसित मर्यादावाला बनना ही कल्याण प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दान की वृत्ति

इन्द्रस्येव रातिमाजोहुवानाः स्वस्तये नावमिवा रुहेम।
उर्वी न पृथ्वी बहुले गभीरे मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम ॥ २ ॥

(१) **इन्द्रस्य इव**-इन्द्र की तरह **रातिम्**-दान को **आजोहुवानाः**-निरन्तर करते हुए, लोकहित के लिये अपने धन की आहुति देते हुए, **स्वस्तये**-कल्याण के लिये **नावं इव**-भवसागर को तैरने के लिये नाव के समान इस शरीर में **आरुहेम**-अधिष्ठित हों। शरीर को हम भवसागर को पार करने के लिये साधनभूत नाव समझें। इस पर आरूढ़ होकर हम सदा दान देनेवाले बनें। (२) हमारे लिये द्यावापृथिवी **उर्वी न**-अत्यन्त विशाल होने की तरह **पृथ्वी**-विस्तृत शक्तिवाले हों, **बहुले गभीरे**-अत्यन्त गम्भीर हों। हे द्यावापृथिवी! **वाम्**-आपके **एतौ**-आने पर **मा रिषाम**-हम मत हिंसित हों, और **परेतौ**-जाने पर भी **मा**-मत हिंसित हों। हमारा शरीर विस्तृत शक्तिवाला हो (पृथ्वी) तो हमारा ज्ञान गम्भीर हो (गभीरे)। ऐसे द्यावापृथिवी के होने पर ये द्यावापृथिवी हमें प्राप्त हों, या हमारे से पृथक् हों तो हम सुखी व दुःखी नहीं होते। ऐसे द्यावापृथिवी के होने पर न तो हम ऐहलौकिक गति में (एतौ) और ना ही पारलौकिक गति में (परेतौ) हिंसित हों। हम अभ्युदय को भी प्राप्त हों और निःश्रेयस को भी प्राप्त होनेवाले हों।

भावार्थ—हम दान की वृत्तिवाले हों। शरीर को विस्तृत शक्तिवाला व मस्तिष्क को गम्भीर ज्ञानवाला बनायें। ऐसे बनकर हम इनकी प्राप्ति व अप्राप्ति में समवृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान व कर्म की प्रेरणा

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्यइव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥ ३॥

(१) यः=जो सद्य चित्=शीघ्र ही शवसा=शक्ति के द्वारा पञ्च कृष्टीः=(पचि विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले मनुष्यों के प्रति सूर्य इव=सूर्य की तरह ज्योतिषा=ज्योति के साथ अपः=कर्मों को ततान=विस्तृत करता है। प्रभु श्रमशील मनुष्य को ज्ञान व कर्म की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। जैसे सूर्य प्रकाश को फैलाता है और अपने उदाहरण से निरन्तर गति की प्रेरणा देता है, इसी प्रकार प्रभु इन कृष्टियों को ज्ञान व कर्म की प्रेरणा देते हैं। (२) वे प्रभु सहस्रसाः=हजारों ही दान देनेवाले हैं, शतसाः=सैंकड़ों उस प्रभु के दान हैं। प्रभु के इन दानों को न वरन्ते स्म=कोई भी रोक नहीं सकते। उसी प्रकार नहीं रोक सकते न=जैसे कि युवतिम्=लक्ष्य के साथ अपना मिश्रण करनेवाले शर्याम्=बाण को। धनुष से लक्ष्य की ओर चल पड़े हुए बाण को कोई भी रोक नहीं सकता। वह तो अब लक्ष्य की ओर जायेगा ही। इसी प्रकार प्रभु से दिये जानेवाले दानों को कोई रोक नहीं सकता।

भावार्थ—प्रभु से हमें ज्ञान व कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रभु से दिये जानेवाले दानों को कोई रोक नहीं सकता।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'अरिष्टनेमि तार्क्ष्य' बनता है। यह अपने जीवन को निम्न प्रकार से बिताता है—

[१७९] एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शिविरौशीनरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शिवि औशीनर

उत्तिष्ठुताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्। यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन॥ १॥

(१) 'श्यति पापं इति शिविः'=पाप को नष्ट करनेवाला शिवि है। 'औशीनर' वह है जो कि कान्त मनोवृत्तिवालों में अगुआ बनता है (वश कान्तौ) पाप को नष्ट करके सुन्दर मनोवृत्तिवाला पुरुष प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है, ऐसा बन सकने के लिये प्रभु कहते हैं कि उत्तिष्ठत=उठो, आलस्य को छोड़ो, लेटे ही न रहो। अवपश्यत=अपने अन्दर देखनेवाले बनो। अपनी कमियों को देखकर उन्हें दूर करनेवाले बनो। और इन्द्रस्य=जितेन्द्रिय पुरुष के ऋत्वियम्=समय पर प्राप्त समयानुकूल भागम्=कर्त्तव्यभाग को देखनेवाले बनो। जो तुम्हारा प्रस्तुत कर्त्तव्य है, उसे देखकर उसके पालन में तत्पर होवो। वस्तुतः जीवन के प्रथमाश्रम में 'ज्ञान प्राप्ति' ही मुख्य कर्त्तव्य है। जितेन्द्रिय बनकर ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना ही ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। (२) यदि श्रातः=अगर आचार्य अनुभव करे कि उसका ब्रह्मचारी ज्ञान-परिपक्व हो गया है, तो आचार्य जुहोतन=उनकी आहुति दे दें, उन्हें गृहस्थ-यज्ञ में प्रवेश की स्वीकृति दे दें। पर यदि=अगर अश्रातः=वह ज्ञान-परिपक्व नहीं हुआ तो ममत्तन=प्रसन्नतापूर्वक रुके रहें। गृहस्थ में तभी जाना ठीक है कि यदि अपने ज्ञान की कुछ परिपक्वता का अनुभव हो। जितेन्द्रिय बनकर शक्ति व ज्ञान का सञ्चय करनेवाला ही गृहस्थ में प्रवेश करे।

भावार्थ—उठो, अपनी कमियों को दूर करो। इस ब्रह्मचर्याश्रम में अपने को ज्ञान-परिपक्व करके गृहस्थ होने की तैयारी करो।

ऋषिः—प्रतर्दनः काशिराजः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रतर्दनः काशिराजः

श्रातं हुविरो ष्विन्द्र प्र याहि जुगाम सूरो अध्वनो विमध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम के संयम व ज्ञान-परिपक्वता से वासनाओं को कुचलनेवाला 'प्रतर्दन' है। वासना-विनाश से इसका ज्ञान सूर्य चमक उठता है, चमकते हुए ज्ञानसूर्यवाला यह 'काशिराज' है, चमकनेवालों का राजा। यह गृहस्थ को संयमजन्य शक्ति व ज्ञान के परिपाक से बड़ी सुन्दरता से निभाता है। इसके गृहस्थ-यज्ञ में **हविः श्रातम्**=हवि का ठीक परिपाक होता है। यह गृहस्थ में सदा देकर खानेवाला बनता है (हु दानादनयोः)। अब गृहस्थ की समाप्ति पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! उ=निश्चय से सु **आप्रयाहि**=अच्छी प्रकार सर्वथा घर से जानेवाला बन, वानप्रस्थ होने की तैयारी कर। **सूरः**=तेरा जीवन सूर्य **अध्वनः**=मार्ग के **मध्यम्**=मध्य को **विजगाम**=विशेषरूप से प्राप्त हो गया है। अर्थात् आयुष्य के प्रथम ५० वर्ष बीत गये हैं, सो वनस्थ होने का समय हो गया है। (२) **त्वा परि**=तेरे चारों ओर **निधिभिः**=ज्ञाननिधियों की प्राप्ति के हेतु से **सखायः आसते**=समान रूप से ज्ञान प्राप्त करनेवाले ये विद्यार्थी आसीन होते हैं। ये विद्यार्थी **चरन्तम्**=गतिशील **व्राजपतिम्**=विद्यार्थि समूह के रक्षक तेरे चारों ओर **कुलपाः न**=कुल के रक्षकों के समान हैं। इन योग्य विद्यार्थियों से ही तो कुल का पालन होता है। विद्यार्थियों के अभाव में वह कुल नहीं रह जाता। उपनिषद् में आचार्य प्रार्थना करता है कि—

'दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'

भावार्थ—गृहस्थ में दानपूर्वक अदन करते हुए हम पचास वर्ष बीत जाने पर वानप्रस्थ बनें। वहाँ हमें ज्ञान प्राप्ति के हेतु से ब्रह्मचारी प्राप्त हों।

ऋषिः—वसुमना रौहिदश्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वसुमना रौहिदश्वः

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रातं मन्ये तदृतं नवीयः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दुध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः॥ ३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वानप्रस्थाश्रम में अपनी पूरी तैयारी करके अब यह पुरुष संन्यस्त होता है। इसका मन सबको उत्तम निवासवाला बनाने की भावनावाला है (वसु मनो यस्य)। यह प्रवृद्ध शक्तियोंवाले इन्द्रियाश्वोंवाला बना है। सो इसका नाम 'वसुमना रौहिदश्व' हो गया है। इसे प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि—(क) तुझे **ऊधनि**=वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार में **श्रातं मन्ये**=परिपक्व मानता हूँ। तूने अपने को ज्ञान विदग्ध बनाया है। (ख) **अग्नौ श्रातम्**=अग्नि

में भी तू परिपक्व हुआ है। शक्ति सम्पन्नता के कारण तेरे में उत्साह (अग्नि) की भी न्यूनता नहीं है। सो मैं तुझे सुश्रातं मन्ये=ठीक परिपक्व हुआ-हुआ समझता हूँ। तद्=सो तेरा जीवन ऋतम्=ठीक है, नियमित है (सत्य है) नवीयः=स्तुत्य व गतिशील है (नु स्तुतौ, नव गतौ) (२) सो इन्द्र=हे जितेन्द्रिय पुरुष! वज्रिन्=क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथ में लिये हुए पुरुकृत्=खूब ही कर्म करनेवाले अथवा पालनात्मक व पूरणात्मक कर्म करनेवाले! तू जुषाणः=प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करता हुआ माध्यन्दिनस्य सवनस्य=जीवन का माध्यन्दिन सवन 'गृहस्थाश्रम' ही है। जीवन के तीन कवन हैं—'प्रातः सवन' ब्रह्मचर्याश्रम है। 'मध्यन्दिन सवन' गृहस्थ है और 'तृतीय सवन' वानप्रस्थ व संन्यास हैं। उस गृहस्थाश्रम के दध्नः=धारणात्मक कर्म को (धत्ते इति दधि) पिब=अपने में व्याप्त करनेवाला बन। तू अपने ज्ञानोपदेशों से गृहस्थ का धारण करनेवाला बन। संन्यासी का मूल कर्त्तव्य यही है कि गृहस्थों को सदुपदेश देता हुआ उनको ठीक मार्ग पर चलानेवाला बने और इस प्रकार उनका धारण करे।

भावार्थ—हम ज्ञान व शक्ति में परिपक्व होकर संन्यस्त हों। ज्ञान प्रचार के द्वारा संसार का धारण करनेवाले बनें।

यह सूक्त जीवन को सफलता के साथ बिताने का उल्लेख करता है। यह व्यक्ति 'जयः'=विजयी बनता है। सब शत्रुओं का पराभव करके सफल जीवनवाला होता है। इसी 'जय' का अगला सूक्त है—

[१८०] अशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—जयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु-शोषक शक्ति और दान

प्र संसाहिषे पुरुहूत शत्रूञ्ज्येष्ठस्ते शुष्म इह रातिरस्तु।
इन्द्रा भर दक्षिणेना वसूनि पतिः सिन्धूनामसि रेवतीनाम्॥ १ ॥

(१) हे पुरुहूत=अपने यज्ञात्मक कर्मों के कारण बहुतों से पुकारे जानेवाले जीव! शत्रून् प्रससाहिषे=तू शत्रुओं का पराभव करता है, काम, क्रोध, लोभ आदि को अपने पर प्रबल नहीं होने देता। ते शुष्मः=तेरा शत्रु-शोषक बल ज्येष्ठ=अत्यन्त बढ़ा हुआ होता है। इह=इस जीवन में रातिः अस्तु=तेरी दान की वृत्ति बनी रहे। सुन्दर जीवन यही है कि हम काम आदि शत्रुओं को पराभूत करें और दान की वृत्तिवाले हों। (२) हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष! तू दक्षिणेन=दक्षिण मार्ग से, नकि वाम (=उलटे) मार्ग से वसूनि आभर=धनों को प्राप्त करनेवाला बन। सदा सुपथ से धन को कमानेवाला हो। और इस प्रकार रेवतीनां सिन्धूनाम्=धन से बनी हुई नदियों का पतिः असि=तू स्वामी होता है। 'रेवतीनां सिन्धूनां' इन शब्दों में दान-धाराओं का भी संकेत प्रतीत होता है, अर्थात् तू खूब दान देनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम काम आदि शत्रुओं का पराभव करें, दान की वृत्तिवाले हों, सुपथ से धन कमाएँ और खूब ही देनेवाले बनें।

ऋषिः—जयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आत्मनिरीक्षण व वासना विनाश

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताळ्हि वि मृधो नुदस्व॥ २ ॥

(१) मृगः=(मृग अन्वेषणे) तू आत्मनिरीक्षण करनेवाला हो। न भीमः=भयंकर न हो 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'। कुचरः=भूमि पर विचरनेवाला हो, आकाश में न उड़, हवाई किले न बना। गिरिष्ठाः=सदा ज्ञान की वाणियों में स्थित हो, वेदवाणी के अनुसार अपना जीवन बना। परस्याः परावतः=दूर से दूर देश से आजगन्थ=तू लौटनेवाला बन। दूर-दूर भटकनेवाले इस मन को तू वशीभूत कर। (२) हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष! सृकम्=वज्र को संशाय=तेज करके शत्रून्=शत्रुओं पर विताढि=विशेषरूप से प्रकट कर। 'सृ गतौ' से 'सृकं' शब्द बनता है, उसी प्रकार जैसे कि 'वज गतौ' से 'वज्रं'। गतिशीलता रूप वज्र से ही काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करना होता है। 'पविम्'=इस पवित्र करनेवाले गतिशीलता रूप वज्र को तिग्मम्=खूब तेज संशाय=बनाकर मृधः=(murder) मृत्यु की कारणभूत वासनाओं को विनुदस्व=परे धकेल दे।

भावार्थ—हम आत्मनिरीक्षण करनेवाले हों, मन को विषयों से व्यावृत्त करें। क्रियाशीलता द्वारा वासनाओं को विनष्ट करें।

ऋषिः—जयः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शक्ति-प्रकाश (ओज-लोक)

इन्द्रं क्षत्रमुभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।
अपानुदो जनमंमित्रयन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम्॥ ३॥

(१) हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष! क्षत्रम्=क्षतों से, घावों से त्राण करनेवाले वामम्=सुन्दर ओजः=ओज को (बल को) अभि=लक्ष्य बनाकर अजायथाः=तू विकसित शक्तियोंवाला होता है। जितेन्द्रियता हमारे अन्दर क्षत्र व ओज का विकास करती है। (२) हे वृषभ=शक्तिशालिन् व सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले! तू चर्षणीनाम्=मनुष्यों में अमित्रयन्तं जनम्=अमित्र की तरह आचरण करनेवाले मनुष्य को अपानुदः=दूर कर। अहितकारी लोगों से भी घृणा न करते हुए उनकी उपेक्षा करनेवाला हो, उन्हें अपने से दूर ही रख। उ=और देवेभ्यः=दिव्य वृत्तियों के लिये, उत्तम वृत्तियों के विकास के लिये उरुं लोकम्=विशाल प्रकाश को अकृणोः=सम्पादित कर। जितना-जितना ज्ञान का प्रकाश बढ़ेगा, उतना ही दिव्यगुणों का विकास होगा। देवों के विकास का क्षेत्र 'प्रकाश' है, असुरों के विकास का 'अन्धकार'।

भावार्थ—हम बल को बढ़ायें। प्रकाश वृद्धि के द्वारा सद्गुणों का वर्धन करें।

इस प्रकार शक्ति व प्रकाश के वर्धन से हम 'प्रथ वासिष्ठ' बनेंगे, अपना विस्तार करनेवाले, उत्तम निवासवाले। विस्तार के सहित 'सप्रथ' होंगे और अपने में शक्तियों का भरण करनेवाले 'भारद्वाज' होंगे। शक्ति के पुञ्ज 'घर्मः' बनेंगे और सूर्य के समान तेजस्वी 'सौर्य' होंगे। इन्हीं का अगला सूक्त है—

[१८१] एकाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—प्रथो वासिष्ठः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रथ वासिष्ठ

प्रथश्च यस्य सुप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हुविषो हुविर्यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तुरमा जंभारा वसिष्ठः॥ १॥

(१) **वसिष्ठः**=अतिशयेन **वसुमान्**=सब वसुओं को धारण करके अपने जीवन को उत्तम बनानेवाला यह वसिष्ठ, **यस्य नाम**=जिसका नाम **प्रथः च**=प्रथ है, शक्तियों का विस्तार करनेवाला है, **च**=और **सप्रथः**=जो सप्रथ है, परमात्मा के समान विस्तारवाला बना है, यह **धातुः**=सबका धारण करनेवाले प्रभु से **द्युतानात्**=ज्ञान-ज्योति का विस्तार करनेवाले से **सवितुः**=सबके प्रेरक **विष्णोः**=व्यापक, अत्यन्त उदार प्रभु से **रथन्तरं आजभार**-'रथन्तरं साम्नां प्रतिष्ठा' (ताण्ड्य ९।३।४) साम मन्त्रों द्वारा उपासना को प्राप्त करता है। 'सामवेद' उपासना वेद है, प्रभु ने इस सामवेद के द्वारा इस वसिष्ठ को उपासना का मार्ग दिखाया है। वसिष्ठ 'रथन्तर' साम द्वारा प्रभु का उपासन करता है, यह उपासना उसके शरीर-रथ को भवसागर को पार करने का साधन बनाती है। (२) यह वसिष्ठ उस प्रभु से **आनुष्टुभस्य**-'अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः' (कौ० १५।२) सोम के छन्द अनुष्टुप् का ग्रहण करता है। अनुष्टुप् छन्द से प्रभु का स्तवन करता हुआ यह वासना को दूर करके सोम का रक्षण कर पाता है (अनुष्टौति अनेन इति अनुष्टुप्) इसीलिए अनुष्टुप् को सोम का छन्द कहा है। (३) यह वसिष्ठ **यत्**=जो **हविषः हविः**=हवि की भी हवि है उसका ग्रहण करता है, अर्थात् अत्यन्त त्यागशील होता है, सदा दान देकर बचे हुए को खानेवाला होता है। एवं यह वसिष्ठ प्रभु से उपासना, सोम के रक्षण व त्यागवृत्ति को ग्रहण करता है और वसिष्ठ बनकर खूब ही अपनी शक्तियों को विस्तृत करता है, 'प्रथ' होता है। यह प्रथ (क) धारण करनेवाला होता है, (ख) ज्ञान का विस्तार करता है, (ग) सन्मार्ग की औरों को प्रेरणा देनेवाला बनता है, (घ) उदार होता है।

भावार्थ—हम उपासना, सोमरक्षण व दानवृत्ति को अपनाते हुए अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले 'प्रथ' बनें।

ऋषिः—सप्रथो भारद्वाजः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स-प्रथ भारद्वाज

अविन्दुते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्नेः ॥ २ ॥

(१) **भरद्वाजः**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाला भरद्वाज **धातुः**=धारण करनेवाले से, **द्युतानात्**=ज्ञान का विस्तार करनेवाले से, **सवितु**=प्रेरणा देनेवाले प्रभु से **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक **अग्नेः**=अग्रेणी प्रभु से **बृहत्**=इस बृहत् साम को **आचक्रे**=प्राप्त करता है। 'ज्यैष्ठ्यं वै बृहत्, श्रैष्ठ्यं वै बृहत्' (ऐ० ८।२) 'भारद्वाजं वै बृहत्' (ऐ० ८।३)। बृहत् साम के द्वारा प्रभु का उपासन करता हुआ यह ज्येष्ठ व श्रेष्ठ बनता है, अपने अन्दर शक्ति का भरण करनेवाला होता है। (२) बृहत् साम के द्वारा उपासना करनेवाले **ते**=वे भारद्वाज **यज्ञस्य**=उस उपास्य प्रभु के **धाम**=तेज को **अविन्दते**=प्राप्त करते हैं। उस तेज को, **यत्**=जो कि **अतिहितं आसीत्**=सबको लाँघकर स्थापित हुआ है, 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय' कोश को लाँघकर आनन्दमयकोश में वह तेज स्थापित है। उस तेज को वे प्राप्त करते हैं **यत्**=जो कि **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट होता हुआ **गुहा**=हृदयरूप गुहा में दिखता है। जब तक हृदय पर वासना का आचरण रहता है, तब तक यह तेज उसी प्रकार अदृश्य-सा होता है जैसे कि घने बादल से आवृत सूर्य का तेज। बादल हटा, सूर्य चमका। इसी प्रकार वासना विनष्ट हुई और प्रभु का परम तेज दृष्टिगोचर हुआ।

भावार्थ—हम 'बृहत्' साम से प्रभु का उपासन करते हुए 'बृहत्' बनें। अपनी शक्तियों का वर्धन करनेवाले 'भारद्वाज' हों।

ऋषिः—घर्मः सौर्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

घर्म सौर्य

तेऽविन्दुन्मनसा दीध्याना यजुः ष्कन्नं प्रथमं देवयानम्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन्घर्ममेते ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार अपने में शक्ति को भरनेवाले **एते**=ये पुरुष **धातुः**=उस धारण करनेवाले, **द्युतानात्**=ज्योति का विस्तार करनेवाले, **सवितुः**=प्रेरक, **विष्णोः**=व्यापक प्रभु से **च**=और **सूर्यात्**=प्रभु की सर्वमहान् विभूति इस सूर्य से **घर्मम्**=शक्ति की उष्णता व दीप्ति को (घृ=to shine) **आभरन्**=अपने में भरते हैं। प्रभु का स्मरण तो वासनाओं से बचाकर हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है और सूर्य हमारे में प्राणशक्ति का सञ्चार करता ही है 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। (२) **ते**=वे शक्ति से चमकनेवाले 'घर्म' और सूर्य से प्राणशक्ति को प्राप्त करनेवाले 'सौर्य' **मनसा**=मन से **दीध्यानाः**=दीप्त होते हुए **यजुः**=यजु को **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। 'यज देव-पूजासंगतिकरणदानेषु' से बना हुआ यजु शब्द 'बड़ों के आदर, परस्पर मेल तथा दान' के भाव का प्रतिपादन कर रहा है। यह सब यजु **स्कन्नम्**=गति है (स्कन्द् गतौ, भावे क्तः) सब यज्ञ कर्म से ही साध्य होते हैं। यह यज्ञ ही **प्रथमं देवयानम्**=सर्वमुख्य देवयान मार्ग है। देवता यज्ञों को अपनाते हैं, असुर उनमें विघ्न करते हैं। इन यज्ञों से ही तो देव उस यज्ञ (रूप) परमात्मा की उपासना करते हैं।

भावार्थ—सूर्य के सम्पर्क में रहते हुए हम अपने को सशक्त बनाकर यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों। यही देवों का मार्ग है।

इस प्रकार वसिष्ठ, भरद्वाज व सौर्य बनकर हम जीवन में उन्नत होते हैं। तपस्वियों के मूर्धन्य 'तपुर्मूर्धा' बनते हैं और खूब ज्ञानी होकर 'बार्हस्पत्य' कहलाने लगते हैं। इस 'तपूर्मूर्धा बार्हस्पत्य' का ही अगला सूक्त है—

[१८२] द्व्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शं-योः

बृहस्पतिर्नयतु दुर्गहा तिरः पुनर्नेषदघशंसाय मन्म।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ १ ॥

(१) **दुर्गहा**=सब दुर्गमनों का विनाश करनेवाला **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु (ब्रह्मणस्पति) मेरे सब दोषों (दुर्गों) को **तिरः नयतु**=दूर करे, तिरस्कर्त्तव्य पापों को विनष्ट करे। **पुनः**=फिर **अघसंसाय**=बुराई का शंसन करनेवाले के लिये **मन्म**=ज्ञान को **नेषत्**=प्राप्त करायें। ज्ञान के द्वारा उनके विचारों में परिवर्तन हो और वे बुरे को बुरा ही देखने लगें। सद्बुद्धि को प्राप्त करके ये भविष्य में आपका शंसन न करें। (२) वे प्रभु **अशस्तिं क्षिपत्**=अप्रशस्त बात को हमारे से दूर करें। **दुर्मतिम्**=बुरी बुद्धि को **अप हन्**=नष्ट करें। **अथा**=और अब **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिये **शम्**=अग्नि को तथा **योः**=भयों के यावन को **करत्**=करें। पूर्वार्ध में 'दुर्गहा तिरः नयतु' से जो प्रार्थना थी, वही उत्तरार्ध में 'क्षिपत् अशस्तिं' इन शब्दों से हुई है। 'अघशंसाय मन्म नेषत्'

यह प्रार्थना 'दुर्मतिं अप अहन्' इन शब्दों में की गई है। अशान्ति के दूर होने से 'शं' (शान्ति) की प्राप्ति होती है तथा दुर्मति के दूर होने से और सुबुद्धि की प्राप्ति से (योः) भयों का यावन (दूरीकरण) होता है।

भावार्थ—बुराइयों का तिरस्करण करके व अशान्ति को परे फेंककर हम शान्त जीवनवाले हों। दुर्मति को दूर करके और सुबुद्धि को प्राप्त करके हम निर्भयता को प्राप्त हों।

ऋषिः—तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

(शक्ति प्राप्ति व अहंकार शून्यता) 'प्रयाज व अनुयाज में प्रभु-स्मरण'

नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नो अस्त्वनुयाजो हवेषु।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ २ ॥

(१) **प्रयाजे**=यज्ञों के प्रारम्भ में **नराशंसः**=मनुष्यों से शंसन के योग्य वह प्रभु **नः अवतु**=हमारा रक्षण करे तथा **हवेषु**=संग्रामों में **अनुयाजः**=(अनु-पश्चात्) यज्ञों की समाप्ति पर पूजित होनेवाले वे प्रभु **नः**=हमारे लिये **शं अस्तु**=शान्ति को प्राप्त करायें। (२) प्रत्येक उत्तम कार्य के प्रारम्भ में प्रभु का स्मरण हमें शक्ति प्राप्त कराये तथा समाप्ति पर प्रभु-स्मरण हमारे अहंकार को दूर करनेवाला हो। यह शक्ति को देनेवाला व अहंकार को दूर करनेवाला प्रभु **अशस्तिं क्षिपत्**=बुराइयों को हमारे से परे फेंके, **दुर्मतिम्**=दुष्ट बुद्धि को **अप अहन्**=सुदूर विनष्ट करे **अथा**=और **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिये **शं योः करत्**=शान्ति को करे तथा भयों के यावन (पार्थक्य) को करे।

भावार्थ—हम यज्ञों के प्रारम्भ व अन्त में प्रभु का स्मरण करें, जिससे हमें शक्ति प्राप्त हो और अहंकार हमारे से दूर हो।

ऋषिः—तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानाविरोधी राक्षसीभावों का विनाश

तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ ३ ॥

(१) **तपुर्मूर्धा**=तपस्वियों का शिरोमणि वह प्रभु **रक्षसः**=राक्षसीभावों को **तपतु**=संतप्त करे, **ये**=जो राक्षसीभाव **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के विरोधी हैं। जिन राक्षसीभावों को ज्ञान से किसी प्रकार की प्रीति नहीं, उन्हें प्रभु दूर करें। **उ**=और इस प्रकार वे प्रभु **शरवे**=(शरुं सा०) इस हिंसक काम (=वृत्र) के **हन्तवा**=हनन के लिये हों। राक्षसी भावों को दूर करते हुए अन्ततः हम इनके मुखिया **वृत्र**=काम को भी विनष्ट कर सकें। यह प्रार्थना 'तपुर्मूर्धा' से की गई है। स्पष्ट है कि तपस्वी बनकर ही हम इन अशुभ भावों को दूर कर सकते हैं। (२) काम को विनष्ट करके वे प्रभु **अशस्तिं क्षिपत्**=अप्रशस्त कार्यों को हमारे से दूर करें। **दुर्मतिं अप अहन्**=दुर्बुद्धि को सुदूर विनष्ट करें **अथा**=और अब **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिये **शं योः करत्**=शान्ति को करें तथा भयों को पृथक् करें।

भावार्थ—तपस्या के द्वारा हमारे राक्षसी भाव दूर हों तथा काम (वृत्र) का विनाश हो।

सूक्त का भाव यह है कि 'बृहस्पति' का आराधन हमारी बुराइयों को दूर करे। 'नराशंस' का

शंसन हमें शक्ति दे व निरभिमान करे तथा 'तपुर्मूर्धा' का आराधन हमें तपस्वी बनाये और राक्षसीभावों से दूर करे। ऐसा होने पर हम प्रशस्त प्रजाओंवाले 'प्रजावान्' होंगे तथा प्रजाओं का रक्षण करते हुए 'प्राजापत्य' कहलायेंगे। 'प्रजावान् प्राजापत्य' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१८३] त्र्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—प्रजावान्प्राजापत्यः ॥ देवता—अन्वृचं यजमानायजमानपत्नीहोत्रशिषः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

यजमान पत्नी का कथन

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ १ ॥

(१) **त्वा**=तुझे **मनसा**=मनन शक्ति के द्वारा **चेकितानम्**=सब कर्त्तव्यों के ज्ञानवाले को **अपश्यम्**=देखती हूँ। मैं देखती हूँ कि आप मनन के द्वारा अपने कर्त्तव्यों को खूब समझते हैं। **तपसः जातम्**=तप के द्वारा आपकी शक्तियों का विकास हुआ है। **तपसः**=तप से आप **विभूतम्**=विशिष्ट ऐश्वर्यवाले हैं अथवा तप से आप व्याप्त हुए हैं। (२) **इह**=इस गृहस्थाश्रम में **प्रजाम्**=प्रजा को, **इह**=यहाँ **रयिम्**=धन को **रराणः**=देते हुए आप, हे **पुत्रकाम**=पुत्र की कामनावाले! **प्रजया प्रजायस्व**=प्रजा से प्रकृष्ट प्रादुर्भाववाले हों। उत्तम प्रजा को प्राप्त करके आप उस प्रजा के द्वारा यशस्वी बनें। प्रजा के उत्तम निर्माण के लिये आवश्यक है कि आप गृहस्थ में जहाँ उत्तम प्रजा की इच्छावाले हों, वहाँ पालन-पोषण के लिये आवश्यक धन का अर्जन करनेवाले हों।

भावार्थ—पति (क) मनन के द्वारा कर्त्तव्यों को समझनेवाले हों, (ख) तप से उनकी शक्तियों का ठीक विकास हुआ हो, (ग) तप से उनका जीवन व्याप्त हो, (घ) सन्तान की कामनावाले होते हुए वे धनार्जनशील हों।

ऋषिः—प्रजावान्प्राजापत्यः ॥ देवता—अन्वृचं यजमानायजमानपत्नीहोत्रशिषः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

यजमान का पत्नी के प्रति कथन

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥ २ ॥

(१) **त्वा**=तुझे **मनसा**=मनन के द्वारा **दीध्यानाम्**=दीप्त ज्ञानवाली को **अपश्यम्**=देखता हूँ। **स्वायां तनू**=अपने शरीर में **ऋत्व्ये**=ऋतुकाल में गर्भधारणरूप कर्म के निमित्त **नाधमानाम्**=याचना करती हुई को देखता हूँ। (२) तू **मां उप**=मेरे समीप **उच्चा युवतिः**=एक आदृत युवति **बभूयाः**=हो। अर्थात् तुझे पति से सदा आदर प्राप्त हो। वह तुझे अपना (better haly) उत्कृष्ट अर्धभाग समझे। अन्यथा पत्नी में हीनता की भावना आ जाती है और वह फिर सन्तानों में भी संक्रान्त होती है। (३) इस प्रकार आदृत होती हुई हे **पुत्रकामे**=पुत्र की कामनावाली तू! **प्रजया प्रजायस्व**=प्रजा से प्रकृष्ट प्रादुर्भाववाली हो। प्रजा से तेरा नाम सदा बना रहे।

भावार्थ—पत्नी (क) मननपूर्वक ज्ञानदीप्त बने, (ख) ऋतुकाल में गर्भधारण की कामनावाली हो। (ग) पति से उचित आदर को प्राप्त करे, (घ) उत्तम प्रजा से यशस्विनी बने।

ऋषिः—प्रजावान्प्राजापत्यः ॥ देवता—अन्वृचं यजमानायजमानपत्नीहोत्राशिषः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

होता की इच्छायें

अ॒हं गर्भ॑मदधा॒मोष॑धीष्व॒हं विश्वे॑षु॒ भुव॑नेष्व॒न्तः ।
अ॒हं प्र॒जा अ॑जनयं पृथि॒व्याम॒हं जनि॑भ्यो अप॒रीषु॑ पु॒त्रान् ॥ ३ ॥

(१) अहम्-मैं ओषधीषु-ओषधियों में गर्भं अदधाम्-गर्भ को स्थापित करता हूँ। अर्थात् ओषधियों का सेवन करता हुआ, उनसे उत्पन्न शक्ति के द्वारा सन्तान को जन्म देता हूँ। इस प्रकार ये सन्तानें सात्त्विकि वृत्तिवाली होती हुई परस्पर प्रेम से चलनेवाली होती हैं। (२) अहम्-मैं विश्वेषु भुवनेषु अन्तः-मैं सब भुवनों में इन सन्तानों को जन्म देता हूँ। अर्थात् सब लोकों का हित करनेवाली सन्तानों को जन्म देता हूँ। उन सन्तानों को, जो कि अपने को विश्व का नागरिक अनुभव करती हैं। देशभक्ति उन्हें अन्य देशों से घृणा करनेवाला नहीं बनाती। (३) अहम्-मैं पृथिव्याम्-पृथिवी में प्रजाः-प्रजाओं को अजनयम्-उत्पन्न करता हूँ। ऐसी सन्तानों को जन्म देता हूँ जो कि पृथिवी पर चलती हैं। आकाश में नहीं उड़ती-फिरती, हवाई किले नहीं बनाती रहतीं। (४) अहम्-मैं अपरीषु-न परायी स्त्रियों में जनिभ्यः-माताओं के लिये पुत्रान्-पुत्रों को जन्म देता हूँ। अपनी पत्नी में ही सन्तान को जन्म देना है और उस सन्तान को माता के लिये ही सौंपना है। वस्तुतः माता ने ही तो सन्तान के चरित्र का निर्माण करना होता है। 'बच्चा कुछ भी माँगे', उसे यही कहना कि 'माता जी से कहो'। बस ऐसा होने पर बच्चा माता के पूरे शासन में होगा और सुन्दर जीवनवाला बनेगा।

भावार्थ—उत्तम सन्तान के लिये वानस्पतिक भोजन आवश्यक है सन्तान ऐसे हों जो कि (क) अपने को विश्व का नागरिक समझें, (ख) हवाई किले न बनायें, (ग) माता के शासन में चलें यह उत्तम सन्तान का निर्माण करनेवाला 'त्वष्टा' है, यही 'गर्भकर्ता' है। इस के लिये कहते हैं कि—

[१८४] चतुरशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्यः ॥ देवताः—लिङ्गोक्ताः (गर्भार्थाशीः) ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पति

विष्णु॒र्योनिं॑ कल्पयतु॒ त्वष्टा॑ रू॒पाणि॑ पिंशतु ।
आ सि॑ञ्चतु प्र॒जाप॑तिर्धा॒ता गर्भं॑ दधातु ते ॥ १ ॥

(१) हे विष्णुः-व्यापक व उदार वृत्तिवाले पति योनिम्-अपने सन्तानों की उत्पत्ति की कारणभूत पत्नी को कल्पयतु-शक्तिशाली बनाओ। संकुचित हृदयवाला पति उदारतापूर्वक नहीं बरतता, परिणामतः पत्नी के स्वास्थ्य पर उसका समुचित प्रभाव नहीं पड़ता। (२) त्वष्टा-(त्वक्षतेः, त्विषेर्वा दीप्तिकर्मणः) निर्माण के कार्यों में रुचिवाला अथवा ज्ञानदीप्त पति रूपाणि पिंशतु-रूपों का निर्माण करे (पिंशति shepe. farslion) तोड़-फोड़ की वृत्तिवाले व्यक्तियों के सन्तानों की आकृतियों में पूरी समता न आकर कुछ विकृति आ ही जाती है। पिता की मानस वक्रताओं का सन्तान की आकृति पर सुन्दर प्रभाव नहीं पड़ता। (३) प्रजापतिः-प्रजा के पतित्व की कामनावाला पति आसिञ्चतु-पत्नी में शक्ति का सेचन करे और उससे स्थापित ते गर्भम्-हे पत्नि! तेरे गर्भस्थ

सन्तान को धाता=धारणात्मक कर्मों में तत्पर यह पति दधातु=धारण करे। गर्भस्थ बालक के रक्षण का पूरा ध्यान करना ही है। जिस भी व्यवहार से गर्भस्थ सन्तान को हानि पहुँचाने की सम्भावना हो, उस सब से बचना आवश्यक है।

भावार्थ—पति 'विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति व धाता' बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्यः॥ देवताः—लिङ्गोक्ताः (गर्भार्थाशीः)॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पत्नी

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा॥ २॥

(१) हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नवाली (सिनम् अन्नं) तू **गर्भं धेहि**=गर्भ को धारण कर। माता के भोजन का सन्तान के शरीर पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है, गर्भस्थ बालक माता के द्वारा ही रस-रुधिरादि को प्राप्त करता है। माता का भोजन न केवल उस गर्भस्थ बालक के शरीर पर, अपितु उसकी मन व बुद्धि पर भी प्रभाव डालता है। (२) हे **सरस्वति**=सरस्वती की आराधना करनेवाली, ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता को उपासित करनेवाली, ज्ञान की रुचिवाली तू **गर्भं धेहि**=गर्भ को धारण कर। ज्ञान की रुचि विषय-वासनाओं से बचाती है और इस प्रकार गर्भस्थ बालक में भी उत्तम प्रवृत्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं, वह भी ज्ञान की रुचिवाला बनता है। (३) हे पत्नि! **अश्विनौ देवौ**=शरीरस्थ प्राण और अपान ते **गर्भं आधत्ताम्**=तेरे गर्भ का धारण करें। पत्नी की प्राणापान शक्ति ठीक होगी तो गर्भस्थ सन्तान सब प्रकार से नीरोग होगा। ये अश्विनी देव **पुष्करस्रजौ**=पुष्टिकारक रज व वीर्य को उत्पन्न करनेवाले हैं (पुष्+कर+सृज्) इस प्रकार ये सब रोगों के चिकित्सक हो जाते हैं।

भावार्थ—पत्नी प्रशस्त अन्नों का सेवन करे, ज्ञान की रुचिवाली हो, प्राणापान की शक्ति के वर्धन के लिये प्राणायाम को अपनाये।

ऋषिः—त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्यः॥ देवताः—लिङ्गोक्ताः (गर्भार्थाशीः)॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

हिरण्ययी अरणी

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥ ३॥

(१) **अश्विना**=पति-पत्नी **हिरण्ययी**=(हिरण्यं वै वीर्यम्) वीर्यवान् **अरणी**=दो अरणियों के समान हैं। अरणियाँ जिस प्रकार अग्नि का निर्मन्थन करती हैं, उसी प्रकार ये पति-पत्नी सन्तान का निर्मन्थन करते हैं। **यम्**=जिस गर्भ का ये **निर्मन्थतः**=मन्थन करते हैं, हे पत्नि! **ते**=तेरे **तं गर्भं हवामहे**=उस गर्भ की प्रार्थना करते हैं कि वह **दशमे मासि सूतवे**=दशम मास में उत्पन्न होने के लिये हो। गर्भ में ठीक रूप से विकसित होकर वह गर्भ से बाहर संसार में प्रवेश करे। (२) जैसे अग्नि की उत्पत्ति के लिये दोनों अरणियों का ठीक होना आवश्यक है, उसी प्रकार सन्तान के लिये माता-पिता दोनों का पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है। ये जितने तेजस्वी व ज्योतिर्मय होंगे, उतने ही सन्तान उत्तम बनेंगे।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्योतिर्मयी अरणियों के समान होंगे तो सन्तानें भी अग्नि तुल्य तेजस्विता

को लिये हुए होंगी।

सूक्त में पति-पत्नी का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन उत्तम पति-पत्नी से उत्पन्न सन्तानें 'सत्यधृति'-सत्य का धारण करनेवाली व 'वारुणि'-पाप से अपना निवारण करनेवाली होंगी। इनके जीवन में 'मित्र, अर्यमा व वरुण' देवों का स्थान होगा—

[१८५] पञ्चाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः ॥ देवता—अदितिः (स्वस्त्ययनम्) ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'मित्र-अर्यमा-वरुण'

महि॑ त्रीणामवो॑ऽस्तु द्युक्षं मि॒त्रस्या॑र्य॒म्णः । दु॒रा॒धर्षं॒ वरु॑णस्य ॥ १ ॥

(१) 'मित्र' शब्द का अर्थ है (त्रिमिदा स्नेहने) सबके साथ स्नेह करनेवाला। 'अर्यमा' के अन्दर देने की भावना है 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' (तै० १।१।२।४)। 'वरुण'=पाप से निवारण करता है। इन **त्रीणाम्**=तीनों का **अवः अस्तु**=रक्षण हमारे लिये हो। इनमें **मित्रस्य**=मित्र का रक्षण **महि**=हमें महान् बनानेवाला हो। मित्रता की भावना को धारण करनेवाला मन महान् (=उदार) बनता ही है। संकुचितता व अनुदारता में स्नेह नहीं। (२) **अर्यम्णः**=अर्यमा का रक्षण हमारे लिये **द्युक्षम्**=(द्यु+क्षि निवासे) ज्योति में निवास करानेवाला हो। अर्यमा दाता है। दान की वृत्ति लोभ वृत्ति की विरोधिनी है। लोभ ही बुद्धि पर परदा डालता है। लोभ गया और बुद्धि दीप्त हुई। इस स्थिति में हमारा ज्ञान में निवास होता है। (३) **वरुणस्य**=वरुण का रक्षण हमारे लिये **दुराधर्षम्**=सब बुराइयों व शत्रुओं का धर्षण करनेवाला हो। वरुण हमें पाप से बचाता है, इस प्रकार हम अशुभवृत्तियों का शिकार होने से बचे रहते हैं।

भावार्थ—'मित्र' बनकर हम महान् बनें। 'अर्यमा' बनकर ज्योतिर्मय जीवनवाले हों। 'वरुण' बनकर पापों से धर्षणीय न हों।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः ॥ देवता—अदितिः (स्वस्त्ययनम्) ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वर—षड्जः ॥

अघशंस से बचना

न॒हि तेषा॑म॒मा च॒न नाध्व॑सु वार॒णेषु॑ । ईशे॑ रि॒पुर॒घशं॑सः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिनको 'मित्र, अर्यमा व वरुण' का रक्षण प्राप्त होता है **तेषाम्**=उनका **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला, बुराई को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाला, जुए को उदारता व शिकार को एकाग्रता को अभ्यास के रूप में प्रतिपादित करनेवाला **रिपुः**=शत्रु **अमाचन**=घर में भी **नहि ईशे**=ईश नहीं बन पाता। घर में रहता हुआ भी, अत्यन्त अन्तरङ्ग बना हुआ व्यक्ति भी उनको बुराइयों के लिये प्रेरित नहीं कर पाता। (२) **अध्वसु**=मार्गों में अचानक मिल जानेवाला अत्यन्त चतुर भी साथी यात्री **न**=इनको अपने प्रभाव में नहीं ला पाता। (३) **वा**=अथवा **अरणेषु**=(रण शब्दे) अत्यन्त नीरव व निर्जन स्थानों में ले जानेवाला दुष्ट मित्ररूपधारी व्यक्ति भी इसको बहका नहीं पाता।

भावार्थ—'मित्र, अर्यमा व वरुण' के रक्षण को प्राप्त करके हम अघशंस व्यक्तियों के बहकावे में आने से बचे रहें।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः ॥ देवता—अदितिः (स्वस्त्ययनम्) ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान प्राप्ति व उत्कृष्ट जीवन

यस्मै॑ पु॒त्रासो॒ अदि॑तेः॒ प्र जी॒वसे॒ मर्त्या॑य । ज्योति॒र्यच्छ॒न्त्यज॑स्रम् ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार अघशंस रिपुओं के बहकावे में न आनेवाला व्यक्ति वह होता है **यस्मै**-जिस **मर्त्याय**-मनुष्य के लिये **अदितेः पुत्रासः**-अदिति के पुत्र, अर्थात् आदित्य 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्वान् **अजस्रम्**-निरन्तर **ज्योतिः**-ज्ञान को **यच्छन्ति**-देते हैं। (२) इन आदित्यों से ज्ञान को प्राप्त करता हुआ यह व्यक्ति कभी पापों में नहीं फँसता। यह **प्र जीवसे**-प्रकृष्ट जीवन के लिये होता है। उन ज्ञानियों से निरन्तर ज्ञान को प्राप्त करता हुआ वह उत्तम ही जीवन बिताता है।

भावार्थ—हम आदित्य विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करें और उत्कृष्ट जीवन बितायें।

सूक्त का भाव यही है कि हमारा जीवन 'स्नेह, दानवृत्ति व निष्पापता' वाला हो। इस उत्कृष्ट जीवन को बिताने के लिये आवश्यक है कि हम पूर्ण स्वस्थ हों। स्वास्थ्य के लिये 'उल' (उल् to go) निरन्तर गतिशील हों तथा वातायन=वात को अपना अयन बनायें, सदा शुद्ध वायु के सम्पर्क में रहें। यह 'उल वातायन' प्रार्थना करता है कि—

[१८६] षडशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—उलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शुद्ध वायु से दीर्घजीवन

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ १ ॥

(१) **वातः**-वायु **भेषजम्**-औषध को **आवातु**-समन्तात् हमारे लिये प्राप्त कराये, उस औषध को जो **शम्भु**-हमारे लिये शान्ति को देनेवाली हो और **नः**-हमारे **हृदे**-हृदय के लिये **मयोभु**-कल्याण को उत्पन्न करे। शुद्ध वायु में निवास हमें शरीर में नीरोग (शान्त हो गये रोगोंवाला) बनाये तथा मन में सुख व प्रसन्नता को देनेवाला हो। (२) इस प्रकार यह वायु हमारे शरीरों व हृदयों को स्वस्थ करता हुआ **नः**-हमारी **आयूंषि**-आयुओं को **प्र तारिषत्**-खूब बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—वायु तो वह औषध है जो कि शान्ति व कल्याण को प्राप्त कराती है, यह हमारे दीर्घजीवन का कारण बनती है।

ऋषिः—उलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'पिता-भ्राता-सखा' वायु

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥ २ ॥

(१) **उत**-और हे **वात**-वायो! तू **नः**-हमारा **पिता असि**-पिता है, 'पा रक्षणे' रक्षण करनेवाला है, हमें सब रोगों से बचाकर हमारा रक्षण करता है। (२) **उत**-और **नः**-हमारा **भ्राता**-भ्राता है, 'भृ धारणपोषणयोः'-धारण व पोषण करनेवाला है। अंग-प्रत्यंग में जीवन का संचार करनेवाला तू ही है। (३) **उत**-और हे वायो! तू **नः**-हमारा **सखा**-मित्र है। मित्र की तरह तू हमारा हित करनेवाला है। **सः**-वह तू **नः**-हमें **जीवातवे**-खूब दीर्घजीवन के लिये **कृधि**-कर।

भावार्थ—वायु हमारा पिता, भ्राता व सखा है। यह हमें दीर्घजीवन देता है।

ऋषिः—उलो वातायनः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अमृत का निधि

यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥ ३ ॥

(१) हे वात-वायो! ते गृहे-तेरे घर में यत्-जो अदः-वह अमृतस्य-अमृत का निधिः-कोष हितः-रखा है, ततः-उसमें से नः-हमें भी देहि-कुछ दे जिससे जीवसे-हम उत्कृष्ट व दीर्घजीवन बिता पायें। (२) वायु में अमृत का कोष रखा है। शुद्ध वायु में भ्रमण व निवास से वह अमृत हमें भी प्राप्त होता है। इस प्रकार यह वायु हमारे दीर्घजीवन का कारण बनती है। वस्तुतः वायु ही आयु है। वायु के अभाव में तो गति का अभाव व मृत्यु ही है।

भावार्थ—शुद्ध वायु का सेवन अमृत का पान है। वायु के महत्त्व को यह सूक्त अत्यन्त सुन्दरता से चित्रित कर रहा है। वायु सेवन से स्वस्थ शरीर, स्वस्थ हृदयवाला यह प्रभु का प्रिय बनता है, 'वत्स' होता है, निरन्तर उन्नति करता हुआ 'आग्नेय' (अग्नि पुत्र) कहलाता है, आगे बढ़नेवाला। यह अग्नि ही उपासना करता हुआ कहता है कि—

[१८७] सप्ताशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—वत्स आग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-स्मरण से निर्द्वेषता

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

(१) अग्नये-उस अग्रेणी प्रभु के लिये वाचम्-स्तुति वचनों को प्र ईरय-प्रकर्षेण उच्चरित कर, उस प्रभु का खूब ही स्तवन कर। जो प्रभु क्षितीनाम्-(क्षि निवासगत्योः) गतिशील बनकर अपने निवास को उत्तम बनानेवाले मनुष्यों के लिये वृषभाय-सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु-स्तवन ही उनके जीवन को उत्तम बनाता है। (२) सः-वे प्रभु नः-हमें द्विषः-द्वेष की भावनाओं से अतिपर्षत्-पार पहुँचानेवाले हों। प्रभु का स्मरण मनुष्य को द्वेष से ऊपर उठाता है। प्रभु को सर्वत्र देखनेवाला किसी से द्वेष कर ही कैसे सकता है?

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमें द्वेष से दूर करे।

ऋषिः—वत्स आग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सर्वत्र रोचमान प्रभु

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते। स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

(१) यः-जो प्रभु परस्याः परावतः-दूर से दूर स्थान में स्थित हुए-हुए भी धन्व-सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को तिरः-(cross wise) एक सिरे से दूसरे सिरे तक अतिरोचते-अतिशयेन प्रकाशित कर रहे हैं, स-वे प्रभु नः-हमें द्विषः-सब द्वेषवृत्तियों से अतिपर्षत्-पार ले जायें। (२) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उस एक प्रभु का ही शासन है, हम सब उस प्रभु की ही प्रजा हैं। यह चिन्तन हमें परस्पर प्रेमवाला बनाता है, इस प्रेम में हम सर्वत्र प्रभु का प्रकाश देखते हैं।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु के प्रकाश को देखते हुए हम द्वेष से ऊपर उठें।

ऋषिः—वत्स आग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दीप्त ज्ञान-ज्योतिवाले प्रभु

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

(१) यः-जो प्रभु वृषा-अत्यन्त शक्तिशाली हैं और शुक्रेण शोचिषा-अपनी निर्मल दीप्त ज्ञानज्योति से रक्षांसि-सब राक्षसी भावों को निजूर्वति-हिंसित करते हैं। सः-वे नः-हमें द्विषः-सब द्वेषभावों से अतिपर्षत्-पार ले जायें। (२) प्रभु हमें उस तीव्र ज्ञान-ज्योति को प्राप्त

कराते हैं जो कि हमारे सब राक्षसी भावों को दग्ध कर देती है। इस ज्ञान-ज्योति के होने पर द्वेष रह ही कैसे सकता है?

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हमें वह ज्ञान-ज्योति प्राप्त हो जो कि हमारे द्वेष आदि को दग्ध कर दे।

ऋषिः—वत्स आग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सर्वप्रकाशक व पालक' प्रभु

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **विश्वा भुवना**=सब प्राणियों को **अभि विपश्यति**=आभिमुख्येन प्रकाशित कर रहे हैं, **च**=और **संपश्यति**=सम्यक् देख रहे हैं, अर्थात् सब का ध्यान कर रहे हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेष भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार करें। (२) 'प्रभु ही सब को प्रकाश प्राप्त कराते हैं और सबका रक्षण करते हैं' इस भाव के उदित होने पर द्वेष का सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—'प्रभु ही हम सब के पालक हैं' यह भाव हमें द्वेष से ऊपर उठाकर परस्पर एकता का अनुभव कराये।

ऋषिः—वत्स आग्नेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रजोगुण से परे

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **अस्य रजसः**=इस रजोगुणात्मक संसार से **पारे**=पार हैं, इसमें असक्त हैं, **शुक्रः**=अत्यन्त दीप्त हैं, **अग्निः अजायत**=सब के अग्रेणी हुए हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार करें। (२) प्रभु कृपा से जब हम रजोगुण से ऊपर उठ पायेंगे तब हमारे हृदय ज्ञान की ज्योति से दीप्त होंगे। उस समय हम निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ रहे होंगे। द्वेष की भावनाएं उस समय समाप्त हो जायेंगी।

भावार्थ—प्रभु स्मरण हमें रजोगुण से ऊपर उठाकर निर्द्वेष बनाता है।

सम्पूर्ण सूक्त द्वेष से ऊपर उठने की बात कह रहा है। पाँच बार इस भाव को कहने का प्रयोजन यह है कि हम 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' किसी से भी द्वेष न करें। द्वेष से ऊपर उठने के लिये आवश्यक है कि हम 'श्येन'=गतिशील बने रहें, 'आग्नेय' अग्नि पुत्र 'अगि गतौ'=खूब गतिशील। इसी श्येन आग्नेय का अगला सूक्त है—

[१८८] अष्टाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—श्येन आग्नेयः ॥ देवता—अग्निर्जातवेदाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान-कर्म-शक्ति

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे ॥ १ ॥

(१) **नूनम्**=निश्चय से उस प्रभु को **प्र हिनोत**=प्रकर्षेण प्रेरित करो, उस प्रभु से प्रार्थना करो, जो कि **जातवेदसम्**=(जाते जाते विद्यते) सर्वव्यापक हैं, (जातं जातं वेत्ति) सर्वज्ञ हैं अथवा (जातं वेदो अस्मात्) सम्पूर्ण धनों को जन्म देनेवाले हैं। **अश्वम्**=सर्वत्र व्याप्त हैं (अशू व्याप्तौ)। **वाजिनम्**=शक्तिशाली हैं। (२) **इदम्**=यह **नः**=हमारा **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय, जिसमें से सब

वासनाओं को उखाड़ दिया गया है, वह हृदय आसदे=प्रभु के आसीन होने के लिये है। सर्वत्र व्यापकता के नाते सर्वत्र हैं, मेरे हृदय में भी है। उनको आसीन करने का भाव इतना ही है कि हम हृदय में प्रभु का दर्शन करें।

भावार्थ—हम हृदय को प्रभु का आसन बनायें। प्रभु हमें ज्ञान देंगे, कर्मसामर्थ्य देंगे और शक्ति प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—श्येन आग्नेयः ॥ देवता—अग्निर्जातवेदाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तवन से लक्ष्यदृष्टि की उत्पत्ति

अस्य प्र जातवेदसो विप्रवीरस्य मीळ्हुषः । महीमियर्मि सुष्टुतिम् ॥ २ ॥

(१) **अस्य**=इस **जातवेदसः**=सर्वव्यापक-सर्वज्ञ-जातधन, **विप्रवीरस्य**=विप्रों में वीर, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, **मीढुषः**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु के **महीं सुष्टुतिम्**=महान् स्तवन को **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण अपने में प्रेरित करता हूँ। (२) यह प्रभु का स्तवन हमारे सामने भी जीवन के लक्ष्य को उपस्थित करता है। हमें भी उस प्रभु की तरह ज्ञानी, विप्रवीर व सुखों का वर्षण करनेवाला बनना है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हमारे में भी प्रभु जैसा बनने का भाव उत्पन्न होगा।

ऋषिः—श्येन आग्नेयः ॥ देवता—अग्निर्जातवेदाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जीवन-यज्ञ में प्रभु की दीप्ति

या रुचो जातवेदसो देवत्रा हव्यवाहनीः । ताभिर्नो यज्ञमिन्वतु ॥ ३ ॥

(१) **जातवेदसः**=उस सर्वव्यापक-सर्वज्ञ-जातधन प्रभु की **याः**=जो **रुचः**=दीप्तियाँ **देवत्रा**=देवों में **हव्यवाहनीः**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाली हैं, **ताभिः**=उन रुचियों से **नः**=हमारे **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **इन्वतु**=प्राप्त करें। (२) प्रभु की दीप्तियाँ सब देवों में उस-उस उत्तम पदार्थ को स्थापित करती हैं, उन सब हव्यपदार्थों के साथ प्रभु हमें भी प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु अपनी दीप्तियों के साथ हमारे जीवन-यज्ञ में प्राप्त हों।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु का स्तवन हमें प्रभु जैसा ही बनायेगा। प्रभु जैसा बनने के लिये योगमार्ग पर चलने की अपेक्षा है। इस मार्ग पर चलने से कुण्डलिनी का जागरण होता है और उसमें गति आती है। मेरुदण्ड के मूल में मूलाधार चक्र है, वहीं यह कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान है। सर्प की तरह कुण्डल में स्थित होने से यह 'सार्पराज्ञी' कहलाती है। इसका जागरण प्राणायाम की उष्णता द्वारा होता है। इस जागरण को करनेवाला ऋषि भी 'सार्पराज्ञी' कहा गया है। वह कहता है—

[१८९] एकोननवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—सार्पराज्ञी ॥ देवता—सार्पराज्ञी सूर्यो वा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कुण्डलिनी का जागरण व ऊर्ध्व गति

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **गौः**=जागरित होने पर मेरुदण्ड में ऊपर और ऊपर गति करनेवाली कुण्डलिनी, **पृश्निः**=(संस्प्रष्टोभासा नि० २।१४) ज्योति के साथ सम्पर्कवाली होती है। यह

प्राणायाम की उष्णता से अक्रमीत्=कुण्डल को तोड़कर आगे गति करती है। (२) यह पुरः=आगे और आगे बढ़ती हुई मातरम्=वेदमाता को 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' असदत्=प्राप्त करती है, इसके जागरण व ऊर्ध्व गति के होने पर 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'=ऋत का पोषण करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। यह प्रज्ञा वेदज्ञान का प्रकाश करती हैं। (३) च=और इस वेदज्ञान के प्रकाश के होने पर यह स्वः=उस देदीप्यमान पितरम्=प्रभु रूप पिता की ओर प्रयन्=जानेवाली होती है। अर्थात् यह योगी अन्ततः प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—कुण्डलिनी के जागरण से बुद्धि का प्रकाश होता है। उससे वेदार्थ का स्पष्टीकरण होता है और प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—सार्पराज्ञी ॥ देवता—सार्पराज्ञी सूर्यो वा ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु की रोचना

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥ २॥

(१) जिस समय एक मनुष्य साधना को करता हुआ इस कुण्डलिनी का जागरण करता है तो अस्य अन्तः=इसके अन्दर रोचना=प्रभु की दीप्ति चरति=गतिवाली होती है, इसके हृदयदेश में प्रभु की दीप्ति का प्रकाश होता है। यह रोचना प्राणात्=इसके अन्दर प्राण शक्ति का संचार करती है और अपानती=अपान के द्वारा शोधन रूप कार्य को करती है। (२) इस प्रकार प्राण व अपान के कार्यों के ठीक प्रकार से होने पर यह महिषः=प्रभु का पुजारी (मह पूजायाम्) दिव्यम्=प्रकाश को व्यख्यत्=विशेषरूप से देखता है। इसका हृदय दिव्य प्रकाश से दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—योगसाधना से साधक का हृदय प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो उठता है। उसकी प्राणापान शक्ति ठीक प्रकार से विकसित होती है।

ऋषिः—सार्पराज्ञी ॥ देवता—सार्पराज्ञी सूर्यो वा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का जप

त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥ ३॥

(१) यह साधक त्रिंशत् धाम=तीसों धाम, तीसों स्थानों में (ज्योतित्व पर दिन-रात्रि में तप होनेवाले क्रान्तिवृत्त पर ६० अंश चिह्नित हैं जो दिन की ३० घड़ी व मास की ३० तिथियों का निर्देश करते हैं ज०) विराजति=चमकता है, यह सदा दीप्ति को देखनेवाला बनता है। (२) वाक्=इस की वाणी पतंगाय=उस सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म के लिये धीयते=धारण की जाती है 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। (२) यह साधक प्रति वस्तोः=प्रतिदिन अह=(एव) निश्चय से द्युभिः=ज्ञान-ज्योतियों से उपलक्षित होता है, इसका ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के नाम का जप करें व ज्ञान-ज्योति से दीप्त हों।

सूक्त की भावना यही है कि हम साधनामय जीवन बिताते हुए ज्ञान से दीप्त होने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न के करने से हम 'अघमर्षण'=पापों को कुचलनेवाले होंगे तथा माधुच्छन्दस=अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाले होंगे। यही अगले सूक्त का ऋषि है। वह प्रभु से बारम्बार किये जानेवाले इस सृष्टि प्रलय रूप कार्य का स्मरण करता हुआ नश्वरता का चिन्तन करता है। यह चिन्तन उसके लिये 'अघमर्षण' बनने में सहायक होता है—

[१९०] नवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अघमर्षणो माधुच्छन्दसः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

तपसे ऋत व सत्य की उत्पत्ति

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥

(१) प्रलय की समाप्ति पर प्रभु सृष्टि के निर्माण का ईक्षण, विचार व कामना करते हैं 'तदैक्षत०, सोऽकामयत्'। प्रभु का यह ईक्षण=ज्ञान ही तप कहलाता है 'यस्य ज्ञानमयं तपः'। प्रभु के इस **अभि इद्धात्**=सर्वतः देदीप्यमान **तपसः**=तप से **ऋतं च**=ऋत **च**=व **सत्यं च**=सत्य **अध्यजायत**=प्रकट हुए। प्रकृति विषयक सब नियम 'ऋत' कहलाते हैं और जीव विषयक सब नियम 'सत्य' कहलाते हैं। (२) इन नियमों के प्रादुर्भूत हो जाने पर **ततः**=तब इन नियमों के अनुसार **रात्री**=शक्ति की तरह अन्धकारमयी 'तम' नामवाली यह प्रकृति (तम आसीत् तमसा गूढमग्रे) **अजायत**=सृष्टि के रूप में हो गई। 'तमः' वाग्री प्रकृति ने इस विकृतिरूप संसार को जन्म दिया। (३) **ततः**=उस समय **समुद्रः**=प्रकृति का यह अणुसागर **अर्णवः**=खूब गतिवाला हो उठा (अर्णस्=wave) इसमें लहरें उठने लगीं। अणु समुद्र में गति आने पर ही द्व्यणुक आदि क्रम से सृष्टि के पदार्थों के निर्माण का प्रारम्भ होता है।

भावार्थ—प्रभु के तप से ऋत व सत्य उत्पन्न हुए।

ऋषिः—अघमर्षणो माधुच्छन्दसः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वशी प्रभु द्वारा काल की उत्पत्ति

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥

(१) क्रिया के साथ ही काल का आविर्भाव होता है, वस्तुतः काल में ही प्रत्येक क्रिया हुआ करती है 'जन्यानां जनकः कालः'। सो कहते हैं कि **समुद्राद् अर्णवात् अधि**=प्रकृति के अणु समुद्र के गतिवाले होने के साथ ही (अधि=at) **संवत्सरः**=काल **अजायत**=प्रादुर्भूत हुआ। (२) अब वह प्रभु इस काल की मापक इकाई के रूप में **अहोरात्राणि विदधत्**=दिन व रात्रि को बनाता है। वह **मिषतः**=गति करते हुए **विश्वस्य**=सम्पूर्ण अणु समुद्र का **वशी**=वश में करनेवाला होता है। इस वशीभूत अणु समुद्र से ही वह सब पदार्थों को बनायेगा।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के अणु समुद्र को गति देते हैं और दिन व रात्रि का भी निर्माण करते हैं।

ऋषिः—अघमर्षणो माधुच्छन्दसः ॥ देवता—भाववृत्तम् ॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

यथा पूर्व सृष्टि का निर्माण

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

(१) वह **धाता**=सब सृष्टि का निर्माण करनेवाला प्रभु **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य व चाँद को **यथापूर्वम्**=जैसा इससे पूर्व की सृष्टि में बनाया था वैसा ही **अकल्पयत्**=बनाता है। इन सूर्य व चन्द्र से ही दिन व रात्रि के विभाग की कल्पना स्पष्ट होती है। (२) **च**=और वे प्रभु **दिवम्**=द्युलोक को **च**=और **पृथिवीम्**=पृथिवी को, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष लोक को **अथ उ**=और निश्चय से **स्वः**=प्रकाशमय स्वर्गलोक को यथापूर्व ही बनाते हैं। यथापूर्व बनाने की भावना

यही है कि उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु से बनाई गयी सृष्टि में कोई न्यूनता नहीं होती, जिसको कि दूर किया जाए। पूर्ण होने से इसमें परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं होती 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'।

भावार्थ—उस प्रभु द्वारा प्रलयानन्तर यथापूर्व सृष्टि का फिर से निर्माण होता है।

यह सूक्त नश्वरता के स्मरण से जीवन को निष्पाप बनानेवाला है। यह पवित्र जीवनवाला व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है और मेल-मिलाप से, अविरोध से चलता है। इसका नाम 'संवनन' हो जाता है, उत्तम उपासक (वन संभक्तौ) व उत्तम विजेता (वन्=win)। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

[१९१] एकनवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—संवननः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सब के पिता प्रभु

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १ ॥

(१) हे **वृषन्**=हम सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले, **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **विश्वानि संसं युवसे**=सब प्राणियों को सम्यक् मिलाते हैं। सबके आप पिता हैं। यह एक पितृत्व सबको परस्पर समीप लानेवाला होता है। आपको पिता के रूप में स्मरण करने पर सब परस्पर बन्धुत्व का स्मरण करते हैं। (२) **अर्यः**=आप ही सब के स्वामी हैं। **इडस्पदे**=(इडा=वाणी=वेदवाणी) वेदवाणी के शब्दों में आप **आसमिध्यसे**=सर्वथा दीप्त होते हैं 'सर्ववेदाः यत्पदमामनन्ति' 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'। (२) **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक सब पदार्थों को **आभर**=प्राप्त कराइये। आप ही सब के स्वामी हैं, आप ही सबको वसु प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु सबके पिता हैं। यह एक पितृत्व सब प्राणियों को परस्पर समीप लानेवाला होता है।

ऋषिः—संवननः ॥ देवता—संज्ञानम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अविरोध का उपदेश

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ २ ॥

(१) प्रभु अपने पुत्रों को कहते हैं कि **संगच्छध्वम्**=परस्पर मिलकर के चलो। तुम्हारी गतियाँ परस्पर विरुद्ध न हों 'येन देवा न वियन्ति'=देव परस्पर विरुद्ध गतिवाले नहीं होते। (२) **संवदध्वम्**=तुम परस्पर संवादवाले बनो। विवाद तो मूर्ख ही किया करते हैं, 'विद्या विवादाय'=मूर्खों की ही विद्या विवाद के लिये होती है। (३) **वः मनांसि**=तुम्हारे मन **संजानताम्**=संज्ञानवाले हों। तुम्हारे मनों में एक दूसरे के विरोधी विचार न उत्पन्न होते रहें। एक दूसरे के हित की भावनाएँ ही तुम्हारे मनों में स्थान पायें। 'नो च विद्विषते मिथः'=ज्ञानी लोग परस्पर द्वेष नहीं करते। (४) **पूर्वे देवाः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले देव **संजानानाः**=परस्पर संज्ञान व ऐकमत्यवाले होते हुए **यथा भागम्**=अपने-अपने भाग के अनुसार **उपासते**=कर्त्तव्य का उपासन करते हैं। इस प्रकार अपने-अपने कर्त्तव्यभाग को पूर्ण करते हुए वे समूचे कार्य को पूर्ण सफलता के साथ कर पाते हैं।

भावार्थ—हम अविरुद्ध गतिवाले, संवादवाले व संज्ञानवाले बनें। देवों की तरह अपने-अपने कर्त्तव्यभाग को परस्पर अविरोध के साथ पूर्ण करनेवाले हों।

ऋषिः—संवननः ॥ देवता—संज्ञानम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राष्ट्र में सब के साथ समान बर्ताव

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

(१) राष्ट्र में **मन्त्रः**-विचारपूर्वक बनाया गया नियम **समानः**-सब के लिये एक-सा हो। **समितिः**-सभा **समानी**-समान हो। न्यायालय अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग न हों। **एषाम्**-इन सब प्रजाओं का **मनः**-मन **समानम्**-समान हो। **चित्तम्**-इनका चित्त भी **सह**-साथ-साथ हो, अर्थात् राष्ट्रोन्नति रूप एक ही कार्य की इच्छा से ये सब पूरे दिल से उसमें प्रवृत्त हों। (२) राजा प्रजा से कहता है कि मैं **वः**-तुम्हारे लिये **समानं मन्त्रं अभिमन्त्रये**-एक ही नियम का विचारपूर्वक स्थापन करता हूँ। और **वः**-तुम्हें **समानेन हविषा**-समान ही कर के द्वारा **जुहोमि**-खाता हूँ। जैसे बछड़ा माता से थोड़ा-थोड़ा दूध लेता है, इसी प्रकार राजा भी सब प्रजाओं से थोड़ा-थोड़ा कर लेता है (हु अदने)।

भावार्थ—राष्ट्र में सब प्रजाओं से समान बर्ताव हो। कर पद्धति सब के लिये समान हो।

ऋषिः—संवननः ॥ देवता—संज्ञानम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

परस्पर एकता

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

(१) **वः**-तुम्हारा **आकूतिः**-संकल्प व अध्यवसाय **समानी**-समान हो। **वः**-आपके **हृदयानिः**-हृदय **समाना**-समान हों। (२) **वः**-तुम्हारा **मनः**-मन (=इच्छायें) **समानम्**-समान हों। सब को इस प्रकार हो कि **यथा**-जिससे **वः**-तुम्हारा **सुसह**-शोभन साहित्य-उत्तम मेल **असति**-किसी भी प्रकार का तुम्हारा विरोध न हो। यह अविरोध ही तुम्हें देव बनायेगा, यही तुम्हें विजयी करेगा।

भावार्थ—हमारे संकल्प हृदय मन सब परस्पर समान हों। हमारा परस्पर मेल अत्यन्त दृढ़ हो। यह सम्पूर्ण सूक्त मेल का उपदेश दे रहा है। ऋग्वेद विज्ञान वेद है। परस्पर मेल होने पर यह विज्ञान कल्याण ही कल्याण करेगा। विरोध के होने पर यह विज्ञान ही विनाश का कारण बन जायेगा। इसी दृष्टि से ऋग्वेद की समाप्ति इस संज्ञान सूक्त पर हुई है। हम नश्वरता का स्मरण करते हुए परस्पर मेल से ही चलने का प्रयत्न करें।

॥ इति दशमं मण्डलम् ॥